

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीगांधी—हरीभाई देवकरण जैनग्रंथमाला

१४

कविवर-विद्वन्मणिराजमल्लविरचिता

लाटी संहिता

धर्मरत्न पं० लालारामजी जैन शास्त्रीकृत

हिन्दी भाषा-टीका सहित

जिसको

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ताने

शोलापुरवासी गांधी—हरिभाई देवकरण एण्ड सन्सके प्रदत्त द्रव्यसे

अपने पवित्र प्रेसमें छपा कर प्रकाशित किया।

भाद्रपद वदी ३० श्रीवीर निर्वाण संवत् २४६४

प्रकाशक—
श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
मंत्री=भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था
१४८, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता।



मुद्रक—
श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस
१४८ बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता।

श्रीलाटी-संहिताके श्लोकोंकी विषयानुक्रमणिका

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग



श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिश्रीमत्पंडितराजमल्लविरचिता

श्रावकाचारापरनाम्नी

लाटी-संहिता।



प्रथम सर्ग।

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थकरं महावीरम्। यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥१॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायकाननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः। स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥ प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तकांस्तद्-

जिसप्रकार समस्त आकाशमें चमकता हुआ एक नक्षत्र स्पष्ट दिखाई देता है उसी प्रकार जिनके ज्ञानमें अथवा जिनकी चेतना शक्तिमें यह समस्त संसार प्रत्यक्ष चमकता हुआ-सा जान पड़ता है, तथा जिनका आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखस्वरूप है ऐसे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीको मैं (ग्रन्थकर्ता कविवर राजमल्ल) नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जिनके नामरूपी औषधिका स्मरण करनेमात्रसे ही समस्त विघ्नरूपी रोग शांत हो जाते हैं तथा जिनका आत्मा अनंत दर्शन अनंत ज्ञान अनंत सुख और अनंत वीर्य इन चार अनंतचतुष्टयमय है ऐसे बाकीके श्रीऋषभदेवसे आदि लेकर श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकरतक तेईस तीर्थंकरों-को भी मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ तदनन्तर जो सिद्ध भगवान अत्यंत दुष्ट जो आठ कर्म उनसे सर्वथा रहित

ल्यये चाष्टगुणान्वितानिह। समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम्॥ ३॥ त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनाम्। पदत्रयं धारयतां विशेषसात् पद मुनेरद्विनयादिहार्थतः॥ ४॥ जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना। विनिर्जितं जाड्यमिहाम्बुधारिणा तमस्तमो-

हैं तथा उन आठों कर्मोंके नाश होनेसे जिन्हें सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त हुए हैं और जो सिद्धपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिये सिद्धिके मार्गस्वरूप हैं ऐसे श्रीसिद्धपरमेष्ठीका मैं प्रत्यक्षरूपसे आश्रय लेता हूं। भावार्थ— आठों कर्मोंके नाश होनेसे सिद्धपद प्राप्त होता है तथा उन आठों कर्मोंके नाश होनेसे सम्यक्त्व आदिक आठ गुण प्राप्त होते हैं जैसे मोहनीय कर्मके नाश होनेसे सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। ज्ञानावरण कर्मके नाशसे केवलज्ञान वा अनन्तज्ञान प्रगट होता है। दर्शनावरणके नाशसे केवलदर्शन वा अनंतदर्शन प्रगट होता है। अन्तराय कर्मके नाशसे अनंतवीर्य प्रगट होता है। वेदनीयकर्मके अभावसे अव्याबाध, आयुकर्मके अभावसे अवगाहन, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व और गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघु गुण प्रगट होता है। इस प्रकार सिद्धोंके आठ गुण प्रगट होते हैं॥ ३॥ जो मुनिराज जिनलिंग अथवा निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करनेवाले हैं, जो अत्यंत सज्जन हैं शुभोपयोग वा शुद्धोपयोगमें लीन रहते हैं और जो विशेषकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको सदा पालन करते हैं ऐसे मुनियोंकी त्रयीको अर्थात् आचार्य उपाध्याय सर्व साधुओंको मैं नमस्कार करता हूं।

यहांतक ग्रंथकर्ताने अनुक्रमसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया तथा अरहन्तोंमें भी सबसे पहले श्रीमहावीरस्वामीको नमस्कार किया इसका कारण यह है कि यह वर्तमान समय श्रीमहावीरस्वामीका शासनसमय है इसलिये श्रीमहावीरस्वामी अन्य तीर्थंकरोंके समान ही पूज्य होनेपर भी शासनकर्ता होनेसे अधिक पूज्य हैं अथवा इस वर्तमान समयमें श्रीमहावीरस्वामीकी दिव्यध्वनि ही परंपरारूपसे मोक्षमार्गका प्रकाश कर रही है और उसीसे हम लोगोंका वा समस्त भव्य जीवोंका उपकार हो रहा है इसलिये भी भगवान महावीरस्वामी केवल उपकारदृष्टिसे हमलोगोंके लिये अधिक

रेरिव रश्मिभिर्महत् ॥ ५ ॥ इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्नधीयमानोऽन्वयसात्परंपराम् । उपज्ञलाटीमिति संहितां कविश्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम् ॥ ६ ॥ द्वीपा-

पूज्य हैं। अतएव कविवरने सबसे पहले श्रीमहावीरस्वामीको नमस्कार किया है और फिर अन्य तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि अरहंत अवस्था तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनोंकी एकसी होती है तथापि देवके स्वरूपमें जो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी ये तीन गुण बतलाये हैं उनमेंसे हितोपदेशी गुण तीर्थंकरकेवलीमें नियमरूपसे होता है तथा सामान्यकेवलीमें इसके होनेका कोई नियमित नियम नहीं है क्योंकि सामान्यकेवलियोंमें कोई अंतकृतकेवली भी (उसी समय केवल ज्ञान और उसी समय मोक्ष जिन्हें प्राप्त हो उनको अंतकृतकेवली कहते हैं) होते हैं और कोई मूक केवली भी (जिनकी दिव्यध्वनि खिरती ही नहीं) होते हैं। अंतकृत केवलियोंकी भी दिव्यध्वनि खिरती नहीं और मूक केव- लियोंकी दिव्यध्वनि भी खिरती नहीं। तथा देवके स्वरूपमें हितोपदेशी गुण मुख्य है क्योंकि भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेवाला तथा कल्याण करनेवाला हितोपदेशी गुण ही है। इस हितोपदेशी गुणके ही कारण अरहन्त भगवान सिद्धोंसे भी प्रथम पूज्य माने जाते हैं इसलिए देवके स्वरूपमें अरहंत परमेष्ठी शब्दसे तीर्थं- कर केवली ही लिये जाते हैं और इसीलिये कविवरने उनको ही नमस्कार किया है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंसे बडा भारी अन्धकार भी दूर हो जाता है उसी प्रकार जिन कवियोंने वा कवियोंकी जिस वाणीने इस संसारके प्राणियोंका अज्ञान दूर कर दिया है और जो धर्ममार्गके उपदेशकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे जैन- धर्मकी वृद्धि करनेवाले कवियोंकी वाणी सदा जयशील हो ॥ ५ ॥ इसप्रकार पंच परमेष्ठीकी श्रेष्ठ मांगलिक स्तुति करते हुए तथा श्रीमहावीरस्वामीके समयसे गुरुपरम्परापूर्वक चली आई श्रावकोंके अणुव्रत आदि उत्तम व्रतोंकी स्थितिको अच्छी तरह अध्ययन करनेवाले कविराज राजमल्ल उन्हीं उत्तम व्रतोंके स्वरूपको कहनेवाली 'लाटीसंहिता' नामके ग्रंथको कहनेकी इच्छा करते हैं। भावार्थ—कविराज लाटीसंहिता नामके ग्रंथके बनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ६ ॥

न्तरीयनिकरैः परितः परीतः स्वर्णाचलच्छलधृताततपवारणोऽसौ । गङ्गौघचामरविराजित एष जम्बूद्वीपोधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥ ७ ॥ परील्य जम्बूतरुमालवालव-द्वरीयसोच्चैः परिखाब्धिनावृते । अकृत्रिमं क्षेत्रमिहास्ति भारतं षडंशमात्रीकृतकालभारतम् ॥ ८ ॥ तत्रार्द्धचन्द्राकृतिकायमाने खण्डानि षट् सन्ति सरित्नगेभ्यः । खण्डोत्रविख्याततमार्यनामा निःश्रेयसेहास्ति वृषार्जनामा ॥९॥ तत्रास्ति देशो मगधाभिधेयो मध्ये यथाङ्गस्य मुखं सुवृत्तम् । नानापगाकाननभूधराणामालीभिरालिङ्गित-विग्रहोऽसौ ॥ १० ॥ सन्त्यत्र केचिन्नगराधिपास्ते वक्तुं क्षमो ज्ञोऽपि न यन्महत्त्वम् । वैराटनामा किल तत्समोपि चक्रीव दृष्टः कियदद्भुतश्रीः ॥ ११ ॥ इयन्मही-

इस मध्यलोकके मध्यभागमें यह जंबूद्वीप नामका द्वीप शोभायमान है जो कि चारों ओरसे अन्य अनेक द्वीपसमूहोंके द्वारा घिरा हुआ है। सुवर्णमय मेरुपर्वतके वहानेसे मानो उसने छत्र धारण कर रक्खा है और गंगा सिंधु नदीके प्रपातरूपी चमरोंसे अत्यन्त शोभायमान है। इसप्रकार यह जंबूद्वीप महाराजाधिराज सम्राट्के समान शोभायमान हो रहा है ॥ ७ ॥ मानो जंबूवृक्षके चारों ओर गोल घेराके समान वहुत भारी समुद्ररूपी खाईसे घिरे हुए इस द्वीपमें अनादिकालसे चला आया अकृत्रिम 'भारतवर्ष' नामका एक क्षेत्र है जो कि उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके छह छह समयोंकी प्रभासे सदा सुशोभित रहता है ॥ ८ ॥ उसी अर्द्धचन्द्राकाररूप भरतक्षेत्रमें विजयार्द्धपर्वत और गंगा सिंधु इन दो नदियोंके द्वारा छह खंड हो गये हैं। उन्हीं छह खंडोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एक आर्यखंड है जिसका दूसरा नाम वृषार्ज वा धर्मसेवन करनेका स्थान है। इस भरतक्षेत्रमें मोक्ष प्राप्त करने वा आत्मकल्याण करनेके लिए यह आर्यखंड ही एक कारण है ॥ ९ ॥ जिसप्रकार शरीरमें मुख सुशोभित होता है उसीप्रकार इस आर्यखंडके मध्य भागमें मगध नामका एक देश शोभायमान है जो कि गोल है और जो अनेक नदियां वन और पर्वतोंकी पंक्तियोंके द्वारा अपने शरीरको सुशोभित बनाये हुए है ॥ १० ॥ उस मगध देशमें अनेक उत्तम नगर हैं जिनकी महिमा वर्णन करनेके लिये बडे-बडे बुद्धिमान भी समर्थ नहीं हो सकते। परंतु उन्हीं नगरोंके समान एक वैराट नामका नगर है जोकि थोडी-सी अद्भुत शोभाको धारण करनेवाले चक्रवर्तीके समान दिखाई देता है ॥ ११ ॥ अन्य पर्वतोंके द्वारा स्पर्श न करनेवाली इस सरल पृथ्वीको इस नगरसे बाहर निकले हुए पुरुष इसका उल्लंघन न कर सकें इसीलिए मानो अपने स्थानपर

न्यनगैरनाक्रामृज्जं विमुक्तानतिवृत्तिहेतोः । स्थानोपविष्टं यमुपेत्य चक्राकारा स्थितासीदिव भूभृदाली ॥ १२ ॥ विलोक्य दंड्यानिव दूरवर्तिनः खनित्रछिन्नानपरांश्च भूभृतः । अमी विदग्धाः समुपासते पुरं विराटसंज्ञं कृतमण्डलच्छलात् ॥ १३ ॥ पुष्पाणां वाटिकाभ्यः प्रचलितमरुतोत्थापितो यः परागः पुञ्जीभूतोद्रिसङ्गान्नभसि परिगतः, शारदीमभ्रशोभाम् । अर्वाक् पौराङ्गनाभिः प्रशमलवमितः कुंकुमाढ्यद्रवाघैरूर्ध्वं वैराटसम्राडिव शिरसि बलादातपत्रं निदध्यौ ॥ १४ ॥ यदभ्रमभ्रंलिहसौधमण्डली शिरःस्थितस्तम्भनियंत्रिताभिः । अयं पताकाभिरुपास्यमानो रराज सम्राडिव चामरौघैः ॥ १५ ॥ विद्यन्ते निधयोऽप्यनादिनिधना नातीव दूरेऽप्यथो नान्यारात्तु तदङ्घ्रिगादपुरतः भूमौ लुठन्त्यो नव । सुप्राप्याः सुलभास्त्ववार्यविषयाश्चाबालगोपालकैः विख्याताः पृथिवीषु ताम्रखनयो वैराटकव्याश्रिताः ॥ १६ ॥ रत्नान्येव चतु-

ही सदा सुशोभित होनेवाले इस नगरके समीप आकर पर्वतमाला इस नगरके चारों ओर चक्रके आकाररूप सदा खडी रहती है ॥ १२ ॥ ऐसा मालूम होता है मानो अन्य दूरवर्ती पर्वतोंको अपराधीके समान कुदालोंके द्वारा छिन्न-भिन्न होते हुए देखकर यह चतुर पर्वतमाला इस नगरके चारों ओर गोल चक्रके बहानेसे इस विराट नगरकी सेवा ही कर रही हो ॥ १३ ॥ चलती हुई हवासे फूलोंकी बगीचियोंसे जो फूलोंका पराग उडता था तथा इकट्ठा होकर उस गोल पर्वतकी टक्करसे आकाशमें फैलकर शरद ऋतुके बादलोंकी मधुर शोभाको धारण करता था और जो नगरनिवासिनी ललनाओंके द्वारा कुंकुम मिले हुए चन्दनादि रसके द्वारा कुछ-कुछ शांत हो गया था वह ऐसा मालूम पडता था मानो इस वैराट नगररूपी सम्राट्ने अपने ऊपर मस्तकपर पहलेसे ही जबर्दस्ती छत्र धारण कर लिया हो ॥ १४ ॥ उस नगरके ऊपर आकाशको स्पर्श करनेवाली भवनोंकी पंक्तियां थीं और उनके शिखरके समीप खम्भोंपर लगी हुई जो ध्वजाएं फहरा रही थीं उनके द्वारा उपासना किया हुआ वह नगर ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो चमरोंके समूहोंके द्वारा एक महाराजाधिराज ही शोभायमान हो रहा हो ॥ १५ ॥ वहांपर हमेशासे चली आई नौ निधियां (खजाने) थीं जो उस नगरसे न तो दूर थीं और न अत्यन्त समीप थीं किन्तु उस नगरके पैरोंके सामने पृथ्वीपर लोट रही थीं । इसीप्रकार उस वैराट नगरके समीप भागमें ही तांबेकी खानें थीं जो समस्त पृथ्वीमें प्रसिद्ध थीं और बच्चे भी जिसको जानते थे वे खानें सबको सुभीतेसे मिल जाती थीं सब कोई उनसे लाभ उठा सकता था और उसके लिए किसीको रोकटोक नहीं थी ॥ १६ ॥ रत्न चौदह होते हैं परंतु रत्नोंकी चौदह संख्याका नियम उस नगरमें नहीं था

देशेति नियमस्तत्रास्ति नात्रेति यत्रास्तां गजबाजिराजितरथा योषित्सहस्राणि च । सिद्ध्यन्तीह पदे पदेऽनवरतं धर्मार्थकामादयो हेतुश्चाप्यपवर्गसंज्ञकगतेः सम्पद्यते प्राणिनाम् ॥ १७ ॥ धार्यन्ते शिरसीव दामनिवहा मात्राङ्कमुद्रान्विता वैराटे घटिताः पयोधिवलयादर्वागटन्तः क्रमात् । नोल्लंघ्या जगतीह सर्वनृपतेश्चाज्ञा इवोल्लेखिता न्यायादागतमेनदेव नियमात्सश्लाध्यता तत्समः ॥१८॥ हस्त्यश्वपादातिरथाः प्रकामं चमूरिवाभान्ति यथोपमानम् । यत्रानिशं संप्रति वर्तमानाः साम्राज्यभाजोस्य किमस्ति शेषः ॥ १९ ॥ भटाः प्रचारोद्भटसौष्ठवोत्कटाः करे ललज्जिह्वयमासिधारिणः । इतस्ततोऽटन्ति रणे समुत्सुका यदत्र सम्राट् स समर्थितोऽर्थतः ॥ २० ॥ प्राकारो

क्योंकि उस नगरमें हाथी घोडे सुसज्जित रथ और हजारों ललनारूपी रत्न तो थे ही किन्तु इनके सिवाय धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ वहांपर सदा पद-पदपर सिद्ध होते रहते थे तथा वहांके प्राणियोंको मोक्ष गतिके कारण भी सदा प्राप्त होते रहते थे ॥ १७ ॥ उस वैराट नगरमें कुछ अक्षरोंके चिन्हसे सुशोभित जो अशरफियां बनती थीं वे अनुक्रमसे समुद्रतक चलती थीं तथा बहुतसे लोग उनकी मालाएं बनाकर मस्तकपर धारण करते थे । इससे यह साबित होता था कि यह नगर सब नगरोंका सार्वभौम राजा है सार्वभौम राजाके समान इसकी आज्ञा भी इस संसारमें कहीं उलंघन नहीं हो सकती यही मानो उन मालाओंकी अशरफियोंमें लिखा हुआ था । सो ठीक ही है और परंपरासे चली आई न्यायसिद्ध बात है कि सार्वभौमकी आज्ञाका कोई उलंघन नहीं कर सकता । इसप्रकार वह नगर सार्वभौम राजाके समान प्रशंसनीय गिना जाता था ॥ १८ ॥

उस वैराट नगरमें हाथी घोडे पदाति (पैदल चलनेवाली सेनाके लोग) और रथ जैसे चाहिए वैसे अच्छी संख्यामें सदा फिरा करते थे और वे सदा सेनाके समान सुशोभित होते थे । फिर भला उस वैराट नगरको सम्राट् बननेमें बाकी ही क्या रहा ॥ १९ ॥ अपने प्रचार करनेकी कठोरतामें भी अपनी सज्जनतासे बडे माने जानेवाले तथा जिनके हाथमें लपलपाती हुई यमराजकी जीभके समान लंबी तलवार लटक रही है और जो युद्धके लिए सदा उत्कंठित रहते हैं ऐसे योद्धा उस नगरमें इधरसे उधर घूमा ही करते थे । इससे जान पडता है कि उस वैराट नगरमें वह सम्राट् धनसे खूब ही भरपूर था ॥ २० ॥ उस वैराट नगरके चारों ओर कंकणके आकारका गोल

वलयाकृतिः परिलसन्नानाश्मनिर्मापितो वैराटं प्रविवेष्ट्य भाति पुरतः सर्वान्यचक्रोज्झितम् । मध्याह्ने किल दृष्टनष्ट इव यद्धार्को निहाभ्रंलिहि तन्मन्ये परिवेष एष शशिना सेवाकृते प्रेषितः ॥ २१ ॥ उपर्युपरि शालमशेषतः क्रमात् पुरःस्थिताः कंगुडसंज्ञया मताः । मन्ये नु वैराटनृपस्य नेमेरारा दरिद्रारिविनाशनाय ॥ २२ ॥ प्राकारात्परितोऽप्यनन्तरतमो यस्यास्त्वपाच्यां दिशि विख्यातो भुवि वन्हिना द्रवकरो, नाम्नापि ताम्राकरः । कोष्ठाग्नेर्वडवानलानलमयो घोषाश्च भस्त्रारवैः किट्टोर्मीर्दधता यमार्यशकलोऽनेनैव खण्डाब्धिना ॥ २३ ॥ पातालमादातुमपीहकामो वैराटनामा परिखोन्मिषाद्धै । जिष्णुर्यतोनेकपदाहवे यस्तृणाय मन्येत जगत्त्रयं यत् ॥ २४ ॥ विरे-

परकोटा शोभायमान था जो कि अनेक प्रकारके सुंदर पत्थरोंसे बना हुआ था और अन्य शत्रुरूप राजाओंकी सेनाके द्वारा सवथा रहित था अर्थात् शत्रुओंकी सेना जिसके पास फटकने भी नहीं पाती थी। औरकी तो बात ही क्या है आकाशको स्पर्श करनेवाले उस कोटके भीतर सूर्य भी केवल दोपहरके समय क्षणभर दिखाई देता था और फिर शीघ्र ही नष्ट हो जाता था अर्थात् कोटकी ओझलमें आ जाता था । इससे ऐसा मालूम होता था मानो वह कोट नहीं था किंतु चंद्रमाने उस वैराट नगरकी सेवा करनेके लिए अपना चारों ओरका मंडल ही भेज दिया हो ॥ २१ ॥ उस परकोटाके ऊपर अनुक्रमसे चारों ओर एक शाल था तथा उस शालमें सामनेकी ओरसे (बाहरकी ओरसे) दिखनेवाले कंगूरे थे। वे कंगूरे ऐसे मालूम पडते थे मानो दरिद्रतारूपी शत्रुको नाश करनेके लिए वैराट नगररूपी राजाके रथके पहियोंके आरे ही हों ॥२२॥ उस नगरकी दक्षिण दिशामें परकोटाके बाहर किन्तु परकोटासे लगा हुआ तांबेकी खान नामका एक तांबा निकालनेका कारखाना था। जो संसारभरमें प्रसिद्ध था। वह कारखाना एक छोटेसे खंड समुद्रके समान था जिसमें कोठेकी अग्नि बडवानलके समान धधकती थी, धोंकनीके शब्द समुद्रकी गर्जनाके समान सुनाई पडते थे और तांबेका मैल समुद्रकी लहरोंके समान दिखाई पडता था। ऐसा मालूम पडता था मानो इसी खंड समुद्रसे ही यह नगर आर्यखंडका एक भाग कहलाता हो। भावार्थ—उससे उस नगरकी अच्छी शोभा थी ॥ २३ ॥ उस नगरके चारों ओर जो खाई थी उससे वह वैराट नगर ऐसा मालूम पडता था मानो उस खाईके बहानेसे पातालको पकडनेकी ही इच्छा कर रहा हो। तथा इसका भी कारण यह है कि वह नगर अनेक युद्धोंमें विजय पा चुका था और इसीलिए वह तीनों लोकोंको भी अपने

जुरत्रापि च सौधपंक्तयः सितादिवर्णोपलचित्रभित्तयः । उपर्युपर्याजलदाध्वगामिनो गृहोपरिष्टाद्गणनातिगा गृहाः ॥२५॥ मनुजनामविवेरुदयात्परं जनितमात्रतया नरजाङ्गना । सुतनुकान्तिभरादतिशायिनाच्छुशुभिरे किमिहामरशोपितः ॥ २६ ॥ सुधावधूलीकृतगात्रयष्ट्यो यदीयसौधाः स्वगुणातिशायिनः । हसन्ति यद्वा कुकवीनमीमि. सम विमानान्युत्प्रेक्षितो दिवः ॥ २७ ॥ गृहाग्रसंलग्नमृगाङ्ककान्तयो विधोः कराश्लेषवशात्स्रवन्ति वा । जितो हि वैराटवधूजनाननै रुदन्निवेन्दुः प्रहताविकारतः ॥ २८ ॥ हर्म्याङ्गणेषु खचितस्फटिकोपलेषु काचिच्च बालवनितानुपतिं नवोढा । दृष्ट्वात्मनः प्रतिनिधिं किल शङ्किनासीद्रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः

सामने तृणके समान न कुछ मानता था ॥ २४ ॥ उस वैराट नगरमें मकानोंकी पक्तियां बडी अच्छी शोभायमान थीं जिनकी दीवालें सफेद लाल पीले आदि अनेक रंगके पत्थरोंसे बनी हुई थीं और इसीलिए वे अनेक अनेक वर्णकी दिखाई पडती थीं। उन घरोंके मंजिल ऊपर-ऊपर आकाशतक चले गये थे और वे इतने थे कि उनकी संख्या भी नहीं की जा सकती थी। भावार्थ—वे मकान भी अनेक मंजिलोंके थे ॥ २५ ॥ उस नगरकी स्त्रियां यद्यपि मनुष्यायु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई थीं तथापि अपने सुंदर शरीर और कांतिके समूहसे अत्यंत शोभायमान होती थीं। उनकी शोभाके सामने देवांगना भी कोई चीज नहीं थीं ॥ २६ ॥ अपने गुणोंसे अत्यंत शोभायमान होनेवाले वहांके मकान चूनासे सफेदी किए हुए ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जो कुकवि इन मकानोंके साथ स्वर्गके विमानोंकी उत्प्रेक्षा करते हैं उन कुकवियोंके लिए हंसरहे ही हों। भावार्थ—वहांके मकान स्वर्गके विमानोंसे भी सुंदर थे ॥२७॥ उन घरोंके सामने जो चन्द्रकांता मणि लगे हुए थे उनसे चंद्रमाकी किरणोंके पडनेसे सदा पानी बहा करता था और उससे ऐसा मालूम पडता था मानो वह चंद्रमा वैराट नगरकी स्त्रियोंके मुखसे जीता गया था और उसका सब अधिकार (सुंदरताका अधिकार) छीन लिया गया था इसीलिए वह रो रहा ही हो ॥२८॥ उन मकानोंके आंगनोंमें जो स्फटिक मणिके पत्थर लगे हुए थे और उनपर जो अपने पतिके समीप खडी हुई किसी नवीन विवाहिता बाल वनिताकी परछांई पड रही थी उस परछांईको देखकर उस नवीन विवाहिता बाल वनिताको अपनी सौतका संदेह हो गया था और उसकी ईर्ष्यासे क्षणभरके लिए उसके नेत्र लाल हो गए थे ॥ २९ ॥ जहां स्फटिक मणिके पत्थर लगे हुए थे उसीके पास मकानोंकी

॥ २९ ॥ वसुः सरांसीव भुवो यदन्तरे गृहाङ्गभागेषु मणित्विषां चयाः । वरांगनाः संवरिताम्बराः क्षणं ययुस्तत्पान्तास्तरणातुराः पुनः ॥३०॥ यत्रात्र कान्ता रतवेश्मनीह निवेशितादर्शशतारमभित्तौ । बाला प्रतिच्छायमवेक्ष्य रूपं वृथाऽकरोन्मानमनल्पसंभ्रमात् ॥ ३१ ॥ विचित्रचित्राणि यदीयसद्मसु व्यलीलिखत्कर्मसु सूत्रधारः । नूनं विलोक्यैतदकारि सद्विधिः जगत्त्रयं चात्मकृतार्थतां गतः ॥ ३२ ॥ यदंगनामंगलगानकोटिभिः प्लुते मुदातोद्यरवैर्विहायसि । विधूपिताशामुखधूपधूम्रकैरिहानिशं रौति शिखी स्म वेश्मसु ॥ ३३ ॥ विधन्ते नगराण्यनन्तगणितान्यासागरार्णांसि वै तत्रापि प्रतिपत्तन युवतयस्तारुण्यतोयोर्मयः । किन्त्वत्रत्यवरांगनापरिलसद्दृक्कोण-

दीवालोंमें बहुतसे मणि लग रहे थे जिनकी कांति उन स्फटिक मणियोंपर पड रही थी जिससे वह जमीन सरोवरके समान जान पडती थी उसे देखकर नवीन सुंदर स्त्रियां क्षणभरके लिए अपने कपडे समेटकर ऊंचे कर लेती थीं और उसमें तैरनेकी इच्छा करती थीं परंतु थोडी ही देर बाद मालूम होनेपर वे बडी ही लज्जित होती थीं ॥ ३० ॥ उस नगरके मकानोंके भीतर जो रंगमहल बने हुए थे और उनकी दीवालोंमें जो सैकडों दर्पण लगे हुए थे उनमें जाकर नवीन स्त्रियां अपने अनेक प्रतिबिम्बोंको देखकर बडे भारी संभ्रमके साथ जो मान करती थीं वह बिल्कुल व्यर्थ पड जाता था ॥ ३१ ॥ वहांके मकानोंमें कारीगरोंने जो अनेक प्रकारके चित्र बनाए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो ब्रह्माने उनको देखकर ही यह जगत बनाया हो और अपना नाम कृतार्थ किया हो ॥ ३२ ॥ वहांपर स्त्रियोंके करोडों मंगलगान होते रहते थे, बाजे बजते रहते थे और सब दिशाओंमें जिनका धूआं भर रहा है ऐसी धूपदानोंमें धूप खेई जाती थी। उन गानोंसे, बाजोंसे और खेई हुई धूपके धूएंसे आकाश सदा भरा रहता था जिसे देखकर घरके मोर सदा चिल्लाया करते थे। भावार्थ—वे मोर धूपके धूएंको बादल और बाजोंकी आवाजको बादलोंकी गजना समझते थे और इसीलिए वे सदा बोला करते थे ॥ ३३ ॥ समुद्रतक फैलीहुई इस विशाल पृथ्वीपर अनेक नगररूपी समुद्र हैं और उन प्रत्येक नगरोंमें तारुण्यरूपी जलकी लहरोंके समान अनेक चंचल स्त्रियां हैं परन्तु इस वैराट नगरकी सुन्दर स्त्रियोंके सुशोभित नेत्रोंके कोणोंकी गएं वा कटाक्षरूपी बाणोंके कारण यह प्रसिद्ध कामदेव इस वैराट नगरको ही अनुपम किला समझता था। वहांकी स्त्रियां बहुत ही सुंदर थीं और उनके कटाक्ष बडे ही जबर्दस्त थे ॥ ३४ ॥ समस्त संसारको

लीलावली वाणाग्रैर्मनुतेस्म दुर्गमतुलं वैराटक मन्मथः ॥ ३४ ॥ आसीदयत्नादपि जागरूको जगज्जिगीषुः कुसुमायुधश्च । लीलारणन्नूपुरतौर्यनादैर्निशादि वैराटपुरांगनानाम् ॥ ३५ ॥ यदीयहर्म्याग्रनिबद्धपद्धतीर्दुकूलरत्नाभरणावलकृताः । वधूरुपेत्येन्द्रधनुःशताकृतिमगादकालेऽपि विराटपत्तनम ॥ ३६ ॥ विराटवीथीषु नवोढयोषितां गमागमाभ्यासवशानुसारिभिः । तदाननामोदमदालिनिःस्वनैरय मधुः कोप्यपरः सदातनः ॥ ३७ ॥ घनाघनारब्धेषजगज्जनैर्वैराटहट्टाध्वसु पर्यटद्भिः । गतेः प्रचारोपि च दुर्गमोऽभूद्वारांनिधेः पार इवोर्मिजालैः ॥ ३८ ॥ अनेकदेशीयजनैरनेकैश्चितः सरिद्भिः सरितांपतिर्यथा । तदागमिष्यन्निखिलोपमेयतां यदा स सिन्धु-

जीतनेकी इच्छा करनेवाला कामदेव उस वैराट नगरकी स्त्रियोंके लीलापूर्वक बजतेहुए बिछुओंकी आवाजरूपी तुरईके शब्दोंसे बिना किसीप्रकारके यत्नके भी रातदिन जागृत रहता था ॥ ३५ ॥ उस नगरकी सुन्दर स्त्रियां रत्नजडित वस्त्र और आभूषणोंको पहनेहुए मकानोंके ऊपर चढकर पंक्तिबद्ध होकर खडी हो जाती थीं और उन रत्नोंकी किरणोंसे जो इन्द्रधनुषसे पड जाते थे उससे ऐसा मालूम होता था मानो वह वैराट नगर उन स्त्रियोंके पास पहुंचकर असमयमें ही सैकडों इन्द्रधनुषोंके आकारमें परिणत हो गया है ॥ ३६ ॥ उस वैराट नगरकी गलियोंमे जो नवोढा स्त्रियां इधर-उधर आती जाती थीं तथा उनके पीछे-पीछे चलनेवाले और उनके मुखकी सुगंधिसे मदोन्मत्तहुए भ्रमर जो गुंजार कर रहे थे उनसे ऐसा मालूम पडता था मानो यह सदा रहनेवाला कोई अपूर्व ही वसन्त है ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार लहरोंके समूहोंसे समुद्रके पार होना अत्यन्त कठिन हो जाता है उसीप्रकार उस वैराट नगरके बाजारके मार्गोंमें चलने-फिरनेवाले समस्त संसारके लोगोंके द्वारा जो बडी भारी भीड इकट्ठी हो गई थी और लोग एक दूसरेसे टक्कर खाते हुए चलते थे उससे गतिका प्रचार भी अत्यंत कठिन हो गया था अर्थात् उन बाजारोंमें चलना भी अत्यंत कठिन हो गया था ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार अनेक नदियोंसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार वह वैराट नगर अनेक देशोंमें रहनेवाले अनेक लोगोंसे सदा भरपूर रहता था। अंतर केवल इतना ही है कि इस नगरको समुद्रकी पूर्ण उपमा तब दे सकते हैं जब कि वह समुद्र मीठा हो जाय। भावार्थ—समुद्र तो खारा होता है और नदियोंका मीठा पानी भी उसमें आकर खारा हो जाता है परंतु नगर बडा ही मधुर और सरस था तथा उसमें अनेक देशके जो अनेक लोग आते थे वे भी मधुर और-

मधुरोऽभविष्यत् ॥ ३९ ॥ वेदाः प्रमाणं हि पठद्भिरुच्चैर्विप्रैरनूनैरिह सम्भृतोऽसौ । शुक्लम्बरांगश्च चतुर्भिरास्यैर्वैराटनाम्नावततार धाता ॥ ४० ॥ उर्वी यदन्ते विपुला खशीम्नः सस्यारुहाः सप्रसवेव योषित् । धान्यानि सूते त्रिविधान्यजस्रं रत्नानि यद्वा सुसुतोपमानि ॥ ४१ ॥ सार्द्राणि यत्रोपवनानि नित्यं नम्राणि भूयो मरुनेरितानि । वाचालितानीव पिकस्वनाद्यैः सप्रश्रयाणीव हि पार्षदानि ॥ ४२ ॥ यस्यान्तिके कूपतडागवाप्यः सुधावलिप्तोज्वलकण्ठदेशाः । परीत्य पूर्णं प्रतिविम्ब-मिन्दो. स्थिताःविरेजुर्नभसीव ताराः ॥ ४३ ॥ सरस्सु वापीषु कुशेशयानां क्वचित्सहस्राणि शतानि यत्र । वैराटसाम्राज्यमुखेन्दुशोभा द्रष्टुं धरित्र्याः धृतलोचनानि

सरस हो जाते थे । रूक्ष प्रकृतिका मनुष्य भी यहां आकर सरस और मधुर हो जाता था इसलिए समुद्रके साथ इसकी उपमा तभी बन सकती है जब कि समुद्र मीठा हो जाय ॥ ३९ ॥ चारों वेद ही प्रमाण हैं इस बातको ऊंचे स्वरसे पढते हुए अनेक ब्राह्मणोंसे वह नगर भरा हुआ था और ऐसा मालूम पडता था मानो सफेद वस्त्र और सफेद शरीरको (गौरवर्ण) धारण करनेवाला ब्रह्मा अपने चारों मुखोंसे वैराट नामसे ही अवतरित हुआ हो । भावार्थ—वह वैराट ऐसा मालूम पडता था मानो उस नगररूपसे ब्रह्माने ही अवतार लिया हो ॥ ४० ॥ जिसप्रकार वहांकी स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करनेवाली थीं उसीप्रकार वहांकी अपनी सीमापर्यन्त पडी हुई विशाल पृथिवी बहुतसे धान्योंको उत्पन्न करनेवाली थी । अन्तर केवल इतना ही था कि स्त्रियां पुत्ररत्न उत्पन्न करती थीं और वह पृथिवी सदा अनेक प्रकारके धान्य उत्पन्न करती थी अथवा रत्नोंको भी उत्पन्न करती थी ॥ ४१ ॥ वहांके बगीचे सदा जलसे सींचे रहते थे तथा उन बगीचोंके पौधे हवाके चलनेसे सदा नम्र बने रहते थे और कोयलोंके मधुर शब्दोंसे सदा गूंजते रहते थे इसलिये वे बगीचे ऐसे मालूम पडते थे मानों समीप रहनेवाले नम्र सेवक ही हों ॥ ४२ ॥ उस नगरके चारों ओर उस नगरको घेरे हुए अनेक कूए अनेक तलाब और अनेक बावडियां थीं जिनके ऊपरका भाग चूनासे सफेदी किया हुआ अत्यंत स्वच्छ दिखाई पडता था । सफेद भवनों-वाले उस नगरको घेरे हुए वे ऐसे मालूम पडते थे मानो आकाशमें चन्द्रमाके पूर्ण विम्बको घेरे हुए अनेक तारे ही शोभायमान हो रहे हों ॥ ४३ ॥ उन तालाबों और बावडियोंमे कहींपर सैकडों कमल थे और कहींपर हजारों कमल थे और वे ऐसे मालूम पडते थे मानों उस वैराट नगररूपी सम्राट्के मुखरूपी चन्द्रमाकी शोभा

॥ ४४ ॥ लोलोर्म्मयो यत्र जलाशयेषु क्षणं पतित्वाथ समुत्पतन्ति । मन्ये मुखं वीक्ष्य विराटराज्ञः स्खलन्त्यनंगादबलाः पदे पदे ॥ ४५ ॥ वापीकूपतडागचत्वरमठक्रीडाद्रिवाव्यादिषु भामिन्यो रमणैः सहोत्सुकतयोद्रेकाद्रमन्ते रहः । तन्मन्ये ऽमरदम्पतीशतमिदं स्वर्गात्समुत्तीर्य यत् दृष्ट्वाश्चर्यपरंपरां मुदमगाद्वैराटपार्श्वे स्थितम् ॥४६॥ गमागमाभ्यामटता जनाना श्रेणी चतुर्दिक्षु चतुर्मुखेभ्यः । अत्राकरिष्यदलमेव सुरापगायाः पूरेण सा चेदभविष्यदेका ॥४७॥ यतो वहिर्भागधरासु संस्थिताः कृषीवलाः सार्भकबन्धुयोषित. । मनागमनाऽन्तरमाश्रिताश्रमाः दधुर्दिवाग्रामशतोपमेयताम ॥ ४८ ॥ क्रीडाद्रिशृंगेषु च पाण्डवानामद्यापि चाश्चर्यपरंपराङ्काः । यान्कांश्चिदालोक्य बलावलिप्ता दर्पं विमुञ्चन्ति महाबला अपि ॥४९॥ जले जने नक्रमहानियोजनं धनुर्भृता उग्रनिहतिर्न सम्पदाम । रणे यनै चापगुणे न संग्रहो विशालता

देखनेके लिए पृथ्वीने ही सैकडों वा हजारों नेत्र धारणकर लिए हों ॥ ४४ ॥ वहांके जलाशयोंमें चंचल लहरें क्षण-क्षण भरमें उठती थीं और फिर शीघ्र ही उसमें लीन हो जाती थीं। कविराज कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं कि वे लहरेंरूपी स्त्रियां वैराटनगररूपी राजाके मुखको देखकर कामदेवके वश होकर पद-दपर स्खलित हो रही थीं ॥ ४५ ॥ वहांके कुए, बावडी, तालाब, चौपाड, मठ, क्रीडा करनेके छोटे-छोटे पर्वत और रास्तोंमें अनेक स्त्रियां अपने-अपने पतियोंके साथ एकांत स्थानमें बडी उत्सुकता और उन्मत्तताके साथ क्रीडा कर रही थीं। उन्हें देखकर हम तो ऐसा मानते हैं मानों देव और देवांगनाओंके सैकडों जोडे स्वर्गसे उतरकर और यहांकी अनेक आश्चर्यपरंपराको देखकर तथा अत्यंत प्रसन्न होकर इस वैराट नगरके समीपमें ही ठहर गये हैं ॥४६॥ वहांके चौराहोंपर इधर-उधर आनेजानेवाले लोगोंके द्वारा जो चारों दिशाओंमें चार श्रेणियां बन जाती थीं वे ऐसी मालूम पडती थीं मानों आकाशगंगाने अपने पूरसे सब एक ही श्रेणी बना दी हो ॥ ४७ ॥ उस नगरके बाहरके भागकी पृथिवीपर जो खेती करनेवाले किसान अपने भाई बच्चे और स्त्रियोंके साथ रहते थे और उन्होंने जो थोडी-थोडी दूरपर अपने रहनेके स्थान बना लिए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो स्वर्गके सैकडों गांव ही हों ॥ ४८ ॥ वहांपर पांडवोंके क्रीडा करनेके जो पर्वत हैं उनकी शिखरपर जो सदा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले चिन्ह हैं उनमेंसे कुछ थोडेसेको ही देखकर बडे भारी बलको धारण करनेवाले भी योद्धा आज भी अपने अभिमानको छोड बैठते हैं ॥ ४९ ॥ वहांके मनुष्योंमें क्रमहानि (क्रमका उल्लंघन करना) नहीं थी किन्तु जलमें ही नक्रम

१ इसमें तीन चरण उपजाति छन्दके हैं और एक चरण बसन्त तिलकाका है।

यत्र न सा विशालता ॥ ५० ॥ दण्डोस्ति छत्रे न किल प्रजायां बन्धोऽस्ति हारे न जने क्वचिद्वै । गन्धापहो गन्धवहोस्ति तस्करो न तस्करः कोपि परार्थसंग्रहे ॥ ५१ ॥ नवोढवध्वा नवसंगमे भय न जातु भीतिः परचक्रिणो रणे। वस्त्रापहारो रतकर्मणि ध्रुवं यत्रापहारोरत्यपरो न कश्चित् ॥ ५२ ॥ छिद्रग्रहो मौक्तिकदामगुम्फे न सूययान्योन्यजनेषु कश्चित्। द्यूते ध्वनिर्मारय मारयेति न बालगोपालमुखेषु यत्र ॥ ५३ ॥ ताम्बूलभुक्ताविति खण्डनं वा भोगोपभोगे न च तत्कदाचित्। क्षतं

हानि अर्थात् बडे-बडे मगर मच्छ थे इसीप्रकार वहांपर धनुष धारण करनेवालोंमें ही प्रत्यंचा (धनुषकी डोरी) की निहति (तोडना वा नशाना) थी वहांके धनकी निहति अर्थात् नाश कभी नहीं होता था। वहांपर चापगुण अर्थात् धनुष और उसकी डोरीका संग्रह केवल युद्धमें ही होता था चाप गुण—अपगुण अर्थात् बुरे गुणोंका संग्रह किसी यतिमें नहीं था। तथा वहांकी जो विशालता वा बडप्पन था वह शालीनता वा गौरवतासे रहित नहीं था ॥ ५० ॥ वहांपर दंड केवल छत्रमें ही था, प्रजामें किसी प्रकारका दंड नहीं था। बंध केवल हारमें था (हार गूंथा जाता था) वहांके मनुष्योंमें किसीको भी किसीप्रकारका बंधन (जेल आदि) नहीं था। वहांपर फूलोंकी सुगंधिको अपहरण करनेंवाली वायु ही चोर थी दूसरेके धनको चुरानेवाला वहांपर कोई मनुष्य नहीं था ॥ ५२ ॥ वहांपर नवोढा स्त्रियोंको पतिके नवीन वा प्रथम समागममें ही भय उत्पन्न होता था इसके सिवाय वहांके लोगोंमें परचक्रका (किसी शत्रुरूप अन्य राजाका) भय कभी नहीं होता था। इसीप्रकार वस्त्रोंका अपहरण (वस्त्रोंको उतारकर छीनना) केवल संभोगक्रियामें ही था, इसके सिवाय वहांपर और किसी प्रकारका भी अपहार (छीना झपटी) नहीं था ॥५२॥ वहांपर छिद्रोंका ग्रहण केवल मोतियोंकी माला बनानेमें था अर्थात् माला बनानेमें मोतियोंके छिद्र ढूंढ जाते थे, ईर्ष्याके द्वारा परस्पर एक दूसरेके छिद्र कोई किसीके नहीं ढूंढता था। 'मार-मार' ये शब्द केवल जूआ खेलनेमें थे, इसके सिवाय वहांके बच्चे और गवालियोंतकके मुखसे कभी मार-मार शब्द नहीं निकलते थे ॥ ५३ ॥ वहांपर खंडन शब्द केवल तांबूलोंके खानेमें था इसके सिवाय वहांके भोगोपभोगोंका खण्डन कभी नहीं होता था। इसीप्रकार क्षत शब्द सुन्दर स्त्रियोंके शरीरपर केवल नाखूनोंके चिन्होंका सुनाई पडता था वहांके सुखोंमें अथवा मकानोंकी पक्तियोंमें कभी क्षत शब्द सुनाई नहीं पड़ता था

नखाकैर्वरस्योषिदगे सौध्यावलीसंहनने न यत्र ॥ ५४ ॥ रागोऽधरे यत्र नितम्बिनीनां नान्यस्वदाराधनवञ्चनेषु । नेत्रद्वयो रञ्जनमञ्जनानां पापाञ्जनं नैव जनेषु किंचित् ॥ ५५ ॥ पयोजनाले परमस्ति कण्टको न कण्टकः कोऽपि मिथः प्रजायाम् । नूनं सरोगो न जनोऽत्र कश्चित् परं सरोगो यदि राजहंसः ॥ ५६ ॥ दरिद्रता दातृजने न यत्र परं प्रतिग्राहिणि क्वास्ति पात्रे । नान्तस्तदाश्चर्यपरंपराणामापूर्वता चेकविधर्मशक्तिः ॥ ५७ ॥ इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानैर्वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य । स्तोतुं मनागात्मनया प्रवृत्तः सानन्दमास्ते कविराजमल्लः ॥५८॥ आसीदुग्रसमग्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला नानाभूपतिरत्नभूरिव परा जातिश्च गत्ताभिधा । तस्यां बाबरपाति-

॥ ५४ ॥ वहांपर राग शब्द केवल स्त्रियोंके अधरमें पाया जाता था, दूसरोंके धनको ठगने अथवा दूसरोंकी स्त्रियोंको ठगनेमें वहांपर किसीको राग नहीं था। इसी प्रकार दोनों नेत्रोंमें अंजन लगाना केवल स्त्रियोंमें था, वहांके लोगोंमें पापरूप अंजन वा मैल बिल्कुल नहीं था ॥ ५५ ॥ वहांपर कांटे केवल कमलनालमें थे, इसके सिवाय वहांकी प्रजामें परस्पर एक दूसरेको कोई कंटकरूप वा बाधा देनेवाला नहीं था तथा वहांपर कोई भी मनुष्य सरोग अर्थात् रोग सहित नहीं था। यदि वहांपर सरोग (सर--तालाब और ग--चलनेवाला। सरोग अर्थात् तालाबमें चलनेवाला) शब्द था तो केवल राजहंसोंमें था। अर्थात् राजहंस ही तालाबोंपर चलते थे वहांपर कोई मनुष्य रोगी नहीं पाया जाता था ॥ ५६ ॥ वहांपर दाता लोगोंमें दरिद्रता नहीं थी यदि दरिद्रता वस्त्ररहितपना वा निर्ग्रंथपना था तो जिनका प्रतिग्रहण किया जाता था ऐसे पात्रोंमें अर्थात् मुनियोंमें था। कहांतक कहा जाय उस नगरमें होनेवाले आश्चर्योंकी परंपराका आश्चर्योंके समूहका कोई अन्त नहीं था। यदि किसी कविमें कविताकी पूर्ण शक्ति हो तो उसे चाहिए कि वह उन आश्चर्योंका निरूपणकर समस्त आश्चर्योंको दिखलावे ॥ ५७ ॥ इसप्रकार अनेक महिमा और उपमाओंसे भरपूर वैराट नगरको देखकर राजमल्ल कविने आनंदित होकर और उसे अपना समझकर उसकी यह कुछ प्रशंसा लिखी है ॥ ५८ ॥

समस्त तेजस्वी वंशोंमें प्रसिद्ध, गंगानदीके समान निर्मल अनेक राजारूपी रत्नोंको उत्पन्न करनेका स्थान और उत्कृष्ट ऐसी एक गत्ता नामकी जाति थी। उस जातिमें एक बाबर नामक बादशाह हुआ था जो कि देहली प्रान्तमें सुशोभित होनेवाले अपने यशसे जबर्दस्ती समस्त शत्रुओंको जीतनेवाला था और सूर्यके समान

साहिरभवन्निर्जित्यशत्रून् बलाद्दिल्लीमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ ५९ ॥ तत्पुत्रः समजीजनन्निजकुले व्योम्नीव चण्डांशुमान् दोर्दण्डैरिव खण्डनोद्भटमना नाम्ना हुमायूं नृपः । दुर्वारो विलसत्प्रतापमहिमा चैतातपत्राङ्कितो विख्यातो भुवि यः समुद्रपरिखापर्यंतभूमीश्वरः ॥ ६० ॥ तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोषत्प्रतापानलज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालितारिव्रजः । श्रीमत्साहिशिरोमणिरकब्बरो निःशेषशेषाधिपैः नानारत्नकिरीटकोटिघटितः सृग्भिः श्रितांह्रिद्वयः ॥ ६१ ॥ श्रीमद्डिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् । येनासौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्तिर्जीयाद्वोक्ताथ नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥ ६२ ॥ जैनो धर्मोनवद्यो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती साक्षाद्दिगम्बरास्ते यतय इह यथा-जातरूपाङ्कलक्ष्माः ।

पूर्ण प्रतापी था ॥ ५९ ॥ जिसप्रकार आकाशमें सूर्य शोभायमान होता है उसीप्रकार उसी अपने कुलमें उस बाबर बादशाहके हुमायुं नामका पुत्र हुआ था जिसने अपनी भुजारूपी दण्डोंसे बडे-बडे योद्धाओंके मान खंडन कर दिये थे। जो अजेय था, उसके प्रतापकी महिमा संसारमें प्रसिद्ध थी, वह एक छत्रधारी बादशाह था और संसारमें प्रसिद्ध तथा समुद्ररूप खाईतक पडी हुई विशाल पृथ्वीका स्वामी था ॥ ६० ॥ उस हुमायुंके पुत्रका नाम बादशाह अकबर था जो कि सार्वभौम सम्राट्के समान था, सबजगह फैले हुए अपने प्रतापरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे जिसने अपने चारों ओरके समस्त शत्रु जला दिये थे । और बाकी बचे समस्त राजाओंकी मालाओंके द्वारा तथा उनके मुकुटोंमें लगे हुए अनेक रत्नों द्वारा जिसके दोनों चरण आश्रित थे । भावार्थ—सब राजा जिसकी सेवा करते थे ॥ ६१ ॥ समुद्रफेनके समान सफेद और आकाशके समान विशाल ऐसी अपनी अखंड कीर्तिसे तथा अपनी भुजाओंके यशसे जिसने यह समस्त ब्रह्मांडरूपी मंडप इसी वैराट नगरमें आकर्षित कर लिया है और जो अकबरके नामसे समस्त संसारमें प्रसिद्ध है ऐसा इस वैराट नगरका स्वामी बादशाह अकबर सदा चिरंजीव रहो ॥ ६२ ॥

यह संतान दरसंतानरूपसे चला आया निर्दोष जैनधर्म आज भी संसारमें विजयी हो रहा है। तथा साक्षात नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले ये दिगम्बर मुनिराज भी आज संसारमें विजयशील हो रहे हैं। मैं उस निर्दोष जैनधर्मको और उन मुनिराजोंको तीनों समय नमस्कार करता हूं, जिनके फैले हुए प्रसादसे यह मोक्षमार्ग

तज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतम् । वैराटे नगरे निधाय विधिवत् पूजाश्च बह्व्यः कृत-मत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तम्भः समारोपितः ॥ ७३ ॥ श्रीसंघाधिपतिः प्रतापतपनो भोल्हा द्वितीयोंगजो, दुर्दान्तारिकुलाचलाधरशिरःपाताय वज्रायितः । पार्थाख्यायितविक्रमः स्वशरणायायातधात्रीभुजां वैराटीयमहत्तरेष्वपि महत्सूत्रायितं यद्वचः ॥ ७४ ॥ उक्तभ्रातृयुगावरोपि जननोपत्ती गहेनोः क्रमात् सर्वैरेव गुणैर्वरस्तदुभयप्रोक्तोक्तिसंसूचितः । अन्यैः कैश्चिदपि प्रकर्षकरणैर्लब्धावकाशो गुणी-नाम्ना 'फामन' साम्यधर्मनिरतो जीयाद्बुधज्ञाग्रणीः ॥ ७५ ॥ येनानन्तरिताभिधानविधिना सङ्घाधिनाथेन यत्कर्मारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितम् । तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाधुना सत्कविम् वैराटे स्वयमागतं शुभवशाद् भूमीशमल्लाह्वयम् ॥ ७६ ॥ प्रागज्ञायि महात्मनात्ममतिना येनैतदध्यत्ततः धर्मादेव सुखश्रितो

भरण पोषण करनेवाले थ और शुक्लपक्षके समान अपने वंशके निर्मल यशके स्थान थे ॥ ७२ ॥ उनमेंसे प्रथम पुत्र दूदाके पुत्रका नाम 'न्योता' था। वह न्योता बहुत उत्तम था, अनेक गुणोंमे सुशोभित था और संघका अधिपति था। उसी न्योताने वैराट नगरमें बहुत ऊंचा और अत्यन्त अद्भुत यह जिनमंदिर बनवाया है तथा विधिपूर्वक अनेक प्रकारसे पूजा की है और इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला अपने यशका स्तंभ खडा किया है। (अथवा वह जिनालय ही दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला यशःस्तंभके समान बनवाया गया था) ॥७३॥ उस दूदाके द्वितीय पुत्रका नाम भोल्हा था जो कि संघका अधिपति था, सूर्यके समान प्रतापी था, उद्भट शत्रुओंके कुलरूपी पर्वतोंके मस्तकपर पडनेकेलिये वज्रके समान था और अर्जुनके समान पराक्रमको धारण करनेवाला था तथा अपनी शरणमें आये हुए राजाओंके लिये भी उसके वचन वैराट नगरके समस्त व्यापारियोंमें महासूत्रके समान माने जाते थे ॥७४॥ दूदाके तृतीय पुत्रका नाम 'फामन' था जो कि दोनों भाइयोंसे छोटा था और सबसे अंतिम पुत्र था, वह सब गुणोंसे श्रेष्ठ था, दोनों बडे भाई भी उसकी प्रशंसा किया करते थे, इनके सिवा अपनी उन्नति करनेवाले अन्य अनेक गुण उसमें विद्यमान थे, वह समतारूपी धर्ममें सदा लीन रहता था और विद्वानोंमें भी शिरोमणि था ऐसा यह फामन सदा जयशील हो ॥ ७५ ॥ एकके बाद एक इस प्रकार परंपरासे जिसको संघाधिपति पद प्राप्त हुआ है ऐसा श्रेष्ठिवर्य फामन बहुत दिनसे अपने शरीरको धर्ममय और यशोमय बनाना चाहता था किंतु मेरी ऐसी राय है कि कविराज राजमल्ल शुभ कर्मोंके उदयसे जो वैराट नगरमें बाद-

यदसुखं प्रायोऽस्त्यधर्मादिति । तत्ताल्हूविदुषः कृपापरतया देशोपदेशद्वया-च्छ्रीभट्टारकहेमचन्द्रविदिताम्नाये कृतात्मनः ॥ ७७ ॥ सामान्यादवगम्य धर्मफलितुं ज्ञातुं विशेषादपि भक्त्या यस्तमपीपृच्छद्वृषरुचिर्नाम्नाधुना फामनः । धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्त्वतः स्वामित्वं किमथेति सूरिरवदत् सर्वं प्रगुणः कविः ॥ ७८ ॥ धर्मः प्राणिदया तदर्थमथ यत् सत्यव्रतादि स्फुटं यद्वार्हत्प्रतिबिम्बपूजनमतः सत्पात्रदानादि यत् । तद्धेतुर्बहिराप्तवागथ फलं स्वर्गापवर्गश्रियो भव्यस्तत्पदभागुपासकमणे धर्मं कुरुष्वादरात् ॥७९॥ सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात् सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत् । आर्षं चापि मृदूक्तिभिः

शाह अकबरके समीप स्वयं आया उसके आनेसे ही श्रेष्ठिवर्य फामनकी वह बहुत दिनकी लगी हुई इच्छा पूरी हुई ॥७६॥ "इस संसारमें धर्मसे ही सुखकी प्राप्ति होती है और अधर्मसे ही दुःखकी प्राप्ति होती है" इस बातको जिस महात्माने अपनी सद्बुद्धिसे पहले ही प्रत्यक्ष जान लिया था तथा जो भट्टारक हेमचन्द्रकी आम्नाय में वर्तमान था ऐसे 'ताल्हू' नामक विद्वानकी कृपासे और उन्हींकी आज्ञा या उपदेशसे श्रेष्ठिवर्य फामनको धर्मका सामान्य स्वरूप मालूम हुआ था और फिर धर्ममें प्रेम करनेवाले उसी फामनने बडी भक्तिसे इस समय भी वही बात पूछी थी कि धर्मका स्वरूप क्या है ? इसका कारण क्या है उसका प्रत्यक्ष फल क्या है और वास्तवमें उसका स्वामी कौन है ? इसके उत्तरमें प्रसन्न हुए श्री कविराजने उत्तर दिया ॥ ७७-७८ ॥ कि प्राणियोंकी दया करना ही धर्म है अथवा प्राणियोंकी दया पालन करनेके लिये सत्यव्रत अचौर्यव्रत आदि व्रतोंका पालना, भगवान अरहंतदेवको प्रतिमाकी पूजन करना और उत्तम पात्रोंको दान देना आदि सब धर्मका स्वरूप है। उसका बहिरंग कारण भगवान अरहंतदेवकी वाणी है, स्वर्ग मोक्षकी विभूति प्राप्त होना उसका फल है और भव्य जीव ही इस पदको धारण कर सकता है अर्थात् भव्य जीव ही उस धर्मका स्वामी है मोक्ष प्राप्त करानेवाले धर्मको भव्य जीव ही धारण कर सकता है इसलिये हे श्रावकोंके मुकुटमणि ! तुम ऐसे इस धर्मको बडे आदरके साथ धारण करो ॥ ७९ ॥ कविराजकी यह बात सुनकर संघाधिपति फामनने फिर प्रार्थना की कि यदि सचमुच धर्मरूपी रसायन इतना उत्तम है तो अनुग्रहपूर्वक मुझे कुछ उद्यम करके समझाइये । तथा जिस प्रकार दहीमेंसे मक्खन निकालते हैं उसी प्रकार जिसमें थोडे अक्षर हों किन्तु सबका सार रूप हो, जो किसीका उच्छिष्ट न हो

स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महन्निर्माणं परिधेहि सङ्घनृपतिः भूयोप्यवादीदिति ॥ ८० ॥ श्रुत्वेत्यादिवचःशतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कविर्नेतुं यावदमोघतामभिमतं स्वोपक्रमायोद्यतः। तत्रत्यं जिनमन्दिरं कविमनोदृग्गोचरं व्याहरत्तावच्चेति सहायतां गुरुवचो द्रव्यादिलब्धाविव ॥ ८१ ॥ उच्चैरुच्चतरस्थलादपिदृढग्रावैश्रिता भित्तयः पङ्क्तिस्तम्भसमृद्धकोष्ठघटिताः शालाचतस्रः शुभाः। मध्ये स्याद्वरवेदिकोत्तमतनुः कूटोस्ति मन्ये त्वहं वैराटस्य शिरःकिरीटघटितं चैतज्जिनाना गृहम् ॥ ८२ ॥ अनुपमशरसख्यापूर्णवर्णावलीभिर्लिखितमनुजनागामर्त्यसर्वस्वसारम्। ध्वजचमरमृगेन्द्रस्यासनातोद्यछत्रैः समवसरणशोभोद्भासि सद्मेदमत्र ॥ ८३ ॥ चित्रालीर्यदलीलिखत्त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमादादेशादुपदेशातश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः। गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुषस्ताल्हूपदेशादपि वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तःसार्थ-

अर्थात् किसी भी कविने न कहा हो, जो नवीन हो, महत्वशाली हो और आर्ष वचनोंके अनुकूल हो ऐसा कोमल युक्तियोंसे भरपूर नवीन ग्रंथ बनाइये ॥ ८० ॥ इस प्रकार सैकडों बार ऐसी प्रार्थनाको सुनकर कोमल परिणामोंको धारण करनेवाला राजमल्ल कविराज जबतक अपने अभिप्रायको अव्यर्थ बनानेके लिये इस ग्रंथका प्रारंभ करनेके लिये तैयार हुआ तबतक जिस प्रकार द्रव्यादिककी प्राप्तिमें गुरुके वचन सहायताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वैराट नगरका वह भव्य जिनमंदिर कविराजके मन और नेत्रोंको हरण करता हुआ सहायताको प्राप्त हुआ ॥ ८१ ॥ उस मंदिरकी ऊंचेसे ऊंचे स्थानकी भी दिवालें बडे बडे पत्थरोंसे बनी हुई थीं, उसमें चार शुभ शालाएं थीं जो एक दूसरेके समान लगे हुए खंभोंसे और बहुत सुन्दर कोठोंसे बनी हुई थीं। उन सबके मध्य भागमें उत्तम वेदी बनी हुई थी और उसके ऊपर बहुत सुंदर शिखर बना हुआ था। इन सब बातोंसे वह जिनालय ऐसा मालूम पडता था मानों वैराट नगरके मस्तकका मुकुट ही बना हो ॥८२॥ उस जिनालयमें बहुत सुंदर पांचों रंगकी रंगावलीसे मनुष्य तथा नागकुमार आदि देवोंके जो बहुत ही सुंदर चित्र बने हुए थे तथा उसपर ध्वजाएं फहरा रही थीं, चमर लटक रहे थे, भगवानके आसनके नीचे सिंहासन सुशोभित था, बाजोंकी सुंदर आवाज होती रहती थी और भगवानके मस्तकपर छत्र फिरा करते थे। उन सबसे वह जिनालय समवसरणकी शोभाके समान सुंदर दिखाई पडता था ॥८३॥ गुरुवर्य श्रीक्षेमकीर्तिकी आज्ञा और उपदेशसे तथा उन्हीं गुरुकी आज्ञानुसार महाविद्वान् ताल्हूके उपदेशसे उस वैराट नगरके जिनालयमें तीनों लोककी रचनाके क्रमानुसार जो

नामाप्यभूत् ॥ ८४ ॥ यत्र श्रावकसङ्घमण्डितमही स्वर्गाचले वादूयुतत् स्याद्वादोघदमन्दवादविदितास्तिष्ठन्ति यत्रार्हताः । निर्ग्रंथाः शमिनस्तपोग्निभरतो, निर्दिग्ध-कर्मेन्धनाः श्रीवैराटपुरस्थितं जिनगृहं तत्केन संवर्ण्यते ॥ ८५ ॥ पात्रेभ्यो गृहधर्मकर्मनिरतैर्नित्यं सदाचारिभिः दीयन्तेऽभयमेषजानुभवनान्नादीनि दानानि च । पूज्यन्ते जिनबिम्बशास्त्रमुनयो यत्रानिश श्रेयसे श्रीवैराटजिनालयः प्रतिदिनं जीयाद्वरेण्योवरः ॥ ८६ ॥ इत्याद्यनेकगुणराजिविराजमानं संप्रेक्षणीयमनिशं जगदीक्षणा-नाम् । तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वं तद्वर्द्धतामपि गुणं जिनशासनं च ॥ ८७ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां
साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैक मार्त्तण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं
नाम प्रथमः सर्गः ।

चित्रावली (अनुक्रमसे तीनों लोकोंकी रचना) लिखी गई थी उससे वह लिखनेवाला चित्रकार भी इस संसारमें सार्थक हो गया था ॥ ८४ ॥ वैराट नगरके जिस जिनालयकी पृथिवी श्रावक श्राविकाओंके संघसे सुशोभित होती हुई स्वर्गकी पृथिवीके समान सुशोभित होती है तथा जहांपर स्याद्वादविद्याके प्रभावसे होनेवाले भारी भारी वादोंमें भी प्रसिद्ध होनेवाले तथा तपश्चरणरूपी अग्निके समूहसे कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले व अरहंत भगवानके रूपको धारण करनेवाले ऐसे अत्यंत शांत परिणामवाले निर्ग्रंथ मुनिराज विराजमान रहते हैं ऐसे वैराट नगरमें सुशोभित होनेवाले उस जिनालयका वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥ ८५ ॥ जिसके प्रभावसे उस नगरमें धर्मकर्ममें सदा लीन रहनेवाले सदाचारी गृहस्थोंके द्वारा पात्रोंके लिए अभयदान, औषधदान, ज्ञान-दान और आहारदान इसप्रकार चारों दान दिये जाते थे तथा जहांपर सब श्रावक अपना कल्याण करनेके लिए भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमाकी, शास्त्रोंकी और मुनियोंकी सदा पूजा किया करते थे ऐसा वह सबसे श्रेष्ठ और अत्यंत सुंदर वैराट नगरका श्रीजिनालय सदा जयशील हो ॥ ८६ ॥ इस प्रकार वह जिनालय अनेक गुणोंसे सुशोभित था और संसारके नेत्रोंके द्वारा सदा देखने योग्य था । उसी जिनालयमें बैठकर कवि राजमल्लने

अथ द्वितीयः सर्ग ।

एतत्कथामुखरसे रसिकाग्रणीर्यो दूदात्मजो जयति फामननामधेयः । वैराटपट्टमहतां महनीयकीर्तिरुग्रोतकान्वयमयो गरिमाम्बुराशिः ॥ १ ॥ (इत्याशीर्वादः)
अहिंसा परमोधर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात् । सिद्धान्तः सर्वतन्त्रोय तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥ १ ॥ सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते । यो मृषादिपरित्यागः सोस्तु

यह कविता की है इसलिए वह जिनालय, कविराजकी यह कविता और यह जैनशासन सदा वृद्धिंगत बना रहे ॥ ८७ ॥

इस प्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्य विद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस 'लाटी संहिता' नामक ग्रंथके चावली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें कथाके प्रारम्भका वर्णन करनेवाला यह पहला सर्ग समाप्त हुआ ।

दूसरा सर्ग

जो इस कथाके प्रारंभ के रसमें रसिक लोगोंमें भी सबसे मुख्य है, वैराट नगरके महापुरुषोंमे भी जिसकी पूज्य कीर्ति फैली हुई है, जो अनेक गुणोंका समुद्र है और जो अग्रवंशमें शिरोमणि है ऐसा दूदा सेठका पुत्र फामन सदा जयशील हो ॥ १ ॥ (यह आशीर्वाद रूप श्लोक है)

इस संसारमें अहिंसा ही परम धर्म है और उस अहिंसा धर्मका उलंघन करना वा नाश करना ही अधर्म है। यह सिद्धांत सर्वदेशीय है अर्थात् सब देशोंमें और सब मतवाले इस सिद्धांतको मानते हैं। अब आगे उसी अहिंसा धर्मका विशेष वर्णन करते हैं ॥ १ ॥ पाप सहित समस्त योगोंका त्याग करना व्रत कहलाता है तथा झूठ बोलनेका त्याग करना, चोरीका त्याग करना आदि अलग अलग पापोंका त्याग करना बतलाया है वह सब उसी व्रतका विस्तार समझना चाहिये। भावार्थ—मन वचन कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंके परिस्पंदन होनेको

तस्यैव विस्तरः ॥ २ ॥ तद्व्रतं सर्वतः कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् । तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुचित् ॥३॥ अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्यं तद्धि धीधनैः । कृच्छ्रलब्धे नरत्वेऽस्मिन् सूकविन्दूदकोपमे ॥ ४ ॥ तत्रालसो जनः कश्चित्कषायभरगौरवात् । असमर्थस्तथाप्येष गृहस्थव्रतमाचरेत् ॥ ५ ॥ उक्तं च । गुण वय तव

योग कहते हैं । वह योग दो प्रकार है एक शुभ योग और दूसरा अशुभ योग । यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति पाप रूप है तो उससे होनेवाला योग पापयोग अथवा अशुभयोग कहलाता है और यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति धर्मरूप है तो वह शुभयोग कहलाता है । अशुभ योगोंका त्याग करनेसे ही शुभ योगोंकी प्रवृत्ति होती है । इसीलिये कविराजने कहा है कि समस्त सावद्य योगोंका (अशुभ पापरूप योगोंका) त्याग करना ही व्रत है और हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह आदि सब पापोंका त्याग इसीमें आ जाता है ॥ २ ॥ उन व्रतोंको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिये मुनिराज ही समर्थ होते हैं और इसीलिये ही उन मुनिराजोंको ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है । मुनिराजके सिवाय और किसीको भी पूर्ण मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥ यह मनुष्य जन्म कमलपत्रपर पडी हुई जलकी बूंदोंके समान बडी कठिनतासे प्राप्त हुआ है इसलिये बुद्धिमानोंको सावद्य योगोंके त्यागरूप व्रतको अवश्य ही पूर्णरूपसे अच्छी तरह पालन करना चाहिए । भावार्थ—कमलपत्रपर जलकी बूंद ठहरती नहीं है, पडते ही लुढककर पानीमें मिल जाती है । अतएव जिसप्रकार कमलपत्रपर जलकी बूंदका ठहरना अत्यंत कठिन है उसीप्रकार इस मनुष्य जन्मका प्राप्त होना अत्यंत कठिन है । इसलिए ऐसे मनुष्यजन्मको पाकर पापरूप योगोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ४ ॥ कदाचित तीव्र कषायोंके उदयसे कोई मनुष्य उन व्रतोंको पूर्णरूपसे पालन करनेमें आलस करे अथवा असमर्थ हो तो उसे एकदेशरूप गृहस्थोंका व्रत अथवा श्रावकव्रत अवश्य पालन करना चाहिए ॥ ५ ॥ ग्रंथकारोंने श्रावकोंके व्रत इसप्रकार लिखे हैं—

"गुण वय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थिमियं
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ।"

आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह प्रकारका तप एक समता, ग्यारह प्रतिमा, चार प्रकारका दान एक पानी

सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थिमियं । दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥१॥ तथा चोक्तम् । दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २ ॥ अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः । नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥ ६ ॥ मद्यं मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् । वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥ ७ ॥ ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत् । तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्ध

छानकर काममें लाना, एक रात्रिभोजनका त्याग करना और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नोंको धारण करना ये तिरेपन श्रावकोंकी क्रिया कहलाती हैं ॥१॥ अथवा ग्रंथकारोंने श्रावकोंके व्रत इस प्रकार भी कहे हैं "दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्तेयं । बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देस विरदो य ।" अर्थात्-दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध (प्रोषधोपवास), सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतत्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको पालन करनेवाला देशविरत श्रावक कहलाता है ॥ २ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जूआ चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥ ६ ॥ केवल अपने कुलधर्मको जाननेवाले बुद्धिमान श्रावकको मद्य मांस शहत और पांचों उंदबरोंका त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ-इन आठोंका त्याग कर देना आठ मूलगुण कहलाते हैं तथा इन आठों मूलगुणोंका पालन करना श्रावकोंका कुलधर्म है। जब तक वह इन आठों मूलगुणोंको धारण नहीं कर लेता तब तक वह अपने कुलधर्मका भी पालन नहीं कर सकता औरकी तो बात ही क्या है। इसीलिए श्रीअमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है 'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः' अर्थात् मद्य मांसादिक आठों ही अनंत पापोंके स्थान हैं, इसलिए जो इनका त्याग कर देता है वही शुद्धबुद्धिवाला पुरुष जिनधर्मके सुननेका पात्र होता है। इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जीव जैसे पदार्थोंका सेवन करता है उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। जो मांस खाता है वह स्वाभाविक रीतिसे क्रूर होता है।

न चान्यथा ॥ २३ ॥ अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचारसंज्ञकः । अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥ २४ ॥ दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधित तदेव स्याद् ज्ञेय चाशोधित यथा ॥ २५ ॥ तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥ २६ ॥ यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥ सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि

पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रमादजन्य अतिचार नहीं लग सकते इसलिए जो पदार्थ ग्रहण करनेमें आवें वे सब देख शोधकर ही ग्रहण करने चाहिए ॥ २२ ॥ घी तेल दूध पानी आदि पतले पदार्थोंको जैनशास्त्रोंमें कही हुई विधिसे मजबूत गाढे वस्त्रमें छानकर ही खानेके काममें लाना चाहिए. पतले पदार्थोंको विना छाने कभी काममें नहीं लाना चाहिए ॥ २३ ॥ इसका भी कारण यह है कि विना छने घी तेल आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके मरे हुए शरीरके अवयव अवश्य रहते हैं। इसलिए विना छने घी तेल आदि पदार्थोंके ग्रहण करनेमें मांसत्यागका अतिचार अवश्य लगता है। अतएव घी तेल आदि पदार्थोंको भी अच्छे मजबूत दोहरे बडे छन्नेमें छानकर ही काममें लाना चाहिये ॥ २४ ॥ जो अन्नादिक पदार्थ मनकी असावधानीसे शोधे गए हैं, या होशहवाशरहित अवस्थामें शोधे गए हैं अथवा प्रमादपूर्वक शोधे गए हैं ऐसे शोधे हुए पदार्थ भी दुःशोधित (अच्छी तरह नहीं शोधे गये) कहलाते हैं और ऐसे दुःशोधित पदार्थ विना शोधे हुएके समान ही गिने जाते हैं ॥ २५ ॥ इसलिए श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए और मांसभक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए श्रावकोंको अन्न आदि पदार्थ अपने ही नेत्रोंसे और अपने ही हाथोंसे अच्छी तरह शोध लेना चाहिए फिर काममें लाना चाहिए ॥ २६ ॥ जिसप्रकार अपने लिए सोना खरीदनेवाला पुरुष उस सोनेको बहुत अच्छी तरह देखकर खरीदता है उसीप्रकार व्रती श्रावकको भी बहुत अच्छी तरह देख शोधकर आहार ग्रहण करना चाहिए ॥२७॥ जो आहार शोधने वा शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाले साधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही अजानकार साधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है अथवा जो शोधने वा शुद्धतापूर्वक विधिको जाननेवाले विधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही जानकार विधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है ऐसा भोजन भी अपने व्रतोंकी रक्षा करने-

सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थिमियं । दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥१॥ तथा चोक्तम् । दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २ ॥ अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः । नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥ ६ ॥ मद्य मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् । वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥ ७ ॥ ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत् । तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्धं

छानकर काममें लाना, एक रात्रिभोजनका त्याग करना और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नोंको धारण करना ये तिरेपन श्रावकोंकी क्रिया कहलाती हैं ॥१॥ अथवा ग्रंथकारोंने श्रावकोंके व्रत इस प्रकार भी कहे हैं "दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्तेयं । बंभारंभ परिग्गह अणुमण-मुद्दिट्ठ देस विरदो य ।" अर्थात्–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध (प्रोषधोपवास), सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतत्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको पालन करनेवाला देशविरत श्रावक कहलाता है ॥ २ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जूआ चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥ ६ ॥ केवल अपने कुलधर्मको जाननेवाले बुद्धिमान श्रावकको मद्य मांस शहत और पांचों उंदबरोंका त्याग कर देना चाहिए । भावार्थ–इन आठोंका त्याग कर देना आठ मूलगुण कहलाते हैं तथा इन आठों मूलगुणोंका पालन करना श्रावकोंका कुलधर्म है । जब तक वह इन आठों मूलगुणोंको धारण नहीं कर लेता तब तक वह अपने कुलधर्मका भी पालन नहीं कर सकता औरकी तो बात ही क्या है । इसीलिए श्रीअमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है 'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः' अर्थात् मद्य मांसादिक आठों ही अनंत पापोंके स्थान हैं, इसलिए जो इनका त्याग कर देता है वही शुद्धबुद्धिवाला पुरुष जिनधर्मके सुननेका पात्र होता है । इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जीव जैसे पदार्थोंका सेवन करता है उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है । जो मांस खाता है वह स्वाभाविक रीतिसे क्रूर होता है ।

सिद्धसाधनात् ॥८॥ मैवं यस्मादतीचाराः सन्ति तत्रापि केचन । अनाचारसमाः नूनं त्याज्या धर्मार्थिभिः स्फुटम् ॥ ९ ॥ तद्भेदा बहवः सन्ति मादृशां वागगोचराः । तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात् ॥ १० ॥ चर्म्मभाण्डे तु निक्षिप्ताः घृततैलजलादयः । त्याज्याः यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः ॥ ११ ॥ नचाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते । संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत् ॥ १२ ॥ सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा । तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनी-

इसीप्रकार जो मद्य मांसादिकका सेवन करता है उसकी बुद्धि निर्मल कभी नहीं हो सकती । बुद्धिकी निर्मलता तभी होगी जब कि वह मद्य मांसादिक आठोंका त्याग कर देगा तथा बिना बुद्धिकी निर्मलताके जिनधर्मके सुननेका पात्र नहीं हो सकता । इसलिए जिनधर्मके सुननेका पात्र बननेके लिए कमसे कम इन आठों मूलगुणोंको अवश्य धारण कर लेना चाहिए ॥७॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि कोई भी जैनी मद्य मांस शहतको साक्षात् भक्षण नहीं करता इसलिए क्या जैनीमात्रके उनका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ । इसलिए सिद्ध-साधन होनेसे आपके त्याग करानेका उपदेश असिद्ध है । परंतु यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते हैं तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारोंके समान हैं इस-लिए धर्मात्मा जीवोंको उन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥ ८-९ ॥ उन अतिचारोंके बहुतसे भेद हैं जो मेरे समान पुरुषसे कहे भी नहीं जा सकते तथापि केवल व्यवहारके लिए गुरुओंकी आम्नायपूर्वक चले आए कुछ भेद कहे जाते हैं ॥ १० ॥ चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तैल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तैल आदिमें त्रस जीवोंके शरीरके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव अवश्य रहते हैं। भावार्थ—चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी, तैल जल आदिका भक्षण करना मांसत्यागका पहला अति-चार है ॥११॥ चमडेके बर्तनमें रक्खे हुए तैल घी जल आदिमें जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव हैं या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि जिसप्रकार पूर्ण आकाशका चित्र दिखाई नहीं पडता इसलिए वह कोई पदार्थ नहीं है इसी प्रकार चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए तैल घी आदिमें जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव दिखाई नहीं पडते इस-

षिभिः ॥ १३ ॥ नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् । अंहो मांसाशिनोऽवश्यं प्रोक्तं जैनागमे यतः ॥ १४ ॥ तदेवं वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषूदितसूत्रवत् । संशयो नैव कर्तव्यः शासनं जैनमिच्छता ॥ १५ ॥ अन्नं मुद्गादि, शुण्ठ्यादि भेषजं, शर्करादि वा । खाद्यं स्वाद्य तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ॥ १६ ॥ पेयं दुग्धादि लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादिकर्म यत् । चतुर्विधमिदं यावदाहार इति संज्ञितः ॥ १७ ॥ अथाहारकृते द्रव्यं शुद्धशोधितमाहरेत् । अन्यथामिषदोषः स्यात्त-

लिए उसमें जीव हैं या नहीं इस शंकाका दूर होना अत्यन्त कठिन है ॥ १२ ॥ परंतु इसका उत्तर यह है कि भगवान अरहंतदेवने अपने सर्वज्ञ ज्ञानसे समस्त सूक्ष्म पदार्थ भी प्रत्यक्ष देख और जान लिए हैं और गुरुपरंपरापूर्वक उनके उपदेशके अनुसार आचार्योंने वैसा ही शास्त्रोंमें निरूपण किया है इसलिए बुद्धिमानोंको भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर प्रमाणरूपसे सब मान लेना चाहिए ॥१३॥ जो जीव इंद्रियगोचर नहीं होते ऐसे सूक्ष्म अतींद्रिय जीवोंके भक्षण करनेसे पाप होता है या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि मांसभक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट रीतिसे बतलाया है ॥ १४ ॥ इसलिए सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंतदेवके कहे हुए जैनशासनको धारण करनेकी इच्छा करनेवालोंको जो सूत्र पहले कहा गया है (चमडेके वर्तनमें रक्खे हुए घी तेल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह जिस पशुका चमडा है उससे संबंध रखनेवाले मांसके आश्रित रहनेवाले अनेक जीव उसमें रहते हैं) और जो सूत्र आगे कहे जायंगे उनमें कभी संशय नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥ मूंग मोठ चना गेहूं जौ आदि अन्न कहलाता है। सोंठ मिरच पीपल आदि औषधियां कहलाती हैं। मिश्री बूरा लड्डू पेडा बरफी आदि खाद्य पदार्थ कहलाते हैं । भोगोंके लिए आगमानुकूल तांबूल आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं । दूध, पानी आदि पदार्थ पेय कहे जाते हैं और तेल मर्दन करना, उबटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं । ये सब पदार्थ चार प्रकारके आहारके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६-१७ ॥ इनको आहाररूपमें ग्रहण करनेके लिए शुद्ध पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए, अशुद्ध पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जो शुद्ध पदार्थ भी ग्रहण किए जायं वे भी शोधकर ग्रहण करने चाहिए। यदि वे पदार्थ विना शोधे हुए ग्रहण किए जायंगे तो उनके भक्षण करनेमें मांस खानेका दोष लगेगा क्योंकि इन खाने

द्नेकत्रसाश्रितात् ॥ १८ ॥ विद्धं त्रसाश्रितं यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत् । शतशःशोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः ॥ १९ ॥ संदिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः । मनःशुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत् ॥२०॥ अविद्धमपि निर्दोषं योग्यं चानाश्रितं त्रसैः । आचरेच्छ्रावकः सम्यग्दृष्टं नादृष्टमीक्षणैः ॥ २१ ॥ ननु शुद्धं यदन्नादि कृत शोधनयानया । मैव प्रमाददोषत्वात्कल्मषस्यास्त्रवो भवेत् ॥ २२ ॥ गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम् । तोयं जिनागमाम्नायादाहरेत्स

पीनेके पदार्थोंमें प्रायः त्रस जीवोंके रहनेकी या आ जानेकी संभावना रहती है । यदि विना शोधे हुए पदार्थ खाए जायंगे तो उनमें आए हुए वा उनमें रहनेवाले वा उत्पन्न होनेवाले जीवोंके मारे जानेका पाप लगेगा और विना शोधे पदार्थोंके साथ वे जीव भी भक्षणमें आ जायंगे इसलिए उनके मांस खानेका भी महा पाप लगेगा । इसलिए खानेके समस्त पदार्थोंको देख शोधकर ही ग्रहण करना चाहिए । खानेके पदार्थोंको विना शोधे ग्रहण करना मांसत्यागका दूसरा अतिचार है ॥ १८ ॥ घुने हुए वा बींधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं यदि सावधान होकर नेत्रोंके द्वारा सैकडों बार देखा वा शोधा जाय तो भी घुने हुए अन्नमेंसे सब त्रस जीवोंका निकल जाना असंभव है इसलिए सावधानीके साथ सैकडों बार शोधा वा देखा हुआ भी घुना वा बींधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याग कर देना चाहिए ॥ १९ ॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके रहनेका सन्देह हो और 'इसमें त्रस जीव हैं वा नहीं हैं' इस बातका संदेह बना ही रहे तो भी श्रावकको मन शुद्ध रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिए । अभिप्राय यह है कि शुधा हुआ भी घुना हुआ अन्न भक्षण करना तथा जिसमें त्रस जीवोंके रहनेका संदेह हो ऐसे पदार्थोंका भक्षण करना मांसत्यागके अतिचार हैं । श्रावकोंको अन्य अतिचारोंके समान इनका भी अवश्य त्याग कर देना चाहिए ॥ २० ॥ जो अन्न आदि पदार्थ घुने हुए नहीं हैं जिनमें कोई किसी प्रकारका दोष नहीं है और जो त्रस जीवोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे पदार्थ नेत्रोंसे अच्छी तरह देख शोधकर खाने आदिके काममें लेने चाहिए, विना अच्छी तरह देखे शोधे योग्य निर्दोष पदार्थ भी काममें नहीं लेने चाहिए ॥ २१ ॥ जो अन्नादिक पदार्थ ऊपर लिखी विधिसे अच्छी तरह शोधकर शुद्ध कर लिये गये हैं उनके ग्रहण करनेमें प्रमादरूप दोषोंसे उत्पन्न हुए पापोंका आस्रव कभी नहीं हो सकेगा । भावार्थ-देख शोधकर शुद्ध किए

न चान्यथा ॥ २३ ॥ अन्यथा दोष एव स्यान्मासातीचारसंज्ञकः । अस्ति तत्र त्रसादीना मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥ २४ ॥ दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधित तदेव स्याद् ज्ञेय चाशोधित यथा ॥ २५ ॥ तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥ २६ ॥ यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥ सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि

पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रमादजन्य अतिचार नहीं लग सकते इसलिए जो पदार्थ ग्रहण करनेमें आवें वे सब देख शोधकर ही ग्रहण करने चाहिए ॥ २२ ॥ घी तेल दूध पानी आदि पतले पदार्थोंको जैनशास्त्रोंमें कही हुई विधिसे मजबूत गाढे वस्त्रमें छानकर ही खानेके काममें लाना चाहिए. पतले पदार्थोंको विना छाने कभी काममें नहीं लाना चाहिए ॥ २३ ॥ इसका भी कारण यह है कि विना छने घी तेल आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके मरे हुए शरीरके अवयव अवश्य रहते हैं। इसलिए विना छने घी तेल आदि पदार्थोंके ग्रहण करनेमें मांसत्यागका अतिचार अवश्य लगता है। अतएव घी तेल आदि पदार्थोंको भी अच्छे मजबूत दोहरे बडे छन्नेमें छानकर ही काममें लाना चाहिये ॥ २४ ॥ जो अन्नादिक पदार्थ मनकी असावधानीसे शोधे गए हैं, या होशहवाशरहित अवस्थामें शोधे गए हैं अथवा प्रमादपूर्वक शोधे गए हैं ऐसे शोधे हुए पदार्थ भी दुःशोधित (अच्छी तरह नहीं शोधे गये) कहलाते हैं और ऐसे दुःशोधित पदार्थ विना शोधे हुएके समान ही गिने जाते हैं ॥ २५ ॥ इसलिए श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए और मांसभक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए श्रावकोंको अन्न आदि पदार्थ अपने ही नेत्रोंसे और अपने ही हाथोंसे अच्छी तरह शोध लेना चाहिए फिर काममें लाना चाहिए ॥ २६ ॥ जिसप्रकार अपने लिए सोना खरीदनेवाला पुरुष उस सोनेको बहुत अच्छी तरह देखकर खरीदता है उसीप्रकार व्रती श्रावकको भी बहुत अच्छी तरह देख शोधकर आहार ग्रहण करना चाहिए ॥२७॥ जो आहार शोधने वा शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाले साधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही अजानकार साधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है अथवा जो शोधने वा शुद्धतापूर्वक विधिको जाननेवाले विधर्मीके द्वारा शोधा हुआ है वा ऐसे ही जानकार विधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है ऐसा भोजन भी अपने व्रतोंकी रक्षा करने-

नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥ २८ ॥ ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा । शोधितं पाचितं भोज्यं सुन्नेन स्पष्टचक्षुषा ॥ २९ ॥ मैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहा-

वाले श्रावकोंको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ २८ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि जो मनुष्य शोधने वा शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको जानता है और शोधने आदि कामोंके लिए जिसके नेत्र निर्मल हैं जिसके नेत्रोंमें कोई दोष नहीं है जिसके नेत्रोंकी ज्योति मन्द नहीं है ऐसे मनुष्यके द्वारा शोधा हुआ और पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए चाहे वह मनुष्य अपना साधर्मी हो और चाहे विधर्मी हो। अर्थात् भोजन शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ होना चाहिए चाहे वह साधर्मीने तैयार किया हो और चाहे वह विधर्मीने तैयार किया हो भोजन तैयार करने वा शोधनेमें साधर्मी वा विधर्मीके प्रश्नकी क्या आवश्यकता है? परंतु ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है। क्योंकि जो आहारको शोधने और शुद्धतापूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाला साधर्मी हो अथवा शोधने और शुद्धतापूर्वक तैयार करनेकी विधिको जानने-वाला विधर्मी हो इन दोनों प्रकारके मनुष्योंपर दृढ विश्वास किया जायगा तो व्रतोंमें हानि अवश्य होगी। तथा इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है उसको संयमके काममें संयमकी रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है। भावार्थ—भोजनका ग्रहण संयमकी रक्षाके लिए किया जाता है और संयमकी रक्षा तभी हो सकेगी जब कि यत्नाचारपूर्वक शोधा जायगा और यत्नाचारपूर्वक तैयार किया जायगा परंतु जो मनुष्य साधर्मी होकर भी शोधने और यत्नाचारपूर्वक तैयार करनेकी विधि नहीं जानता उसके तैयार किये हुये भोजनमें संयमकी रक्षा कभी नहीं हो सकती। इसीप्रकार शोधने और तैयार करनेकी विधि भी जानता है परंतु विधर्मी होनेसे यत्नाचारपूर्वक जीवोंकी रक्षा नहीं कर सकता ऐसा मनुष्य शोधकर जीवोंको अलग कर लेगा परंतु यत्नाचारपूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सकेगा क्योंकि विधर्मी होनेसे वह जीवोंके और दयाके स्वरूपको जान नहीं सकता, पानी छानने जीवाणी यथास्थान पहुंचाने आदिकी पूर्ण विधिको जान नहीं सकता इसलिए जानकार विधर्मीसे भी संयमकी रक्षा नहीं हो सकती। अतएव ग्रंथकारने कहा है कि अनार्य और निर्दय मनुष्यको संयम

नये। अनार्यस्याप्यनादृस्य संयमे नाधिकारिता ॥ ३० ॥ चलितत्वात्सीमन्यश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतिः। शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥ ३१ ॥ शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती। कालस्यातिक्रमाद् भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥ ३२ ॥ केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा। उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ॥ ३३ ॥ तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा। सम्मूर्च्छन्ते त्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाज्ञया ॥ ३४ ॥ शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि

की रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है ॥ २९-३० ॥ यदि व्रती मनुष्य अपनी सीमा वा मर्यादासे चलायमान हो जायगा तो आगे होनेवाले उसके व्रतोंमें अवश्य ही हानि पहुंचेगी तथा यदि वह संयम इसी प्रकार शिथिलता पूर्वक घटता जायगा तो फिर भला उसकी स्थिरता किस प्रकार रह सकेगी ? भावार्थ—खाने पीनेके शोधकी जो मर्यादा है उससे चलायमान होनेसे शिथिलता आती है तथा शिथिलता आनेसे संयमकी हानि होती है और संयमकी हानि होनेसे संयमकी स्थिति नहीं रह सकती। इसलिये संयमको स्थिर रखनेके लिये कभी शिथिलता नहीं आने देना चाहिये तथा शिथिलताका त्याग करनेके लिये अपनी मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। व्रती मनुष्यको अपनी प्रतिज्ञा पर सदा कायम रहना चाहिये ॥३१॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंको शोधे हुए कई दिन हो गये हैं ऐसे पदार्थ भी व्रती श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिन पदार्थोंको शोध लेने पर भी बहुतसा काल बीत गया है मर्यादासे अधिक काल हो गया है उनको फिर अपने नेत्रोंसे देख शोध कर ग्रहण करना चाहिये ॥ ३२ ॥ जो रोटी दाल आदि पदार्थ केवल अग्नि पर पकाये हुए हैं अथवा पूडी कचोरी आदि गरम घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि पदार्थ घी और अग्नि दोनोंके संयोगसे पकाये हुए हैं ऐसे सब प्रकारके पदार्थ मांस-भक्षणके दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको दूसरे दिन बासी नहीं खाने चाहिये ॥ ३३ ॥ इसका भी कारण यह है कि बासी भोजनमें मर्यादासे बाहर काल बीत जाता है इसलिये उनमें इस प्रकारका परिणमन होता है जिससे कि उसमें सूक्ष्म और सम्मूर्च्छन ऐसे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो इंद्रियोंसे दिखाई नहीं पड सकते ऐसे सूक्ष्म त्रसजीव केवल सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादन किये हुए शास्त्रोंसे ही जाने जा सकते हैं। भावार्थ—बासे पदार्थोंमें सूक्ष्म त्रस जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है इसलिये बासे पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये

कदाचन श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥ तत्रावश्य त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः। न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥ ३६ ॥ तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता। आताम्बूल दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥ ३७ ॥ रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः। पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमैः ॥ ३८ ॥ ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित्। षष्ठसंज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥ ३९ ॥ सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजन-

॥ ३४ ॥ श्रावकोंको प्रयत्नपूर्वक मांसके दोषोंका त्याग करनेके लिये सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेंथी, पालक, चनाका शाक, बथुआ, चौराई आदि पत्तेवाले शाक भी नहीं खाने चाहिये ॥ ३५ ॥ क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं उनमेंसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर होते हैं, दिखाई पडते हैं और कितने ही दिखाई नहीं पडते परंतु वे जीव किसी समयमें भी उस पत्ते-वाले शाकका आश्रय थोडासा भी नहीं छोडते। भावार्थ—मूलीके पत्ते मेंथी आदि पत्तेवाले शाकमें बहुतसे त्रस जीव रहते हैं जो साफ दिखाई पडते हैं झाडनेसे अलग भी हो जाते हैं और साफ दिखाई देते हैं। तथा बहुतसे ऐसे भी सूक्ष्म जीव होते हैं जो दिखाई नहीं पडते इसलिए पत्तेवाले शाक खानेमें जीवोंकी हिंसा भी होती है और मांसका दोष भी लगता है अतएव श्रावकोंको पत्तेवाले शाक कभी नहीं खाने चाहिये ॥ ३६ ॥ इसलिए अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको पत्तेवाले सब शाक तथा पान तक छोड देना चाहिये और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंको विशेषकर इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३७ ॥

व्रत धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोंको मांस-भक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए बहुत बडे उद्यमके साथ रात्रिमें भोजन करनेका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—रात्रिमें भोजन करना भी मांसभक्षणका दोष है क्योंकि रात्रिमें सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं पडते और वे भोजनमें मिलकर मर जाते हैं तथा मांसभक्षणका दोष उत्पन्न करते हैं। इसलिए श्रावकोंको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ३८ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि आपको यहांपर मूलगुणोंके वर्णनमें रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिये क्योंकि रात्रिभोज-नका त्याग करानेवाली छठी प्रतिमा है छठी प्रतिमाके वर्णनमें इसके त्यागका उपदेश देना चाहिये। इसके उत्तरमें

वर्जनम् । हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥ ४० ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र स्वल्पाभासोर्यतोमहान् । सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिताः ॥ ४१ ॥ निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः । न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥ ४२ ॥ तत्र ताम्बूलतोयादिनिषिद्धं यावदञ्जसा । प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥ ४३ ॥ न वाच्यं भोजयेदन्नं कश्चिद्दर्शनिको निशि । अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्सपाक्षिकः ॥ ४४ ॥ अस्ति तत्र कुलाचारः

ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात ठीक है परंतु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिये कि छठी प्रतिमामें तो रात्रिभोजनका त्याग पूर्ण रूपसे है और यहांपर मूलगुणोंके वर्णनमें स्थूलरूपसे रात्रिभोजनका त्याग है। मूलगुणोंमें स्थूलरूपसे भी रात्रिभोजनका त्याग करना अपने अनुभवसे भी सिद्ध है और आगमसे भी सिद्ध है ॥ ३९-४० ॥ यहांपर मूलगुणोंके धारण करनेमें जो रात्रिभोजनका त्याग है उसमें कुछ विशेषता है । तथा वह विशेषता मालूम तो थोडी होती है किंतु उसको अच्छी तरह समझ लेनेपर वह विशेषता बहुत बडी मालूम देती है । सामान्य रीतिसे वह विशेषता यह है कि मूलगुणोंमें जो रात्रिभोजनका त्याग है वह अतिचारसहित है उसमें अतिचारोंका त्याग शामिल नहीं है और छठी प्रतिमामें जो रात्रिभोजनका त्याग है वह अतिचाररहित है उसमें रात्रिभोजनके सब अतिचारोंका त्याग है ॥४१॥ इस व्रतमें रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोंका त्याग है इसमें पान जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नहीं है। भावार्थ—यहांपर दर्शनप्रतिमाके वर्णनमें सबसे पहले जो मूलगुणोंका वर्णन है उसमें पानी पान सुपारी इलायची और औषधिको छोडकर बाकी सब पदार्थोंको रात्रिमें भोजन करनेका त्याग बतलाया है । ॥ ४२ ॥ तथा छठी प्रतिमामें पानी पान सुपारी इलायची औषधि आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है इसलिए छठी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान मनुष्यको औषधि वा जल आदि पदार्थ प्राणोंके नाश होनेका समय आनेपर भी रात्रिमें कभी नहीं खाने चाहिये ॥ ४३ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला (दर्शनप्रतिमामें भी मूलगुणोंका धारण करने-

१ सूर्य निकलनेके दो घड़ी बादसे लेकर सूर्य अस्त होनेके दो घड़ी पहले तक भोजनका समय बतलाया है। यदि सूर्य निकलनेके बाद दो घड़ी दिन चढनेसे पहले अथवा सूर्य अस्त होनेके पहले किन्तु अन्तकी दो घडियोंमें भोजन करे तो छठी प्रतिमाके लिये यह भी अतिचार है।

सैषा नाम्ना कुलक्रिया । तां विना दर्शनिको न स्यान्नस्यान्नामतस्तथा ॥४५॥ मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् । व्रतं सर्वजघन्यं स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रियाः ॥४६॥

वाला) अव्रती है उसके कोई व्रत नहीं है इसलिए वह रात्रिमें अन्नादिक भोजनोंका भी त्याग नहीं कर सकता वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है अथवा वह अभी अव्रती है इसलिए वह रात्रिभोजनके त्यागमें असमर्थ है-शक्तिरहित है इसलिए भी वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है। अथवा वह पाक्षिक है व्रतादिकोंके धारण करनेका केवल पक्ष रखता है। व्रतादिकोंको धारण नहीं करता इसलिये भी वह रात्रिभोजनका त्याग नहीं कर सकता परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि इस दर्शनप्रतिमामें अथवा दर्शनप्रतिमाके अंतर्गत मूलगुणोंके धारण करनेमें एक कुलाचार माना गया है—कुलपरंपरासे चला आया जो आचरण उस को कुलाचार कहते हैं और उसी कुलाचारको कुलक्रिया भी कहते हैं। रात्रि भोजनका त्याग करना इस पाक्षिक श्रावकका कुलाचार वा कुलक्रिया है। इस कुलाचार वा कुलक्रियाके विना वह मनुष्य दर्शनप्रतिमाधारी अथवा पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता और की तो क्या? इस रात्रिभोजन त्यागरूप कुलक्रियाके विना नाम मात्रसे भी वह पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता। भावार्थ-जो रात्रिमें भोजन करते हैं वे नाममात्रके भी जैनी नहीं है इसलिये जैनीमात्रको तथा नाममात्रसे भी जो जैनी हैं उनको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥४४-४५॥

जो मांसमात्रका त्यागी है और रात्रिभोजन नहीं करता है वह सबसे जघन्यव्रती कहलाता है तथा उससे जो नीचे है अर्थात् जिसके मांस और रात्रिभोजनका भी त्याग नहीं है वहांपर कोई भी क्रिया नहीं समझनी चाहिये। भावार्थ-यहांपर मांसके त्यागसे मद्य मांस मधु तीनोंका त्याग समझना चाहिये। जैनीमात्रके लिये मद्य मांस मधु और रात्रिभोजनका त्याग करना अत्यावश्यक है। जिसके इन तीनोंका त्याग नहीं है उसको नाममात्रका भी जैनी नहींसमझना चाहिये। वह धर्मशास्त्रको सुनने तकका अधिकारी नहीं है क्योंकि यह निश्चित नियम है कि आठ मूलगुणोंको धारण करनेवाला ही जिनधर्मके उपदेश सुननेका अधिकारी होता है। जिसने आठ मूलगुण धारण नही किये हैं वह न तो जैनधर्मके उपदेश सुननेका अधिकारी होता है और न नाममात्रका भी जैनी कहलानेका

नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती । पक्षमात्रावलम्बी स्यादूव्रतमात्रं न चाचरेत् ॥४७॥ यतोस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् । लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥४८॥ आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः । कश्चित्सर्वनिकृष्टोपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४९ ॥ उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनि-

अधिकारी होता है । इसलिये जैनी कहलानेके लिये अथवा जैनधर्मका उपदेश सुननेके लिये सबसे पहले आठ मूलगुणोंको अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥ ४६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नहीं करता इसीलिये वह अव्रती है । वह तो व्रत धारण करनेकी केवल पक्ष रखता है किसी व्रतको पालन नहीं करता अतएव वह रात्रिभोजनका त्याग भी नहीं कर सकता । परंतु शंका करनेवालेको यह शंका करना ठीक नहीं है और इसका भी कारण यह है कि रात्रिभोजनका त्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतों के धारण करनेकी पक्षको स्वीकार करना भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष बाधा आ जाती है । जब रात्रिभोजनका त्याग करना कुलक्रिया है और उसके विना दर्शनप्रतिमा वा मूलगुण हो ही नहीं सकते फिर भला रात्रिभोजन करनेवालेके मूलगुणोंका अथवा सम्यग्दर्शन धारण करनेका भी पक्ष किस प्रकार कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि रात्रिभोजन त्यागरूप कुलक्रियाका पालन न किया जायगा तो फिर सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना समझा जायगा । क्योंकि सर्वज्ञदेवने रात्रिभोजनका त्याग कुलाचारमें बतलाया है और विना इस कुलाचारके सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता इसलिये रात्रिभोजनका त्याग न करना कुलाचारका पालन नहीं करना है और कुलाचारका पालन न करना सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना है तथा जब सर्वज्ञदेव- की आज्ञाका लोप ही हो जायगा तो फिर उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहर सकेगा ॥ ४७-४८ ॥ क्योंकि भगवान सर्वज्ञदेवकी यही आज्ञा है कि जो क्रियावान् है कुलक्रियाका पालन करता है वही श्रावक माना जाता है । जो सबसे निकृष्ट श्रावक है सबसे कम दरजेके अभ्यासमात्र मूलगुणोंका पालन करता है उसको भी अपनी कुलक्रियाएं कभी नहीं छोडनी चाहिये । अतएव मांस त्याग करनेवाले पाक्षिक श्रावकको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९ ॥ बहुत कहां तक कहा जाय इस दर्शनप्रतिमाके वर्णनमें जो कुछ पहले कह चुके

कव्रतेषु च। सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ५० ॥ प्रसिद्धं सर्वलोकेस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ। पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥ ५१ ॥ म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झम्पापातात्समन्ततः। तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥ ५२ ॥ युक्तायुक्तविचारोपि नास्ति वा निशि भोजने। मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मसकस्य तु ॥ ५३ ॥ तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत्। शक्तितस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥ ५४ ॥ यत्रोषितं न भक्ष्यं

हैं और जो कुछ आगे कहेंगे उसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं करना चाहिये। सब संदेहको छोडकर केवल व्रतों- का संग्रह करना चाहिये ॥ ५० ॥ यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है कि रात्रिमें दीपकके सहारे पतंगा आदि अनेक त्रस जीवोंका समुदाय आ जाता है। ॥५१ ॥ वह त्रस जीवोंका समुदाय जरासी हवाका झकोरा लगने मात्रसे ही अपने देखते २ मर जाता है तथा उनका कलेवर उड उड कर सब भोजनमें मिल जाता है। (कुछ जीव तो जीवित ही भोजनमें पडकर मर जाते हैं और फिर वे उसमेंसे अलग नहीं किये जा सकते तथा कुछ मरे हुये भी उड उड कर भोजनमें मिल जाते हैं) ऐसी हालतमें रात्रिभोजनका त्याग न करनेवालोंके मांसका त्याग किस प्रकार हो सकता है? ॥ ५२ ॥ दूसरी बात यह है कि रात्रिमें भोजन करनेमें योग्य और अयोग्यका विचार भी नहीं रहता है। अरे जहांपर अच्छी तरह मक्खी भी दिखाई न पडे फिर भला उस रात्रिमें मच्छर आदि छोटे छोटे जीव तो किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं? ॥ ५३ ॥ इसलिए संयमकी वृद्धिके लिए रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। यदि अपनी शक्ति हो तो चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये। यदि अपनी इतनी शक्ति न हो तो अन्न पानादिक चारों प्रकारके आहारोंमेंसे अन्न आदिक किसी एक प्रकारके अथवा दो प्रकारके वा तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥५४॥ जहांपर मांसभक्षणके दोषसे बासे भोजनके (एक वा दो दिन पहले बनाये हुये भोजनके) भक्षण करनेका भी त्याग है वहांपर आसव अरिष्ट संधान अथाना आदिकी तो बात ही क्या है। भावार्थ—कुमारीआसव द्राक्षासव आदि सब तरहके आसव पदार्थोंको सडाकर महीनों जमीनमें गाडकर बनाते हैं इसलिए उनमें अनेक सूक्ष्म त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं सिरका वगैरह भी सब इसमें ही शामिल हैं अतएव ऐसे पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। अरिष्ट आचार मुरब्बा आदि भी

स्यादन्नादि पलदोषतः । आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथात्र का ॥ ५५ ॥ रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत् । अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥ ५६ ॥ दधितक्ररसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः । कालादर्वाक्, ततस्तूर्द्धं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ॥ ५७ ॥ इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् ।

सब महीनों वा बरसों रक्खे रहते हैं इसलिए उनमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं किसीमें स्थूल जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो साफ दिखाई देते हैं और किसीमें सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं । प्रायः देखा जाता है कि अचार बेचनेवाले अचारमें बडी बडी लटें उत्पन्न हो जानेपर उसमें तेजाब मिला देते हैं जो सब जीव मरकर उसीमें मिल जाते हैं ऐसे अचारमें और मांसमें कोई अंतर नहीं है । बहुतसे लोग लटें उत्पन्न होनेपर पानीसे धो डालते हैं और फिर उसमें थोडासा मसाला मिला देते हैं ऐसा करनेसे बडी बडी लटें निकलकर मर जाती हैं पर सूक्ष्म लटें उसीमें रह जाती हैं तथा वह अचार जीव उत्पन्न होनेका योनिभूत बन जाता है इसलिए उसमें फिर वैसे ही जीव उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिए आसव अरिष्ट अचार मुरब्बा आदि सब पदार्थ मांसके समान अभक्ष्य हैं इनका त्याग सदाके लिए कर देना चाहिये ॥ ५५ ॥ इसी प्रकार जो पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्शसे चलायमान हो जाते हैं जिनका रूप बिगड जाता है, रस बिगड जाता है-चलित हो जाता है, गंध बदल जाती है, स्पर्श बिगड जाता है ऐसे चलित पदार्थोंको भी कभी नहीं खाना चाहिए । क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है ॥ ५६ ॥ दूध दही छाछ आदि रसोंका भक्षण उनके कहे हुये नियमित समयके पहले पहले कर लेना चाहिये अर्थात् जितनी उनकी मर्यादा कही है वहीं तक उनको खाना चाहिये । उस मर्यादाके बाहर अभक्ष्य पदार्थोंके समान उसे कभी नहीं खाना चाहिये । अर्थात् दूध दही आदिकी जितनी मर्यादा है उसके बीत जाने पर वे अभक्ष्य हो जाते हैं फिर उनका भक्षण कभी नहीं करना चाहिये ॥५७॥ इस प्रकार मांसके दोषोंका थोडासा वर्णन किया । अब आगे मांस खानेसे क्या फल मिलता है उसको बतलाते हैं सो सुनो ॥५८॥ सिद्धांतशास्त्रोंमें यह बात सिद्ध है कि मांसका एक अंशमात्र भी भक्षण करनेसे समस्त जीवोंके भाव सब ओरसे संक्लेशरूप हो जाते हैं । भावार्थ—मांस भक्षण करनेवालोंके परिमाण सदा क्रूर और संक्लेशरूप

फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि श्रृणुताधुना ॥ ५८ ॥ सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम्। मांसांशस्याशनादेव भावः संक्लेशितो भवेत् ॥ ५९ ॥ न कदाचित् मृदुत्वं स्यादयोग्य व्रतधारणे। द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ॥ ६० ॥ अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तयः। न प्रतर्क्याः कुतर्कैर्यत् स्वभावोऽ

रहते हैं उनके परिणामोंमें स्वाभाविक क्रूरता आ ही जाती है और फिर वे हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंके करनेमें जरा भी संकोच नहीं करते हैं ॥ ५९ ॥ क्रूर और संक्लेश परिणाम होनेके कारण उन परिणामोंमें फिर व्रत धारण करने योग्य कोमलता कभी नहीं रह सकती तथा उन परिणामोंमें तीव्र कर्मरूप शक्तिके बननेका उलंघन कभी नहीं होता है। भावार्थ—मांस भक्षण करनेवाला कभी व्रत धारण नहीं कर सकता क्योंकि उसके परिणाम कभी कोमल वा दयारूप हो ही नहीं सकते। मांस भक्षण करनेसे परिणामोंमें सदा क्रूरता बनी रहती है। तथा अदयारूप और कठोर परिणाम होनेसे उसके सदा तीव्र कर्मों का बंध होता रहता है। इसलिये श्रावकोंको मांस त्यागके सब दोष भी छोड देने चाहिये ॥ ६० ॥ कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि मांसमें ऐसी क्या बात है जो उसके भक्षण करनेसे परिणामोंमें सदा संक्लेशता बनी रहती है ? सो इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक पदार्थकी शक्तियां अचिन्त्य हैं और वे अनादिकालसे चली आ रही हैं और अनंतकाल तक बराबर बनी रहेंगी। इसमें किसी भी कुतर्कीको किसी प्रकारका कुतर्क नहीं करना चाहिये क्योंकि जो जिसका स्वभाव है उसमें किसीका तर्क चल नहीं सकता। भावार्थ—जिस प्रकार गिलोय कडवी होती है अथवा ईख मीठी होती है। इसमें किसीका तर्क चल नहीं सकता कि ईख मीठी ही क्यों होती है गिलोय कडवी क्यों होती है। इस क्योंका संसारमें कोई उत्तर नहीं है क्योंकि गिलोयका कडवा होना और ईखका मीठा होना उसका स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव है उसमें किसीका कोई तर्क नहीं चल सकता। इसी प्रकार मांसका ऐसा ही स्वभाव है अथवा मांस भक्षण करने वालोंका ऐसा स्वभाव हो ही जाता है ॥ ६१ ॥ अथवा जिस प्रकार चुंबक पत्थर और सूई दोनों अलग अलग पदार्थ हैं परन्तु दोनोंके मिलनेसे एक ऐसी विभावरूप शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि चुंबक पत्थर सूईको अपनी ओर खींच लेता है अथवा सूई चुंबक पत्थरकी ओर खिंचकर चली जाती है। उसी प्रकार जीव अलग

तर्कगोचरः ॥ ६१ ॥ अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक् । अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धादिकारिणी ॥ ६२ ॥ न वाच्यमकिञ्चित्करं वस्तु बाह्यमकारणम् । धत्तूरादिविकाराणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ॥ ६३ ॥ उक्तं च । यद्वस्तुबाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः । अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ३ ॥ एवं मांसाशनाद्भावोऽवश्यं सक्लेशितो भवेत् । तस्मादसातबन्धः स्यात्ततो भ्रान्तिस्ततोऽसुखम् ॥ ६४ ॥ एतदुक्तं परिज्ञाय श्रद्धाय च

पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है परन्तु जीवमें एक वैभाविक नामकी ऐसी शक्ति है जो उस जीवके साथ मांसका संयोग होने पर (मांस भक्षण कर लेनेपर) तीव्र बंधका कारण होती है ॥ ६२ ॥ कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि शुभ अशुभ बंध करनेवाले परिणाम जीवके ही होते हैं उसमें बाह्य वस्तु कोई कारण नहीं है बाह्य पदार्थ तो अकिंचित्कर है वे कुछ नहीं कर सकते, इसका भी अभिप्राय यह है कि मांसके भक्षण करनेसे जीवके परिणामोंमें कोई अन्तर नहीं पडना चाहिये । मांस तो बाह्य पदार्थ है और बाह्य पदार्थ जीवके परिणामों में कारण नहीं होना चाहिये परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि धतूरा आदि खा लेनेसे जीवकी इन्द्रियोंमें विकार हो ही जाता है । भावार्थ—जिस प्रकार धतूरा बाह्य पदार्थ है उसके खा लेनेसे इन्द्रियोंमें विकार हो ही जाता है यह बात प्रत्यक्ष दिखाई पडती है उसी प्रकार मांस भक्षण करनेसे जीवके परिणामोंमें तीव्र बंध करने योग्य क्रूरता आ ही जाती है ॥ ६३ ॥ लिखा भी है—गुण दोषोंके उत्पन्न होनेमें जो बाह्य पदार्थ निमित्त कारण पडते हैं वे अभ्यन्तर मूल कारणके होनेसे ही निमित्त कारण होते हैं अर्थात् अभ्यन्तर कारण मुख्य कारण है और बाह्य पदार्थ गौण कारण है । तथा कहीं कहीं पर केवल अंतरंग कारणसे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है । अतएव आत्मा जो आत्मामें लीन होता है उसका कारण केवल अंतरंग कारण है । उसके लिऐ बाह्य कारणकी आवश्यकता नहीं पडती । इस प्रकार मांस भक्षण करनेसे इस जीवके परिणाम संक्लेशरूप अवश्य होते हैं तथा संक्लेश परिणाम होनेसे असाता वेदनीयका बंध होता है । असाता वेदनीयका बंध होनेसे संसारमें परिभ्रमण होता है और संसारमें परिभ्रमण होनेसे दुःख उत्पन्न होता है । इस प्रकार मांस भक्षण करना अनंत काल तक अनंत दुःखोंका कारण है ॥६४॥

मुहुर्मुहुः । ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ ६५ ॥ मद्यं त्यक्तवतस्तस्य वक्ष्यतीचारवर्जनम् । यत्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको ज्ञातस्वर्णवत् ॥ ६६ ॥ हृषीकज्ञानयुक्तस्य मादनान्मद्यमुच्यते । ज्ञानाद्यावृत्तिहेतुत्वात्स्यात्तदघंकारणम् ॥ ६७ ॥ भङ्गाहिफेनधत्तूरखस्खसादिफलं च यत् । मायताहेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥ ६८ ॥ एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् । तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥ ६९ ॥ दोषत्व प्राग्मतिभ्रंशस्ततोमिथ्यावबोधनम् ।

इस प्रकार ऊपर जो कुछ मांस भक्षणके दोष बतलाये हैं उनको जानकर और उनपर बार बार श्रद्धान कर धर्मका स्वरूप जाननेवाले श्रावकोंको उन अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ६५ ॥

अब आगे जिसने मद्यका त्याग कर दिया उसके लिये उसके अतिचार छोडनेका उपदेश देते हैं। जिस प्रकार कीट कालिमाके हटा देनेसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार मद्यके अतिचारोंका त्याग कर देनेसे श्रावक अत्यंत शुद्ध हो जाता है ॥ ६६ ॥ जिन अल्पज्ञानी जीवोंके इंद्रियजन्य ज्ञान है वे जीव मद्यपान करनेसे उन्मत्त रूप हो जाते हैं अर्थात् मद्यपान (नशीली चीजोंका खाना पीना) इंद्रियोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंको उन्मत्तताका कारण है इसीलिये वह मद्य कहलाता है तथा मद्यपान करनेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि अशुभ कर्मोंका बंध होता है इसलिये वह पापका कारण है ॥ ६७ ॥ भांग, अहिफेन (नागफेन) धतूरा, खसखसके दाने आदि (चर्स गांजा) जो जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब मद्यके समान ही कहे जाते हैं ॥ ६८ ॥ ये सब पदार्थ तथा इनके समान और ऐसे पदार्थ जो कि मद्यके समान मद्य वा नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब पदार्थ अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये बुद्धिमान गृहस्थको छोड देने चाहिये। भावार्थ—भांग धतूरा चर्स गांजा आदि नशीले पदार्थोंका सेवन करना मद्य त्यागके अतिचार हैं । श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥ इस मद्यके सेवन करनेसे तथा भांग धतूरा खसखस आदि मद्यत्यागके अतिचार रूप नशीले पदार्थोंके सेवन करनेसे पहले तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर मिथ्याज्ञान होता है माता बहिन आदिको भी स्त्री समझने लगता है तथा इस प्रकारका मिथ्याज्ञान होनेसे फिर रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिक उत्पन्न होनेसे फिर व्यभिचार सेवन अभक्ष्य भक्षण वा अन्य अन्याय रूप कियाएं उत्पन्न होने

रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ॥ ७० ॥ दिग्मात्रमत्र व्याख्यातं तावन्मात्रैकहेतुतः । व्याख्यास्यामः पुरो व्यासाच्चदूव्रतावसरे वयम् ॥ ७१ ॥ माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक् पीडनोद्भवम् । प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥ ७२ ॥ न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् । त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम् ॥ ७३ ॥ किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजा. क्षणात् । सम्मूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु कण्यवत् ॥ ७४ ॥ यथा पक्व च शुष्क

लगती हैं तथा व्यभिचार सेवन वा अभक्ष्य भक्षण करनेसे इस संसारका जन्ममरण रूप परिभ्रमण बढता है और जन्म मरण रूप परिभ्रमण बढनेसे इस जीवको सदा संक्लेश वा दुःख उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिये नशीली सब चीजोंका त्याग कर देना ही इस जीवके लिये कल्याणकारी और सुख देनेवाला है ॥ ७० ॥ इस प्रकार जो जो पदार्थ केवल नशा उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे भांग धतूरा आदि मद्यके थोडेसे ही अतिचारोंका वर्णन यहां पर किया है । इनके विस्तारका वर्णन हम आगे व्रतोंका निरूपण करते समय करेंगे ॥ ७१ ॥

शहतकी उत्पत्ति मक्खियोंके मांस रक्त आदिके निचोडनेसे होती है । यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है तथा शास्त्रोंमें भी यही बात बतलाई है ॥ ७२ ॥ इस प्रकार न्यायसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि शहतके खानेमें मांस भक्षणका दोष आता है क्योंकि मक्खियां त्रस जीव हैं और शहत उनका कलेवर है जो त्रस जीवोंका कलेवर होता है वह सब मांस कहलाता है शहत भी मक्खियोंका कलेवर है इसलिए वह भी मांस ही है अतएव शहतका खाना मांस खानेके समान है ॥ ७३ ॥

---

१ शहत एक प्रकारसे मक्खियोंकी उगलन है । मक्खियां फूलोंका रस पीती है कुछ देर तक उस रसका पाक उनके पेटमें होता है और यथेष्ट पाक हो जानेपर फिर वे मक्खियां अपने छत्तेमें उसको उगल देती हैं वही शहत कहलाता है । जो लोग शहत निकालते हैं वे पहले धूआं करके अथवा और किसी तरह मक्खियोंको उड़ा देते हैं और फिर उनके छत्तोंको निचोड़ कर शहत निकाल लेते हैं । इस प्रकार करनेसे एक तो हजारों मक्खियोंको घर रहित कर देते हैं । दूसरे यद्यपि मक्खियां उड़ जाती हैं तथापि हजारों बच्चे उस छत्तेमें रह जाते हैं जो निचोड़ते समय सब मर जाते हैं और उनके मांस रक्तका सब अर्क उस सहतमें आ जाता है । इस प्रकार शहत एक मांसके समान ही अपवित्र पदार्थ है । इनके सिवाय एक बात यह भी है कि जिसमें रक्त मांसका रस है उसमें बहुत जल्दी छोटे छोटे सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा जिन चीजोंका पाक पेटमें हो चुका है उनके उगलने पर उस उगलनमें भी अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इस प्रकार शहत अनेक सूक्ष्म त्रस जीवोंका समुदाय है इसलिये गृहस्थोंको उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

वा पलं शुद्धं न जातुचित् । प्रासुकं न भवेत्क्वापि नित्यं साधारणं यतः ॥ ७५ ॥ अयमर्थो यथान्नादि कारणात्प्रासुकं भवेत् । शुष्कं वाप्यग्निपक्वं वा प्रासुकं न तथामिषम् ॥ ७६ ॥ प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात् । यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा ॥ ७७ ॥ उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मांसमें सूक्ष्म निगोदराशि सदा उत्पन्न होती रहती है उसी प्रकार शहतमें भी रक्त मांसके संबंधसे सदा सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । शहत किसी भी अवस्थामें क्यों न हो उसमें सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन जीवोंसे रहित शहत कभी नहीं रहता ॥७४॥ मांस चाहे कच्चा हो चाहे पका हुआ हो चाहे पक रहा हो और चाहे सूखा हो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि वह सदा साधारण रहता है उसमें हर अवस्थामें अनंतकायरूप निगोद राशि उत्पन्न होती रहती है । इसलिये मांस किसी भी अवस्थामें क्यों न हो वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गेहूं जौ आदि अन्न अपने अपने कारण मिलनेसे प्रासुक हो जाते हैं अर्थात् भून लेनेसे, पका लेनेसे, कूट लेनेसे, पीस लेनेसे गेहूं जौ आदि अन्न प्रासुक हो जाते हैं उस प्रकार मांस चाहे सूखा हो चाहे अग्निपर पकाया हुआ हो किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥७६॥ जिस प्रकार पहले शराब और मांसके अतिचार कह चुके हैं उसी प्रकार इस शहतके अतिचार भी जैन-

१ लिखा भी है "आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु । सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति मांसपेशीम् । स निहन्ति सततनिचितं पिंडं बहु जीवकोटीनाम् ॥ अर्थ—मांस चाहे कच्चा हो चाहे पका हुआ हो और चाहे पक रहा हो कैसा ही क्यों न हो उसमें उसी जातिकी निगोदराशि हर समय उत्पन्न होती रहती है । इसीलिये जो मनुष्य कच्चे अथवा पके हुए मांसको खाता है अथवा उसे छूता है वह असंख्यात समयसे इकट्ठे हुए अनेक करोड़ों जीवोंके पिंडोंको मारता है । भावार्थ—सूईकी नोकपर जितना मांस आता है उसमें भी हर समय अनंतानन्त निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है तथा जिसका वह मांस है उस जातिके त्रस जीव भी उसमें सदा उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये मांसका खाना तो क्या मांसके छूनेमें भी अनन्तानन्त जीवोंका घात होता है। इसलिये मांससे सदा दूर रहना ही कल्याणकारी है । आजकल डाक्टरी दवाइयोंमें भी शराब और मांसका भाग रहता है बहुतसी दवाइयोंमें मछलियोंकी चर्बी वा तेल रहता है इसलिये मांस त्याग करनेवाले जीवोंको डाक्टरी दवाईका भी त्याग कर देना चाहिये ।

नित्यं साधारणान्येव त्रसांगैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥ अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् । तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ॥ ७९ ॥ उक्तं च ।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हैं जैसे पुष्पोंका रस पीना अथवा फूलोंका बना हुआ आसव खाना आदि सब शहत त्यागव्रतके अतिचार हैं। गुलकंदका खाना भी इसी दोषमें समझ लेना चाहिये ॥ ७७ ॥

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंको उदंबर फल भी नहीं खाना चाहिये । क्योंकि उदंबर फल साधारण हैं अनंतानंत निगोद राशिके स्थान हैं तथा अनेक त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं। भावार्थ—बडका फल, गूलर, पीपलका फल अंजीर और पाकर इनको उदंबर फल कहते हैं। इनके पेडोंमेंसे सफेद दूधसा निकलता है इसलिये इनको क्षीरफल भी कहते हैं। इनमें त्रस जीव तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। बड पीपर गूलरमें हजारों जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तथा अंजीरमें भी सूक्ष्म जीव रहते ही हैं, अंजीर गूलरसाही फल है इसलिये उसमें सूक्ष्म जीवोंका होना स्वाभाविक है । इसलिये सम्यग्दृष्टिको इन सबका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ७८ ॥ यहांपर जो उदंबर शब्दका त्याग कराया है वह उपलक्षणरूप है । किसी एक जगह दूध दही घी रखा था, किसीने किसीसे कहा कि भाई जरा घीको देखना कोई बिगाड न जाय या खा न जाय उसके इस कहनेका यह अर्थ नहीं है कि घीकी तो वह रक्षा करे और दूध दहीको बिगडने देवे । किंतु इसका अभिप्राय यही है कि घी दूध दही इन तीनोंकी रक्षा करना । इसीको उपलक्षण कहते हैं। इसी प्रकार यहांपर उदंबरका त्याग उपलक्षणसे कराया है। जिस प्रकार उदंबर साधारण है अनंतकायात्मक है उसी प्रकार जितने वनस्पति साधारण वा अनंत कायात्मक हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा जिन जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों वा रहनेकी संभावना हो उन सबका भी त्याग कर देना चाहिये। अनंतकायात्मक अथवा साधारण वनस्पति कौन कौन हैं इन सबका खुलासा आगे श्रीगोमट्टसारजीके गाथाओंमें कहे हुए श्लोकों द्वारा कहते हैं ॥ ७९ ॥

मूलग्गपोरवीआ साहा तह खंधकंदवीअरुहा
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।

जिनका मूल या जड ही बीज हो ऐसे हल्दी अदरख आदिको मूलजीव कहते हैं। जिनका अग्र वा अग्र भाग ही बीज हो जो ऊपरकी डाली काट कर लगा देनेसे लग जांय ऐसे मेहदी आदिको अग्रवीज कहते हैं। जिनका पर्व वा गांठ ही बीज हो ऐसे गन्ना आदिको पर्ववीज कहते हैं। कंद ही जिनका बीज हो ऐसे सूरण पिंडालु आदिको कंद-बीज कहते हैं। जिनका स्कंध ही बीज हो ऐसे ढाक आदिको स्कंधबीज कहते हैं। जो बीजसे उत्पन्न हों ऐसे गेंहू जौ आदिको बीजरुह कहते हैं तथा जो मूल अग्रबीज आदि निश्चित बीजोंके बिना अपने आप उत्पन्न हों उनको सम्मूर्च्छन कहते हैं। जैसे घास आदि। ये सब प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। जिन वनस्पतियोंमें अनंत निगोद जीवोंके शरीर हों उनको अनंतकाय वा प्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिन वनस्पतियोंमें अनंतकाय शरीर न हों उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इस प्रकार प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर दोनों ही प्रकारके जीव सम्मूर्च्छन समझने चाहिये।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरकी अवगाहना उत्कृष्ट भी घनांगुलके असंख्यातवें भागमात्र ही है। इसलिये एक एक अदरककी गांठमें असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं तथा एक एक प्रतिष्ठित शरीरमें अनंतानंत जीव हैं। इस प्रकार एक एक अदरककी गांठमें महा अनंतानंत जीव समझने चाहिये।

साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।

ये निगोदके जीव साधारण नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे साधारण कहलाते हैं। साधारणका अर्थ सब जीवोंके एक साथ होना है। उस निगोद पिंडमें अनंतानंत जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं उन सबकी आहार पर्याप्ति साथ साथ होती है और वह पहले समयमें होती है। आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कंधोंको खल (हड्डी आदि कठिन भागरूप) रस (रक्त आदि नरम भागरूप) भागरूप परिणमानेकी शक्तिको आहार पर्याप्ति कहते हैं। यह

साहारणलक्खणं भणियं ॥५॥ जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं । चंकमई जत्थ इक्को चंकमणं तत्थ णंताणं ॥ ६ ॥ मूलबीजा यथाप्रोक्ता फलका-

आहार पर्याप्ति भी सब जीवोंकी साथ साथ उत्पन्न होती है तथा उन्हीं आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कंधोंको शरीर के आकार परिणमानेकी शक्तिको शरीरपर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति भी सबकी साथ साथ होती है तथा उन्हीं पुद्गल स्कंधोंको स्पर्शन इंद्रियके आकाररूप परिणमानेकी शक्तिको इंद्रियपर्याप्ति कहते हैं। यह इंद्रिय-पर्याप्ति भी उन जीवोंकी एक साथ होती है तथा श्वासोच्छ्वासरूप आणप्राणपर्याप्ति भी उन सब जीवोंकी साथ साथ होती है। पहले समयमें एक निगोद शरीरमें अनंतानंत जीव उत्पन्न हुए थे। फिर दूसरे समयमें अनंतानंत जीव आकर और उत्पन्न हो जाते हैं फिर तीसरे समयमें भी अनंतानंत जीव और आकर उत्पन्न हो जाते हैं। नये नये जो जीव आकर उत्पन्न होते जाते हैं वे जिस प्रकार आहार आदि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं उनके ही साथ पहलेके समस्त जीव आहारादि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं। इन सब जीवोंका आहारादिक सब एक साथ होता है इसलिए इनको साधारण कहते हैं।

जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं। चंकमइ जत्थ इक्को चंकमणं तत्थ णंताणं ॥

एक निगोद शरीरमें जिस समय एक जीव अपनी आयु नाश होने पर मरता है उसी समयमें जिनकी आयु समान हो ऐसे अनंतानंत जीव एक साथ मर जाते हैं। तथा जिस समयमें एक जीव उत्पन्न होता है उसी समयमें समान स्थितिके धारक अनंतानंत जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जन्ममरण जिन जीवोंका एक साथ साधारण हो उनको साधारण जीव कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो अनंत जीव उत्पन्न हुए थे वे भी साथही मरते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें एक एक समयमें अनंतानंत जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और वह निगोद शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। उस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोडाकोडी सागर है। इतने समय तक उसमें प्रत्येक समयमें अनंतानंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अनंतानंत जीव प्रत्येक समयमें मरते रहते हैं। इतना विशेष है कि जिस निगोदमें पर्याप्त उत्पन्न होते

द्रकार्दयः । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥ ८० ॥ तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात् । सर्वज्ञाज्ञावलादेतद्दर्शनीयं दृगंगिभिः ॥ ८१ ॥ ननु

हैं उसमें पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं अपर्याप्त नहीं। तथा जिसमें अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमें अपर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं उसमें पर्याप्त उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि उनके समान कर्मका उदय होता है। ऊपर जो अदरख, आलू, आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज आदि अनंत कायात्मक साधारण बतलाए हैं उन्हें कभी नहीं खाना चाहिए। यदि कोई रोगी हो और उसे औषधिरूपमें इन साधारण वनस्पतियोंका सेवन करना पडे तो भी उसे इन साधारण वनस्पतियोंका भक्षण नहीं करना चाहिए। भावार्थ—इन साधारण वनस्पतियोंके सेवन करनेमें फल तो बहुत थोडा है और हिंसा अनंतानंत जीवोंकी होती है। जहां पर सुईके अग्रभाग पर आए हुए अदरक आदिके जरासे टुकडेमें अनंतानंत जीव हैं वहां पर अदरकके दो चार गांठोंमें वा दस बीस आलुओंमें कितने अनंतानंत जीव होंगे इसका हिसाब लगाना भी कठिन है। इसलिये ऐसे अनंतानंत कायस्वरूप साधारण वनस्पतियोंका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है। बीमारीकी हालतमें औषधि रूपमें भी इनका सेवन करना अनुचित है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव इनका सर्वथा ही त्याग कर देते हैं। दैवयोगसे अर्थात् जवर्दस्त कारण मिलने पर भी सम्यग्दृष्टी इनका सेवन नहीं करते ॥ ८० ॥ इसका भी कारण यह है कि इन साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनंतानंत जीवोंका घात होता है अथवा यों कहना चाहिए कि अनंतानंत जीवोंसे भरे हुए अनंत पिंडोंका नाश होता है। इसलिए इनके भक्षण करनेमें महापाप होता है। इस महापापका विचार भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य करना चाहिए। भावार्थ—इन साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें महापाप समझकर सम्यग्दृष्टियोंको इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। आलू अदरक आदि कंदमूल वा साधारण वनस्पतिको कभी भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ८१ ॥

कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि इस पक्षधर्मका अनुमान किस हेतुसे करना चाहिये, अर्थात् आलू अदरक आदि मूलबीज वा अन्य साधारण वनस्पतियोंमें अनंतानंत जीव हैं यह बात किस प्रकार मान लेनी

केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता । प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोवधार्यते ॥ ८२ ॥ मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । तेन सर्वविदाज्ञायाः स्वीकर्तव्यं यथो-

चाहिये । क्योंकि उनमें चलते फिरते जीव प्रत्यक्ष तो दिखाई देते ही नहीं हैं । इसलिये प्रत्यक्षमें तो उन साधारण-वनस्पतियोंमें जीवोंका अभाव ही दिखाई पडता है और इसीलिये उनमें कोई जीव नहीं है और जीव न होनेसे उनके भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है ऐसा ही निश्चय करना पडता है । परंतु ऐसी शंका करनेवालेके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है । हम यह बात पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थका जो अलग अलग स्वभाव है उसमें किसी प्रकारका तर्क वितर्क नहीं चल सकता । गिलोय कडवी होती है और गन्ना मीठा होता है यह उन दोनोंका स्वभाव है । इसमें कोई यह नहीं पूछ सकता कि गन्ना मीठा क्यों होता है अथवा गिलोय कडवी ही क्यों होती है । जिस पदार्थका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है । इसी प्रकार आलू अदरक आदि कंदमूलोंका वा अन्य साधारण वनस्पतियोंका यही स्वभाव है कि उनमें प्रत्येक समयमें अनंतानंत जीव उत्पन्न होते रहें और मरते रहें तथा जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही सर्वज्ञदेवने बतलाया है । सर्वज्ञदेव सर्वज्ञ और वीतराग हैं अर्थात् सूक्ष्म स्थूल समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं और उनमें राग द्वेषका सर्वथा अभाव है तथा मिथ्याभाषणका कारण राग द्वेष वा अजानकारी है वे दोनों ही अरहंतदेवमें नहीं हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ और वीतराग हैं इसलिये वे कभी भी मिथ्या निरूपण नहीं कर सकते अतएव भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार पदार्थोंका जैसा स्वरूप बतलाया है वह अवश्य मान लेना चाहिये । यद्यपि आलू अदरक आदि कंद मूलोंमें वा अन्य साधारण वनस्पतियोंमें जीव दिखाई नहीं पडते हैं क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं परंतु सर्वज्ञदेवने

१ नेत्रोंसे वेही पदार्थ दिखाई देते हैं जो स्थूल हैं सूक्ष्म पदार्थ महापरिमाण रूप होने पर भी दिखाई नहीं देते। जैसे रुईका रत्ती भर पिंड भी स्थूल होने से दिखाई देता है परन्तु समस्त संसारमें भरी हुई और अपनी शक्तिसे बड़े बड़े पेड़ों तकको उखाड़कर फेंक देनेवाली हवा दिखाई नहीं पड़ती इसका कारण केवल सूक्ष्मता है। कपूरकी एक जरासी डली दिखाई देती परन्तु लाखों मन कपूरकी बनी हुई हवा दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार कंद मूलोंमें सूक्ष्म जीव होते हैं इसीलिये वे दिखाई नहीं पड़ते। यदि वेही जीव स्थूल शरीर धारण करलें तो दिखाई देने लग जायं।

दितम् ॥ ८३ ॥ नन्वस्तु तत्तदाज्ञाया पृष्टुमीहामहे परम् । यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥ ८४ ॥ सत्यं बहुत्वादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता । कुतश्चित्कारणा-

उनमें अनंतानंत जीव राशि बतलाई है इसलिये भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर कंदमूल वा साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । लिखा भी है "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः" अर्थात्–भगवान् अरहंतदेवके द्वारा कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व भी किसी हेतुसे खंडित नहीं होते इसलिए उनकी आज्ञा मानकर उनके कहे हुए सूक्ष्म पदार्थोंको भी उसी प्रकार मान लेना चाहिए क्योंकि भगवान् अरहंतदेव सर्वज्ञ और वीतराग होनेसे अन्यथावादी वा मिथ्यानिरूपण करने वाले नहीं हैं ॥ ८२-८३ ॥

सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मान लेना ठीक है इसमें किसीको कुछ कहना नहीं है परन्तु इसमें इतना और पूछ लेना चाहते हैं कि भगवान अरहंतदेवने ही तो एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरको भक्ष्य वा खाने योग्य बतलाया है। फिर आप अनंतकाय वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध क्यों करते हैं वे भी तो एकेन्द्रिय जीव हैं ॥ ८४ ॥ उत्तर– यह ठीक है कि सर्वज्ञदेवने दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरके भक्षण करनेका निषध किया है क्योंकि दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा है तथा एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा नहीं है इसीलिए सर्वज्ञदेवने एकेन्द्रिय जीवोंके प्रासुक शरीरको भक्षण करनेका निषेध नहीं किया है तथापि उन्होंने (अरहंतदेवने) अनंत कायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध किया ही है क्योंकि अनंतकायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें

१ मांसं जीवशरीरं जीव शरीरं भवेन्नवा मांसम् । यद्वन्निम्बो वृक्षः वृक्षस्तु भवेन्नवा निम्बः ॥

मांस प्राणियोंका शरीर है परन्तु जितने प्राणियोंके शरीर होते हैं वे सब मांस नहीं होते । प्राणियोंका शरीर मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे नीम वृक्ष होता है परन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता क्योंकि नीमके सिवाय आम अनार आदि भी वृक्ष होते हैं। इसी प्रकार अन्न जीवका शरीर होकर भी मांस नहीं कहलाता और न उसके खानेमें दोष है।

देव नोल्लंघ्यं जिनशासनम् ॥ ८५ ॥ एवं चेत्तत्र जीवास्ते कियन्तो वद कोविद ! हेतोर्यदत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥ ८६ ॥ घनाङ्गुलासंख्यभागभागैकं तद्वपुः स्मृतम् । तत्रैकस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तसंज्ञिताः ॥ ८७ ॥ उक्तं च । एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीद-

अनेक जीवोंका घात होता है । इसलिये किसी भी कारणसे भगवान अरहंतदेवकी आज्ञाका उलंघन नहीं करना चाहिये । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंमें भी वनस्पति कायिक जीवोंके दो भेद हैं एक अनंतकायरूप साधारण और दूसरे प्रत्येक वनस्पति । प्रत्येक वनस्पतिमें एक शरीरमें एक ही जीव होता है इसलिये उससे उत्पन्न हुए अन्न आदि फल भक्ष्य हैं तथा साधारण शरीरमें एक एक शरीरमें अनंतानंत जीव होते हैं ऐसे वनस्पति सदा त्याज्य हैं । यही भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है इसका उलंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥ ८५ ॥

प्रश्न—यदि यही बात है अर्थात् साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनेक जीवोंका बध होता है तो विद्वानोंको बतलाना चाहिये कि उसमें कितने जीव रहते हैं जिस कारणसे कि भगवान अरहंतदेवने उनको अभक्ष्य बतलाया है ॥ ८६ ॥

उत्तर—साधारण जीवोंका शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है । अर्थात् साधारण जीवोंका शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह देखनमें आ नहीं सकता किंतु उसको अनुमानसे जाननेके लिये एक अंगुल लंबे एक अंगुल चौडे और एक अंगुल ऊंचे क्षेत्रके यदि असंख्यात भाग किये जायं तो उनमेंसे एक भाग प्रमाण साधारण जीवोंका शरीर होता है उतने छोटे अत्यन्त सूक्ष्म शरीरमें अनंतानंत जीव रहते हैं ॥ ८७ ॥ गोम्मटसारमें भी लिखा है ।

एयणियोयसरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।

१ लिखा भी है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि । नवनीतनिंबकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥

मूली अदरक मक्खन नीमके फूल केतकी आदिका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इनके खानेमें फल थोड़ा है और घात अनंतानंत जीवोंका होता है ।

फालेण ॥ ७ ॥ इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके । केचिन्मियोवगाह्याः स्युरेकीभावादिवापरे ॥ ८८ ॥ उक्तं च । जंबूदीवे भरहे कोसलसाकेयतग्घरायं च ।

अर्थ–एक निगोद शरीरमें अनंतानंत जीव हैं उनकी अनंतानंत संख्या सिद्धराशिसे अनंत गुणी है तथा अब तक जितने सिद्ध हुए हैं उन सबकी संख्यासे भी अनंतगुणी है। भावार्थ–समस्त अक्षय अनंतानंत जीवराशिमें अनंतका भाग देनेसे जो संख्या आती है उतने सिद्ध हैं तथा अनादि कालसे अबतक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्या भी अनंतानंत है उस सिद्ध राशिकी अनंतानंत संख्यासे अनंतानंत संख्याको गुणा कर देनेपर जो लब्ध राशि आती है उतने जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं। आलू अदरक आदि जितने भी साधारण वनस्पति हैं वे सब ऐसे ही ऐसे असंख्यात निगोद शरीरका बना हुआ पिंड है इसलिये वह सब त्याज्य है ॥ १ ॥

कदाचित कोई यह प्रश्न करे कि इतने अत्यन्त सूक्ष्म एक शरीरमें उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अन्य अनंतानंत जीव उसमें किस प्रकार रह सकते हैं तो इनका उत्तर यह है कि सूक्ष्म पदार्थ जगह नहीं रोकता है। जगह रोकनेकी शक्ति स्थूल पदार्थोंमें ही है। चांदनी धूप प्रकाश अंधकार आदि ऐसे बहुतसे स्थूल सूक्ष्म पदार्थ भी हैं जो जगह नहीं रोकते हैं फिर भला अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ तो जगह रोक ही किस प्रकार सकता है? उन निगोदिया जीवोंका शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये उसी एक शरीरमें उतने ही अवगाहको धारण करनेवाले अन्य शरीर भी समा जाते हैं और सब मिल कर एकरूप हो जाते हैं। इसीलिये आचार्योंने बतलाया है कि अत्यंत सूक्ष्म एक निगोदियाके शरीरमें उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अनंतानंत जीव रहते हैं। लिखा भी हैं।

जंबूदीपे भरहे कोसलसाकेय तग्घरायं च ।
खंधंडर आवासा पुलवि सरीराणि दिट्ठंता ।
खंधा असंखलोगा अंडरआवासपुलविदेहावि ।
हेट्ठिलजोणिग्गाहो असंखलोगेण गुणिदकमा ।

खंधंडर आवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता ॥ ८ ॥ एतन्मत्वार्हता प्रोक्तमाजन्मजन्मभीरुणा। कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या सुमतिः सती ॥ ८९ ॥ एवमन्यदपि साध्यं यत्साधारणलक्षणम्। त्रसाश्रितं विशेषेण तद्वृद्धियुक्तस्य का कथा ॥ ९० ॥ साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात्। शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि

अर्थ—जिसप्रकार जंबूद्वीपमें भरतक्षेत्र है, भरतक्षेत्रमें कौशल आदि देश हैं, कौशल आदि देशोंमें साकेत आदि नगर हैं और उन नगरोंमें घर हैं उसीप्रकार इस लोकाकाशमें स्कंधोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है। प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके शरीरोंको स्कंध कहते हैं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उनको असंख्यातसे गुणा कर देनेपर जो लब्धि आवे उतनी संख्या उन स्कंधोंकी है तथा एक एक स्कंधमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं। एक एक अंडरमें असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं। एक एक आवासमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं तथा एक एक पुलवीमें असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर हैं और एक एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव हैं ॥ १-२ ॥

यही समझकर भगवान अरहंतदेवने कहा है कि जिनको इस संसारके परिभ्रमणसे कुछ भी भय है उनको कंदमूल आदिके त्याग करनेमें ही अपनी सम्यक् और उत्तम बुद्धि लगानी चाहिए ॥ ८९ ॥ श्रावकोंको जिस प्रकार कंदमूलका त्याग कर देना चाहिए उसी प्रकार और भी जो जो साधारण हों उन सबका त्याग कर देना चाहिए तथा जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों उनका विशेष रीतिसे त्याग करना चाहिए और जिनमें त्रस जीव भी रहते हों तथा जो साधारण भी हों अनंत जीवोंका आश्रय भी हों ऐसे पदार्थोंकी तो बात ही क्या है? अर्थात् ऐसे पदार्थोंका तो अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥ ९० ॥ किसी वृक्षकी जड साधारण होती है, किसीका स्कंध साधारण होता है, किसीकी शाखाएं साधारण होती हैं, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गांठ) साधारण होते हैं, किसीका दूध साधारण होता है और किसीके फल साधारण होते हैं। इसप्रकार उनका साधारणपना आगमसे जान लेना चाहिए ॥ ९१ ॥ इनमेंसे किसी किसीके तो मूल पत्ते स्कंध फल फूल आदि अलग अलग साधारण होते हैं और किसी किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण

च ॥ ९१ ॥ तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथदेहिनाम । पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥ ९२ ॥ मूलसाधारणास्तत्र मूलकाश्चाद्रकादयः । महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥ ९३ ॥ स्कन्धपत्रपयःपर्वतुर्यसाधारणा यथा । गंडीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ॥ ९४ ॥ पुष्पसाधारणाः केचित्करीरसर्षपादयः । पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाग्रकाः ॥ ९५ ॥ फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखासाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥९६॥ कुंपलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येत्र प्रोक्तकालावधेरधः ॥ ९७ ॥ शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तयः । वल्यः साधारणाः

होते हैं परंतु ये सब प्राणियोंके लिए पापके कारण होते हैं इनके भक्षण करनेसे वा अन्य किसी काममें लाकर विराधना करनेसे महापाप लगता है इसलिए इन सबको अच्छी तरह जानकर सबका त्याग कर देना चाहिए ॥ ९२ ॥ मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकंद आदि सब मूलसाधारण कहलाते हैं । अर्थात् इनकी जडें सब साधारण हैं । तथा ये सब अनंतकाय हैं इनके भक्षण करनेसे तथा किसी प्रकारसे भी काममें लानेसे महापाप उत्पन्न होता है । इसलिए व्रती गृहस्थोंको इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥ ९३ ॥ गंडीरक एक प्रकारके कडुए जमीकंदको कहते हैं । उसके स्कंध भी साधारण होते हैं, पत्ते भी साधारण होते हैं, दूध भी साधारण होता है और पर्व (गांठें) भी साधारण होते हैं । इसप्रकार उसके चारों अवयव साधारण होते हैं । दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है ॥९४॥ फूलोंमें करीरके फूल और सरसोंके फूल तथा और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं तथा पर्वोंमें ईखकी गांठें साधारण होती हैं तथा उसका आगेका भाग भी साधारण होता है ॥९५॥ फलोंमें साधारण फल पांचों उदंबर फल होते हैं तथा शाखाओंमें साधारण कुमारी पिंड (गंवारपाठा) है । अर्थात् गंवारपाठा शाखारूप ही होता है और उसकी सब शाखाएं साधारण हैं ॥ ९६ ॥ वृक्षोंपर पहले ही पहले जो नए पत्ते निकलते हैं जो बडे कोमल होते हैं जिनको कोंपल कहते हैं वे सब अपने नियत समयके भीतर भीतर साधारण रहते हैं । भावार्थ—समस्त वृक्षोंपर जो जो नए पत्ते निकलते जाते हैं वे सब कुछ समय तक साधारण रहते हैं अपना साधारण अवस्थाका समय बीत जानेपर फिर वे ही पत्ते बडे होनेपर प्रत्येक हो जाते हैं ॥ ९७ ॥ शाकोंमें (चना मेथी बथुआ पालक कुलफी आदि शाकोंमें) कोई शाक साधारण होते हैं और कोई

काश्चित्काश्चित्प्रत्येकका: स्फुटम् ॥ ९८ ॥ तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्ततः । उत्सर्गतःसर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादतः ॥९९॥ शक्तितो विरतौ चापि विवेकः साधुरात्मनः । निर्विवेकात्कृतं कर्म विफलं चाल्पफलं भवेत् ॥१००॥ कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्दैवान्निर्विवेकिनाम् । तत्केवलमनर्थाय कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०१॥ यथात्र श्रेयसे केचिद्धिंसा कुर्वंति कर्मणि । अज्ञानात्स्वर्गहेतुत्वं मन्यमानाः प्रमादिनः ॥ १०२ ॥ तदवश्यं तत्कामेन भवितव्यं विवेकिनाम् । देशतो वस्तुसंख्यायाः

प्रत्येक होते हैं इसीप्रकार लता या वेलोंमें कोई लताएं साधारण होती हैं और कोई लताएं प्रत्येक होती हैं ॥९८॥ इन सब साधारणोंका स्वरूप जानकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि मन वचन काय वा कृत कारित अनुमोदनासे समस्त पापोंका त्याग कर देना उत्सर्ग मार्ग है और अपनी शक्तिके अनुसार त्याग करना अपवाद मार्ग है ॥ ९९ ॥ शक्तिके अनुसार त्याग करनेमें भी अपना विवेक वा विचार ही कल्याण करनेवाला होता है। (यह कार्य मेरे आत्माके लिए कल्याण करनेवाला है और यह नहीं है। इसप्रकारके विचारोंको विवेक कहते हैं) श्रावकोंके द्वारा जो कुछ पापोंका त्याग किया जाय वह विवेक वा विचारपूर्वक ही त्याग होना चाहिए। क्योंकि जो कार्य बिना विवेकके वा विना विचारके किया जाता है वह या तो निष्फल जाता है या उसका फल बहुत ही थोडा मिला करता है ॥१००॥ कभी कभी ऐसा भी होता है कि जो विवेकरहित पुरुष अपने अज्ञानसे अथवा अपने अशुभ कर्मके उदयसे जो कुछ शुभ अथवा अशुभ कार्य करते हैं उनसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। भावार्थ-ऐसे निर्विवेकी लोग धर्म समझकर भी अनेक महापापरूप कार्य कर डालते हैं जिनसे कि जन्म जन्मांतर तक अनेक अनर्थ वा दुःख उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १०१ ॥ जैसे इस संसारमें कितने ही प्रमादी पुरुष ऐसे हैं जो अपना भला करनेके लिए वा अपना कल्याण करनेके लिए देवताओंकी पूजा करनेमें वा यज्ञ करनेमें वा अन्य ऐसे ही कामोंमें अनेक जीवोंकी हिंसा करते हैं और अपने अज्ञानसे वा मिथ्याज्ञानसे उसे स्वर्गका कारण मानते हैं ॥१०२॥ इसलिए जो जीव अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करना चाहते हैं और पदार्थोंकी संख्याका एक देशरूपसे त्याग करना चाहते हैं उन्हें विवेकी अवश्य होना चाहिए। भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण महाव्रतोंके धारण करनेमें विवेककी परम आवश्यकता है उसी प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करनेमें

शक्तितो व्रतधारिणा ॥ १०३ ॥ विवेकस्यावकाशोस्ति देशतो विरतावपि । आदेयं प्राशुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥ १०४ ॥ न च स्वारमेच्छया किंचिदात्समादेयमेव तत् । नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥ १०५ ॥ तस्माद्यत्प्राशुकं शुद्ध तुच्छहिंसाकरं शुभम् । सर्वं त्यक्तुमशक्येन प्राह्यं तत्कचिदल्पशः ॥१०६॥

वा एकदेश त्याग करनेमें भी विवेककी परम आवश्यकता है। इस संसारमें जीव कहां कहां है किस किस कार्यमें जीवहिंसा होती है इस प्रकारका विचार हुए बिना कभी पापोंका त्याग नहीं हो सकता अथवा कभी व्रत धारण नहीं हो सकते। यदि इस प्रकारके विचारके बिना कोई व्रत धारण भी करेगा तो वह अनेक अनर्थोंका कारण मिथ्या व्रत अथवा अज्ञानतापूर्वक व्रत होगा। जैसे कोई २ लोग जन्माष्टमी आदिका व्रत धारण करते हैं दिन भर नहीं खाते परंतु फिर आधीरातके बाद रातमें ही खाते हैं परतु ऐसे व्रत सब निर्विवेक पूर्ण व्रत कहलाते हैं क्योंकि दिनभरके लिए अन्न पान त्यागकर थोडासा पुण्य कमाया था और रातमें खाकर अनंत पापोंका संचय कर लिया जिससे वह पुण्य भी नष्ट हो गया और बचे हुए पापोंसे नरकादिकके दुःख भोगने पडे। इसलिए एक देश त्यागमें विवेककी बडी भारी आवश्यकता है। बिना विवेक वा विचारके जप तप व्रत आदि सब व्यर्थ हैं। ॥ १०३ ॥ एक देश त्याग करनेमें भी विवेक वा विचारकी बडी भारी आवश्यकता है क्योंकि जो निर्जीव और योग्य पदार्थ हैं उन्हींका ग्रहण करना चाहिए तथा जो सचित्त वा जीवराशिसे भरे हुए हैं साधारण वा त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं अथवा अयोग्य हैं ऐसे पदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए ऐसे पदार्थोंका दूर हीसे त्याग कर देना चाहिए ॥ १०४ ॥ जो कुछ अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लिया है वही आदेय वा ग्रहण करने योग्य है तथा जो कुछ अपनी इच्छानुसार छोड दिया है वही अनादेय वा त्याग करने योग्य है ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जिस प्रकार किसी पागल वा उन्मत्त पुरुषके वाक्य उसकी इच्छानुसार कहे जाते हैं, पदार्थोंकी सत्ता वा असत्ताके अनुसार नहीं कहे जाते और इसीलिए वे मिथ्या वा ग्रहण करने अयोग्य समझे जाते हैं उसी प्रकार इच्छानुसार ग्रहण करना वा छोडना भी मिथ्या वा विवेकरहित समझा जाता है। इसलिए किसी भी पदार्थका त्याग वा ग्रहण अपनी इच्छानुसार नहीं होना चाहिए किन्तु विवेकपूर्वक यथार्थ शास्त्रोंके अनुसार होना

यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम्। एतत्त्यागे गुणोवश्यं संग्रहे स्वल्पदोषता ॥ १०७ ॥ ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम्। सत्यं जिनागमे प्रोक्तालक्षणादेव लक्ष्यते ॥ १०८ ॥ तल्लक्षणं यथा भंगे समभागः प्रजायते। तावत्साधारणं ज्ञेय शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥१०९॥ तत्राप्यल्पलीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु।

चाहिए ॥ १०५ ॥ अतएव जो पुरुष पूर्णरूपसे पांचों पापोंका त्याग नहीं कर सकते, महाव्रत धारण नहीं कर सकते उनको जो पदार्थ प्रासुक हैं जीवरहित हैं, शुद्ध हैं, शुभ हैं और जो बहुत थोडी हिंसासे वा थोडेसे ही सावद्य कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं ऐसे पदार्थ भी बहुत थोडे ग्रहण करने चाहिए और वे भी कभी २ ग्रहण करना चाहिए सदा उन्हींमें लीन नहीं रहना चाहिए ॥ १०६ ॥ जो साधारण हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिए और जिनमें त्रस जीव रहते हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिए। इनके त्याग करनेसे गुण—मूल गुण और उत्तरगुण वढते हैं और इनका ग्रहण करनेसे भक्षण करनेसे महापाप उत्पन्न होते हैं ॥ १०७ ॥

प्रश्न—यदि साधारण वनस्पतियोंका त्याग कर देना चाहिये तो फिर यह भी बतलाना चाहिये कि साधारण वनस्पतियोंकी पहिचान क्या है। किस लक्षणसे उनका ज्ञान हो सकता है। उत्तर—ठीक है अर्थात् आपका यह पूछना ठीक है। जैन-शास्त्रोंमें जो कुछ साधारणका लक्षण बतलाया गया है उसी लक्षणसे साधारण वनस्पतियोंका ज्ञान हो सकता है ॥ ७८ ॥ उसका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोडनेमें दोनों भाग एकसे हो जायं जिस प्रकार चाकूसे दो टुकडे करनेपर दोनों भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथसे तोडनेपर भी जिसके दोनों भाग चिकने एकसे हो जांय वह साधारण वनस्पति है। जबतक उसके टुकडे इसी प्रकारके होते रहते हैं तब तक उसे साधारण समझना चाहिये तथा जिसके टुकडे चिकने और एकसे न हों ऐसी बाकीकी समस्त वनस्पतियोंको प्रत्येक समझना चाहिये ॥ १०९ ॥ इस प्रकार पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर जो

१ उदाहरणमें काकड़ी लेना चाहिये। जो काकड़ी बहुत छोटी नरम होती है जिसपर सफेदीसी जमी रहती है और रेखाएं नहीं पड़तीं ऐसी नरम ककड़ी साधारण होती है। उसको तोड़नेसे अवश्य ही चाकूकेसे एकसे चिकने टुकड़े होते हैं। यदि वही ककड़ी कुछ दिन तक उसी वेल पर और लगी रहे तो उसकी सफेदी दूर हो जाती है और उसपर रेखाएं पड़ जाती है। ऐसी ककड़ी प्रत्येक हो जाती है। यदि उसको तोड़ा जाय तो

यतस्तृष्णानिवृत्त्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥ इति सत्त्वेतः स्वपातं साम्ना मूलगुणाष्टकम् । अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥१११॥ तांस्तानवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् । इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥११२॥ द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥ ११३ ॥ अक्षपासादिनिक्षिप्त वित्ताज्जयपराजयम् । क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥ प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् । यावदा-

योग्य पदार्थ हैं उनको भी बहुत थोडी मात्रामें ग्रहण करना चाहिये अर्थात् योग्य पदार्थोंमें भी अधिक भागका त्याग कर जितने कमसे अपना कार्य सिद्ध हो सकता है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। बाकी सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह सब त्याग वा समस्त व्रत, मूलगुण उत्तरगुण आदि तृष्णाको दूर करनेके लिये ही कहे गये हैं। यदि तृष्णा कम न हुई तो त्याग करना व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा घटानेके लिये ही त्याग किया जाता है। ॥११०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे गृहस्थोंके समुदायरूप मूलगुणोंका वर्णन किया। इसके आगे जो गृहस्थों-के अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि गुण हैं व्रत हैं वे सब अर्थात् उत्तरगुण कहलाते हैं। भावार्थ—जब मद्य मांस मधु और पांचों उदंबरोंके त्यागकी मूलगुण संज्ञा है तो फिर अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रतकी उत्तरगुण संज्ञा माननी ही पडेगी ॥ १११ ॥ उन अणुव्रत गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंका वर्णन थोडेसे विस्तारके साथ उनके कथन करनेके समय करेंगे। इस समय प्रसंग पाकर सातों व्यसनोंके त्यागका वर्णन करते हैं ॥ ११२ ॥

जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों महापाप व्यसन कहलाते हैं। बुद्धिमान् विद्वानोंको इन सातों व्यसनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ११३ ॥

जिस क्रियामें खेलनेके पासे डालकर धनकी हार जीत होती है वह सब जूआ कहलाता है अर्थात् हार जीतकी शर्त लगाकर तास खेलना, चौपड खेलना, शतरंज खेलना, नक्कीमूठ खेलना आदि सब जूआ कहलाता

पकती नहीं टूटती किन्तु कुछ भाग आगेको बढ़ा हुआ और कुछ भाग दबा हुआ टूटता है। प्रायः फल पत्ते आदि प्रारम्भमें साधारण होते हैं और फिर कुछ दिन बाद प्रत्येक हो जाते हैं।

पन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥ ११५ ॥ तत्र वह्वः कथाः सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः । रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥ ११६ ॥ श्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् । दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥ ११७ ॥ न वाच्यं द्यूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् । चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेष

है ॥ ११४ ॥ यह जूआ खेलना संसार भरमें प्रसिद्ध है। उसी समय महा अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाला है और समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा समझकर धर्ममें प्रेम करनेवाले श्रावकोंको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ११५ ॥ जो लोग इस जूआमें लीन हुए हैं वे सब नष्ट हुए हैं। राजा युधिष्ठिरको इस जूआ खेलनेके ही कारण अनेक आपत्तियां उठानी पडी थीं, जूआ खेलने वालोंको अनेक आपत्तियां उठानी पडी और अनेक दुःख भोगने पडे इन सब चरित्रोंको कहनेवाली बहुतसी कथाएं हैं ॥ ११६ ॥ इस जूआ खेलनेका फल प्रति दिन सुना जाता है और प्रति दिन देखा जाता है। इस जूआ खेलनेसे लोग दरिद्र हो जाते हैं उनके अंग उपांग सब काटे जाते हैं तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख उन्हें भोगने पडते हैं ॥ ११७ ॥ इस जूआ खेलनेको एक ही व्यसन नहीं समझना चाहिये और न इसे छोटासा व्यसन समझना चाहिये। किंतु यह जूआ खेलनेका व्यसन चोरी आदि सब व्यसनोंका स्वामी है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ॥ ११८ ॥ इस जूआ खेलनेके

---

१ इसकी एक कथा है। किसी देशका राजा कुछ दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें पड़कर जूआ खेलने लग गया था। उस राजाके यहां दो मंत्री बहुत पुराने थे। वह मंत्रीका पद उनको वंश परम्परासे प्राप्त था। उन मंत्रियोंने बहुत निषेध किया बहुत समझाया परन्तु राजाने छोड़ा नहीं। अन्तमें लाचार होकर उन मंत्रियोंने वह देश छोड़ दिया।

देश छोड़कर भी वे मंत्री चुप नहीं बैठे। उन्होंने जूआ छुड़ानेके लिये एक और उपाय सोचा। कुछ दिनोंमें दाढी मूछ और जटाएं बढ़ाकर उन्होंने अपना रूप बदला। उनमेंसे एक महंत गुरु बन गया और दूसरा उसका शिष्य बन गया। वे गुरु शिष्य पहले तो आस पासके गांवोंमें फिरे वे प्रायः बड़े बूढ़ोंको जानते थे और उन्होंने अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये दस बीस जगह कुछ रुपये पैसे भी गाड़ दिये थे। अतः जहां जाते वहीं रुपये पैसे बताकर प्रसिद्ध महंत बन गये थे। जिन बड़े बूढ़ोंको जानते थे उनका नाम पहलेसे ही बता देते थे इस प्रकारसे भी उनकी महंतता खूब बढ़ गई थी। अंतमें वे उसी शहरमें पहुंचे और प्रायः प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम बताकर तथा पचासों जगह गड़ा हुआ धन बतलाकर बहुत ही प्रसिद्ध और पूज्य बन गये। वे झूठ मूठका योग साधन भी करते और शिष्योंको संतुष्ट करनेके लिये एक मछली पकड़नेका जाल ओढ़ कर नियत समय पर बैठा करते थे।

न संशयः ॥ ११८ ॥ विद्यन्तेत्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन । जेतव्यास्तेपि दृग्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥ ११९ ॥ अन्योन्यस्येर्ष्यया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति ।

त्यागरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो कि जूआ खेलनेके ही समान हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके मार्गमें लगे हुए

इतने लम्बे समयमें राजा जूआमें बहुतसा धन हार चुका था परन्तु फिर भी उससे जूआ छूटता नहीं था। उन महंतकी प्रसिद्धि सुनकर वह भी उनके पास आया। कुछ इधर उधरकी बातचीत होनेके बाद राजाने उस जालको देखा और आश्चर्यके साथ पूछा।

राजा—महाराज यह जाल जैसा क्या है और आप इसे क्यों ओढ़े हैं?

महंत—यह मछली पकड़नेका जाल है। कभी कभी मछली पकड़नेका काम आता है।

राजा—क्या महाराज आप मछलियोंका शिकार किया करते हैं?

महंत—अरे नहीं भाई! हम सरीखे कभी क्या शिकार किया करते हैं परन्तु जब कभी मांस खानेकी तीव्र इच्छा होती है और किसी भी शिष्यसे नहीं मिलता तब लाचार होकर मछलियोंकी शिकार करनी पड़ती है।

राजा—आश्चर्यके साथ क्या महाराय आप मांस भी खाते हैं?

महंत—अरे राजा तू बड़ा भोला है। कहीं हमारे ऐसे योगी मांस खाया करते हैं परन्तु जब कभी मद्यका नशा अधिक हो जाता है तब मांस खानेकी तीव्र लालसा अपने आप हो जाती है और उसके परवश होकर हमें मांस खाना पड़ता है।

राजा—महाराज मैं क्या सुन रहा हूं आप मद्य भी पीते हैं?

महंत—अरे हमारे ऐसे योगी कभी मद्य पिया करते हैं मद्य पीनेसे योग साधन सब नष्ट हो जाता है। परन्तु जब कभी किसी वेश्याके यहां चले जाते हैं तो वहां पर उसके आधीन होनेसे मद्य पीना पड़ता है।

राजा—महाराज तो आप वेश्या सेवन भी करते हैं?

महंत—नहीं नहीं वेश्या सेवन करनेके लिये हमें प्रति दिन जानेका अभ्यास नहीं है पर जब कभी परस्त्री की प्राप्ति नहीं होती तब कभी चले जाते हैं।

राजा—महाराज तो आप परस्त्री भी सेवन करते हैं?

महंत—अरे नहीं नहीं परस्त्री सेवन करनेका तो हमें अभ्यास नहीं है पर जब कभी चोरीमें बहुतसा धन हाथ लग जाता है तब उसे ऐसे ही कामोंमें खर्च करना पड़ता है।

राजा—बहुत ही आश्चर्यके साथ महाराज आप चोरी भी करते हैं?

व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥ १२० ॥ यथाहं धावाम्यत्र यूयं चाप्यत्र धावत। यद्यतिरिक्तं गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि चेप्सितम् ॥ १२१ ॥ इत्येवमाद-

तीव्र बुद्धि श्रावकोंको इन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥११९॥ जैसे अपने अपने व्यापारके कार्योंके सिवाय कोई भी दो पुरुष परस्पर एक दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमें एक दूसरेको जीतना चाहते हों तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जूआ खेलनेका अतिचार कहलाता है। भावार्थ—व्यापारी लोग जो एक दूसरेसे चढ बढकर व्यापार करना चाहते हैं वा करते हैं वह तो अतिचार नहीं है परंतु व्यापारको छोड-कर अन्य किसी भी काममें हार जीतकी इच्छा रखकर परस्परकी ईर्ष्यासे उस कामको करना जूआ खेलनेका अतिचार है ॥१२०॥ जैसे मैं यहांसे इस स्थानसे दौडना प्रारंभ करता हूं तू भी मेरे साथ दौड लगा। हम दोनोंमेंसे जो मैं आगे निकल जाऊंगा तो तुझसे अपनी यह इच्छा पूरी कर लूंगा। भावार्थ–तुझसे इतने रुपये ले लूंगा या यह पदार्थ ले लूंगा, इसीप्रकार यदि तू आगे निकल जायगा तो मैं तुझे इतने रुपये दूंगा या यह पदार्थ दे दूंगा। इसप्रकारकी शर्त लगाकर दौडना या और कोई ऐसा ही काम करना जूआका अतिचार है ॥ १२१॥ इसीप्रकार

महंत—अरे मूर्ख हमारे जैसे योगी कहीं चोरी किया करते हैं परन्तु जब कभी जूएमें हार कर सब धन चला जाता है और जूआ खेलना छूटता नहीं तब लाचार होकर चोरी ही करनी पडती है।

राजा—आप जूआ भी खेलते हैं ?

महंत—हां इसमें कुछ हानि नहीं है यथा राजा तथा प्रजा।

राजा यह सुनने होसे चौंका और मस्तक नवा कर कहने लगा कि महाराज खेलता तो मैं भी हूं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये सब व्यसन इस एक जूआसे ही होते हैं। मैं आजसे इस जूआका त्याग करता हूं।

महाराज ! आप सब जानते हैं आपको भविष्य भी मालूम है अतएव कृपाकर यह और बतला दीजिये कि मेरे पुराने दो मंत्री देश छोड़कर कहां चले गये हैं वे कहां हैं उनके बिना इस राज्यकी हो दुर्गति हो गई है।

अन्तमें क्षमा प्रार्थनाके बाद वे दोनों मंत्री अपने पद पर नियुक्त हुए। राजाने उन दुष्टोंका साथ छोड़ दिया और राज्यकी व्यवस्था उत्तम रीतिसे होने लगी।

इससे सिद्ध होता है कि जूआ सब व्यसनोंका राजा है।

योऽप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञिकाः । क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥ १२२ ॥ मांसस्य भक्षणे दोषाः प्रागेवात्र प्रपश्चिताः । पुनरुक्तभयाद्भूयो नीता नोद्देश-प्रक्रियाम् ॥ १२३ ॥ कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् । प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥ १२४ ॥ मैरेयमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः । ततोऽघ वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥ १२५ ॥ प्रागवदत्र विशेषोऽस्ति महानप्यत्रिनन्दिनः । सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषक्षतिर्यथा ॥ १२६ ॥ प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्र-

ऐसे ही ऐसे और भी कितने ही जूआके अतिचार हैं। जिन गृहस्थोंने जूआ खेलनेका त्याग कर दिया है उनको ऐसे जूआके अतिचारोंका उसी समय त्याग कर देना चाहिए ॥ १२२ ॥

मांसभक्षणके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं इसलिये पुनरुक्त दोषके भयसे यहांपर उनका वर्णन नहीं किया है। जिस कथनको एक बार कह दिया जाता है उसी कथनको फिर दुबारा कहना पुनरुक्त दोष कहलाता है। कवियोंके लिये यह बडा भारी दोष है इसी दोषके डरसे यहांपर मांसभक्षणके दोष नहीं दिखलाये हैं क्योंकि इसके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं ॥ १२३ ॥ मांसभक्षणमें प्रवृत्ति होना मांसकर्म कहलाता है और मांसभक्षणमें आसक्त होना सो मांसभक्षण नामका सबसे बडा व्यसन कहलाता है । जब कि मांसभक्षण-की प्रवृत्ति ही त्याज्य है, त्याग करने योग्य है, फिर भला आसक्तिकी तो कथा ही क्या है ? अर्थात् मांसभक्षणमें कभी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये फिर भला मांसभक्षणका व्यसन तो दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥१२४॥

इसीप्रकार मद्य वा शराबका त्याग कर देना चाहिए इसी बातको पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। यदि इस समय फिर कहा जायगा तो पिष्टपेषण दूषण होगा अर्थात् जिसप्रकार पिसे हुएको फिर पीसना व्यर्थ है उसीप्रकार शराबके दोष पहले लिख चुके हैं अब फिर लिखना व्यर्थ है ॥ १२५ ॥ यद्यपि विशेष कहनेकी यहांपर कुछ विवक्षा नहीं है तथापि मूलगुणोंमें जो मांसका त्याग कराया है उससे यहांपर कुछ विशेषता है । जहां किसीका सामान्य लक्षण कहा जाता है वहांपर उसका विशेष भी अवश्य होता है । जिसका सामान्य लक्षण नहीं होता उसका विशेष भी नहीं होता। जब पहले उसको सामान्य रीतिसे त्याग करा चुके हैं तो फिर विशेष रीतिसे त्याग करानेकी भी अवश्य आवश्यकता होती है। वही विशेष त्याग यहांपर कराया गया है ॥ १२६ ॥ शराब पीनेकी

मासक्तिर्व्यसनं महत् । त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥ तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽप्यघकारणम् । स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥ १२८ ॥ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥ तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोर्थं यततां नृणाम् । मद्यमांसादि दोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥ १३० ॥ आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्यान्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥ उक्तं च । याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् । नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते

क्रिया करना शराबकी प्रवृत्ति कहलाती है और उसमें अत्यंत आसक्त होना व्यसन कहलाता है । जब उसकी प्रवृत्तिका ही त्याग कराया जाता है तो फिर उसमें आसक्त होनेका त्याग तो अवश्य करना चाहिए ॥ ११७ ॥ इसलिए अधिक कहनेसे कुछ लाभ नहीं है शराबकी गंध भी महापाप उत्पन्न करनेवाली है । शराबका नाम भी स्मरणमात्रसे धर्मका नाश हो जाता है फिर भला उस शराबको किसी काममें लाने वा पीनेसे तो धर्मकी रक्षा कभी हो ही नहीं सकती ॥ १२८ ॥

जो स्त्री केवल धनके लिये पुरुषका सेवन करती है उसको वेश्या कहते हैं ऐसी वेश्याएं संसारमें प्रसिद्ध हैं । उन वेश्याओं को दारिका, दासी, वेश्या वा नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ १२९ ॥ जो मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं और मद्य मांस आदिके समस्त दोषोंको त्याग कर देना चाहते हैं उनको इस वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। ऐसे पुरुषोंके लिये पूर्णरूपसे वेश्या सेवनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। भावार्थ—वेश्या सेवन करनेसे न तो मद्य मांसके दोष दूर हो सकते हैं और न आत्माका कल्याण हो सकता है। इसलिये इन दोनोंकी इच्छा करनेवालोंको वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । ॥ १३ ॥ वेश्या सेवन करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्योंको नरकादिक दुर्गतियोंमें पडना पडता है यदि इन परलोकके दुःखोंकी उपेक्षा भी करें तो जिनका हृदय वेश्या सेवनमें लीन हो रहा है उनको इस जन्ममें ही निश्चयसे नरककी अनेक यातनाएं वा अनेक दुःख भोगने पडते हैं । उनके लिये यह लोक ही यह जन्म ही नरक बन जाता है । ॥ १३१ ॥ लिखा भी है—

लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम् ॥ ९ ॥ रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः । वेश्याभिर्यदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥ प्रसिद्धं बहुभिस्तस्या प्राप्ता दुःखपरंपराः । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥ १३२ ॥ यावान् पापभरो याद्दग्दारिका दरिकर्मणः । कविनापि न वा तावान्

या खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठा क्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥ १ ॥
रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः ।
वेश्याभियदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ २ ॥

अर्थ—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिये प्रेम करती है अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा बिना मनके नीच लोगोंकी लारको भी रात दिन चाटती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि वेश्याको छोडकर संसारमें और कोई नरक नहीं है। वेश्या ही घोर नरक है ॥ १ ॥ यह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है अर्थात् जिस प्रकार धोबीकी शिलापर ऊंच नीच अनेक घरोंके बुरेसे बुरे मैल आकर बहते हैं उसी प्रकार वेश्याके शरीरपर भी ऊंच नीच अनेक पुरुषोंके घृणित-से घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मल आकर बहते हैं अथवा जिस प्रकार धोबीकी शिला बुरसे बुरे मल मूत्र आदिके संसर्गसे स्पर्श करने योग्य नहीं रहती उसी प्रकार निन्दनीय और अपवित्र मलोंके संसर्गसे वेश्या भी स्पर्श करने योग्य नहीं होती। इस प्रकारसे भी वह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है इसके सिवाय वह वेश्या कुत्तेके मुंहमें लगे हुए हड्डीके खप्परके समान आचरण करती रहती है अर्थात् जिस प्रकार उस खप्परको चबानेवाला कुत्ता उस खप्परको चबाता है और उसके चबानेसे जो मुंहके भीतरी गलफड़ों-से रुधिरकी धारा बहती है उसको वह कुत्ता समझता है यह मीठी मीठी रुधिरकी धारा इस खप्परसे ही निकली

मासक्तिर्व्यसन महत् । त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥ तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽनर्थकारणम् । स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥ १२८ ॥ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥ तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोर्थं यततां नृणाम् । मद्यमांसादि दोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥ १३० ॥ आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतन नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥ उक्तं च । याः खादन्ति पल पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् । नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते

क्रिया करना शराबकी प्रवृत्ति कहलाती है और उसमें अत्यंत आसक्त होना व्यसन कहलाता है । जब उसकी प्रवृत्तिका ही त्याग कराया जाता है तो फिर उसमें आसक्त होनेका त्याग तो अवश्य करना चाहिए ॥ ११७ ॥ इसलिए अधिक कहनेसे कुछ लाभ नहीं है शराबकी गंध भी महापाप उत्पन्न करनेवाली है । शराबका नाम भी स्मरणमात्रसे धर्मका नाश हो जाता है फिर भला उस शराबको किसी काममें लाने वा पीनेसे तो धर्मकी रक्षा कभी हो ही नहीं सकती ॥ १२८ ॥

जो स्त्री केवल धनके लिये पुरुषका सेवन करती है उसको वेश्या कहते हैं ऐसी वेश्याएं संसारमें प्रसिद्ध हैं । उन वेश्याओं को दारिका, दासी, वेश्या वा नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ १२९ ॥ जो मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं और मद्य मांस आदिके समस्त दोषोंको त्याग कर देना चाहते हैं उनको इस वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। ऐसे पुरुषोंके लिये पूर्णरूपसे वेश्या सेवनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है । भावार्थ—वेश्या सेवन करनेसे न तो मद्य मांसके दोष दूर हो सकते हैं और न आत्माका कल्याण हो सकता है । इसलिये इन दोनोंकी इच्छा करनेवालोंको वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । ॥ १३ ॥ वेश्या सेवन करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्योंको नरकादिक दुर्गतियोंमें पडना पडता है यदि इन परलोकके दुःखोंकी उपेक्षा भी करें तो जिनका हृदय वेश्या सेवनमें लीन हो रहा है उनको इस जन्ममें ही निश्चयसे नरककी अनेक यातनाएं वा अनेक दुःख भोगने पडते हैं । उनके लिये यह लोक ही यह जन्म ही नरक बन जाता है । ॥ १३१ ॥ लिखा भी है—

निवृत्त्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ॥ १४३ ॥ स्रक्चंदनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये । भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी ॥ १४४ ॥ आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरिजन्मिनः । पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा नवा क्वचित् ॥ १४५ ॥ हिंसानन्देन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम् । नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो

प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होता है। इसलिये वह अनर्थदंड कभी नहीं हो सकता ? ॥ १४१-१४२ ॥ उत्तर—परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रमादकी अधिकता होनेसे अनुभाग-बंध की अत्यंत तीव्रता हो जाती है और प्रमादको दूर करनेके लिये ही समस्त व्रत पाले जाते हैं। भावार्थ—कर्मोंमें जो फल देनेकी शक्ति पडती है उसको अनुभागबंध कषायोंसे होता है तथा कषाय पंद्रह प्रमादोंमें शामिल हैं इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रमादकी हीनाधिकतासे ही अनुभागबंधकी हीनाधिकता होती है। शिकार खेलनेमें कषायोंकी अत्यंत तीव्रता है जानवर वा पशुओंके मारनेकी तीव्र लालसा होती है इसलिये शिकार खेलनेसे अशुभ कर्मोंमें अत्यंत तीव्र फल देनेकी शक्ति पडती है। इसलिये शिकार खेलना भोगोपभोगकी सामग्री नहीं है किन्तु महाप्रमादरूप है ॥ १४३ ॥ माला चन्दन स्त्री आदिके सेवन करनेमें सुखकी प्राप्तिके लिये केवल भोगोपभोग सेवन करनेके भाव किये जाते हैं तथा उनके सेवन करनेसे सुख मिलता भी है और उसमें जीवहिंसा होती है वह प्रसंगानुसार होती है । भावार्थ—चन्दन माला स्त्री वस्त्र आभरण आदिके सेवन करनेमें केवल उनके सेवन करनेके भाव होते हैं हिंसा करनेके परिणाम नहीं होते परंतु शिकार खेलनेमें अनेक प्राणियोंकी हिंसा करनेके ही परिणाम होते हैं। शिकार खेलनेके लिये जब घरसे निकलता है तब पशु पक्षियों-के मारनेके परिणामोंको लेकर ही घरसे निकलता है। तदनंतर उसके कर्मोंके उदयके अनुसार भोगपभोगकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती । भावार्थ—शिकार खेलनेवाला प्राणियोंको मारनेके ही अभिप्रायसे जाता है परंतु यह बात दूसरी है कि उसके हाथसे कोई जीव मरे या न मरे उसके परिणाम हिंसारूप ही रहते हैं ॥ १४४-१४५ ॥ शिकार खेलना हिंसामें आनंद मानना है और हिंसामें आनंद मानना रौद्रध्यान है तथा ऐसे रौद्रध्यानसे प्राणियोंको नरकायुका ही बंध होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें वर्णन किया है ॥ १४६ ॥ इसलिये मानना

म्मात्राल्पदोषतः। द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारणं धर्मध्वंसकृत् ॥ १३५ ॥ सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया। दोषः सर्वप्रसिद्धोऽत्र वावदूकतया कृतम् ॥ १३६ ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रतवर्तिनः। निर्देक्ष्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥ १३७ ॥ ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः सङ्क्षेपादक्षप्रत्ययात्। आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शस्यते ॥ १३८ ॥ अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञके। अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥ १३९ ॥ तत्तत्रावसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात्। प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं वक्तुमर्हति ॥ १४० ॥ ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र या क्रियाः। आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथाविधम् ॥ १४१ ॥ यथा स्रक्चंदनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम्। सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियापि च ॥ १४२ ॥ मैवं तीव्रानुभागस्य बन्धः प्रमादगौरवात्। प्रमादस्य

यह वेश्या सेवन ही है और धर्मका नाश करनेवाला यह वेश्या सेवन ही है ॥ १३५ ॥ वेश्या सेवनके दोषोंको जान लेना अत्यंत सुगम है इसीलिये ग्रंथकारने इसके दोष विस्तारके साथ वर्णन नहीं किये हैं। इसके सिवाय इस वेश्या सेवनके दोष बालगोपाल तक सब लोगोंमें प्रसिद्ध हैं इसीलिये व्यर्थ ही अधिक कहनेसे कोई लाभ नहीं है ॥ १३६ ॥ इस वेश्या सेवनके त्यागरूप चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोंके लिये इस वेश्या सेवनके त्यागमें भी कितने ही अतिचार लगते हैं। जिनको हम समयानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते समय वर्णन करेंगे ॥ १३७ ॥ इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले दोषोंका वर्णन कर अत्यंत संक्षपसे वेश्या सेवनके त्यागका वर्णन किया। अब आगे शिकार खेलनेका त्याग करना भी अत्यंत प्रशंसनीय है इसलिये उसका वर्णन करते हैं ॥ १३८ ॥

यद्यपि शिकार खेलना बाह्य अनर्थ क्रियाओंके समान है। इसलिये उसका त्याग अनर्थदण्डत्याग नामके गुणव्रतमें अंतर्भूत हो जाता है ॥ १३९ ॥ तथा अनर्थदंड त्यागका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका भी वर्णन करेंगे तथापि प्रसंग पाकर थोडासा वर्णन यहां भी कर देते हैं ॥ १४० ॥ प्रश्न—भोगोपभोगोंके सिवाय जो क्रियाएं की जाती हैं उनको अनर्थदंड कहते हैं परंतु शिकार खेलनेसे आत्माको आनंद प्राप्त होता है इसलिये शिकार खेलना अनर्थदंड नहीं है किन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियां, वस्त्र आभरण भोजन आदि समस्त पदार्थ आत्माको सुख देनेवाले हैं आत्माको सुख देनेके लिये काममें लाये जाते हैं उसी

वंवापि वक्तुं च शक्यते ॥ १३३ ॥ आस्ता च तद्दतादत्र चित्रकादिरुजो नृणाम्। नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥ १३४ ॥ न वाच्यमेकमेवैतत्ताव-

है उसीप्रकार वेश्या सेवन करनेवाला अपने धनकी हानि करता है अपने शरीरकी हानि करता है और फिर भी उसे वेश्याके सेवन करनेसे आनन्द मानता है। इसप्रकार जो कुत्तेके मुंहमें लगा हुआ खप्पर काम करता है वही काम वेश्या करती है इसलिए वेश्या कुत्तेके मुंहमें लगे हुए खप्परके समान समझनी चाहिए। ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते हैं वे साथ ही साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं। भावार्थ—ऐसी बेश्याका सेवन करनेवाले पुरुष अवश्य ही नरक जाते हैं इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है इस वेश्या सेवनमें आसक्त होनेके कारण अनेक लोगोंने अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं और जन्म जन्मान्तर तक दुःख पाये हैं सो शास्त्रमें प्रसिद्ध ही हैं। जैसे अत्यंत प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक प्रकारके दुःख सहे थे ॥ १३२ ॥ इस संसारमें वेश्याएं अपनी वेश्यावृत्तिसे जितने पाप उत्पन्न करती हैं उन सबको कवि भी नहीं कह सकते फिर भला औरोंकी तो बात ही क्या है ॥ १३३ ॥ वेश्या सेवन करनेसे मनुष्योंको इसी जन्ममें गर्मी उपदंश आदिके अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं यदि उनको न भी गिना जाय तो भी यह मनुष्य उस वेश्या सेवनके महापापसे अनेक जन्मों तक नरकादिक दुर्गतियोंके परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले अत्यंत घोर दुःख सहता रहता है ॥ १३४ ॥ वेश्या सेवन करनेवाला जन्म जन्म तक नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख सहता रहता है उसको यही एक दुःख भोगना पडता है यह बात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि ऐसा कहनेसे वेश्या सेवनमें थोडा दोष सिद्ध होता है। परंतु वेश्या सेवन करना सबसे बडा महा दोष है। जूआ खेलनेके व्यसनमें लीन होनेका कारण

१ लिखा भी है—

दर्शनाद्‌ हरते चित्तं स्पर्शनाद्‌ हरते बलम्। सेवनाद्‌ हरते वीर्यं वेश्या प्रत्यक्षराक्षसी ॥

अर्थात्—यह वेश्या देखनेमात्रसे चित्तको हरण कर लेती है स्पर्श करने मात्रसे बलको हर लेती है और सेवन-करनेसे वीर्य वा शक्तिको हरण कर लेती है इसलिये कहना चाहिये कि यह वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी है।

लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम् ॥ १ ॥ रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः । वेश्याभिर्यदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥ प्रसिद्ध बहुभिस्तस्या प्राप्ता दुःखपरंपराः । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥ १३२ ॥ यावान् पापभरो यादृग्दारिका दरिकर्मणः । कविनापि न वा तावान्

या खादन्ति पलं पिवन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठा क्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥ १ ॥
रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः ।
वेश्याभियदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ २ ॥

अर्थ—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराव पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिये प्रेम करती है अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा विना मनके नीच लोगोंकी लारको भी रात दिन चाटती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि वेश्याको छोडकर संसारमें और कोई नरक नहीं है। वेश्या ही घोर नरक है ॥ १ ॥ यह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है अर्थात् जिस प्रकार धोबीकी शिलापर ऊंच नीच अनेक घरोंके बुरेसे बुरे मैल आकर वहते हैं उसी प्रकार वेश्याके शरीरपर भी ऊंच नीच अनेक पुरुषोंके घृणित-से घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मल आकर बहते हैं अथवा जिस प्रकार धोबीकी शिला बुरसे बुरे मल मूत्र आदिके संसर्गसे स्पर्श करने योग्य नहीं रहती उसी प्रकार निन्दनीय और अपवित्र मलोंके संसर्गसे वेश्या भी स्पर्श करने योग्य नहीं होती। इस प्रकारसे भी वह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है इसके सिवाय वह वेश्या कुत्तेके मुंहमें लगे हुए हड्डाके खप्परके समान आचरण करती रहती है अर्थात् जिस प्रकार उस खप्परको चवानेवाला कुत्ता उस खप्परको चबाता है और उसके चबानेसे जो मुंहके भीतरी गलफ्टों-से रुधिरकी धारा बहती है उसको वह कुता समझता है यह मीठी मीठी रुधिरकी धारा इस खप्परसे ही निकली

वधो हिंसा स्यादधर्मः स दुःखदः। नार्थाज्जीवस्य नाशोस्ति किन्तु बन्धोत्र पीडया ॥ १६७ ॥ ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम्। यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणाक्षतौ ॥ १६८ ॥ एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः। कर्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु ॥ १६९ ॥ आस्तां परस्वस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु। यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तु कः क्षमो नरः ॥ १७० ॥ चौर्यासक्तो नरोवश्यं नासिकादिक्षतिं लभेत्। गर्दभारोहणं चापि यद्वा पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥ १७१ ॥ उद्विग्नो विघ्नशंकी च भ्रान्तोनवस्थचित्तकः। न क्षणं तिष्ठते स्वस्थः परवित्तहरो नरः ॥१७२॥ परस्वहरणासक्तैः प्राप्ता दुःखपरंपराः। श्रूयते तत्कथा शास्त्राच्छि-

अनुरोधसे थोडासा यहां भी वर्णन कर देते हैं ॥ १६६ ॥ शास्त्रोंमें लिखा है कि प्राणियोंका बध करना हिंसा है तथा हिंसा करना ही अधर्म है और अत्यंत दुःख देनेवाला है। यद्यपि दूसरेका धन हरण करनेमें जीवका नाश नहीं होता है तथापि उसको जो मानसिक महासंताप और वेदना होती है उससे चोरी करनेवालोंको अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है और इसीलिये चोरी करनेवाले मनुष्योंको अवश्य महापाप उत्पन्न होता है क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरनेमें दुःख होता है वैसा ही दुःख धनके नाश हो जानेपर होता है ॥ १६७-१६८ ॥ ऊपर लिखे अनुसार चोरी करनेके महा दोषोंको समझ कर दर्शनप्रतिमा धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोंको दूसरेकी स्त्री वा दूसरेका धन हरण करनेके लिये कभी भी अपनी बुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥ १६९ ॥ दूसरेका धन हरण करनेसे वा चोरी करनेसे जो नरकादि दुर्गतियोंमें महा दुःख होता है वह तो होता ही है किंतु ऐसे लोगोंको इस जन्ममें ही जो दुःख होते हैं उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता ॥ १७० ॥ जो मनुष्य चोरी करनेमें आसक्त रहता है पकडे जानेपर उसकी नाक काट ली जाती है वा हाथ काट लिये जाते हैं, उसे गधे पर चढाकर बाजारमें घुमाया जाता है और अंतमें उसे प्राणदंड दिया जाता है ॥ १७१ ॥ जो मनुष्य दूसरेका धन हरण करता है उसके चित्तमें सदा उद्वेग वा भय बना रहता है, उसे पदपदपर विघ्नोंकी शंका बनी रहती है, उसका हृदय हर समय इधर उधर घूमा करता है, उसका चित्त सदा डवांडोल रहता है और वह एक क्षण भी निराकुल नहीं रह सकता ॥ १७२ ॥ दूसरेके धन हरण करनेमें आसक्त रहनेवाले लोगोंने पहले जन्म जन्मांतर तक अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं। जिनकी कथाएं शास्त्रोंसे सुनी जाती हैं। जैसे शिवभूति

कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥ १५८ ॥ शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम् । इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥ १५९ ॥ हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः । प्राक्पदव्यामिवारूढः सर्वतोनर्थदण्डमुक् ॥ १६० ॥ व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् । अर्गलेवाऽव्रतादीना व्रतादीना सहोदरः ॥ १६१ ॥ अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः । तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावी चाप्यत्र सूत्रितः ॥ १६२ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः । यददत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥१६३॥ व्यसनं स्यात्तत्रासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः । यद्वा व्रतादिना क्षुद्रैः परित्यक्तुमशक्यता ॥१६४॥ तदेतद्व्यसनं नूनं निषिद्धं गृहमेधिनाम् । संसारदुःखभीरूणामशरीरसुखैषिणाम् ॥ १६५ ॥ तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामः पुरस्तादल्पविस्तरात् । उच्यतेनापि दिग्मात्रं सोपयोगि प्रसङ्गसात् ॥ १६६ ॥ उक्तः प्राणि-

ही हिंसा उत्पन्न होनेवाले कार्य पूर्णरूपसे अनर्थदंडोंका त्याग करनेवाले तथा पहली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाले चतुर गृहस्थको कभी नहीं करने चाहिए ॥ १५९-१६० ॥ इसप्रकार भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार शिकार खेलनेके दोष बतलाए। इन दोषोंके त्याग कर देनेसे सब अव्रत रुक जाते हैं और व्रतोंको अत्यंत सहायता पहुंचती है ॥ १६१ ॥

आगे चोरी करनेरूप व्यसनका त्याग करनेके लिए उपदेश देते हैं, क्योंकि चोरीका त्याग कर देना भी इस जीवके लिए कल्याणकारी है। यद्यपि चोरीका त्याग तीसरे अचौर्य अणुव्रतमें अंतर्भूत होता है तो भी व्यसनरूपसे त्याग करनेका यहां उपदेश दिया है ॥ १६२ ॥ अचौर्य महाव्रतको धारण करनेवाले पहलेके आचार्योंने चोरीका लक्षण करते हुए बतलाया है कि जो दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण कर लेना है वही चोरी है ॥१६३॥ उस चोरी करनेरूप कार्यमें अत्यंत आसक्त होना अथवा चोरी करनेमें वार बार प्रवृत्ति करना चोरीका व्यसन कहलाता है अथवा क्षुद्रपुरुष जो अचौर्य आदि व्रतोंको धारणकर चोरी आदिका त्याग नहीं कर सकते उसको भी चोरीका व्यसन कहते हैं ॥ १६४ ॥ जो संसारके दुःखोंसे भयभीत हैं और आत्मजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं ऐसे गृहस्थोंके लिए यह चोरीका व्यसन अवश्य ही त्याग करनेयोग्य बतलाया है अर्थात् व्रती गृहस्थोंको इस चोरीके व्यसनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १६५ ॥ आगे अचौर्य अणुव्रतका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका वर्णन करेंगे, परंतु यहां भी इसका थोडासा प्रसंग आ गया है इसलिए प्रकरणके

विनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥ १५३ ॥ तस्कारादिविघातार्थे स्थानेषु चण्डभीरुषु । योद्धुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥ १५४ ॥ गीतनादविवाहादिनाट्यशालादिवेश्मसु । हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्मसु ॥ १५५ ॥ न कर्तव्या मतिर्धीरै स्वप्नमात्रे मनागपि । केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥ १५६ ॥ गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् । युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥ १५७ ॥ तत्र गच्छन्न छिन्द्याद्वा तरुपर्णफलादिकान् । पद्भ्यां दोर्भ्यां न

उत्पन्न होनेवाले खेतोंमें, पशुओंके बांधनेके स्थानोंमें, दूसरोंके घरोंमें, जेलखानोंमें, बडे बडे मठोंमें, राजमहलोंमें वा और भी ऐसे ही ऐसे स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिए ॥ १५१-१५३ ॥ जिन स्थानोंमें चोर, डाकू, हत्यारे आदि महा अपराधी मनुष्योंको प्राणदंड दिया जाता हो ऐसे अत्यंत भयानक और भय उत्पन्न करनेवाले स्थानोंमें जहांपर युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले राजा सेनापति आदि लोग युद्ध कर सकें ऐसी युद्ध करनेयोग्य युद्धभूमिमें जिनमें गाना, नाचना, उत्सव, विवाह, नाटक आदि होते हों ऐसे स्थानोंमें जानेके लिए धीर वीर पुरुषको स्वप्नमें भी कभी बुद्धि नहीं करनी चाहिए, इसीप्रकार जिनमें बहुतसी हिंसा वा आरंभ होता हो ऐसे कूआ बावडी खुदाने आदिके कार्योंके करनेमें स्वप्नमें भी कभी अपनी थोडीसी बुद्धि भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसे स्थानोंमें जानेसे वा ऐसे स्थानोंको बनवानेसे केवल अशुभ कर्मोंका बंध ही होता है तथा मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे ही ऐसे स्थानोंमें जानेके लिए वा ऐसे काम करनेके लिए बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिए यह सब मोहकर्मका ही कार्य समझना चाहिए ॥ १५४-१५६ ॥ व्रती गृहस्थको जब कभी अपने कार्यके लिए भी कहीं जाना हो तो उसे शुद्ध ईर्यापथ पालन करनेके लिए अपने दोनों नेत्रोंसे शरीरप्रमाण पृथ्वीको देखते हुए जाना चाहिए ॥१५७॥ मार्गमें चलते हुए व्रती गृहस्थको अपने पैरोंसे छोटे छोटे पौधे, पत्ते वा फल नहीं तोडने वा काटने चाहिए तथा अपने दोनों हाथोंसे पानीपर चोट नहीं मारना चाहिए। भावार्थ—न तैरना चाहिए, न जलक्रीडा करनी चाहिए तथा और भी ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जिनसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवोंका घात होता हो ॥ १५८ ॥ इसीप्रकार ढेले पत्थर फेंकना, पत्थरोंसे पृथ्वीको कूटना, इधर उधर घूमना, केवल मनोविनोदके लिए कूदना, हिंसाका उपदेश देना इत्यादि विना प्रयोजनके व्यर्थ

जिनागमे ॥ १४६ ॥ ततोवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः । त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥ १४७ ॥ तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः । त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥ १४८ ॥ अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः । यानपास्य व्रतिकोपि निर्मलीभवति ध्रुवम् ॥ १४९ ॥ कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च । कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥ १५० ॥ पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च । सरित्तडागक्रीडादिसरःशून्यगृहादिषु ॥ १५१ ॥ शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु । कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥ १५२ ॥ एवमित्यादिस्थानेषु विना कार्यं न जातुचित् । कौतुकादि-

पडता है कि इस प्रकारकी हिंसा करनेमें अपने परिणाम रखना अवश्य ही अनर्थदंड है और इसीलिये समस्त संक्लेशरूप परिणामोंके त्याग करनेके पहले इस शिकार खेलनेका त्याग बडे प्रयत्नसे बडी सावधानीसे कर देना चाहिये ॥ १४७ ॥ शिकार खेलनेका अभ्यास करना शिकार खेलनेकी मनोकामना रखकर निशान मारनेका अभ्यास करना तथा और भी ऐसी ही ऐसी शिकार खेलनेकी साधनरूप क्रियाओंका करना भी सब इ ी शिकार खेलनेमें ही अंतर्भूत होता है इसलिये ऐसी क्रियाओंका, ऐसे अभ्यास करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि ऐसी क्रियाओंका त्याग करना भी कल्याण करने वाला है । यदि ऐसी हिंसारूप क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो फिर उन क्रियाओंसे दुःख देनेवाले अशुभ वा असाता वेदनीय कर्मोंका ही बंध होगा ॥ १४८ ॥ इस शिकार खेलनेके त्याग करनेरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो शिकार खेलनेके समान ही पाप उत्पन्न करने वाले हैं उन समस्त अतिचारोंका त्याग कर व्रती गृहस्थ भी अत्यंत निर्मल हो जाता है, इसलिए अपने व्रत निर्मल करनेके लिए अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १४९ ॥ विना किसी अन्य प्रयोजनके केवल क्रीडा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेके लिए इधर उधर नहीं घूमना चाहिए, किसी बावडी वा कूआके मार्गमें वा और भी ऐसे ही स्थानोंमें विना प्रयोजनके कभी नहीं घूमना चाहिए ॥१५०॥ जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको विना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिए वा केवल मन बहलानेके लिए पौधे फूल वृक्ष आदिके बगीचोंमें, बडे बडे वनोंमें, उपवनोंमें, नदियोंमें, सरोवरोंमें, क्रीडा करनेके छोटे छोटे पर्वतोंपर, क्रीडा करनेके लिए बनाए हुए तालाबोंमें, सूने मकानोंमें, गेहूं जौ मटर आदि अन्न

वत्वात्तदूरतात्तद्धि-नश्यति ॥ १८८ ॥ उक्तं च । मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् । मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिप्रणाशिनी ॥ ११ ॥ ननु यथा धर्मपत्न्यां येव दास्यां क्रियैव सा । विशेषानुपलब्धेश्च कथ मे.ोवधार्यते ॥ १८९ ॥ मैवं यतो विशेषोस्ति युक्तिस्वानुभवागमात् । दृष्टान्तस्यापि सिद्धत्वाद्धेतोः साध्यानुकूलतः ॥ १९० ॥ मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्य विषयसंज्ञिकम् । तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ॥ १९१ ॥ दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः ।

विषय सेवनकी तीव्र लालसा रहती है, इसीलिए परिणामोंकी शुद्धता नहीं रह सकती तथा परिणामोंमें तीव्र कषायोंका संचार होनेसे वा कामसेवनकी तीव्र लालसा होनेसे तीव्र पापकर्मोंका बंध होता है।

शंका–विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमें की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है उन दोनोंके साथ होनेवाली क्रियाओंमें कोई किसी प्रकारका अंतर नहीं है, फिर भला दासी और धर्मपत्नीमें भेद क्यों बताया जाता है। जिसप्रकार उनके साथ होनेवाली क्रियामें कोई भेद नहीं है उसीप्रकार उन दोनोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए ॥ १८९ ॥ समाधान–परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दासी और धर्मपत्नीमें बहुत भारी अंतर है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है, आगमसे भी सिद्ध है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध होती है। इसके लिए अनेक दृष्टांत मिलते हैं और इस साध्यको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतु मिलते हैं ॥ १९० ॥ केवल यही नहीं समझना चाहिए कि कर्मबंध होनेमें वा परिणामोंमें शुभ अशुभपना होनेमें स्पर्श करना वा विषय सेवन करना आदि बाह्य वस्तु ही कारण है। किंतु जीवोंके वैसे परिणाम होना ही निश्चयसे कारण हैं। भावार्थ–बाह्य क्रिया एकसी होनेपर भी सबके परिणाम एकसे नहीं होते, इसीप्रकार धर्मपत्नीके सेवन करनेमें जीवोंके मंद परिणाम होते हैं इसलिए उनसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता, किंतु दासीके सेवन करनेमें विषय सेवन करनेकी तीव्र लालसा होती है इसीलिए उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध होता है। अतएव दासी और धर्मपत्नीमें बहुत भारी भेद है ॥ १९१ ॥ संसारमें भी देखा जाता है कि जो जल स्वरूपसे एकरूप है अथवा एक ही है वह एक ही जल चन्दनके पेडमें देनेसे चन्दनरूप हो जाता है, नीममें देनेसे कडवा हो जाता है, धतूरेमें देनेसे विषरूप हो जाता है और ईखमें देनेसे मीठे गन्नेरूप परिणत हो जाता है। भावार्थ—जिसप्रकार एक ही

सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥१८३॥ आत्मज्ञातिः परज्ञातिः सामान्यवनिता तु या,। पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥ १८४ ॥ चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः । लौकिकोक्तिविशेषोपि न भेदः पारमार्थिकः ॥ १८५ ॥ भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् । ग्रहणस्याविशेषेपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥ १८६॥ अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन । येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपोघसञ्चयः ॥ १८७ ॥ भावेषु यदि शुद्धत्व हेतुः पुण्यार्जनादिषु । एव वस्तुस्वभा-

ये दोनों ही केवल उपभोग सेवन करनेके ही काम आती है। इसलिए यद्यपि लौकिक दृष्टिके अनुसार उनमें कुछ थोडासा भेद है तथापि परमार्थसे वा यथार्थसे देखा जाय तो उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है । भावार्थ—भोगपत्नी एक प्रकारसे दासीके ही समान है (क्योंकि न तो उसे किसी भी धर्मकार्यमें शामिल होनेका अधिकार है और न उसे गोत्रकी रक्षा करनेका अर्थात् उसकी संतानको घरकी जायदाद वा धनके स्वामी बननेका अधिकार है) ॥१८५॥ धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए क्योंकि यद्यपि विवाहिता होने से वह ग्रहण करनेयोग्य है तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसके सेवन करनेमें दोष ही है ॥ १८६ ॥ भोगपत्नीके सेवन करनेसे अनेक प्रकारके विशेष दोष उत्पन्न होते हैं जिनको कि भगवान सर्वज्ञदेव ही जानते हैं, क्योंकि यह नियम है कि दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वज्रलेपके समान पापोंका संचय होता है तथा भोगपत्नीको दासीके ही समान बतलाया है, इसलिए भोगपत्नीका सेवन करनेसे भी वज्रलेपके समान पापोंका संचय होता है ॥ १८७ ॥ यदि पुण्य उपार्जन करनेमें भावोंकी शुद्धता ही कारण है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही इसीप्रकार है तो फिर दासी वा उसके समान भोगपत्नीके साथ विषय सेवन करनेसे वह परिणामोंकी शुद्धता अवश्य नष्ट हो जाती है ॥ १८८ ॥ लिखा भी है—

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् । मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिप्रणाशिनी ॥

अर्थात् किस किस द्रव्यके संयोगसे कैसा कैसा गुण प्रकट होता है इस बातको मुनि ही जानते हैं । हम लोगोंके अल्पज्ञानमें यह बात नहीं आ सकती । देखो मक्खीके पेटमें चले जानेसे वमन हो जाता है परंतु उसकी विष्ठा वा बीट खा लेनेसे वमन रोग दूर हो जाता है । अतएव यह सिद्ध है कि दासी वा भोगपत्नीके सेवन करनेमें

पत्नीति सैव च। धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ १८० ॥ सूनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेधिकारवान्। स पिता तु परोक्षः स्यादैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥१८१॥ स सूनुः कर्मकार्येपि गोत्ररक्षादिलक्षणे। सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥ १८२ ॥ परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम्। भोगपत्नीति

ही यज्ञपूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्योंमें वा प्रत्येक धर्मकार्यमें साथ रह सकती है ॥ १८० ॥ उस धर्मपत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वही पिताके धर्मका अधिकारी होता है क्योंकि कभी कभी पिता तो परोक्ष हो जाता है। संन्यास धारण कर लेता है अथवा स्वर्गवासी हो जाता है तथा भाग्योदयसे कभी प्रत्यक्ष भी बना रहता है। भावार्थ—पिता परोक्ष हो वा प्रत्यक्ष हो अर्थात् चाहे स्वर्गवासी हो जाय वा संन्यास धारण कर ले अथवा प्रत्यक्ष बना रहे तथापि स्वजातिवाली धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही धर्मका और वंश वा गोत्रकी रक्षा का अधिकारी होता है अन्य बिजातीय भोगपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र न तो धर्मका अधिकारी होता है और न वंश चलानेका अधिकारी होता है ॥ १८१ ॥ वह धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त धर्मकार्योंमें अधिकारी होता है और गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें अर्थात् पुत्र उत्पन्न कर आगेके लिये गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें वा अपने समस्त घरका स्वामी बनाने वा समस्त गृहस्थधर्मकी रक्षा करनेरूप कार्यमें अधिकारी होता है क्योंकि धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त लोकका अविरोधी पुत्र है। अन्य जातिकी विवाहिता कन्यारूप पत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ऊपर लिखे कार्योंमें कुछ भी अधिकार नहीं रखता ॥ १८२ ॥

जो पिताकी साक्षीपूर्वक अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है क्योंकि वह स्त्री केवल भोगोपभोग सेवन करनेमें ही काम आती है अन्य किसी भी धर्मकार्यमें काम नहीं आती। ऊपर लिखा भी जा चुका है कि धर्मकार्योंमें तथा गोत्रकी रक्षा करने आदि कार्योंमें धर्मपत्नी ही साथ रह सकती है। भोगपत्नी नहीं। भोगपत्नी केवल भोगनेमें ही काम आती है अन्य किसी कार्यमें नहीं ॥१८३॥ इसप्रकार अपनी जाति और पर जातिके भेदसे स्त्रियां दो प्रकार हैं तथा जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री दासी वा चेटी कहलाती है, ऐसी दासी केवल भोगाभिलाषिणी होती है ॥ १८४ ॥ दासी और भोगपत्नी

वभूतिर्द्विजो यथा ॥ १७३ ॥ न केवल हि श्रूयन्ते दृश्यन्तेऽत्र समक्षतः। यतोद्यापि चुरासक्तो निग्रहं लभ्यते नृपात् ॥ १७४ ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चौर्यत्यागमनस्य च। तानवश्यं यथास्थाने ब्रूमो नातीवविस्तरात् ॥ १७५ ॥ अथान्ययोषिद्व्यसन दूरतः परिवर्जयेत्। आशीविषमिवासा यच्चरित्रं स्याज्जगत्त्रये ॥ १७६ ॥ तुर्याणुव्रते तस्यान्तर्भावः स्यादस्य लक्षणात्। लक्ष्यतेत्रापि दिग्मात्र प्रसङ्गादिह साम्प्रतम ॥ १७७ ॥ देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्। पत्नी पाणिगृहीता स्यातदन्या चेटिका मता ॥ १७८ ॥ तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा। आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात् ॥१७९॥ परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्म-

ब्राह्मणने चोरी करनेसे ही अनेक प्रकारके दुःख पाये थे ॥ १७३ ॥ चोरी करनेवालोंके दुःखोंकी कथाएं केवल सुनी ही नहीं जाती हैं किंतु इस समयमें भी प्रत्यक्ष देखी जाती हैं क्योंकि आजकल भी चोरी करनेवाले लोगोंको राज्यकी ओरसे अनेक प्रकारके कठोर दंड दिये जाते हैं ॥ १७४ ॥ इस चौर्यत्यागव्रतके कितने ही अतिचार हैं उनको भी समयानुसार अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ अवश्य वर्णन करेंगे ॥ १७५ ॥

अब आगे परस्त्री व्यसनके त्यागका वर्णन करते हैं।

जिन स्त्रियोंका चरित्र तीनों लोकोंमें सर्पके महाविषके समान प्रसिद्ध है ऐसी परस्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये तथा दूरसे ही कर देना चाहिये ॥ १७६ ॥ परस्त्रीत्याग व्रतका जो लक्षण है उससे यह व्रत चौथे अणुव्रतमें अंतर्भूत होता है तथापि इस समय प्रकरण पाकर यहांपर उसका थोडासा वर्णन करते हैं ॥ १७७ ॥ देव शास्त्र गुरुको नमस्कार कर तथा अपने भाई बंधुओंकी साक्षीपूर्वक जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह विवाहिता स्त्री कहलाती है। ऐसी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य सब पत्नियां दासी कहलाती हैं ॥ १७८ ॥ उसमें भी जो विवाहिता पत्नी है वह दो प्रकार है तथा उन दोनोंके लक्षण अलग अलग हैं। कर्मभूमिमें रूढिसे चली आई जो अलग अलग जातियां हैं उनमेंसे अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करना और अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना इस प्रकार अपनी जातिकी विवाहिता पत्नी और अन्य जातिकी विवाहिता पत्नीके भेदसे पत्नियोंके दो भेद हो जाते हैं ॥ १७९ ॥

अपनी जातिकी जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह धर्मपत्नी कहलाती है ऐसी धर्मपत्नी

चन्दनादिवनराजिं प्राप्य नानात्वमध्यगात् ।१९२। न च वाच्यमयं जीवः स्वायत्तः केवलं भवेत् । बाह्यवस्तु विनाश्रित्य जायते भावसन्ततिः ।१९३। ततो बाह्यनिमित्तानुरूपं कार्यं प्रमाणतः । सिद्धं तत्प्रकृतेऽप्यस्मिन्नस्ति भेदो हि लीलया ॥ १९४ ॥ अत्राभिज्ञानमप्यस्ति सर्वलोकाभिसम्मतम् । दासाः दास्याः सुता ज्ञेया तत्सुतेभ्योऽङ्गना ..

जल पात्रभेदसे अनेक प्रकारका परिणत हो जाता है उसीप्रकार धर्मपत्नी वा दासीमें एकसी क्रिया होनेपर भी पात्रभेदसे परिणामोंमें बडा भारी अंतर पड जाता है तथा परिणामोंमें अंतर पडनेसे शुभ अशुभरूप कर्मबंधमें बडा भारी अंतर पड जाता है ॥ १९२ ॥ कदाचित् यह कहा जाय कि यह जीव शुभ अशुभरूप कर्मबंध करनेमें नितांत स्वाधीन है क्योंकि भाव वा परिणामोंकी परंपरा वाह्य पदार्थोंके आश्रय किए विना भी बराबर बनी ही रहती है अर्थात् परिणामोंके शुभ अशुभ होनेमें वाह्य पदार्थ कोई कारण नहीं है शुभ वा अशुभ परिणामोंको उत्पन्न करना सर्वथा जीवके आधीन है इसलिये चाहे दासीका सेवन किया और चाहे धर्मपत्नीका सेवन किया जाय उन दोनोंके सेवन करनेमें परिणामोंमें कोई अंतर नहीं पडता इसलिये दासी और धर्मपत्नीमें कोई भेद नहीं है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि परिणामोंमें शुभ अशुभपना वाह्य पदार्थोंके आश्रयसे ही होता है। वाह्य पदार्थोंका जैसा निमित्त मिलता है वैसे ही परिणाम बदलकर हो जाते हैं ॥१९३॥ इसलिये यही प्रमाण मानना चाहिये कि जैसा वाह्य पदार्थोंका निमित्त मिलता है उन्हींके अनुसार कार्यकी सिद्धि होती है। इसी न्यायके अनुसार इस प्रकरणमें भी दासी और धर्मपत्नीमें लीलापूर्वक वा बहुत ही सरल रीतिसे भेद सिद्ध हो जाता है ॥ १९४ ॥ इस विषयमें समस्त लोगोंके द्वारा माना हुआ ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि समस्त संसारके समस्त लोग यह मानते हैं कि दासीसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे दास कहलाते हैं और वे दास धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंसे सर्वथा भिन्न दूसरे प्रकारके ही कहलाते हैं। भावार्थ–धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्र पिताके बाद धर्मकार्यके भी स्वामी होते हैं और स्थावर जंगम संपत्तिके भी स्वामी होते हैं तथा आगे गोत्रकी रक्षा भी उन्हींसे होती है । दासीके पुत्रोंको न तो पिताके द्वारा अनुष्ठित देवपूजा वा पात्रदान देना आदि धर्मकार्य सौंपे जाते हैं, न वे स्थावर जंगम संपत्तिके अधिकारी होते हैं और न वे उस गोत्रकी रक्षा कर सकते हैं अतएव दासीसे उत्पन्न हुए पुत्र धर्मपत्नी-

दशाः ॥१९५॥ कृतं च बहुनोक्तेन सूक्तं सर्वविदाज्ञया । स्वीकर्तव्यं गृहस्थेन दर्शनव्रतधारिणा ॥१९६॥ भोगपत्नी निषिद्धा चेत्का कथा परयोषिताम् । तथाप्यत्रोच्यते

से उत्पन्न हुए पुत्रोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इससे भी धर्मपत्नी और दासीमें बडा भारी अंतर सिद्ध होता है ॥१९५॥ बहुत कहनेसे क्या ? भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार शास्त्रोंमें जो कुछ वर्णन किया है, जो व्रत बतलाये हैं वे सब दर्शनप्रतिमारूप व्रतको धारण करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करने चाहिए। अवश्य धारण करने चाहिए ॥ १९६ ॥ शास्त्रोंमें जब भोगपत्नीका सेवन करना ही निषिद्ध बतलाया है-त्याग करने

१ पहले कह चुके हैं अपनी जातिकी कन्याके साथ जो विवाह किया जाता है वह स्त्री धर्मपत्नी कहलाती है और अन्य जातिकी कन्याके साथ जो विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है। भोगपत्नी यद्यपि विवाहिता स्त्री है तथापि उसे केवल अन्य जातिकी कन्या होनेके कारण दासीके समान बतलाया है और इसीलिये उसके त्याग करनेका उपदेश दिया है। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं।

वर्तमान समयमें पश्चिमी सभ्यता एवं विद्यामें रंगे हुए धर्मशास्त्रके अजानकार लोगोंको कराले कुछ ऐसा वातावरण बह रहा है जिसमें बहते हुये तथा आर्ष मार्गानुकूल चली आई धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर शास्त्र बांचनेवाले तथा बड़े बड़े विद्यालयोंकी धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर धर्मशास्त्रकी शिक्षा देनेवाले और इसी कारण अपनेको धुरन्धर माननेवाले कुछ विद्वान् अंतर्जातीय विवाह वा विजातीय विवाहको (अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करनेको) धर्मशास्त्रके अनुकूल मानते हैं उन्हें ऊपर लिखे वचनोंसे यह निश्चय करलेना चाहिये कि अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना रखी हुई दासीके समान है क्योंकि वह भोगपत्नी हो सकती है धर्मपत्नी नहीं हो सकती तथा भोगपत्नी दासीके समान बतलाई है जैसा कि ऊपर १८५वें श्लोकमें लिखा है।

ऊपर यह भी बतलाया गया है कि जिस प्रकार दासीके पुत्रको किसी धार्मिक कार्य करनेका वा किसी भी प्रकारकी संपत्तिका भाग लेनेका अधिकार नहीं है उसी प्रकार भोगपत्नीके पुत्रको भी कोई अधिकार नहीं है। और तो क्या ? भोगपत्नीके पुत्रको गोत्रकी रक्षा करनेका भी अधिकार नहीं है क्योंकि ऊपर स्पष्ट शब्दोंमें लिखा गया है कि ये सब अधिकार धर्मपत्नीके पुत्रको ही हैं दासी वा भोगपत्नीके पुत्रको ये अधिकार नहीं है। इसलिये विजातीय विवाह वा अंतर्जातीय विवाह धर्मशास्त्रके सर्वथा विरुद्ध है और इसीलिये महापाप है। उसकी सन्तान दासीपुत्रके समान है उसको भगवान अरहंतदेवकी पूजा करनेका वा पात्र देनेका कोई अधिकार नहीं है इसीलिये अन्तर्जातीय विवाह वा विजातीय विवाह करना वा ऐसे विवाह करनेका उपदेश देना मुनिमार्ग वा मोक्षमार्गका लोप करना है जब उसकी सन्तानको भगवानकी पूजा करनेका भी अधिकार नहीं है तो फिर वही अंतर्जातीय विवाह गृहस्थधर्मका भी नाश करनेवाला है। इस प्रकार यह अंतर्जातीय विवाह धर्मका सर्वथा नाश करनेवाला है और इसीलिये महापापरूप है तथा नरक निगोदादिक दुर्गतियोंका खुला मार्ग है। इसमें कोई किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

किञ्चित्तत्स्वरूपाभिव्यक्तये ॥१९७॥ विशेषोस्ति मिथश्चात्र परत्वैकत्वतोपि च । गृहीता चागृहीता च तृतीया नगराङ्गना ॥१९८॥ गृहीतापि द्विधा तत्र यथाद्या जीवभर्तृका । सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका ॥१९९॥ चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्याःस एव हि । गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्वत् ॥२००॥ जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका । मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी ॥२०१॥ अस्याः संसर्गवेलायामिंगिते नरि वैरिभिः । सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद् ध्रुवम् ॥२०२॥ केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषा स्वलक्षणात् । नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥२०३॥ विख्यातो नीतिमार्गोयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः ।

योग्य बतलाया है फिर भला परस्त्रीके सेवन करनेकी तो बात ही क्या है। उसका त्याग तो अवश्य कर देना ही चाहिए और विना किसीके कहे सुने कर देना चाहिए। उसका त्याग करनेके लिए कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि प्रकरण पाकर उसका स्वरूप बतलानेके लिए यहांपर थोडासा उसका वर्णन करते हैं ॥ १९७ ॥ परस्त्रियां भी दो प्रकार हैं एक दूसरेके आधीन रहनेवाली और दूसरी स्वतंत्र रहनेवाली, जिनको गृहीता और अगृहीता कहते हैं। इनके सिवाय तीसरी वेश्या भी परस्त्री कहलाती है ॥१९८॥ उनमें भी गृहीता वा विवाहिता स्त्रियां दो प्रकारकी हैं एक ऐसी स्त्रियां जिनका पति जीता है तथा दूसरी ऐसी जिनका पति तो मर गया हो परंतु माता, पिता, भाई आदि जीते हों और उन्हींके यहां रहती हों अथवा जेठ देवरके यहां रहती हों ॥ १९९ ॥ इनके सिवाय जो दासी हो जो कि दासीके नामसे प्रसिद्ध हो और उसका पति वही घरका स्वामी हो तो वह भी गृहीता कहलाती है। यदि वह दासी किसीकी रक्खी हुई न हो, स्वतंत्र हो तो वह गृहीता दासीके समान ही अगृहीता कहलाती है ॥२००॥ जिसके भाई बंधु जीते हों परंतु पति मर गया हो ऐसी विधवा स्त्रीको भी गृहीता ही कहते हैं। यदि ऐसी विधवा स्त्रीके भाई बंधु आदि सब मर जांय और वह स्वतंत्र रहती हो तो उसको अगृहीता कहते हैं ॥ २०१ ॥ यदि ऐसी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करते समय कोई शत्रु राजाको खबर कर दे तो इस महा अपराधके बदले उस मनुष्यको राज्यकी ओरसे भी कठोर दंड मिलता है ॥ २०२ ॥

कोई कोई लोग यह भी कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति भी मर जाय और भाई बंधु आदि भी सब मर जांय तो भी अगृहीता नहीं कहलाती किंतु गृहीता ही कहलाती है क्योंकि गृहीताका जो (किसीके द्वारा ग्रहण

वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥ २०४ ॥ तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या । यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥ २०५ ॥ तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीतागृहीतभेदतः । सामान्यवनिता या स्याद् गृहीतान्तर्भावतः ॥ २०६ ॥ एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः । पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशा-

की हुई) लक्षण बतलाया है वह उसमें घटित होना है क्योंकि नीतिमार्गका उलंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की जाती है इसलिए वह गृहीता ही है ॥ २०३ ॥ नीतिमार्गका उलंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की हुई समझी जाती है इसका भी कारण यह है कि संसारमें यह नीतिमार्ग प्रसिद्ध है कि संसार भरका स्वामी राजा होता है। वास्तवमें देखा जाय तो जिसका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता ही है ॥ २०४ ॥ जो लोग इस नीतिको मानते हैं उनके मतके अनुसार उसको गृहीता ही मानना चाहिये। चाहे वह माता पिताके साथ रहती हो या अकेली रहती हो। उनके मतमें अगृहीता उसको समझना चाहिये जिसके साथ संसर्ग करनेसे राजादिका डर न हो ॥२०५॥ ऐसे लोगोंके मतमें इच्छानुसार रहनेवाली (कुलटा) स्त्रियां दो प्रकारकी ही समझनी चाहिये एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। जो सामान्य स्त्रियां हैं वे सब गृहीतामें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिये (तथा वेश्याएं अगृहीता समझनी चाहिये) ॥ २०६ ॥ अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब परस्त्रियोंके भेदोंको समझ कर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिये ॥ २०७ ॥ जो कुलटा परस्त्री समस्त शास्त्रोंमें निषिद्ध है, स्थान स्थानपर उसके सेवन करनेका

१ इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार भाई बंधु पिता माता वा देवर जेठ श्वसुर सासु आदि अपनी विधवा भगिनी वा बहूकी रक्षा करनेके कारण वा उसका भरण पोषण करनेके कारण उस विधवाके स्वामी कहलाते हैं अथवा वह विधवा उनके आश्रय रहती है इसलिये भी वे स्वामी कहलाते हैं। इसी प्रकार अपने राज्यकी समस्त विधवाओंकी रक्षा करना उनके धर्मकी रक्षा करना तथा समयानुसार भरण पोषण करना राजाका काम है। इसी लिये कहा गया है कि नीति मार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा ग्रहण की हुई समझी जाती है।" इससे सिद्ध होता है कि उन विधवाओंकी रक्षा करना अथवा उनके शील धर्मकी रक्षा करना राजाका मुख्य कर्तव्य है। जहां ऐसा राजा होता है वहां परकी माता पिता भाई बंधु वा सासु ससुर देवर जेठ आदिसे रहित अकेली विधवाएं भी गृहीता ही समझनी चाहिये क्योंकि नीति मार्गका उल्लंघन न करनेवाला वह राजा ही माता पिताके समान उनके धर्मकी रक्षा करता है।

लिमिः ॥२०७॥ या निषिद्धास्ति शास्त्रेषु लोकेत्रातीव गर्हिता । सा श्रेयसी कुतोन्यस्त्री लोकद्वयहितैषिणाम् ॥२०८॥ त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रतिं तृष्णोपशान्तये । विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम ॥ २०९ ॥ श्रूयन्ते बहवो नष्टाः परस्त्रीसङ्गलालसाः । ये दशास्यादयो नूनमिहामुत्र च दुःखिताः ॥ २१० ॥ श्रूयन्ते न परं तत्र दृश्यन्तेऽद्यापि केचन । रागाङ्गारेषु संदग्धाः दुःखितेभ्योपि दुःखिताः ॥ २११ ॥ आस्तां यन्नरके दुःखं भावतीव्रानुवेदिनाम् । जातं परांगनासक्ते लोहांगनादिलिंगनात् ॥ २१२ ॥ इहैवानर्थसन्दोहो यावानस्ति सुदुस्सहः । तावान्न शक्यते वक्तुमन्ययोषिन्मनेरितः ॥ २१३ ॥ आदावुत्पद्यते चिन्ता द्रष्टुं वक्तुं समीहते ।

निषेध किया है तथा जो इस संसारमें भी अत्यन्त निन्दनीय गिनी जाती है ऐसी परस्त्री इस लोक और परलोक दोनों लोकोंका हित चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करनेवाली किस प्रकार हो सकती है अर्थात् परस्त्री सेवन करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता ॥ २०८ ॥

इसलिए हे वत्स ! हे प्रिय ! परस्त्रीमें प्रेम करना अनेक आपत्तियोंका स्थान है तथा वह परस्त्री दोनों लोकोंके हितका नाश करनेवाली है यही समझकर अपनी तृष्णा वा लालसाको शांत करनेके लिये परस्त्रीमें प्रेम करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २०९ ॥ इस परस्त्री सेवनकी लालसा रखनेवाले रावण आदि बहुतसे महापुरुष नष्ट हो गये और उन्होंने इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें अनेक प्रकारके दुःख पाये ऐसा अनेक शास्त्रोंमें सुना जाता है ॥ २१० ॥ परस्त्रीकी लालसा रखनेवाले पुरुष अनेक प्रकारसे दुःखी होते हैं यह बात केवल शास्त्रोंमें ही नहीं सुनी जाती किंतु आजकल भी देखी जाती है । आजकल भी ऐसे बहुतसे लोग हैं जो इस रागरूपी अंगारेकी अग्निसे जलकर अत्यन्त दुःखी लोगोंसे भी अधिक दुखी हो रहे हैं ॥ २११ ॥ परस्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाले लोगोंको उनकी तीव्र लालसाके कारण नरकमें गरम लोहेकी बनी स्त्रियोंके आलिंगन करानेसे जो महा दुःख होता है वह तो होता ही है किन्तु इस लोकमें भी परस्त्री सेवन करनेवालोंको जो अत्यन्त असह्य दुःख और अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं वे भी कहे नहीं जा सकते ॥ २१२-१३ ॥ देखो, परस्त्री सेवन करनेवालोंके सबसे पहले चिंता उत्पन्न होती है फिर उस परस्त्रीको देखनेकी लालसा उत्पन्न होती है, फिर उसके साथ बातचीत करनेकी लालसा होती है, फिर उसका हृदय भ्रममें पड जाता है और फिर हृदयमें

ततः खान्तभ्रमस्तस्मादरतिर्जायते ध्रुवम् ॥ २१४ ॥ ततः क्षुत्तृड्विनाशः स्याद्वपुःकार्श्यं ततो भवेत् । ततः स्यादुद्यमाभावस्ततः स्याद्द्रविणक्षतिः ॥ २१५ ॥ उपहास्यं च लोकेस्मिन् ततः शिष्टेष्वमान्यता । इंगिते राजदण्डः स्यात्सर्वस्वहरणात्मकः ॥ २१६ ॥ भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचेतसः । चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोपि भवेद् ध्रुवम् ॥ २१७ ॥ यद्वाऽमुत्रेह यद्दुःखं यावद्याहक् च दुःसहम् । अन्यस्त्रीव्यसनासक्तः सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥२१८॥ अस्मदीयमत चैतद् दोषवित्तद्धि मुञ्चति । न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञातदोषोपि मूढधीः ॥ २१९ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमामहाधिकारमध्ये मूलगुणाष्टकप्रतिपालसप्तव्यसनरोधवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

भ्रम उत्पन्न होनेसे अवश्य ही अरुचि हो जाती है अर्थात् किसी भी काममें उसका चित्त नहीं लगता ॥२१४॥ अरुचि उत्पन्न होनेसे उसकी भूख प्यास सब नष्ट हो जाती है, भूख प्यास नष्ट होनेसे शरीर कृश हो जाता है, शरीर कृश होनेसे फिर वह मनुष्य उद्यम नहीं कर सकता, किसी भी प्रकारका व्यापार नहीं कर सकता और व्यापार न करनेसे उसके धनका नाश हो जाता है ॥ २१५ ॥

इसके सिवाय इस संसारमें उसकी हंसी होती है, संसारमें हंसी होनेसे भले शिष्ट वा सभ्य लोगोंमें उसकी अमान्यता वा अपमान हो जाता है तथा मालूम हो जानेपर उसे कठोर राजदंड मिलता है तथा राज्यकी ओरसे उसका सब धन हरण कर लिया जाता है ॥ २१६ ॥ अथवा तीव्र मोह होनेके कारण परस्त्री सेवन करनेवालोंका मरण भी हो जाता है तथा उपदंश आदि अनेक प्रकारके भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसके लिये तो कुछ आश्चर्य ही नहीं करना चाहिये अर्थात् परस्त्री सेवन करनेवालोंके उपदंश आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते ही हैं इसमें तो किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है ॥ २१७ ॥ अथवा परलोकमें जितने असह्यसे असह्य दुःख हैं वे सब परस्त्री सेवन करनेरूप व्यसनमें लीन होनेवाले मनुष्योंको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ २१८ ॥ हमारा तो यह सिद्धांत है कि जो इस परस्त्री सेवनके दोषोंको जानता है, इसको अवश्य छोड

अथ तृतीयः सर्गः।

दूदांगजः फामननामधेयः स्ववंशवेश्मज्वलदच्छदीपः। जीयाज्जिनेशांह्रिसरोरुहालिरस्यां कथायां रसिकावतंसः ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः। सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्। ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥ १ ॥ तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम्। तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥ २ ॥ तदेवेष्टार्थ-

देता है। कदाचित् कोई मन्द बुद्धि होता है और वह दोषोंको नहीं जानता तो वह नहीं भी छोडता है परन्तु जो दोषोंको जानकर भी नहीं छोडता उसे सबसे बढकर मूर्ख समझना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस प्रकार स्याद्वाद स्वरूप निर्दोष गद्य पद्य विद्यामें अत्यन्तचतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्री फामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लितकरनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवालो और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटी संहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी मैनपुरी प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें दर्शनप्रतिमा नामके महा अधिकारमें आठ मूलगुणोंको पालन करने और सातों व्यसनोंका त्याग करनेका वर्णन करनेवाला यह दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तीसरा सर्ग

जो अपने वंशरूपी घरमें जलता हुआ स्वच्छ दीपक है, जो भगवान अरहंतदेवके चरणकमलोंके लिये भ्रमरके समान है और जो इस श्रावकाचाररूपी कथामें रसिकोंमें भी शिरोमणि है ऐसा वह सेठ दूदाका पुत्र फामन सदा जयशील हो ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः।

इस संसारमें सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही मोक्षका साधन है सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्रका वीज है अर्थात् ज्ञानचारित्रको उत्पन्न करनेवाला है और सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी वृक्षके लिये जडके समान है ॥१॥ यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ है, यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पद है यह सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट ज्योति है और यह सम्यग्दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ तप है ॥ २ ॥ यह सम्यग्दर्शन ही इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है और यही सम्यग्दर्शन अनेक

संसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः । श्रद्धातीतं सुखं तत्स्याच्चत्कल्याणपरंपरः ॥ ३ ॥ विना येनात्र संसारे भ्रमतिस्म शरीरभाक् । भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति संप्रति ॥ ४ ॥ अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् । चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम् ॥ ५ ॥ अत्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम् । सर्वं तत्पुरतः

कल्याणोंकी परंपरा है ॥ ३ ॥ इस सम्यग्दर्शनके ही बिना इस घोर संसारमें यह प्राणी अनादि कालसे अबतक भ्रमण कर रहा है और आगे अनंत कालतक बराबर परिभ्रमण करेगा ॥ ४ ॥

इस सम्यग्दर्शनके बिना ही इस जीवका ज्ञान अज्ञानी पुरुषके समान अज्ञान वा मिथ्याज्ञान कहलाता है चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है और तप बालतप वा अज्ञानतप कहलाता है ॥ ५ ॥ इस विषयको बहुत बढा कर कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस संसारमें जो शुभरूप कर्म हैं शुभकार्य हैं शुभभाव हैं वे सब सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं और बिना सम्यग्दर्शनके वे सब कार्य वा भाव मिथ्या होते हैं

---

१ जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने हिताहितको नहीं जान सकता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह जीव अपने हित अहितको नहीं जानता। इसीलिये यह जीव इस संसारको नहीं छोडता। यदि यह जीव अपने आत्माका हित पहचानता तो फिर अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता जैसा कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर करता है।

ज्ञानका कार्य पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका जानना है। जिस प्रकार बाह्य पदार्थोंके जानने और देखनेके लिए प्रकाशकी आवश्यकता है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको जाननेके लिये भी प्रकाशकी आवश्यकता पडती है। सम्यग्दर्शन आत्माको प्रकाशित करनेके लिए एक देदीप्यमान प्रकाश है। जिस समय यह प्रकाश प्रगट होता है उसी समय यह जीव "यह मेरा है यह मेरा नहीं है सम्यग्दर्शनादिक गुण वा वैराग्यादिक भाव मेरे निजके गुण वा भाव हैं तथा धन मित्र बांधव और शरीरादि मेरे नहीं हैं ये जड हैं पुद्गल हैं मैं चैतन्य स्वरूप हूं" इस प्रकार स्वपर भेद विज्ञानको प्राप्त होता है। जब इस जीव को इस प्रकारका स्वपर भेद विज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी यह जीव संसारमें परिभ्रमण करानेवाले राग द्वेष मोह आदिको छोड देता है और सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप अपने आत्माके गुणोंको ग्रहण कर लेता है। यही इस आत्माका सर्वोत्तम कल्याण करनेवाला हित है।

जब तक इस जीवको इस प्रकारका प्रकाशरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता तब तक ज्ञान चाहे जितना बढ जाय वह सब अज्ञानी पुरुषके अज्ञान के समान ही कहलाता है क्योंकि वह पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत ही जानता है। आत्माके हितके बदले अहित ही करता है। वर्तमानमें भी बडे बडे वैज्ञानिक केवल जडवादका ही विकाश कर रहे हैं सबसे मुख्य आत्मतत्त्वको जाननेकी तो क्या उसको वे मानते ही नहीं यह उनका सबसे बडा भारी घोर अन्धकारमय अज्ञान है। मिथ्यादृष्टि-मुनि ग्यारह अंगोंके जानकार हो जाने पर भी आत्मज्ञानसे वंचित होनेके कारण अज्ञानी ही कहलाते हैं।

सम्यक् सर्वं मिथ्या तदत्ययात् ॥ ६ ॥ तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे । प्रामाणिकं तदेवं स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥ ७ ॥ तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोऽर्थसंज्ञकः । श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥ ८ ॥ सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा । परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतवलादपि ॥ ९ ॥ तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्व्यवहारतः । सम्यक्त्वं स्याद्द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥ १० ॥ शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः । सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं

विपरीत होते हैं अशुभ होते हैं ॥६॥ इस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें वा मोक्षशास्त्रमें तत्त्वार्थश्रद्धान बतलाया है। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ऐसा सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें अलग अलग धर्म रहता है। उसी धर्मसे उस पदार्थका निश्चय किया जाता है। उस धर्मको तत्त्व कहते हैं। अर्थ शब्दका अर्थ निश्चय करना है, जिस पदार्थका निश्चय उसमें रहनेवाले धर्मसे कर लिया है उस पदार्थका स्वरूप कभी विपरीत नहीं हो सकता ऐसे यथार्थ पदार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह जो सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाया है वही प्रमाण है और वही श्रुतकेवलियोंने माना है ॥ ७ ॥ जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते हैं इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चयनयसे उन पदार्थोंकी अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है ॥ ८ ॥ वह यथार्थ पदार्थोंका श्रद्धान वा अनुभूति अथवा सम्यग्दर्शन सामान्य रीतिसे एक प्रकार है और विशेष विधिसे विशेष रीतिसे वही दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके कारण जो कि पर पदार्थोंके उपचारोंकी अपेक्षा रखते हैं दो प्रकारके हैं। उन कारणोंके दो भेद होनेसे सम्यग्दर्शनके भी दो भेद हो जाते हैं ॥ ९ ॥ उसके दो भेद निश्चय और व्यवहारसे होते हैं। इसीलिये सम्यग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहलाता है। उसमेंसे निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार है। निश्चय सम्यग्दर्शनके और भेद प्रभेद नहीं हैं ॥ १० ॥ जो बिना किसी उपाधिके बिना किसी उपचारके शुद्ध जीवका साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चयनयसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शनमें कोई उपाधि वा उपचार नहीं है इसलिये ही वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकारका होता है। भावार्थ—अनुभव शब्दका अर्थ उपलब्ध होना प्राप्त होना वा जानना है। वह अनुभव मतिज्ञाना-

हि तत् ॥११॥ उक्तं च । दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः । स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१॥ व्यवहाराच्च सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं

वरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षय वा क्षयोपशयसे होता है तथा शुद्ध जीवके अनुभवको रोकनेवाला दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कर्म है। इसलिये दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबंधी कषायके उपशम क्षय वा क्षयोपशम होनेसे और इसके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेसे शुद्ध आत्माका अनुभव होता है और साक्षात् वा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका साक्षात् अनुभव होना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। संसारमें जितने भेद होते हैं वे सब उपाधिसे होते हैं वा उपचारसे होते हैं परन्तु यह शुद्ध आत्माका अनुभव विना किसी उपाधि वा उपचारके होता है इसलिये यह निश्चय सम्यग्दर्शन भेद रहित है एक ही प्रकार है। सो ही प्रकारान्तरसे दूसरे शास्त्रोंमें इसका लक्षण लिखा है। यथा—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१॥

अर्थात्–शुद्ध आत्माका निश्चय हो जाना अनुभव हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मामें लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसीलिये इन निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रसे कभी बंध नहीं होता है ॥ १ ॥ आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते हैं। जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका नाश न होनेवाला चल मलिन रहित गाढ श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीवतत्त्व ही मुख्यतत्त्व है अथवा यों भी कह सकते हैं कि तत्त्व एक जीव ही है। बाकी आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष आदि सब उसीके परिकर हैं इसलिये आत्मतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान करना अथवा आत्मा आदि सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करना ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। यही व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण है। सो ही दूसरे शास्त्रोंमें लिखा है। यथा—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसि मधिगमो णाणं। रायादीपरिहरणं चरणं एसो हु मोक्खपहो ॥ १ ॥

लक्षणाधथा। जीवादि-सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं गाढमव्ययम् ॥१२॥ उक्तं च। जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसि महिगमो णाणं। रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥२॥ यद्वा व्यवहृते वाच्यं स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम्। आप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोज्झितम् ॥ १३ ॥ उक्तं च। नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मो नास्ति दयापरः।

अर्थात्—जीवादिक सातों पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उन्हीं जीवादिक सातों पदार्थोंको जानना सम्यग्ज्ञान है और राग द्वेषको दूर करना सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं वा मोक्षके कारण हैं ॥ १ ॥ अथवा व्यवहारके लिये स्थूल सम्यग्दर्शनका लक्षण इस प्रकार भी आचार्योंने बतलाया है कि आप्त, आप्तका कहा हुआ आगम और आप्तका कहा हुआ दयामय धर्म इन तीनोंका सब प्रकारके दोषोंसे रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—देव शास्त्र धर्मका वा धर्मको पालनेवाले गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन दोनों लक्षणोंमें केवल ऊपरसे देखनेकी ही भिन्नता है वास्तवमें कोई भेद नहीं है क्योंकि आगमके श्रद्धानमें आगममें कहे हुए सातों तत्त्वोंका श्रद्धान आ जाता है अथवा तत्त्वोंके श्रद्धानमें देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान आ जाता है क्योंकि जीवतत्त्वके श्रद्धानमें जो चार घातिया रहित शुद्ध जीवका स्वरूप है वही आप्त है, उसी आप्तका कहा हुआ सातों तत्त्वोंको वर्णन करनेवाला आगम है और संवर वा निर्जराके स्वरूपमें दयामय अहिंसामय धर्मका स्वरूप वर्णन करना धर्म है। इसप्रकार विचार करनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शनके दोनों ही लक्षण पृथक् पृथक् नहीं हैं किंतु दोनों ही एक हैं केवल बतलानेका वा कथन करनेका प्रकार अलग अलग है और कुछ भेद नहीं है ॥१३॥ यही लक्षण अन्य शास्त्रोंमें भी लिखा है। यथा—

नास्ति चार्हत्परोदेवो धर्मो नास्ति दयापरः। तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है, दयाके समान और कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रंथ अवस्थाके समान और कोई उत्कृष्ट तप नहीं है अर्थात् तप करनेवाले गुरु निर्ग्रंथ ही होते हैं ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ १ ॥ यह सम्यग्दर्शन जिसप्रकार अपने लक्षणसे निश्चय और

तपः परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥३॥ हेतुतोपि द्विधोदिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद्यथा । तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभिः ॥१४॥ निसर्गस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोधिगमो मतः । अर्थोयं शब्दमात्रत्वादर्थतः सूच्यतेऽधुना ॥ १५ ॥ नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादितः । सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां द्रव्यतस्तत्त्रिधा भवेत्

व्यवहार रूप दो प्रकार है उसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन अपने उत्पन्न होनेके कारणोंके भेदसे भी दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके दो कारण हैं एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। जो निसर्गसे उत्पन्न होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अधिगमसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा पहले आचार्योंने निरूपण किया है ॥ १४ ॥ जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे उत्पन्न होता है, अपने आप उत्पन्न होता है जो विना किसी उपदेशके उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो बहिरंग उपदेश आदि उपायोंसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अर्थ केवल शब्दमात्रसे बतलाया है। जो भेद वा जो अर्थ उन शब्दोंसे निकलता है वह बतलाया है। वास्तवमें उन दोनोंमें क्या भेद है तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं यह बात अब आगे बतलाते हैं ॥ १५ ॥ सम्यग्दर्शनरूप आत्माके गुणका घात करनेवाला एक मिथ्यात्व कर्म है। वह मिथ्यात्व कर्म अनादिकालसे एक ही प्रकारका चला आ रहा है। जब इस जीवको मिथ्यात्वकर्मके उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तब वही एक प्रकारका मिथ्यात्वकर्म अलग अलग द्रव्यरूप तीन प्रकारका हो जाता है ॥ १६ ॥ अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण प्रसिद्ध हैं इन तीनों करणोंका समय अंतर्मुहूर्त है। यह जीव जिस अंतर्मुहूर्तमें इन तीनों करणोंको करता है उसी अंतर्मुहूर्तमें उस मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद कर डालता है। ये भेद किसी दूसरे समयमें नहीं होते करणत्रय करते समय ही होते हैं। भावार्थ—सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेमें पांच लब्धियां कारण हैं। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पांच लब्धियां हैं। सम्यक्त्व उत्पन्न होने योग्य कर्मोंके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। आत्माकी विशेष निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशको देशना कहते हैं। पंचेन्द्रिय सेनी आदि योग्यता मिलनेको प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। ये चार लब्धियां भव्य अभव्य

॥१६॥ अधोऽपूर्वानिवृत्याख्यं प्रसिद्ध करणत्रयम । करणान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये त्रेधास्ति नान्यदा ॥ १७ ॥ उक्तं च । जंतेण कोदव्व वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण ।

सबके साधारण हो सकती हैं। करणलब्धि असाधारण है । इसके होनेपर सम्यक्त्व वा चारित्र होता ही है। मोहनीय कर्मको उपशम करनेके लिए तीन प्रकारके जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उनको करण कहते हैं, उसके तीन भेद हैं, अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनोंका काल अंतर्मुहूर्त है और प्रत्येकका काल भी लघु अंतर्मुहूर्त है इनमें परिणामोंकी विशुद्धि बराबर बढती जाती है। जहांपर जीवोंके ऊपरके समयके परिणाम नीचेके समयके परिणामोंसे मिल जांय, ऊपर नीचेके परिणाम समान हों अथवा असमान भी हों ऐसे परिणामोंके होनेको अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इसमें सब जीवोंकी विशुद्धि एकसी बढती जाती है। अपूर्वकरणमें जो परिणाम विशुद्धताको लिए बढते रहते हैं वे ऐसे विशुद्ध होते हैं जो पहले कभी विशुद्ध नहीं हुए थे । प्रति समय असंख्यातगुणी विशुद्धता बढती जाती है। इसमें भिन्न समयके जीवोंके परिणाम तो कभी मिलते ही नहीं किंतु एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम परस्पर मिल भी जांय और न भी मिलें। अनिवृत्तिकरणमें एक समयवर्ती सब जीवोंके परिणाम परस्पर मिल जाते हैं। इसमें अपूर्वकरणसे भी विशुद्धि और अधिक बढती जाती है। इस प्रकार निश्चित क्रमसे जो परिणामोंमें विशुद्धि बढती जाती है उसको करणलब्धि कहते हैं । जिस समय यह जीव इन तीनों करणोंको करता है उसी समय उन परिणामोंकी विशुद्धताके कारण मिथ्यात्वकर्मके तीन टुकडे हो जाते हैं। सो ही गोमट्टसारमें लिखा है—

जंतेण कोदव्वं वा पढमुवसम सम्मभाव जंतेण। मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥

अर्थ—जिस कोदों नामके धान्योंको चक्कीमें पीसनेपर उसके तीन भाग हो जाते हैं चांवल अलग हो जाते हैं भूसी अलग हो जाती है और कण अलग हो जाते हैं उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शनरूपी चक्कीके द्वारा पीसे जानेपर मिथ्यात्वकर्म भी तीन भागोंमें बट जाता है । पहले भागको मिथ्यात्वकर्म कहते हैं यह सबसे अधिक बलवान और अधिक होता है। दूसरा सम्यक्मिथ्यात्व है यह उससे कम बलवान है और इसकी द्रव्यसंख्या भी

मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥४॥ त्रिधाभूतस्य तस्योच्चैरेवं मिथ्यात्वकर्मणः । भेदाश्चयरचतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥१८॥ एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् । प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥१९॥ उक्तं च । पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालम्हि । खाइय सम्मत्तो पुण जत्थ जिणा केवलं तम्हि ॥५॥ निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् । दृग्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसञ्ज्ञकः ॥२०॥ उक्तं च । सत्तण्हं उवसमदो उवसम-

उससे थोडी होती है। तीसरा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है। यह दूसरेसे भी कम बलवान और द्रव्यमें कम होता है। इसप्रकार अनादिकालसे चले आए मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद हो जाते हैं ॥ १७ ॥ मिथ्यात्वकर्मके ऊपर लिखे तीन भेद तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ चार भेद ये सब मिलकर सात भेद दर्शनमोहसप्तक (सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली सात प्रकृतियां) कहलाता है। जब इस जीवको सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन होता है तब इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है। भावार्थ—ये सातों प्रकृतियां सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली हैं इन सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन होता है ॥ १९ ॥ सो ही लिखा है।

पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालम्हि। खाइय सम्मत्तो पुण जत्थ जिणा केवलं तम्हि ॥

अर्थ—यह नियम है कि प्रथम अवस्थामें अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टी आत्मामें सबसे पहले प्रथमसम्यक्त्व अर्थात् औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन और द्वितीय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समस्त समयमें उत्पन्न हो सकता है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन वहीं होता है जहां श्रुतकेवली अथवा भगवान सर्वज्ञदेव विद्यमान हों। भावार्थ-क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली अथवा श्रुतकेवलीके चरणकमलोंके निकट ही होता है। दूसरी जगह नहीं होता ॥ ५ ॥ सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो और चाहे अधिगमज हो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली ऊपर लिखी सातों प्रकृतियोंका अभाव होना समान कारण है। अर्थात् दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें इन सात प्रकृतियोंका अभाव होना ही चाहिये विना इन सातों प्रकृतियोंके अभाव हुए सम्यग्दर्शन कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२०॥ सो ही लिखा है—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइओय। विदियकसाउदयादो असंजदो होदि सम्मोसो।

सम्मो दुखयादुखइओय। विदिय कसाउदयादो असंजदो होदि सम्मो सो ॥ ६ ॥ किन्तु सत्यन्तरंगेस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत्। नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोपदेशादि हेतुना ॥२१॥ यत्पुनश्चान्तरंगेस्मिन् सति हेतौ तथाविधि। उपदेशादिसापेक्ष स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥ २२ ॥ बाह्य निमित्तमत्रास्ति केषांचिद्बिम्बदर्शनम्। अर्ह-

अर्थ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियां तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सब सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा इन सातों प्रकृतियों के क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस अविरतसम्यग्दर्शन नामके चौथे गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय होनेसे संयम नहीं होता इसीलिये इस गुणस्थानको असंयत सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सातों प्रकृतियोंके उपशम वा क्षय होनेपर जो विना बाह्य कारणोंके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको नैसर्गिक वा निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२१॥ तथा जो अंतरंग कारणोंके होनेपर अर्थात् सातों प्रकृतियोंका अभाव होनेपर जो उपदेश आदि बाह्य कारणोंकी अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। भावार्थ—ऊपर लिखी सातों प्रकृतियोंका अभाव होना तो सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें अंतरंग वा मुख्य कारण है। यह तो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें होना ही चाहिये। इन प्रकृतियोंके अभाव होनेपर जो बाह्य उपदेश आदि कारणोंके विना ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अंतरंग तथा बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यही निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अंतर है ॥ २२ ॥

इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें बाह्य निमित्त कारण अनेक हैं। किसीको भगवान अरहंतदेवके प्रतिबिंबोंके दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शन होता है, किसीको भगवान अरहंतकी महिमा वा विभूति (समवशरणादिक विभूति) के देखनेसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें किसीको धर्मश्रवण कारण पडता है, किन्हींको बडे बडे देवोंकी ऋद्धियोंका देखना ही कारण पडता है, किन्हींको जातिस्मरण (पहले भवका

तामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥२३॥ धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम् । जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥२४॥ एवमित्यादि बहवो विद्यन्ते बाह्यहेतवः सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥२५॥ अस्यैतल्लक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः । जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥२६॥ उक्तं च । णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥७॥ ननूल्लेखः किमेतावानस्ति किं वाऽपरोऽप्यतः । लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाङ्कितः पुमान् ॥२७॥ अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः । सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैश्च संलक्ष्यते सुदृक् ॥ २८ ॥ उक्तमाक्षसुखज्ञानमनादेयं दृगात्मनः

स्मरण हो आना) ही कारण पडता है और किन्हींको नरकादिककी तीव्र वेदनाके कारण आत्माको तीव्र दुःख होना वा आत्माका तिरस्कार होना ही सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें कारण पडता है ॥ २३-२४ ॥ प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते समय मिथ्यात्व आदि सातों प्रकृतियोंके अभावरूप अंतरंग कारणोंके होनेपर ऊपर लिखे वाह्यकारण भी निमित्तकारण होते हैं तथा इनके सिवाय और और भी ऐसे ही अनेक कारण निमित्तकारण पड जाते हैं ॥ २५ ॥ इसप्रकारका सम्यग्दर्शन जिसके उत्पन्न हो गया है ऐसे इस सम्यग्दृष्टीका लक्षण निश्चयसे यही है कि वह भगवान सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे हुए जीवादिक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका अवश्य श्रद्धान करता है। भावार्थ–सम्यग्दृष्टी जीव भगवान अरहंतदेवके कहे हुए जीवादिक पदार्थोंका अवश्य श्रद्धान करता है, इसीलिए जीवादिक पदार्थोंके श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ २६ ॥ सो ही लिखा है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥

अर्थात्–जो न तो इंद्रियोंसे विरक्त होता है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है जो केवल भगवान अरहंतदेवके कहे हुए पदार्थोंका श्रद्धान करता है उसको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं।

शंका–क्या सम्यग्दर्शनका यही एक लक्षण है ? अथवा और भी कोई ऐसा लक्षण है जिससे सुशोभित होनेवाला यह सम्यग्दृष्टी पुरुष पहचाना जा सके ॥ २७ ॥ समाधान–सम्यग्दृष्टीके और भी अनेक लक्षण हैं जो कि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके साथ ही रहते हैं जो विना सम्यग्दर्शनके कभी नहीं रह सकते। ऐसे ही लक्षणोंसे वह सम्यग्दृष्टी पहचाना जाता है । भावार्थ–यहां पर सम्यग्दर्शनका आत्मभूत

नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद्दृष्टोपलब्धितः ॥२९॥ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्। गोचरं वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३०॥ न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्मनाक्। नापि देशावधेस्तत्र विषयोनुपलब्धितः ॥३१॥ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्। तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥३२॥

लक्षण बतलाया है। आत्मभूत लक्षण वही होता है जो उसके सदा साथ रहता है जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है। उष्णताके अभावमें अग्निका सर्वथा अभाव होता है तथा जहां जहां अग्नि होती है वहां वहां उष्णता अवश्य होती है इसीलिए उष्णता अग्निका लक्षण कहा जाता है। इसी प्रकार अनुक्रमसे आगे सम्यग्दर्शनके लक्षण बतलावेंगे ॥ २८ ॥ संसारमें जो इन्द्रियजन्य सुख है अथवा वाह्य पदार्थोंका जितना भी भौतिक ज्ञान है वह सब सम्यग्दृष्टीके लिए त्याज्य है ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सब मिथ्या है। इन्द्रियजन्य सुख भी मिथ्या है और आत्मज्ञानसे भिन्न ज्ञान भी सब मिथ्या है इसीलिए वे दोनों ही त्याज्य हैं। इसीप्रकार उन इन्द्रियजन्य सुखोंमें वा आत्मज्ञानशून्य ज्ञानमें उन्मत्त करानेवाले जितने भी कर्म हैं जिनके उदय होनेसे यह जीव इंद्रियजन्य सुखोंको सुख मान लेता है और आत्मज्ञानशून्य मिथ्याज्ञानको ज्ञान मान लेता है वे सब कर्म भी त्याग करने योग्य हैं। यह बात प्रत्यक्ष भी देखी जाती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है ॥ २९ ॥ वास्तवमें विचार किया जाय तो मालूम होता है कि यह सम्यग्दर्शन अत्यंत सूक्ष्म है। शुद्ध आत्माका निर्मल गुण होनेके कारण अत्यंत सूक्ष्म है इसीलिए यह केवलज्ञानके गोचर है अथवा परमावधिज्ञान सर्वावधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके गोचर है। भावार्थ—ये ही ज्ञान इसको जान सकते हैं और ज्ञान नहीं जान सकते ॥ ३० ॥ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ही ज्ञान इस सम्यग्दर्शनको किंचिन्मात्र भी नहीं जान सकते और न देशावधिज्ञान ही इसको जान सकता है क्योंकि इन तीनों ज्ञानोंमें यह अत्यन्त निर्मल आत्माका गुण विषयभूत ही नहीं होता ॥ ३१ ॥ इसका भी कारण यह है कि यह सम्यग्दर्शन आत्माका एक (अनिर्वचनीय जो वचनसे कहा नहीं जा सके) निर्विकल्पक (जिसके लिए 'यह ऐसा है' इसप्रकारका विकल्प न हो सके) गुण है। वही सम्यग्दर्शन रूप गुण अनादिकालसे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे विपरीत स्वरूप अनुभवमें आ रहा है। भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म उस सम्यग्द-

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे । भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३३॥ प्रयत्नमन्तरेणापि दृग्मोहोपशमो भवेत् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनति-

र्शनका अनुभव नहीं होने देता तथा वह दर्शनमोहनीय कर्मका उदय इतने ही से संतुष्ट नहीं होता किंतु उस गुणको विपरीतरूप अनुभव कराता है जिससे यह जीव इंद्रियजन्य सुखोंको सुख मान लेता है और आत्मज्ञान-शून्य भौतिकज्ञानको ज्ञान मान लेता है। ऐसा मान लेना ही मिथ्यात्व है और अनंत संसारका कारण है। जैसे दूध मीठा होता है परंतु कडवी तूंबीके निमित्तसे वही मीठा दूध कडवा हो जाता है इसीप्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे सम्यक्त्व भी मिथ्यात्वरूप परिणत हो जाता है ॥३२॥ जब यह जीव किसी समय दैवयोगसे अर्थात् विशेष पुण्यकर्मके उदयसे काललब्धि आदि पहले कही हुई पांचों लब्धियोंको प्राप्त होता है तथा इसका संसाररूपी समुद्र अत्यंत निकट रह जाता है और भव्यरूप भावका विपाक होने लगता है तब यह जीव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—पुण्योदय दो प्रकारका है एक पापानुबंधी पुण्य और दूसरा पुण्यानुबंधी पुण्य। इनमेंसे पापानुबंधी पुण्य तो बेकार है। कुछ दिन सुख देकर फिर दुःखसागरमें डुबा देता है परंतु पुण्यानुबंधी पुण्य इस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता उत्पन्न कर सकता है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बाद यह जीव अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक संसारमें परिभ्रमण कर सकता है इससे अधिक नहीं इसीलिये कहा गया है कि जिसका संसार परिभ्रमण अत्यन्त निकट रह गया है जो अत्यन्त निकट भव्य है उसीको सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। भव्य शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता होना है। जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता तबतक तो वह योग्यता यों ही पडी रहती है कुछ काम नहीं करती। परंतु जब इस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होनेका समय आता है तब वह योग्यता अपना काम करती है और उसी योग्यताके अनुसार वह जीव उस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है। यही उस जीवके भव्यत्व भावका विपाक वा फल है। यदि भव्यत्वभाव न होता तो सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, जिस जीवके भव्यत्वभाव होता है उसी जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनका प्रगट होना भव्यत्वभावका ही फल

क्रमात् ॥३४॥ अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृग्मोहोपशमाद् यथा। पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पकैः ॥३५॥ सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्। सत्तारूपं पारिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३६ ॥ तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः। दिशः प्रसादमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३७ ॥ दृग्मोहोप-

है। यह सब सामग्री सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके लिये कारण है ॥३३॥ तदनंतर विना किसी प्रयत्नके अन्तर्मुहूर्तके लिये दर्शन मोहनीयकर्मका उपशम अपने आप हो जाता है अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। उस समयमें भी गुणश्रेणी निर्जराका उलंघन नहीं होता अर्थात् असंख्यात गुणी निर्जरा बराबर होती चली जाती है ॥ ३४ ॥ दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम होनेसे जो उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह आत्माकी एक अवस्था विशेष है। उसके पहले आत्माकी अवस्था मिथ्यात्वरूप थी अर्थात् स्वपर भेद विज्ञान वा निजात्मज्ञानसे रहित थी और अब सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे वह मिथ्यात्वरूप अवस्था बदल कर सम्यक्त्वरूप हो जाती है। आत्मज्ञानसे सुशोभित हो जाती है। इतना होनेपर भी उसमें चैतन्यके विकल्पोंसे कोई आकार कल्पना नहीं होती है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन ज्ञानके समान साकार वा सविकल्पक नहीं होता है किंतु निराकार वा निर्विकल्प ही बना रहता है ॥ ३५ ॥ वह सम्यग्दर्शन निर्विकल्पक सामान्य रीतिसे भी निर्विकल्प है और विशेष रीतिसे भी निर्विकल्पक है। जिस प्रकार पदार्थोंका सामान्य ग्रहण दर्शनरूप निर्विकल्पक है और विशेष ग्रहण ज्ञानरूप सविकल्पक है उस प्रकार सम्यग्दर्शन उभय रूप नहीं है किंतु वह सामान्य विशेष दोनों प्रकारसे निर्विकल्पक है। दोनों प्रकारसे निर्विकल्प होनेपर भी वह सत्तारूप है अभावरूप नहीं है तथा आत्माके प्रदेशोंमें परिणाम उत्पन्न करनेवाला है। भावार्थ—वह सम्यग्दर्शन यों ही पडा रहनेवाला निर्विकल्पक गुण नहीं है किंतु आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन उत्पन्न कर देता है अर्थात् आत्माके प्रदेशोंकी अवस्था ही बदल देता है। वह सम्यग्दर्शन आत्माके प्रदेशोंमें क्या अवस्था बदल देता है उसीको आगे दिखलाते हैं ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अंधकारके नाश होनेपर सब दिशाएं चारों ओरसे अत्यन्त निर्मल और प्रसन्न हो जाती हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेपर आत्माके समस्त प्रदेशोंमें एक प्रकारकी निर्मलता

शमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एष वै। शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८ ॥ यथा वा मद्यधत्तुरपाकस्यास्तंगतस्य वै। उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्याद-

और शुद्धता प्रगट हो जाती है उस शुद्धताके कारण न तो द्रव्यकर्मोंका बंध होता है, न भावकर्मोंका बंध होता है और न नोकर्मोंका बंध होता है अर्थात् उस शुद्धताके कारण तीनों प्रकारके बंधका अभाव हो जाता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है और वह प्रकाशरूप है। जिस प्रकार अंधेरेमें अपने परायेका कुछ ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके अपना (आत्माका) और पराया शरीर धन आदि परद्रव्योंका ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सूर्यके निकलते ही अपने परायेका स्पष्ट ज्ञान होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके प्रगट होते ही स्वपरभेद विज्ञान स्पष्ट हो जाता है जिससे यह आत्मा संसारमें परिभ्रमण करानेवाले भौतिक पदार्थोंको आत्मासे भिन्न पराया समझकर छोडनेका प्रयत्न करने लगता है और आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोंको अपने आत्माका समझकर ग्रहण करने लगता है ॥ ३७-३८ ॥ अथवा इसका दूसरा उदाहरण यह भी है कि जिस प्रकार मद्य अथवा धतूरेका विष उतर जाता है तो उस विषके कारण जो मूर्च्छा वा वेहोशी थी वह दूर हो जाती है तथा उस मूर्च्छाके दूर होनेसे वह मनुष्य सावधान और नीरोग हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेसे इस जीवको जो मूर्च्छा रहा करती थी जिस मूर्च्छाके कारण यह जीव पुत्र मित्र कलत्रादिक परपदार्थोंको ही अपना मानकर अज्ञानी बना हुआ था तथा जो चित्तकी अस्थिरता रहती थी जिसके कारण इस जीवका हृदय प्रत्येक पदार्थमें मोह करता हुआ डवांडोल रहता था और उसी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे प्रत्येक पदार्थमें जो भ्रम बना रहता था किसी भी पदार्थका निश्चय नहीं कर सकता था वह सब मूर्च्छा, चित्तकी अस्थिरता और भ्रम आदि दर्शनमोहनीयके उपशम होनेपर सब शांत हो जाता है। भावार्थ—मूर्च्छा चित्तकी अस्थिरता और भ्रम आदि रोग सब दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते थे जब दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होता है तब मूर्च्छा आदि सब रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं और उन सब रोगोंके नाश होनेसे यह जीव सदाके लिये नीरोग और स्वस्थ हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

मूर्च्छितः ॥ ३९ ॥ दृग्मोहस्योदयान्मूर्च्छावैचित्र्यं वा तथा भ्रमः । प्रशान्ते तस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ४० ॥ श्रद्धानादिगुणाः बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः । न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ४१ ॥ अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययात् । अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥ यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः । वाग्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥ नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतःस्वयम् । सर्वतः

ऊपर यह लिख चुके हैं कि जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परंतु ये श्रद्धानादिक गुण सम्यग्दर्शनके वाह्य लक्षण हैं क्योंकि वे सम्यग्दर्शनरूप नहीं हैं किंतु ज्ञानकी पर्यायें हैं। भावार्थ—ज्ञानका अर्थ जानना है और श्रद्धानका अर्थ मानना है । जानना और मानना ये दोनों एक हैं इसलिये श्रद्धान ज्ञानकी ही पर्याय मानी जाती है और इसीलिये वह सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण नहीं हो सकता यदि उसे लक्षण माना जायगा तो वाह्य लक्षण मान सकते हैं, यथार्थ नहीं ॥४१॥ इसी प्रकार स्वात्मानुभूति (अपने आत्माका अनुभव होना) भी सम्यग्दर्शनका लक्षण माना जाता है परंतु वह स्वात्मानुभूति अथवा अपने शुद्ध आत्माका अनुभव ज्ञान है क्योंकि अनुभव होना अथवा अनुभूति होना ज्ञानकी ही पर्याय है। इसलिये वह ज्ञानस्वरूप ही है तथा जो ज्ञानस्वरूप है वह सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता न सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकता है। यदि फिर भी उसको सम्यग्दर्शनका लक्षण माना जायगा तो वह वाह्य लक्षण ही होगा यथार्थ लक्षण नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥ वास्तवमें देखा जाय तो जिस प्रकार किसी नीरोग पुरुषकी नीरोगताका जानना अत्यन्त कठिन है तथापि मनकी क्रियाओंमें उत्साह होना अथवा शरीरकी क्रियाओंमें उत्साह होना आदि स्थूल गुणरूप लक्षणोंसे उस नीरोगताका ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म गुण है और वह निर्विकल्पक है तथापि श्रद्धानादिक वाह्य लक्षणोंसे ही वह पहचाना जाता है ॥ ४३ ॥

शंका—यहांपर कोई शंका करता हुआ कहता है कि वास्तवमें देखा जाय तो आत्माका अनुभव होना ही स्वयं साक्षात् सम्यग्दर्शन है क्योंकि वह आत्माका अनुभव मिथ्यादृष्टीके किसी भी देशमें अथवा किसी भी कालमें

सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥ नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः । अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तथयोच्यते ॥ ४५ ॥ आकारोऽर्थविकल्पःस्यादर्थः स्वपरगोचरः । सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ४६ ॥ नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता । शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥४७॥

नहीं होता। मिथ्यादृष्टीके आत्माका अनुभव नितांत असंभव है, इसलिए आत्माका अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ ४४ ॥

समाधान---परंतु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने ऐसी वा यह शंका की है वह सामान्य और विशेषके भेदसे सर्वथा अनभिज्ञ है अर्थात् सामान्य और विशेषमें कुछ भेद नहीं जानता और न वह अनाकार तथा साकारमें कुछ भेद समझता है। भावार्थ---आत्मानुभव साकार वा सविकल्परूप है क्योंकि वह ज्ञानका अंश है और सम्यग्दर्शन निर्विकल्प गुण है और इसीलिए अनाकार है। इसलिए जो पुरुष आत्मानुभवको सम्यग्दर्शन कहता है वह साकार अनाकारमें निर्विकल्पक सविकल्पमें अथवा सामान्य विशेषमें कुछ भेद नहीं समझता आगे उन्हीं सबके भेदोंको बतलाते हैं ॥ ४५ ॥ यह आत्मा है, यह घडा है, यह वस्त्र है, यह मकान है, इसप्रकार जो पदार्थोंमें विकल्प होता है उसको आकार कहते हैं। पदार्थ दो प्रकारके हैं स्व और पर अर्थात् ज्ञान वा निजात्मा स्वपदार्थ है और पुद्गलादिक परपदार्थ हैं। उन पदार्थोंमें जो विकल्प होता है यह आत्मा है, यह पुद्गल है इत्यादि रूप जो विकल्प होता है उसको उपयोग कहते हैं। यही विकल्परूप उपयोग ज्ञान वा ज्ञानका लक्षण कहलाता है। भावार्थ---स्वपर पदार्थोंमें जो विकल्परूप उपयोग होता है उसीको ज्ञानका लक्षण कहते हैं और वह साकार होता है ॥ ४६ ॥ जिन पदार्थोंमें 'यह आत्मा है, यह पुद्गल है' इत्यादिरूप आकार नहीं होता उसको अनाकार कहते हैं। यह अनाकार ही निर्विकल्पक कहलाता है। आकार वा विकल्परूप होना ज्ञानका लक्षण है और ज्ञानको छोडकर बाकीके जितने गुण हैं उन समस्त अनंत गुणोंका लक्षण अनाकार वा निर्विकल्पता ही है। भावार्थ--- 'यह आत्मा है, यह पुद्गल है' इसप्रकारका विकल्पक ज्ञानमें ही पडता है इसलिए ज्ञान तो साकार वा सविकल्पक है और बाकीके जितने अनंत गुण हैं वे सब निर्विकल्पक वा निराकार हैं। इस हिसाबसे सम्यग्दर्शन भी निर्वि-

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् । तत्किंचित्स्यादनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ४८ ॥ सत्यं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् । यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥ ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्तसल्लक्षणांकिताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥ ततोवक्तुमशक्यत्वा-

रूप और निराकार है ॥ ४७ ॥ शंका–शंकाकार कहता है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब सामान्य और विशेषरूप हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म न रहते हों फिर क्या कारण है कि कुछ गुण तो अनाकार हो जाते हैं और कुछ गुण साकार हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ समाधान--शंकाकारका यह कहना ठीक है कि ज्ञान सामान्य धर्मसहित भी है और सामान्य धर्मसहित होनेके कारण विशेष धर्मसहित भी है, परंतु उसमें इतनी विशेषता है कि सामान्य धर्म रहनेके कारण वह अनाकार कहलाता है और विशेष धर्म रहनेके कारण वह साकार कहलाता है। भावार्थ--ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। इन्द्रिय पदार्थोंके संबंध होने पर जो पदार्थोंके सामान्य धर्मका ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं, यह दर्शन अनाकार है और निर्विकल्परूप है। तदनंतर उसी ज्ञानमें "जो यह घट है पट है" इत्यादि रूप विकल्प होता है उसीको ज्ञान कहते हैं इसीलिये ज्ञान सविकल्पक और साकार कहा जाता है। इसीप्रकार ज्ञान सब अवस्थाओंमें साकार और सविकल्पक होता है और बाकीके सभी अनंतगुण दर्शनके सामान निराकार और निर्विकल्पक होते हैं। ज्ञान गुणमें प्रत्येक पदार्थके विशेष्य विशेषण संबंध प्रगट होते हैं इसीलिये वह साकार है और बाकीके गुण सब निराकार हैं क्योंकि उनमें किसी भी पदार्थोंको वा किसी भी संबंधको प्रगट करनेकी योग्यता नहीं है। यहां तक कि उसमें अपने स्वरूपके प्रगट करनेकी भी योग्यता नहीं है इसीलिये वे सब निराकार हैं ॥४९॥ ज्ञानको छोडकर बाकीके जितने गुण हैं वे सब सत्‌रूप हैं, सत्तामात्र है, अस्तित्वरूप है। ज्ञानको छोडकर बाकीके समस्त गुणोंको चाहे सामान्य रीतिसे ग्रहण किया जाय और चाहे विशेष रीतिसे ग्रहण किया जाय दोनों ही प्रकारसे वे सब अनाकार ही प्रतीत होते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार ज्ञान सामान्यसे निराकार व निर्विकल्पक है और विशेषतासे साकार व सविकल्पक है उस प्रकारसे ज्ञानको छोडकर बाकीके गुण साकार व सविकल्प नहीं हैं किंतु सामान्य विशेष दोनों रीतिसे निराकार

निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥ स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः । नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञाने परः परः ॥ ५२॥ स्वार्थोहि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः । परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥ ५३ ॥ तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणःस्वयम् । ज्ञानं तद्वेदकं

और निर्विकल्पक हैं ॥ ५० ॥ इसी कारण निर्विकल्पक पदार्थ कभी कहनेमें नहीं आ सकते अर्थात् उनको कोई कह नहीं सकता । वे सब वचनके अगोचर हैं तथापि ज्ञानके द्वारा उनको अलगकर उनका निरूपण किया जाता है। भावार्थ निर्विकल्पक पदार्थोंको अलग अलग जाननेका साधन ज्ञान ही है ज्ञानके सिवाय वे और किसी प्रकार वा किसीके द्वारा नहीं जाने जा सकते ॥५१॥ ज्ञान अपने स्वरूपको भी ग्रहण करता है और अपूर्व परपदार्थोंके स्वरूपको भी ग्रहण करता है तथापि वह ज्ञान अपूर्व परपदार्थोंको ग्रहण करते समय परपदार्थरूप नहीं हो जाता ज्ञान ज्ञान ही रहता है और परपदार्थ सदा परपदार्थ ही रहता है। भावार्थ–जिस प्रकार दीपक अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है तथा अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करते समय वह अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता किंतु सबसे भिन्न अपने दीपक स्वरूपमें ही रहता है। उसी प्रकार ज्ञान अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है और अन्य परपदार्थोंको प्रकाशित करता है तथा अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करते समय वह अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता किंतु अपने ही स्वरूपरूप रहता है ॥५२॥ ऊपर कह चुके हैं कि ज्ञान स्वार्थ पदार्थ दोनोंको जानता है। अब यहां पर यह बतलाते हैं कि स्वार्थ क्या है और पदार्थ क्या है। ज्ञान आत्माका एक गुण है। वह आत्माका ज्ञान गुण ही ज्ञानका स्वार्थ है तथा उस ज्ञानसे संबंध रखनेवाले वाकीके सुखादि गुण हैं वे सब ज्ञानके लिये परार्थ है। भावार्थ ज्ञान अपने स्वरूपको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है। इसप्रकार ज्ञान स्व पर दोनों पदार्थोंको जानता है। संसारमें जितने परपदार्थ हैं वे सब दो प्रकारके हैं, एक ऐसे जो ज्ञानसे सर्वथा भिन्न हैं और दूसरे ऐसे जो ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं किंतु ज्ञानसे अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखते हैं। घट पटादिक पदार्थ ज्ञानसे सर्वथा भिन्न हैं परंतु आत्माके सुख वीर्य सम्यक्त्व आदि गुण ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी ज्ञानके साथ अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखते हैं इसप्रकार ज्ञानके

नूनं नार्थादृज्ञानं सुखादिमत् ॥ ५४ ॥ अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः । उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥ तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः । चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥ तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा । प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया

लिए स्वयं ज्ञान स्वार्थ है और सुखादिक अन्य समस्त गुण परार्थ हैं ॥५३॥ यही बात आगे स्पष्ट करते हैं। सुख दुःखादिक जितने आत्माके भाव हैं वे सब स्वयं जीवके गुण हैं और ज्ञान उन सबको निश्चयसे जानता है, परंतु उन आत्माके समस्त गुणोंको वा समस्त भावोंको जानता हुआ भी वह ज्ञान उन सुखादि गुणोंरूप नहीं हो जाता किंतु उन सबसे भिन्न ही रहता है। भावार्थ—आत्मामें अनंत गुण हैं और वे सब भिन्न भिन्न हैं। ज्ञान भी सबसे भिन्न है परंतु इतना विशेष है कि ज्ञान अपनेको जानता हुआ भी अन्य सब गुणोंको जानता है, परंतु अन्य गुण न तो अपनेको जानते हैं और न किसी अन्य पदार्थोंको जानते हैं इसीलिए वे निर्विकल्पक और निराकार हैं और ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं। इन सब गुणोंमें सम्यग्दर्शन भी आत्माका एक गुण है वह अन्य गुणोंके समान निर्विकल्पक और निराकार है और ज्ञानके साथ अविनाभावी तादात्म्य संबंध रखता है तथापि ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। आगे उसी सम्यग्दर्शनको दिखलानेके लिए कहते हैं ॥ ५४ ॥

उस ज्ञानके साथ अविनाभावी और तादात्म्य संबंध रखनेवाले किंतु ज्ञानसे भिन्न ऐसे यथार्थ श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण हैं। अब आगे उन्हीं श्रद्धान आदि गुणोंका उद्देश लक्षण और परीक्षा आदि बतलाते हैं ॥ ५५ ॥ नाममात्र कथन करनेको उद्देश कहते हैं। श्रद्धान श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये सब श्रद्धानके ही पर्यायवाचक शब्द हैं वा श्रद्धानके ही नाम हैं इसलिए इनके कहनेको ही उद्देश कहते हैं परंतु ये श्रद्धानादिक सब शास्त्रोंकी आज्ञानुसार यथार्थ तत्त्वोंके होने चाहिए। भावार्थ—शास्त्रोंकी आज्ञानुसार यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करना रुचि करना प्रतीति करना और तद्रूप आचरण करना आदि सब एकार्थवाचक हैं, श्रद्धानके ही पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिए इन सबको कहना श्रद्धानादिक गुणोंका उद्देश है ॥ ५६ ॥ अपनी बुद्धिका तत्त्वोंके सन्मुख होना, उनका विश्वास करनेके लिए बुद्धिका उद्यत होना श्रद्धा है। उन तत्त्वोंमें आत्मीय भावोंका

॥५७॥ अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् । क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥ व्यस्तार्श्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा । सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥ स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः । स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥ तस्माच्छ्रद्धादयः

होना उन तत्त्वस्वरूप अपनी बुद्धिका होना रुचि है। 'यह इसीप्रकार है' इसप्रकार विश्वास करना प्रतीति है और उसके अनुकूल क्रिया करना आचरण है। भावार्थ—श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये सब श्रद्धानके ही पर्याय-वाचक शब्द हैं ॥ ५७ ॥ श्रद्धा रुचि प्रतीति क्रिया इन चारोंमेंसे पहलेके श्रद्धा रुचि प्रतीति ये तीन ज्ञान ही हैं क्योंकि ज्ञानकी ही पर्याय हैं तथा शुभ कार्योंमें मन वचन कायका व्यापार होना आचरण है ॥ ५८ ॥ श्रद्धा रुचि प्रतीति और आचरण ये चारों ही अलग अलग अथवा मिले हुए सम्यग्दृष्टीके लक्षण हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। यदि हों तो चारों ही सपक्षमें हो सकते हैं अथवा चारों ही विपक्षमें हो सकते हैं। यदि न हों तो नहीं भी हो सकते हैं। भावार्थ—ये श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टीके भी हो सकते हैं मिथ्यादृष्टीके भी हो सकते हैं। भिन्न भिन्न भी हो सकते हैं और मिले हुए सब भी हो सकते हैं ॥ ५९ ॥ यदि ये ही श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके होनेपर हों तो वे सब सम्यग्दर्शनके गुण कहलाते हैं। यदि वे विना स्वानुभूतिके हों तो वे गुण नहीं कहलाते किंतु गुणाभास कहलाते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि विना स्वानुभूतिके श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शनके गुण नहीं हो सकते ॥६०॥ अतएव यह निश्चित हुआ कि यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके साथ हों तो उन्हींको सम्यग्दर्शन कह देते हैं। यदि वे मिथ्याश्रद्धानके साथ हों तो वे सम्यग्दर्शन नहीं कहलाते किंतु श्रद्धाभास सम्यक्त्वाभास अथवा मिथ्यात्वरूप कहलाते हैं। भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि स्वानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाला अविनाभावी गुण है इसीलिए स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसीप्रकार यदि श्रद्धा आदि गुण भी स्वानुभूतिके साथ हों तो उनको भी सम्यग्दर्शन ही समझना चाहिए। इसीलिए पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यदि वे श्रद्धा आदि गुण मिथ्यादर्शनके साथ हों तो उनको मिथ्यात्व ही कहते हैं फिर उनको सम्यग्दर्शन नहीं कहते ॥ ६१ ॥ यदि श्रद्धान आदि गुण न तो सम्यग्दर्शनके साथ हों और न मिथ्यादर्शनके

सर्वं सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् । न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवच्चितः ॥ ६१ ॥ सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः । सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥ अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः । मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥६३ ॥ ननु तत्त्वरुचिःश्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् । सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥६४॥ नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः । नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥६५॥ विना

साथ हों दोनोंमेंसे किसीके साथ न हों तो वे सपक्षमें भी (सम्यग्दर्शनके साथ भी) रह सकते हैं तथा सपक्षके समान विपक्षमें भी (मिथ्यादर्शनके साथ भी) रह सकते हैं । दोनोंमें रह सकते हैं इसलिए वे व्यभिचारी हैं। भावार्थ–यदि वे सम्यक्त्व वा मिथ्यात्वके साथ न हों अकेले ही हों तो भी वे व्यभिचारी वा सदोष हैं॥६२॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि श्रद्धादिक गुण सम्यग्दृष्टीके गुण हों सम्यग्दर्शनके साथ हों तब तो वे श्रद्धादिक कहलाते हैं यदि वे श्रद्धादिक मिथ्यात्वके साथ हों तो फिर वे श्रद्धादिक नहीं कहलाते किंतु मिथ्यात्वके साथ होनेसे मिथ्या कहलाते हैं ॥ ६३ ॥

आगे शंकाकार इसमें शंका करता है कि तत्त्वोंमें रुचि होनेको श्रद्धा कहते हैं क्योंकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धान करना ही है फिर वह सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यादर्शनके साथ होनेसे दो प्रकारकी किस प्रकार हो जाती है। भावार्थ—जब श्रद्धा करनेको ही श्रद्धा कहते हैं तो फिर वह मिथ्याश्रद्धा और सम्यक्श्रद्धाके भेदसे दो प्रकारकी किस प्रकार हो जाती है॥६४॥ समाधान–कवि कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभूति दोनोंकी समव्याप्ति है अर्थात् दोनों साथ ही रहती हैं। जहां जहां स्वानुभूति होती है वहीं वहीं श्रद्धा होती है जहां स्वानुभूति नहीं होती वहां श्रद्धा भी नहीं होती, इसलिए गधेके सींगके समान अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा कभी नहीं रह सकती। भावार्थ–विना स्वानुभूतिके श्रद्धा कभी नहीं रह सकती ॥ ६५ ॥ स्वानुभूतिके विना होनेवाली श्रद्धा केवल कहने सुननेमात्रकी श्रद्धा है अर्थात् वास्तवमें श्रद्धा नहीं है । यद्यपि वह तत्त्वार्थके अनुकूल है तथापि स्वानुभूतिकी उपलब्धि न होनेसे वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं कही जा सकती । भावार्थ–श्रद्धा आत्माका गुण है यदि वह विना आत्मानुभूतिके हो तो उसका आत्मद्रव्यरूप आधार उपलब्ध न होनेसे आत्म-

स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः । तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ६६ ॥ लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् । नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ६७ ॥ ततोस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् । अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ६८ ॥ गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः । बहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥६९॥ तत्राद्यप्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् । अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं

तत्त्वका अनुभव न होनेसे वह वास्तविक श्रद्धा आत्मानुभूतिके साथ होनेवाली श्रद्धा प्रगट ही नहीं हो सकती, इसीलिए उस श्रद्धाको सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते ॥ ६६ ॥ उन्मत्त पुरुषके समान सत् वा असत् पदार्थमें बिना किसी विशेषताके साथ होनेवाली लब्धि उपलब्धि नहीं कहला सकती वह बाकीकी अन्य अनुपलब्धियोंके समान अनुपलब्धिरूप ही समझी जाती है । भावार्थ—सत्को सत्रूप अनुभव करना और असत्को असत्रूप अनुभव करना यथार्थ पदार्थकी उपलब्धि है । यदि वह उपलब्धि सत् असत्में सामान्य हो उन्मत्तके समान विशेषता रहित वा मिथ्यारूप हो तो उसे अनुपलब्धि ही समझना चाहिए ॥ ६७ ॥ अतएव चाहे तो यौगिक रीतिसे समझिये और चाहे रूढिसे समझिये सब तरहसे श्रद्धा ही सम्यग्दर्शनका लक्षण सिद्ध होता है इसलिए कहना चाहिए कि "जो श्रद्धा स्वानुभूतिके साथ होती है वही श्रद्धा कहलाती है" यह जो पहले कह चुके हैं वही सर्वथा अविरुद्ध और सर्वथा सत्य है ॥ ६८ ॥

इस श्रद्धाके सिवाय और भी जो प्रशम संवेग आदि सम्यग्दृष्टीके प्रसिद्ध गुण हैं वे भी अपनी अपनी योग्यतानुसार सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण हैं । भावार्थ—यदि वे स्वानुभूतिके साथ हों तो वे सम्यग्दर्शनरूप हैं अथवा सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं । यदि वे स्वानुभूतिके साथ न हों तो सम्यग्दर्शनके लक्षण नहीं हैं किंतु वे आभासरूप अथवा मिथ्यारूप हैं ॥ ६९ ॥ आगे उन्हीं गुणोंके नाम बतलाते हैं । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दर्शनके लक्षण कहलाते हैं आगे इन्हींका लक्षण अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ७० ॥

पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें अथवा असंख्यात लोकप्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे ही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है । भावार्थ—इंद्रियोंके समस्त विषयोंसे अपने मनको हटा लेना अथवा असंख्यात भेदरूप

यथा ॥ ७० ॥ प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च । लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ७१ ॥ सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् । तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥७२॥ हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् । अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोऽशतः ॥ ७३ ॥ आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः । अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्नहेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ७४ ॥ सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः । अन्यत्र प्रशमं मन्ये प्याभासः स्यात्तदस्य

कषायोंके परिणामोंसे मनको हटा लेना प्रशम कहलाता है ॥ ७१ ॥ अथवा जिन्होंने उसी समय अपराध किया है ऐसे जीवोंमें उनके मारने आदिके लिये कभी भी विकाररूप बुद्धि न होना प्रशम कहलाता है। भावार्थ-प्रशम का अर्थ परिणामोंकी स्वाभाविक शान्तता है। जिसके परिणाम शान्त होते हैं तथा स्वाभाविक शांत होते हैं उसके मनमें न तो कभी कषाय उत्पन्न होती है न कभी इन्द्रियोंके विषयोंकी लंपटता उत्पन्न होती है और न कभी उसका मन क्षमासे रहित होता है। बस ऐसे स्वाभाविक अत्यन्त शान्त परिणामोंको प्रशम कहते हैं ॥७२॥ उस प्रशम गुणके उत्पन्न होनेमें अनन्तानुबंधी कषायोंके उदयका अभाव होना तथा बाकीकी अप्रत्याख्यानावरण वा प्रत्याख्यानावरण कषायोंका अंशमात्रसे अत्यन्त मंद उदय होना ही कारण है। भावार्थ—जब दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबंधी कषायोंका अभाव हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका मंद उदय होता है तभी यह ऊपर लिखा हुआ सम्यग्दर्शनका अविनाभावी प्रशम गुण उत्पन्न होता है। इतनी सब सामग्रीका मिलना प्रशम गुणका कारण है ॥७३॥ यदि कदाचित् चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे तथा उसकी विना इच्छाके जो उससे आरंभादिक क्रिया होती है वह आरंभादिक क्रिया उसके प्रशम गुणको नाश नहीं कर सकती अर्थात् उसके द्वारा होनेवाली आरंभादिक क्रियासे उसके प्रशम गुणका नाश नहीं होता क्योंकि उसके अंतरंगकी शुद्धता बराबर जाज्वल्यमान प्रगट रहती है। वह अंतरंगकी शुद्धता प्रशम गुणको नाश नहीं होने देती ॥ ७४ ॥ इसप्रकार ऊपर कहा हुआ जो प्रशम गुण है वह यदि सम्यग्दर्शनके साथ हो, स्वानुभूतिके साथ हो तो वह सम्यग्दर्शनका परम गुण कहलाता है। यदि वही प्रशम गुण सम्यग्दर्शन वा स्वानुभूतिके साथ न हो तो वह सम्यग्दर्शन वा स्वानुभूतिके न होनेसे प्रशमाभास अथवा मिथ्या कहलाता है। भावार्थ--विना

यात् ॥ ७५ ॥ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ७६ ॥ धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धास्यानुभवोऽथवा । तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षय क्षायिकं च यत् ॥ ७७ ॥ इतरत्र पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः । नातद्गुणेनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ७८ ॥ अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते । किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ७९ ॥

सम्यग्दर्शनके प्रशम गुण कभी हो नहीं सकता । इसीलिए वह सम्यग्दर्शनका लक्षण कहलाता है ॥ ७५ ॥ आगे संवेगका लक्षण बताते हैं। भगवान वीतराग सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए अहिंसारूप धर्ममें अथवा रत्नत्रयरूप धर्ममें वा उत्तमक्षमादिरूप आत्माके धर्ममें तथा उन धर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गमोक्षादिरूप फलोंमें अत्यंत उत्साह होना उसको धारण करनेकी अत्यंत लालसा रखना संवेग कहलाता है, अथवा धर्मात्मा जीवोंमें अत्यंत अनुराग होना संवेग है, अथवा पांचों परमेष्ठियोंमें अत्यंत प्रेम होना भक्ति होना संवेग है ॥ ७६ ॥ सम्यग्दर्शनमय आत्मा ही धर्म है अथवा शुद्ध आत्माका अनुभव होना धर्म कहलाता है तथा उस शुद्ध आत्माके अनुभवसे जो अतींद्रिय अक्षय और क्षायिक सुख मोक्षरूप सुख उत्पन्न होता है वही उस धर्मका फल है ॥ ७७ ॥ ऊपर जो धर्मात्मा पुरुषोंमें अनुराग करना संवेग गुण बतलाया है उसका अर्थ यह है कि उन धर्मात्माओंमें जो रत्नत्रयादिक गुण हैं उन गुणोंमें प्रेम वा अनुराग होनेके कारण ही उन धर्मात्माओंमें अनुराग होता है। यदि किसी पुरुषमें रत्नत्रयादिक गुण न हों तो उसमें अनुरागके फलकी इच्छा न रखते हुए भी अनुरागी नहीं होना चाहिये। भावार्थ—गुणोंमें अनुराग होना ही संवेग है। धर्मात्माओंमें जो अनुराग होता है वह रत्नत्रयादिक गुणके कारण ही होता है। यदि किसीमें रत्नत्रयादिक गुण न हो तो किसी भी सम्यग्दृष्टीकी बुद्धि उसके अनुराग करनेमें परिणत नहीं हो सकती ॥७८॥

यहांपर अनुराग शब्दका अर्थ अभिलाषा वा इच्छा नहीं है किंतु विना अभिलाषाके किसी प्रकारकी इच्छाके स्वाभाविक रीतिसे केवल गुणोंमें प्रेम होना ही अनुराग कहलाता है अथवा अधर्मसे और अधर्मके फलसे निवृत्त हो जाना अधर्मका सर्वथा त्याग कर देना ही अनुराग कहलाता है। भावार्थ—अधर्मका त्याग किये

नचाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्। शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ८० ॥ अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम्। स्वार्थस्यार्थक्रियासिद्धयै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ८१ ॥ क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः। अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तुहेतुतः ॥ ८२ ॥ यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्। नास्य लाभोऽभिलाषोऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ८३ ॥ जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत्। तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात्

विना कभी धर्ममें प्रेम नहीं हो सकता। इसलिये अधर्मका त्याग और धर्मप्रेम दोनों एक ही बात है इसीको धर्मानुराग वा संवेग कहते हैं ॥७९॥ यहांपर किसी भी पुरुषको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि इस संवेगके लक्षणके प्रकरणमें केवल भोगोंकी अभिलाषा करनेवाला ही निषिद्ध बतलाया हो किंतु जो शुद्ध आत्माकी उपलब्धि वा प्राप्ति होनेपर भोगोंकी अभिलाषा करता है वह तो सदा निषिद्ध वा त्याज्य है ही। अर्थात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेपर या तो भोगोंकी अभिलाषा नहीं हो सकती अथवा भोगोंकी अभिलाषा होनेपर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि ठहर नहीं सकती। इसलिये भोगोंकी अभिलाषा तो सर्वथा और सदा त्याग करने योग्य है। किन्तु यहां तो सब प्रकारकी अभिलाषाका त्याग करना बतलाया है क्योंकि संसारमें जितनी भी अभिलाषाएं हैं वे सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं तथा वे सब अभिलाषाएं अपने अभीष्ट पदार्थोंको सिद्ध करनेके लिये कभी समर्थ नहीं होतीं अर्थात् अपनी अभिलाषाओंके अनुसार कभी भी इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती। यह यह बात प्रत्यक्ष है ॥ ८०-८१ ॥ देखो कहींपर तो ऐसा देखा जाता है कि तीव्र अभिलाषाके होनेपर भी अपने कारणरूप पुण्यकर्मके उदयके विना इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि कभी नहीं होती तथा कहींपर ऐसा देखा जाता है कि अभिलाषाका सर्वथा अभाव है किसी भी पदार्थकी किंचित मात्र भी अभिलाषा नहीं है तथापि अपने कारण रूप पुण्यकर्मके उदयसे अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि अपने आप हो जाती है ॥ ८२ ॥ इसके सैकडों उदाहरण हैं। देखो समस्त संसारमें यश फैलना, अपने घर बहुतसी लक्ष्मीका होना तथा पुत्र मित्रोंका होना आदि बातोंको समस्त संसार चाहता है परन्तु पुण्यकर्मके उदयके विना अभिलाषाके होने पर भी इन सब बातोंकी प्राप्ति इस पुरुषको नहीं होती है। इसी प्रकार बुढापा, मृत्यु और दरिद्रता आदिको इस संसारमें कोई नहीं चाहता। परंतु

॥ ८४ ॥ संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु विशेषसात् । स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥८५॥ त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा । संवेगोऽप्यथवा धर्मसाभिलाषो न धर्मवान् ॥ ८६ ॥ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः । नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्म एव हि ॥ ८७ ॥ नित्यं रागी कुदृष्टिः स्या-

अशुभ कर्मके उदयसे इन बातोंका संबंध जवर्दस्ती हो जाता है। अर्थात् जब अशुभ कर्मका उदय आता है तो विना चाहके भी बुढापा आ जाता है दरिद्रता आ जाती है तथा मृत्यु हो जाती है। भावार्थ-इच्छा होनेपर भी यशादिक नहीं बढते तथा विना इच्छाके भी मृत्यु हो ही जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अभिलाषासे किसी इष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये संसारमें जितनी भी अभिलाषाएं हैं वे सब त्याज्य हैं ॥ ८३-८४ ॥ यह संवेग विधिरूप भी है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी है। धर्ममें अनुराग करना विधिरूप संवेग है और अधर्मका त्याग करना निषेधरूप संवेग है वास्तवमें देखा जाय तो वे दोनों ही एक हैं उन दोनोंमें कोई किसी प्रकारका अंतर नहीं है क्योंकि अधर्मका त्याग करना ही धर्मानुराग है जैसा कि पहले लिख चुके हैं अतएव केवल कहनेकी शैलीमें केवल अंतर है वक्ताकी इच्छानुसार केवल विधिरूप वा निषेधरूप हो गया है। वास्तवमें कोई भेद नहीं है ॥ ८५ ॥ समस्त अभिलाषाओंका त्याग कर देना अथवा संसारसे अरुचिरूप वैराग्यरूप परिणामोंका धारण करना संवेग है तथा इसी संवेगको धर्म कहते हैं क्योंकि जिसके अभिलाषा है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता। भावार्थ-पहले भी लिख चुके हैं कि अभिलाषाएं सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं इससे भी सिद्ध होता है कि जिसके अभिलाषाएं हैं वह मिथ्यादृष्टी है अभिलाषा करनेवाला सम्यग्दृष्टी वा धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि क्रिया करनेमात्रसे ही धर्म होता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टी पुरुषके रागादिक भाव सदा बने रहते हैं इसलिये उसके सदा क्रिया होती रहती है परन्तु उसकी उस क्रियाको धर्म नहीं कहते किंतु अधर्म ही कहते हैं इससे सिद्ध होता है कि क्रिया करनेको धर्म नहीं कहते हैं किंतु त्यागको ही धर्म कहते हैं ॥ ८७ ॥ मिथ्यादृष्टी सदा राग सहित रहता है वह कभी किसी अवस्थामें भी रागसहित नहीं रहता तथा सम्यग्दृष्टी सदा राग रहित रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि

न्स्यात्क्वचिदरागवान् । अस्तरागोस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्नरागवान् ॥ ८८ ॥ अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः । मैत्रभावोथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ८९ ॥ दृग्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योस्तिकेवलम् । मिथ्याज्ञान विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥ ९० ॥ मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।

वह सम्यग्दृष्टी कभी भी राग सहित नहीं होता सदा वैराग्यरूप ही रहता है । बस वही उसका संवेग धर्म है। इससे सिद्ध होता है कि संवेग वा धर्म त्यागरूप ही होता है। क्रिया रूप नहीं होता । हां; वह विधिरूप अवश्य होता है जैसा कि पहले विधिरूप और निषेधरूप बतला चुके हैं इस प्रकार सम्यग्दर्शनके संवेग गुणका लक्षण बतलाया ॥ ८८ ॥ अब आगे अनुकंपारूपगुणका लक्षण बतलाते हैं—

समस्त जीवोंपर दया धारण करना अनुकंपा है अथवा समस्त जीवोंका उपकार करना अनुकंपा है अथवा समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना अनुकंपा है वा राग द्वेष छोड कर माध्यस्थ भाव धारण करना अनुकंपा है अथवा वैरभाव छोडकर शल्यरहित हो जाना कषाय रहित हो जाना अनुकंपा है ॥८९॥ इस अनुकंपा गुणके होनेमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होना ही कारण है क्योंकि मिथ्याज्ञानके विना कभी वैरभाव वा शत्रुता हो ही नहीं सकती । भावार्थ—ज्ञानका अर्थ जानना है वह ज्ञान जब सम्यग्दर्शनके साथ होता है सम्यग्ज्ञान कहलाता है और जब मिथ्यादर्शनके साथ होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्यादर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होता है तथा उसके साथ ही मिथ्याज्ञान होता है। उस मिथ्याज्ञानसे ही पदार्थोंका स्वरूप विपरीत जानने लगता है और विना कारणके भी वैरभाव धारण करने लगता है इसलिये दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव होनेसे ही वैरभाव आदिके नष्ट होनेसे अनुकंपा गुण प्रगट होता है ॥९०॥ यह जीव सुख दुःख आदिक अथवा मृत्यु वा थोडेसे जीवन आदिको अपनेमें देखकर दूसरोंमें होनेके लिये इच्छा करता है अथवा इनको दूसरोंमें देखकर अपनेमें होनेके लिये इच्छा करता है परन्तु यह सब उसका मिथ्यात्व है । भावार्थ—यह जीव सुख जीवन आदिको अपनेमें देखकर मित्रपुत्र आदिमें होनेके लिये इच्छा करता है अथवा अपने शत्रु लोगोंमें वा अन्य किसीमें भी देखकर अपनेमें होनेकी इच्छा करता है इसी प्रकार दुःख वा मृत्यु आदिको शत्रुओंमें होने-

इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ९१ ॥ अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सः शल्यवान् । अज्ञानाद्धंतुकामोपि क्षमो हंतुं न चापरम् ॥ ९२ ॥ समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा । अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ९३ ॥ रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि । न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया

की इच्छा करता है अथवा जिसके संबंधसे ये दुःख आदिक होते हैं उसको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष-भाव करने लगता है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो इस प्रकारका रागभाव वा द्वेषभाव दोनों ही मिथ्या हैं उसका इस प्रकार समझना मिथ्याज्ञान है और ऐसी समझ वा ऐसा मानना दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही होता है ॥ ९१ ॥ जिसके ऐसा विपरीत ज्ञान होता है वह वास्तवमें मिथ्यादृष्टी होता है । शल्यसहित होता है । यद्यपि वह अपने अज्ञानसे दूसरोंको मारना चाहता है । परन्तु वह मार नहीं सकता । दूसरेका मरना जीना उसके पुण्य पाप कर्मके आधीन होता है । मिथ्यादृष्टी जीव दुःख देनेवालेको अपना शत्रु समझकर मारना चाहता है परन्तु उसका मरना जीना उसके हाथ न होनेसे वह मार नहीं सकता । इतना होनेपर भी वह जो उसके मारनेकी इच्छा करता है यह उसका मिथ्यात्व है । इसप्रकार सिद्ध हुआ कि जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक अनुकंपा नहीं हो सकती । मिथ्यात्व वा दर्शनमोहनीयके अभाव होनेपर वा सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही अनुकंपा गुण प्रगट होता है ॥ ९२ ॥ वह अनुकंपा दो प्रकारकी है । एक स्वानुकंपा अपने आत्मापर दया करना और दूसरी परानुकंपा दूसरे जीवोंपर दया करना । समस्त जीवोंमें अनुकंपा वा दया धारण करना परानुकंपा कहलाती है तथा कांटेके समान सदा हृदयमें चुभनेवाली दुःख देनेवाली शल्योंका त्याग कर देना स्वानुकंपा कहलाती है । अपने आत्माको दुःख देनेवाले शल्य हैं अतएव शल्योंका त्याग करना ही अपने आत्मापर दया करना है । जो अपने आत्मापर दया करता है, अपने आत्माको पापोंसे बचाता है वही दूसरोंपर दया कर सकता है इसलिये स्वानुकंपा सब अनुकंपाओंमें प्रधान है । इसके होनेपर परानुकंपा अवश्य होती है और अपने आप होती है । शल्योंके त्याग देनेपर समताभाव हो ही जाता है ॥ ९३ ॥ दोनों प्रकारकी अनुकंपामें स्वानुकंपा प्रधान है इसका भी कारण यह है कि इस आत्माके जब रागादिक अशुद्ध भाव होते हैं तब बंध

कृपात्मनि ॥ ९४ ॥ आस्तिक्यं सत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे गतिश्चितः । धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥ ९५ ॥ अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोप्यमूर्तिमान् । चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ९६ ॥ अस्त्यात्मानादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः । कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥९७॥

अवश्य होता है । जो कि इस आत्माको संसारके महा दुःखोंका कारण है । यदि उन रागादिक अशुद्ध भावोंका अभाव हो जाय तो वह दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध नहीं होता । बंध न होनेसे यह आत्मा अनंत सुखोंका भोक्ता हो जाता है, इसलिए अपने आत्मापर कृपा अवश्य करना चाहिए । भावार्थ—कर्मबंध करनेवाले अशुद्ध भावोंका त्याग कर देना ही स्वानुकंपा है इसीसे आत्मा अनंत सुखका भागी होता है, इसलिए यह स्वानुकंपा अवश्य करनी चाहिए ॥ ९४ ॥ इसप्रकार अनुकंपाका निरूपण किया अब आगे आस्तिक्यका वर्णन करते हैं ।

आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंमें जो जो धर्म जिस जिस प्रकार उपस्थित है उन्हींके समान अपने आप सिद्ध होनेवाले समस्त तत्त्वोंमें, धर्ममें, धर्मके कारणोंमें और धर्मके फलमें निश्चय बुद्धि रखना आस्तिक्य कहलाता है । भावार्थ—अस्ति शब्दसे आस्तिक्य बना है पदार्थोंका वा धर्मका जैसा स्वरूप है अथवा सर्वज्ञदेवने जैसा स्वरूप कहा है उसीके अनुसार उनका विश्वास करना आस्तिक्य कहलाता है ॥ ९५ ॥ जिसकी जीव संज्ञा है उसको आत्मा कहते हैं । वह आत्मा स्वतःसिद्ध है किसीके द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अमूर्त है और चेतन है इसी प्रकार संसारमें जितने अचेतन पदार्थ हैं वे सब अजीव हैं । भावार्थ—संसारमें पदार्थ दो प्रकारके हैं एक जीव और दूसरे अजीव ॥ ९६ ॥ उन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे जो जीवतत्त्व है वह अनादिकालसे कार्माण वर्गणाओंके द्वारा बने हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंधा हुआ है तथा वही जीवतत्त्व उन्हीं कर्मोंका कर्ता है उन्हीं कर्मोंका भोक्ता है और उन्हीं कर्मोंके नाश होनेसे मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९७ ॥ इस संसारी जीवके उन्हीं कर्मोंके निमित्तसे निरंतर पुण्य पाप उत्पन्न होता रहता है सदा उन कर्मोंका फल सुख दुःखादिक प्राप्त होता रहता है और उन्हीं कर्मोंके निमित्तसे आस्रवादिक अन्य पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं । भावार्थ—इस जीवके जो निरंतर कर्मबंध होता रहता है वह दो प्रकारका होता है एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप । पुण्यका फल सुख मिलता

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै । आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ९८ ॥ अस्त्येवं पर्यायादेशाद्बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् । अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥ ९९ ॥ तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः । सोहमन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ १०० ॥ इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् । निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥१०१॥ सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् । आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततो-

है और पापका फल दुःख मिलता है । उस सुख वा दुःखके होनेसे जो रागद्वेषरूप परिणाम होते हैं तथा उन्हींके द्वारा जो नवीन कर्म आते हैं उनको आस्रव कहते हैं हैं आस्रव होनेपर फिर कर्मोंका बंध होता है समयानुसार उनका संवर निर्जरा होती है और उन समस्त कर्मोंका नाश होनेपर मोक्ष होती है । इसप्रकार समस्त तत्त्व वा समस्त पदार्थ इस अशुद्ध जीवमय ही प्रगट होते हैं ॥ ९८ ॥ पर्यायदृष्टिसे अथवा पर्यायार्थिक नयसे इस आत्माके कर्मका बंध होता है तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही मोक्ष प्राप्त होती है और पर्यायार्थिक दृष्टिसे ही उन कर्मोंका फल सुख दुःख प्राप्त होता है । यदि शुद्ध नयसे देखा जाय तो ये संसारी समस्त जीव सदा शुद्ध हैं । भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव शुद्ध हैं शुद्ध नयसे बंध मोक्ष आदि कुछ नहीं है ॥ ९९ ॥ उन समस्त तत्त्वोंमें यह जीव स्वयं वेद्य है, मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं इत्यादि रूपसे स्वयं जाना जाता है तथा चैतन्यस्वरूप है और 'मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं ज्ञान सुख आदि गुणोंका अखंड पिंड हूं' इसप्रकार स्वयं प्रत्यक्ष है । ऐसे इस आत्माको छोडकर बाकीके पुद्गलके बने हुए जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब त्याज्य हैं ॥ १०० ॥ इसप्रकार अनादिकालसे चले आए जितने भी जीवादिक पदार्थ हैं वे सब निश्चय और व्यवहारनयसे दो प्रकारके हैं । उन दोनों भेदोंको लिए हुए समस्त पदार्थोंको उसीरूप मानना वा निश्चय करना आस्तिक्य है । भावार्थ—पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा ही उसका श्रद्धान करना आस्तिक्य है । जीवादिक समस्त पदार्थ निश्चयनयसे शुद्ध स्वरूप हैं और व्यवहारसे अशुद्ध स्वरूप हैं इसलिए निश्चयनयसे शुद्धस्वरूप श्रद्धान करना और व्यवहारनयसे अशुद्धस्वरूप श्रद्धान करना आस्तिक्य कहलाता है ॥ १०१ ॥ सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूति ही जिसका लक्षण है अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूतिके ही साथ होता है ऐसा जो आस्तिक्य

न्यथा ॥ १०२ ॥ ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः । न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥ यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् । स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ १०४ ॥ सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि । प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृग्मोहोपशमादितः ॥ १०५ ॥ स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः । भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥ १०६ ॥ अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि । गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः

है वही आस्तिक्य सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा उससे भिन्न जो आस्तिक्य है जो आस्तिक्य सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वानुभूतिके साथ नहीं होता उसे मिथ्या आस्तिक्य वा मिथ्यादर्शन समझना चाहिए ॥ १०२ ॥

आगे कोई शंकाकार कहता है कि वास्तवमें देखा जाय तो एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है । केवलज्ञानको छोडकर बाकीके चारों ज्ञान परोक्ष हैं । अथवा जिसप्रकार आत्मजन्य सुख प्रत्यक्ष होता है उसीके समान इंद्रियजन्य ज्ञान भी एकदेश प्रत्यक्ष होता है । ऐसी अवस्थामें वह आस्तिक्य गुण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? भावार्थ—आस्तिक्यगुण स्वानुभूतिके साथ होनेसे स्वानुभूतिके समान स्वयंप्रत्यक्ष होता है । उसमें शंकाकार कहता है कि मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानीके होनेवाला वह आस्तिक्यगुण उस मतिज्ञान श्रुतज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । मतिज्ञान श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं । आगे इसीका समाधान करते हैं ॥ १०३-१०४ ॥ उत्तर... यह ठीक है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों ही परोक्ष हैं परंतु वे परपदार्थोंके जाननेमें परोक्ष हैं अपने आत्माका अनुभव करनेमें तो वे भी प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अपने आत्माका अनुभव दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे वा क्षयोपशम होनेसे ही होता है । भावार्थ-- आत्मप्रत्यक्ष होनेमें दर्शनमोहनीय कर्म ही बाधक है । जब दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है तब बाधकके दूर होनेसे स्वयं उसका प्रत्यक्ष हो जाता है । इसलिए कहना चाहिए कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान परपदार्थोंके जाननेमें परोक्ष हैं और बाधकके दूर होनेपर अपने आत्माके अनुभव करनेमें प्रत्यक्ष हैं ॥ १०५ ॥ अपने आत्माका अनुभव करनेरूप स्वानुभूतिस्वरूप जो यह आस्तिक्य गुण है वह आत्माका परम गुण है । वह आस्तिक्य अपने आत्मस्वरूप ही होता है । परद्रव्योंमें हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता क्योंकि परद्रव्य सदा पर ही रहते हैं इसलिए उनका ज्ञान तो होता है परंतु स्वानुभूति-

॥१०७॥ न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् । दृग्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १०८ ॥ ततः सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् । सम्यक्त्वेनाविनाभूतं सत्रास्तिक्यं गुणो महान् ॥ १०९ ॥ उक्तं च । संवेओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्ल अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते

स्वरूप वा आस्तिक्यस्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होता ॥१०६॥ यद्यपि स्वानुभूति वा आस्तिक्यगुणको धारण करनेवाले पुरुषके जीवादिक परपदार्थ परोक्ष होते हैं तथापि जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुषके अपनी आत्मामें गाढ विश्वास होता है उसीप्रकार उस आस्तिक्य गुणको धारण करनेवाले पुरुषके उन परोक्षस्वरूप परपदार्थोंमें भी गाढ विश्वास होता है। भावार्थ--यद्यपि सम्यग्दृष्टी पुरुष परपदार्थोंको परोक्ष जानता है तथापि स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले आत्माके समान उन पदार्थोंमें भी वह गाढ विश्वास करता है। उसके विश्वास वा श्रद्धानमें किंचिन्मात्र भी अंतर नहीं है ॥ १०७ ॥ जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष आत्मतत्त्व और परपदार्थ दोनोंमें यथार्थ श्रद्धान करता है उस प्रकारका श्रद्धान वा विश्वास मिथ्यादृष्टीके नहीं होता क्योंकि उसके उस विश्वासका बाधक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय सदा बना रहता है। उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उस मिथ्यादृष्टीके सदा भ्रम बना रहता है। भावार्थ--मिथ्यादृष्टीके सदा भ्रम बने रहनेके कारण किसी भी पदार्थमें यथार्थ श्रद्धान नहीं हो सकता। इसी लिए उसके आस्तिक्य गुण प्रगट नहीं हो सकता ॥ १०८ ॥ इसलिए युक्तिसे अपने अनुभवसे तथा आगमसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दर्शनके सदा साथ रहनेवाला यह आस्तिक्यगुण आत्माका सर्वोत्कृष्ट गुण है और यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ॥ १०९ ॥

इसप्रकार प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य इन चारों गुणोंका निरूपण किया। जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके ये चार गुण हैं उसीप्रकार अन्य ग्रंथकारोंने आठ गुण भी बतलाए हैं। आगे उन्हींको बतलाते हुए उनको इन चारोंमें ही अंतर्भूत होते हुए दिखलाते हैं। अन्य शास्त्रोंमें लिखा है।

संवेओ णिव्वओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती। वच्छलं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते।

अर्थ—संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा ये आठ गुण सम्यग्दर्शनमें होते

॥ ८ ॥ उक्तं गाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् । नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ११० ॥ अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् । तद्यथास्त्यादि-लक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ १११ ॥ यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः । सचोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ ११२ ॥ तत्र भक्तिरनौद्धत्यं

हैं अर्थात् ये सम्यग्दर्शनके आठ गुण हैं ॥ १ ॥ इस ऊपर लिखे हुए गाथामें जो आठ गुण बतलाए हैं उसमें इस प्रथम कहे हुए प्रशम संवेग आदि गुण भी आ गए हैं तथा इस गाथामें कहे हुए आठों गुण इस ग्रंथमें कहे हुए प्रशम संवेग आदि चारों गुणोंसे भिन्न नहीं हैं किंतु कोई लक्षण हैं और कोई उपलक्षण हैं। भावार्थ—प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार तो सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं और ये ही निंदा गर्हा भक्ति वात्सल्यके उपलक्षण हैं। ये उपलक्षण क्यों हैं इसी बातको आगे उपलक्षणका लक्षण कहते हुए दिखलाते हैं ॥ ११० ॥ जो लक्षणका भी लक्षण होता है उसको उपलक्षण कहते हैं। जैसे जो आस्तिक्यादिक गुण सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्यके लक्षण हैं वे ही आस्तिक्यादि गुण निंदा गर्हा आदिक उपलक्षण कहे जाते हैं। भावार्थ--किसी पदार्थका जो गुण लक्षण कहा जाता है वह तो उसका लक्षण होता है परंतु आगे उस लक्षणका जो लक्षण करते हैं उस लक्षणसे जो जो ग्रहण करते हैं उन सबका वही लक्षण उपलक्षण कहलाता है। जैसे किसीने कहा कि इस दहीको कुत्ता न खा जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि कुत्ता तो न खा जाय बिल्ली कौआ आदि अन्य पशु खा जांय। किंतु उसका अर्थ यही है कि कुत्ता बिल्ली कौआ आदि सबसे इसकी रक्षा करना। इसप्रकार वह कुत्ता अन्य बिल्ली कौआ आदि उस दहीको बिगाडनेवाले सभी पशुओंका उपलक्षण होता है। इसीलिए ग्रंथकारने कहा है कि जो लक्ष्यका लक्षण होता है वही आगेवालोंका उपलक्षण होता है ॥ १११ ॥ जैसे जो संवेग गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही संवेग गुण भगवान अरहंतदेवकी भक्ति अथवा वात्सल्य गुणका उपलक्षण है। भावार्थ--संवेग गुणसे भगवान अरहंत देवकी भक्ति और वात्सल्य दोनोंका ग्रहण किया जाता है इसलिए संवेग गुण भक्ति और वात्सल्य दोनोंका उपलक्षण है ॥ ११२ ॥ इन चारों गुणोंमेंसे मन वचन कायके अत्यंत शांत होनेसे जो उद्धतताका अभाव हो जाता है उसको भक्ति कहते हैं तथा उनके गुणोंको बढानेके लिए जो मनमें उल्लास होता है उसको वात्सल्य

वाग्वपुश्चेतसां शमात् । वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ११३ ॥ भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा । संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥ ११४ ॥ दृग्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः । तत्रापि व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ११५ ॥ निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि । पश्चा-

कहते हैं। भावार्थ--जिसकी भक्ति की जाती है उसके लिए मन वचन कायसे उद्धतपनेका त्यागकर अत्यंत नम्र होना पडता है उसीको भक्ति कहते हैं तथा जिसके साथ वात्सल्य वा प्रेम किया जाता है उसके गुण बढानेके लिए मनमें हर्ष प्रगट होता है इसीको वात्सल्य कहते हैं ॥ ११३ ॥ भक्ति और वात्सल्य ये दोनों ही गुण संवेगके विना नहीं हो सकते, संवेगके साथ ही होते हैं और संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है तथा भक्ति और वात्सल्य ये दोनों ही गुण उपलक्षणसे ग्रहण किए जाते हैं। भावार्थ—जब यह निश्चित है कि भक्ति और वात्सल्य विना संवेगके नहीं होते तो यह अर्थात् सिद्ध है कि वे दोनों ही संवेगके साथ अवश्य होते हैं इसलिए संवेगके कहनेसे उन दोनोंका ग्रहण अपने आप हो जाता है। अथवा यों कहना चाहिए कि जो संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही संवेग भक्ति और वात्सल्यका उपलक्षण है ॥ ११४ ॥ इसीप्रकार सम्यग्दर्शनका प्रशम गुण दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके अभाव होनेपर प्रगट होता है, यह बात प्रसिद्ध है तथा उस प्रशमगुणको प्रगट करनेवाला बाहरसे ही बतानेवाला निंदन और गर्हण है। भावार्थ—जिसप्रकार विना संवेगके भक्ति और वात्सल्य नहीं होते थे उसीप्रकार विना प्रशमके निंदन गर्हण नहीं होते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि निंदन गर्हण होनेसे प्रशम गुण अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ११५ ॥ इस संसारमें रागादिक दुष्ट कर्म अत्यंत कठिनतासे दूर किए जाते हैं ऐसे उन रागादिक भावोंके होनेपर अत्यंत पश्चात्ताप उत्पन्न करनेवाला अत्यंत दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध होता है। वह कर्मोंका बंध न तो अपेक्षणीय वा राग करनेके योग्य है और न उपेक्षणीय वा द्वेष करने योग्य है। भावार्थ—इस जीवके साथ राग द्वेष आदि भावकर्म अनादिकालसे चले आ रहे हैं इसीलिए वे बडी कठिनतासे दूर हो सकते हैं। उन्हीं रागादिक भावोंके कारण कर्मोंका बंध होता है। उस कर्मोंके बंधसे न तो राग करना और न द्वेष करना किंतु समता भाव वा शांत परिणामोंको धारणकर उनसे स्वयं हट जाना ही निंदन गुण है ॥ ११६ ॥ इसी

त्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षितः ॥ ११६ ॥ गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः । निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ११७ ॥ अर्थादेतद्द्वय सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् । प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥ ११८ ॥ शेषमुक्तं यथाम्नायाद् ज्ञातव्यं परमागमात् । आगमाब्धेः परंपारं माद्दग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ११९ ॥ एवमित्यादिसत्यार्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् । कैश्चिल्लक्षणिकैः सिद्धैः प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् ॥ १२० ॥ मत्रेद्दर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः ।

प्रकार केवल कर्मोंका नाश करनेके लिए अरहंतादिक पांचों परमेष्ठियोंकी साक्षीपूर्वक तथा अपनी शक्तिके अनुसार और सब तरहके प्रमादोंसे रहित होकर उन रागद्वेषोंका त्याग कर देना गर्हण गुण है ॥ ११७ ॥ इस प्रकार जो निंदन और गर्हण गुण ऊपर बतलाए हैं वे कषायोंके उदयके अभाव होनेपर ही होते हैं इसीलिए ये दोनों प्रशम गुणके धारण करनेवाले सम्यग्दर्शनके उपलक्षण होते हैं । भावार्थ---सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रशम है और निंदन गर्हण ये दोनों गुण प्रशमके साथ ही होते हैं विना प्रशमके नहीं होते इसलिए प्रशमके कहनेसे ही इनका ग्रहण हो जाता है । अतएव जो प्रशम गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है वही प्रशम गुण निंदन गर्हण दोनोंका उपलक्षण है । प्रशम गुण सम्यग्दर्शनका लक्षण है और निंदन गर्हण दोनों उपलक्षण हैं ॥ ११८ ॥ इसके सिवाय शेष जो कथन है वह सब आचार्यपरंपरासे चले आए आगमके अनुसार जान लेना चाहिए क्योंकि यह जिनागम एक प्रकारका महासागर है । इसके पार पहुंचना मेरे समान क्षुद्र बुद्धिको धारण करनेवालेका काम नहीं है ॥ ११९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है वही यथार्थ लक्षण है । वही लक्षण समस्त लक्षणोंके जानकार कितने ही सिद्ध पुरुषोंने कहा है और यही लक्षण हेतुवादसे सिद्ध होता है ॥ १२० ॥

इसप्रकार जिस सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है उससे जो सुशोभित होता है जिसके वह सम्यग्दर्शन होता है वह मनुष्य दर्शनिक अथवा दर्शनप्रतिमावाला कहलाता है । यदि किसी मनुष्यके वह सम्यग्दर्शन न हो और वह मनुष्य क्रियावान् हो यत्नाचारसे चलनेवाला वा व्रतादिकोंका पालन करनेवाला हो तो भी दर्शनिक वा दर्शनप्रतिमावाला नहीं कहलाता दर्शनप्रतिमा नाममात्र अथवा मिथ्यादृष्टी कहलाता है ॥ १२१ ॥ क्योंकि संसारमें जितने भी क्रियारूप व्रत वा तप हैं वे चाहे एकदेशरूप हों और चाहे पूर्णरूप महाव्रत हों वे सब विना सम्यग्दर्शनके

दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥ १२१ ॥ देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत्। सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तद् ॥ १२२ ॥ ततः प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा। अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥ १२३ ॥ ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम्। तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥ १२४ ॥ प्रकृतोपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात्। स एव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥११५॥ किञ्च प्रोक्ता क्रियाप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका। सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥ १२६ ॥ तत्राप्यस्ति विशेषोऽयंतुर्यपञ्चमयोर्द्वयोः। योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयोः ॥ १२७ ॥ सैवैका

अव्रत कहलाते हैं तथा विना सम्यग्दर्शनके जितना भी तप है वह सब कुतप कहलाता है ॥ १२२ ॥ इसलिए अव्रती श्रावकोंको वा अणुव्रतादि गृहस्थोंके बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए ॥ १२३ ॥ शास्त्रोंमें लिखा है कि विना सम्यग्दर्शनके जो व्रत वा तपश्चरणकी क्रियाओंको धारण करता है उसके सदा पहला मिथ्यात्वगुणस्थान ही रहता है। भावार्थ---विना सम्यग्दर्शनके महाव्रत धारण करनेवाला मुनि भी मिथ्यादृष्टी वा मिथ्यात्व नामके पहले गुणस्थानमें रहनेवाला कहलाता है ॥१२४॥ विना सम्यग्दर्शनके कैसा ही विद्वान् पुरुष क्यों न हो वह कर्मबंधनसे कभी छूट नहीं सकता तथा वही मनुष्य जब सम्यग्दर्शन धारण कर लेता है तब फिर वह उन कर्मबंधनोंसे अवश्य छूट जाता है। भावार्थ---कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति सम्यग्दर्शनमें ही है और किसीमें नहीं है ॥ १२५ ॥ ऊपर जो यह दर्शनप्रतिमारूप क्रिया बतलाई है वह यदि उन उन गुणस्थानोंमें होनेवाले सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है अन्यथा नहीं। भावार्थ---दर्शनप्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें होती है। उसमें आठ मूलगुणोंको धारण और सप्तव्यसनका त्याग है। यदि यह सब सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो दर्शनप्रतिमा कही जाती है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो फिर उसे दर्शनप्रतिमा नहीं कहते किंतु वह मिथ्यात्व ही कहलाता है ॥ १२६ ॥ उसमें भी इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका साक्षात् धारण करनेरूप क्रिया तथा सातों व्यसनोंके त्याग करनेरूप क्रिया योगसे तथा रूढिसे चौथे पांचवें दोनों विशेष गुणस्थानोंमें एकसी ही होती है। भावार्थ---चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन भी होता है और आठ मूलगुणोंका पालन तथा

क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका । व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥ १२८ ॥ एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥ १२९ ॥ भावशून्याः क्रिया यस्मान्नेष्टसिद्ध्यै भवन्ति हि । क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगानुषङ्गजम् ॥ १३० ॥ दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् । केवलं पाक्षिकः सः स्याद्गुणस्थानादसंयतः ॥ १३१ ॥ किंच सोपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागतात् । स्वर्गादिसंपदोभुक्त्वाक्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३२॥

सातों व्यसनोंका त्याग भी होता है। पांचवें गुणस्थानमें भी ये सब क्रियाएं होती हैं। इसप्रकार चौथे पांचवें दोनों गुणस्थानोंमें ये ऊपर लिखी क्रियाएं एकसी होती हैं तथापि उनमें नीचे लिखे अनुसार अंतर है ॥ १२७-१२८ ॥ यदि ये ऊपर लिखी क्रियाएं विना किसी नियमके यों ही कुलपरंपरासे चली आई हों तो उनको व्रत नहीं कहते किंतु कुलक्रिया कहते हैं । भावार्थ—व्रत तभी कहलाता है जब कि नियमपूर्वक धारण किया जाता है । मद्य-मांसादिकका वा व्यसनोंका नियमपूर्वक त्याग किए विना कुलाचार कहलाता है व्रत नहीं कहलाता ॥ १२९ ॥ इसका भी कारण यह है कि बिना भावोंके की हुई किसी भी क्रियासे अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती है। ऐसे विना भावोंके जो क्रियाएं की जाती हैं उनका फल केवल क्रिया करनेमात्रका होता है जैसे थोडीसी भोगोपभोगकी सामग्रीका मिलजाना आदि। इसके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता तथा जो त्याग भावपूर्वक किया जाता है उसका फल स्वर्ग मोक्ष मिलता है ॥१३०॥ इसप्रकार जो मनुष्य, मद्य, मांस, मधु, पांचों उदम्बर तथा व्यसनोंका सेवन नहीं करता परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नहीं लेता इन ऊपर लिखे पापोंको भावपूर्वक त्याग नहीं करता उसके न तो दर्शनप्रतिमा होती है और न पांचवां गुणस्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते हैं और उसके असंयत नामका चौथा गुणस्थान होता है। भावार्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करता है और मद्य मांसादिकके त्याग करनेका नियम नहीं लेता परन्तु कुलक्रमसे चली आई परिपाटीके अनुसार उनका सेवन भी नहीं करता उसके चौथा गुणस्थान होता है ॥ १३१ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला पुरुष भी कुलक्रमसे चली आई परिपाटीके अनुसार जो क्रियाएं पालन करता है वह भी स्वर्गादिककी सम्पदाओंको भोग कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है। भावार्थ—यद्यपि वह नियमपूर्वक मद्य

सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमेनाप्यथोज्झितः। योपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥ १३३ ॥ अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् । व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मतः ॥ १३४ ॥ दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थानं च पंचमम् । संयतासंयताख्यश्च संयमोस्य जिनागमात् ॥ १३५ ॥ दृग्घेकादशान्तानां

मांसादिकका त्याग नहीं करता केवल कुल परिपाटीके अनुसार उनका त्यागी होता है तथापि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे वह स्वर्गादिकोंके सुख भोगकर कुछ ही समयमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १३२ ॥ तथा जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भी रहित होता है और नियमपूर्वक भावपूर्वक मद्य मांस मधु उदम्बर व्यसन आदिका त्याग भी नहीं करता केवल अपनी कुलक्रियाका पालन करता है कुलपरम्पराके अनुसार [कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीके अनुसार] मद्य मांस मधु पांचों उदम्बर और व्यसनोंका सेवन नहीं करता वह मनुष्य भी स्वर्गादिक सुखोंको प्राप्त होता है। भावार्थ–यद्यपि सम्यग्दर्शनके न होनेसे उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होती तथापि पापोंका सेवन न करनेसे वह पुण्यबन्धका अधिकारी अवश्य होता है ॥ १३३ ॥ यदि वही मनुष्य सम्यग्दर्शनके साथ साथ कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीके अनुसार मद्य मांस आदिके न सेवन करनेरूप क्रियाओंको व्रत रूपसे धारणकर लेता है तब वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला दर्शनिक कहलाता है। भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टी पुरुष नियमपूर्वक (देवगुरुको साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेकर आठों मूलगुणोंको धारण कर लेता है तथा सातों व्यसनोंका त्यागकर देता है उसके पहिली दर्शनप्रतिमा होती है ॥ १३४ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ नियमपूर्वक आठों मूलगुणोंको धारण करनेवाले तथा सातों व्यसनोंका त्याग करनेवाले पुरुषके पहिली दर्शनप्रतिमा कहलाती है। उसका गुणस्थान संयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान कहलाता है और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके अनुसार अपने संयमका पालन करता है ॥ १३५ ॥ यह निश्चय है कि सम्यग्दर्शनको आदि लेकर (दर्शनप्रतिमाको आदि लेकर) जो ग्यारह प्रतिमाएं हैं उनकी निर्दोष व्याप्ति अनादिकालसे पांचवें गुणस्थानके साथ ही चली आ रही है। भावार्थ–कदाचित् कोई यह समझ ले कि दर्शनप्रतिमा चौथे गुणस्थानमें ही मान ली जाय तो क्या हानि है उसको समझानेके लिए कहते हैं कि यह बात

प्रतिमानामनादितः । पंचमेन गुणेनामा व्याप्तिः साधीयसी स्मृतेः ॥ १३६ ॥ ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा । जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥ १३७ ॥ मैवं सति तथा तुर्य-गुणस्थानस्य शून्यता । नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद्गुणे पंचमके मता ॥ १३८ ॥ नोह्यं दृक्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् । व्रतादि-

नहीं है दर्शनप्रतिमा चौथे गुणस्थानमें नहीं हो सकती किन्तु पांचवें गुणस्थानमें ही होती है और इसका भी कारण यह है कि अनादि कालसे निर्दोष वा अव्यभिचारी नियम चला आ रहा है कि ग्यारह प्रतिमाएं पांचवें गुणस्थानमें ही होती हैं अन्य किसी भी गुणस्थानमें नहीं होतीं ॥ १३६ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि यह जो पहिली दर्शनप्रतिमा कही है वह तो समस्त जैनियोंके होती है और इस हिसाबसे अव्रत सम्यग्दृष्टीके भी अवश्य होनी चाहिए । भावार्थ–चौथे गुणस्थानमें रहनेवाले अव्रत सम्यग्दृष्टीके भी यदि पहिली दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो क्या हानि है ॥ १३७ ॥ समाधान--परन्तु यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जायगा अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टियोंके भी पहिली प्रतिमा मान ली जायगी तो फिर चौथे गुणस्थानका सर्वथा अभाव मानना पडेगा क्योंकि यह नियम है कि दर्शन-प्रतिमा पांचवें गुणस्थानमें ही होती है । भावार्थ--यदि अविरत सम्यग्दृष्टीके ही दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो फिर उसके पांचवां गुणस्थ न ही मानना पडेगा क्योंकि प्रतिमाएं सब पांचवें गुणस्थानमें ही होती हैं तथा अविरत सम्यग्दृष्टीके पांचवां गुणस्थान माननेसे फिर चौथा गुणस्थान कोई बन ही नहीं सकेगा इस प्रकार चौथे गुणस्थानका अभ.व ही मानना पडेगा ॥ १३८ ॥

यहांपर शंकाकार फिर कहता है कि अच्छा भाई मनुष्योंके होनेवाली दर्शनप्रतिमा तो चौथे गुणस्थानमें ही मान लो और शेष बची हुई व्रतादिक दश प्रतिमाओंको पांचवें गुणस्थानमें मान लो । ऐसा माननेसे कोई विशेष हानि भी नहीं है परन्तु कवि कहते हैं कि यह शंका भी कभी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह शंका करना ही ठीक नहीं है । इसका भी कारण यह है कि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकका त्याग कर लेनेपर भी फिर अव्रतीपना किस कारणसे माना जायगा । यदि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकके त्याग करनेरूप व्रतको धारण कर

प्रतिमाः शेषाः सन्तु पंचमके गुणे ॥ १३९ ॥ मैवं सति नियमादावव्रतित्वं कुतोऽर्थतः । व्रतादिप्रतिमासूच्चैरव्रतित्वानुषङ्गतः ॥ १४० ॥ ततो विवक्षितं साधु सामा-
न्यात्सा कुलक्रिया । नियमेन सनाथा चेद्दर्शनप्रतिमात्मिका ॥ १४१ ॥ किंच मूलगुणादीनामादानेऽथापि वर्जने । समस्ते प्रतिमास्त्याद्या व्यस्तेसति कुलक्रिया

लेनेपर भी अव्रत अवस्था मानी जायगी तो फिर व्रत आदि बाकीकी दश प्रतिमाओंको धारण कर लेनेपर भी
अव्रत अवस्था मान लेनी पडेगी । भावार्थ—दर्शनप्रतिमावाला नियमपूर्वक आठ मूलगुणोंको धारण करता
है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है यदि इस प्रकार नियमपूर्वक व्रत धारण कर लेने पर भी उसे अव्रती
माना जाय तो फिर नियमपूर्वक अणुव्रतादिकोंको धारण कर लेनेपर भी अव्रती कहलानेमें कौन रोकेगा और
इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओंको धारणकर लेनेपर भी वह अव्रती कहलावेगा तथा ऐसा माननेसे फिर पांचवें
गुणस्थानका अभाव वा लोप मानना पडेगा इसलिए ऊपर लिखी शंका सर्वथा अनुचित है। दर्शनप्रतिमा
पांचवें गुणस्थानमें ही होती है। यही सिद्धान्त शास्त्रानुकूल है और अनादिकालसे चला आ रहा है ॥ १३९-
१४० ॥ अतएव सामान्य रीतिसे बिना किसी नियमके केवल कुलपरंपरासे चली आई परिपाटीके अनुसार जो
मद्य मांस मधु पंचोदुंबर सातों व्यसनोंका सेवन न करना है उसको कुलक्रिया कहते हैं वा कुलाम्नाय कहते हैं
और यदि उनके सेवन न करनेका नियम ले लिया जाय, नियमपूर्वक मद्यादिकका त्याग कर दिया जाय तो
ऐसे सम्यग्दृष्टीके वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है । यह जो हमने ऊपर कहा है सो बहुत ही ठीक शास्त्रानुकूल
कहा है। भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टी इन पापोंके त्याग करनेका नियम नहीं लेता परन्तु इनका सेवन भी नहीं करता
उसका वह सेवन न करना तो कुलाचार कहलाता है और यदि वह उनका नियमपूर्वक त्याग कर दे तो फिर
उसके वह दर्शनप्रतिमा हो जाती है ॥ १४१ ॥ उसमें भी इतना विशेष और समझ लेना चाहिए यदि कोई
सम्यग्दृष्टी समस्त आठों मूलगुणोंको धारण करे और समस्त सातों व्यसनोंका त्याग करे तब तो उसके पहिली
दर्शनप्रतिमा होती है। यदि वह अलग अलग किसी एक दो व्यसनोंका त्याग करे अथवा मूलगुणोंमेंसे किसी
एक दो चार मूलगुणोंको धारण करे तो उसके पहिली दर्शन प्रतिमा नहीं कहलाती किन्तु कुलक्रिया कहलाती

॥ १४२ ॥ यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते । दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥ १४३ ॥ यदा मूलगुणादानं द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥ १४४ ॥ दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः । तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोप्यस्ति लेशतः ॥ १४५ ॥ प्रमादोद्रेक-

है ॥ १४२ ॥ जैसे किसी सम्यग्दृष्टी मनुष्यने किसी एक व्यसनका त्यागकर दिया तो उसके दर्शनप्रतिमा नहीं कहलायगी किन्तु श्रेष्ठ कुलक्रिया कहलावेगी। भावार्थ-विना नियमके जो कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार सेवन नहीं किया जाता उसको कुलक्रिया कहते हैं तथा जो सम्यग्दृष्टी नियमपूर्वक किसी एक व्यसनका त्याग कर देता है वा एक दो मूलगुण धारण कर लेता है उसके वह श्रेष्ठ कुलक्रिया उत्तम कुलक्रिया कहलाती है ॥ १४३ ॥ जब उसके पूर्ण सम्यग्दर्शन होगा, आठों मूलगुण होंगे और सातों व्यसनोंका त्याग होगा। ये तीनों नियमपूर्वक पूर्ण रीतिसे होंगे, तभी उसके पहली दर्शनप्रतिमा होगी अन्यथा नहीं ॥ १४४ ॥ दर्शनप्रतिमामें होनेवाली व्रतरूप क्रियाओंमें (नियमपूर्वक धारण की हुई क्रियाओं में) तथा बिना नियमके होनेवाली कुलक्रियाओंकी क्रियाओंमें यद्यपि कुछ अशोंमें, अविशेषता है एकसापन है तथापि यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो उसमें बहुत कुछ अन्तर है। भावार्थ-दर्शन प्रतिमावाला भी जूआ नहीं खेलता, मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करता और कुलक्रियाको पालन करनेवाला भी जूआ नहीं खेलता, मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करता। इस प्रकार यद्यपि दोनोंकी क्रियाओंमें एकसापन है तथापि उन दोनोंकी क्रियामें तत्त्वदृष्टिसे बहुत अन्तर है। आगे उसी अंतरको दिखलाते हैं ॥ १४५ ॥ कुलक्रियामें प्रमादकी तीव्रता होती है क्योंकि प्रमाद ही उसे नियमपूर्वक त्याग नहीं करने देता अतएव प्रमादकी तीव्रता होनेके कारण कुलक्रियाएं सदोष समझी जाती हैं उनमें समय समयपर अनेक प्रकारके अनेक दोष लगते रहते हैं तथा दर्शनप्रतिमा धारण करनेवालेकी जो क्रियाएं हैं उनमें प्रमादकी अत्यंत मंदता है क्योंकि प्रमादोंकी मंदतासे ही वह नियमपूर्वक उनका त्याग करता है इसीलिए उसकी क्रियाएं निर्दोष हैं अथवा मन्दरूपसे प्रमादकी सत्ता रहनेके कारण कचित् कदाचित् कुछ थोडासा दोष लग भी जाता है इसलिए उस थोडेसे दोष-

तोवश्यं सदोषाःस्यात्कुलक्रियाः । निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रियाः ॥ १४६ ॥ यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव दृगात्मकः ॥ १४७ ॥ अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः । प्रकृत न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥ १४८ ॥ प्रामाणिकः क्रमोप्येष ज्ञातव्यो व्रतसंचये । भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥ १४९ ॥ भावयेद्भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः । यावन्निर्वाणसम्प्राप्तौ पुमोवस्थान्तरं भवेत् ॥ १५० ॥ उक्तं च—जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं । सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामर ठाणं ॥ ९ ॥ यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा ।

वाली क्रियाएं कहते हैं। भावार्थ—कुल क्रियाएं सदा सदोष रहती हैं क्योंकि उनमें नियमपूर्वक त्याग नहीं होता तथा दर्शनप्रतिमावालेकी क्रियाएं निर्दोष होती हैं अथवा उनमें यदि दोष लगता है तो थोडासा लगता है और वह भी कभी किसी कारणसे लगता है अन्यथा नहीं ॥ १४६ ॥ जैसे कुलक्रियाको पालन करनेवाला कोई पुरुष जूआ खेलने, चोरी करने आदि व्यसनोंका त्याग कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। त्याग करना और न करना उसकी इच्छापर निर्भर है उसकी इच्छा हो तो त्याग कर दे और यदि उसकी इच्छा न हो तो त्याग न करे। उसके नियमपूर्वक त्याग होना ही चाहिए यह बात नहीं है किंतु दर्शनप्रतिमावालेके नियमपूर्वक इनका त्याग होता है क्योंकि त्याग किये विना दर्शनप्रतिमा हो ही नहीं सकती। बस यही इन दोनोंमें अन्तर है ॥ १४७ ॥

जो पाक्षिक श्रावक होता है अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है। वह कुलपरम्परासे चली आई परिपाटीका पालन नहीं करता किंतु नीचे लिखे अनुसार व्रतोंको पालन करता है ॥ १४८ ॥ व्रतोंके धारण करनेमें यही क्रम प्रामाणिक समझना चाहिये तथा जो आगेके व्रत धारण नहीं किये हैं उनको धारण करनेके लिये भावना रखनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १४९ ॥ अथवा मोक्ष प्राप्त करनेमें जब तक इस जीवकी अंतिम शुद्ध अवस्था प्राप्त न हो जाय अर्थात् मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक ज्यों ज्यों ऊंचे व्रत धारण करता जाय त्यों त्यों आगेके व्रत धारण करनेके लिये सर्वत्र भावनाएं रखनी चाहिए ॥ १५० ॥ सो ही शास्त्रोंमें लिखा है—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं। सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥

उपर्युपरि शुद्धयर्थे यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥ १५१ ॥ सर्वतोविरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥१५२॥ मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् । तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १५३ ॥ तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् । क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्व-

अर्थ–जो कर सकता है वह कर लेना चाहिए और जो नहीं कर सकता उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर अमर ऐसे मोक्षस्थानको प्राप्त होता है। इससे भी सिद्ध होता है कि आगामी व्रतोंकी भावना अवश्य रखनी चाहिए।

अब आगे पाक्षिक श्रावक अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक आगे आगे अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिए क्या क्या करता है, कौन कौनसे व्रत पालन करता है इसी बातको दिखलाते हैं ॥ १५१ ॥ इस संसारमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पांच पाप कहलाते हैं। इन पांचों पापोंका पूर्णरीतिसे त्याग कर देना मन बचन काय और कृतकारित अनुमोदनासे त्याग कर देना महाव्रत कहलाते हैं। यह महाव्रत धारण करना भगवान अरहंतदेवका चिन्ह है। जिनलिंग अथवा निर्ग्रंथलिंग कहलाता है। इस अवस्थाको इन महाव्रतोंको गृहस्थलोग धारण नहीं कर सकते ॥१५२॥ किंतु गृहस्थलोग एकदेश व्रतोंको धारण करते हैं। इन्हीं एकदेश व्रतोंको मूलगुण और उत्तरगुण कहते हैं। ये एकदेशव्रतरूप मूलगुण अथवा उत्तरगुण मुनियोंके नहीं होते किंतु गृहस्थोंके ही होते हैं। मुनियोंके तो हिंसादि पांचों पापोंके पूर्णरूपसे त्याग करनेरूप महाव्रत होते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुण इन गृहस्थोंके मूलगुण वा उत्तरगुणोंसे सर्वथा भिन्न हैं। भावार्थ–गृहस्थोंके मूलगुण उत्तरगुण भिन्न हैं तथा मुनियोंके भिन्न हैं मुनि अपने मूलगुण उत्तरगुण पालन करते हैं और गृहस्थ अपने मूलगुण उत्तरगुण पालन करते हैं ॥ १५३ ॥ इनमेंसे आठ मूलगुण व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके होते हैं अथवा अव्रती सम्यग्दृष्टियोंके भी होते हैं क्योंकि ये सर्वसाधारण व्रत हैं, प्रत्येक मनुष्यके पालन करने योग्य हैं, अतएव व्रती अव्रती दोनों प्रकारके श्रावकोंके होते हैं ॥ १५४ ॥ इस जीवके जबतक सम्यग्दर्शनरूप गुण रहता है तबतक मद्य मांस मधुका त्याग तथा पांचों उदंबरोंका त्यागरूप गुण

साधारणा इमे ॥ १५४ ॥ निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाःस्फुटम् । तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोंगिनाम् ॥ १५५ ॥ एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः । किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥ १५६ ॥ मद्यमांसमधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम् । नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ १५७ ॥ यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् । अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ १५८ ॥ त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।

चाहे तो स्वभावसे हों और चाहे कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार चले आ रहे हों, नियमरूपसे वा व्रतरूपसे धारण न किए हों तो भी वे गुण ही कहलाते हैं ॥ १५५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इन गुणोंको धारण किए विना यह मनुष्य नाममात्रसे भी श्रावक नहीं कहला सकता। फिर भला पाक्षिक श्रावक वा गूढ श्रावक, वा नैष्ठिक श्रावक अथवा साधक श्रावक किस प्रकार कहला सकता है। भावार्थ—श्रावकपद प्राप्त करनेके लिए मद्य मांस मधुका त्याग तथा पांचों उदंबरोंका त्याग करना अत्यावश्यक है ॥ १५६ ॥ जो मनुष्य मद्य मांस मधुका त्यागी है और जिसने पांचों उदम्बरोंका त्यागकर दिया है ऐसा गृहस्थ नाममात्रका श्रावक कहलाता है। जिसने इन मद्यमांसादिकका त्याग नहीं किया है वह कभी श्रावक नहीं कहलाता। ऐसे गृहस्थको केवल गृहस्थ कहते हैं श्रावक नहीं कहते अतएव पाक्षिक श्रावकको अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकको इन मद्य मांसादिकका त्याग अवश्यकर देना चाहिए ॥ १५७ ॥ इसीप्रकार जो गृहस्थ अपनी कल्याणमय क्रियाओंको करना चाहते हैं, पुण्यरूप क्रियाओंको करना चाहते हैं और जिन्होंने ऊपर लिखे मद्य मांसादिकका त्यागकर दिया है, मूल-गुण धारणकर लिए हैं, ऐसे गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सातों व्यसनोंका त्याग अवश्यकर देना चाहिए ॥ १५८ ॥ सूत्रोंमें वा शास्त्रोंमें इन आठों मूलगुणोंके अथवा सातों व्यसनोंके जो दोष बतलाए हैं जिनको अति चारोंके नामसे कहा गया है उनका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा ऐसा कौन श्रावक है जो मद्य मांसादिकको साक्षात् सेवन करे। भावार्थ—शास्त्रोंमें आठों मूलगुणोंके भी अतिचार बतलाए हैं और सातों व्यसनोंके भी अतिचार बतलाए हैं सो पाक्षिक श्रावकोंको अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकोंको उन समस्त अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। वास्तवमें देखा जाय तो अतिचारोंका त्याग कर देनेके लिए ही

अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ १५९ ॥ दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया । जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ १६० ॥ कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् । पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ १६१ ॥ शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् । दीनेभ्योऽभयदानादि

इनका त्याग कराया जाता है। जो श्रावककुलमें उत्पन्न हुआ है अथवा श्रावक कहलाता है वह इन मद्य मांसादिकका साक्षात् सेवन तो कभी करता ही नहीं फिर भी जो इनके त्याग करनेके लिए उपदेश दिया है उसका अभिप्राय यही है कि उस श्रावकके कदाचित् मद्य मांसादिकके त्यागके अतिचार लगते हों तो उनका भी वह त्याग कर दे ॥ १५९ ॥ इसीप्रकार उत्तम श्रावकोंको जघन्यपात्र वा मध्यमपात्र अथवा उत्तम पात्रोंके लिए पात्रबुद्धिसे अथवा श्रद्धापूर्वक आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और वसतिकादान वा अभयदान यह चारों प्रकारका दान अवश्य देना चाहिए ॥ १६० ॥ इसीप्रकार कुपात्रोंके लिए तथा अपात्रोंके लिए भी उनकी योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए। भावार्थ—मद्य मांसादिकका दान देना तो सर्वथा अनुचित है। दान तो वही पदार्थ देना चाहिए जो शुद्ध निर्दोष और पवित्र हो। इसीप्रकार इन अपात्र वा कुपात्रोंको पात्र वा बडा समझ कर दान नहीं देना चाहिए किंतु यदि उनको कोई दुख हो तो करुणाबुद्धिसे उनका दुःख दूर कर देना चाहिए। यही बात आगे स्पष्ट रीतिसे लिखी है। कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि इन अपात्र वा कुपात्रोंको दान देना तो शास्त्रोंमें निषिद्ध बतलाया है इनको दान देनेका निषेध किया है तो उसके लिए कहते हैं कि यह ठीक है कि शास्त्रोंमें इन अपात्र वा कुपात्रोंके लिए दान देनेका निषेध किया है परन्तु इनके लिए पात्र बुद्धिसे दान देनेका निषेध किया है। करुणाबुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन अपात्र कुपात्रोंको करुणाबुद्धिसे दान देना चाहिए केवल इनका दुख दूर कर देना चाहिए। धर्मबुद्धिसे ये दान देनेके पात्र नहीं हैं ॥ १६१ ॥ इन पात्र कुपात्र अपात्रोंके सिवाय और भी जो जीव अपने अशुभ कर्मके उदयसे भूख वा प्यास आदिसे पीडित हों वा कोई दीन दुःखी हों उनके लिए भी करुणासागर श्रावकोंको अभयदान आदि योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए ॥ १६२ ॥ इसी प्रकार बुद्धिमान श्रावकोंको भगवान अरहंतदेवकी

दातव्यं करुणार्णवैः ॥ १६२ ॥ पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा तत्प्रतिमासु च । स्वरव्यंजनान् संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ १६३ ॥ सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् । प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ १६४ ॥ सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् । व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६५ ॥ नारिभ्योपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे । देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधतः ॥ १६६ ॥ जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता । यथा-

पूजा करनी चाहिए अथवा भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमामें भगवानकी पूजा करनी चाहिए तथा स्वर और व्यंजनोंको स्थापन कर सिद्धयंत्र बना कर सिद्ध भगवानकी पूजा करनी चाहिए ॥१६३॥ इसीप्रकार मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य उपाध्याय साधुओंकी जलचन्दनादिक आठोंद्रव्योंसे पूजा करनी चाहिए और फिर उनके समीप बैठ कर उनके चरणकमलोंकी स्तुति करनी चाहिए ॥ १६४ ॥ तदनन्तर अपनी शक्तिके अनुसार व्रती वा अव्रती धर्मात्माओंका आदर सत्कार करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी त्यागियोंका आदरसत्कार विशेष रीतिसे करना चाहिए। भावार्थ—यहांपर आदर सत्कारका अर्थ उनकी कुशलता पूछना, उनका सन्मान करना, उनके दुःखोंको दूर करना वा आहारादिक दान देना है । सो इस प्रकारका आदर सत्कार समस्त धर्मात्माओंका करना चाहिए और जो त्यागी ब्रह्मचारी हों उनका आदर सत्कार विशेषरीतिसे करना चाहिए क्योंकि उनका धर्मसाधन वा तपश्चरण गृहस्थोंके ही आधारपर निर्भर होता है ॥ १६५ ॥ जो स्त्रियां व्रत पालन करती हैं जिन्होंने गृहस्थधर्म छोड दिया है ब्रह्मचारिणी हैं वा क्षुल्लिका हैं उनका आदरसत्कार करना भी जैनशास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं बतलाया है । ऐसी स्त्रियोंका आदरसत्कार भी इसप्रकार करना चाहिए जिससे लौकिक दृष्टिमें कोई किसी प्रकारका विरोध न आवे । इससे यह भी अभिप्राय निकलता है कि गृहस्थ धर्ममें रहनेवाली स्त्रियां हैं और वे विशेष व्रत पालन करती हैं उनका भी यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिए आवश्यकतानुसार उनके दुःख दूर करने चाहिए। परंतु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह आदर सत्कार इसप्रकार किया जाय जिससे लौकिक दृष्टिमें कोई विरोध न आवे ॥ १६६ ॥ भगवान अरहंतदेवकी प्रतिमा वा जिनालय बनवानेमें भी सावधानी रखनी चाहिए। जिनप्रतिमा वा जिनालय इस अच्छी रीतिसे बनवाना चाहिए जिससे कि थोडेसे

सम्यद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १६७ ॥ सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः । चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥ अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १६९ ॥ नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनविम्बमहोत्सवे । शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञै-

भी पापोंसे दूषित न होने पावें । भावार्थ–जिनप्रतिमा वा जिनालय यत्नाचारपूर्वक बनवाना चाहिए जिससे उनके बनवानेमें जीवोंको बाधा न हो और कोई किसी प्रकारका दोष उत्पन्न न हो ॥ १६७ ॥ बुद्धिमान गृहस्थोंको सिद्धपरमेष्ठीके यंत्र बनवाने चाहिए तथा अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित ऐसी अरहंत भगवानकी प्रतिमाएं बनवानी चाहिए । उन सिद्धयंत्र और जिनप्रतिमाओंको जिनालयमें स्थापन कर सबसे पहले उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिए । भावार्थ–नवीन प्रतिमाएं बनवा कर प्रतिष्ठा करानी चाहिए और फिर उनको जिनालयोंमें वा चैत्यालयोंमें विराजमान करनी चाहिए ॥ १६८ ॥ श्रावकोंको तीर्थयात्रा, संघयात्रा आदि करनेके लिए भी अपने मनको सदा उत्साहित रखना चाहिए । भावार्थ—ये भी सब पुण्यकार्य हैं इनको भी सदा करते रहना चाहिए परंतु इतना ध्यान रखना चाहिए कि उन तीर्थयात्रा आदि करनेमें अपने संयममें किसी प्रकारकी बाधा वा विराधना नहीं होनी चाहिए ॥ १६९ ॥ प्रतिदिन होनेवाली पूजा वंदना वा अभिषेक आदिमें तथा किसी निमित्तसे होनेवाले अभिषेक पूजा वंदना आदिमें वा किसी जिनप्रतिमा वा जिनालयके महोत्सवमें पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि पुण्य बढानेवाले प्रभावनाके कार्योंमें श्रावकोंको कभी शिथिल नहीं होना चाहिए । तथा जो तत्त्वोंके जानकार विद्वान् श्रावक हैं उनको विशेष रीतिसे ऐसे कार्योंमें उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए । विद्वान् श्रावकोंको तो ऐसे पुण्यवर्द्धक कार्योंमें कभी भी शिथिलता नहीं करनी चाहिये ॥ १७० ॥ इसीप्रकार गृहस्थ श्रावकोंको इंद्रिय-

१ यहांपर तीर्थयात्रा करनेमें भी संयमकी विराधनाको निषेध लिखा है। इससे सिद्ध होता है जिन देशोंमें जानेसे संयमकी विराधना होती हो ऐसे देशमें कभी नही जाना चाहिए। इस समयकी समुद्रयात्रा वा विलायत जाना सम्यग्दर्शन और संयम दोनोंका नाश करनेवाला है इसलिये वहां जानेके लिये किसी श्रावकको उद्यत नहीं होना चाहिए।

अथ चतुर्थ सर्गः।

इदमिदं तव भो वनिजापते, भवतु भावितभावसुदर्शनम्। विदितकामननामहामते, रसिकधर्मकथासु यथार्थतः ॥१॥ इत्याशीर्वादः। ननु सुदर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः। किमथास्त्यपरं किञ्चल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये। लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ २ ॥ निःशंकितं तथा नामा निःकाङ्क्षितमतः परम्। विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥ ३ ॥ उपबृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा। वात्सल्यं च यथाम्नायादूगुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ ४ ॥ शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी। तस्या निष्कान्तितो जातो भावो निःशंकितोऽर्थतः ॥ ५ ॥ अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न

अथ चौथा सर्ग

हे धर्मकथाके वास्तविक रसिक हे बुद्धिमान् हे वैश्योंमें अधिपति, इत्यादि गुणोंको धारण करनेवाले हे कामन ! जिस सम्यग्दर्शनका वर्णन हम आगे करते हैं वह यह सम्यग्दर्शन तेरे भी हो ॥ १ ॥ इत्याशीर्वाद।

शंकाकार कहता है कि क्या सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है अथवा कुछ और भी है। यदि इसके सिवाय और भी कोई लक्षण है तो उसे आज कहिये ॥ १ ॥ तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध हैं तथा लक्षण गुण अंग आदि सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं ॥ २ ॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग शास्त्रोंकी परंपरापूर्वक अनादिकालसे चले आ रहे हैं ॥ ३-४ ॥ शंका, भी, साध्व, भीति और भय ये सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं। जो आत्माके भाव इन शब्दोंके द्वारा कहे जानेवाली शंकासे रहित हैं उसीको निःशंकित अंग कहते हैं ॥ ५ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि बुद्धिमानोंको अपने किसी भी प्रयोजनसे किसी भी सूत्रके अर्थमें किसी भी पदार्थके स्वरूपमें शंका नहीं करनी चाहिये। संसारमें जो पदार्थ सूक्ष्म हैं इंद्रियगोचर नहीं हैं जो अन्तरित हैं अर्थात् जिनके मध्यमें अनेक नदी पर्वत क्षेत्र द्वीप समुद्र आदि पड गये हैं अथवा जो दूरार्थ हैं अर्थात् जो सैकडों हजारों वर्ष पहले हो चुके हैं ऐसे समस्त पदार्थोंपर गाढ विश्वास होना चाहिये। ये सब पदार्थ पहले कहे हुए आस्तिक्य गुणके गोचर होने चाहिये ॥ ६ ॥ धर्म अधर्म आकाश आदि सब सूक्ष्म पदार्थ हैं

स्तद्विशेषतः ॥ १७० ॥ संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः । विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ १७१ ॥ तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः । कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यवान् ॥ १७२ ॥ उक्तं दिग्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् । वक्ष्ये चोपासकाध्यायं सावकाशं सविस्तरम् ॥ १७३ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमाधिकारमध्ये सम्यग्दर्शनसामान्यलक्षणवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

संयम और प्राणिसंयम दोनों प्रकारके संयमोंका पालन करना चाहिये अथवा जिन्होंने प्रतिमारूपसे व्रत धारण नहीं किए हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसादिक अणुव्रतोंका पालन करना चाहिये ॥ १७१ ॥ इसीप्रकार तपश्चरणके दो भेद हैं बाह्यतप और अंतरंगतप। बाह्यतपके अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये छह भेद हैं तथा अन्तरंग तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं। इसप्रकारका बारह प्रकारका तप भी अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थोंको पालन करना चाहिए। जो गृहस्थ तपश्चरण पालन करनेकी अधिक शक्ति नहीं रखते उनसे यदि बारह प्रकारका तपश्चरण पालन न हो सके तो ऐसे श्रावकोंको इन बारह प्रकारके तपश्चरणमेंसे एक दो चार आदि जितने बन सकें उतने तपश्चरण पालन करने चाहिये ॥ १७२ ॥ इसप्रकार प्रकरणके अनुसार हमने यहांपर थोडासा गृहस्थोंका व्रत बतलाया है। आगे अवकाशके समय वा धीरे धीरे विस्तारके साथ श्रावकाचारका वर्णन करेंगे ॥ १७३ ॥

इस प्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटी संहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहली प्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें दर्शनप्रतिमा नामके महाअधिकारमें सम्यग्दर्शनके सामान्य लक्षणका वर्णन करनेवाला यह तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१ पांचों इन्द्रियोंको तथा मनको वश करना इन्द्रिय संयम है तथा छहों कायके जीवोंको रक्षा करना प्राणिसंयम है।

सम्यद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १६७ ॥ सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः । चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥ अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यत मनः । श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १६९ ॥ नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनबिम्बमहोत्सवे । शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञै-

भी पापोंसे दूषित न होने पावें। भावार्थ--जिनप्रतिमा वा जिनालय यत्नाचारपूर्वक बनवाना चाहिए जिससे उनके बनवानेमें जीवोंको बाधा न हो और कोई किसी प्रकारका दोष उत्पन्न न हो ॥ १६७ ॥ बुद्धिमान गृहस्थोंको सिद्धपरमेष्ठीके यंत्र बनवाने चाहिए तथा अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित ऐसी अरहंत भगवानकी प्रतिमाएं बनवानी चाहिए। उन सिद्धयंत्र और जिनप्रतिमाओंको जिनालयमें स्थापन कर सबसे पहले उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिए। भावार्थ--नवीन प्रतिमाएं बनवा कर प्रतिष्ठा करानी चाहिए और फिर उनको जिनालयोंमें वा चैत्यालयोंमें विराजमान करनी चाहिए ॥ १६८ ॥ श्रावकोंको तीर्थयात्रा, संघयात्रा आदि करनेके लिए भी अपने मनको सदा उत्साहित रखना चाहिए। भावार्थ--ये भी सब पुण्यकार्य हैं इनको भी सदा करते रहना चाहिए परंतु इतना ध्यान रखना चाहिए कि उन तीर्थयात्रा आदि करनेमें अपने संयममें किसी प्रकारकी बाधा वा विराधना नहीं होनी चाहिए ॥ १६९ ॥ प्रतिदिन होनेवाली पूजा वंदना वा अभिषेक आदिमें तथा किसी निमित्तसे होनेवाले अभिषेक पूजा वंदना आदिमें वा किसी जिनप्रतिमा वा जिनालयके महोत्सवमें पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि पुण्य बढानेवाले प्रभावनाके कार्योंमें श्रावकोंको कभी शिथिल नहीं होना चाहिए। तथा जो तत्त्वोंके जानकार विद्वान् श्रावक हैं उनको विशेष रीतिसे ऐसे कार्योंमें उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए। विद्वान् श्रावकोंको तो ऐसे पुण्यवर्द्धक कार्योंमें कभी भी शिथिलता नहीं करनी चाहिये ॥ १७० ॥ इसीप्रकार गृहस्थ श्रावकोंको इंद्रिय-

१ यहांपर तीर्थयात्रा करनेमें भी संयमकी विराधनाका निषेध लिखा है। इससे सिद्ध होता है जिन देशोंमें जानेसे संयमकी विराधना होती हो ऐसे देशमें कभी नहीं जाना चाहिए। इस समयकी समुद्रयात्रा वा विलायत जाना सम्यग्दर्शन और संयम दोनोंका नाश करनेवाला है इसलिये वहां जानेके लिये किसी श्रावकको उद्यत नहीं होना चाहिए।

माहात्म्यं महतां महत् । यदस्य जगतो ज्ञानमस्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ११ ॥ नासंभवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । अतिशयोऽतिवागस्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥ १२ ॥ अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः । स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ १३ ॥ यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैरावालमात्मनि । मिथ्याकर्मविपा-

अस्तिरूप समझना है। मिथ्यादृष्टी पुरुषके वह आस्तिक्यगुण होते नहीं इसलिये मिथ्यादृष्टीको उन पदार्थों-का ज्ञान सन्देहरहित नहीं होता तथा आस्तियक्गुण होनेके कारण सम्यग्दृष्टीको उन पदार्थोंका ज्ञान संदेह रहित होता है ॥ ११ ॥ "आस्तिक्यगुणके कारण सम्यग्दृष्टीको समस्त संसारके पदार्थोंका ज्ञान संदेहरहित हो जाता है" यह बात असंभव नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टीका स्वभाव ही ऐसा होता है । जो जिसका जैसा स्वभाव होता है उसमें किसी भी प्रकारका तर्क वितर्क नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टीका यह अतिशय बचनोंके अगोचर होता है। जैसे योगियोंकी योगशक्ति बचनोंके अगोचर होती है। भावार्थ—जिसप्रकार नीम कडवा होता है और ईख मीठी होती है। यह दोनोंका अलग अलग स्वभाव है इस स्वभावमें किसीका तर्क वितर्क चल नहीं सकता कि नीम कडवा ही क्यों होता है। उसका स्वभाव ही कडवा है इसीलिये वह कडवा होता है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टीका भी ऐसा ही स्वभाव है कि जिससे उसकी बुद्धिमें समस्त पदार्थ यथार्थ अस्तिरूप ही प्रतिभासित होते हैं। ऊपरके उदाहरणके समान सम्यग्दृष्टीके इस स्वभावमें भी किसीका तर्क वितर्क नहीं चल सकता। जिसप्रकार योगियोंकी योगशक्ति बचनोंके अगोचर होती है उसको कोई नहीं कह सकता कि वह कितना और क्या क्या काम कर सकती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनकी इस महिमाको इस अतिशयको भी कोई नहीं कह सकता ॥ १२ ॥ सम्यग्दृष्टीका ज्ञान आत्माके शुद्धस्वरूपको जाननेवाला ज्ञान है। वह ज्ञान शुद्ध है स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और सिद्धोंके समान है। भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है और वह प्रकाशरूप है। उस प्रकाशके कारण ही सम्यग्दृष्टीको अपने शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसीको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष वैसा ही होता है जैसा कि सिद्धोंको अपने आत्माका अनुभव होता है। यह सब उस आस्तिक्य गुणकी ही महिमा है ॥ १३ ॥ यह अपने शुद्ध आत्माका अनुभव

काद्वे नानुभूतिः शरीरिणाम ॥ १४ ॥ सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि । न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ १५ ॥ अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्वैकत्वेपि

बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक समस्त आत्माओंमें होता है। क्योंकि समस्त आत्माओंका स्वभाव ही ऐसा है तथापि मिथ्यादृष्टियोंको जो उसका अनुभव नहीं होता उसका कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय है। जिस जिस जीवके मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है उसीके उस शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होने पाता क्योंकि मिथ्यात्वकर्म उसका बाधक होता है ॥ १४ ॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि मिथ्यादृष्टी और सम्यग्दृष्टीको केवल पदार्थोंके अनुभवमें, स्वाद लेनेमें अंतर पडता है। उन आत्माओंमें कोई किसीप्रकारका वास्तविक भेद नहीं है तथा पदार्थोंकी जो सीमाएं हैं मर्यादाएं हैं उनका उलंघन कभी नहीं होता है। भावार्थ—आत्माएं सबकी समान होनेके कारण उस शुद्धस्वरूप अपने आत्माके अनुभव करनेकी शक्ति सब आत्माओंमें समान है। प्रत्येक आत्माकी इस शक्तिका इस सीमाका कभी उलंघन नहीं होता परन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टीको उसका अनुभव विपरीतरूप होता है। मिथ्यात्वकर्म आत्मजन्य सुखका तो अनुभव होने नहीं देता इसलिये वह मिथ्यादृष्टी इन्द्रिजन्य सुखको ही सुख मान लेता है। इसीप्रकार मिथ्यात्वकर्म अपने आत्माके शुद्धस्वरूपका अनुभव नहीं होने देता इसलिए वह कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके राग द्वेषादिक विकारोंको ही अपना स्वरूप मान लेता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टीको मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अपने आत्माका अनुभव विपरीत होता है और सम्यग्दृष्टीको मिथ्यात्वकर्मका अभाव होनेके कारण यथार्थ अनुभव होता है। इस भेदके सिवाय उनके आत्मामें कोई भेद नहीं है ॥ १५ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यही है कि यद्यपि जाननेवाला आत्मतत्व भी समान है। जैसा मिथ्यादृष्टीका है वैसा ही सम्यग्दृष्टीका है तथा जानने योग्य पदार्थ भी दोनोंके एक ही हैं भिन्न भिन्न नहीं हैं तथापि मिथ्यादृष्टीको जो पदार्थोंमें भ्रम होता है वह केवल उसकी शंकाका अपराध है। उसकी आत्मामें शंका उत्पन्न होती है उसे शंकाके कारण उस पदार्थोंमें भ्रम होता है। तथा वह शंका उसके मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेके कारण होती है। भावार्थ—मिथ्यात्वकर्मके उदयसे शंका होती है और शंका

यो भ्रमः। शङ्कायाः सोऽस्त्यपराधो सास्तिमिथ्योपजीविनी ॥ १६ ॥ ननु शंकाकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्। सा शंकापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १७ ॥ अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः। नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिः स भयैर्मनाक् ॥ १८ ॥ परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी। भीतिः पर्याय-

होनेसे पदार्थोंमें भ्रम होता है। यदि मिथ्यात्वकर्म न हो तो न तो उसको शंका उत्पन्न हो सकती है और न पदार्थोंमें भ्रम होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टीके यथार्थ अनुभव होता है ॥ १६ ॥ यहांपर शंकाकार फिर कहता है कि मनुष्योंको अपने आत्माका मिथ्या वा विपरीत अनुभव होता है वह शंकासे होता है यह बात तो ठीक है परन्तु वह शंका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है यह बात किसप्रकार सिद्ध हो सकती है? ॥ १७ ॥ आगे इसी शंकाका समाधान करते हैं कि वह शंका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है इसका कारण यह है कि जिसके मिथ्यात्व कर्मका उदय है ऐसा मिथ्यादृष्टी सातों भयोंसे सदा डरता रहता है परन्तु जिसके मिथ्यात्व-कर्मका उदय नहीं है ऐसा सम्यग्दृष्टी सातों भयोंसे किंचिन्मात्रभी नहीं डरता है। डरनेकी तो बात ही क्या है सम्यग्दृष्टी उन सातों भयोंका स्पर्श भी नहीं करता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शंका वा डर उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्वकर्म ही है ॥ १८ ॥ जिस समय यह जीव पर पदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव करने लगता है उसी समय इसको भय उत्पन्न होता है। परपदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव हुए विना भय किसीप्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये जो जीव आत्माकी विभाव पर्यायोंको ही अपना आत्मा समझ लेते हैं उन्हीं-को भय होता है। जो जीव केवल अपने शुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं उनके भय कभी नहीं हो सकता। भावार्थ—यह शरीर तथा कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषादिक परपदार्थ हैं आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं जो मिथ्या-दृष्टी अपने मिथ्यात्वकर्मके उदयसे शरीरादिकको ही वा रागद्वेषादिकको ही अपना आत्मा मान लेते हैं उन्हींके उस शरीरादिकको बाधा होनेपर या उसका नाश होनेपर भय होता है। जो मिथ्यात्वकर्मके अभाव होनेपर केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं उनके भय होनेका कोई कारण ही नहीं है क्योंकि शुद्ध आत्मा सदा शुद्ध ही रहता है उसमें किसीप्रकार विकार नहीं होता ॥१९॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि भय

मूढ़ानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ १९ ॥ ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्या भावो जिनागमात् । सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥ २० ॥ अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः । स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ २१ ॥ ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् । अर्वाक् तत्तस्थितिच्छेदस्थाना-

मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होता है। उसके उत्पन्न होनेका और कोई कारण नहीं है तब यह बात भी अनुमानसे सिद्ध हो जाती है कि जिन जिन जीवोंके भय है उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है तथा यह बात जैनशास्त्रोंमे सिद्ध है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाला वह भय अपने आत्माके अनुभवके नाश करनेमें अवश्य ही कारण है। भावार्थ–जिसके भय होता है उसके अपने शुद्ध आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता अथवा यों कहना चाहिए कि जिसके अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता उसीके भय होता है ॥२०॥ अतएव इस ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है पर पदार्थोंको अपना आत्मा समझ रहा है और इसीलिए जो भय सहित है वह मनुष्य अपने आत्माके अनुभवसे अवश्य ही रहित है तथा जो मनुष्य अपने आत्माके अनुभवमें लीन है वह अपने ही आत्माका अधिकारी है परपदार्थका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए उस मनुष्यको किसी भी प्रकारका भय होना नितान्त असम्भव है। भावार्थ--भयका कारण परपदार्थ है जो पुरुष परपदार्थसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता उसको कभी भी भय उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि बिना कारणके कभी कोई कार्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता ॥ २१ ॥

यहांपर कोई शंकाकार कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टीके आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएं रहती हैं तथा उन संज्ञाओंका जहांतक जिस गुणस्थानतक नाश नहीं होता है वहांतक उन संज्ञाओंका अस्तित्व मानना ही पडेगा। अतएव सभी सम्यग्दृष्टी निर्भय होते हैं यह बात कैसे बन सकती है। अर्थात् जिस सम्यग्दृष्टीके जहांतक भयसंज्ञा है वहांतक तो उसके भय मानना ही पडेगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध होनेपर सम्यग्दृष्टीको भी प्रमाद उत्पन्न होता है और प्रमादके कारण वह भय करने लगता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है अर्थात् सर्पादिक अनिष्ट पदार्थोंका संयोग

दस्तित्वसम्भवात् ॥ २२ ॥ तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि । अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥ २३ ॥ सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः । रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २४ ॥ सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः । मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ २५ ॥

होनेपर उनसे बचनेका प्रयत्न वह करता ही है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीको भी भय होता है वह सदा निर्भय नहीं रहता ॥ २२-२३ ॥ आगें कवि इस शंकाका समाधान करते हुए शंकाकारसे कहते हैं कि भाई यह बात ठीक है कि किमी किसी सम्यग्दृष्टीको भय होता है, किंतु वह सम्यग्दृष्टी भयवान होता हुआ भी निर्भय रहता है। इसका भी कारण यह है कि यद्यपि उसके चारों संज्ञाएं हैं उन संज्ञाओंके कारण उसको भय उत्पन्न होता है परंतु उसीके साथ यह भी है कि वह सम्यग्दृष्टी अपने आत्माको उन संज्ञाओंका स्वामी नहीं समझता अथवा यों कहना चाहिए कि उन संज्ञाओंको अपनी नहीं समझता किंतु कर्मोंसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें पौद्गलिक वा परपदार्थरूप समझता है अथवा उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता हुआ परपदार्थरूप समझता है इसीलिए उन संज्ञाओंके होनेपर भी उसको भय उत्पन्न नहीं होता जैसे चक्षु रूपादिक परपदार्थोंको देखता हुआ भी नहीं देखता। भावार्थ—यद्यपि रूपादिक पदार्थोंको चक्षु देखता है तथापि वास्तवमें देखा जाय तो भावेंद्रियसे ही पदार्थ देखा जाता है। पुद्गलमय द्रव्यचक्षुसे कुछ नहीं देखा जाता। यदि द्रव्यचक्षु ही देखता तो उस शरीरसे जीव निकल जानेके बाद भी देखता परंतु जीव निकल जानेके बाद वह नहीं देखता। इससे सिद्ध होता है कि देखने की शक्ति भावेंद्रियमें अथवा आत्मामें है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टीके समान अपनेको संज्ञाओंका स्वामी समझ कर उसमें लीन नहीं होता किंतु उनसे अपनेको सर्वथा भिन्न समझता है और इसीलिए उन संज्ञाओंसे उत्पन्न होनेवाला भय उसको नहीं होता ॥२४॥ इस संसारमें जितने प्राणी हैं उन सबके कर्मोंकी वर्गणाएं उदयमें आती रहती हैं। उन कर्मोंके उदय होनेमे जो सुखदुःखादिक फल मिलता है उसमें यह संसारी जीव मोह करने लगता है वा राग करने लगता अथवा द्वेष करने लगता है, परंतु सम्यग्दृष्टी पुरुष इन सब कारणोंके मिलनेपर निःशंक रहता है। न तो उन कर्मोंके फलोंमें राग करता है न द्वेष करता है और न मोह करता है क्योंकि राग

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात्। देशतोऽप्यत्र मूर्च्छाया शङ्काहेतोरसम्भवात् ॥ २६ ॥ स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते। येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥ २७ ॥ तत्र भीतिरिहामुत्रलोके वा वेदनाभयं। चतुर्थी भीतिरत्राण स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ २८ ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः। क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ २९ ॥ तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्रजन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥ ३० ॥ स्थास्यतीदं धन नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता। इत्याद्याधिश्चिता दग्धु ज्वलितेव ऽद्दगात्मनः ॥३१॥ अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित्। यतोस्ति हेतुतः शेषा-

द्वेष मोह ये तीनों ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं तथा सम्यग्दृष्टी पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है इसीलिए उसके राग द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते अतएव यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्ज्ञानीके एकदेश भी मूर्च्छा नहीं है इसलिए उसके शंका उत्पन्न होनेके कारण ही असंभव है ॥ २५-२६ ॥

आगे इसी बातका विचार करते हैं कि इस सम्यग्दृष्टीकी ज्ञानचेतना कैसी विचित्र है जिसके कारण वह सम्यग्दृष्टी कर्मोंको करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। भावार्थ—सम्यग्दृष्टीकी आत्मा ऐसी विचित्र निर्मल है कि जिसके कारण वह कर्मोंको करता है तथापि उनसे लिप्त नहीं है। आगे उसी निर्मल ज्ञानचेतनापर विचार करते हैं ॥ २७ ॥ संसारमें सात प्रकारके भय हैं। क्रमसे उनके नाम ये हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, चौथा अरक्षाका भय, पांचवां अगुप्तिका भय, छठा मृत्युका भय और सातवां आकस्मिक भय। ये सात प्रकारके भय हैं ॥ २८-२९ ॥ इनमेंसे सबसे पहले इस लोकके भयको दिखलाते हैं। मेरे इष्ट पदार्थोंका कभी नाश न हो, इसीप्रकार मेरे अनिष्ट पदार्थोंका समागम भी कभी न हो। इसप्रकार इस जन्ममें सदा विलाप करते रहना इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगसे सदा डरते रहना इसलोकसंबंधी भय कहलाता है ॥ ३० ॥ "यह धन मेरे ठहरेगा अथवा नहीं, मेरे घर दैवयोगसे भी कभी दरिद्रता न हो" इसप्रकारकी अन्तरंगकी व्याधिरूपी चिताएं मानों मिथ्यदृष्टीको जलानेके लिए ही उसके हृदयमें सदा जलती रहती हैं। भावार्थ—इसलोकमें होनेवाले दुःखोंसे सदा डरते रहना इस लोकका भय है ॥ ३१ ॥ इस ऊपर लिखे हुए इसलोकके भयके लक्षणसे यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि यह ऊपर लिखा हुआ इस लोकसम्बन्धी भय अज्ञानी वा मिथ्यादृष्टीको ही

द्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ३२ ॥ अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् । मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ३३ ॥ विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा । भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ३४ ॥ तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् । नित्यं बुध्वा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः

होता है। वह इस लोकसंबंधी भय सम्यग्ज्ञानी वा सम्यग्दृष्टीको कभी किसी कालमें भी नहीं होता है। इस-प्रकारके इस फलरूप हेतुसे वा इस कार्यरूप हेतुसे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीमें बहुत भारी अन्तर है। भावार्थ—मिथ्यादृष्टीका आत्मा सदा भयभीत रहती है और सम्यग्दृष्टी की आत्मा सदा निर्भय निष्कंप वा अचल रहती है। इससे सिद्ध होता है कि उन दोनोंकी आत्माओंमें बडा-भारी अन्तर है तथा उस अन्तरका कारण मिथ्यात्व कर्मका उदय और उसका अभाव है। मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही मिथ्यादृष्टीका आत्मा सदा भयभीत रहता है ॥ ३२ ॥ अज्ञानी वा मिथ्यादृष्टी जीव अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे अद्वैतवादके समान अपने आत्माको कर्मरूप नोकर्मरूप तथा भावकर्मरूप मानता है। भावार्थ—जैसे अद्वैतवादी इस समस्त संसारको ब्रह्ममय मानता है अर्थात् परमब्रह्मसे अभिन्न मानता है उसीप्रकार मिथ्या-दृष्टी भी कर्म नोकर्म भावकर्म आदि समस्त परपदार्थोंको आत्मासे अभिन्न मानता है ॥ ३३ ॥ अपने आत्मा-का नाश करनेवाला (अपनी आत्माको नरकादिके दुर्गतियोंमें डुबानेवाला) यह मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि इस समस्त संसारसे भिन्न है। तथापि वह इस समस्त संसारको अपना ही मानता चला जाता है। तथा वह समस्त संसारमय बनकर इसलोकमें कभी भी भयको नहीं छोडता है। भावार्थ—मोहनीय कर्मके उदयसे वह समस्त संसार-से मोह करने लगता है इसलिए उसका भय कभी भी नहीं छूटता है ॥ ३४ ॥ इस सब कथनका अभिप्राय यही है कि इस संसारमें जो शरीरादिक सर्वथा अनित्य हैं उनमें भी यह मिथ्यादृष्टी जीव अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे नित्यबुद्धि रखकर अर्थात् उन सबको नित्य मान कर सदा भ्रममें पडा रहता है और उसी भ्रममें पडा हुआ कभी भी भय नहीं छोडता है ॥ ३५ ॥ परन्तु सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्माको सदा अकेला सम-झता है। तथा राग द्वेष मोह आदि कर्मोंके जितने विकार हैं उन सबसे अपने आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैत-

॥ ३५ ॥ सम्यग्दृष्टिः सदेकत्वं स्वं समासादयन्नियत् । यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमभ्येति चिन्मयम् ॥ ३६ ॥ शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा । अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ३७ ॥ लोकोयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः । नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ ३८ ॥ आत्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः । इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ३९ ॥ परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् । ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोक-

न्यस्वरूप समझना है ॥ ३६ ॥ इसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी जीव दर्शनमोहनीयकर्मके अभाव हो जानेके कारण क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले जो शरीरादिक हैं, सुख दुःखादिक हैं अथवा पुत्र पौत्रादिक हैं उन सबको अनित्य समझता हुआ कर्मोंका कार्य समझता है। इसीलिए वह उन सबको अपने आत्मस्वरूप नहीं समझता, किंतु आत्मासे सर्वथा भिन्न समझता है ॥ ३७ ॥ दर्शनमोहनीयकर्मके अभाव होनेके कारण अपने शुद्ध आत्माका साक्षात् अनुभव करनेवाला वह सम्यग्दृष्टी समझता है कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूप है तथा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप मेरा लोक निश्चयसे नित्य है और वास्तवमें नित्य है उस शुद्ध आत्मासे भिन्नस्वरूप यह लोक जो बाहरसे दिखाई पडता है और संसारमें प्रसिद्ध है वह मेरा लोक नहीं है। अतएव इस लोकसम्बन्धी भय मुझे किसप्रकार हो सकता है। भावार्थ--सम्यग्दृष्टी जीव अपने शुद्ध आत्मासे ही सम्बन्ध रखता है इसलोकसे सम्बन्ध नहीं रखता। इसीलिए उसे इसलोक सम्बन्धी किसीप्रकारका भय नहीं होता। ॥ ३८ ॥ इस प्रकार वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष अपने ही आत्मज्ञानमें सदा लीन रहता है। तथा उस आत्मज्ञानका ही सदा अनुभव करता रहता है इसीलिए वह इस लोकसम्बन्धी समस्त भयोंसे सदा अलग रहता है। तथा भय रहित होनेके ही कारण उन कर्मबन्धनोंसे सदा रहित होता है। इसप्रकार इस लोकसम्बन्धी भयका निरूपण किया ॥ ३९ ॥ आगे परलोकभयका स्वरूप दिखलाते हैं। इस शरीरको छोड देनेके अनंतर दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाली परभव सम्बन्धी आत्माकी पर्यायको ही परलोक कहते है। उस परलोकसे जो कम्पाके समान भय वा त्रास होता है उसको परलोकसम्बन्धी भय कहते हैं ॥ ४० ॥ स्वर्गलोकमें मेरा जन्म हो तो बहुत अच्छा है। इसीप्रकार नरकादिक दुर्गतियोंमें मेरा जन्म कभी न हो तो बहुत अच्छा हो। इस प्रकार हृदयमें सदा व्याकुलता बनाये

तोषित सा ॥ ४० ॥ भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ । इत्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ४१ ॥ मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् । तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ ४२ ॥ बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः । स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ४३ ॥ ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव । मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ४४ ॥ अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः । भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेर-

रखना परलोकसम्बन्धी भय कहलाता है। भावार्थ--परलोकके दुःखोंसे सदा भयभीत बने रहना परलोकका भय है ॥ ४१ ॥ इसप्रकारका परलोकसम्बन्धी भय मिथ्यादृष्टीके ही होता है क्योंकि उस भयको उत्पन्न करानेवाले मिथ्यात्वरूप परिणाम मिथ्यादृष्टीके ही होते हैं। सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टीसे सदा प्रतिपक्षी रहता है। तथा उसके मिथ्यात्वकर्मका उदय भी नहीं है इसीलिए उसके वह परलोकसम्बन्धी भय कभी नहीं होता है। भावार्थ—भय उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्वकर्म है। उसका उदय मिथ्यादृष्टीके ही होता है। इसीलिए वह सदा भयभीत बना रहता है। सम्यग्दृष्टीके उस मिथ्यात्वकर्मका अभाव रहता है इसलिए उसके किसी अवस्थामें भी भय उत्पन्न नहीं होता ॥४२॥ मिथ्यादृष्टी जीव सदा केवल मिथ्यात्वरूपी भूमिमें ही रहता है इसीलिए वह अपने आत्माको नहीं पहचानता तथा अपने आत्माको न पहचाननेके कारण वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपने आत्माको कर्मस्वरूप अथवा सुख-दुःखमय कर्मोंके फलस्वरूप समझ लेता है। भावार्थ--मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाले राग द्वेष वा सुख दुखको ही अपने आत्माका स्वरूप समझ लेता है ॥ ४३ ॥ इसीलिए वह मिथ्याज्ञानको धारण करनेवाला मिथ्यादृष्टी जीव भ्रममें पडे हुए मनुष्यके समान सदा भयसे भयभीत बना रहता है और मृगतृष्णामें ही (दूरसे दिखती हुई सफेद रेतीली भूमिमें ही) जलका समूह मान लेता है। भावार्थ—भय करना मिथ्याज्ञान है और वह मिथ्यात्वकर्मके उदय होता है ॥ ४४ ॥ परन्तु अन्तरात्मा वा सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा निर्भय रहता है क्योंकि वह निर्भय पदपर पहुंच चुका है। शुद्ध आत्मामें लीन हो चुका है इसीलिए भय उत्पन्न करनेवाली मिथ्याभ्रान्तिका उत्पन्न होना उसके अवश्य ही असम्भव होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टीको आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है इसीलिए भय उत्पन्न करनेवाली मिथ्या भ्रान्ति वा भ्रमबुद्धि उसे कभी नहीं होती ॥ ४५ ॥ जिस-

सम्भवात् ॥ ४५ ॥ मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः । यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥ ४६ ॥ स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् । स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादपि ॥ ४७ ॥ वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ । भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ४८ ॥ उल्लाघोऽहं

प्रकार अन्धकार होनेके कारण रस्सीमें भी सर्पका भ्रम हो जाता है और उसीसे वह अज्ञानी डरने लगता है। उसीप्रकार दर्शनमोहरूपी अन्धकार होनेसे ही मिथ्यादृष्टीके मिथ्या भ्रान्ति होती है और शरीरादिक पुद्गलोंमें ही आत्माका श्रद्धान कर लेता है। भावार्थ---मिथ्यादृष्टी जीव मोहरूपी अंधकारके कारण अपने आत्माको नहीं जान पाता और इसीलिए वह शरीर वा रागद्वेषको ही आत्मा मान लेता है तथा परपदार्थोंको अपना लेनेसे ही वह सदा भयभीत रहता है ॥ ४६ ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होनेवाली आत्मज्योतिको अपने आत्मासे सदा अभिन्न समझता है । अर्थात् अपने आत्माका स्वरूप स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होनेवाली आत्मज्योतिमय शुद्ध स्वरूप समझता है। तथा यह भी समझता है कि उसका यह स्वरूप कभी भी बदल नहीं सकता सदा ऐसा ही रहेगा । इसलिए न्यायशास्त्रसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि ऐसे उस सम्यग्दृष्टीको कभी किसी अवस्थामें भय नहीं हो सकता। भावार्थ--वह अपने आत्माको सदा शुद्ध और अविनश्वर समझता है इसलिए वह परलोकके भयसे कभी भयभीत नहीं होता। इसप्रकार परलोकके भयका स्वरूप बतलाया ॥ ४७ ॥

अब आगे वेदनाभयका स्वरूप कहते हैं। शरीरमें वात पित्त कफ तीनों दोषोंके कुपित होनेसे जो बाधाएं होती हैं अथवा जो बाधाएं आनेवाली होती हैं उनके आनेके पहले ही मोहनीयकर्मके उदयसे जो कंपा होती है अथवा उन बाधाओंके होनेपर जो रोता चिल्लाता है उसीको वेदनाभय कहते हैं । भावार्थ--रोगोंसे डरते रहना वेदनाभय है ॥ ४८ ॥ "मुझे शीघ्र ही आराम हो जायगा फिर ऐसा रोग मुझे कभी न हो तो अच्छा" इसप्रकार बार बार चिंतवन करना अथवा उस रोगके भयसे मूर्च्छित वा बेहोश हो जाना वेदनाभय है ॥ ४९ ॥ वह वेदनाका भय निश्चयसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है। तथा उसका भी एक समर्थ कारण दर्शनमोहरूपी दृष्टिदोष है। भावार्थ--वह भय दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे ही होता है । जिसप्रकार दृष्टिदोषसे रोगी हो जाता

भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिंतनं वा मुहुर्मुहुः ॥४९॥ अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः । नीरोगस्यात्मनो ज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥ ५० ॥ पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् । व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ॥ ५१ ॥ स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु

है और रोगी होनेके कारण भयभीत होता है उसीप्रकार दर्शनमोहनीयके उदयसे उसे सदा भय लगा रहता है। सम्यग्दृष्टीके उस दर्शनमोहनीयका सर्वथा अभाव रहता है इसीलिये वह सदा नीरोग रहता है। और नीरोग होनेके कारण तथा आत्मज्ञान होनेके कारण उसे कभी किसीप्रकारका भय नहीं होता है ॥ ५० ॥ सम्यग्दृष्टी सदा यही चिन्तवन करता रहता है कि मेरा रहनेका स्थान ज्ञानमय वा चैतन्यस्वरूप आत्मा है। और वह आत्मा पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है। अतएव मुझे व्याधि कभी किसीप्रकार नहीं हो सकती। तथा व्याधि न होनेके कारण मुझे कभी किसीप्रकारका भय नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि संसारमें जितनी व्याधियां हैं वे सब शरीरमें ही होती हैं अमूर्त आत्मामें वे व्याधियां कभी नहीं हो सकतीं । भावार्थ—मिथ्यादृष्टी अपने रहनेके स्थानको अपना शरीर समझता है इसीलिये शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे वह डरता रहता है। परंतु सम्यग्दृष्टी अपने शुद्ध आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझता है तथा अपने रहनेका स्थान शुद्ध आत्माको ही समझता है। अतएव वह शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे कभी नहीं डर सकता ॥ ५१ ॥ स्पर्शन रसना आदि पांचों इन्द्रियोंके जो वर्तमानमें होनेवाले विषय हैं अथवा जो आगामी कालमें प्राप्त होनेवाले विषय हैं उनमें जो आदर नहीं करता वही पुरुष वेदनाभयसे सदा निर्भय रह सकता है । भावार्थ—रोगादिक होनेसे इन्द्रियसुखोंमें बाधा आती है इसलिये जो पुरुष इन्द्रियजन्य सुखोंमें तल्लीन है उसे ही वेदनाभय होता है। इन्द्रियजन्य सुखोंमें मिथ्यादृष्टी ही तल्लीन होता है इसलिये वेदनाभय भी उसे ही होता है । सम्यग्दृष्टी इन्द्रियजन्य सुखोंको हेय और पर समझता है इसलिये वह उनमें होनेवाली बाधाओंसे कभी नहीं डर सकता। इसीलिये उसको वेदनाभय नहीं होता ॥ ५२ ॥ इन्द्रियजन्य विषय अनेक व्याधियोंके स्थान हैं क्योंकि वे अनेक बाधाओंके कारण हैं तथा जो जो बाधाओंके कारण हैं वे सब रोगरूप ही हैं । अतएव जो इन्द्रिय-

भाविषु । नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२ ॥ व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धो नादरो मनाक् । बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३ ॥ अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् । नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥५४॥ भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् । मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं

जन्य विषय हैं वे ही सब रोगरूप हैं तथा उन इन्द्रियजन्य विषयोंमें मिथ्यादृष्टी पुरुष किंचिन्मात्र भी अनादर नहीं कर सकता। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेके कारण वह उनमें सदा तल्लीन रहता है। अतएव मिथ्यादृष्टी वेदनाभयसे कभी रहित नहीं होता। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष मोहनीय-कर्मसे रहित होनेके कारण इन्द्रियजन्य विषयोंको हेय समझता है इसीलिये वह उनमें कभी आदर नहीं करता और अतएव वह सदा निर्भय रहता है इसप्रकार वेदनाभयका निरूपण किया ॥ ५३ ॥

अब आगे अत्राणभयका निरूपण करते हैं। त्राण शब्दका अर्थ रक्षा करना है और अत्राण शब्दका अर्थ रक्षा न होना है। जो पुरुष जीवादिक समस्त पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं जिसप्रकार मनके विकल्प क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं उसी प्रकार जो जीवादिक समस्त पदार्थोंको क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले मानते हैं तथा साथमें उनकी संतति भी मानते हैं। ऐसे माननेवाले बौद्ध हैं। बौद्ध कहते हैं कि आत्मा तो क्षण क्षणमें नष्ट होती रहती है परंतु उसकी संतान दर संतान बराबर चलती रहती है। परंतु यह सिद्धांत वास्तवमें सर्वथा विरुद्ध है। तथा वास्तवमें विरुद्ध होनेके ही कारण जैनधर्मसे विरुद्ध है। जैनधर्म पर्यायार्थिक नयसे जीवादिक समस्त पदार्थोंकी पर्यायोंको क्षण क्षणमें बदलनेवाली मानता है परंतु द्रव्यार्थिकनयसे वह सभी पदार्थोंको सदा नित्य मानता है। मिथ्यादृष्टी अपने दर्शनमोहनीयके उदयसे इस नय भेदको नहीं समझता किन्तु पर्यायको ही द्रव्य समझ लेता है। तथा पर्यायोंका क्षण क्षणमें बदलना अनिवार्य है वह रुक नहीं सकता। मनुष्यपर्यायमें जो आयु क्षण क्षणमें नष्ट होती जाती है। उसको वह मिथ्यादृष्टी रोक नहीं सकता उसकी रक्षा नहीं कर सकता और इसीलिए उसे उसके सर्वथा नाश होनेका भय सदा लगा रहता है। उसीको अत्राणभय कहते हैं। १४०

भावार्थ—यह जीव जबतक संसारमें परिभ्रमण करता है तब तक नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करता रहता

मिथ्यादृशोस्ति सः ॥ ५५ ॥ शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयम् । तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५६ ॥ सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणे नष्टे

है । मिथ्यादृष्टी जीव उन पर्यायोंको ही आत्मा समझ लेता है तथा पर्यायोंके नाशसे अपने आत्माका नाश समझ लेता है । पर्यायोंके नाशको वह रोक नहीं सकता इसलिए वह सदा यह समझता रहता है कि मेरी रक्षा किसी-प्रकार भी हो नहीं सकती । अंतमें जाकर मुझे नष्ट होना ही पडेगा । बस इसी व्याकुलताको इसी डरको अत्राण-भय कहते हैं ॥ ५४ ॥ मिथ्यादृष्टी समझता है कि अंशके नाश होनेसे अंशीका भी नाश हो जाता है अर्थात् जब क्षण क्षणमें आत्माकी पर्यायोंका नाश होता है तो कभी न कभी समस्त आत्माका नाश भी अवश्य हो जायगा क्योंकि जब संतानका बराबर नाश होता जाता है तो किसी न किसी दिन संतानीका नाश भी अवश्य हो जायगा । ऐसा भय केवल मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि ऐसी विपरीत बुद्धि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है और मिथ्यात्वकर्मका उदय मिथ्यादृष्टीके ही होता है । सम्यग्दृष्टीके उस मिथ्यात्वका सर्वथा अभाव रहता है । इसलिए न तो उसके ऐसी विपरीत बुद्धि ही होती है और न उसे अत्राणभय ही होता है । आत्म-स्वरूपको जान लेनेके कारण तथा आत्मजन्य सुखमें तल्लीन होनेके कारण वह सम्यग्दृष्टी सदा निर्भय रहता है ॥ ५५ ॥ संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब गुणपर्ययविशिष्ट हैं । ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जो गुणपर्यायोंसे रहित हो । इसप्रकार जो द्रव्य पर्यायविशिष्ट नहीं होगा जिसकी पर्याय सदा नहीं बदलेगी उस पदार्थकी सत्ता ही नहीं रह सकती । इस हिसाबसे पर्यायोंके नाश होनेसे ही आत्माकी सत्ता सदा स्थिर बनी रहेगी तथा आत्माकी सत्ताका स्थिर रहना ही इस जीवके लिए शरण है, परंतु आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टी इसप्रकारकी आत्माकी सत्ताको नहीं मानता इसीलिए वह अत्राणके भयसे सदा भयभीत रहता है ॥५६॥ परंतु सम्यग्दृष्टी पुरुष क्षण क्षणमें अपनी आत्माकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी आत्माकी सत्ताको सदा नित्य मानता है इसीलिए वह त्राणके भयसे सदा निर्भय रहता है । भावार्थ--दर्शनमोहनीय कर्मके अभाव हो जानेके कारण सम्यग्दृष्टीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है इसलिए वह द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों

चिदात्मनि । पश्यन्न नष्टमात्मानं निर्भयो त्राणभीतितः ॥ ५७ ॥ द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः । नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्भीर्महात्मनः ॥ ५८ ॥

नयोंके स्वरूपको अच्छीतरह समझता है अतएव वह पर्यायार्थिकनयसे आत्माकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी द्रव्यार्थिक नयसे आत्माके स्वरूपको सदा नित्य मानता है इसीलिए वह सदा निर्भय रहता है ॥ ५७ ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुषको द्रव्यसे क्षेत्रसे कालसे वा भावसे अंशमात्र भी अत्राणका भय नहीं होता । अतएव उस महात्माको कभी किसी प्रकारका भय नहीं हो सकता । (इस लाटीसंहितामें "कुतस्तद्भीर्महात्मनः" ऐसा पाठ है उसके अनुसार हमने ऊपर अर्थ लिख दिया है, परंतु पंचाध्यायीमें "कुतस्तद्धिमहात्मनः" ऐसा पाठ है और इसका अर्थ यह लिखा है "इस आत्माका अथवा इस संसारमें किसी भी पदार्थका द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे अंशमात्र भी अरक्षण (नाश) नहीं होता है तो फिर महान् पदार्थ आत्मा महात्माका नाश कैसे हो सकता है।" यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पंचाध्यायीका पाठ ही शुद्ध जान पडता है, क्योंकि उनके अर्थमें कोई दोष नहीं है । लाटी संहिताके पाठमें पुनरुक्त दोष आता है। जब एक बार यह कह चुके कि सम्यग्दृष्टीको द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अंशमात्रसे भी अत्राण नहीं होता अर्थात् अत्राणका भय नहीं होता तो फिर "अतएव उस महात्माको भय कहांसे हो सकता है अर्थात् भय नहीं होता" यह कहना व्यर्थसा जान पडता है । यदि अत्राणका अर्थ अरक्षा वा नाश लेते हैं तो फिर पदार्थोंका सम्बन्ध अपने आप आ जाता है क्योंकि नाश वा उत्पाद पदार्थोंका ही होता है भयसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। ऊपरके श्लोकोंसे भी यही बात सिद्ध करते चले आ रहे हैं कि आत्माका नाश नहीं होता ऐसा मान लेनेसे भय नहीं होता । ऐसी अवस्थामें आत्माका नाश नहीं होता यह सिद्ध करना परमावश्यक आ पडता है जैसा कि पंचाध्यायीमें लिखा है । इससे सिद्ध होता है कि पंचाध्यायीका पाठ ठीक है ।)

आगे अगुप्तिभयका स्वरूप दिखलाते हैं। दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे एकान्तवादकी ओर झुक गई है बुद्धि जिसकी उसी पुरुषके अगुप्तिका भय रहता है। जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषकी

दृग्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनः । तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५९ ॥ असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः । कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छातोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् । निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ ६१ ॥ मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः । निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ६२ ॥ तद्भीतिर्जीवित भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित् । कदा लेभे न वा दैवादित्याधिः

बुद्धि न तो एकान्तवादकी ओर झुकती है और न उसके अगुप्तिभय होता है । भावार्थ—आत्माके नाश होनेके डरको अगुप्तिभय कहते हैं । वह अगुप्तिभय उसीके हो सकता है जो सत् पदार्थका सर्वथा नाश मानता है । जो सम्यग्ज्ञानी पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको समझता है और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयोंके अनुसार पदार्थोंके स्वरूपको ग्रहण करता है । पर्यायार्थिक नयके अनुसार द्रव्योंकी पर्यायोंका नाश मानता हुआ भी जो द्रव्यार्थिक नयसे आत्माको सदा नित्य मानता है उसके अगुप्तिभय कभी नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥ जो पुरुष असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति मानता है अथवा विना ही कारण सामग्रीके असत्से किसी भी कार्यकी उत्पत्ति मानता है तथा जो सत्तारूप पदार्थोंका सर्वथा नाश मानता है वह पुरुष यदि अगुप्तिके भयसे छूटना चाहे तो किसप्रकार छूट सकता है । अर्थात् कभी नहीं छूट सकता ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको सदा सुरक्षित ही समझता है और अगुप्तिके भयके कारणोंको सर्वथा असम्भव मानता है इसीलिए वह अगुप्तिके भयसे सर्वथा निर्भय रहता है ॥ ६१ ॥ इसप्रकार अगुप्तिके भयका निरूपण किया । आगे मृत्युके भयको कहते हैं ।

प्राणोंका नाश होना मृत्यु है । मनोबल, बचनबल, कायबल ये तीनबल, स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इंद्रिय घ्राण इंद्रिय चक्षु इंद्रिय और कर्ण इंद्रिय ये पांच इंद्रियां आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण कहलाते हैं । संक्षेपसे कहे जायं तो इंद्रिय बल आयु श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण कहलाते हैं परंतु इनको यदि भेद प्रभेद सहित बढाकर कहा जाय तो ऊपर लिखे दश प्राण हो जाते हैं ॥६२॥ "मेरा जीवन सदा बना रहे, मेरा मरण कभी न हो अथवा दैवयोगसे मैं कभी मर न जाऊं" इसप्रकार अपने शरीरके नाश होनेके डरसे जो मनमें पीडा बनी रहती है उसको मृत्युभय कहते हैं ॥ ६३ ॥ जो तत्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेकी कभी इच्छा नहीं करते ऐसे मिथ्या-

जीविनी । नार्थान्मृत्युरस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥६५॥ अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् । तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ६६ ॥ भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे । इत्येवं मानसी चिंतापर्याकुलितचेतसाम् ॥ ६७ ॥ अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः । कुतो मोक्षोऽस्ति-स्वे तनुव्यये ॥ ६३ ॥ नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् । अन्तस्तत्त्वैकवृत्तानां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ६४ ॥ जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोप-

दृष्टियोंके वह मृत्युका भय सदा बना रहता है। परंतु जिन्होंन अपने मनकी प्रवृत्ति अपने आत्माके स्वरूपमें ही लगा रक्खी है ऐसे सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंके वह मृत्युका भय कभी नहीं हो सकता। भावार्थ—अपने आत्माके स्वरूपको जाने बिना मृत्युका भय कभी नहीं छूट सकता। दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको पहचान नहीं सकता इसलिए उसको मृत्युका भय सदा बना रहता है। सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीयका अभाव होनेसे आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है इसलिए उसको मृत्युका भय कभी उत्पन्न नहीं होता ६४ ॥ सम्यग्दृष्टी समझता है कि यदि वास्तवमें देखा जाय तो आत्माके एक चेतना ही प्राण है तथा वह चेतनाप्राण आत्माका उपजीवी गुण है। अथवा यों कहना चाहिए कि चैतन्यस्वरूप ही आत्मा है। अतएव यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि आत्माकी मृत्यु कभी हो ही नहीं सकती। इसलिए सम्यग्दृष्टीके मृत्युका भय भी कभी नहीं हो सकता। इसप्रकार मृत्युभयका निरूपण किया ॥ ६५ ॥

आगे आकस्मिकभयको कहते हैं। जो भय अकस्मात् आ जाता है उसको आकस्मिक भय कहते हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य बिजली पडनेसे अकस्मात् मर जाते हैं ॥ ६६ ॥ मैं सदा नीरोग वा सुखी बना रहूं मुझे कभी किसीप्रकारका दुःख न हो इसप्रकारकी आकुलतासे (व्याकुलतासे) भरी हुई मनकी चिन्ताको ही आकस्मिकभय कहते हैं। अथवा इसप्रकारकी मनकी चिन्ता उत्पन्न होनेसे वह आकस्मिकभय सदा उत्पन्न होता रहता है ॥६७॥ इसप्रकारकी चिन्ता दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे होती है। इससे सिद्ध होता है कि जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप निर्भय स्थानसे रहित है जिसको अपने निर्भयस्वरूप शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है और इसीलिए जो सदा भयभीत रहता है ऐसे मिथ्यादृष्टीको ही आकस्मिकभय होता है। तथा इसप्रकारके आकस्मिक भयसे भयभीत रहने-

तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ६८ ॥ निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोप्यनादिमान् । नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ६९ ॥ कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृते मुख्यक्रियासु वा । कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ७० ॥ हृषीका रुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः । स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंग स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ७१ ॥ तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षे वारतिं विना ॥ ७२ ॥ शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते । नेच्छेदनुष्णासस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः

वाले मिथ्यादृष्टीको मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६८ ॥ यह जीव सदा निर्भय स्थानमें रहनेवाला है तथा अनादि और अनंत है। ऐसे निर्भय स्थानकी—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी इच्छा करनेवाले सम्यग्दृष्टीके वह आकस्मिकभय किसप्रकार उत्पन्न हो सकता है। भावार्थ—जो निर्भय मोक्षस्थानको प्राप्त होना चाहता है वा शुद्ध आत्माके स्वरूपमें लीन होना चाहता है ऐसे सम्यग्दृष्टीके वह आकस्मिकभय कभी नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ इसप्रकार निःशंकित अंगका स्वरूप कहा। अब आगे निःकांक्षित अंगका लक्षण कहते हैं।

किसी पुण्यकार्यके करनेपर इस लोकके लिये अथवा परलोकके लिये भोगोंकी इच्छा करना अथवा कर्म और कर्मोंके फलोंमें अपनापन मानना अथवा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना आकांक्षा कहलाती है। भावार्थ—भोगोंकी अभिलाषा करना ही आकांक्षा वा कांक्षा कहलाती है ॥ ७० ॥ जो इंद्रियोंके विषय इंद्रियोंको रुचिकर नहीं लगते उनमें अरुचि उत्पन्न करना दुःख मानना भोगोंकी आकांक्षाओंका चिन्ह है। क्योंकि जब इष्ट पदार्थोंमें राग उत्पन्न होता है तभी अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष होता है। जबतक इष्ट पदार्थोंमें राग नहीं होगा तब तक अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष कभी हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि जिसके इंद्रियोंके अनिष्ट पदार्थोंमें अरुचि है उसके इंद्रियोंके इष्ट विषयोंमें अवश्य ही राग विद्यमान है। अथवा यों कहना चाहिए कि उसके इंद्रियोंके विषयोंकी लालसा अवश्य लगी हुई है। बस इसी लालसाको आकांक्षा कहते हैं ॥ ७१ ॥ यह निश्चित सिद्धांत है कि विपक्षमें अरुचि हुए बिना अपने पक्षमें रुचि कभी नहीं होती अथवा विपक्षमें रुचि हुए बिना अपने पक्षमें अरुचि कभी नहीं होती। भावार्थ—रुचि अरुचि अथवा राग द्वेष दोनों सापेक्ष हैं अथवा दोनों अविनाभावी हैं। जहां एक होता है वहां दूसरा अवश्य होता है यदि एक पक्षमें राग है तो दूसरे पक्षमें द्वेष अवश्य होता

॥ ७३ ॥ यस्यास्ति कांक्षिनो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः । यस्य नास्ति स सद्दृष्टिः युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ७४ ॥ आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः । स्वार्थसार्थैकससिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥ ७५ ॥ निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः । जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्द्धेर्वातोत्तरंगवत् ॥ ७६ ॥ ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते । भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ७७ ॥ नासिद्ध बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् । शुभमात्रं शुभायाः

है। यदि एक पक्षमें द्वेष है तो दूसरेमें राग अवश्य होता है। इसीप्रकार इंद्रियोंके अनिष्ट विषयोंमें अरुचि होनेसे इष्ट विषयोंमें लालसा वा आकांक्षा अवश्य होती है इसीको कांक्षा कहते हैं ॥ ७२ ॥ जैसे जो कोई पुरुष शीतस्पर्शसे द्वेष करता है वह उष्णस्पर्शको अवश्य चाहता है तथा जो उष्णस्पर्शको चाहता है वह शीतस्पर्शसे अवश्य द्वेष करता है। इससे भी सिद्ध होता है कि राग द्वेष दोनों साथ रहनेवाले हैं जहां एक होता है वहां दूसरा अवश्य होता है ॥७३॥ यह निश्चित है कि जिसके इसप्रकारकी भोगोंकी आकांक्षा होती है वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टी होता है और जिसके वह भोगोंकी आकांक्षा नहीं है वह अवश्य ही सम्यग्दृष्टी है यह वात युक्ति आगम और अपने आत्माके अनुभवसे सिद्ध होती है ॥ ७४ ॥ "परलोकके लिए भोगोंकी आकांक्षा करनेसे इष्ट पदार्थोंके संयोगकी प्राप्ति अवश्य होगी" ऐसी भावना मिथ्यादृष्टीके सदा लगी रहती है। तथा इसके साथ साथ वह यह भी समझता है कि अपने समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि इसी लोकमें होती है। इस लोकके सिवाय न तो और कोई लोक है और न वहां किसी प्रकारकी इष्ट सिद्धि होती है ॥ ७५ ॥ जिसप्रकार वायुके बढनेसे समुद्रमें लहरें आया करती हैं अथवा जिसप्रकार उन्मत्त पुरुष अनेक निस्सार कल्पनाएं किया करता है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ऐसी ही ऐसी ऊपर लिखे अनुसार निस्सार भावनाएं प्रगट हुआ करती हैं। भावार्थ—मिथ्यादृष्टी परलोकको तो मानता नहीं है जो कुछ माननता है वह इसी लोकमें मानता है। इसलिए वह इसी लोकमें अपने इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि चाहता है ॥ ७६ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि किसी कार्यकी इच्छा किए विना मंद पुरुष भी (अज्ञानी मन्दबुद्धि वा मूर्ख) कभी किसीप्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करता है। फिर भला ज्ञानी पुरुष किसीप्रकारके भोगोंकी इच्छा किए

स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ ७८ ॥ नचाशक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् । दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ७९ ॥ सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया । अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ८० ॥ नच वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः । अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्ध-

बिना व्रतादिकोंका आचरण किसप्रकार कर सकता है ? ॥ ७७ ॥ दूसरी बात यह है कि संसारमें जितनी भी क्रियाएं की जाती हैं उन सबका एकमात्र फल कर्मोंका बंध होना है। यह बात अच्छीतरह सिद्ध है इसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं। हां इतना अंतर अवश्य है कि जो शुभ क्रियाएं हैं उनका फल शुभ कर्मोंका बंध होना है और जो अशुभ क्रियाएं हैं उनका फल अशुभ कर्मोंका बंध होना है। परन्तु संसारमें जितनी भी क्रियाएं होती हैं उनसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ ७८ ॥ शंकाकार अभी बराबर इसी बातको सिद्ध कर रहा है। वह कहता है कि कदाचित् यह कहो कि जिसप्रकार वीतरागी पुरुषके किसी भी क्रियासे बंध नहीं होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयसे इस सरागी पुरुषके भी इस क्रियासे किसी भी कर्मका बंध नहीं होगा ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह बात प्रमाणसे सिद्ध है कि क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सभी क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य और निश्चयसे होता है क्योंकि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले बंधके कारणोंकी संभावना अवश्य रहती ही है ॥ ७९-८० ॥ दूसरी बात यह है कि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले चाहे सरागी हो और चाहे वीतरागी हो दोनोंके ही जो क्रियाएं होती हैं वे सब औदयिकी होती हैं अर्थात् कर्मोंके उदय होनेसे ही होती हैं बिना कर्मोंके उदयके नहीं होती तथा जो क्रियाएं औदयिकी होती हैं उनसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है। इस हिसाबसे बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सरागी वीतरागी दोनोंकी ही होनेवाली क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है और इसका भी कारण यह है कि बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेदोंमेंसे किसीका उदय अवश्य रहता है। भावार्थ—स्थितिबंध और अनुभागबंधके लिए मोहनीयकर्मका उदय कारण है वह दशवें गुणस्थान तक है ही, इसलिए बारहवें गुणस्थानसे पहले पहले सबप्रकारकी क्रियाओंसे बंध अवश्य होता है ॥ ८१ ॥ कदाचित् यह कहो कि कोई सम्यग्दृष्टी पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे किसी भी क्रियाको कर्मोंका बंध

फलां विदन् ॥ ८१ ॥ यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् । तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ८२ ॥ नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया । शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ ८३ ॥ नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया । विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥ ८४ ॥

न करनेवाली समझता है परंतु उससे ऐसी ही क्रिया हो जाती है जिससे कर्मोंका बंध हो जाय । भावार्थ—कर्मबंध करनेवाली क्रियाको वह जानबूझ कर नहीं करता किंतु अनजानमें वा बुद्धिके दोषसे उससे हो जाती है। सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसके ज्ञानके साथ जो सम्यक् विशेषण लगा हुआ है वह उस ज्ञानका अविनाभावी है। उसके ज्ञानसे कभी अलग नहीं हो सकता। परंतु जब वह बुद्धिके दोषसे कर्मबंध करनेवालीं क्रियाएं करता है तो इससे सिद्ध होता है कि उसके सम्यग्ज्ञानका अभाव हो चुका है और जब उसके सम्यग्ज्ञानका अभाव ही हो चुका है अथवा उसके ज्ञानमेंसे सम्यक् विशेषणका अभाव हो चुका है तब फिर उसके सम्यग्दर्शनकी दिव्यता ही क्या बाकी रहती है। भावार्थ—उसके ज्ञानमें दोष उत्पन्न हो जानेके कारण उसके सम्यग्दर्शनमें कोई ऐसी उत्कृष्टता नहीं रहती जिससे कि उसकी क्रियासे किसी भी कर्मका बंध न हो । इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीकी क्रियाओंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ ८१-८३ ॥

परंतु कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है। जब बिना इच्छाके भी क्रिया होती है तो फिर शुभ और अशुभ क्रियाओंमें विशेषता ही क्या बाकी रहती है। भावार्थ–कर्मोंका बंध दो प्रकारका है एक शुभ कर्मोंका बंध और दूसरा अशुभ कर्मोंका बंध । शुभ कर्मोंका बंध शुभ क्रियाओंसे होता है और अशुभ कर्मोंका बंध अशुभ क्रियाओंसे होता है परंतु जो क्रियाएं बिना इच्छाके की जाती हैं वे न तो शुभरूप होती हैं और न अशुभरूप होती हैं क्योंकि जो क्रियाएं शुभ परिणामोंसे की जाती हैं वे शुभ होती हैं और जो अशुभ परिणामोंसे की जाती हैं वे अशुभ होती हैं, परंतु जहांपर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं होती वहांपर न तो शुभ परिणाम होते हैं और न अशुभ परिणाम होते हैं, किंतु परिणामोंमें शुद्धता ही रहता है, इसीलिए उस क्रियासे किसी भी प्रकारके कर्मका बंध नहीं होता है ॥ ८४ ॥

तत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् । तस्याः स्वतंत्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ८५ ॥ नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः । तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥ ८६ ॥ यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् । तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशंखावलोकवत् ॥ ८७ ॥ दृग्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षा-

यहांपर शंकाकार फिर भी शंका करता है कि जो क्रियाएं अनिष्ट पदार्थोंके संयोगरूप होती हैं वे तो विना इच्छाके हो सकती हैं परन्तु जो क्रियाएं विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोगरूप होती हैं वे बिना इच्छाओंके किसप्रकार उत्पन्न हो सकती हैं? ॥८५॥ सम्यग्दृष्टीकी वे क्रियाएं व्रतरूप होती हैं। इसलिए वे बिना इच्छाओंके किसीप्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती। व्रत पालन करनेरूप क्रियाएं इच्छापूर्वक की जाती हैं व्रत करनेवाला स्वतंत्र होकर उन क्रियाओंको करता है। इससे स्वयं सिद्ध हो जाता है कि वह व्रत पालन करनेवाला उन व्रत करनेरूप क्रियाओंका कर्त्ता है। सब तरहसे शंकाकारका अभिप्राय यही है कि श्रेष्ठ क्रियाएं बिना इच्छाके कभी नहीं होतीं ॥ ८६ ॥ इसके उत्तरमें कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि संसारमें जो कुछ कर्मोंके उदयसे होता है वह सब सम्यग्दृष्टीके लिए अनिष्ट ही है। सम्यग्दृष्टी उन सबको अनिष्ट ही समझता है। इसलिए जितने भी कर्म हैं और जितने भी कर्मोंके फल हैं उन सबकी इच्छा सम्यग्ज्ञानी पुरुष कभी नहीं करता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टीके लिए व्रतरूप क्रिया भी अनिष्ट है इसलिए वह क्रिया भी विना इच्छाके ही होती है ॥ ८७ ॥ संसारमें अपने प्रयोजनके वशसे जो कोई पदार्थ इष्ट माना जाता है अथवा जो कोई पदार्थ अनिष्ट माना जाता है वह सब दृष्टि वा दर्शनके दोषसे माना जाता है। जैसे कि दृष्टिके दोषसे सफेद शंख भी पीला दिखाई पडता है। भावार्थ—जिसप्रकार दृष्टिदोषसे नेत्रोंमें विकार होनेसे सफेद शंख भी पीला दिखाई पडता है उसीप्रकार कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए पदार्थोंमें जो इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पना होती है वह सब दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे होती है। परन्तु जब दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है तब कारणके बिना इष्ट अनिष्ट कल्पना हो ही नहीं सकती। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीकी क्रियाओंमें इष्ट अनिष्ट कोई भी कल्पना नहीं है इसी लिए उन क्रियाओंसे किसी भी कर्मका बंध नहीं होता है ॥८८॥ सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो

द्भूतार्थदर्शिनी । तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ८८ ॥ नचासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च । सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ८९ ॥ अनिष्टार्थफलत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया । दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ९० ॥ अथसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् । ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो मतः ॥ ९१ ॥ यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः । यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ९२ ॥ पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं

जाता है इसलिए उसकी दृष्टि दर्शन वा श्रद्धान आत्माके शुद्धस्वरूपको साक्षात् अनुभव करनेवाला हो जाता है इसीलिए कर्मके फलस्वरूप समस्त अनिष्ट पदार्थोंमें उसकी बुद्धि अनिष्टस्वरूप ही हो जाती है। भावार्थ– पहले कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टी पुरुष कर्मोंके जितने फल हैं कर्मोंके उदयसे होनेवाले जितने कार्य हैं उन सबको अनिष्ट मानता है और जिन जिनको वह अनिष्ट मानता है उन सबको वह अनिष्ट समझता है। इसलिए वह कर्मके उदयसे होनेवाले व्रतादिक कार्योंको इच्छापूर्वक नहीं करता ॥ ८९ ॥ संसारमें जितने कर्म हैं और जितने उन कर्मोंके फल हैं वे सब अनिष्ट हैं यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु अच्छीतरह सिद्ध है। क्योंकि यह बात युक्ति आगम और अनुभव सब तरहसे सिद्ध है कि संसारमें जितने कर्म हैं और जितने कर्मोंके फल हैं वे सब दुःखोंके कारण हैं। तथा जो जो दुःखोंके कारण होते हैं वे सब अनिष्ट होते हैं। इसलिए कर्म और कर्मोंके फल सब अनिष्ट हैं इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं है ॥ ९० ॥ जिसप्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट कार्योंको ही उत्पन्न करानेवाला होता है उसीप्रकार व्रतरूप क्रिया भी अनिष्ट फल ही उत्पन्न करती है इसलिए वह भी अनिष्ट ही है इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं है। भावार्थ–व्रतोंसे शुभ कर्मोंका बंध होता है और उससे स्वर्गादिक इंद्रियजन्य सुख मिलते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टी इन सबको अनिष्ट समझता है। इससे सिद्ध होता है कि उसकी व्रतरूप क्रियाएं भी सब अनिष्ट हैं ॥ ९१ ॥ पहले यह जो शंका की गई थी कि व्रतरूप क्रिया स्वतंत्र होती है और इसीलिए उसका कर्त्ता सम्यग्दृष्टी है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि व्रतरूप क्रिया कर्मके उदयसे होती है। इसलिए वह कर्मका फल है। व्रतरूप क्रियाएं सब कर्मके उदयसे होती हैं। बिना कर्मोंके उदयके व्रतरूप क्रियाओंका होना असम्भव है ॥ ९२ ॥ जिस मनुष्यका मोहनीयकर्म नष्ट हो गया है अथवा जिसका

प्रति । न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ९३ ॥ सिद्धो निःकांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम् । निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ९४ ॥ नाशङ्क्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् । हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ९५ ॥ यतो निःकांक्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना । नानिच्छास्त्याक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ९६ ॥ तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति । दृग्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ९७ ॥ उक्तो निःकांक्षितो

मोहनीयकर्म नष्ट नहीं हुआ है ऐसे दोनों मनुष्योंके जितनी भी क्रियाएं होती हैं वे सब कर्मके उदयसे ही होती हैं ॥९३॥ इस मनुष्यका पुरुषार्थ कर्मोदयके लिए इच्छानुसार नहीं होता और न पुरुषार्थकी अपेक्षासे ही होता है किंतु वह पुरुषार्थ कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। भावार्थ—संसारमें जितना भी पुरुषार्थ है सब कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। इसलिए क्रियाएं भी सब औदयिकी ही होती हैं ॥ ९४ ॥ इसप्रकार यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्ज्ञानी पुरुष कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाओंको करता हुआ आकांक्षा रहित ही होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बिना इच्छाके किया हुआ विरागियोंका कर्म (क्रिया) रागके लिए नहीं होता अर्थात् उससे राग द्वेष वा कर्मबंध नहीं हो सकता ॥९५॥ कदाचित् कोई यह कहे कि सम्यग्दर्शनके अतिशयरूप कारणको छोडकर और जगह भी सामान्य मनुष्य आकांक्षा रहित होता है? अर्थात् बिना सम्यग्दर्शनके भी कोई मनुष्य आकांक्षा रहित होता है ऐसी शंका भी कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह नियम है कि बिना सम्यग्दर्शनके निष्कांक्षता कभी हो ही नहीं सकती इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं करता वह इंद्रियजन्य सुखोंमें अनिच्छा भी नहीं कर सकता। भावार्थ—जिसको आत्मजन्य सुखका अनुभव होगा वही इंद्रियजन्य सुखोंकी अनिच्छा करेगा। तथा वह आत्मजन्य सुख दर्शनमोहनीयके अभाव होनेसे होता है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टीके ही इंद्रियजन्य सुखोंमें आकांक्षा नहीं होती ॥ ९६-९७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने मोहनीय कर्मके उदयसे उस अतीन्द्रिय सुखकी कभी इच्छा भी नहीं कर सकता। क्योंकि उसके आत्माकी शक्ति ही वैसी ही है जिससे कि उसके दर्शनमोहनीय कर्मका परिपाक सदा उसीप्रकारका होता रहता है। भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उसके आत्मजन्य सुखका अनुभव नहीं होता इसीलिए

भावो गुणो सद्दर्शनस्य वै । अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्परीक्षात्मता मता ॥९८॥ अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः । सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ९९ ॥ आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् । परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ १०० ॥ निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः । गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ १०१ ॥ दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे । यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥१०२॥ नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् । नास्यावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ १०३ ॥ प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः । प्राणिनः सदृशः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ १०४ ॥ यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् । शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतं भेदभ्रमात्मना ॥ १०५ ॥ जले जंबालवज्जीवे यावत्कर्माशुचिस्फु-

वह इंद्रिद्रयजन्य सुखोंकी सदा आकांक्षा करता रहता है ॥ ९८ ॥ इसप्रकार ऊपर जो निःकांक्षित गुण बतलाया है वह सम्यग्दृष्टीका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि यह पहलेसे ही परीक्षा सिद्ध हो चुकी है । भावार्थ---यह बात सबतरहसे सिद्ध हो चुकी है कि यह निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टीका ही है ॥ ९९ ॥

अब आगे निर्विचिकित्सा नामके गुणको कहते हैं । यह बात भी आगम और अनुभवसे तो सिद्ध है ही किंतु युक्तिसे भी सिद्ध होती है कि यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीका ही एक उत्तम गुण है ॥१००॥ अपने आत्मामें अपने आत्माके अधिक गुण समझ कर अपनी प्रशंसा करते रहना और दूसरेमें थोडे गुण समझ कर निंदा करना वा हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि करना विचिकित्सानामका दोष है ॥ १०१ ॥ आत्माके जो परिणाम इस ऊपर लिखे हुए विचिकित्सा दोषसे रहित हैं उसीको निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं । यह श्रेष्ठ गुण सम्यग्दर्शनका ही है अथवा सम्यग्दृष्टीका ही है, सम्यग्दृष्टीके सिवाय और किसीमें यह गुण नहीं होता । आगे इसी गुणका लक्षण कहते हैं ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य अपने तीव्र अशुभकर्मके उदयसे अत्यंत दुःखी हो रहा है । तथा जो अत्यंत तीव्र दुःखोंका और अनेक प्रकारकी घृणाओंका स्थान बन रहा है ऐसे पुरुषको देख कर भी जिसके हृदयमें कभी अदयारूप भाव नहीं होता उसे ही निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं ॥ १०३ ॥ मैं अनेक प्रकारकी संपदाओंका स्थान हूं और यह विचारा दीन अनेक प्रकारकी विपत्तियोंका स्थान है इसलिए वह दीन भला मेरे समान किस प्रकार हो सकता है । इसप्रकारका अज्ञान मनमें कभी उत्पन्न नहीं होना चाहिये किंतु इसके विपरीत ऐसा

टम् । अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥१०६॥ अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः । यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥१०७॥

ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले सभी त्रस स्थावर जीव समान हैं ॥ १०३-१०४ ॥ जिसप्रकार किसी शूद्र जातिकी स्त्रीके उदरसे दो पुत्र एक साथ उत्पन्न हुए । यदि वास्तवमें देखा जाय तो वे दोनों ही शूद्र हैं इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं तथापि भ्रमको धारण करनेवाला आत्मा उन दोनोंमें भेद समझने लगता है । भावार्थ—ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि किसी शूद्रीके पेटमे दो बालक उत्पन्न हुए थे । उनमेंसे एकका पालनपोषण ब्राह्मणके घर हुआ था और दूसरेका पालनपोषण शूद्रके ही घर हुआ था । जिसका पालनपोषण ब्राह्मणके यहां हुआ था वह अपनेको ब्राह्मण समझता था, मद्यमांसादिकके सेवनसे बचता था तथा जो शूद्रके घर पला था वह अपनेको शूद्र ही समझता था और मद्य मांसादिकका सेवन निरर्गल रीतिसे करता था। अन्य लोग भी उन्हें ऐसा ही समझते थे । परन्तु इसप्रकार भिन्न-भिन्न समझनेवाले उन सबका भ्रम था । वास्तवमें तो वे दोनों ही शूद्र थे । इसीप्रकार अज्ञानी जीव भिन्न भिन्न कर्मोंके उदयसे होनेवाले भिन्न-भिन्न जीवोंमें भेद समझने लगते हैं । शुभ कर्मके उदयसे अपनेको श्रेष्ठ समझने लगते हैं और अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवालोंको हीन समझने लगते हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सभी आत्माएं समान हैं ॥१०५॥ जिसप्रकार काईके सम्बन्धसे जलकी शुद्धता नष्ट हो जाती है उसीप्रकार इस जीवमें जबतक कर्मके सम्बन्धसे अशुद्धता हो रही है तबतक उन कर्मोंके सम्बन्धसे मलिन हुए इस आत्माके सामान्य रीतिसे अहंबुद्धि हो रही है । भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही यह जीव मलिन हो रहा है और इसीलिए यह जीव कर्मोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको भी अपना स्वरूप समझ लेता है ॥ १०६ ॥ परन्तु जिस पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषका ही यह निर्विचिकित्सा गुण है क्योंकि यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीके ही होता है मिथ्यादृष्टीके कभी नहीं होता ॥ १०७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने मोहनीय कर्मके उदयसे अत्यन्त भिन्नता धारण करनेवाले जड और चैतन्य पदार्थोंको भी एकरूप समझने लगता है और इसीलिए वह कर्मकी जितनी

१५३

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः । सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ १०८ ॥ इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः । नाविवक्षोपि दोषाय विवक्षो न गुणास्पये ॥१०९॥ अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी । ययालङ्कृतवपुष्ये तत् भाति सद्दर्शन नरि ॥ ११० ॥ अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्व-

पर्यायें हैं, कर्मोंके उदयसे होनेवाले जितने विकार हैं उन सबमें राग करने लगता है। ऐसे मिथ्यादृष्टीके भला वह निर्विचिकित्सा गुण किसप्रकार हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता। भावार्थ—यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीके ही होता है मिथ्यादृष्टीके नहीं होता ॥ १०८ ॥ इसप्रकार सम्यग्दर्शनके निर्विचिकित्सा गुणका स्वरूप युक्तिपूर्वक बतलाया। यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं आता और यदि कहा जाय तो कोई विशेष गुण प्रगट नहीं होता। भावार्थ–यह निर्विचिकित्सा गुण सामान्य गुण है। इसके कहने न कहनेसे कोई गुण वा दोष नहीं होता क्योंकि गुण और दोष विशेष गुणसे होता है। विशेष गुणके कथन न करनेसे दोष होता है और कथन करनेसे उस विशेष गुणकी वृद्धि होती है परन्तु यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टीका सामान्य गुण है यह सम्यग्दृष्टीमें होता अवश्य है इसीलिए आठ अंगोंमें इसको अंग माना है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह सामान्य गुण है। बाकी सब विशेष गुण हैं इसप्रकार निर्विचिकित्सा अंगका स्वरूप बतलाया ॥ १०९ ॥

अब आगे अमूढदृष्टिका स्वरूप बतलाते हैं। यह अमूढदृष्टी गुण भी सम्यग्दर्शनसे ही सुशोभित होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टीके ही होता है। अथवा यों कहना चाहिये कि जो मनुष्य इस अमूढदृष्टी गुणसे सुशोभित है उसीके सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है अथवा यों कहना चाहिए कि जो सम्यग्दर्शन इस अमूढदृष्टी गुणसे

१ हमने यह पाठ पंचाध्यायीसे शुद्ध किया है लाटी संहितामें यह पाठ "ययालंकृतमात्रं सद्भाति सद्दर्शनं नरि"। ऐसा पाठ है। इस लाटी-संहिताके पाठसे यह पंचाध्यायीका पाठ बहुत सुन्दर और यथेष्ट मालूम होता है। लाटीसंहिताके पाठमें ऊपरकी पंक्ति और नीचेकी पंक्तिका एकसा अर्थ हो जाता है परन्तु पंचाध्यायीके पाठमें नीचेकी पंक्तिमें बड़ी विलक्षणता दिखलाई है। पंचाध्यायीके पाठमें एकप्रकारसे अमूढदृष्टी अंगको सम्यग्दर्शनका मुख्य और नितान्त अविनाभावी लक्षण दिखलाया है जो कि आगेके वर्णनसे भी यथेष्ट सिद्ध होता है। इसलिए पंचाध्यायीका पाठ ही उत्तम और ठीक है।

लक्षणात् । नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ १११ ॥ असत्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः । नाप्यलं तत्र मोहाय दृग्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ११२ ॥ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः । नाल्पश्रुतः समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥११३॥ अर्थाभासेपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता । स्थूलानन्तरि-

शोभायमान है वही सम्यग्दर्शन मनुष्योंमें शोभा पाता है ॥ ११० ॥ अतत्त्वोंमें वा मिथ्यातत्त्वोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना मिथ्यातत्त्वोंमें ही यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना मूढदृष्टी है। मूढदृष्टी शब्दका यह अर्थ इस शब्दसे ही निकलता है। मूढ शब्दका अर्थ मिथ्या वा विपरीत है। दृष्टी शब्दका अर्थ श्रद्धान विश्वास वा रुचि है। मूढ अर्थात् विपरीत तत्त्वोंका दृष्टी अर्थात् श्रद्धान करना मूढदृष्टी दोष है। जिस जीवके ऐसी मूढदृष्टी नहीं है वह संसारमें प्रसिद्ध अमूढदृष्टी अंग कहलाता है ॥ १११ ॥

वेदान्ती, मीमांसक, भाट्ट, प्रभाकर, सांख्य, नैयायिक, बौद्ध आदि अन्य मतवालोंने मिथ्या हेतु और मिथ्या दृष्टान्तोंके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत ही सिद्ध किया है परन्तु जिस पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टी पुरुषको वह पदार्थोंका विपरीत स्वरूप रंचमात्र भी मोहित नहीं कर सकता। भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म आत्मामें अंधेरा उत्पन्न कर देता है इसलिए जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है वह अपने अज्ञानरूपी अंधेरेके कारण विपरीत पदार्थोंमें भी रुचि करने लगता है। परंतु दर्शनमोहनीय कर्मके अभावसे जिसके आत्माका प्रकाश प्रगट हो चुका है वह पुरुष उन विपरीत पदार्थोंमें कभी मोहित नहीं हो सकता ॥ ११२ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जो धर्म अधर्म परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थोंके स्वरूपको मेरुपर्वत क्षीरसागर आदि अंतरित पदार्थोंको तथा राम रावणादिक अत्यंत दूरवर्ती पदार्थोंके स्वरूपको विपरीत दिखलाते हैं उनमें थोडेसे शास्त्रोंका जानकार भी मोहित नहीं होता है फिर भला अनेक शास्त्रोंका जानकार उसमें मोहित कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता। यथार्थ शास्त्रोंका जानकार पुरुष उन पदार्थोंके विपरीत स्वरूपको कभी नहीं मान सकता ॥ ११३ ॥ जहां कहीं अर्थका आभास भी होता है पदार्थोंके स्वरूपमें कुछ भी विपरीतता होती है वहां भी सम्यग्दृष्टी अपना विश्वास नहीं करता तो

तोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ ११४ ॥ तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् । निसारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदा ॥ ११५ ॥ अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी । दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ११६ ॥ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता ॥ ११७ ॥ कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः । मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ११८ ॥ अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकरूढिवशादिह । धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ ११९ ॥ अपरेपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः । सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १२० ॥ नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि

फिर जो सूक्ष्म अंतरित और दूरार्थ पदार्थ समस्त आगमोंमें प्रसिद्ध हैं उनमें उस सम्यग्दृष्टीको भ्रम किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं होता ॥ ११४ ॥ सम्यग्दृष्टी समझता है कि लौकिक रूढि अनेक विकल्पोंसे होती है और उसे निःसार पुरुष ही किया करते हैं। ऐसी लौकिक रूढियोंसे सदा अनिष्ट फल ही उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ११५ ॥ यह लौकिकी रूढि निष्फल है अथवा बुरा फल देनेवाली है । हेतुवादसे रहित है, योगका नाश करनेवाली है और अशुभ कर्मोंके उदयसे कितने ही पुरुष इसे छोड नहीं सकते । भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी ही इन लौकिकी रूढियोंको मिथ्या धर्मोंको मानता है । सम्यग्दृष्टी इनको सदा हेय समझता है और इनमें कभी विश्वास नहीं करता ॥ ११६ ॥ मूढताएं तीन हैं देवमूढता, धर्ममूढता और गुरुमूढता । इनमेंसे अदेव या कुदेवमें देवबुद्धि रखना देवमूढता है, अधर्ममें धर्मबुद्धि रखना धर्ममूढता है और अगुरुमें गुरुबुद्धि रखना गुरुमूढता है ॥ ११७ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुष अपने लौकिक कल्याणके लिए (इंद्रियजन्य सुखोंके लिए) कुदेवोंकी आराधना करता है, परंतु यह उसका लोकोपचार मिथ्या है । इसप्रकारके मिथ्या लोकोपचारको करना लोकमूढता है । ऐसी लोकमूढतासे इस जीवको सदा दुःख ही प्राप्त हुआ करता है ॥ ११८ ॥ इस लोकमूढताके वश होकर कितने ही जीव ऐसा श्रद्धान कर लेते हैं कि यदि चंडी मुंडी अंबिका आदि देवियोंकी आराधना अच्छी तरहसे की जायगी तो धन धान्य संपदाओंकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥११९॥ अन्य कितने ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपनी इच्छानुसार देवोंको मान लेते हैं और उनकी पूजा किया करते हैं । ऐसे लोक अपने मिथ्याज्ञानके कारण सदोष देवोंको भी निर्दोष मान लेते हैं ॥ १२० ॥ यद्यपि इस प्रकरणमें उन

सङ्गतः । लब्धवर्णो न कुर्याद्धि निस्सारं ग्रंथविस्तरम् ॥ १२१ ॥ अधर्मस्तु कुदेवाना यावानाराधनोद्यमः । तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ १२२ ॥ कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः । सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ १२३ ॥ अत्रोद्देशोपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीवविस्तरात् । आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्तएव सः ॥ १२४ ॥ दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत् । तयोरभावोस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १२५ ॥ अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं

मिथ्या देवोंका वर्णन करना अनुचित नहीं है तथापि ग्रंथका विस्तार हो जानेके डरसे हमने उनका वर्णन नहीं किया है, क्योंकि कुदेवोंका वर्णन करना एक प्रकारसे निष्प्रयोजन है । ऐसा कौन मनुष्य है जो बहुतसे अक्षर पद वाक्य आदि मिल जानेपर भी निस्सार ग्रंथको बढाता रहे ? अर्थात् कोई नहीं है ॥ १२१ ॥ कुदेवोंके आराधन करनेका जितना भी उद्यम है अथवा उन कुदेवोंके द्वारा कहे हुए धर्ममें मन वचन कायका जितना भी व्यापार है वह सब अधर्म है ॥ १२२ ॥ जिसका आचरण निंद्य है, जिसके माया मिथ्या निदान तीनों शल्य लगी हुई हैं और जो परिग्रहसहित हैं उनको कुगुरु कहते हैं । तथा जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं और व्रतोंसे (महाव्रतोंसे) विभूषित हैं उनको सद्गुरु वा श्रेष्ठ गुरु कहते हैं ॥ १२३ ॥ कुगुरु और कुधर्मके स्वरूपको विस्तारके साथ वर्णन करनेसे भी कोई विशेष लाभ नहीं है, क्योंकि यदि इनका वर्णन विस्तारके साथ किया जायगा तो ग्रंथ भी बहुत बढ जायगा । इसलिए इस ग्रंथमें जो विधि बतलाई है जिसका स्वरूप वर्णन किया है वह तो ग्रहण करने योग्य है और जो विधि नहीं बतलाई है जिसका वर्णन नहीं किया है उसे त्याग करने योग्य समझना चाहिए ॥ १२४ ॥

आगे देवका स्वरूप बतलाते हैं । आत्मामें उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष आदि विकारोंको तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय आदि कर्मोंको दोष कहते हैं । इन रागादिक विकारोंका और ज्ञानावरणादि कर्मोंका जिनके पूर्णरीतिसे अभाव हो गया है उन्हींको देव कहते हैं । भावार्थ—जिनके रागद्वेषादिक अठारह दोषोंका सर्वथा अभाव है और जो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंके नाश होनेसे सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं वे ही देव कहलाते हैं ॥ १२५ ॥ उन सर्वज्ञ वीतराग देवके क्षायिकज्ञान केवल-

क्षायिकं दर्शनं सुखम्। वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १२६ ॥ एको देवः स सामान्याद् द्विधाऽवस्थाविशेषतः। संख्यधा नामसंदर्भाद्गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ १२७ ॥ एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः। अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधामतः ॥ १२८ ॥ दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः। ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ १२९ ॥ मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः। ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मासिद्ध संज्ञकः ॥ १३० ॥ अर्ह-

ज्ञान वा अनंतज्ञान होता है, क्षायिक दर्शन वा अनंतदर्शन होता है, क्षायिकसुख वा अनंतसुख होता है और क्षायिकवीर्य वा अनन्तवीर्य होता है। इसप्रकार उनके जगतप्रसिद्ध चार अनन्तचतुष्टय होते हैं ॥ १२६ ॥ वह देव सामान्य रीतिसे एक ही प्रकार है तथा अवस्थाकी विशेषतासे अवस्थाके भेदसे दो प्रकार है। अनेक प्रकारके कथनकी अपेक्षासे संख्यात प्रकार वा अनेक प्रकार है और गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है। भावार्थ—अपेक्षाभेदसे उस देवके कितने ही भेद हो सकते हैं ॥ १२७ ॥ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वा आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे वह देव एक ही प्रकार कहा जाता है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अरहंत और सिद्धके भेदसे दो प्रकारका माना जाता है। भावार्थ—कर्मोंके नाश होनेसे जो आत्मामें शुद्धता प्राप्त होती है वही देवका लक्षण है। उस शुद्धताकी अपेक्षासे देव एक प्रकार है। तथापि पर्यायकी अपेक्षामे उसके दो भेद हो जाते हैं। जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं उनको अरहंत कहते हैं और जिनके आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं उनको सिद्ध कहते हैं ॥ १२८ ॥ जो दिव्य औदारिक शरीरमें विराजमान हैं, जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं, जो अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनंतसुख और अनन्तवीर्य इन चारों अनंतचतुष्टयोंसे सुशोभित हैं और जो मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिये धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे समवशरणमें विराजमान केवली भगवानको अरहंतदेव कहते हैं ॥ १२९ ॥ जो मूर्तिमान् शरीरसे रहित हो चुका है तथा आठों कर्मोंसे मुक्त हो चुका है जो लोकशिखरपर विराजमान है, ज्ञानादिक आठ गुणोंसे सुशोभित है और कर्ममलकलंकसे रहित है अथवा सब तरहकी क्रियाओंसे रहित है ऐसे शुद्ध आत्माको सिद्ध कहते हैं ॥ १३० ॥ भगवान अरहंतदेव जगत्पूज्य हैं इसलिए उनको अर्हन् कहते हैं। उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया है जीत लिया है इसलिए उनको जिन

न्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् । महादेवोऽधिदेवत्वाच्छंकरोऽभिसुखावहात् ॥ १३१ ॥ विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन । ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिः दुःखापनोदनात् ॥ १३२ ॥ इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् । यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ १३३ ॥ चतुर्विंशतिरित्यादियावदन्तमनन्तता । तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ १३४ ॥ प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये । यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्नस्यान्नानाप्रकारतः ॥ १३५ ॥ नचाशङ्क्य

कहते हैं। समस्त देवोंके अधिदेव वा देवाधिदेव हैं इसलिए उनको महादेव कहते हैं और अनंत सुखको धारण करनेवाले हैं वे समस्त जीवोंको सुख देनेवाले हैं इसलिए उनको शंकर कहते हैं ॥ १३१ ॥ अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा वे भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं अर्थात् समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हैं इसलिए कथंचित् व्याप्त होनेके कारण विष्णु कहलाते हैं। अपने परमब्रह्मस्वरूप आत्माको जानते हैं इसलिए उनको ब्रह्मा कहते हैं। समस्त जीवोंके दुःख दूर करनेवाले हैं, अपने धर्मोपदेशके द्वारा अनेक जीवोंको नरकादिकके दुःखोंसे बचानेवाले हैं इसलिए उनको हरि कहते हैं ॥१३२॥ इसप्रकार उन अरहन्त भगवानके यद्यपि अनेक नाम हैं तथापि अपने देवपनेके लक्षणसे वे एक ही हैं अनेक नहीं हैं। क्योंकि यह शुद्ध आत्मारूप एक द्रव्य अनन्त गुणोंका समुदाय है ऐसा संसारमें प्रसिद्ध है। भावार्थ—अरहंत भगवानमें अनंत गुण हैं इसलिए एक होनेपर भी उन गुणोंकी अपेक्षासे उनके अनेक नाम कहे जा सकते हैं ॥ १३३ ॥ इनके सिवाय चौबीस तीर्थंकर देव कहलाते हैं अथवा अनादिकालसे आज तक अनन्तानन्त चौबीसी हो गईं वे सब देव कहलाते हैं अथवा अनंतानंत सिद्धदेव कहलाते हैं। यद्यपि देवपनेकी अपेक्षासे देव एक ही प्रकारके कहलाते हैं तथापि उनकी बहुतसी संख्या माननेमें कोई किसी प्रकारका दोष नहीं आता है। अनेक देव माननेसे किसीमें भी देवपना नष्ट नहीं होता है ॥ १३४ ॥ जैसे दीपक अनेक होनेपर भी किसी भी दीपकमें दीपकपना नष्ट नहीं होता उसीप्रकार देवोंकी संख्या अनेक होनेपर भी उन सबका स्वरूप एक ही प्रकारका होता है। उनकी संख्या अनेक होनेपर भी उनके स्वरूपमें अनेकप्रकारता नहीं होती। भावार्थ—देवका जो लक्षण बतलाया है वह सबमें पाया जाता है जैसे दीपकका लक्षण सब दीपकोंमें पाया जाता है। इसलिए देवोंकी संख्या अनेक होनेपर भी उनके स्वरूपमें कोई किसी प्रकारका भेद नहीं होता

यथासंख्यं नामतोप्यस्त्वनेकधा । न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ १३६ ॥ नामतः सर्वतो मुख्यं संख्या तस्यैव सम्भवात् । अधिकस्य ततो वाचा व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ १३७ ॥ वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिवर्ति यत् । द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ १३८ ॥ कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः । अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ १३९ ॥ सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः । अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः

है ॥ १३५ ॥ उस देवके अनुक्रमसे अनेक वा अनंत नाम होते हैं ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह बात न्यायसे सिद्ध है कि एक नाम एक गुणकी अपेक्षासे होता है। भावार्थ—जब गुणोंमें कोई अनुक्रम नहीं है तब उनके अनन्त नामोंमें भी कोई अनुक्रम सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १३६ ॥ दूसरी बात यह है कि नामोंकी सबसे अधिक संख्या गुणोंकी अपेक्षासे ही हो सकती है। परन्तु यह सब कथन नयोंकी अपेक्षासे ही हो सकता है। इसलिए जैसा जैसा अधिक अधिक व्यवहार होता जाय जितने अधिक नाम बढते जाय वे सब उन उन नयोंकी अपेक्षासे और गुणोंकी अपेक्षासे समझ लेने चाहिए ॥ १३७ ॥ इस आत्मामें अनंत गुण हैं और उन अनन्त गुणोंकी अपेक्षासे उसके अनन्त नाम होते हैं इसीलिए वृद्ध पुरुषोंने बडे बडे आचार्योंने शास्त्रोंमें इस आत्मद्रव्यका स्वरूप बचनके अगोचर बतलाया है। जो द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान है अथवा अंगबाह्यरूप श्रुतज्ञान है वह सब स्थूल पदार्थोंको ही जानता है अथवा पदार्थोंके स्थूल स्वरूपको ही जानता है उसके समस्त स्वरूपको नहीं जान सकता। वास्तवमें देखा जाय तो पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बचनातीत है। बचनगोचर नहीं है। इसीप्रकार भगवान अरहंतदेवका स्वरूप भी बचनातीत है ॥ १३८ ॥

आगे सिद्धोंके गुण बतलाते हैं। सिद्ध भगवानके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिए उनके क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान वा अनन्तज्ञान) क्षायिकदर्शन (अनंतदर्शन) अतीन्द्रिय अनंतसुख और केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ अनंतवीर्य ये चार तो अनंतचतुष्टय होते हैं। तथा इनके साथ साथ सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधगुण और अगुरुलघु गुण ये चार गुण और होते हैं। इसप्रकार सिद्धोंके आठ गुण होते हैं और ये आठों गुण स्वाभाविक गुण कहलाते हैं ॥ १३९-१४० ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे हुए गुणोंको आदि लेकर जो अनंत गुणोंसे सुशोभित हैं

॥ १४० ॥ इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः । मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ १४१ ॥ अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः । भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१४२॥ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः । गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्न्यायोऽवस्थाविशेषभाक् ॥१४३॥ अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् । शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ १४४ ॥ भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते । अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात्

तथा जो आठों कर्मोंसे रहित है और जो अठारह दोषोंसे रहित है वही देव पूज्य है पूजा करने योग्य है। जिसमें ये ऊपर लिखे गुण न हों वह कभी भी देव नहीं कहला सकता ऐसे अदेवकी पूजा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ १४१ ॥ इस ऊपर लिखे कथनसे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि वे भगवान अरहंतदेव ही सच्चे गुरु हैं, वे ही इस जीवका कल्याण करनेवाले मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं तथा वे ही भगवान् मोक्षमार्गमें साक्षात् प्राप्त करानेवाले नेता वा नायक हैं ॥ १४२ ॥ उस अरहंत अवस्था प्राप्त होनेके पहले जो छद्मस्थ (छठे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक अल्पज्ञ) अवस्था है जो कि भगवान अरहंतदेवके समान ही अवस्था वा भेषको (नग्न अवस्थाको) धारण करनेवाले हैं उनको भी गुरु कहते हैं क्योंकि गुरुका लक्षण उनमें भी संघटित होता है। इनके सिवाय जो और अवस्थाको धारण करनेवाले हैं वे कभी किसीप्रकार गुरु नहीं हो सकते ॥१४३॥ ऊपर लिखे हुए लक्षणको धारण करनेवाले गुरुओंमें बाकीके संसारी जीवोंसे बहुत भेद है। यह बात युक्ति आगम और अपने अनुभवसे सिद्ध होती है। क्योंकि बाकीके संसारी जीवोंसे उनमें अत्यन्त अतिशय पाया जाता है ॥१४४॥ भावी नैगमनयकी अपेक्षासे जो आगामी कालमें होनेवाला है वह हुएके समान ही समझा जाता है। इसी न्यायसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो भाव अरहंतदेवमें हैं वे ही भाव उन गुरुओंमें हैं। क्योंकि वे ही गुरु आगे चलकर अरहंत होनेवाले हैं तथा जो होनेवाले हैं वे हुएके समान समझे जाते हैं इसप्रकार वे गुरु अरहंतके ही समान समझे जाते हैं। अथवा यों समझ लेना चाहिए कि जो भावोंकी शुद्धता अरहंतदेवमें है वही भावोंकी एकदेश शुद्धता उन गुरुओंमें है इसप्रकार शुद्ध भावोंकी व्याप्ति दोनोंमें समान है। इसलिए भी वे दोनों समान हैं ॥ १४५ ॥ छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले उन गुरुओंके भी मिथ्यात्वकर्मका (दर्शनमोहनीय कर्मका) उप-

यथासंख्यं नामतोप्यस्त्वनेकधा । न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ १३६ ॥ नामतः सर्वतो मुख्यं संख्या तस्यैव सम्भवात् । अधिकस्य ततो वाचा व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ १३७ ॥ वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिवर्ति यत् । द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ १३८ ॥ कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः । अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ १३९ ॥ सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः । अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः

है ॥ १३५ ॥ उस देवके अनुक्रमसे अनेक वा अनंत नाम होते हैं ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह बात न्यायसे सिद्ध है कि एक नाम एक गुणकी अपेक्षासे होता है। भावार्थ—जब गुणोंमें कोई अनुक्रम नहीं है तब उनके अनन्त नामोंमें भी कोई अनुक्रम सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १३६ ॥ दूसरी बात यह है कि नामोंकी सबसे अधिक संख्या गुणोंकी अपेक्षासे ही हो सकती है। परन्तु यह सब कथन नयोंकी अपेक्षासे ही हो सकता है। इसलिए जैसा जैसा अधिक अधिक व्यवहार होता जाय जितने अधिक नाम बढते जाय वे सब उन उन नयोंकी अपेक्षासे और गुणोंकी अपेक्षासे समझ लेने चाहिए ॥ १३७ ॥ इस आत्मामें अनंत गुण हैं और उन अनन्त गुणोंकी अपेक्षासे उसके अनन्त नाम होते हैं इसीलिए वृद्ध पुरुषोंने बडे बडे आचार्योंने शास्त्रोंमें इस आत्मद्रव्यका स्वरूप बचनके अगोचर बतलाया है। जो द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान है अथवा अंगबाह्यरूप श्रुतज्ञान है वह सब स्थूल पदार्थोंको ही जानता है अथवा पदार्थोंके स्थूल स्वरूपको ही जानता है उसके समस्त स्वरूपको नहीं जान सकता। वास्तवमें देखा जाय तो पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बचनातीत है। बचनगोचर नहीं है। इसीप्रकार भगवान अरहंतदेवका स्वरूप भी बचनातीत है ॥ १३८ ॥

आगे सिद्धोंके गुण बतलाते हैं। सिद्ध भगवानके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिए उनके क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान वा अनन्तज्ञान) क्षायिकदर्शन (अनंतदर्शन) अतीन्द्रिय अनंतसुख और केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ अनंतवीर्य ये चार तो अनंतचतुष्टय होते हैं। तथा इनके साथ साथ सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधगुण और अगुरुलघु गुण ये चार गुण और होते हैं। इसप्रकार सिद्धोंके आठ गुण होते हैं और ये आठों गुण स्वाभाविक गुण कहलाते हैं ॥ १३९-१४० ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे हुए गुणोंको आदि लेकर जो अनंत गुणोंसे सुशोभित हैं

॥ १४० ॥ इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः । मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ १४१ ॥ अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः । भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१४२॥ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः । गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्न्यायोऽवस्थाविशेषभाक् ॥१४३॥ अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् । शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ १४४ ॥ भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते । अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात्

तथा जो आठों कर्मोंसे रहित है और जो अठारह दोषोंसे रहित है वही देव पूज्य है पूजा करने योग्य है। जिसमें ये ऊपर लिखे गुण न हों वह कभी भी देव नहीं कहला सकता ऐसे अदेवकी पूजा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ १४१ ॥ इस ऊपर लिखे कथनसे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि वे भगवान अरहंतदेव ही सच्चे गुरु हैं, वे ही इस जीवका कल्याण करनेवाले मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं तथा वे ही भगवान् मोक्षमार्गमें साक्षात् प्राप्त करानेवाले नेता वा नायक हैं ॥ १४२ ॥ उस अरहंत अवस्था प्राप्त होनेके पहले जो छद्मस्थ (छठे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक अल्पज्ञ) अवस्था है जो कि भगवान अरहंतदेवके समान ही अवस्था वा भेषको (नग्न अवस्थाको) धारण करनेवाले हैं उनको भी गुरु कहते हैं क्योंकि गुरुका लक्षण उनमें भी संघटित होता है। इनके सिवाय जो और अवस्थाको धारण करनेवाले हैं वे कभी किसीप्रकार गुरु नहीं हो सकते ॥१४३॥ ऊपर लिखे हुए लक्षणको धारण करनेवाले गुरुओंमें बाकीके संसारी जीवोंसे बहुत भेद है। यह बात युक्ति आगम और अपने अनुभवसे सिद्ध होती है। क्योंकि बाकीके संसारी जीवोंसे उनमें अत्यन्त अतिशय पाया जाता है ॥१४४॥ भावी नैगमनयकी अपेक्षासे जो आगामी कालमें होनेवाला है वह हुएके समान ही समझा जाता है। इसी न्यायसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो भाव अरहंतदेवमें हैं वे ही भाव उन गुरुओंमें हैं। क्योंकि वे ही गुरु आगे चलकर अरहंत होनेवाले हैं तथा जो होनेवाले हैं वे हुएके समान समझे जाते हैं इसप्रकार वे गुरु अरहंतके ही समान समझे जाते हैं। अथवा यों समझ लेना चाहिए कि जो भावोंकी शुद्धता अरहंतदेवमें है वही भावोंकी एकदेश शुद्धता उन गुरुओंमें है इसप्रकार शुद्ध भावोंकी व्याप्ति दोनोंमें समान है। इसलिए भी वे दोनों समान हैं ॥ १४५ ॥ छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले उन गुरुओंके भी मिथ्यात्वकर्मका (दर्शनमोहनीय कर्मका) उप-

॥ १४५ ॥ अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः । चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ १४६ ॥ ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् । मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ १४७ ॥ तच्छुद्धत्वं सुविख्यातनिर्जराहेतुरंजसा । निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ १४८ ॥ यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः । शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ १४९ ॥ निर्जरादिनिदान यः शुद्धो भावश्चिदात्मकः । परमार्हः सएवास्ति तद्वानात्मा परं

शम हो गया है (वा क्षय वा क्षयोपशम हो गया है) इसलिए सम्यग्दर्शन गुण उनके भी प्रगट हो चुका है। तथा अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीय कर्मोंका भी अभाव हो चुका है इसलिए उनके एकदेश सम्यक्चारित्र भी प्रगट हो चुका है। भावार्थ—अरहंत भगवानके मोहनीयकर्मका सर्वथा नाश हो चुका है और उन गुरुओंके उस मोहनीय कर्मका एकदेश अभाव हुआ है बस यही दोनोंमे अन्तर है। सामान्य रीतिसे मोहनीय कर्मका अभाव दोनोंमें समान है। इसलिए दोनोंमें समानता है ॥ १४६ ॥ इसलिए यह बात हेतुपूर्वक अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि उन गुरुओंमें भी स्वाभाविक शुद्धता पाई जाती है। क्योंकि उन गुरुओंके भी मोहनीय कर्मके उदयका अभाव है तथा मोहनीयकर्मके उदयका अभाव होनेसे उनमें उस मोहनीयकर्मका कार्य होना भी असम्भव है।

भावार्थ—भावोंमें वा परिणामोंमें मलिनता वा अशुद्धता उत्पन्न करनेवाला मोहनीय कर्म है। जब उन गुरुओंके मोहनीयकर्मका उदय ही नहीं है तो फिर उससे उत्पन्न होनेवाली अशुद्धता ही कैसे हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि गुरुओंके परिणामोंमें भी शुद्धता है ॥१४७॥ संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह गुरुओंमें होनेवाली आत्माकी शुद्धता कर्मोंको शीघ्र नष्ट कर देनेमें कारण है, आते हुए कर्मोंको रोकनेमें कारण है और अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करा देनेमें कारण है ॥१४८॥ अथवा यों कहना चाहिए कि वह गुरुओंमें होनवाली शुद्धता ही स्वयं संवररूप है वही निर्जरारूप है और वही मोक्षरूप है। इसका भी कारण यह है कि शुद्ध भावोंके सदा साथ रहनेवाला जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वहीं संवर है वही निर्जरा है और वही मोक्ष है ॥१४९॥ तथा संवर निर्जरा और मोक्षका कारण ऐसा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माका शुद्धभाव है वही शुद्धभाव इस संसारमें परमपूज्य है और इसीलिए उस शुद्ध भावसे

गुरुः ॥ १५० ॥ न्यायादगुरुत्वहेतुः स्यात्केवलं दोषसंक्षयः । निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ १५१ ॥ नालं छद्मस्थताप्येषां गुरुत्वक्षतये मुनेः । रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ १५२ ॥ नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म तत् । अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ १५३ ॥ सत्यं किन्तु

सुशोभित होनेवाला आत्मा ही परम गुरु वा सर्वोत्कृष्ट गुरु कहा जाता है ॥१५०॥ इसप्रकार न्यायशास्त्रसे यह बात अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाती है कि गुरुपनेका कारण केवल दोषोंका नाश हो जाना है । जो राग द्वेषादिक दोषोंसे रहित है वही जगतका साक्षी अर्थात् जगतको जाननेवाला सर्वज्ञ है और वही मोक्ष प्राप्त करानेवाला मोक्षमार्गका नेता कहा जाता है। जो दोषोंसे रहित नहीं है वह न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न मोक्षमार्गका नेता वा मोक्षमार्गको प्राप्त करानेवाला हो सकता है ॥ १५१ ॥ गुरुओंमें (आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें) रहनेवाली जो अल्पज्ञता है (केवलज्ञानका अभाव है) वह गुरुपनेको नष्ट नहीं कर सकती। क्योंकि गुरुपनेको नष्ट करनेवाले रागद्वेषादिक अशुद्ध भाव हैं। जो कि मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—गुरुपनेका कारण चारित्र वा आत्माकी शुद्धता है। उसको घात करनेवाला मोहनीय कर्म है। इसलिए गुरुपनेको घात करनेवाला भी मोहनीय कर्म है। गुरुपनेको घात करनेवाली अल्पज्ञता नहीं है ॥ १५२ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि गुरुओंमें (आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें) ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म और वीर्यको घात करनेवाला वीर्यान्तराय कर्म ये तीनों कर्म विद्यमान हैं फिर भला उनमें शुद्धता किसप्रकार आ सकती है ? भावार्थ—घातिया कर्मोंके नाश होनेसे शुद्धता आती है। गुरुओंमें यद्यपि मोहनीय कर्म उपशम हो गया है तथापि ज्ञानावरणादिक तीनों कर्म विद्यमान हैं इसलिए उनके शुद्धता नहीं हो सकती। यही शंकाकारका अभिप्राय है ॥ १५३ ॥ किन्तु कविराज उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह बात ठीक है कि छद्मस्थ गुरुओंमें ज्ञानावरणादिक ऊपर लिखे हुए तीनों कर्म विद्यमान हैं परन्तु उनमें इतनी विशेषता है कि ऊपर लिखे हुए ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीयकर्मके साथ ही होता है ॥१५४॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका बंध सत्त्व आदिक मोहनीय-

विशेषोस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च । मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ १५४ ॥ तद्यथा बध्यमानेस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात् । तत्सत्वे सत्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥ १५५ ॥ नोह्य छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः । अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ १५६ ॥ नासिद्धं निर्जरा तत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् । आद्दृग्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणा क्रमात् ॥ १५७ ॥ ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् । रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ १५८ ॥ अथा-

कर्मके आधीन है । जब मोहनीयकर्मका बंध होता है तभी उस मोहनीय कर्मके आधीन रहनेवाले ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका यथायोग्य बंध होता है । मोहनीयकर्मका सत्व रहनेपर ऊपर लिखे ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सत्व रहता है । मोहनीयके उदय होनेपर इन तीनों ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय होता है और मोहनीयके नाश होनेपर ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका नाश हो जाता है ॥१५५॥ कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि छद्मस्थावस्थामें ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे मोहनीयकर्मका नाश पहले ही हो जाता है सो भी ठीक नहीं है अर्थात् ऊपर लिखी शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह नियम है कि जब मोहनीयकर्मका अंशरूपसे नाश होता है तब ऊपर लिखे हुए ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका भी अंशरूपसे ही नाश होता है तथा जब मोहनीयकर्मका सर्वथा नाश होता है तब ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका भी सर्वथा नाश हो जाता है ॥ १५६ ॥ इसके साथ-साथ सम्यग्दृष्टीके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध भी नहीं है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीके बराबर कर्मोंकी निर्जरा होती ही रहती है और होते होते समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती हैं । क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है ॥१५७॥ इसलिए यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी कि यद्यपि छद्मस्थ गुरुओंके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों कर्म विद्यमान हैं तथापि उनके मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे राग द्वेष और मोह तीनोंका अभाव है इसलिए उनमें गुरुपना माना ही जाता है । भावार्थ–राग द्वेष मोहके अभाव होनेसे ही वे गुरु हैं । ज्ञानवरणादिक कर्म वा उनसे होनेवाली अल्पज्ञता उनके गुरुपनेमें बाधक नहीं है ॥ १५८ ॥

आगे गुरुओंके भेद कहते हैं । जिस प्रकार अग्नि यद्यपि एक ही प्रकारकी होती है तथापि कारणके भेदसे

स्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधामतः । एकोप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्योदार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ १५९ ॥ आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधागतिः । स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ १६० ॥ एको हेतुः क्रियाप्येका विधश्चैको बहिः समः । तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ १६१ ॥ त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा । मूलोत्तरगुणाश्चैको संयमोप्येकधा मतः ॥ १६२ ॥ परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् । आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ १६३ ॥ मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रमात्मनः । रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ १६४ ॥ ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।

उसके तीन भेद हो जाते हैं। जो घास फूंस जलाकर अग्नि की जाती है वह तृणकी अग्नि अथवा घासफूंसकी अग्नि कहलाती है। जो पत्ते जलाकर अग्नि की जाती है वह पत्तेकी अग्नि कहलाती है और जो लकडी जलाकर अग्नि की जाती है वह लकडीकी अग्नि कहलाती है इसीप्रकार यद्यपि सामान्य रीतिसे वे गुरु एक ही प्रकार हैं तथापि विशेष कथनकी अपेक्षा वे तीनों प्रकारके कहलाते हैं ॥ १५९ ॥ उन गुरुओंके आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीन भेद हैं। ये तीनों प्रकारके मुनि उत्तम मुनि हैं और अपने अपने विशेष पदोंपर आरूढ हैं। भावार्थ—विशेष विशेष पदोंके भेदसे ही इन मुनियोंके तीन भेद हुए हैं ॥ १६० ॥ आचार्य उपाध्याय साधु तीनों ही अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषायोंके अभाव होनेसे तथा परिग्रहमात्रका त्याग कर देनेमात्रसे मुनि हुए हैं। इसलिए कहना चाहिए कि तीनोंका कारण भी एक ही है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि तीनों ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए हुए हैं इसप्रकार भी तीनोंका हेतु एक है। तथा व्रताचरणरूप क्रिया भी तीनोंकी एक है और निर्ग्रंथरूप अवस्था भी तीनोंकी समान है। बाहरसे दिखनेवालीं ये तीनों ही बातें उन तीनों मुनियोंकी समान हैं। इसीप्रकार बारह प्रकारका तपश्चरण भी तीनोंका समान है। पांच प्रकारका महाव्रत भी तीनोंका समान है। तेरह प्रकारका चारित्र भी तीनोंका समान है। समताभाव भी तीनोंके एकसे हैं। अट्ठाईस मूलगुण चौरासी लाख उत्तरगुण भी तीनोंके एक हैं। संयम भी तीनोंका एक है। बाईस परीषहोंका जीतना और अनेक उपसर्गोंका सहन करना भी समान है। आहारकी विधि भी सबकी एक है। चर्याकी विधि, स्थान, आसन आदि भी तीनोंके समान हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय

चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १६५ ॥ किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते । विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १६६ ॥ आचार्यो-ऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते । पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १६७ ॥ अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः । तत्समादेशदानेन प्राय-

मोक्षका मार्ग है और आत्माका स्वाभाविकगुण है तथा जिसके अन्तरंग और बहिरंग दो भेद हैं ऐसा दोनों प्रकारका रत्नत्रय उन आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनों मुनियोंका समान है इसीप्रकार ध्याता, ध्यान ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करना और क्रोधादिक कषायोंका जीतना आदि सब कुछ उन तीनों प्रकारके मुनियोंका समान है ॥ १६१-१६५ ॥ इस विषयमें और अधिक क्या कहा जाय थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि ये तीनों मुनि सब तरहसे समान हैं केवल अपने अपने पदोंके अनुसार जो विशेषता है वही विशेषता रह जाती है उस विशेषताको छोड कर बाकीकी समस्त क्रियाएं वा सब बातें तीनोंकी समान हैं। यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है ॥ १६६ ॥

आगे तीनोंका अलग अलग स्वरूप कहते हैं और उनमें भी सबसे पहले आचार्यका स्वरूप कहते हैं। आचार्य यह संज्ञा अनादिकालसे चली आ रही है। क्योंकि पांचों परमेष्ठियोंकी सत्ता और स्वरूप अनादिकाल-से चला आ रहा है। अथवा जो आचार्यपदपर नियुक्त है उसको रूढिसे भी आचार्य कहते हैं अथवा जो संयमी दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तप आचार और वीर्य आचार इन पांचों आचारोंको अन्य मुनियोंसे पालन करावें। अन्य मुनियोंको दीक्षा शिक्षा प्रायश्चित्तादिक देकर पांचों आचारोंको पालन करावें उनको आचार्य कहते हैं। इसप्रकार यह आचार्य संज्ञा योगसे भी (धातु प्रत्यय प्रत्ययान्तसे निकलनेवाले अर्थसे) सिद्ध हो जाती है। भावार्थ–जो दीक्षा देवें और समस्त मुनिसंघके नायक बन कर उन मुनियोंसे पांचों आचारोंका पालन करावें उनको आचार्य कहते हैं ॥ १६७ ॥ अथवा जिस किसी मुनिका व्रत भंग हो जाता है वह मुनि फिरसे उस व्रतको धारण करना चाहता है तो आचार्य उन मुनियोंको आदेश वा आज्ञा देते हुए उनको प्रायश्चित्त देते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार अन्य मुनियोंसे पांचों आचारोंका पालन कराना आचार्यका कर्तव्य है उसीप्रकार आदेश देना

रिचत्तं प्रयच्छति ॥ १६८ ॥ आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् । आदत्ते गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १६९ ॥ न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् । दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ १७० ॥ छेदोपस्थापनं चात्र क्रियतेऽन्येन तेन वा ॥ स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि । हिंस-

और व्रत भंग होनेपर प्रायश्चित्त देना भी आचार्यका कर्तव्य है ॥ १६८ ॥ आदेश और उपदेशमें बहुत बडा भेद है, उपदेशसे आदेशमें बहुत कुछ विशेषता है । आचार्यका दिया हुआ जो आदेश है वह तो अवश्य ग्रहण करना पडता है परन्तु उपदेशमें अवश्य ग्रहण करनेका नियम नहीं है । भावार्थ—उपदेशमें यह नियम नहीं है कि शिष्य उसे अवश्य ग्रहण करें ग्रहण करना और न करना शिष्योंकी इच्छापर निर्भर है किन्तु आदेशमें यह बात नहीं है । आदेशमें तो जो आदेश दिया गया है वह अवश्य ग्रहण करना पडता है । आचार्यको आदेश देनेका अधिकार हैं । वे जो आदेश करते हैं वह मानना ही पडता है ॥ १६९ ॥ जो व्रत धारण करनेवाले गृहस्थ हैं उनको भी आदेश देनेका निषेध नहीं है । जिसप्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है उसीप्रकार व्रती गृहस्थको भी आदेश देनेका अधिकार है । भावार्थ—चतुर्विध संघके नायक जो आचार्य हैं वे तो मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका सबपर आदेश करनेके अधिकारी हैं किन्तु जिसप्रकार संघके समस्त मुनियोंको धर्मपालन कराना आचार्यका काम है उसीप्रकार समस्त गृहस्थोंसे धर्म पालन कराना गृहस्थाचार्यका काम है । गृहस्थाचार्य सब गृहस्थोंके द्वारा माना हुआ एक व्रती गृहस्थ होता है । जो श्रावकोंको मूलगुण वा उत्तरगुणोंकी दीक्षा दिया करता है यज्ञोपवीतादिक संस्कार कराया करता है । श्रावकोंके व्रतोंमें दोष लगनेपर उन्हें प्रायश्चित्त देता है और धर्मवृद्धिके वा चारित्र-शुद्धिके जो जो साधन हैं उन सबके लिए आदेश दिया करता है । इसप्रकारके गृहस्थाचार्यके लिये आचार्यके समान केवल श्रावक श्राविकाओंके लिये आदेश देनेका अधिकार है ॥ १७० ॥ जिसप्रकार आचार्यको छेदोपस्थापना देनेका प्रायश्चित्त देनेका अधिकार होता है उसीप्रकार उस गृहस्थाचार्यको भी श्रावकोंके लिये प्रायश्चित्त देने-

१ वर्तमान कालमें यह गृहस्थाचार्योंका मार्ग बन्द हो गया है इसलिये अधार्मिक उच्छृंखल लोग भी मनमाना उपदेश देते हैं अधार्मिक प्रवृत्ति करते हैं और नीचसे नीच अनर्थोंको प्रचलित करना चाहते हैं ।

कश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ १७१ ॥ मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् । आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ १७२ ॥ नचाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः । मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेवदर्शितम् ॥ १७३ ॥ नून प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् । रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स

का अधिकार होता है परन्तु जो अव्रती गृहस्थ है उसको आदेश देनेका वा प्रायश्चित्त आदि देनेका किंचित् मात्र भी अधिकार नहीं है तथा जो हिंसक है उसको किसी भी कारणसे उपदेश देनेका भी अधिकार नहीं है। भावार्थ—आदेश देनेका अधिकार तो आचार्य और गृहस्थाचार्यको है अन्य किसी श्रावकको नहीं है तथा जिसने हिंसामात्र का भी त्याग नहीं किया है ऐसे अव्रती पुरुषको उपदेश देनेका भी अधिकार नहीं है ॥१७१॥ जिनको आदेश वा उपदेश देनेका अधिकार है ऐसे मुनिव्रत धारण करनेवाले संघनायक आचार्यको अथवा गृहस्थके व्रतोंको धारण करनेवाले गृहस्थाचार्योंको भी मुनियोंके लिए अथवा गृहस्थोंके लिए ऐसा आदेश अथवा उपदेश नहीं देना चाहिए जो जीवोंका बध करनेवाला हो जीवोंकी हिंसा करनेवाला हो ॥ १७२ ॥ यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि मुनिराज व्रत धारण करनेवाले हैं और उन्होंने पुद्गल पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंको हाथकी रेखाके समान जान लिया है अतएव उनके लिए हिंसा करनेवाला आदेश अथवा उपदेश देनेका निषेध करना व्यर्थ है सो यह शंका करना भी व्यर्थ है। क्योंकि यह नियम है कि जो वीतराग है उनके लिए चाहे जैसा हिंसाका उपदेश दिया जाय उससे उनके हृदयमें कभी राग उत्पन्न नहीं हो सकता। जिनके हृदयमें राग द्वेष है उनके ही हृदयमें हिंसाके उपदेशमे राग उत्पन्न होता है। इसमे यह सिद्ध होता है कि हिंसाके उपदेश वा आदेशका निषेध रागियोंके लिए ही है। भावार्थ—उपदेश वा आदेश आत्माको उन्नत बनाने अथवा शुद्ध करनेके लिए दिया जाता है। मुनिराज राग द्वेष छोडकर निवृत्तिमार्गमें लग चुके हैं अतएव उनके लिए विशुद्ध मार्गका उपदेश वा आदेश देना ही ठीक है। यदि उनके लिए जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तियोंसे भरा हुआ सावद्य उपदेश दिया जायगा तो उससे उनका आत्मा शुद्ध परिणामोंके बदले शुभ परिणाम धारण करने लगेगा। इसलिए उनको ऐसे उपदेशसे कोई लाभ नहीं हो सकता। गृहस्थोंके शुद्ध परिणाम होते नहीं उनके शुभ अशुभ परिणाम होते हैं। अतएव गृहस्थोंके लिए

वर्जितः ॥ १७४ ॥ न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः । नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ १७५ ॥ यद्वादेशोपदेशौस्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।

ऐसा आदेश वा उपदेश देना चाहिए जिससे उनकी अशुभ प्रवृत्तियां बंद हो जायं और वे जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तियोंमें लग जायं। यद्यपि जिनपूजनादिकमें अल्प सावद्य होता है तथापि उन कार्योंसे महा पुण्यकी प्राप्ति होती है जो परंपरासे मोक्षमार्गका कारण है। इसलिए गृहस्थोंको ऐसा उपदेश ही लाभकारी होता है ॥ १७३-१७४ ॥ गृहस्थोंके लिए सत्पात्रोंको दान देना और भगवान अरहंतदेवकी पूजा करना आदि शुभ कार्योंका आदेश अथवा उपदेश निषिद्ध नहीं है। भावार्थ—यद्यपि दान देने और जिनपूजन करनेमें आरंभजनित हिंसा होती है तथा रागरूप परिणाम होते हैं तथापि इन कार्योंसे महापुण्यकी प्राप्ति होती है तथा अशुभ प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है जिससे वह नरकादिक दुर्गतियोंसे बच कर मोक्षकी साधनभूत शुभ गतियोंमें प्राप्त होता है। इसीलिए गृहस्थोंके लिए ऐसे उपदेश देनेका निषेध नहीं है ॥ १७५ ॥ अथवा उत्सर्गमार्ग यही है कि आदेश अथवा उपदेश सर्वथा निरवद्य (हिंसासे सर्वथा रहित) कार्योंका ही दिया जाय। तथा सावद्य कर्मोंका आदेश तो कभी नहीं देना चाहिए। भावार्थ—आदेश निरवद्य कार्योंका ही दिया जाता है। सावद्य कार्योंका कभी नहीं दिया जाता। जो गृहस्थ पूर्ण पापोंका त्याग नहीं कर सकता उसके लिए एकदेश पापोंके त्याग करनेका आदेश दिया जाता है। शेष बचे हुए पापोंके ग्रहण करनेका आदेश नहीं दिया जाता, किंतु जितना त्याग कर सकता है उतनेके त्याग करनेका उपदेश वा आदेश दिया जाता है। आदेश वा उपदेश देनेकी परिपाटीका यही नियम है ॥ १७६ ॥ कोई कोई ऐसा कहते हैं कि आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ भी संबंध रखता है। उनके साथ संभाषण करता है और उनसे वात्सल्य वा प्रेम भी रखता है। परंतु कविराज कहते हैं कि यह बात नहीं है किंतु जो आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ किसी तरहका भी संबंध रखता है वह आचार्य नहीं कहा जा सकता। आचार्यपदकी तो बात ही अलग है उसे जैनमतको माननेवाला भी नहीं कह सकते हैं। भावार्थ—आचार्यका संबंध केवल धर्मात्माओंसे वा मुनियोंसे होता है। बातचीत वा धर्मप्रेम भी केवल उन्हींके साथ होता है। दशलक्षण

यत्र सावद्यलेशोऽपि तत्रादेशो न जातुचित् ॥ १७६ ॥ सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् । कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्नचार्हतः ॥ १७७ ॥ संघसम्पो-

धर्मोंमें जो सत्य धर्म है उसके लक्षणमें भी यही कहा जाता है कि सत्यधर्मको धारण करनेवाला साधु साधु पुरुषोंमें ही हित और मितरूप बचन बोलता है। ऐसा पुरुष असाधुओंके साथ बातचीत नहीं करता। आचार्य मुनियोंके संघके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध रखते हैं। रागद्वेषका अंश वहां भी नहीं होता अतएव आचार्य असंयमियों के साथ भी सम्बन्ध रखते हैं यह बात सर्वथा असत्य और अयुक्त है ॥ १७७ ॥ किसी किसीके मतमें यह कहा जाता है कि आचार्य महाराज समस्त संघके पालनपोषण करनेवाले हैं, कविराज कहते हैं कि ऐसे लोगोंका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें यही लिखा है कि धर्मका आदेश देना तथा धर्मका उपदेश देना इन दो कार्योंके सिवाय और कोई किसी प्रकारका उपकार आचार्य नहीं किया करते हैं। भावार्थ—आचार्योंका कर्तव्य मुनियोंका पालनपोषण करना बतलाना मुनि और आचार्य दोनोंका स्वरूप बिगाडना है। पहिली बात तो यह है कि मुनिराज ही किसीसे अपना पालनपोषण नहीं चाहते हैं और जो मुनि अपना पालनपोषण चाहते हैं वे मुनि नहीं हैं। मुनियोंको तो अपने पालन वा पोषणका कभी विचार ही नहीं होता है। मुनियोंका कर्तव्य तो तप करना है। तथा तपका साधन शरीर है। उस शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिए वे आहारमात्र लेते हैं। आहार लेनेके लिए वे नगरमें जाते हैं वहांपर नवधा भक्तिपूर्वक बत्तीस अन्तराय और छ्यालीस दोषोंको टाल कर जो आहार मिल जाता है तो ले लेते हैं यदि इस विधिसे आहार नहीं मिला तो वे सीधे अपने स्थानको चले आते हैं, आहार न मिलनेसे उनको किंचित्मात्र भी खेद नहीं होता है। यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षावृत्ति कही जाती है तथापि वह याचनारूप नहीं है। क्योंकि उनके आहारमें रागांश सर्वथा नहीं है। यह शरीर बिना आहारके अधिक दिनतक तपश्चरण करनेमें सहायक नहीं हो सकता, इसलिए आहारके लिए उन्हें जाना पडता है। जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही मनुष्य याचना करता है। मुनियोंको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने आत्माके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थकी आवश्यकता नहीं

षकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह । धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १७८ ॥ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् । तावत्कालं स नाचा-

समझी है इसीलिए उन्होंने राज्य सम्पत्तिका त्याग कर निरीहवृत्ति धारण की है। जो श्रावक मुनियोंको आहार देता है वह भी अपने आत्माके हितके लिए देता है। "आहार देकर मुनियोंको पालनपोषण करना चाहिये" यह समझ कर मुनियोंको आहार नहीं देता। इससे सिद्ध होता है कि मुनियोंको स्वयं अपने पालन पोषणकी इच्छा नहीं और न किसी वस्तुकी आवश्यकता है फिर भला आचार्य उनका पालनपोषण क्या करेंगे। वहांपर मुनि और आचार्य दोनोंके ही इच्छामात्रका अभाव है फिर भला पालनपोषणका सम्बन्ध कैसा ? दूसरी बात यह है कि आचार्य मुनियोंके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध रखते हैं। मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें अपने अपने व्रतोंमें तपमें सावधान रखना, धर्मसे च्युत होनेपर प्रायश्चित्त देना और फिर उन्हें धर्ममें लगाना, मुनियोंके धर्मका उपदेश देना, आदेश देना, तपश्चरणमें उन्हें सदा दृढ बनाए रखना, मरणके सन्मुख हुए मुनियोंको समाधिमरण धारण कराना आदि धर्मकार्य ही आचार्योंके कर्तव्य हैं। इसीलिए आचार्योंको वीतराग शासक कहते हैं। आचार्य संघके शासक हैं तथापि वे प्रमादी वा रागी नहीं हैं अन्य मुनियोंके समान वे भी अपने शुद्ध अन्तःकरण-से अपने आत्मामें ही सदा लीन रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य संघके पालक पोषक नहीं हैं, उनको संघका पालक पोषक कहना सर्वथा मिथ्या है ॥ १७८ ॥ अथवा इतना कहनेसे ही समझ लेना चाहिये कि जो कोई आचार्य जबतक मोहसे अथवा प्रमादसे लौकिक क्रियाओंको करता है तबतक वह आचार्य ही नहीं कहा जा सकता। तथा आचार्यपद तो बहुत ऊंचा है लौकिक क्रियाओंको करनेवाला पुरुष अंतरंगव्रतसे च्युत समझा जाता है। भावार्थ—इस श्लोकसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि आचार्यका केवल धार्मिक क्रियाओंका सम्बन्ध है मुनियोंके धार्मिक कार्योंके लिये ही वह शासक है। लौकिक क्रियाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ॥ १७९॥ ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उससे यह अच्छीतरह सिद्ध हो जाता है कि जो व्रत तप शील संयम आदि गुणोंको धारण करनेवाला है वही गणका स्वामी आचार्य कहलाता है। वही साक्षात् गुरु है, वही गुरु नमस्कार

यैऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥१७९॥ इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी। नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥१८०॥ उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः। वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १८१ ॥ कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् । गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ १८२ ॥ उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्। यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥१८३॥ शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः। कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित ॥ १८४ ॥ तेषामेवाश्रम लिंगं सूरीणां संयमं तपः। आश्रयेत् शुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधी. ॥१८५॥ मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तान्

योग्य है। जिसमें व्रत तप शील संयम आदि गुण नहीं पाये जाते वह गुरु वा गणका स्वामी कभी आचार्य नहीं हो सकता। न वह गुरु ही हो सकता है और न गणका नायक ही बन सकता है। इसप्रकार आचार्यका स्वरूप बतलाया ॥ १८० ॥

आगे उपाध्यायका स्वरूप बतलाते हैं। जिनमें प्रत्येक प्रश्नके समाधान करनेकी शक्ति है, जो वाद विवाद करनेमें पारंगत हैं, स्याद्वादविद्याके जाननेमें अत्यन्त निपुण हैं, जो बोलनेमें अत्यन्त चतुर हैं, जो वचनरूपी परमब्रह्मके जाननेमें सर्वज्ञसमान हैं, जो सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी हैं, जो नवीन नवीन सूत्रोंके बनानेमें कवि हैं तथा शब्द अर्थोंके द्वारा उनको सिद्ध करनेमें अत्यन्त चतुर हैं, जो अर्थकी मधुरता लानेमें अत्यन्त चतुर हैं और वक्ताओंके मार्गमें अग्रेसर हैं, समस्त वक्ताओंको यथेष्ट मार्ग दिखानेवाले हैं ऐसे उत्तम मुनियोंको उपाध्याय कहते हैं ॥ १८१ १८२ ॥ उपाध्यायपदके प्राप्त होनेमें शास्त्रोंका अभ्यास करना ही कारण है। जो स्वयं शास्त्रोंका अध्ययन करें तथा अन्य अनेक शिष्योंको अध्ययन करावें उनको गुरु वा उपाध्याय कहते हैं ॥१८३॥ पठन पाठन करनेके सिवाय बाकीकी व्रत तप संयम आदि पालन करनेकी क्रियाएं सब मुनियोंके समान साधारण हैं। वह उपाध्याय सदा धर्मका उपदेश दिया करता है परन्तु आचार्यके समान वह आदेश कभी नहीं करता ॥ १८४ ॥ वह शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला उपाध्याय उन्हीं आचार्योंके संघमें रहता है, उन्हीं आचार्योंके समान संयम, तप. शुद्ध चारित्र, और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य इन पांचों आचारोंका पालन करता है ॥१८५॥ वे उपाध्याय आचार्योंके समान अथवा उत्तम मुनियोंके समान त्रिरकालतक मूलगुणोंका पालन करते हैं

नाचरेच्चिरम् । परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ध्रुवम् ॥ १८६ ॥ अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः । शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थः स गणाग्रणीः ॥१८७॥ उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः । अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥१८८॥ मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् । साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥१८९॥ नोचे वाचंयमी किंचिद्धस्तपादादिसंज्ञया । न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९० ॥ आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् । स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरंगाब्धिवन्मुनिः ॥ १९१ ॥ नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि । स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ १९२ ॥

शास्त्रोंमें कहे अनुसार उत्तरगुणोंका पालन करते हैं, निश्चयसे बाईस परिषहोंको जीतते हैं और अनेक उपसर्गोंको सहन करते हैं ॥१८६॥ उपाध्यायके स्वरूपमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि वे उपाध्याय अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारसे उत्तम मुनियोंके समान शुद्ध अवस्थाको धारण करते हैं, अत्यन्त धीरवीर होते हैं, निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करनेवाले होते हैं और अनेक गुणोंके स्वामी होते हैं ॥१८७॥

इसप्रकार अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध जो उपाध्यायका स्वरूप है उसका वर्णन किया। अब आगे आगमसे सिद्ध जो साधुका लक्षण है उसे बतलाते हैं ॥ १८८ ॥

जो चारित्र मोक्षका साक्षात् मार्ग है तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है, ऐसे चारित्रको जो अपने आत्माको सिद्ध करनेके लिये सिद्ध करते हैं उनको साधु कहते हैं। यह साधु शब्दका अर्थ शब्दसे निकलनेवाला यथार्थ अर्थ है ॥ १८९ ॥ अपने आत्मामें लीन रहनेवाले और इसीलिए मौनव्रत धारण करनेवाले ये साधु न तो बचनसे कुछ कहते हैं, न हाथ पैर आदिके इशारेसे कुछ दिखलाते ही हैं और न मनसे कुछ चिंतवन करते हैं ॥ १९० ॥ वे केवल शुद्ध आत्मामें आस्तिक्य बुद्धि रखते हुए (एकाग्रचित्तसे शुद्ध आत्माका ध्यान करते हुए) रहते हैं। उनकी अन्तरंग वृत्तियां (मनकी प्रवृत्तियां) तथा काय बचनकी बाह्य प्रवृत्तियां सब शांत होती हैं और जिसप्रकार तरंगोंसे रहित समुद्र अत्यन्त शान्त होता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी अत्यन्त शान्त होते हैं ॥ १९१ ॥ वे मुनिराज न तो किसी प्रकारका उपदेश देते हैं और न किसी प्रकारका आदेश ही देते हैं। वे मुनिराज स्वर्ग तथा मोक्षके मार्गका भी उपदेश वा आदेश नहीं देते फिर भला वे उसके विपक्ष संसारके

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः । दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १९३ ॥ निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी । कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपःशुचिः ॥ ॥ १९४ ॥ परिषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः । एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १९५ ॥ इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः

मार्गका वा पापरूप क्रियाओंका उपदेश वा आदेश तो किस प्रकार दे सकते हैं? ॥ १९२ ॥ वे मुनिराज वैराग्य-की परम सीमाको प्राप्त हो जाते हैं, बडे प्रभावशाली होते हैं, दिगम्बर अवस्थाको धारण करनेवाले होते हैं, जिस-प्रकार तुरन्तका उत्पन्न हुआ बालक निर्विकार होता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी निर्विकार अवस्थाको धारण करते हैं, अत्यन्त दयालु होते हैं, सब तरहके परिग्रहोंसे रहित होते हैं, मोहनीय कर्मकी अतरंग और बहिरंग गांठोंको खोल कर अलग अलग कर देनेवाले (माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंसे रहित) होते हैं, सदा-काल यम नियमोंको पालन करनेवाले होते हैं, क्षपकश्रेणी वा उपशमश्रेणीके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करते रहते हैं, तपश्चरणसे सदा पवित्र रहते हैं, इसीलिए वे तपस्वी कहलाते हैं, अनेक परिषह और अनेक उपसर्ग भी उन्हें अपने वश नहीं कर सकते, वे परिषह और उपसर्गोंसे सदा अजेय बने रहते हैं, कामदेवको जीतनेवाले होते हैं, आहारकी शुद्धिसे सदा शुद्ध और पवित्र होते हैं और त्याग करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १९३-१९५ ॥ इसप्रकार साधुओंके अनेक प्रकारके अनेक गुणोंसे जो सुशोभित होते हैं उनको साधु कहते हैं। अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए ऐसे ही साधुओंको नमस्कार करना चाहिये। जिसमें ये ऊपर लिखे गुण न हों वह चाहे विद्वानोंमें भी श्रेष्ठ हो तथापि वह न तो साधु कहलाता है और न उसको नमस्कार करनेसे कोई लाभ होता है ॥ १९६ ॥

इस प्रकार जो आचार्य उपाध्याय साधुरूप मुनित्रयी है जो कि महापुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ है उसका स्वरूप दिखलाया। यद्यपि मूलगुण वा उत्तरगुणरूप सामान्य गुणोंकी अपेक्षा तीनों समान हैं तथापि इनमें कार्यकी अपेक्षासे तरतमरूपसे विशेषता है । भावार्थ–तीनोंके कार्य अलग हैं इसीलिये तीनोंके पद अलग अलग हैं। आचार्योंको आदेश और उपदेश दोनोंके देनेका अधिकार है इसलिये वे सबसे बडे हैं। उपाध्यायको आदेश देने

श्रितः । नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १९६ ॥ एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि । तद्विशुद्धिविशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १९७ ॥ तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः । न्यायाद्वा देशतोऽध्यक्षात् सिद्धः स्वात्मन्यतत्परः ॥ १९८ ॥ अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृग्मोहानुदयात्सतः । अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १९९ ॥ अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः । वाक्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥ २०० ॥ तथापि न बहि-

का अधिकार नहीं है किन्तु उपदेश देनेका अधिकार है इसलिये उनका पद आचार्यकी अपेक्षा कुछ कम है। मुनिराजोंको न आदेश देनेका अधिकार है और न देनेका अधिकार है इसलिये उनका पद उपाध्यायसे भी कुछ कम है इसप्रकार आचार्य उपाध्याय साधुओंमें कार्य वा पदकी अपेक्षासे तरतमरूपसे विशेषता है ॥१९७॥ इन आचार्य उपाध्याय साधुओंमें जो दीक्षा देनेसे प्रसिद्ध हैं आदेश देनेसे प्रसिद्ध हैं और जो चतुर्विध संघके वा गणके नायक वा नेता हैं उनको आचार्य कहते हैं। वे आचार्य अपने आत्मामें तल्लीन रहते हैं यह बात युक्तिसे और एकदेश प्रत्यक्षरूप अनुभवसे सिद्ध है ॥१९८॥ आचार्यके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव है इसलिये यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि वे आचार्य अपने आत्माको छोड कर अन्य शरीरादिकमें वा भौतिक पदार्थोंमें कभी लीन नहीं हो सकते। इसका भी कारण यह है कि जब आचार्यके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव है और दर्शनमोहनीयकर्मके उदयके अभावके साथ साथ शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है और प्रत्यक्ष होता है। इसलिये उन आचार्यके शुद्ध आत्माका अनुभव विद्यमान है अतएव वे उसीमें तल्लीन रहते हैं, अन्य पदार्थोंमें नहीं। भावार्थ–परपदार्थोंमें तल्लीन करानेवाला दर्शनमोहनीयकर्म है। आचार्यके उसका सर्वथा अभाव है इसलिये वे परपदार्थोंमें कभी राग द्वेष मोह नहीं करते। किन्तु दर्शनमोहनीयकर्मके अभावके साथ प्रगट होनेवाले अपने शुद्ध आत्मामें ही सदा लीन रहते हैं ॥ १९९ ॥ दूसरी बात यह भी है कि उन आचार्यके दर्शनमोहनीयकर्मके उदयका तो अभाव है ही किंतु उसके साथमें उनके एकदेश चरित्रमोहनीयकर्मका भी अभाव हो चुका है। इसलिये उनके सम्यग्दर्शनके साथ साथ सम्यक्चरित्र भी विद्यमान है। यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि चारित्रके क्षय होनेमें अथवा उस चारित्रके अक्षय रीतिसे बने रहनेमें केवल बाह्य पदार्थ कारण नहीं

र्वस्तु स्याच्चद्धेतुरहेतुतः । अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥ २०१ ॥ संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धकाः देशघातिनः । तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमादुद्वयोः ॥ २०२ ॥ संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः । सोपि तरतमस्वांशैः साप्यनेकैरनेकधा ॥ २०३ ॥ अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।

है । भावार्थ—केवल बाह्य पदार्थोंके कारणसे न तो चारित्रका नाश ही होता है और न चारित्र अक्षुण्ण रीतिसे (पूर्ण रीतिसे) बना ही रहता है ॥२००॥ किंतु चारित्रका नाश होना अथवा पूर्ण रीतिसे बना रहना अपने अपने उपादान कारणोंसे होता है । अपने अपने उपादान कारणोंके मिलनसे ही चारित्रकी वृद्धि वा लाभ होता है और अपने उपादान कारण मिलनेसे ही चारित्रका नाश होता है । चारित्रका लाभ होनेमें अथवा उसके नाश होनेमें बाह्य पदार्थ किंचित् मात्र भी कारण नहीं है इससे भी सिद्ध होता है कि चारित्रकी प्राप्तिमें अथवा चारित्रके नाश होनेमें बाह्य पदार्थ कारण नहीं है ॥ २०१ ॥ आचार्यपरमेष्ठीके अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषायोंका अभाव है उनके केवल देशघाती संज्वल कषायके स्पर्द्धक विद्यमान हैं। उन संज्वल कषायके स्पर्द्धकोंका यदि तीव्र उदय होता है तब तो चारित्रकी हानि हो जाती है और जब उन्हीं संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका मन्द उदय होता है तब चारित्रकी वृद्धि हो जाती है । इससे सिद्ध होता है कि चारित्रकी हानिमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय होना कारण है और चारित्रकी वृद्धिमें उसी संज्वलन कषायका मन्द उदय कारण है । इसका भी कारण यह है कि संज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेसे संक्लेश परिणाम होते हैं तथा संक्लेश परिणामोंसे चारित्रकी हानि होती है । इसीप्रकार संज्वलन कषायोंके मन्द उदय होनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढती है और परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे चारित्रकी वृद्धि होती है। संज्वलन कषायोंकी तीव्रतासे संक्लेशता बढ जाती है और मन्दतासे विशुद्धि बढती जाती है। चारित्रको हानि पहुंचानेवाले संक्लेश परिणाम भी अनेक प्रकार के हैं और चारित्रकी विशुद्धि बढानेवाले विशुद्ध परिणाम भी अनेक प्रकारके हैं। भावार्थ—उन संक्लेशरूप परिणामोंमें तथा विशुद्ध परिणामोंमें तरतमताके भेदसे ही अनेक भेद होते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि चारित्रकी हानि वृद्धिमें संज्वलन कषायकी तीव्रता और मन्दता ही कारण है

तथाप्येनावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥२०४॥ तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह । संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥२०५॥ किन्तु देवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोथ वा क्वचित् । तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशादयं पुनः ॥२०६॥ तेषां तीव्रोदयात्तावद्देतावानत्र बाधकः । सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नाप-

है ॥ २०२-२०३ ॥ अथवा चारित्रकी हानि वृद्धिमें कुछ भी कारण हो परन्तु यह निश्चित है कि किसी भी कारणसे आचार्यके चारित्रमें शिथिलता नहीं आती है। कदाचित् संज्वलनकषायके उदयकी तीव्रता होनेसे उनके चारित्रमें कुछ कमी भी हो जाय तो भी यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि वे आचार्य अपने आत्मामें तल्लीन नहीं रहते हैं। भावार्थ—यह निश्चित है कि आचार्य सदा अपने आत्मामें लीन रहते हैं। यह आत्मतल्लीनता उनकी कभी दूर नहीं होती ॥ २०४ ॥ संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश बढ जाते हैं तथा उसी संज्वलन कषायके तीव्र उदय होनेसे संक्लेशके अंश बढ जाते हैं। उनके परिणामोंमें चाहे संक्लेशके अंश बढें और चाहे विशुद्धिके अंश बढें परन्तु यह नियम है कि संक्लेश वा विशुद्धिके घटने बढनेसे आत्माकी तल्लीनतामें कोई किसीप्रकारका अंतर नहीं होता है। संज्वलन कषायके तीव्र उदयसे होनेवाले संक्लेश परिणाम भी उसके शुद्ध आत्माके अनुभवमें बाधक नहीं होते हैं ॥ २०५ ॥ यदि दैवयोगसे चाहे तो आचार्यके विशुद्ध अंश बढ जायं और चाहे संक्लेशके अंश बड जायं परन्तु उनका फल केवल इतना ही होता है कि विशुद्धिके अंश बढनेसे चारित्रकी विशुद्धता आ जाती है और संक्लेशके अंश बढनेसे चारित्रमें संक्लेशता वा कमी आ जाती है। इन दोनोंके होनेसे शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी हीनाधिकता नहीं आती है ॥ २०६ ॥ ॥ यदि आचार्यके संज्वलन कषायकी तीव्रता हो और वह तीव्रता पूर्णरूपसे हो तो वह कुछ प्रकोप वा प्रमाद उत्पन्न करती है। बस वह संज्वलन कषायकी तीव्रता इतनी ही बाधा कर सकती है। इससे अधिक वा भिन्न और कुछ अपराध नहीं कर सकती। भावार्थ—आचार्यके संज्वलन कषायकी तीव्रता होनेपर भी शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं होती है ॥ २०७ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे कथनसे यह बात अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाती है कि संज्वलनकषायके तीव्र उदय होनेसे अथवा कुछ अंशोंमें चारित्रकी क्षति वा कमी

राधोस्त्यतोपरः ॥ २०७ ॥ तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः । कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ २०८ ॥ हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः । प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ २०९ ॥ दृग्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ २१० ॥

होनेपर भी आचार्यके शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी कमी वा हानि नहीं होती है । उससे आचार्यके शुद्ध आत्मामें लीन होनेका नाश नहीं होता है क्योंकि शुद्ध आत्माके अनुभवके नाश होनेका कारण कुछ और ही है जो आगे बतलाया है ॥२०८॥ शुद्ध आत्माके अनुभव वा ज्ञान होनेमें मिथ्यात्वकर्मका उपशम कारण है। उसके विपरीत मिथ्यात्वकर्मका उदय है । वही मिथ्यात्वकर्मका उदय शुद्ध आत्माके अनुभवके नाश होनेमें कारण है ॥ २०९ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेसे इस आत्माके आत्मा की शुद्धताका अनुभव होता है। उस शुद्ध आत्माके अनुभव होनेमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय किसीप्रकारका विघ्न नहीं कर सकता। भावार्थ—यह बात पहले अच्छीतरह सिद्ध कर चुके हैं कि सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है तथा सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव ही कारण है। इससे सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे होता है । उस शुद्ध आत्माके अनुभवमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय किसीप्रकारकी विघ्नबाधा नहीं कर सकता । इसका भी कारण यह है कि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चारित्रके होनेमें बाधक है, चारित्र नहीं होने देता । शुद्ध आत्माके अनुभवमें वह कुछ नहीं कर सकता । इस नियमके अनुसार यदि आचार्यके संज्वलनकषायका तीव्र उदय भी हो जाय तो भी उससे आचार्यके शुद्ध आत्माके अनुभवमें कोई बाधा नहीं आ सकती । हां संज्वलनकषायके तीव्र उदयसे उनके चारित्रमें कुछ प्रमादका अंश अवश्य आ सकता है ॥ २१० ॥ वह चारित्रमोहनीयकर्मका उदय कुछ भी न कर सकता हो सो भी नहीं है क्योंकि यद्यपि वह दर्शनमोहनीयकर्मके कार्यको नहीं कर सकता तथापि अपने कार्यको तो कर सकता है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चारित्रको नष्ट करता है और दर्शनमोहनीयका कार्य शुद्ध आत्माके

नचाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः । दृग्मोहस्य कृतेनालमलं स्वस्य कृते च यः ॥२११॥ कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः । नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादप्या- दितरदृष्टिवत् ॥ २१२ ॥ यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः । इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ २१३ ॥ कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि । नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ २१४ ॥ ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः । नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥ २१५ ॥ अथ

अनुभवको रोकना है। चारित्रमोहनीयकर्म शुद्ध आत्माके अनुभवको नहीं रोक सकता तथापि वह चारित्रको तो रोकता ही है ॥२११॥ आत्माके चारित्र गुणका घात करना ही चारित्रमोहनीयकर्मका कार्य है। आत्माके दर्शन (सम्यग्दर्शन गुणका घात करना चारित्रमोहनीयका कार्य नहीं है। इसका भी कारण यह है कि आत्माका चारित्र गुण जुदा है और सम्यग्दर्शन गुण जुदा है इसीलिये सम्यग्दर्शनका घातक दर्शनमोहनीयकर्म है और चारित्र गुणका घातक चारित्रमोहनीयकर्म है। जिसप्रकार किसी मनुष्य के दर्शनमें (देखनेमें) दूसरे मनुष्यकी दृष्टि बाधक नहीं हो सकती उसीप्रकार सम्यग्दर्शनगुणमें चारित्रमोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सकता। चारित्रमोहनीयकर्मका कार्य केवल चारित्र गुणको घात करना है ॥ २१२ ॥ जैसे दैवयोगसे किसीके नेत्र सबतरहके रोगोंसे रहित हैं तथा अन्य किसी मनुष्यके नेत्र किसी रोगसे पीडित हैं ऐसी अवस्थामें अन्य मनुष्यके नेत्रोंकी पीडासे पहले मनुष्यके नीरोग नेत्रोंमें कोई किसीप्रकारकी बाधा नहीं होती है उसीप्रकार चारित्रको घात करनेवाले चारित्र- मोहनीयकर्मके उदयसे दर्शनमोहनीयके अभाव होनेसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध आत्माके अनुभवमें कोई किसी- प्रकारकी बाधा नहीं आती है ॥२१३॥ इस आत्माके जबतक कषायोंका अभाव रहता है उदय नहीं रहता तब- तक आत्माका चारित्र गुण प्रगट रहता है और जब कषायोंका उदय हो जाता है कषायोंका अभाव नहीं होता तब आत्माके चारित्रगुणका नाश हो जाता है ॥ २१४ ॥ इससे सिद्ध होता है कि कषायोंका चाहे तो उदय हो और चाहे अभाव हो, जबतक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय नहीं होता तबतक उन कषायोंके उदय अथवा अभाव होनेसे शुद्ध आत्माके अनुभवमें किसीप्रकारकी कमी नहीं होती है। भावार्थ—शुद्ध आत्माके अनुभवका बाधक दर्शनमोहनीयकर्मका उदय है। चारित्रमोहनीय अथवा कषायोंका उदय शुद्धात्मानुभवका बाधक नहीं है ॥२१५॥

सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ । साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ २१६ ॥ नापि कश्चिद्विशेषोस्ति द्वयोस्तरतमो मिथः । नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ २१७ ॥ लेशतोस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां वहिः कृतः । का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥ २१८ ॥ नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानु-

आचार्य और उपाध्याय दोनों ही कारणकी अपेक्षासे समान हैं। जो मूलगुण वा उत्तरगुण आदि आचार्य-पदके कारण हैं वे ही सब उपाध्यायपदके कारण हैं। ये दोनों ही साधु हैं तथा साधुओंके समान ही शुद्ध आत्मा-का अनुभव करनेवाले हैं। दोनों ही शुद्ध हैं और दोनों ही शुद्ध उपयोगको धारण करनेवाले हैं ॥२१६॥ आचार्य और उपाध्यायमें भी कोई तरतमरूपसे विशेष भेद नहीं है तथा साधुमें भी इन दोनोंसे कोई विशेष अतिशय वा भेद नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि साधुमें कोई अंतरंग विशेष अतिशय हो और वह अतिशय आचार्य वा उपा-ध्यायमें न हो किंतु आचार्य उपाध्याय साधु तीनों ही समान हैं। इन तीनोंमें कोई किसीप्रकारका अंतर नहीं है ॥ २१७ ॥ यदि आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनोंमें कुछ अन्तर है कुछ विशेषता है तो वह केवल वाह्य क्रियाकी अपेक्षासे है जैसा कि पहले इसी सर्गके १९७ वें श्लोकमें कह चुके हैं। अंतरंगकी शुद्धता तीनोंकी समान है। इसलिए वाह्य क्रियाकी अपेक्षासे इन तीनोंमें भेद होनेपर अंतरंग शुद्धि तीनोंकी समान होनेसे ये तीनों ही समान समझे जाते हैं इसमें कोई किसी प्रकारकी हानि नहीं है, क्योंकि मूलकारण जो अंतरंगकी शुद्धता है वह तीनोंमें समान है ॥ २१८ ॥ आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें संज्वलनकषायका तीव्र मध्यम वा मंद उदय कुछ निय-मित नहीं है। न तो यही नियम है कि आचार्यके इसका मंद उदय हो अथवा उपाध्यायके हो वा साधुके हो। न इन तीनोंमेंसे किसीके भी मध्यम उदयका नियम है और न तीनों हीके तीव्र उदयका नियम है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके तीव्र उदय हो सकता है, मध्यम उदय हो सकता है और तीनों ही के मंद उदय हो सकता है। यह बात युक्ति आगम और अनुभव सब तरहसे सिद्ध होती है ॥२१९॥ इन आचार्य उपाध्याय और साधुओंमेंसे प्रत्येकके अनेक अनेक भेद हो जाते हैं और वे भेद जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे होते हैं। भावार्थ—कितने ही आचार्योंके अनेकप्रकारके जघन्य भाव होते हैं। कितने आचार्योंके उत्कृष्ट प्रकारके अनेक भाव होते हैं और

भवागमात् । मन्दादिरुदयस्तेषा सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ २१९ ॥ प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभवैश्चैकैकशः पृथक् ॥ २२० ॥ कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः । मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥२२१॥ हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् । धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ २२२ ॥ परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये । न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥२२३॥ ननु धर्मोपदेशादि कर्म

कितने हीके अनेकप्रकारके मध्यम भाव होते हैं। जिसप्रकार आचार्योंके अनेक भेद होते हैं उसीप्रकार उपाध्याय और साधुओंके भी अनेक भेद समझ लेने चाहिए ॥२२१॥ कोई आचार्य कभी तो सबसे उत्तम विशुद्धिको धारण करते हैं, वे ही आचार्य कभी मध्यम विशुद्धिको धारण करते हैं और फिर वे ही आचार्य किसी कालमें जघन्य विशुद्धिको धारण करते हैं । इसप्रकार अपनी अपनी योग्यताके अनुसार परिणामोंको धारण करते हैं ॥ २२२ ॥ ऊपर लिखे अनुसार आचार्योंके परिणामोंकी विशुद्धि कभी उत्कृष्ट हो जाती है कभी मध्यम हो जाती है और कभी जघन्य हो जाती है इसका कारण यह है कि उन आचार्योंके प्रत्येक समयमें संज्वलन कषायके स्पर्द्धक उदयमें आते रहते हैं उन संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंके उदय होनेसे उनके परिणामोंमें तरतमता होती रहती है। उन स्पर्द्धकोंके तीव्र उदय होनेसे विशुद्धि घट जाती है और मंद उदय होनेसे विशुद्धि बढ जाती है। इसप्रकार विशुद्धिकी हानि वृद्धिमें संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका उदय कारण है। धर्मका आदेश अथवा उपदेशरूप बाह्य क्रिया आचार्योंकी विशुद्धिकी हानि वृद्धिमें किंचित् भी कारण नहीं है। भावार्थ—आचार्य जो आदेश देते हैं अथवा उपदेश देते हैं वह उनकी विशुद्धकी हानिमें कारण नहीं है । क्योंकि आदेश वा उपदेश देनेमें आचार्यके प्रमाद नहीं होता है। जो लोग यह समझते हैं कि आचार्य मुनिसंघके शासक हैं इसलिए शासन करनेमें उनके थोडी बहुत शिथिलता अवश्य आती होगी परन्तु यह समझना कोरा भ्रम है। आचार्योंका शासन कषायसहित नहीं है। निष्कषाय शासन है और निष्कषाय मुनियोंके लिए है इसलिए उसमें कभी किसी प्रकारका दोष उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ २२२ ॥ जिसप्रकार ऊपर लिखी व्यवस्था आचार्यके लिए कही गई है उसीप्रकार उपाध्याय और साधुओंके लिए भी समझनी चाहिये क्योंकि उपाध्याय और साधुओंमें भी आचार्यों-

तत्कारणं वहिः । हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ २२४ ॥ नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं वहिः । तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ २२५ ॥ किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः । धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥२२६॥ नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि । न्यायादक्षार्थ-

से कुछ विशेषता नहीं है । पदस्थके अनुसार होनेवालीं बाह्य क्रियाओंको छोड कर शेष सबतरहसे आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों ही समान हैं ॥ २२३ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि आचार्य धर्मका आदेश देते हैं इससे भी उपाध्याय साधुओंसे आचार्यमें अन्तर पडता है अर्थात् आचार्योंका यह विशेष कार्य है इसलिए इनसे आचार्योंसे विशेषता सिद्ध होती है क्योंकि कहीं कहींपर बाह्य क्रियाएं अथवा बाह्य हेतु भी अभ्यन्तर शुद्धि वा अशुद्धिका कारण बन जाता है । अतएव इन बाह्य क्रियाओंसे आचार्यमें विशेषता माननी ही चाहिये । कविराज कहते हैं कि यह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि संसारमें जितनी भी बाह्य क्रियाएं हैं वे सब अकिंचित्कर हैं । बाह्य क्रियाएं आत्माकी शुद्धिमें कुछ बाधा नहीं कर सकतीं । हां यदि कोई मुनि अपने मोहनीयकर्मके उदयसे बाह्य आचार्य आदि पदकी इच्छा करे तो उसके लिये वह बाह्यपद अवश्य ही फल देता है अर्थात् मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली वह इच्छा उसके आत्माकी शुद्धिकी विघातक है इसलिए उसका फल केवल संसारपरिभ्रमण है ॥ २२४-२२५ ॥ आचार्यपदको धारण करनेवाले आचार्य धर्मका आदेश देना, धर्मका उपदेश देना, आचार्यपदपर बने रहना और उसके फलस्वरूप अधिकार और गुरुपनेकी किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं करते हैं । इन ऊपर लिखी हुई बाह्य क्रियाओंकी उनके किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं होती है इसलिए ऐसे आचार्योंकी तो बात ही क्या है । भावार्थ—बाह्य उपदेश वा आदेश आदिकी किंचितमात्र भी इच्छा न करनेवाले आचार्यके उन बाह्य क्रियाओंसे उनके आत्माकी विशुद्धिमें किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं पडता है क्योंकि वे जो कुछ करते हैं उसमें लेशमात्र भी कषाय नहीं है । निष्कषाय होकर केवल धार्मिक बुद्धिसे ही करते हैं ॥२२६॥ यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि जब आचार्य मुनियोंपर आदेश आदि देकर पूर्णरीतिसे शासन करते हैं तब यह कैसे कह सकते हैं कि उनके इच्छा नहीं है क्योंकि विना इच्छाके शासन कभी हो ही नहीं सकता । इसका उत्तर देते

कांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ २२७ ॥ ननुनेहांविनाकर्म, कर्मनेहां विना क्वचित् ।. तस्मान्नानीहितंकर्म स्यादक्षार्थस्तु वा नवा ॥ २२८ ॥ नैवं हेतोरति-

हुए कविराज कहते हैं कि यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी है कि धर्मका आदेश आदि कार्य करते हुए भी आचार्य सर्वथा इच्छा रहित हैं क्योंकि जो इंद्रियोंके विषयोंमें इच्छा वा लालसा की जाती है उसीको इच्छा कहते हैं जहां केवल धर्मवृद्धिकी आकांक्षा है चारित्रशुद्धिकी आकांक्षा है उसे इच्छा कभी नहीं कह सकते । भावार्थ—जिसप्रकार जो सांसारिक वासनाओंकी इच्छा की जाती है उसको निदान कहते हैं परन्तु मोक्षकी जो इच्छा की जाती है उसे निदान नहीं कहते उसीप्रकार जो इच्छाएं सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती हैं उन्हींको इच्छाएं कहते हैं किन्तु जो मनकी प्रवृत्ति धार्मिक कार्योंमें लगाई जाती है उसको इच्छा नहीं कहते । इसका भी कारण है कि जहां कुछ चाह होती है वहीं इच्छा होती है । आचार्य जो आदेश वा उपदेश देते हैं उससे वे कुछ चाहते नहीं वे शासन करते हुए भी सदा निस्पृह और आत्मध्यानमें लीन रहते हैं ॥ २२७ ॥

यहांपर कोई शंकाकार शंका करता है कि यह नियम है कि बिना क्रियाके किसीप्रकारकी इच्छा नहीं होती और बिना इच्छाके किसीप्रकारकी क्रिया नहीं होती । इस नियमके अनुसार बिना इच्छाके किसी प्रकार-की क्रिया नहीं हो सकती । जिसके लिए वह इच्छा की जाती है वह चाहे इंद्रियसम्बन्धी विषय हो और चाहे इंद्रियसम्बन्धी न हो । भावार्थ—जब यह नियम है कि बिना इच्छाके कोई क्रिया हो ही नहीं सकती तब आचार्य जो धर्मका आदेश वा उपदेशरूप क्रिया करते हैं वह भी बिना इच्छाके नहीं हो सकती । इसलिए कहना चाहिये कि आचार्य भी इच्छा सहित हैं इच्छा रहित नहीं हैं । कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि "बिना इच्छाके क्रिया होती ही नहीं है" इस लक्षणकी क्षीणकषायवालोंमें अतिव्याप्ति है । क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु कषायोंके अभाव होनेसे इच्छाका सर्वथा अभाव है । यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रिया होनेमात्रसे इच्छा मानी जायगी तो फिर कर्मोंका बन्ध सदा ही होता रहेगा तथा यदि कर्मोंका बंध सदा होता रहेगा तो फिर मोक्ष प्राप्त होना ही असम्भव हो जायगा । भावार्थ—'बिना इच्छाके

व्यातेराराद्वाचीणमोहिषु । बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ २२९ ॥ ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेनांशांशतस्त्रिषु । निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ २३० ॥ किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे । विना साधुपदं न स्यात्केवलोपत्तिरञ्जसा ॥ २३१ ॥ तत्राकूतमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिनः ।

क्रिया होती ही नहीं है' यह नियम ठीक नहीं है क्योंकि बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु इच्छा नहीं होती। इसका भी कारण यह है कि इच्छा लोभकी पर्याय है और लोभकषाय दशवें गुणस्थानके अन्तमें नष्ट हो जाता है। यदि कषायोंका सर्वथा अभाव होनेपर भी बारहवें गुणस्थानमें इच्छा मान ली जायगी तो फिर कर्मोंका बन्ध होना कभी बन्द ही नहीं हो सकेगा क्योंकि यह नियम है कि कर्मोंका बन्ध कषायोंसे होता है। कारणके होनेपर तो कार्य होता ही है परन्तु कारणके अभावमें कार्य कभी नहीं होता, यदि कारणके अभावमें भी कार्य होने लगे तो प्रत्येक कार्य प्रत्येक समयमें होना चाहिए। यदि कषायोंके अभावमें भी कर्मोंका बन्ध होगा तो फिर बारहवें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानमें वा मुक्त अवस्थामें भी कर्मोंका बन्ध होना चाहिए और यदि वहां भी कर्मोंका बन्ध माना जायगा तो फिर किसी भी जीवको मोक्ष कभी भी नहीं हो सकेगी। यह जीव सदा संसारमें परिभ्रमण करता हुआ दुःखी ही बना रहेगा परन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिए शंकाकारने जो यह कहा था कि बिना इच्छाके क्रिया होती ही नहीं है सर्वथा निर्मूल है ॥२२८-२२९॥ इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि आचार्य उपाध्याय और साधुमें परिणामोंकी विशुद्धिके अनेक अशोंकी अपेक्षासे अन्तरंगमें भेद है परन्तु सामान्यरीतिसे इन तीनोंमें कोई भेद नहीं है। सामान्यरीतिसे तीनों ही समान हैं। अतएव "बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे ही इन तीनोंमें भेद है" ऐसा मानना सर्वथा निर्मूल है ॥ २३० ॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि यौगिक रीतिसे अथवा रूढिसे शास्त्रोंमें यह बात भी प्रसिद्ध है कि साधुपदको धारण किए बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं होती है परन्तु वहींपर श्रीसर्वज्ञदेवने यह भी अच्छीतरहसे बतला दिया है कि श्रेणी चढनेवालोंको साधुपद क्षणमात्रमें अपनेआप प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—यदि कोई आचार्य अथवा उपाध्याय ध्यान करते करते श्रेणी चढने लगें तो उस समय उनका वह पद साधुपद ही कहलाता है क्योंकि उस समय उनके आदेश

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ २३२ ॥ यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि । कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ २३३ ॥ ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह । नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥ २३४ ॥ न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरम् । प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ २३५ ॥ उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् । शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ २३६ ॥ धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

उपदेश आदि बाह्य क्रियाओंका सर्वथा अभाव है। ध्यानमें ये क्रियाएं अपनेआप छूट जाती हैं इसलिए वह साधुपद भी अपनेआप प्राप्त हो जाता है ॥२३२-३२॥ इसका भी कारण यह है कि वे आचार्य वा उपाध्याय श्रेणी चढनेके समय समस्त चिन्ताओंको दूर कर किसी एक पदार्थको चिंतवन करनेरूप ध्यानको धारण करते हैं। इसलिए आचार्य वा उपाध्यायको वह साधुपद बिना कुछ त्याग वा ग्रहण किए अनायास ही सिद्ध हो जाता है। वहांपर (श्रेणी चढते समय) बाह्य उपयोग नहीं होता है। भावार्थ—उत्कृष्ट ध्यान धारण करना साधुओंका काम है जब आचार्य वा उपाध्याय ध्यान धारण करते हैं तब वे अपनेआप साधु हो जाते हैं क्योंकि ध्यान धारण करते समय उनके कोई बाह्य उपयोग तो काम कर ही नहीं सकता। उस समय तो केवल ध्यान ही है जो साधुओंका काम है अतएव कहना चाहिए कि वे स्वयं साधु हैं ॥ २३३-२३४ ॥ यह बात भी नहीं है कि आचाय पहले छेदोपस्थापनानामके उत्तम चारित्रको धारण करते हैं और फिर साधुपदको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—कदाचित् कोई यह कहे कि आचार्य अथवा उपाध्याय जो बहुत दिनतक आदेश वा उपदेश देते रहते हैं, शासन करते रहते हैं, उसके बदले वे पहले प्रायश्चित्त लेते हैं और फिर साधुपद प्राप्त करते हैं सो बात नहीं है क्योंकि पहले भी यह बात अच्छीतरह बतला चुके हैं कि आचार्यकी आदेश वा उपदेशादिक क्रियाएं उनके चारित्रकी विशुद्धिमें बाधक नहीं हैं। जब उनके चारित्रकी विशुद्धिमें कोई किसीप्रकारकी बाधा ही नहीं आती है तब फिर प्रायश्चित्त किस बातका किया जाय। आचार्योंकी चारित्रशुद्धि तो साधुओंके ही समान है तथा मूलगुण उत्तरगुणपालन आदि क्रियाएं भी सब साधुओंके समान हैं केवल आदेशादिक बाह्य क्रियाओंसे भेद है जिससे उनके साधुपदमें कोइ अंतर नहीं आता है ॥ २३५ ॥ इसप्रकार प्रसंग पाकर यहांपर थोडासा गुरुलक्षण बतलाया। इसके

तत्राजवंजवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ २३७ ॥ सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः । तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ २३८ ॥ ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा । सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ २३९ ॥ रूढितोऽधिवपुर्वाचा क्रिया धर्मः शुभावहा । तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥२४०॥ सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषतः । यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषतः ॥२४१॥ तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो विरति.

सिवाय इनका जो विशेष लक्षण है विशेष स्वरूप है वह सब जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥ २३६ ॥

आगे धर्मका स्वरूप बतलाते हैं। जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचे स्थानसे उठकर ऊंचे स्थानमें धारण कर दे उसको धर्म कहते हैं। अनेक दुःखोंसे भरा हुआ संसार नीच स्थान है और उसका नाश होना अथवा अनन्त सुखस्वरूप मोक्षपदका प्राप्त हो जाना ऊंचा स्थान कहलाता है अतएव यह सिद्ध हुआ कि जो संसारके दुःखोंसे छुडाकर मोक्षमें पहुंचा दे उसको धर्म कहते हैं ॥ २३७ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप जो रत्नत्रय है उसीको धर्म कहते हैं। इन तीनोंमें भी सम्यग्दर्शन मुख्य है और वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र-का मूल कारण है। भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और चारित्र मिथ्याचारित्र कह-लाता है। जब सम्यग्दर्शन होता है तब उसीके साथ साथ पहला ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथा उसके बाद जो चारित्र होता है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है इसीलिए कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका मूल-कारण सम्यग्दर्शन ही है ॥२३८॥ इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह सम्यक्चारित्ररूप धर्म चाहे तो एकदेशरूप गृहस्थोंका धर्म हो और चाहे पूर्णरूप मुनियोंका धर्म हो, यदि वह सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है तब तो वह धर्म कहलाता है यदि वह सम्यग्दर्शन पूर्वक न हो तो वह धर्म नहीं किन्तु अधर्म कहलाता है ॥ २३९ ॥ वचन और शरीरकी जो शुभ क्रियाएं हैं उनको रूढिसे धर्म कहते हैं परन्तु उन क्रियाओंके साथ मनकी प्रवृत्ति भी अनु-कूल अर्थात् शुभरूप ही होनी चाहिए। भावार्थ—मन वचन कायसे होनेवाली शुभ क्रियाओंको ही धर्म कहते हैं ॥ २४० ॥ गृहस्थ और मुनियोंके आश्रयसे होनेवाली वे क्रियाएं भी दोप्रकारकी हैं। भावार्थ—गृहस्थोंकी क्रियाएं भिन्न हैं और मुनियोंकी क्रियाएं भिन्न हैं इसप्रकार वे क्रियाएं दोप्रकारकी हैं तथा क्रियाओंमें भेद होनेसे उस

प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ २४२ ॥ यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः । नात्राप्यन्यतरेणोना नातिरिक्ता कदाचन ॥२४३॥ सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् । न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥२४४॥ उक्तं च । वद समिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमहाणं । खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २४५ ॥ ऐते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने । लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ २४६ ॥ ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः । प्राणि-

धर्ममें भी भेद हो जाता है। भावार्थ—जब क्रियाएं दोप्रकार हैं तो वह धर्म भी दोप्रकार है। एक गृहस्थोंका धर्म दूसरा मुनियोंका धर्म ॥ २४१ ॥ उसमें भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रहका एकदेश त्याग करना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा जाता है। भावार्थ—गृहस्थोंके अणुव्रत पांच हैं। हिंसारूप पापका एकदेश त्याग करना अहिंसाणुव्रत है, असत्यका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है, चोरीका एकदेश त्याग करना अचौर्याणुव्रत है, अब्रह्म वा कुशीलका एकदेश त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और समस्त परिग्रहोंका एकदेश त्याग करना वा उनका परिमाण नियत कर लेना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है ॥ ४२ ॥ जिसप्रकार वृक्षका मूल वा जड वृक्षके टिकनेमें कारण है उसीप्रकार मुनिव्रतोंको दृढताके साथ पालन करनेके लिये मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण हैं। इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे मुनियोंके न तो कभी कम होते हैं और न अधिक होते हैं ॥ २४३ ॥ वह मुनियोंका मुनिव्रत तभी सिद्ध होता है जब कि उनके वे मूलगुण संपूर्ण हों तथा पूर्णरीतिसे पालन किये जाते हों। उन मूलगुणोंको थोडे वा बहुत अलग अलग रीतिसे पालन करनेसे मुनिव्रत कभी नहीं कहा जा सकता। यदि उन मूलगुणोंको अलग अलग पालन किया जायगा तो उन मूलगुणोंमें जितने अंशोंमें कमी होगी उतने ही अंशोंमें उस मुनिव्रतमें भी कमी समझी जायगी ॥२४४॥ शास्त्रकारोंने वे अट्ठाइस मूलगुण इसप्रकार लिखे हैं—

वद समिदिंदियरोधो लो चो आवसयमचेलमहाणं। खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इन्द्रियोंका निरोध, छहों आवश्यकोंका पालन करना, केशलोंच करना, वस्त्र धारण नहीं करना, दंतधावन नहीं करना, खडे होकर आहार लेना और दिनमें एक बार आहार लेना ये मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण हैं ॥ २४५ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण

संरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ २४७ ॥ उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् । सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥२४८॥ अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च । सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ २४९ ॥ सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः । प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ २५० ॥ योग-

जैनशास्त्रोंमें बतलाये हैं तथा इन्हीं मुनियोंके उत्तरगुण चौरासी लाख वर्णन किये हैं ॥ २४६ ॥ इस समस्त कथनका अभिप्राय यही है कि ऊपर जो गृहस्थोंका धर्म बतलाया है अथवा जो मुनियोंका धर्म बतलाया है उन दोनोंका मूल प्राणीमात्रका रक्षा करना है। प्राणियोंकी रक्षा करनेमें दोनों ही धर्मोंमें भिन्नता नहीं है। अर्थात् दोनों ही धर्म प्राणियोंकी रक्षा करनेमें तत्पर हैं। गृहस्थधर्ममें प्राणियोंकी एकदेश रक्षा होती है और मुनिधर्ममें पूर्णरीतिसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा होती है ॥ २४७ ॥

इन व्रतोंके सिवाय और भी जो विस्तारके साथ क्रियारूप व्रतोंका समुदाय बतलाया है वह सब एक पापरूप परिणामोंकी निवृत्तिकेलिये ही समझना चाहिये । भावार्थ—पापरूप परिणामोंका त्याग कर देना ही व्रत है ॥२४८॥ इसप्रकार सिद्ध होता है कि समस्त पापरूप योगोंके त्याग कर देनेको ही व्रत कहते हैं, यही जैनधर्मका उपदेश है और यही जैनधर्मका आदेश है ॥ २४९ ॥ अब आगे प्रत्येक शब्दका अर्थ करते हुए सर्व सावद्ययोगका अर्थ बतलाते हैं। सर्व शब्दका अर्थ अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारका व्यापार है। सावद्य शब्दका अर्थ प्राणोंका नाश करना है। प्राणोंके नाश करनेको ही हिंसा कहते हैं। योग शब्दका अर्थ उपयोग लगाना है। यहांपर प्रकरणके अनुसार उस हिंसामें उपयोग लगाना योग कहलाता है । वह उपयोग दोप्रकार है। एक बुद्धिपूर्वक जानबूझ कर लगाया हुआ उपयोग और दूसरा अबुद्धिपूर्वक बिना जाने लगा हुआ उपयोग । इसी अबुद्धिपूर्वक उपयोगको सूक्ष्म उपयोग कहते हैं। इसप्रकार योगके दो भेद हैं। भावार्थ—अंतरंग और बहिरंग प्राणोंका नाश करनेके लिए अपना उपयोग लगाना सर्वसावद्य योग है । इसका भी अर्थ है हिंसा करनेकीओर अपने परिणामोंको लगाना । इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिए कि भावप्राणोंका नाश करना अंतरंग सावद्य है और द्रव्यप्राणोंका नाश करना बाह्य सावद्य है। बुद्धिपूर्वक वा जानबूझ कर हिंसा करनेके लिए अपना उपयोग

स्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते । सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ २५१ ॥ तस्याभावो निवृत्तिः स्यादूव्रतं चार्थादिति स्मृतिः । अंशात्साप्यंशतस्त्तसा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥ २५२ ॥ सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्य दयांगिषु । व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि क्रिया ॥ २५३ ॥ लोकासख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् । हिंसायास्तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ २५४ ॥ आत्मेतरांगिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ । तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्रतत्

लगाना स्थूल सावद्ययोग है तथा अशुभ कर्मोंके उदयसे बिना जाने हिंसा करनेके लिए अपना उपयोग लगाना सूक्ष्म सावद्ययोग है, इसप्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके उपयोगोंसे अंतरंग और बहिरंग दोनोंप्रकारकी हिंसाका त्याग कर देना व्रत है ॥ २५०-२५१ ॥ उसी समस्त सावद्ययोगके त्याग कर देनेको सर्वसावद्ययोग-निवृत्ति कहते हैं और उस सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिको ही व्रत कहते हैं। यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति एक-देशरूप होती है तो वे व्रत भी एकदेशव्रत कहलाते हैं । यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति पूर्णरूपसे होती है तो वे व्रत भी पूर्णव्रत वा महाव्रत कहलाते हैं ॥ २५२ ॥ यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी है कि प्राणियोंकी दया करना बाह्यव्रत है तथा कषायोंका त्याग करना अंतरंगव्रत है । इसी अंतरंगव्रतको अपनी आत्मापर दया करना कहते हैं। भावार्थ—कषायोंका त्याग करनेसे ही यह आत्मा सुखी होता है इसलिए आत्माको सुखी बनाना या आत्मापर दया करना कषायोंका त्याग करना ही है ॥ २५३ ॥ राग द्वेष आदि वैभाविक परिणामोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है । इस आत्मामें जब तक वे वैभाविक परिणाम रहते हैं तबतक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका घात होता रहता है तथा ज्ञानादिक गुणोंका घात होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है ॥ २५४ ॥ इससे सिद्ध होता है कि रागादिक भाव ही हिंसा है । इन्हींको अधर्म अथवा व्रतोंका नाश होना कहते हैं तथा उन रागादिक परिणामोंका त्याग कर देना ही अहिंसा, धर्म अथवा व्रत है । भावार्थ—रागादिक परिणामोंका प्रगट होना ही हिंसा है और उनका त्याग कर देना ही अहिंसा है ॥ २५५ ॥ धर्मशास्त्रोंमें जो आत्मासे भिन्न अन्य प्राणियोंके शरीरकी रक्षा बतलाई है वह केवल अपने आत्माकी रक्षाके लिए है । इसके सिवाय उसका और कोई प्रयोजन नहीं है। भावार्थ—अन्य प्राणियोंकी रक्षा करनेसे शुभ परिणाम होते हैं तथा वे शुभ परि-

॥ २५५ ॥ सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणा बलात् । तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥ २५६ ॥ ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते । चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम ॥ २५८ ॥ रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया । स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥२५९॥ किन्तु बन्धस्य

णाम अशुभ बंधके रोकनेके कारण हैं और परंपरासे शुद्ध परिणामोंके कारण हैं और अशुभ बंधके रुक जानेसे वा शुद्ध परिणामोंके प्राप्त हो जानेसे आत्माका कल्याण होता है । इससे सिद्ध होता है कि आत्माका कल्याण करनेके लिए ही अन्य प्राणियोंकी रक्षा की जाती है ॥२५६॥ इसीप्रकार रागादिक परिणामोंके होनेपर कर्मोंका बंध अवश्य होता है तथा उन कर्मोंके उदय होनेसे आत्माको दुःख होता है । इसप्रकार सिद्ध होता है कि रागादिक भावोंसे ही आत्माका घात होता है । भावार्थ—रागादिक भावोंका त्याग करना ही व्रत है और यही आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥ २५७ ॥ इसलिए कहना चाहिए कि मोहनीयकर्मके उदयका अभाव होनेपर आत्माके शुद्ध उपयोग प्रगट होता है उसीको चारित्र कहते हैं तथा उसीको निश्चयनयसे उत्कृष्ट व्रत कहते हैं ॥ २५८ ॥ रूढिसे शुभोपयोगको भी चारित्र कहते हैं परन्तु निश्चय नयसे देखा जाय तो वह शुभोपयोगरूप चारित्र अपनी क्रिया (कर्मोंकी निर्जरा करनेरूप क्रिया) करनेमें समर्थ नहीं है । इसीलिए उसको यथार्थ चारित्र नहीं कहते हैं । वह शुभोपयोगरूप चारित्र कर्मबन्धका कारण है अतएव वह चारित्र नहीं है किन्तु चारित्रका शत्रु है अथवा चारित्रके शत्रुके समान है । ऐसा वह शुभोपयोगरूप चारित्र श्रेष्ठ नहीं कहा जाता सकता किन्तु श्रेष्ठ चारित्र शुद्धोपयोग ही कहलाता है । यह शुभोपयोगरूप चारित्र न तो आत्माका उपकार ही कर सकता है और न अपकार ही कर सकता है । भावार्थ—शुभोपयोगसे शुभ कर्मोंका बंध होता है तथा शुभ कर्मोंके उदयसे सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं । इसप्रकार यद्यपि शुभोपयोगसे इंद्रियजन्य सुख प्राप्त होते हैं तथापि आत्माका वास्तविक अतीन्द्रिय सुख उससे नष्ट ही होता है । जबतक कर्मोंका बन्ध होता रहता है तबतक अतीन्द्रिय सुख प्राप्त नहीं होता, वह अतीन्द्रियसुख शुद्धोपयोगसे ही प्राप्त होता है इसलिए कहना चाहिए कि शुभोपयोग कर्मबन्धका कारण है और इसीलिए उसे यथार्थ चारित्र नहीं कहते हैं । यह सब निश्चयनयसे कहा गया है यदि व्यवहार

हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् । नासौ वर वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ २६० ॥ विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् । बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥ २६१ ॥ नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः । अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ॥ २६२ ॥ कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् । धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्रसंज्ञिकः ॥२६३॥ उक्तं च । चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥२६४॥

दृष्टिसे देखा जाय तो शुभोपयोग अच्छा ही है और परम्परासे आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥ २५९-२६०॥ विचार करनेसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो जाती है कि यह शुभोपयोगरूप चारित्र विरुद्ध कार्य करनेवाला है क्योंकि यह निश्चित है कि शुद्धोपयोगके सिवाय बाकीके सब उपयोग कर्मबन्धके सर्वथा कारण हैं । भावार्थ—शुद्धोपयोगसे तो कर्मका बन्ध नहीं होता, बाकी सबप्रकारके उपयोगोंसे कर्मोंका बन्ध होता है। शुभोपयोग भी शुद्धोपयोगसे भिन्न है इसलिए वह भी कर्मबन्ध ही करनेवाला है अतएव वह चारित्र नहीं है किन्तु चारित्रके विरुद्ध कार्य करनेवाला है ॥ २६१ ॥ अपनी बुद्धिके दोषसे ऐसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोगसे अंशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा होती है, शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग दोनों ही कर्मोंकी निर्जराके कारण तो सर्वथा नहीं है किन्तु ये दोनों संवरके भी कारण नहीं हैं। भावार्थ-शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही कर्मबंधके ही कारण हैं, संवर वा निर्जराके कारण नहीं है ॥ २६२ ॥ कर्मोंको ग्रहण करनेवाली क्रियाओंका रुक जाना ही स्वरूपाचरणचारित्र है, वही स्वरूपाचरणचारित्र धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और उसीको यथार्थ चारित्र कहते हैं ॥ २६३ ॥ यह बात अन्य ग्रन्थोंमें भी लिखी है। यथा-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।

अर्थ—निश्चयसे चारित्र ही धर्म है तथा धर्म उसे कहते हैं जो आत्माके अत्यन्त उपशम वा शांत परिणाम हो जाते हैं तथा शांत परिणाम उन्हींको कहते हैं जहांपर मोह और क्षोभसे रहित आत्माके परिणाम प्रगट होते हैं। भावार्थ—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनोंके अभाव होनेपर जो आत्माके शुद्ध परिणाम प्रगट होते हैं उन्हींको शान्तभाव वा धर्म कहते हैं और वही धर्म चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्रसे ही कर्मोंका संवर वा निर्जरा होती है ॥ २६४ ॥

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः । समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥ सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः । त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयम-

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग होते हैं तथा ये तीनों ही मिलकर मोक्षके मार्ग होते हैं अलग अलग मोक्षके मार्ग नहीं होते फिर भला चारित्रको ही धर्म बतलानेकी क्या आवश्यकता है ? चारित्रको ही संवर और निर्जराका कारण क्यों बतलाया है ? इस शंकाके उत्तरमें कविराज कहते हैं कि यह कहना ठीक है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही मोक्षके मार्ग हैं किन्तु हमने जो चारित्रको ही धर्म बतलाया है तथा चारित्रको ही निर्जराका कारण बतलाया है उसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यक्चारित्रमें अन्तर्भूत हैं क्योंकि ये तीनों ही अविनाभावी हैं तथा अविनाभावी होनेसे ही रत्नत्रय अखंण्डित कहे जाते हैं। भावार्थ—इन तीनोंका क्रम यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान धारण करना चाहिए और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ साथ प्रगट होते हैं तथापि सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान धारण करना चाहिए इसका अभिप्राय सम्यग्ज्ञानको बढाना है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है तथापि जो यह लिखा है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद सम्यक्चारित्रको धारण करना चाहिए इसका अभिप्राय क्रियारूप वा महाव्रतादिरूप सम्यक्चारित्रका धारण करना है। यही सिद्धांत है। इस सिद्धांतके अनुसार यह बात अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यक्चारित्रके अन्तर्भूत हैं तथा यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि ये तीनों ही अविनाभावी हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र होता ही है तथा सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते ही हैं। इसप्रकार विचार करनेसे यह बात अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि ये तीनों अविनाभावी हैं और तीनों ही अखण्डित हैं। अर्थात् अलग अलग नहीं है किन्तु तीनों ही एक रूप रहते हैं। इसलिए वे मोक्षके कारण हैं ॥ २६५ २६६ ॥

इसका खुलासा पंचाध्यायीमें इसप्रकार लिखा है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उत्तरोत्तर चिंतनीय हैं तीनोंमेंसे पहले पहलेके होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं परंतु उत्तर उत्तरके होनेपर पहले पहलेका होना अवश्यंभावी है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं क्योंकि जिस समय आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसी समय मति-अज्ञान श्रुतअज्ञानकी निवृत्तिपूर्वक आत्मामें सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान प्रगट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला तो ज्ञानचरणकर्मका क्षयोपशम है परंतु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है इसीलिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियमसे हो जाती है परंतु ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान भजनीय है इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र हो ही हो क्योंकि चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो हो जाता है किन्तु सम्यक्चारित्र वहां नहीं है। वह पांचवें गुणस्थानमें शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र भी आत्मामें प्रगट हो जाता है। इसका कारण यही है कि सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व। इन सातोंमें अंतके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्रमोहनीयके हैं। अनन्तानुबन्धी-

कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दोप्रकारकी शक्ति है। वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीकषायका उदय दूसरे गुणस्थानतक रहता है इसीलिए चौथे गुणस्थानमें निराबाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट रहता है परन्तु जब प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें एक समयसे लेकर छह आवली काल बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है। सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है।

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जब स्वरूपाचरणचारित्र और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं इसीलिए ग्रन्थकारने तीनोंको अविनाभावी बतलाते हुए तीनोंको अखण्डित कहा है परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र नहीं है क्योंकि क्रियारूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। इसीसे पहले यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी, अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है। यहांपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभाव होनेपर भी उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नहीं होना चाहिए क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही हो जाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है। इसका भी कारण यही है कि चारित्रगुणको घात करनेवाली चारित्रमोहनीयकषाय दशवें गुणस्थानके अंतमें सर्वथा नष्ट हो जाती है और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणकर्म बारहवें गुणस्थानके अंतमें नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परंतु इस शंकाका समाधान इसप्रकार है कि यद्यपि स्थूलदृष्टिसे यह शंका ठीक प्रतीत होती है परंतु सूक्ष्म-

दृष्टिसे विचार करनेपर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जा चुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि चारित्रमोहनीयकर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है तथापि एकदृष्टिसे उसे अभी पूर्णचारित्र नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि चारित्रमोहनीय उसका घातक था, जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्णचारित्र कहा जाता है अथवा जब कि तब भी पूर्णचारित्र नहीं कहा जाता है तो कहना चाहिए कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामें बाधक है। तर्कणा ठीक है परन्तु विपक्षमें दूसरी तर्कणाएं भी उठाई जा सकती हैं कि यदि चारित्रमोहनीयके नष्ट होनेपर चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ही मोक्ष क्यों नहीं हो जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेंमें हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानमें हो जाती है और जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहांपर ही मोक्षका होना आवश्यक है अन्यथा रत्नत्रयमें समर्थकारणता ही नहीं आ सकती है। तीनोंकी पूर्तिके उत्तर क्षणमें ही मोक्षकी प्राप्तिका होना अवश्यम्भावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षकी प्राप्ति चौदहवें गुणस्थानमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि अभीतक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ त्रुटि अवश्य है और चारित्र ही मोक्षकी प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषंगिक है। वह इसप्रकार है—जिसप्रकार आत्माका चारित्रगुण है उसीप्रकार योग भी आत्माका गुण है। चारित्रगुण निर्जराका हेतु है परन्तु योगगुण मन बचन कायरूप अशुद्धावस्थामें कर्मको ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थानतक चारित्र योगके साथ ही अपूर्ण बना रहा है। दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि उसको अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभीतक अपना कार्य कर रहा है इसलिए चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषंगिक दोषी बनना पडता है। यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि चारित्र और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिसप्रकार

खण्डितम् ॥ २६६ ॥ किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः । सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥ अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।

योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसीप्रकार चारित्र भी समझा जाता है । जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आ जाती है तभी चारित्र भी आनुषंगिक दोषसे मुक्त हो जाता है इसीलिए शास्त्रकारोंने यथाख्यातचारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है । वहींपर परमावगाढसम्यक्त्व भी बतलाया है इसीलिए चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहींपर मोक्षकी प्राप्ति होती है । इससे रत्नत्रयमें समर्थकारणता भी सिद्ध हो जाती है । इतने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है । सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं है किन्तु अवश्यम्भावी हैं क्योंकि बिना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता है इसीलिए ग्रन्थकारने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है । जिसप्रकार चारित्रमें दोनों गर्भित हैं उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है ।

यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके प्रगट होनेमें सम्यग्दर्शन कारण है और वह कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग्विशेषणकी अपेक्षासे है । भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके उत्पन्न होनेमें सम्यग्दर्शन कारण नहीं है किंतु सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं । बिना सम्यग्दर्शनके वे मिथ्या गिने जाते हैं और सम्यग्दर्शनके होनेपर वे सम्यक् कहे जाते हैं इसीलिए सम्यग्दर्शन तीनोंमें प्रधान समझा जाता है ॥ २६७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि उनमें जो नवीन सम्यक्पना आता है वह सम्यग्दर्शनके होनेसे ही आता है । भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनोंका ही कारण सम्यग्दर्शन है तब यों कहना चाहिए कि सम्यग्दर्शनकारण और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों ही उसके कार्य हैं तथा यह नियम है कि कार्यसे कारणका अनुमान हो जाता है इसलिए सम्यक्चारित्रके

भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥ शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी । सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोथवापि च ॥२६९॥ यत्पुनर्द्रव्य-चारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् । न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥ तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् । मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥२७१॥ बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्य. समासात्प्रश्नकोविदैः । रागांशैबध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥२७२॥ उक्त च । येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं

कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी सत्ता अपनेआप सिद्ध हो जाती है अर्थात् ये दोनों ही सम्यक्-चारित्रके अन्तर्भूत सिद्ध हो जाते हैं। अतएव पहले जो यह कहा गया था कि "जब तीनों ही मोक्षमार्ग हैं तो केवल चारित्रको ही धर्म क्यों बतलाया है" यह शंका अपनेआप निर्मूल सिद्ध हो जाती है ॥ २६८ ॥ आगे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखाते हुए कहते हैं कि जिससे आत्माकी शुद्धोपलब्धि प्रगट होती है ऐसी जो अति-शय ज्ञानको प्रगट करनेवाली लब्धि (मतिज्ञानावरणकर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है अथवा आत्माका शुद्ध भाव अथवा शुद्धानुभूति भी सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है। भावार्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव सम्यग्दर्शनके होनेसे ही होता है ॥ २६९ ॥ इसीप्रकार और भी जो द्रव्यचारित्र है अथवा श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शनरहित है तो न तो वह सम्यग्ज्ञान है और न वह सम्यक्चारित्र है। यदि विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र है तो केवल कर्मोंका बन्ध करनेवाला है। भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ग्यारह अंगोंका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है और जितना क्रियारूप चारित्र है वह सब मिथ्याचारित्र कहलाता है ॥२७०॥ इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही अविनाभावी हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन करनेसे भी कहीं किसीप्रकारका कोई दोष नहीं आ सकता। थोडेमें यों समझ लेना चाहिए कि मोक्षमार्ग एक साध्य है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उसके साधन हैं ॥२७१॥ जो प्रश्न वा शंका करनेमें अत्यन्त चतुर हैं ऐसे विद्वान् लोगोंको संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका भी स्वरूप जान लेना चाहिए और वह अत्यन्त संक्षेपसे यह है कि रागरूप परिणामोंके अंशसे कर्मोंका बन्ध होता है तथा बिना रागरूप परिणामोंके बन्ध कभी नहीं होता। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं

खण्डितम् ॥ २६६ ॥ किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः । सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥ अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।

योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसीप्रकार चारित्र भी समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आ जाती है तभी चारित्र भी आनुषंगिक दोषसे मुक्त हो जाता है इसीलिए शास्त्रकारोंने यथाख्यातचारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है। वहींपर परमावगाढसम्यक्त्व भी बतलाया है इसीलिए चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहींपर मोक्षकी प्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थकारणता भी सिद्ध हो जाती है। इतने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं है किन्तु अवश्यम्भावी हैं क्योंकि बिना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता है इसीलिए ग्रन्थकारने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है। जिसप्रकार चारित्रमें दोनों गर्भित हैं उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है।

यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके प्रगट होनेमें सम्यग्दर्शन कारण है और वह कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग्विशेषणकी अपेक्षासे है। भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके उत्पन्न होनेमें सम्यग्दर्शन कारण नहीं है किंतु सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। बिना सम्यग्दर्शनके वे मिथ्या गिने जाते हैं और सम्यग्दर्शनके होनेपर वे सम्यक् कहे जाते हैं इसीलिए सम्यग्दर्शन तीनोंमें प्रधान समझा जाता है ॥ २६७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि उनमें जो नवीन सम्यक्पना आता है वह सम्यग्दर्शनके होनेसे ही आता है। भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनोंका ही कारण सम्यग्दर्शन है तब यों कहना चाहिए कि सम्यग्दर्शनकारण और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों ही उसके कार्य हैं तथा यह नियम है कि कार्यसे कारणका अनुमान हो जाता है इसलिए सम्यक्चारित्रके

भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥ शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी । सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोथवापि च ॥२६९॥ यत्पुनर्द्रव्य-चारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् । न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥ तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् । मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥२७१॥ बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्य. समासात्प्रश्नकोविदैः । रागांशैर्बंध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥२७२॥ उक्तं च । येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं

कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंकी सत्ता अपनेआप सिद्ध हो जाती है अर्थात् ये दोनों ही सम्यक्चारित्रके अन्तर्भूत सिद्ध हो जाते हैं। अतएव पहले जो यह कहा गया था कि "जब तीनों ही मोक्षमार्ग हैं तो केवल चारित्रको ही धर्म क्यों बतलाया है" यह शंका अपनेआप निर्मूल सिद्ध हो जाती है ॥ २६८ ॥ आगे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा दिखाते हुए कहते हैं कि जिससे आत्माकी शुद्धोपलब्धि प्रगट होती है ऐसी जो अतिशय ज्ञानको प्रगट करनेवाली लब्धि (मतिज्ञानावरणकर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है अथवा आत्माका शुद्ध भाव अथवा शुद्धानुभूति भी सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है । भावार्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव सम्यग्दर्शनके होनेसे ही होता है ॥ २६९ ॥ इसीप्रकार और भी जो द्रव्यचारित्र है अथवा श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शनरहित है तो न तो वह सम्यग्ज्ञान है और न वह सम्यक्चारित्र है। यदि विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र है तो केवल कर्मोंका बन्ध करनेवाला है। भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ग्यारह अंगोंका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है और जितना क्रियारूप चारित्र है वह सब मिथ्याचारित्र कहलाता है ॥२७०॥ इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही अविनाभावी हैं । इन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन करनेसे भी कहीं किसीप्रकारका कोई दोष नहीं आ सकता। थोडेमें यों समझ लेना चाहिए कि मोक्षमार्ग एक साध्य है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उसके साधन हैं ॥२७१॥ जो प्रश्न वा शंका करनेमें अत्यन्त चतुर हैं ऐसे विद्वान् लोगोंको संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका भी स्वरूप जान लेना चाहिए और वह अत्यन्त संक्षेपसे यह है कि रागरूप परिणामोंके अंशसे कर्मोंका बन्ध होता है तथा बिना रागरूप परिणामोंके बन्ध कभी नहीं होता। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं

नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२७३॥ येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनाशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२७४॥ येनाशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बधनं भवति ॥ २७५ ॥ उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः। कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥ देवे गु[रौ] तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी। ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७६ ॥ सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय

और रागरूप परिणाम कर्मोंके बंधके कारण हैं ॥ २७२ ॥ सो ही पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है—"यह आत्मा जितने अंशोंमें सम्यग्दर्शनसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंसे उसके कर्मोंका वन्ध कभी नहीं होता तथा जितने अंशोंमें उसके राग होता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥२७३॥ इसीप्रकार जितने अंशोंमें सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध कभी नहीं होता तथा जितने अंशोंमें उसके राग रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है ॥ २७४ ॥ तथा यह आत्मा जितने अंशोंमें सम्यक्‌चारित्रसे सुशोभित रहता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध कभी नहीं होता और जितने अंशोंमें उसके राग होता है उतने अंशोंमें उसके कर्मोंका बंध अवश्य होता है"॥२७५॥इसप्रकार प्रकरण पाकर अत्यंत संक्षेपसे धर्मका स्वरूप बतलाया। अब ये कविराज उसका विस्तारपूर्वक स्वरूप समयानुसार कहेंगे ॥ २७६ ॥ इसप्रकार देव, गुरु और धर्ममें यथार्थ विश्वास करना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है यदि इसके विपरीत श्रद्धान किया जाय कुदेवमें देवका श्रद्धान करना, कुगुरुको गुरु मानना वा कुधर्मको धर्म मानना अथवा अरहंतदेव, निर्ग्रंथगुरु और अहिंसामय धर्मको न मानना मूढदृष्टि नामका दोष कहलाता है ॥ २७७ ॥ यह अमूढदृष्टि अंग सम्यग्दर्शनका गुण है। इस अमूढदृष्टी गुणसे सम्यग्दर्शनमें कोई किसीप्रकारका दोष नहीं आता है किंतु इससे सम्यग्दर्शनकी दृढता बढती है। सम्यग्दृष्टी पुरुष नियमसे इस अमूढदृष्टी अंगका पालन करता है। मिथ्यादृष्टी इस अंगका पालन कभी नहीं करता किंतु वह इससे विपरीत ही चलता है। भावार्थ—इसका खुलासा पंचाध्यायीमें इसप्रकार है—सम्यग्दृष्टीके लिए यह अमूढदृष्टी अंग अवश्य पालनीय है। यदि सम्यग्दृष्टीकी बुद्धि देव गुरु धर्मके सिवाय कुदेव कुगुरु और कुधर्मकी प्रशंसा अथवा उनकी किंचिन्मान्यताकी ओर है तो उसे मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए,

अथवा देव गुरु धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए। इसलिए अमूढदृष्टी अंग सम्यग्दृष्टीका प्रधान गुण समझना चाहिए। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टी नियमसे अमूढदृष्टी होता है। यदि वह मूढदृष्टी है तो वह सम्यग्दृष्टी नहीं है किंतु नियमसे मिथ्यादृष्टी है क्योंकि सम्यग्दृष्टी कुदेव कुगुरु कुधर्म और मिथ्याशास्त्रोंको न तो विनय करता है और न उन्हें प्रणाम ही करता है। विना मिथ्यात्वके उसकी बुद्धि कुदेवादिककी ओर कभी अनुगामी नहीं हो सकती। इसके सिवाय जो लोग सच्चे देव शास्त्र गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनकी उनमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिए। विना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सकती॥

यद्यपि सम्यग्दर्शनगुण अत्यन्त सूक्ष्म है उसका विवेचन भी नहीं किया जा सकता है। जिस आत्मामें वह गुण प्रगट होता है उसीको शुद्ध आत्माके अनुभवका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मीक अपूर्व स्वादका विवेचन बाह्यदृष्टिसे उसीप्रकार नहीं कर सकता है जिसप्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछनेपर वह उसका स्वाद ठीक ठीक प्रगट नहीं कर सकता। जिसप्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसीप्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रगटतामें होनेवाले आत्मीकरसका वह स्वयं पान करता है परंतु दूसरेसे नहीं कह सकता। तथापि जो देव शास्त्र गुरुमें पूर्ण श्रद्धा रखनेरूप व्यवहारसम्यक्त्व बतलाया है उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्वकर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहारसम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव शास्त्र गुरुमें अटल भक्ति रहती है, उनमें उसकी बुद्धि किंचिन्मात्र भी शंकित नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्यग्दृष्टीको शंका ही उत्पन्न नहीं होती है। सम्यग्दृष्टी सर्वज्ञ नहीं है। अन्य पुरुष जैसे छद्मस्थ हैं वैसे ही वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंकाओंका होना स्वाभाविक बात है इसलिए सम्यग्दृष्टी भी बहुतसी बातोंमें शंकित रहता है परंतु शंकाएं दोप्रकारकी होती हैं। एक तो १९९

लदितः। सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥ उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः। लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २७९ ॥ आत्म-

जिस पदार्थमें शंका होती है उस पदार्थमें श्रद्धारूप बुद्धि अवश्य रहती है परंतु ज्ञानकी मंदतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमें न आनेसे शंका होती है। सम्यग्दृष्टीको इसीप्रकारकी शंका होती है । वह सर्वज्ञकथित पदार्थव्यवस्था-को तो सर्वथा सत्य समझता है परंतु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमें असमर्थ है । दूसरी शंका कुमतिज्ञानके कारण होती है, कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता है किंतु सर्वज्ञकथित आगमको ही दोषी ठहराता है। वह जिस पदार्थमें शंका करता है उस पदार्थपर श्रद्धारूप बुद्धि नहीं रखता है।

ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते हैं। जो अपनेको बुद्धिमान समझते हुए आचार्योंको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नहीं समझते हैं। ऐसे ही पुरुष जिनदर्शन जिनपूजन आदि नित्य क्रियाओं-को रूढि कह कर छोड ही नहीं देते हैं किंतु दूसरोंको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते हैं। ऐसे लोगोंको यह भी कहना है कि विचारस्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिनधर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रगट करना चाहे उस प्रगट करने दो। इन्हीं बातोंका परिणाम आजकल धर्मशैथल्य और धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियोंका आंदोलन है। ये संपूर्ण बातें धर्माचार्य वा गृहस्थाचार्यके अभाव होनेसे हुई हैं। धार्मिक अंकुश अब नहीं रहा है इसलिये जिसके मनमें जो बात समाती है उसके प्रगट करनेमें वह जरा भी संकोच नहीं करता है। यही कारण है कि दिनपर दिन धर्ममें शिथिलता ही आ रही है ॥ २७८ ॥ इसप्रकार अमूढदृष्टी अंगका स्वरूप कहा।

अब आगे उपबृंहण अथवा उपगूहनअंगका स्वरूप कहते हैं। यह उपबृंहण भी सम्यग्दृष्टीका एक गुण है, जो आत्माकी शक्तियोंको अवश्य ही बढावे उसको उपबृंहण कहते हैं यही उपबृंहणगुणका लक्षण है ॥२८०॥ जो आत्माकी शक्तिमें दुर्बलता न आने दे किंतु आत्माकी शक्तिको बढाता रहे उसको उपबृंहण कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस गुणके होनेसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका कभी स्खलन

शक्तेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् । अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावास्खलनं हि तत् ॥ २८० ॥ जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने । तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ २८१ ॥ यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्बहिः । सत्क्रियां कांचिदप्यर्थात्तत्साध्यानुपयोगिनाम ॥ २८२ ॥ नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् । निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ २८३ ॥ रसेन्द्रं सेवमानोपि काम्यपथ्यं न वाचरेत् । आत्मनोनुल्लाघतामुज्झन्नोज्झन्नल्लाघतामपि ॥ २८४ ॥ यद्वा सिद्धं

न हो रत्नत्रयमें कभी किसीप्रकारकी कमी न आवे उसको ही उपबृंहणगुण कहते हैं ॥ २८० ॥ उपबृंहणगुणको धारण करनेवाला पुरुष यद्यपि पुरुषार्थपूर्वक इस संसारसंबधी समस्त बातोंको जानता है तथापि उन संसारसंबधी बातोंको या पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थपूर्वक कभी प्रयत्न नहीं करता । भावार्थ—वह जानता है परंतु उनकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं करता ॥ २८१ ॥ अथवा यों कहना चाहिये कि वह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये जो जो क्रियाएं आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें कारण है ऐसी कितनी ही बाहरसे दिखनेवाली श्रेष्ठ क्रियाओंको करता है ॥२८२॥ आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये यह सम्यग्दृष्टी लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करता है तथा प्रमादरहित होनेके कारण वह उपबृंहणगुणको धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टी बडे आदरके साथ आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है ॥२८३॥ जिसप्रकार कोई पुरुष रसायनका सेवन करता है परंतु उसकेलिये जैसा चाहिये वैसा पथ्य नहीं करता तो वह उस रसायनसे जिसप्रकार अपने रोगका नाश करता है उसीप्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है। भावार्थ—जिसप्रकार रोगको दूर करनेके लिये औषधिके साथ साथ पथ्यकी आवश्यकता होती है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुषको मोक्षमार्गमें सहायक होनेवाली बाह्यक्रियाओंकी भी अत्यंत आवश्यकता है। सम्यग्दृष्टीके क्षण क्षणमें गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है अर्थात् उसके क्षणक्षणमें असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीके विना ही किसी प्रयत्नके अपनेआप उपबृंहणगुण सिद्ध हो जाता है ॥२८५॥ यह नियम है कि उपबृंहणगुणको धारण करने वाले सम्यग्दृष्टीके समस्त कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होती है क्योंकि उसके प्रत्येक समयमें असंख्यात असंख्यात-

विनायासात्खतस्तत्रोपबृंहणम् । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८५ ॥ अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् । प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८६ ॥ न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षितौ । वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ २८७ ॥ यथा यथा विशुद्धिः स्यादुद्बुद्धिरन्तःप्रकाशिनी । तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥२८८॥ ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् । किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥२८९॥ उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः । गणितो गणनामध्ये गुणाना नागुणाय च ॥ २९० ॥ सुस्थितीकरणं नाम गुणः सद्दर्शनस्य यः । धर्माच्च्युतस्य धर्मे

गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है। भावार्थ—जब सम्यग्दृष्टीके प्रति समयमें असंख्यात असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है तो किसी न किसी दिन उसके समस्त कर्मोंका नाश अवश्य हो जायगा ॥ २८६ ॥ जब यह नियम है कि सम्यग्दृष्टीकी प्रति समयमें असंख्यात असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तो फिर यह बात न्यायसे अपनेआप सिद्ध हो जाती है कि जितने जितने अंशोंमें कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है उतने ही उतने अंशोंमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है तथा वह वृद्धि प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर बढती हुई बढती जाती है ॥ २८७ ॥ तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली आत्माकी विशुद्धि जैसी जैसी बढती जाती है वैसे ही वैसे उसे इंद्रियोंके विषयोंसे उपेक्षा होती जाती है ॥ २८८ ॥ इंद्रियोंके विषयोंसे उपेक्षा होनेसे सम्यग्दृष्टी पुरुष बडे भारी क्रियाकाण्डमें भी (अनेकप्रकारके उपवास आदि तपश्चरणमें भी) अपनी शक्तिको नहीं छिपाता है किन्तु वह तपश्चरणके करनेमें प्रयत्नपूर्वक अपनी शक्तिको बढाता जाता है ॥ २८९ ॥ इसप्रकार यह सम्यग्दृष्टीका उपबृंहणगुण भी गुणोंकी गणनामें ही गिना गया है। इससे सम्यग्दर्शनमें कोई दोष प्रगट नहीं होता। इसप्रकार उपबृंहणगुणका स्वरूप बतलाया ॥ २९० ॥

स्थितिकरणनामका गुण भी सम्यग्दर्शनका एक अंग है। जिसने धर्मको छोड दिया है अथवा जो धर्मको छोडना चाहता है उसको फिर उसी धर्ममें स्थापित करना स्थितिकरण अंग है। जो पुरुष अधर्मको छोडना चाहता है अथवा जिसने अधर्म छोड दिया है उसको फिर उसी अधर्ममें स्थापन करना स्थितिकरण नहीं है किंतु धर्ममें स्थापित करना ही स्थितिकरण है ॥२९१॥ धर्मके लिए अधर्मसेवन करनेको वृद्ध पुरुष प्रमाण नहीं

तन्नाधर्मे धर्मिणः क्षतेः ॥ २९१ ॥ न प्रमाणीकृत वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् । भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ २९२ ॥ परंपरेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः । मूर्खादन्यत्र को मोहाच्छीतार्थी वह्निमाविशेत् ॥ २९३ ॥ नैतद्धर्मस्य प्रागूरूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् । व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ २९४ ॥ प्रति-

मानते हैं। संसारमें कितने ही अज्ञानी पुरुष ऐसे हैं जो आगामी कालमें धर्मकी आशा करते हुए अधर्मके सेवन करनेका उपदेश देते हैं। भावार्थ—धर्मके लिए अधर्मका सेवन कभी नहीं करना चाहिए। कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि किसी अधार्मिक कार्यके करनेसे यदि आगे धर्म सधता हो तो वह अधार्मिक कार्य कर लेना चाहिए परंतु यह उनकी भूल है। अधर्मका सेवन करना तो सबतरहसे पाप ही है ॥२९२॥ कोई कोई कहते हैं कि अधर्मके सेवन करनेसे परंपरा धर्म होता है परंतु इस पक्षके लिए यहांपर लेशमात्र भी अवकाश नहीं है क्योंकि मूर्खको छोडकर अन्य ऐसा कौन पुरुष है जो अपने मोह वा अज्ञानके कारण शीतलताकी इच्छा करता हुआ वह्निमें प्रवेश करे? भावार्थ—कार्य कारणके अनुसार होता है। शीतलताको चाहनेवाला शीतल पदार्थोंको ही सेवन करता है उष्ण पदार्थोंका सेवन नहीं करता, यदि वह उष्ण पदार्थोंका सेवन करता है तो उससे उष्णता ही बढती है शीतलता नहीं बढती, इसीप्रकार धर्मको चाहनेवाला धर्मका ही सेवन करता है क्योंकि धर्मकी प्राप्ति धर्मके सेवन करनेसे ही होती है अधर्मके सेवन करनेसे धर्मकी प्राप्ति कभी नहीं होती। जो लोग अधर्मके सेवन करनेसे धर्मकी प्राप्ति बतलाते हैं वे बबूलके वृक्षसे आम खाना चाहते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, जिसप्रकार बबूलसे आम नहीं होते उसीप्रकार अधर्मसे कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२९३॥ अधर्मका सेवन करना धर्मका पूर्वरूप भी नहीं है क्योंकि अधर्मका सेवन करना अधर्मकी प्राप्तिमें भी कारण है इसलिए व्यभिचारी है। भावार्थ—वेदको माननेवाले मीमांसक आदि यज्ञमें अनेकप्रकारकी हिंसा करके भी धर्म मानते हैं और उसी यज्ञसे स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं परन्तु मीमांसकोंका यह सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है क्योंकि जहां जहां हिंसा है वहां वहां पाप है। यज्ञमें जो जीव मारे जाते हैं वे संकलपपूर्वक मारे जाते हैं इसलिए यज्ञ करनेमें त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा होती है जो कि साक्षात् नरकका कारण है। इससे सिद्ध होता है कि अधर्मसे पापकी ही वृद्धि होती है, अधर्मसे धर्मकी

सूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः । धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ २९५ ॥ तत्स्थितीकरणं द्वेधा साक्षात्स्वपरभेदतः । स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात् परतत्त्वे परस्य तत् ॥ २९६ ॥ तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः । भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ २९७ ॥ अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स

प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २९४ ॥ यह सर्वत्र नियम है कि जबतक इस जीवके समय समयमें कर्मोंका उदय होता रहता है तबतक धर्म और अधर्म दोनों ही हो सकते हैं । भावार्थ—कर्मोंके उदयके अभावमें तो शुद्ध आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होती ही है परन्तु जब कर्मोंका उदय होता है तब उसकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए अधर्मका सेवन कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि अधर्मके सेवनसे पापकर्मोंका बन्ध होता ही है ॥ २९५ ॥ उस स्थितिकरणके दो भेद हैं । एक अपने आत्माका साक्षात् स्थितिकरण करना और दूसरा अन्य पुरुषोंका स्थितिकरण करना । यदि अपना आत्मा अपने धर्मसे पतित हो गया हो अथवा पतित होनेके सन्मुख हो तो उसे अपने आत्मामें ही स्थिर कर देना उसे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत न होने देना स्वस्थितिकरण कहलाता है तथा जो दूसरा पुरुष अपने आत्माके स्वभावको छोडता हो वा छोड चुका हो तो उसको भी उसके स्वभावमें स्थिर करना, उसको रत्नत्रयरूप धर्ममें लगाना परस्थितिकरण है । इस प्रकार स्थितिकरणके दो भेद हैं ॥ २९६ ॥ इन दोनोंमेंसे मोहनीयकर्मके तीव्र उदयसे जब यह आत्मा अपने आत्माकी परिस्थितिसे च्युत हो जाता है या च्युत होने लगता है उस समय अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर करना स्वस्थितिकरण कहलाता है ॥ २९७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि यह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने कर्मोदयकी तीव्रतासे सम्यग्दर्शनसे गिर जाता है तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शनको पा कर फिर उन्नत हो जाता है । भावार्थ—जब दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम हो जाता है तब तो इसके परिणामोंकी शुद्धता बढ जाती है और जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो आता है तब यह जीव अपनी शुद्धतासे छूट जाता है ॥२९८॥ अथवा कभी कभी ऐसा भी होता है कि अपनी कारणसामग्रीके बने रहनेसे (दर्शनमोहनीयके उदय न होनेसे) यह जीव अपने सम्यग्दर्शनसे नहीं छूटता है तथापि अन्य कारणसामग्रीके मिलनेसे

पतत्यधः । व्रजत्यूर्द्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ २९८ ॥ अथ क्वचिद्यथाहेतोर्दर्शनादपतन्नपि । भावशुद्धिमधोधोंशैर्गच्छत्यूर्द्ध्वं स रोहति ॥ २९९ ॥ क्वचिद्वहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति । न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराचरेत् ॥ ३०० ॥ यद्वा वहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च । कदाचिद्धीयमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ३०१ ॥ नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः । अस्ति तरतमस्वांशैः गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ३०२ ॥ अत्राभिप्रेतमेवैतत् स्वस्थितीकरणं

(सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे) अपने भावोंकी शुद्धता कम करता जाता है अथवा (सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके अनुदय होनेसे) कभी कभी कारणसामग्रीके मिलेनेसे अपनी शुद्धताको बढाता जाता है। भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मके अनुदय होनेपर भी अन्य कारणसामग्रीके मिलनेसे आत्माके परिणामोंकी शुद्धता कभी घट जाती है और कभी बढ जाती है ॥ २९९ ॥ अथवा कभी कभी बाह्यरूपसे धारण किये हुए अणुव्रत महाव्रत आदि शुभ आचरणोंको छोड देता है अथवा कभी नहीं भी छोडता है तथा कभी कभी छोड करके भी फिर दुवारा धारण कर लेता है ॥३००॥ अथवा कभी कभी धारण किये हुए अणुव्रत महाव्रत आदि वाह्य क्रियाचरणोंको ज्योंका त्यों पालन करता है तथापि अपने अन्तरंग भावोंकी अपेक्षा नीचेको उतरता जाता है। भावार्थ—यद्यपि उसके वाह्य आचरणमें कुछ अन्तर नहीं आता है तथापि अन्तरंग परिणामोंमें मलिनता आ जाती है ॥३०१॥ इसप्रकार अंतरंग परिणामोंकी शुद्धिका घटना वा बढना असंभव नहीं है क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय अपने न्यूनाधिक निषेकोंके द्वारा हुआ करता है। भावार्थ—चारित्रमोहनीय कर्मकी वर्गणा कभी अधिक और कभी कम उदयमें आती हैं। जब वे वर्गणाएं अधिक उदयमें आती हैं तब परिणामोंकी संक्लेशता बढ जाती या आत्माके परिणामोंकी शुद्धता घट जाती है और जब वे वर्गणाएं कम उदयमें आती हैं तब परिणामोंकी शुद्धता बढ जाती है। इसप्रकार चारित्रमोहनीयके हीनाधिक उदय होनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढती घटती रहती है। ॥३०२॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि यह स्वस्थितिकरण अपनेआप होता रहता है तथा उसमें आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है। भावार्थ—कर्मोंके तीव्र उदयसे आत्माकी स्थिरता नष्ट हो जाती है और उन्हीं कर्मोंके मंद उदय होनेसे अथवा उनके उदयका अभाव होनेसे आत्माकी शुद्धि बढ जाती है और शुद्धि

स्वतः । न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ३०३ ॥ सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् । भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ३०४ ॥ धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे । नात्मवृत्तं विहायाशु तत्परः पररक्षणे ॥ ३०५ ॥ उक्तं च । आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ पर हिदं च कादव्वं । आदहिदपर-

बढ जानेसे आत्मा अपने आत्मामें स्थिर हो जाता है। इसप्रकार यह स्वस्थितिकरण अपनेआप होता रहता है ॥३०३॥ दूसरे पुरुषोंका श्रेष्ठ वा बिना किसी बदलेकी इच्छाके उपकार करना परस्थितिकरण है। जो मनुष्य अपने आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट हो चुके हैं उनको फिर आत्मस्वरूपमें स्थापन करना परस्थितिकरण कहलाता है।३०४। धर्मका उपदेश अथवा आदेश देकर दूसरे पुरुषोंका उपकार करना चाहिये। अपने चारित्रको छोडकर दूसरेके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करनमें कभी तत्पर नहीं होना चाहिये। भावार्थ—अपने सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करना सबसे पहला कर्तव्य है। अपने सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा करते हुए दूसरेके सम्यक्त्व वा चारित्रकी करनी चाहिये। यदि अपना सम्यक्त्व वा चारित्र छोड कर दूसरके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा होती हो तो ऐसी अवस्थामें अपना सम्यक्त्व वा चारित्र कभी नहीं छोडना चाहिये चाहे उसके सम्यक्त्व वा चारित्रकी रक्षा हो वा न हो ॥३०५॥ लिखा भी है—सबसे पहले अपने आत्माका हित करना चाहिये। यदि अपने आत्माका हित करते हुए जो दूसरेका हित हो सकता हो तो उसके आत्माका हित भी करना चाहिये, अपने आत्माका हित और दूसरेके आत्माका हित इन दोनोंमें अपने आत्माका हित करना ही सर्वोत्तम है इसलिए सबसे पहले उसे ही करना चाहिये। भावार्थ—इन दो श्लोकोंसे यह बात अच्छीतरह सिद्ध हो जाती है कि अपने आत्माका हित करना मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य है। यह निश्चित है कि जबतक यह आत्मा अपने आत्माका कल्याण नहीं कर लेता है तबतक वह दूसरेकी आत्माका कल्याण नहीं कर सकता। तीर्थंकर परमदेव जब सर्वज्ञ और वीतराग हो जाते हैं अरहंतपद प्राप्त कर लेते हैं तभी वे धर्मोपदेश दे कर अनंत जीवोंका उपकार करते हैं। आचार्य जो मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं उन्हें मोक्षमार्गमें लगाते हैं वे भी अपना पूर्ण तपश्चरण करते हुए ही मुनियोंका उपकार करते हैं। जिस समय वे इससे उच्च अवस्थास्वरूप मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय वे उस आचार्यपदको

भी त्याग कर स्वयं साधुपदमें आ जाते हैं, जैसा कि पहले लिख चुके हैं इसलिये यह कथन सर्वथा ठीक है कि अपने आत्माका हित करना ही सबसे उत्तम है। यह ध्यान रखना चाहिये कि अपने आत्माका हित करना स्वार्थमें शामिल नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वही स्वार्थ कहलाता है। जहां जहां प्रमाद है वहीं वहीं स्वाथ है परंतु अपने आत्माका हित करनेवाला सर्वथा प्रमादरहित होता है क्योंकि जो प्रमादी होता है वह अपने आत्माका हित कर ही नहीं सकता इसलिए आत्माका हित करनेवाला कभी स्वार्थी नहीं हो सकता। श्री ऋषभदेवने दीक्षा ली थी उस समय उनके साथ हजारों राजाओंने दीक्षा ली थी परंतु तपश्चरणकी विधिको जाननेके कारण वे राजा जब भ्रष्ट होने लगे तब भी श्रीऋषभदेवने तबतक उपदेश दे कर उनका उपकार नहीं किया जबतक कि उन्होंने अपने आत्माका पूर्ण हित नहीं कर लिया। इससे सिद्ध होता है, कि धर्मोपदश देनेका वही अधिकारी है जिसने अपने आत्माका हित कर लिया है। जिसने अपने आत्माका हित नहीं किया है उसको धर्मोपदश देनेका वा परोपकार करनेका कोई अधिकार नहीं है।

यद्यपि परोपकार करना पुण्य है परंतु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्महितको जो स्वार्थ बतलाते हैं वे आत्महितका स्वरूप ही नहीं समझते हैं। आचार्योंने परोपकारको भी स्वोपकार ही बतलाया है। यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि परोपकारमें भ्रष्ट होना ही पडता है जैसे विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड दिया था परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि यद्यपि विष्णुकुमारने विशेष हानि देखकर ऐसा किया था तथापि उन्होंने उसी समय प्रायश्चित्त ले कर अपने आत्मपदका ग्रहण कर लिया था। वर्तमानमें जो लोग परोपकार करते हैं वे आत्मकल्याणको छोड कर करते हैं। वे जो कुछ देशोद्धार आदि परोपकार करते हैं वे सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट हो कर उस कार्यको करते हैं इसलिए उनका वह काय आत्मकल्याणसे रहित होनेके कारण हेय वा त्याज्य समझा जाता है ॥ २०६ ॥ इसप्रकार

हिदादो आदहिदं सुट्ठुकादव्वं ॥ ३०६ ॥ उक्तं दिग्मात्रतोप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः । निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ३०७ ॥ वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु । संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ३०८ ॥ अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् । सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥३०९॥ यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् । तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ३१० ॥ तद्द्विधाऽय च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् । प्रधानं स्वा-

यहांपर संक्षेपसे स्थितिकरण अंगका स्वरूप बतलाया । यह गुण सम्यग्दृष्टीके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए प्रसिद्ध है । भावार्थ—स्थितिकरण अंगके कारण ही सम्यग्दृष्टीके प्रति समय असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है ॥ ३०७ ॥

अब आगे वात्सल्य अंगका स्वरूप कहते हैं । जिसप्रकार सेवक पुरुष अपनेको सेवक समझ कर स्वामीका कार्य करता है उसीप्रकार सिद्ध परमेष्ठी, भगवान अरहन्तदेवकी प्रतिमा, जिनमन्दिर, मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविकारूप चारोंप्रकारका संघ और शास्त्रोंकी सेवा करना तथा अपनेको इन सबका सेवक समझ कर सेवा करना वात्सल्य अंग कहलाता है ॥ ३०८ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जो सिद्ध परमेष्ठी वा अरहन्तदेवकी प्रतिमा संघ, शास्त्र आदि पूज्य बतलाये हैं यदि उनमेंसे किसी एकपर भी कोई किसीप्रकारका उपसर्ग आवे तो उसके दूर करनेके लिए सम्यग्दृष्टी पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये ॥ ३०९ ॥ अथवा जबतक अपने आत्मामें सामर्थ्य है, जबतक मंत्रकी शक्ति है, जबतक तलवारका जोर है और जबतक अपने खजानेका (द्रव्य वा धनका) जोर है तबतक सम्यग्दृष्टी पुरुष उनपर आई हुई विपत्तिको न तो देख सकता है और न सुन सकता है । अभिप्राय यह है कि उनपर आई हुई किसी भी बाधाको वह सहन नहीं कर सकता । भावार्थ—अपने परमपूज्य देव, देवालय, मुनि, आर्जिका, शास्त्र वा और भी किसी धर्मायतनपर किसीप्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिसप्रकार हो सके उसीप्रकारसे दूर कर देना चाहिये, अपनी सामर्थ्यसे, मंत्रशक्तिसे, द्रव्यबलसे, आज्ञासे, सेनाके बलसे, जिसतरहसे बने उसीतरहसे दूर कर देना चाहिए । यही सम्यग्दृष्टीका वात्सल्यगुण है ॥ ३१० ॥ वह वात्सल्यगुण दो प्रकारका है । एक स्ववात्सल्य और दूसरा परवात्सल्य । अपने आत्मामें प्रेम कर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें

त्मसम्बन्धिगुणो यावत्परात्मनि ॥ ३११ ॥ परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कस्यचित्। न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ३१२ ॥ इतरत्प्रागिहाख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् । शुद्धध्यानवलादेव सतो बाधापकर्षणम् ॥ ३१३ ॥ प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै । उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ३१४ ॥ अर्थात्तद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि । धर्मपक्षक्षतेर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥ ३१५ ॥ पूर्ववत्सोपि द्वैविध्यः स्वान्यात्मभेदतः पुनः । तत्राद्यो वरमा-

आनेवालीं बाधाओंको दूर करना स्ववात्सल्य है तथा दूसरे धर्मात्माओंमें प्रेम कर उनके तपश्चरणमें आनेवाली बाधाओंको दूर करना परवात्सल्य है। इन दोनोंमें स्ववात्सल्य मुख्य है और परवात्सल्य गौण है ॥ ३११ ॥ अनेकप्रकारकी परीषह और उपसर्गोंसे पीडित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ आचरणोंमें, ज्ञानमें, ध्यानमें, शिथिलता नहीं आने देना स्ववात्सल्य कहलाता है। भावार्थ—उपसर्गादिकके आनेपर भी अपने ज्ञान ध्यानमें लीन बने रहना, अपने आत्मस्वरूपकी सेवा करते रहना स्ववात्सल्य है॥ ३१२ ॥ परवात्सल्यगुणका स्वरूप जो पहले (श्लोक-३०८ में) बतलाया है वही है। यह वात्सल्यगुण निश्चयसे सम्यग्दृष्टीका ही गुण है क्योंकि शुद्धज्ञानके द्वारा ही सर्वप्रकारकी बाधाएं दूर की जा सकती हैं। भावार्थ—यह पहले बता चुके हैं कि सम्यग्दृष्टीका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान वा शुद्ध ज्ञान है क्योंकि सम्यग्दृष्टीके शुद्ध ज्ञानमें ही शुद्धात्माकी अनुभूति होती है तथा जिस समय इस जीवको शुद्ध आत्माकी अनुभूति होती है उस समय कितनी ही विघ्नबाधाएं क्यों न आवें वे उस शुद्ध आत्माकी अनुभूतिमें बाधक नहीं हो सकतीं। यह शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका ही प्रभाव है तथा शुद्ध आत्माकी अनुभूति सम्यग्दृष्टीके ही होती है इसलिए यह गुण भी सम्यग्दृष्टीका ही गुण कहा जाता है॥ ३१३ ॥ इसप्रकार वात्सल्य अंगका लक्षण कहा।

अब आगे प्रभावना अंगका स्वरूप कहते हैं। यह प्रभावनागुण भी सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण है। आत्माके स्वरूपकी उन्नति करना अथवा भगवान अरहंतदेवके कहे हुए धर्मकी उत्कृष्टता प्रगट करना प्रभावना अंग है। प्रभावना अंगका लक्षण आचार्योंने यही बतलाया है॥ ३१४ ॥ जो धर्मरहित पापरूप कार्य हैं उनकी उन्नति किंचित्मात्र भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह नियम है कि यदि अधार्मिक कार्योंकी उन्नति की जायगी, अधा-

देयः स्यादादेयोऽपरोप्यतः ॥ ३१६ ॥ उत्कर्षो यद्बलाद्विक्रमाद्धि की करणं वृषे । असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषायतत्क्वचित् ॥ ३१७ ॥ मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः । जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ३१८ ॥ नायं स्यात्पौरुषायत्तः किन्तु नूनं स्वभावतः । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः शुद्धिर्यथोत्तरा ॥ ३१९ ॥ बाह्यप्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः । तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ३२० परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् । चम-

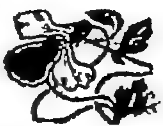
र्मिक कार्योंमें सहायता दी जायगी तो उससे धर्मका नाश अवश्य होगा ॥ ३१५ ॥ पहलेके समान यह प्रभावना अंग भी दोप्रकार है । एक स्वप्रभावना और दूसरी परप्रभावना । इन दोनोंमें पहली स्वप्रभावना सर्वोत्तम है और आदेय है, ग्रहण करने योग्य है । इसके अनन्तर दूसरी परप्रभावना भी उत्तम और ग्रहण करने योग्य है ॥३१६॥ किसी भी प्रकारके विघ्न न होनेपर बलपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक) धर्मकी वृद्धि करना उन्नति करना धर्मका उत्कर्ष वा प्रभावनाअंग कहलाता है । यह प्रभावनाअंग सम्यग्दर्शनमें किसीप्रकारका दोष उत्पन्न नहीं कर सकता किंतु उसकी विशुद्धिको बढाता ही रहता है ॥ ३१७ ॥ मोहनीयकर्मरूपी शत्रुके नाश हो जानेपर यह जीव शुद्ध हो जाता है, फिर यह मोहनीयकर्मरूपी शत्रु जैसे जैसे अधिक अधिकरूपसे नष्ट होता जाता है वैसे ही वैसे इस जीवकी शुद्धता और बढती जाती है । कोई जीव उस शुद्धतासे और अधिक शुद्ध हो जाता है, फिर वही जीव उससे भी अधिक शुद्ध हो जाता है और फिर वही जीव समस्त मोहनीयकर्मके नाश होनेसे सबसे अधिक शुद्ध हो जाता है । इसको आत्माकी प्रभावना वा स्वप्रभावना कहते हैं ॥ ३१८ ॥ इसप्रकार आत्माकी उन्नति करनेमें पुरुषार्थ कारण नहीं है किंतु इसप्रकारकी उन्नति स्वभावसे ही होती है । इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुषके प्रतिसमय असख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तथा जैसे जैसे कर्मोंकी निर्जरा अधिक अधिक होती रहती है वैसे ही वैसे आत्माकी शुद्धि बढती जाती है, इसप्रकार इस शुद्धिकी उत्कर्षता अपनेआप होती है किसी पुरुषार्थसे नहीं होती ॥ ३१९ ॥ विद्याके बलसे, मंत्रके बलसे, तप करके, दान दे करके अथवा और भी उत्तम उत्तम धार्मिक कार्योंके द्वारा जैनधर्मकी उत्कृष्टता प्रगट करनी चाहिए । इसको बाह्यप्रभावना अंग कहते हैं ॥ ३२० ॥ जो लोग मिथ्यात्वको बढानेमें लगे हुए हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियोंकी हीनता प्रगट करनेके लिए

त्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ३२१ ॥ उक्तः प्रभावनांगोपि गुणः सद्दर्शनस्य वै । येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ३२२ ॥

इतिश्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायामष्टांगसम्यग्दर्शन-वर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

महात्माओंको कुछ चमत्कार करनेवाले कार्य भी करने चाहिए। भावार्थ—यह नियम है कि दूसरेका खंडन किये बिना अपना मंडन नहीं होता है, इसीप्रकार दूसरोंकी हीनता दिखलाये बिना अपनी उत्कर्षता हो नहीं सकती अतएव अपनी उत्कर्षता दिखलानेके लिए मिथ्यादृष्टियोंकी हीनता अवश्य दिखलानी चाहिए ॥ ३२१ ॥ इसप्रकार यह प्रभावनाअंग भी सम्यग्दर्शनका गुण बतलाया। इस प्रभावनाअंगके साथ साथ सम्यग्दर्शनके आठों गुण पूर्ण हो जाते हैं। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके सात अंग पहले कह चुके हैं, यह प्रभावनाअंग आठवां अंग है ॥ ३२२ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटीसंहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका वर्णन करनेवाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः ।

अष्टाङ्गदर्शनं सम्यग्भूयाद्वः श्रेयसे दृढम् । साधु दूदात्मजोदामधर्मारामैकफामन ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

शुद्धदर्शनिकोदान्तो भावैः सातिशयः क्षमी । ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ॥ १ ॥ शरीरभवभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् । अक्षातीतसुखैषी यः

पांचवां सर्ग

हे श्रेष्ठ दूदाके सुपुत्र ! हे उत्कृष्ट धर्मके सुंदर बाग ऐसे हे फामन ! यह आठों अंगोंसे सुशोभित तथा सर्वोत्तम और अत्यंत दृढ सम्यग्दर्शन तुम्हारा कल्याण करनेवाला हो । इति आशीर्वाद ।

जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो अनेकप्रकारके तपश्चरणादिके क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, जिसके परिणामोंकी शुद्धता अत्यंत विलक्षण और सबसे अधिक है, जो क्षमाको धारण करनेवाला है, जिसका मन वचन काय सरल है, जो इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेवाला है और जो अत्यंत धीर वीर है वही पुरुष व्रतोंको धारण कर सकता है । भावार्थ—व्रत धारण करना सबसे कठिन् कार्य है इसकेलिए सबसे पहले सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है । यदि सम्यग्दर्शन न हो तो धारण किए हुए व्रत भी मिथ्याव्रत कहलाते हैं इसलिये व्रत धारण करनेके पहले सम्यग्दर्शनकी अत्यंत आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी व्रतोंको वही धारण कर सकता है जिसमें क्लेश सहन करनेकी शक्ति हो, जिसमें क्लेश सहन करनेकी शक्ति नहीं है उससे व्रत कभी नहीं धारण किए जा सकते । तदनंतर परिणामोंकी शुद्धता होनी चाहिए, बिना परिणामोंकी शुद्धताके व्रत कभी भी धारण नहीं किए जा सकते । इसीप्रकार व्रतीको क्षमावान् होना चाहिए, मन वचन काय तीनों सरल होने चाहिए. यदि मन वचन काय सरल नहीं होंगे, हृदयमें छलकपट होगा वा माया मिथ्या निदान तीनों शल्य होंगे तो भी व्रत धारण करना व्यर्थ होगा इसलिए व्रतीके मन वचन काय तीनों सरल होने चाहिए, इसीप्रकार व्रत धारण करनेवालेको जितेन्द्रिय होना चाहिए । जो अपनी इन्द्रियोंको भी अपने वशमें नहीं कर सकेगा वह व्रतों-

स स्यान्नून व्रतार्हतः ॥ २ ॥ न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा ततः । लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दयः कुधीः ॥ ३ ॥ मूढोमूढो सच प्रायो (?) जाज्ञ-

को किसप्रकार धारण कर सकेगा इसलिए व्रतीको जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है, इसीप्रकार व्रतीको धीर-वीर होना चाहिए, जो धीरवीर नहीं होता वह अपने व्रतोंसे विचलित हो सकता है अतएव व्रतोंको दृढता-पूर्वक धारण करनेके लिए धीरवीर होना भी अत्यावश्यक है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें जितने गुण बतलाए हैं वे सब होंगे तब उसमें व्रत धारण करनेकी योग्यता प्राप्त होगी ॥ १ ॥ जो मनुष्य शरीर, संसार और इन्द्रियोंके भोगोंको सदा नश्वर और असार समझता है और इसीलिए जो शरीर संसार और भोगोंसे सदा विरक्त रहता है, इसके साथ जो आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखकी सदा इच्छा करता रहता है वही मनुष्य निश्चय-से व्रत धारण करनेके योग्य होता है। भावार्थ—व्रत धारण करनेके लिए जो पहले श्लोकमें गुण बतलाए हैं वे तो होने ही चाहिए परंतु उनके साथ शरीर संसार और भोगोंसे विरक्तता होंनी चाहिए तथा अतीन्द्रिय सुख-की इच्छा होनी चाहिये, जिसके अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा नहीं होगी वह शरीरादिकसे विरक्त ही क्यों होगा और शरीरादिकसे विरक्त न होगा तो वह इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग नहीं कर सकेगा तथा बिना इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग किये व्रत धारण नहीं हो सकते क्योंकि नियमपूर्वक इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करना ही व्रत है इसलिए जो पुरुष शरीरादिकसे विरक्त हो चुके हैं और अतीन्द्रिय सुखकी इच्छा करते हैं वे ही व्रतों-को धारण कर सकते हैं ॥ २ ॥ जो पुरुष मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकारसे व्याप्त हो रहा है, जो अत्यंत चंचल है, जिसके नेत्र सदा चंचल रहते हैं, जो बहुत बोलनेवाला है, जो निंदयी है, जिसकी बुद्धि विपरीत है, जो अत्यंत मूर्ख है अथवा अत्यंत मूर्खके समान है, जिसका मूर्च्छारूप परिग्रह अत्यंत प्रज्वलित हो रहा है अर्थात् जिसकी तृष्णा वा परिग्रह बढानेकी लालसा बहुत बढी हुई है, जो अत्यंत अविनयी है, जो अधिक सेवा करने से भी प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसका हृदय अत्यंत कठोर है, जो निर्विवेकी है, सबसे ईर्ष्या द्वेष करनेवाला है, सबकी निंदा करनेवाला है तथा जो बिना किसी अपने प्रयोजनके भी दूसरेकी निंदा करता रहता है, जो देव

न्मूर्च्छापरिग्रहः । दुर्विनीतो दुराराध्यो निर्विवेकी समत्सरः ॥ ४ ॥ निन्दकश्च विनास्वार्थं देवशास्त्रेष्वसूयकः । उद्धतोऽवर्णवादी च वावदूकोप्यकारणे ॥ ५ ॥ आततायी क्षणादन्यो भोगाकांक्षी व्रतच्छलात् । सुखाशयो धनाशश्च बहुमानी च कोपतः ॥ ६ ॥ मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेकलक्षितः । क्षणाद्दुष्णः क्षणाच्छीतः क्षणाद्भीरुः क्षणाद्भटः ॥ ७ ॥ इत्याद्यनेकदोषाणामास्पदः स्वपदस्थितः । इच्छन्नपि व्रतादींश्च नाधिकारी स निश्चयात् ॥ ८ ॥ न निषिद्धोऽथवा सोऽपि निर्दम्भश्चेद् व्रतोन्मुखः । मृदुमतिर्भोगाकांक्षी स्याच्चिकित्स्यो न वञ्चकः ॥ ९ ॥ अर्थात्कालादिसंलब्धो लब्धसद्दर्शनान्वितः । देशतः सर्वतश्चापि व्रती तत्त्वविदिष्यते ॥ १० ॥

शास्त्रोंसे भी ईर्ष्या द्वेष करता है, जो अत्यंत उद्धत है, जो अत्यंत निंदनीय है, जो व्यर्थ ही बकवाद करता रहता है तथा बिना कारणके बकवाद करता रहता है, जो अनेकप्रकारके अत्याचार करनेवाला है, जिसका स्वभाव क्षणक्षणमें बदलता रहता है, जिसे भोगोपभोगोंकी तीव्र लालसा है, जो व्रतोंका बहाना बना कर अनेकप्रकारके भोगोपभोग सेवन करता है, जो सदा इंद्रियसंबंधी सुख चाहता रहता है, जिसको धनकी तीव्र लालसा है, जो बहुत ही अभिमानी है, बहुत ही क्रोधी है, बहुत ही मायाचारी है और बहुत ही लोभी है, जिसके हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि कषाएं तीव्र हैं, जो क्षणभरमें शांत हो जाता है और क्षणभरमें क्रोधसे उबल पडता है, जो क्षणभरमें भयभीत हो जाता है और क्षणभरमें ही बहुत बडा शूरवीर बन जाता है, इसप्रकार जिसमें अनेक दोष भरे हुए हैं और जो अपने आत्माके स्वरूपमें लीन नहीं है ऐसा पुरुष यदि व्रतोंके धारण करनेकी इच्छा भी करे तो भी निश्चयसे व्रत धारण करनेका अधिकारी नहीं होता अतएव ऐसा पुरुष अणुव्रत धारण करनेके योग्य भी नहीं हो सकता ॥ ३-८ ॥ अथवा यों समझना चाहिए कि जो कोई पुरुष छल-कपटरहित है और व्रत धारण करना चाहता है उसके लिए व्रत धारण करनेका निषेध नहीं है क्योंकि जिसकी बुद्धि कोमल है अर्थात् जो दयालु है और भोगोंकी आकांक्षा रखता है ऐसा वैद्य ठग नहीं हो सकता। भावार्थ— जिसप्रकार दयालु वैद्य ठग नहीं कहा जाता उसीप्रकार छल कपट रहित पुरुष व्रत धारण करनेके अयोग्य नहीं गिना जाता ॥ ९ ॥ इस सबका अभिप्राय यह है कि काललब्धि आदि समस्त सामग्रीके मिलनेपर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब एकदेश पापोंका त्याग करनेवाला अथवा पूर्णरूपसे पापोंका त्याग करनेवाला व्रती

विनाप्यनेहसो लब्धेः कुर्वन्नपि व्रतक्रियाम्। हठादात्मबलाद्वापि व्रतंमन्योऽस्तु का क्षतिः ॥ ११ ॥ किम्वात्मनो यथाशक्ति तथेच्छन्वा प्रतिक्रियाम्। कस्कोपि प्राणिरक्षार्थं कुर्वन्नार्यैर्न वारितः ॥ १२ ॥ द्रव्यमात्रक्रियारूढो भावरिक्तो यदृच्छतः। स्वल्पभोगं फलं तस्यास्तन्माहात्म्यादिहाश्नुते ॥ १३ ॥ निर्देशोयं यथोक्तायाः क्रियायाः

(अणुव्रती वा महाव्रती) आत्मतत्त्वका जानकार गिना जाता है। भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि बिना सम्यग्दर्शनके शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता है इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर जब यह जीव पापोंका त्याग करता है तभी यह जीव वास्तविक अपने शुद्ध आत्माका अनुभवी माना जाता है ॥१० ॥ जिस किसी मनुष्यको काललब्धि प्राप्त नहीं हुई है तथा काललब्धिके बिना जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टी पुरुष भी यदि हठपूर्वक अथवा केवल अपने बलसे व्रत पालन करे, तो भी उसमें कोई हानि नहीं है अंतर केवल इतना ही है कि बिना सम्यग्दर्शनके वह व्रती नहीं कहला सकता किंतु 'व्रतमन्य' (बिना व्रतोंके भी अपनेको व्रती माननेवाला) माना जाता है ॥११॥ अथवा यह साधारण नियम समझना चाहिए यदि कोई भी पुरुष प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार व्रतोंको पालन करे अथवा व्रत पालन करनेकी इच्छा करे तो आर्य व्रती पुरुष उसका निषेध कभी नहीं करते हैं। भावार्थ—प्राणियोंकी रक्षा करना सबको इष्ट है इसलिए यदि प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए चाहे मिथ्यादृष्टी व्रतोंका पालन करे और चाहे सम्यग्दृष्टी व्रतोंका पालन करे व्रतोंके पालन करनेसे तो दोनोंको ही लाभ होता है क्योंकि जितने अंशोंमें प्राणियोंकी रक्षा होती है उतने ही अंशोंमें उसको पुण्यबंध होता है ॥ १२ ॥

जिस पुरुषके परिणाम शुद्ध नहीं हैं अथवा जो पुरुष अपने व्रतोंके पालन करनेमें अपने भाव वा परिणाम नहीं लगाता तथापि जो अपनी इच्छानुसार व्रतोंकी बाह्य क्रियाओंको पूर्ण रीतिसे पालन करता है उसको भी उन व्रतोंके पालन करनेसे थोडेसे भोगोपभोगोंकी सामग्री प्राप्त हो ही जाती है। भावार्थ—बिना अन्तरंग परिणामोंके बाह्यरूपसे व्रत पालन करनेका फल भी मिल ही जाता है ॥ १३ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि जो व्रतरूप क्रियाओंको शास्त्रानुसार पालन करते हैं, उन्हींको उनके पालन करनेका फल मिलता है। जो पुरुष किसी

प्रतिपालनात्। छद्मनाऽथ प्रमादाद्वा नायं तस्याश्च साधकाः ॥ १४ ॥ अभव्यो भव्यमात्रो वा मिथ्यादृष्टिरपि क्वचित्। देशतः सर्वतो वापि गृह्णाति च व्रतक्रियाम् ॥ १५ ॥ हेतुश्चारित्र मोहस्य कर्मणो रसलाघवात्। शुक्ललेश्यावलात्कश्चिदार्हत व्रतमाचरेत् ॥ १६ ॥ यथास्वं व्रतमादाय यथोक्तं प्रतिपालयेत्। सानुरागः क्रियामात्रमतिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥ एकादशांगपाठोपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः। आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झितः ॥ १८ ॥ न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह

छल कपटसे अथवा प्रमादसे व्रतरूप क्रियाओंको पालन करते हैं उनको उन व्रतोंके पालन करनेका कोई किसी-प्रकारका फल प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

भव्य जीव वा अभव्य जीव अथवा कभी कभी मिथ्यादृष्टी भी एकदेश वा सर्वदेश व्रतोंको (अणुव्रतोंको वा महाव्रतोंको) धारण कर लेते हैं ॥ १५ ॥ व्रतोंके धारण करनेके लिए चारित्रमोहनीयकर्मका मन्दोदय कारण है। चारित्रमोहनीयकर्मके मन्द उदय होनेपर तथा शुक्ललेश्याके बलसे यह जीव भगवान अरहन्तदेवके कहेहुए व्रतोंको धारण कर सकता है। भावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्म व्रतरूप परिणामोंको रोकता है। जब उसका उपशम हो जाता है और साथमें ही शुक्ललेश्या हो जाती है उस समय इस जीवके अणुव्रत वा महाव्रतोंके धारण करनेके परिणाम होते हैं ॥ १६ ॥ अपनी शक्तिके अनुसार अणुव्रत वा महाव्रतोंको धारण कर उनको शास्त्रानुसार पालन करना चाहिये तथा बडे प्रेमसे अतिचार रहित पालन करना चाहिये और पूर्ण क्रिया वा विधिके साथ पालन करना चाहिये ॥ १७ ॥ कोई मुनि मिथ्यादृष्टी भी होते हैं। वे यद्यपि ग्यारह अंगके पाठी होते हैं और महाव्रतादिक क्रियाओंको बाह्यरूपसे पूर्णरूपसे पालन करते हैं तथापि उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता इसलिए वे अपने परिणामोंके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित ही होते हैं। भावार्थ—ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनि यद्यपि महाव्रतोंको पूर्णरीतिसे पालते हैं और ग्यारह अंगतक पढ जाते हैं तथापि उन्हें शुद्धात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शनके न होनेसे उनका वह ग्यारह अंगका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥१८॥ यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनिके जो ग्यारह अंगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र होता है उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता परन्तु यह शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें यह कथन आता है कि ऐसे

नार्थतः । यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ॥ १९ ॥ ततः पाठोऽस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता । ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीती रोचनं क्रिया ॥ २० ॥ अर्थात्तत्र यथार्थत्वमित्याशंक्यं न कोविदैः । जीवाजीवास्तिकायानां यथार्थत्वं न सम्भवात् ॥ २१ ॥ किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति प्रत्यक्षज्ञानगोचरः । येन तज्ज्ञानमात्रेपि

मिथ्यादृष्टी मुनियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेशको सुन कर कितने ही भव्य जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचानने लगते हैं उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।१९। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके ग्यारह अंगोंका ज्ञान पाठमात्र भी होता है और उस पाठके सब अर्थोंका ज्ञान भी होता है। उस ज्ञानमें श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है ॥२०॥ इतना सब होनेपर भी विद्वानोंको उस ज्ञानमे वा श्रद्धानमें अथवा क्रियामें यथार्थपनेकी शंका नहीं करनी चाहिये। भावार्थ–ऐसे ऊपर लिखे मिथ्यादृष्टीमुनियोंका वह ज्ञान श्रद्धान वा आचरण यथार्थ होता है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान वा श्रद्धानके यथार्थ होनेकी संभावना भी नहीं होती है। भावार्थ–ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंका ज्ञान श्रद्धान वा आचरण आदि सब मिथ्या ही होता है यथार्थ वा सम्यक् नहीं होता ॥ २१ ॥

ग्यारह अंगोंको जाननेवाले ऐसे मिथ्यादृष्टी मुनियोंके ज्ञानमें प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य कोई ऐसी विशेषता होती है जिससे इतना ज्ञान होनेपर भी वह ज्ञान वास्तवमें मिथ्याज्ञान कहलाता है। भावार्थ–पहले यह बतला चुके हैं कि सम्यग्दर्शन वा स्वात्मानुभूतिमें ही कोई ऐसी विलक्षण विशेषता है जिससे ज्ञानमें सम्यक्पना आ जाता है तथा विना उसके ज्ञान चाहे जितना बढ जाय तो भी उसमें सम्यक्पना नहीं आता। ग्यारह अंगोंको जाननेवाले मुनियोंके भी वह स्वात्मानुभूति नहीं होती इसलिए उनका इतना बडा ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वह स्वात्मानुभूति प्रत्यक्षज्ञानके ही द्वारा जानी जाती है अतएव वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है यह बात भी प्रत्यक्षज्ञानसे ही जानी जाती है ॥ २२ ॥ इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि ऐसा मिथ्यादृष्टी मुनि जीवों-

तस्याज्ञानं हि वस्तुतः ॥ २२ ॥ तत्रोल्लेखोस्ति विख्यातः पारंत्वादक्षमोपि यः । न स्याच्छुद्धानुभूतिः सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥२३॥ अस्तु सूत्रानुसारेण स्वसंविदविरोधिना । परिज्ञायाः सहत्वेन हेतोर्बलवतापि च ॥ २४ ॥ दृश्यते पाठमात्रत्वाद् ज्ञानस्यानुभवस्य च । विशेषोध्यक्षतो यस्माद्दृष्टान्तादपि संमतः ॥ २५ ॥ यथा चिकित्सकः कश्चित्पराङ्गगतवेदनाम् । परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यपि ॥ २६ ॥ तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नाप्यात्मलक्षणः । नास्वादयतिमिथ्यात्वकर्मणो-रसपाकतः ॥ २७ ॥ सिद्धमेतावताप्येतन्मिथ्यादृष्टेः क्रियावतः । एकादशाङ्गपाठेपि ज्ञानेप्यज्ञानमेवतत् ॥ २८ ॥ नचाशंक्यं क्रियामात्रे नानुरागोऽस्य लेशतः ।

दिक पदार्थोंकी परीक्षा कर सकता है तो भी उसके शुद्ध आत्माकी अनुभूति कभी नहीं होती। भावार्थ—जब मिथ्यादृष्टी मुनि ग्यारह अंगोंका जानकार है तो इसमें सन्देह नहीं कि वह जीवाजीवादिक समस्त पदार्थोंकी परीक्षा अच्छीतरह कर सकता है तथापि सम्यग्दर्शनके विना उस आत्माके यथार्थ स्वरूपका स्वाद वा अनुभव नहीं आता इसीलिए वह उस अनुभवसे वा सम्यग्ज्ञानसे वंचित रहता है ॥२३॥ अथवा स्वानुभूतिका अविरोधी जो एकादशांग सूत्रपाठ है वह बना रहो परन्तु परीक्षाकी योग्यतासे और बलवान हेतुसे यह देखा जाता है कि पाठमात्र ज्ञानमें और अनुभवमें प्रत्यक्ष विशेषता वा भेद है तथा दृष्टान्तसे भी यही बात सिद्ध होती है जैसा कि आगे दिखलाते हैं ॥ २४-२५ ॥ जिसप्रकार कोई वैद्य दूसरेके उपदेशके वाक्योंसे दूसरेके शरीरमें होनेवाले रोगोंके दुःखोंको जानता है परंतु वह उन दुःखोंका अनुभव नहीं करता, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुष शास्त्रोंमें कहे हुए वाक्योंके अनुसार आत्माके स्वरूपको जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उसका आस्वादन वा अनुभव नहीं कर सकता ॥२६-२७॥ इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रत वा महाव्रतरूप क्रियाओंको पालन करनेवाले इस मिथ्यादृष्टीका ज्ञान यद्यपि ग्यारह अंगतकका ज्ञान है तथापि शुद्ध आत्माके अनुभवके विना वह ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है ॥२८॥ यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि मिथ्यादृष्टिके व्रतोंके पालन करनेरूप क्रियाओंमें लेशमात्र भी अनुराग नहीं होता होगा? सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टीके व्रतोंमें अनुराग होना हेतुपूर्वक सिद्ध हो जाता है तथा व्रतोंमें अनुराग होनेका हेतु उसके आत्मामें विशुद्धिका होना है भावार्थ—मिथ्यादृष्टी पुरुषके आत्मामें भी विशुद्धि होती है और विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोंमें अनुराग होता है।

रागस्य हेतुसिद्धत्वाद्विशुद्धेस्तत्र सम्भवात् ॥ २९ ॥ सूत्राद्विशुद्धस्थानानि सन्ति मिथ्यादृशि क्वचित् । हेतोश्चारित्रमोहस्य रसपाकस्य लाघवात् ॥ ३० ॥ ततो विशुद्धिसंसिद्धेरन्यथानुपपत्तितः । मिथ्यादृष्टेरवश्यं स्यात्सद्व्रतेष्वनुरागिता ॥ ३१ ॥ ततः क्रियानुरागेण क्रियामात्राच्छुभास्रवात् । सद्व्रतस्य प्रभावात्स्यादस्यग्रैवेयकं

अतएव मिथ्यादृष्टीके व्रतोंमें अनुराग नहीं होता होगा यह शंका करना सर्वथा निर्मूल है ॥ २९ ॥ मिथ्यादृष्टी पुरुषके भी आत्माकी विशुद्धि होती है इसका कारण यह है कि कभी कभी मिथ्यादृष्टीके भी चारित्रमोहनीयकर्मका उदय मंद होता है तथा चारित्रमोहनीयकर्मके मंद उदय होनेसे उस मिथ्यादृष्टीके भी कितने ही विशुद्धिके स्थान हो जाते हैं ऐसा शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है ॥३०॥ यह नियम है कि आत्माकी विशुद्धि मोहनीयकर्मके मंद उदयसे होती है। मोहनीयकर्मके मंद उदय हुए बिना आत्माकी विशुद्धि कभी नहीं होती। मिथ्यादृष्टीके चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है इसलिए उसके आत्मामें विशुद्धि होना अनिवार्य है क्योंकि जहां जहां चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है वहां वहां विशुद्धि अवश्य होती है और जहां जहां आत्माकी विशुद्धि होती है वहां वहां व्रतोंमें अनुराग अवश्य होता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके भी चारित्रमोहनीयकर्मका मंद उदय होता है, मोहनीयकर्मके मंद उदय होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है और आत्माकी विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोंमें अनुराग होता है ॥३१॥ इसप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुषके व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेमें अनुराग हो जाता है। व्रतोंमें अनुराग होनेसे वह क्रियारूप व्रतोंको पालन करता है तथा व्रतरूप क्रियाओंको पालन करनेसे शुभकर्मोंका आस्रव होता है इसप्रकार श्रेष्ठ व्रतोंके पालन करनेसे उस मिथ्यादृष्टी पुरुषको भी नव ग्रैवेयकतकके सुख प्राप्त होते हैं। भावार्थ—यदि मिथ्यादृष्टी पुरुष भी अनुरागपूर्वक महाव्रत धारण करता है तो वह उन महाव्रतोंके प्रभावसे नव ग्रैवेयकतक उत्पन्न होता है और वहांपर इकत्तीस सागरतक सुखोंका अनुभव करता रहता है ॥ ३२ ॥ इतना सब होनेपर भी मिथ्यादृष्टीमें कोई ऐसी विशेषता होती है जिसको भगवान अरहंतदेव ही देखते हैं अथवा वह विशेषता शास्त्रोंसे जानी जाती है। उस विशेषताके कारण ही महाव्रत आदि व्रतोंकी पूर्ण क्रियाओंको पालन करता हुआ भी वह चारित्ररहित कहलाता है। भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि

सुखम् ॥ ३२ ॥ किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति जिनदृष्टो यथागमात् । क्रियावानपि येनायमचारित्री प्रमाणितः ॥ ३३ ॥ सम्यग्दृष्टेस्तु तत्सर्वं यथाणुव्रतपञ्चकम् । महाव्रतं तपश्चापि श्रेयसे चामृताय च ॥ ३४ ॥ अस्ति वा द्वादशाङ्गादिपाठस्तज्ज्ञानमित्यपि । सम्यग्ज्ञानं तदेवैकं मोक्षाय च दृगात्मनः ॥ ३५ ॥ एवं सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय

विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्मका उदय सबको विपरीत स्वादवाला बना देता है इसीलिए मिथ्यादृष्टी पुरुष पूर्ण महाव्रत पालन करता हुआ भी मिथ्याचारित्रवाला अथवा सम्यक्चारित्रसे रहित कहलाता है ॥ ३३ ॥ किंतु सम्यग्दृष्टी पुरुषके उस दर्शनमोहनीयकर्मका अभाव हो जाता है इसलिए उसके पांचों अणुव्रत पांचों महाव्रत और बारह प्रकारका तप आदि सब आत्माका कल्याण करनेवाला होता है और परंपरासे मोक्ष प्राप्त करनेवाला होता है । भावार्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुषके व्रत तप आदि सब कर्मकी निर्जरा और मोक्षके कारण होते हैं परंतु दर्शनमोहनीयकर्मका उदय होनेसे मिथ्यादृष्टीके व्रत सब कर्मबंध करनेवाले होते हैं ॥ ३४ ॥ अथवा यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टी पुरुषके जो द्वादशांगका पाठ है अथवा उसका ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान कहलाता है और वह सम्यग्ज्ञान अकेला ही मोक्षका कारण होता है । भावार्थ—यद्यपि अकेले सम्यग्ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तथापि उस सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शन है और स्वरूपाचरणचारित्र है । इन तीनोंसे तथा इन तीनोंके साथ साथ होनेवाले क्रियारूप चारित्रसे उस सम्यग्ज्ञानीके असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है तथा अनुक्रमसे ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता होनेपर मोक्ष प्राप्त होती है, इसप्रकार वह अकेला सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ ३५ ॥ इसप्रकार उत्तम श्रावकोंको अच्छीतरह समझ कर और उसपर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रख कर इस लोक और परलोककी विभूतियोंको प्राप्त करनेके लिये व्रतोंका संग्रह अवश्य करना चाहिये । भावार्थ—अणुव्रत महाव्रत आदि व्रतोंका पालन अवश्य करना चाहिये । व्रतोंके पालन करनेसे ही इस लोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥ इसलिए सम्यग्दृष्टीको वा मिथ्यादृष्टीको, भव्य जीवको अथवा अभव्य जीवको सबको अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करने चाहिये । भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जीव व्रतोंको

श्रावकोत्तमैः । सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ३६ ॥ सम्यग्दशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाप्यथशक्तितः । अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥ ३७ ॥ यतः पुण्यक्रिया साध्वी क्वापि नास्तीह निष्फला । यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥ ३८ ॥ पारंपर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया । पञ्चानुत्तरविमाने मुदे ग्रैवेयकादिषु ॥ ३९ ॥ केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि । भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥ ४० ॥ मानुषाणां च केषांचित्तीर्थंकरपदाप्तये ।

पालन करनेसे स्वर्गादिकोंके अनुपम सुख भोग कर मोक्ष प्राप्त करता है, भव्य मिथ्यादृष्टी जीव व्रतोंको पालन करनेसे सातिशय पुण्य प्राप्त करता है जिसके प्रभावसे दर्शनमोहनीयकर्मको शान्त करता हुआ सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यदि व्रत पालन करनेवाला अभव्य मिथ्यादृटी हो तो भी वह नव ग्रैवेयकतक स्वर्गोंके सुख प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि व्रत पालन करनेसे सबप्रकारसे सुख प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥ इसका भी कारण यह है कि पुण्य प्राप्त करनेवाली व्रतरूप श्रेष्ठ किया कभी निष्फल नहीं होती। व्रत पालन करनेवाला जैसा पात्र हो (सम्यग्दृष्टी हो वा मिथ्यादृष्टी हो) और जैसी योग्यता रखता हो (अणुव्रत पालन करता हो वा महाव्रत पालन करता हो) उसीके अनुसार उसे स्वर्गादिकके भोगोपभोगरूप उत्तम फल प्राप्त होते हैं। भावार्थ—व्रत पालन करनेसे स्वर्गादिकके सुख अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥ इन्हीं महाव्रतादिक व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेसे कितने ही जीवोंको परम्परासे मोक्ष प्राप्त हो जाती है अथवा नव ग्रैवयकोंके सुख वा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि आदि पंच अनुत्तर विमानोंके सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥ अथवा कितने ही जीवोंको सोलह स्वर्गोंके सुख प्राप्त होते हैं। वहांपर वे सागरोंपर्यन्त इन्द्रियजन्य सुखोंका अनुभव करते रहते हैं और अमृतपान किया करते हैं तथा कितने ही जीव उन व्रतोंके प्रभावसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न होकर अपनी आयुपर्यंत अमृत पान किया करते हैं ॥४०॥ उत्तम व्रत पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको मनुष्यपर्यायमें भी तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है अथवा अर्द्धचक्रवर्ती पद प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥ अथवा व्रत पालन करनेसे उत्तम भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं। ऐसे ऐसे महाफलोंका प्राप्त होना वा अनुक्रमसे समस्त फलोंका प्राप्त होना आदि सब व्रत पालन करनेरूप

चक्रित्वार्थार्द्धचक्रित्वपदसंप्राप्तिहेतवे ॥ ४१ ॥ उत्तमभोगभूरुच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम्। एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत्॥ ४२ ॥ सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं-निरामयम्। गृहेसम्पदपर्यंता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४३ ॥ साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी। सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥ ४४ ॥ सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः। स्निग्धाश्चानुचरा यात्रदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥ ४५ ॥ जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना। ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चो-पदेशकाः ॥ ४६ ॥ सधर्मिणः सहायाश्च स्पष्टाक्षरं वाक्पाटवम्। सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥ ४७ ॥ सुयशः सर्वलोकेस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम्।

श्रेष्ठ क्रियाओंका ही फल है ऐसा ग्रंथकार मानते हैं । भावार्थ—संसारमें जितने उत्तम उत्तम पद हैं वा उत्तम उत्तम सुख हैं वे सब व्रत पालन करनेसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ श्रेष्ठ कुलमें जन्म होना, बडी आयुका प्राप्त होना, नीरोग और बलवान शरीर प्राप्त होना और घरमें अपार लक्ष्मीका प्राप्त होना आदि सब व्रत करनेसे प्राप्त हुए पुण्यका ही फल समझना चाहिए। भावार्थ–यह सब सुखकी सामग्री व्रतोंके पालन करनेसे ही होती है ॥ ४३ ॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई, पतिके आज्ञानुसार चलनेवाली और अच्छे स्वभाववाली स्त्रीका प्राप्त होना पुण्यका ही फल समझना चाहिए । पिताकी आज्ञासे जिनका मन किंचित्मात्र भी चलायमान न हो अर्थात् जो पिताकी आज्ञाको पूर्ण रीतिसे पालन करते हों ऐसे पुत्रोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है । अपने धर्मको अच्छी तरहसे पालन करनेवाले, अपने अनुकूल रहनेवाले और सब मिलकर इकट्ठे रहनेवाले ऐसे भाई बंधुओंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है तथा अपनेपर सदा प्रेम और भक्ति करनेवाले सेवकोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है । इसप्रकार सुख देनेवाली सब कुटुंबकी सामग्रीका प्राप्त होना व्रत पालन करनेरूप पुण्यका फल कहा जाता है ॥ ४४-४५ ॥ जैनधर्ममें श्रद्धान होना, संयम धारण करनेके लिए शुभ भावनाओंका होना, सूत्रोंका वा समस्त जैनशास्त्रोंका अर्थ समझनेयोग्य वा दूसरोंको प्रतिपादन करनेयोग्य अपने ज्ञानकी शक्तिका प्राप्त होना, रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले गुरुका सह-वास प्राप्त होना, धर्मात्मा पुरुषोंका साथ होना अथवा धर्मात्मा पुरुषोंकी सहायता प्राप्त होना, स्पष्ट अक्षरोंका उच्चारण होना, वचनोंके कहनेकी चतुरता प्राप्त होना, नेत्र, नाक, कान आदि इंद्रियोंकी सुंदरता प्राप्त होना,

शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न संशयः ॥ ४८ ॥ विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः । दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वे सत्पुण्यपाकतः ॥ ४९ ॥ चक्रित्वं सन्नृपत्वं वा नहि पुण्यादृते क्वचित् । अकस्मादबलालाभो धनलाभोऽप्यचिन्तनात् ॥ ५० ॥ ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौहार्दं सर्वमान्यता । पुंण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥ ५१ ॥ अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येऽपि च यत्सुखम् । पुण्यायत्त हि तत्सर्वं किंचित्पुण्यं विना नहि ॥ ५२ ॥ तत्प्रसीदाधुना प्राज्ञ ! मद्वचः शृणु फामन । सर्वामयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ॥ ५३ ॥ प्रोवाच फामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् । पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ॥ ५४ ॥ शृणु

प्रतिभाशाली (अनेक प्रकारके तर्क वितर्क करनेवाली तीक्ष्ण) बुद्धिका प्राप्त होना, शरदऋतुके चंद्रमाके समान अत्यंत निर्मल और समस्त लोकमें व्याप्त होनेवाला सुयशका मिलना और जिसका कोई भी उल्लंघन न कर सके ऐसे शासनका (हुकूमत वा राज्यपदका) प्राप्त होना आदि सब पुण्यवान् पुरुषोंको ही प्राप्त होता है और निःसंदेह होता है । भावार्थ—ऐसे निर्मल परिणाम और सुखकी सामग्री सब अणुव्रत वा महाव्रतादिक पुण्य कार्योंके करनेसे ही प्राप्त होती है ॥ ४६-४८ ॥ बडे बडे महायुद्धोंमें समस्त शत्रुओंको नाश कर विजय प्राप्त करना, वे सब शत्रुराजा अपना मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगें ऐसा प्रताप प्राप्त होना और समस्त शत्रुराजाओंसे दंड वसूल करना अर्थात् समस्त शत्रुराजाओंको अपने आधीन कर उनसे कर और दंड लेना आदि सब श्रेष्ठ पुण्यके फलसे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ पुण्यकर्मके उदयके विना न तो कभी चक्रवर्तीपद प्राप्त होता है और न कभी श्रेष्ठ राजा होता है । अकस्मात् स्त्रीका प्राप्त हो जाना, बिना ही इच्छाके धनकी प्राप्ति हो जाना, ऐश्वर्य वा विभूतियोंका प्राप्त होना, बडप्पन प्राप्त होना, सबके साथ मित्रता प्राप्त होना, समस्त लोकमें माननीय उत्तम पद प्राप्त होना, श्रेष्ठ विद्या, विज्ञान और कुशलता प्राप्त होना आदि समस्त सुखकी सामग्री बिना पुण्यके किसीको भी प्राप्त नहीं होती है ॥ ५०-५१ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिए कि तीनों लोकोंमें जितना भी सुख है वह सब पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है । बिना पुण्यके किंचित्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥ इसलिए हे बुद्धिमान् और विद्वान् फामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन । तू अब संसारसंबंधी समस्त रोगोंको (संसारके दुःखोंको) दूर करनेके लिए पुण्यरूपी रसायन पी

श्रावक ! पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम्। देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रतं सर्वतो महव्‌ ॥ ५५ ॥ ननु विरतिशब्दोपि साकांक्षो व्रतवाचकः । केभ्यश्च कियन्मात्रेभ्यः कतिभ्यः सा वदाद्य नः ॥ ५६ ॥ हिंसायाः विरतिः प्रोक्ता तथा चानृतभाषणात् । चौर्याद्विरतिःख्याता स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥ ५७ ॥ एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोग्य-मणुव्रतम । सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्यं महाव्रतम ॥ ५८ ॥ ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः । किं देशत्वं यथाम्नायाद्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार रसरूप औषधियोंसे समस्त रोग दूर हो जाते हैं उसीप्रकार व्रतोंके पालन करनेरूप पुण्यसे संसारके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

कविराजकी यह बात सुनकर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला फामन नामका श्रावक कहने लगा कि पुण्यके कारणोंको जान लेनेपर हो तो कोई भी श्रावक उसके करनेके लिए तैयार हो सकता है। भावार्थ—पुण्यके कारण कौन कौन हैं सो बताना चाहिए ॥ ५४ ॥ इसके उत्तरमें कविराज कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन। मैं अब आगे पुण्यके कारणोंको बतलाता हूं । (पांचों पापोंका) एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्हीं पांचों पापोंका) पूर्णरीतिसे त्याग करना महाव्रत है ॥ ५५ ॥

कविराजका यह उपदेश सुनकर फामन कहने लगा कि व्रतोंको कहनेवाला यह विरति शब्द सापेक्ष है। सो पहले तो यह बताना चाहिये कि किनका त्याग करना चाहिये, कितना त्याग करना चाहिये और कितनेका त्याग करना चाहिये। यह सब आज बतलाना चाहिये ॥ ५६ ॥ कविराज कहने लगे कि हिंसाका त्याग करना चाहिये, झूठ बोलनेका त्याग करना चाहिये, चोरीका त्याग करना चाहिये, अब्रह्म वा कुशीलका त्याग करना चाहिये और परिग्रहका त्याग करना चाहिये ॥ ५७ ॥ इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग करना सो गृहस्थोंके धारण करने योग्य अणुव्रत कहलाता है तथा इन्हीं पांचों पापोंको पूर्णरीतिसे त्याग करना सो मुनियोंके धारण करने योग्य महाव्रत कहलाता है ॥ ५८ ॥

कविराजका यह उपदेश सुनकर फामन फिर पूछने लगा कि हिंसा किसको कहते हैं, विरति शब्दका क्या अर्थ है और एकदेश किसको कहते हैं। हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! आचार्य परम्परासे चला आया इनका लक्षण मुझे

हिंसा प्रमत्तयोगाद्वै यत्प्राणव्यपरोपणम्। लक्षणाज्ञदिना सूत्रे लक्षशः पूर्वसूरिभिः ॥६०॥ प्राणाः पंचेद्रियाणीह वाग्मनोङ्गबलत्रयम्। निःश्वासोच्छ्वाससंज्ञः स्यादायुरेकं दशेति च ॥ ६१ ॥ उक्तं च। पंचवि इंदिय पाणा मणवचकायेण तिण्णिबल पाणा। आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥ एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वींद्रियेषु षडेव ते। त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेष्टौ यथागमात् ॥ ६२ ॥ नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश। मत्वेति किल सद्गृहस्थैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम्

बतलाइये ॥ ५९ ॥ इस प्रश्नके उत्तरमें कविराज कहने लगे कि प्रमादके योगसे प्राणोंका व्यपरोपण करना कषायके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। पहलेके आचार्योंने शास्त्रोंमें इस हिंसाका स्वरूप अनेकप्रकार बतलाया है ॥ ६० ॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां, मनोबल, बचनबल और कायबल ये तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण कहलाते हैं ॥ ६१ ॥ सो ही लिखा है—

पंचवि इंदिय पाणा मणबचकायेण तिण्णिबल पाणा। आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियां प्राण हैं, मन, बचन, काय ये तीनों बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण है और आयु प्राण है। इसप्रकार दश प्राण हैं॥ १ ॥

इन प्राणोंमेंसे वृक्षादिक वा पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रियप्राण, दूसरा कायबलप्राण, तीसरा श्वासोच्छ्वासप्राण और चौथा आयुप्राण इसप्रकार चार प्राण होते हैं। लट, शंख आदि दो इंद्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना दो इंद्रियप्राण, कायबल बचनबल दो बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। चींटी चींटा खटमल आदि ते इंद्रिय जीवोंके सात प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इंद्रियां, कायबल बचनबल ये दो बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। भौंरा, मक्खी आदि चौ इंद्रिय जीवोंके आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु ये चार इंद्रियां, कायबल बचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। पानीके सर्प आदि असैनी पंचेंद्रिय जीवोंके नौ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण ये पांचों इंद्रियां, कायबल, बचनबल, आयु और श्वसोच्छ्वास। मनुष्य, स्त्री, गाय, भैंस, कबूतर, चिडिया आदि सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके मन भी होता है इसलिये उनके दशों प्राण होते हैं। इसप्रकार इन जीवोंके प्राण होते हैं। यह सब समझ कर गृहस्थ लोगोंको प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ६२-६३ ॥ यहांपर प्राण शब्दसे एकेन्द्रिय वा दो इन्द्रिय आदि जीव समझने चाहिये।

॥ ६३ ॥ अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् । प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ६४ ॥ प्रसङ्गादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥ ६५ ॥ सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश । व्यासादसंख्यभेदाश्च सन्त्यनन्तारच भावतः ॥ ६६ ॥ तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधाथवा ॥ ६७ ॥ प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोपि च तद्यथा । शुद्ध भू भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥ ६८ ॥ शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथा स्याद्दग्धमृत्तिका । भूजीवोऽयैत्र भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥ ६९ ॥ भूरेव यस्य कायोस्ति यद्वानग्थगति-

इसका भी कारण यह है कि संसारमें प्राणधारी जीव ही हैं, जीवोंके ही प्राण होते हैं। जीवोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थके भी प्राण नहीं होते ॥ ६४ ॥ यहांपर अहिंसा वा जीवोंकी रक्षाका प्रकरण है इसलिये प्रसंग पा कर संक्षेपसे जीवोंके भेद बतलाते हैं क्योंकि जीवोंके भेदोंको और उनके स्वरूपको जान कर ही श्रावकलोग उन जीवोंकी रक्षा कर सकते हैं ॥ ६५ ॥ यदि जीवोंके अत्यन्त संक्षेपसे भेद किंये जांय ती चौदह होते हैं। यदि समस्त जीवोंके विस्तारके साथ भेद किये जांय तो असंख्यात भेद होते हैं तथा यदि भावोंकी अपेक्षासे उन जीवोंके भेद किये जांय तो अनन्त भेद हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ आगे चौदह जीवसमासोंको वा जीवोंके चौदह भेदोंको बतलाते हैं। जीवोंके मूल भेद दो हैं त्रस और स्थावर। उनमेंसे स्थावर जीव पांचप्रकारके हैं पृथ्वीकायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और बनस्पतिकायिक। आगे सबसे पहले इन्हीं स्थावर जीवोंके भेद बतलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोंके दो भेद हैं स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके भी दो दो भेद हैं एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक।

भावार्थ—पर्याप्तक स्थूल पृथ्वीकायिक, अपर्याप्तक स्थूल पथ्वीकायिक पर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक इसप्रकार पृथ्वीकायिकके चार भेद होते हैं।६७। इन चार भेदोंमेंसे भी प्रत्येकके चार चार भेद होते हैं। शुद्धपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकाय और पृथ्वीकायिक।६८। जो पृथ्वी प्राणरहित है उसको शुद्ध पृथ्वी कहते हैं जैसे जली हुई मिट्टी। जो जीव किसी दूसरी गतिसे पृथ्वीमें आनेवाला है अर्थात् जिसने अन्य गति छोड दी है दूसरी गतिका शरीर छोड दिया है और पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेवाला है जो पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेकेलिये

भुवः । भूशरीरस्तदात्वेस्य सभूकाय इत्युच्यते ॥ ७० ॥ भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः । स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥ एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते । प्रत्येकं चापि ज्ञातव्याः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ ७२ ॥ सूक्ष्मकर्मोदयाज्जाताः सूक्ष्मा जीवा इतीरिताः । सन्त्यघातिशरीरास्ते वज्रा-

विग्रहगतिमें आ रहा है ऐसे जीवको पृथ्वीजीव कहते हैं ॥ ६९ ॥ पृथ्वी ही जिसका शरीर है अथवा जो पृथ्वीकायमें विद्यमान है, पृथ्वीकायके सिवाय जिसकी और कोई गति नहीं है अथवा पृथ्वीरूप शरीरको जो धारण कर रहा है उसको पृथ्वीकाय कहते हैं ॥७०॥ तथा जो जीव अभी पृथ्वीकायमें विद्यमान है परन्तु पृथ्वीकायकी गतिको छोडकर अन्य गतिमें जानेके लिए तैयार है तथा अन्य गतिमें जानेके लिए समुद्घात कर रहा है उसको पृथ्वीकायिक कहते हैं* ॥७१॥ इसीप्रकार जल अग्नि वायु और वनस्पतिके भी चार चार भेद समझने चाहिए अर्थात् जल, जलजीव, जलकाय और जलकायिक ये चार जलके भेद हैं। अग्नि, अग्निजीव, अग्निकाय और अग्निकायिक ये चार अग्निके भेद हैं। वायु, वायुजीव, वायुकायिक, वायुकाय ये चार वायुके भेद हैं। वनस्पति, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकाय और वनस्पतिकायिक ये चार वनस्पतिके भेद हैं। इन सब भेदोंका स्वरूप भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार जान लेना चाहिए ॥ ७२ ॥

इनमेंसे जो जीव सूक्ष्मनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं। इन सूक्ष्म जीवोंका वज्र अग्नि, जल आदि किसी भी पदार्थसे कभी भी घात नहीं होता है। भावार्थ—सूक्ष्म जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका घात भी किसीसे नहीं हो सकता है। न वे वज्रसे कूटे जा सकते हैं, न अग्निसे जलते हैं और न जलमें डूबते हैं। सो ही लिखा है—

* ये पृथ्वीकायादिकके लक्षण गोमट्टसारके लक्षणोंसे कुछ भिन्नता रखते हैं। गोमट्टसारमें लिखा है।

पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाइय य पुढवि जीवोय । साहारणोपमुक्को सरीर गहिदो भवंतरि दो ॥

अर्थात्—पृथ्वी पृथ्वीकाय पृथ्वीकायिक और पृथ्वीजीव ये चार भेद हैं। साधारण पृथ्वीको पृथ्वी कहते हैं। जिसको पृथ्वीकायिक जीव छोड़ जाते हैं ऐसी जली हुई मिट्टी आदिको पृथ्वीकाय कहते हैं। जिन जीवोंने पृथ्वी को ही शरीर बना रक्खा है उनको पृथ्वीकायिक कहते हैं। जो जीव पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेवाले हैं उनको पृथ्वीजीव कहते हैं। ऐसा गोमट्टसारमें लिखा है।

नलजलादिभिः ॥ ७३ ॥ उक्तं च। णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीताराहि अग्गिवाराहिं। ते हुंति सुहुमकाया इयरे पुण थूलकाया य ॥ २ ॥ स्थूलकर्मोदयाज्जाताः स्थूला जीवाः स्वलक्षणात्। सन्ति घातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥ ७४ ॥ उक्तं च। घादिसरीरा थूला अघादिसरीरा हवे सुहमा। किञ्च स्थूलशरीरास्ते

णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीताराहि अग्गिवाराहिं। ते हुंति सुहुमकाया इयरे पुण थूलकाय ॥

अर्थ–पृथ्वी तारे अग्नि जल आदि किसी भी पदार्थसे जिनका परिस्खलन नहीं होता अर्थात् जो न तो पृथ्वीमें रुकते हैं न तारोंसे टक्कर खाते हैं न अग्निमें जलते हैं और न जलसे बहते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं तथा जो जीव पृथ्वीसे रुक जाते हैं, तारोंसे टकराते हैं, अग्निसे जल जाते हैं और पानीमें बह जाते हैं उनको स्थूलकाय वा स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव कहते हैं ॥ २ ॥

जो जीव स्थूलनामके नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको स्थूल जीव कहते हैं क्योंकि स्थूलका जो लक्षण है वह उनमें अच्छीतरह संघटित होता है तथा वज्र अग्नि जल आदिसे उन जीवोंका शरीर घाता जाता है। भावार्थ–स्थूल जीव वज्रकी चोटसे मर जाते हैं, अग्निमें जल जाते हैं और जलसे बह जाते हैं इसप्रकार स्थूल जीवोंका शरीर कारण मिलनेपर घाता जाता है। जिनका शरीर कारण मिलनेसे रुक जाय या दूसरोंको रोक दे उन्हींको स्थूल कहते हैं। स्थूल जीवोंका यही लक्षण है ॥ ७४ ॥ सो ही लिखा है—

घादि सरीरा थूला अघादि सरीरा हवे सुहमा।

अर्थात्–स्थूल जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर घाता जाय और सूक्ष्म जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर किसीसे भी न घाता जाय। इसप्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके जीवोंका लक्षण बतलाया। इसमें भी इतना भेद है कि जो स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव हैं वे सब जगह नहीं हैं किन्तु कहीं कहींपर किसी न किसीके आश्रय रहते हैं तथा जो सूक्ष्म जीव हैं वे इन तीनों लोकोंमें सब जगह इसप्रकार भरे हुए हैं जैसे घडे में घी भरा रहता है। भावार्थ–जिसप्रकार घडेमें घी भर देनेसे उस घडेमें कोई जगह खाली नहीं रहती, उस घडे-में कोई ऐसा स्थान खाली नहीं रहता जिसमें घी न हो उसीप्रकार सूक्ष्म जीव तीनों लोकोंमें सब जगह भरे हुए २२८

क्वचिच्च क्वचिदाश्रिताः । सूक्ष्मकायास्तु सर्वत्र त्रैलोक्ये घृतवद्घटे ॥ ७५ ॥ उक्तं च । आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरंतरा सुहमा ॥ प्रत्येकं ते द्विधा प्रोक्ताः केव-

हैं। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं है जहांपर सूक्ष्म जीव न भरे हों परन्तु स्थूल जीव सब जगह नहीं है वे कहीं कहीं पर हैं और किसी न किसीके आधारपर रहते हैं। स्थूल जीव निराधार नहीं रहते, सूक्ष्म जीव निराधार रहते हैं। सूक्ष्म जीवोंको आधारकी आवश्कता नहीं है क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं और तीनों लोकोंमें सब जगह भरे हुए है ॥ ७५ ॥ सो ही लिखा है।

आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरन्तरा सुहमा।

अर्थात् स्थूल जीव किसीके आधारपर रहते हैं और सूक्ष्म जीव इन तीनों लोकोंमें सब जगह और सदैव भरे रहते हैं।

अब आगे इनके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक भेद बतलाते हैं। केवल ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले भगवान् अरहन्तदेवने उन स्थूल और सूक्ष्म दोनोंप्रकारके जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवके दो दो भेद बतलाये हैं। एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक। भावार्थ—स्थूल जीवोंके भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो भेद हैं तथा सूक्ष्म जीवोंके भी पर्याप्तक अपर्याप्तक दो भेद हैं। आगे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंका लक्षण कहते हैं ॥७६॥ जो जीव दैवयोगसे वा आयु पूर्ण हो जानेसे किसी भी एक गतिको छोड कर दूसरी किसी भी गतिमें आकर उत्पन्न होता है तब वह जीव वहांपर शरीर धारण करनेका प्रयत्न करता है तथा पर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे और सबतरहकी विघ्नबाधाओंके अभाव होनेसे वह जीव शरीर बननेके लिये प्राप्त हुई पुद्गलवर्गणाओंमें शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न करता है। जब उसकी वह शरीर बननेकी-शक्ति पूर्ण हो जाती है तबसे वह पर्याप्तक कहलाता है और अपनी आयुपर्यंत पर्याप्तक ही रहता है। भावार्थ—पर्याप्ति शब्दका अर्थ पूर्णता है, शरीरकी पूर्णताको ही पर्याप्ति कहते हैं, जिस जीवके वह पर्याप्ति पूर्ण हो गई हो उसको पर्याप्तक कहते हैं। पर्याप्ति छह हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। जब यह जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें आकर

लज्ञानलोचनैः। पर्याप्तकाश्चापर्याप्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ७६ ॥ पर्याप्तको यथा कश्चिद्देवाद्गत्यन्तराच्च्युतः। अन्यतमां गतिं प्राप्य गृहीतुं वपुरुत्सुकः ॥ ७७ ॥

उत्पन्न होता है तब वहांपर उसे शरीर बननेकी सामग्री पहले ही से तैयार मिलती है, जैसे यदि कोई जीव मनुष्यगतिमें आ कर उत्पन्न हुआ है तो उसे माताके उदरमें माताका रज और पिताका वीर्य इन दोनोंका मिला हुआ पिण्ड तैयार मिलता है, उसीमें यह जीव आ कर उत्पन्न होता है। वहांपर उत्पन्न होते ही उसकी छहों पर्याप्ति प्रारम्भ हो जाती हैं। वे छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें समाप्त हो जाती हैं तथा उनकी समाप्ति क्रमसे होती है। प्रत्येक पर्याप्तिके समाप्त होनेमें एक छोटा अन्तर्मुहूर्त लगता है सबसे पहले आहारपर्याप्ति समाप्त होती है। वह जीव विग्रहगतिसे आ कर जो उस पिण्डमें आ जाता है वही उसका आहार है क्योंकि यह जीव विग्रहगतिको छोड कर कभी अनाहारक नहीं रहता, इसप्रकार जो वह जीव आहार ग्रहण कर लेता है इसीको आहारपर्याप्ति कहते हैं। इसके बाद वह जीव उस रजोवीर्यके पिडमें खलरसभाग बनानेका प्रयत्न करता है। इस शरीरमें दो भाग हैं एक हड्डी नसें आदि कठिनरूप भाग है और दूसरा रुधिर आदि रसरूप पतला भाग है। कठिन भागको खलभाग कहते हैं और नरम वा पतले भागको रसभाग कहते हैं। उस रजोवीर्यके पिण्डमें आ कर वह जीव उस पिण्डमें कुछ भागको तो कठिनभाग वा खलभाग बनानेका प्रयत्न करता है और उसके कुछ भागको रसभाग बनानेका प्रयत्न करता है। जब उस पिण्डमें खलभाग और रसभाग बननेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसको शरीरपर्याप्तकी पूर्णता कहते हैं अर्थात् उस पिण्डमें खलरसभागरूप शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न हो जाना ही शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता हो जाना है। यह इतना सब कार्य एक छोटे अन्तर्मुहूर्तमें हो जाता है। जब यह जीव अपनी शरीरपर्याप्तिको पूर्ण कर लेता है तभीसे यह जीव पर्याप्तक कहलाता है तथा जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक अपर्याप्तक कहलाता है। इस जीवकी छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें ही पूर्ण हो जाती हैं और शरीरपर्याप्ति छोटे ही अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण हो जाती है इसलिये यह जीव छोटे अन्तर्मुहूर्ततक तो अपर्याप्त रहता है और फिर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बादसे लेकर जन्मपर्यंत पर्याप्तक ही रहता है।

उदयात्पर्याप्तकस्य कर्मणो हेतुमुत्तरात्। सम्पूर्णं वपुरादत्ते निष्प्रत्यूहतयासुमान् ॥ ७८ ॥ अपर्याप्तकजीवस्तु नाश्नुते वपुःपूर्णताम्। अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विपक्षस्य

शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेपर फिर उस पिण्डमें इंद्रिय बननेकी शक्ति उत्पन्न होती है और यह एक छोटे अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण हो जाती है। इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद श्वासोच्छ्वास लेनेकी शक्ति उत्पन्न होती है और वह अन्तर्मुहूर्तमें ही समाप्त हो जाती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्तमें ही भाषापर्याप्ति अर्थात् भाषावर्गणा प्रगट होनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है और अन्तमें मनःपर्याप्ति अर्थात् मन बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है। इस-प्रकार इन छहों पर्याप्तियोंका स्वरूप है।

इसमें भी इतना विशेष है कि अपर्याप्तकके दो भेद हैं एक लब्ध्यपर्याप्तक और दूसरा निर्वृत्यपर्याप्तक। जिसके अपर्याप्तकनामा नामकर्मका उदय होता है वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। ऐसा जीव शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले ही मर जाता है अर्थात् वह क्षुद्रभव धारण करनेवाला जीव होता है और उसकी आयु एक श्वास-के अठारहवें भागकी होती है अर्थात् वह एक श्वासमें अठारह बार मरता है और अठारह बार जन्म लेता है और इसप्रकार महादुख भोगता रहता है। दूसरा जो निर्वृत्यपर्याप्तक होता है वह होता तो है पर्याप्तकनामा नाम कर्मके उदयसे और इसीलिए वह नियमसे पर्याप्तक अवस्था धारण करता है परंतु पर्याप्तक अवस्था अंतर्मुहूर्तमें होती है अतएव जन्मसे लेकर अर्थात् उस रजोवीर्यके पिंडमें आनेके समयसे लेकर जबतक पर्याप्तक अवस्था धारण नहीं करता तबतक वह अपर्याप्तक ही कहलाता है। ऐसे अपर्याप्तकको निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं और वह पर्याप्तक अवस्था नियमसे धारण करता है ॥ ७८ ॥ अपर्याप्तक जीवके अपर्याप्तकनामके नामकर्मका उदय होता है। यह अपर्याप्तक नामकर्म पर्याप्तक नामकर्मका विरोधी है। उसी पर्याप्तकनामा नामकर्मके विरोधी अपर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे यह जीव शरीर बननेकी शक्तिको पूर्ण नहीं कर पाता है। शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण होनेके पहले ही आयु पूर्ण हो जानेके कारण मर जाता है ऐसे जीवको अपर्याप्तक कहते हैं ॥ ७९ ॥ इस अपर्याप्तक जीवकी आयु एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण होती है। यही उसकी जघन्य आयु है और

पाकतः ॥ ७९ ॥ अष्टादशैकभागेऽस्मिन् श्वासस्यैकस्य मात्रया ...। जघन्यं स्यादुत्कृष्टं तावदेव हि ॥ ८० ॥ क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागमात्। तद्दायु-

यही उत्कृष्ट आयु है। भावार्थ—एक श्वास लेनेमें जितना समय लगता है उसके अठारह भाग किये जांय, उसमेंसे एक भागका जितना समय है उतनी ही आयु अपर्याप्तक जीवकी होती है। उसमें उत्कृष्ट जघन्यका भेद नहीं होता ॥ ८० ॥ शास्त्रोंमें बतलाया है कि यह आयु सबसे जघन्य आयु है और क्षुद्रभव धारण करने-वालोंकी होती है। इसप्रकारकी आयुको धारण करनेवाले अर्थात् क्षुद्रभव धारण करनेवाले जीव अत्यंत दुखी होते हैं ॥ ८१ ॥ लिखा भी है।

तिण्णिसयाछत्तीसाछावट्ठिसहस्सवार मरणाइं। अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

अर्थ—यह जीव अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानोंमें एक अंतर्मुहूर्त समयमें छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार जन्ममरण करता है और इतने ही क्षुद्रभव धारण करता है। इसका भी विशेष स्वरूप इसप्रकार है। दो इन्द्रियोंके भव ८०। तेइन्द्रियके ६०। चौ इन्द्रियके ४०। पंचेन्द्रियके २४। इन पंचेंद्रियके २४ भवोंमें भी तीन भाग हैं। तहां मनुष्योंमें लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८ संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८ तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके भव ८। इसप्रकार त्रस जीवोंके सब मिलाकर २०४ जन्ममरण होते हैं। तथा पृथ्वीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक इन पांचोंके स्थूल और सूक्ष्मके भेदसे दश भेद होते हैं तथा प्रत्येक वनस्पतिका एक स्थूल ही भेद होता है इसके दो भेद नहीं होते। ये सब ग्यारह भेद होते हैं। इनमें प्रत्येकके छह हजार बारह बारह जन्ममरण होते हैं अतएव ग्यारह-प्रकारके स्थावर जीवोंके छ्यासठ हजार एकसौ बत्तीस जन्ममरण होते है। इनमें पहलेके त्रस जीवोंके छह स्थानोंके २०४ जन्ममरण मिला देनेसे सब मिल कर ६६३३६ जन्ममरण हो जाते हैं। ये सब संसारी जीवोंके क्षुद्र भव हैं, इसप्रकार एक श्वासके अठारहवें भाग आयुके प्रमाणसे एक अन्र्मुहूर्तमें सत्रह स्थानोंमें यह संसारी जीव मिथ्यात्वके उदयसे सर्वोत्कृष्ट क्षुद्रभव ६६३३६ धारण करता है।

विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥८१॥ उक्तं च । तिण्णिसयाछत्तीसांछावट्ठिसहस्सवार मरणाइ । अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः । अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥ एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो देशितं मया । ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥ किंचिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् । धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याज्जिनशासनात् ॥ ८४ ॥ अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः । साधारणनिकोतांगैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥ उक्तं च । पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा । अपदिट्ठिदा णिगोदै पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥ किन्तु धातुचतुष्कस्य

यहांपर अपर्याप्त शब्दसे लब्ध्यपर्याप्तक समझना चाहिए क्योंकि जो निर्वृत्यपर्याप्तक है वह तो नियमसे पर्याप्तक होता ही है अथवा निर्वृत्यपर्याप्तकको पर्याप्तक ही समझना चाहिए, क्योंकि उसके पर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय रहता है अपर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय नहीं रहता ॥८२॥ जिसप्रकार ये पृथ्वीकायके भेद बतलाए हैं उसीप्रकार जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिकके भी भेद समझ लेना चाहिए। ग्रंथ बढ जानेके भयसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे हमने उन सबका लक्षण जुदा जुदा नहीं कहा है ॥ ८३ ॥ जिनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है ऐसे पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चारोंकी ही जैनशास्त्रोंमें धातुसंज्ञा कही गई है ॥ ८४ ॥ ये चारों ही धातु अप्रतिष्ठित होते हैं। इनमें वनस्पतिकायिकके साधारण निगोदिया जीव नहीं रहते। भावार्थ—जिसप्रकार आलू, अरवी, गाजर, मूली आदिमें निगोदिया अनंत जीव भरे रहते हैं जैसा कि दूसरे सर्गके ७९ वें श्लोकके आगे तीन गाथाओं द्वारा बतलाया है वैसे अनंतानंत निगोदिया जीव इन पृथ्वी जल अग्नि वायुमें नहीं रहते ॥८५॥ सो ही लिखा है—

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा। अपदिट्ठिदा णिगोदै पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तीर्थकरोंका शरीर, आहारक शरीर, देवोंका शरीर और नारकियोंका शरीर इन आठ स्थानोंमें निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। इनके सिवाय बाकी जीवोंके शरीर निगोदराशिसे भरे हुए प्रतिष्ठित समझने चाहिए ॥ १ ॥

इसप्रकार यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों धातुओंमें निगोदिया जीव नहीं रहते तथापि इन चारों

पिण्डे सूच्यग्रमात्रके । एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६ ॥ अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् । तद्वधादिपरित्यागदूरभवेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥ अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः । पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च वादराश्चेति भेदतः ॥८८॥ पर्याप्तपर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा । प्रत्येकाः साधार-

ही धातुओंका पिंड जितना सुईके अग्रभागपर आता है उतने धातुओंके पिंडमें असंख्यात एकेंद्रिय जीव होते हैं। उन जीवोंकी संख्या न तो संख्यात होती है और न अनंत होती है किंतु असंख्यात ही होती है। भावार्थ–सुईके नोकपर जितनी मिट्टी आ सकती है उसमें असंख्यात पृथ्वीकायिक जीव होते हैं । इसीप्रकार सुईकी नोकपर जितना पानी आता है उसमें असंख्यात जलकायिक जीव होते हैं । सुईकी नोकपर जितनी अग्नि आती है उसमें असंख्यात अग्निकायिकके जीव होते हैं। सुईकी नोकपर जितना वायु आता है उसमें असंख्यात वायुकायिक जीव होते हैं ॥ ८६ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि श्रावकोंके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं होता तथापि उनको पृथ्वीकायिकादि जीवोंकी रक्षाका प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए। भावार्थ–श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं। अणुव्रतोंमें त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग होता है, स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग पूर्णरीतिसे नहीं होता तथापि श्रावकोंको अधिक जल फैलाकर जलकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। व्यर्थ ही मिट्टी खोद कर पृथ्वीकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए । व्यर्थ ही अग्नि जला कर अग्निकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। अधिक वायु झकोरकर वायुकायिक जीवोंकी अधिक हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसप्रकार इन चारों धातुओंके जीवोंकी रक्षा श्रावकोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ ८७ ॥

वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त होते हैं तथा उनके भी पहलेके समान स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद होते हैं ॥ ८८ ॥ इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं। एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक । भावार्थ–पर्याप्तक स्थूल वनस्पतिकायिक, अपर्याप्तक स्थूल वनस्पतिकायिक, पर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक, अपर्याप्तक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक। इसप्रकार वनस्पतिकायिकके चार भेद हो जाते हैं। जैनशास्त्रोंमें इन सबके दो दो भेद

णाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥ सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् । ज्ञातव्यं यत्प्रागेव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥ साधारणा निकोताश्च सन्त्येवैकार्थवाचकाः । घृतवद्घटवद्भूयैः सूक्ष्मैर्लोकोयं संभृतोखिलः ॥ ९१ ॥ आधाराधेयहेतुत्वाद् बादराः स्युः क्वचित्क्वचित् । तेपि प्रतिष्ठिताः केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥ ९२ ॥ तैराश्रिता यथा प्रोक्ताः प्रागितो मूलकादयः । अनाश्रिता यथैतैश्च व्रीहयश्चणकादयः ॥ ९३ ॥ तत्रैकस्मिन् शरीरेपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः । प्रत्येकाश्च

बतलाए हैं । एक प्रत्येक और दूसरे साधारण ॥ ८९ ॥ इनमेंसे सूक्ष्म, बादर (स्थूल) पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका लक्षण पहले बता चुके हैं, इनका जो लक्षण पहले संक्षेपसे बतलाया है वही यहांपर समझ लेना चाहिये ॥९०॥ साधारण और निगोद ये दोनों ही शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं । जो निगोदका अर्थ है वही साधारणका अर्थ है । ऐसे सूक्ष्म निगोदिया जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश इसप्रकार भरा हुआ है जैसे घीका घडा घीसे भरा रहता है । भावार्थ—जैसे घीसे भरे हुए घडेमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं रहती जहां घी न हो उसीप्रकार इस समस्त लोकाकाशमें कोई ऐसी जगह खाली नहीं है जहां सूक्ष्म निगोदिया जीव न भरे हों, सूक्ष्म निगोदिया जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश ठसाठस भरा हुआ है ॥ ९१ ॥ स्थूल वनस्पतिकायिक जीव इस लोकाकाशमें आधाराधेयरूपसे कहीं कहींपर रहते हैं । भावार्थ—स्थूल वनस्पतिकायिक इस लोकाकाशमें सब जगह नहीं हैं किंतु कहीं कहींपर हैं तथा वे किसी न किसीके आधार हैं । स्थूल जीव सूक्ष्म जीवोंके समान निराधार नहीं रहते किंतु किसी न किसीके आधारपर ही रहते हैं तथा वे स्थूल जीव अन्य कितने ही जीवोंके आधारभूत भी होते हैं । उन स्थूल जीवोंमेंसे कितने तो ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे भरे हुए प्रतिष्ठित हैं और कितने ही ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे रहित अप्रतिष्ठित हैं । भावार्थ—स्थूल जीवोंके दो भेद हैं प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित । जिनके आश्रय अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहें उनको प्रतिष्ठित कहते हैं और जिनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव उत्पन्न न होते हों उनको अप्रतिष्ठित कहते हैं ॥ ९२ ॥ उन अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे आश्रित रहनेवाले--अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे भरे हुए वनस्पतिकायिक स्थूल जीव मूली अदरक आदिक हैं जिनका स्वरूप पहले दूसरे अध्यायमें अच्छीतरह बतला चुके हैं तथा जो अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे

निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु सञ्ज्ञिताः ॥ ९४ ॥ उक्तं च । एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ फलमेतावदुक्तस्य तद्बोधस्याथवार्थतः । यतस्तद्रक्षणे कार्यः श्रावकैर्दुःखभीरुभिः ॥९५॥ उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा । साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम्

आश्रित नहीं है अर्थात् जिनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव नहीं हैं वे एक स्थूल बनस्पतिकायिक गेहूं चना आदि हैं। भावार्थ—गेहूं चना आदि अप्रतिष्ठित हैं और मूली अदरक आलू आदि प्रतिष्ठित हैं ॥ ९३ ॥ उनमें जो प्रतिष्ठित हैं उनमें जो निगोदिया जीवोंके शरीर हैं उनमें एक एक शरीरमें अनन्तातन्त प्राणी रहते हैं। उनको शास्त्रोंमें प्रतिष्ठितप्रत्येक कहते हैं ॥ ९४ ॥ लिखा भी है—

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धे हि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

अर्थ—निगोदिया जीवोंके एक शरीरमें जो अनंतानंत जीव होते हैं उनकी संख्या अनादिकालसे आजतक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्यासे अनंतगुणी है। भावार्थ—अनादिकालसे सिद्ध होते चले आ रहे हैं, उन सिद्धोंकी संख्या भी अनंतानंत है परन्तु एक निगोदिया शरीरमें जो जीव होते हैं उनकी संख्या उन सिद्धोंकी समस्त अनंतानंत संख्यासे भी अनन्तगुणी है। इतने जीव निगोदिया जीवके एक शरीरमें रहते हैं। इनका स्वरूप दूसरे सर्गमें अच्छीतरह कहा गया है ॥ १ ॥

इस सब कथनके कहनेका जाननेका और उसके अर्थको समझनेका यही फल है कि जो श्रावक संसारपरिभ्रमणके दुःखोंसे डरते हैं उनको इन समस्त जीवोंकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। भावार्थ—ऊपर जो कुछ एकेन्द्रिय जीवोंका स्वरूप बतलाया है उन सबकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जो अनन्तकाय वनस्पति हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा पृथ्वीकायिक आदि जीवोंको भी बिना प्रयोजनके नहीं सताना चाहिये। इन समस्त जीवोंकी रक्षा करना ही इस सब कथनके कहनेका फल है यही इस कथनको जान लेनेका फल है और यही इस ग्रन्थके अर्थ समझ लेनेका फल है। जीवोंकी रक्षाके सिवाय इस कथनके कहने जानने वा सुननेका और कोई फल नहीं है अतएव श्रावकोंको इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ ९५ ॥ इस-

॥ ९६ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसाःस्युर्द्वीन्द्रियादयः । पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥ कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः । प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैते भ्रमराश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९८ ॥ पंचेन्द्रिया द्विधा ज्ञेयाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षाः देवनारकमानुषाः ॥ ९९ ॥ तिर्यंचस्तत्र पञ्चाक्षाः सञ्ज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजाः ॥ १०० ॥ लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यंचो मनुजाश्च ये । असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मू-

प्रकार संक्षेपसे एकेन्द्रिय जीवोंका लक्षण बतलाया । अब आगे दोइंद्रिय तेइंद्रिय आदि त्रसजीवोंका लक्षण कहते हैं ॥ ९६ ॥

शास्त्रोंमें त्रसजीवोंका लक्षण 'द्वींद्रियादयस्त्रसाः' अर्थात्-'दो इंद्रियको आदि लेकर त्रस हैं' ऐसा कहा है। भावार्थ-त्रसनामा नामकर्मके उदयसे जो उत्पन्न होते हैं उनको त्रस कहते हैं । संसारमें जितने दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव हैं वे सब त्रस कहलाते हैं । उन सब त्रसजीवोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक। भावार्थ-दोइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं, तेइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं, चौइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं और पंचेंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दोप्रकार हैं ॥९७॥ लट, गेंडुए आदि जीव दोइंद्रिय कहलाते हैं, चींटी, चींटा, खटमल आदि तेइंद्रिय जीव कहलाते हैं तथा भौंरा, मक्खी ततैया, वर्र, लैंप वा दीपकपर आनेवाले छोटे छोटे उडनेवाले जानवर सब चौइंद्रिय कहलाते हैं, ये सब जीव संसारमें प्रसिद्ध हैं ॥ ९८॥ पंचेंद्रिय जीवोंके दो भेद हैं एक सैनी और दूसरे असैनी । उनमेंसे देव, नारकी और मनुष्य सब सैनी पंचेंद्रिय कहलाते हैं ॥९९॥ संसारमें जितने पचेंद्रिय तिर्यंच हैं वे दोप्रकारके हैं एक सैनी और दूसरे असैनी। वे दोनों ही प्रकारके तिर्यंच दो दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज और दूसरे सम्मूर्च्छन। भावार्थ-सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच भी दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच और दूसरे जहांतहां अपनेआप उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्च्छन सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच। गाय भैंस कबूतर आदि गर्भज सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं और मेंढक आदि संमूर्च्छन सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं। इसीप्रकार असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन और गर्भजके भेदसे दो दोप्रकारके होते हैं। जैसे

र्च्छिमा न गर्भजाः ॥ १०१ ॥ इति सत्तेपतोप्यत्र जीवस्थानान्यचीकथत । तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥ व्यपरोपणं प्राणानां जीवाद्विश्लेषकारणम् । नाशकारणसामग्री सानिध्यं वा बहिष्कृतम् ॥ १०३ ॥ अर्थात्तज्जीवद्रव्यस्य नाशो नैवात्र दृश्यते । किन्तु जीवस्य प्राणेभ्यो वियोगो व्यपरोपणम् ॥१०४॥

कोई कोई पानीके सर्प सम्मूर्च्छन असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं और कोई कोई जंगली तोते गर्भज असैनी पंचेंद्रिय-तिर्यंच हैं ॥ १०० ॥ इनमें जो लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच हैं वे सब असैनी होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे सब सम्मूर्च्छन होते हैं तथा लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन ही होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक चाहे तिर्यंच हों चाहे मनुष्य हों वे सब सम्मूर्छन ही होते हैं गर्भज नहीं होते। स्त्रियोंके कुच वा कांख आदि स्थानोंमें सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १०१ ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे जीवोंके स्थान बतलाए। इन सबका स्वरूप समझ कर श्रावकोंको इन समस्त जीवोंपर करुणा वा दया करनी चाहिए ॥ १०२ ॥

अब आगे व्यपरोपण शब्दका अर्थ बतलाते हैं। जीवसे उसके प्राणोंको अलग करना वियोग करना व्यपरोपण कहलाता है अथवा प्राणोंके नाश करनेकी सामग्रीका इकट्ठा करना अथवा प्राणोंको जीवसे सर्वथा अलग कर देना व्यपरोपण है। भावार्थ—जीवोंके दश प्राण पहले बता चुके हैं। उन प्राणोंका जीवसे अलग कर देना प्राणोंका व्यपरोपण अथवा हिंसा कहलाती है अथवा उन प्राणोंके वियोग करनेकी सामग्री मिला देना भी हिंसा ही कहलाती है जैसे किसीके भोजनमें विष मिला देना भी हिंसा ही कहलाती है क्योंकि उससे उसके प्राण अवश्य नष्ट हो जाते हैं ॥ १०३ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इस संसारमें जीवद्रव्यका तो नाश कभी होता ही नहीं है किंतु जीवद्रव्यसे उसके वर्तमान आयु, श्वासोच्छ्वास आदि प्राणोंका वियोग हो जाता है। इसीको प्राणोंका व्यपरोपण वा हिंसा कहते हैं ॥ १०४ ॥

कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि प्राणोंका वियोग होना भी अनित्य है, होता ही रहता है। भावार्थ - प्राणोंका वियोग करनेसे नहीं होता किंतु बिना किए भी होता रहता है क्योंकि बिना मारे भी जीव मरते ही हैं तथा वे जीव फिर अन्य प्राणोंको धारण करते ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है।

ननु प्राणवियोगोपि स्यादनित्यः प्रमाणसात्। यतः प्राणान्तरान् प्राणी लभते नात्र संशयः ॥ १०५ ॥ मैवं प्राणान्तरप्राप्तौ पूर्वप्राणप्रपीडनात्। प्राणभृद्दुःखमाप्नोति निर्वाच्यं मारणान्तिकम् ॥ १०६ ॥ कर्मासातं हि बध्नाति प्राणिनां प्राणपीडनात्। येन तेन न कर्तव्या प्राणिपीडा कदाचन ॥ १०७ ॥ ततो न्यायागतं

अतएव जब प्राणोंका वियोग होना अनित्य है और प्राणोंका वियोग होनेपर जब यह प्राणी अन्य प्राणोंको धारण कर ही लेता है तब फिर प्राणोंका वियोग करनेमें कोई पाप नहीं होता ॥ १०५ ॥ परंतु यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जब इस जीवके प्राणोंका वियोग होता है तब उन प्राणोंको बहुत ही पीडा होती है तथा प्राणोंको पीडा होनेसे उस जीवको मरणसे उत्पन्न होनेवाला एकप्रकारका ऐसा महा दुःख होता है जो बचनोंसे कहा भी नहीं जा सकता। भावार्थ---मरते समय इस जीवको जो दुःख होता है उसे कोई कह भी नहीं सकता। प्राणोंका वियोग करनेसे वा मारनेसे जीवको इतना भारी दुःख होता है ।१०६। इसीके साथ दूसरी बात यह है कि प्राणियोंकी पीडा करनेसे यह जीव बहुतसे असातावेदनीयकर्मका बंध करता है, इसलिए श्रावकोंको वा गृहस्थोंको प्राणियोंकी पीडा कभी नहीं करनी चाहिए। भावार्थ---जो प्राणियोंका वियोग करता है उसके तीव्र असातावेदनीयकर्मका बंध होता है तथा तीव्र असातावेदनीयकर्मका बंध होनेसे उसके उदय होनेपर उस जीवको अनेकप्रकारके महा दुःख भोगने पडते हैं अतएव उन दुःखोंसे बचनेके लिए जीवोंको चाहिए कि किसी भी जीवके प्राणोंका वियोग वा हिंसा न करें ॥ १०७ ॥ इसप्रकार यह बात न्यायपूर्वक सिद्ध हो जाती है कि जो जो कार्य इस जीवको दुःख देनेवाले हैं, जिन कार्योंसे अन्य जीवोंको किसी भी प्रकारकी बाधा वा दुःख पहुंचता हो, उन सब कार्योंका मनसे, बचनसे और कायसे त्याग कर देना चाहिए ॥ १०८ ॥ अतएव हे वत्स ! फामन ! तू कभी झूठ मत बोल, अनेकप्रकारके पाप उत्पन्न करनेवाली चोरी कभी मत कर, कुशीलसेवन कभी मत कर और किसी भी प्रकारकी मूर्च्छा वा परिग्रह रखनेकी लालसा मत कर। भावार्थ---झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन सब पापोंका त्याग कर दे ॥ १०९ ॥ क्योंकि झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, कुशीलसेवन करनेसे और परिग्रहकी अधिक लालसा रखनेसे प्राणियोंको पीडा अवश्य होती है, तथा प्राणियोंको पीडा होनेसे पापकर्मोंका बंध

चैतद्यद्बाधाकरं चितः। कायेन मनसा वाचा तत्तत्सर्वं परित्यजेत् ॥ १०८ ॥ तस्मात्त्वं मा वदासत्यं चौर्यं माचर पापकृत्। माकुरु मैथुनं कांचिन्मूर्च्छा वत्स परित्यज ॥ १०९ ॥ यतः क्रियाभिरेताभिः प्राणिपीडा भवेद् ध्रुवम्। प्राणिनां पीडयावश्यं बन्धः स्यात्पापकर्मणः ॥ ११० ॥ तदेकाक्षादिपञ्चाक्षपर्यन्ते दुःखभीरुणा। दातव्यं निर्भयं दानं मूलं व्रततरोरिव ॥ १११ ॥ नन्वेवमीर्यासमितौ सावधानमुनावपि। अतिव्याप्तिर्भवेत्कालप्रेरितस्य मृतौ चितः ॥ ११२ ॥ मैवं प्रमत्त-

अवश्य होता है। भावार्थ---जहां जहां प्राणियोंको पीडा होती है वहां वहां पापकर्मोंका बंध अवश्य होता है और जहां जहां पापकर्मोंका बंध होता है वहां वहांपर उनके उदय होनेपर उन जीवोंको महा दुःख प्रगट होता है अतएव उन दुःखोंसे बचनेके लिए कोई किसीप्रकारका भी पापकार्य नहीं करना चाहिए ॥ ११० ॥ इसलिए जो जीव उन पापकर्मोंके उदयसे होनेवाले महादुःखोंसे डरना चाहते हैं बचना चाहते हैं उन्हें एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियपर्यंत समस्त जीवोंको अभयदान देना चाहिए अर्थात् समस्त जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए। यह समस्त जीवोंकी रक्षा करना व्रतरूपी वृक्षकी जड है। भावार्थ--जड होनेसे जैसे वह वृक्ष बढता है फूलता है और फलता है उसीप्रकार समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे समस्त व्रतोंका धारण होता है, पालन होता है और उनके यथेष्ट फल प्राप्त होते हैं ॥१११॥

यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि जो मुनि चलते समय ईर्यासमितिसे सावधान रहते हैं अर्थात् ईर्यासमितिको पूर्णरीतिसे पालन करते हुए चलते हैं उनके पांवसे भी कालके द्वारा प्रेरित हुए प्राणीकी मृत्यु हो सकती है। भावार्थ---ईर्यासमितिसे चार हाथ भूमि देखते हुए चलनेपर भी कभी कभी ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि जब आगेकी जगहपर रखनेके लिए पैर उठाया था तब तक वहांपर कोई जीव नहीं था परंतु जब पैर रक्खा तो पैर रखनेके साथ ही साथ कोई प्राणी उड कर पैरके नीचे आकर दब गया। ऐसी अवस्थामें ईर्यासमितिसे चलनपर भी हिंसा हो गई। चाहे वह जीव अपनी आयुके पूर्ण होनेसे ही वहां आ कर दबा हो तथापि हिंसा तो समझी ही जायगी। इससे सिद्ध होता है कि जीवोंकी रक्षा करते हुए भी हिंसा हो ही जाती है। इसलिए अहिंसाके इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति दोष उसको कहते हैं जो लक्ष्य और

योगत्वाद्धेतोरध्यक्षजाग्रतः । तस्याभावान्मुनौ तत्र नातिव्याप्तिर्भविष्यति ॥११३॥ एवं यत्रापि चान्यत्र मुनौ वा गृहमेधिनि । नैवं प्रमत्तयोगोस्ति न बन्धो बन्धहेतुकः

अलक्ष्य दोनोंमें रहे अर्थात् जिसका लक्षण करते हैं उसमें भी वह लक्षण रहे और उसके सिवाय अन्यमें भी वह लक्षण रहे उसको अतिव्याप्ति दोष कहते हैं । यहांपर भी अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि जो जीव मरते हैं उनसे भी हिंसा होती है और जो जीवोंको सवर्था बचानेका प्रयत्न करते हैं जो जीवोंकी रक्षाके लिये ही ईर्यासमितिसे चलते हैं उनसे भी हिंसा होती है इसलिए अहिंसाका यह लक्षण ठीक नहीं है।११२। परंतु शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जहांपर प्रमाद वा कषायके संबंधसे प्रत्यक्ष जीवकी हिंसा होती है वहींपर हिंसा कहलाती है । मुनिराजके कषायका संबंध लेशमात्र भी नहीं है । उनके प्रमादका सवर्था अभाव है अतएव प्राणोंका वियोग होनेपर भी उनको हिंसाका दोष लेशमात्र भी नहीं लग सकता । भावार्थ–मोक्षशास्त्रमें भी लिखा है "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमादके योगसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है । इसमें प्रमादका होना मुख्य है। जहां जहां प्रमाद है वहां वहां अवश्य हिंसा होती है, चाहे प्राणोंका वियोग हो वा न हो परंतु प्रमादके (कषायके) होनेपर हिंसा अवश्य होती है तथा जहां जहां प्रमाद नहीं है वहां वहां हिंसा भी नहीं है। प्रमादके न होनेपर चाहे प्राणोंका वियोग भले ही हो जाय तथापि वहांपर हिंसा नहीं होती है क्योंकि हिंसाका लक्षण ही प्रमाद वा कषाय है । लिखा भी है–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति । तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।

अर्थात्–रागद्वेष आदि कषायोंका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उन राग द्वेष आदि कषायोंका उत्पन्न होना ही हिंसा है । हिंसा और अहिंसाका लक्षण समझनेके लिए जैनशास्त्रोंका यही संक्षेप रहस्य है ।

जब मुनिराज ईर्यासमितिसे चल रहे हैं और जीवोंकी रक्षा करनेमें सर्वथा दत्तचित्त हैं उस समय उनके किंचित्मात्र भी कषाय वा प्रमाद नहीं है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि ईर्यासमितिमें सावधान रहते हुए भी उनके पैर रखनेके साथ ही उड कर आया हुआ जीव यदि दब कर मर भी जाय तो भी

॥ ११४ ॥ उक्तं च । मरदुव जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । पयदस्स णत्थिबन्धो हिंसामित्तेण विरदस्स ॥ ननु प्रमत्तयोगो यस्त्याज्यो हेयः स एव

उन मुनिराजको हिंसाका दोष नहीं लग सकता क्योंकि उनके प्रमादका सर्वथा अभाव है और बिना प्रमादके हिंसा हो ही नहीं सकती इसलिए शंकाकारने जो अहिंसाके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष दिया था उसका निवारण अच्छीतरह हो जाता है ॥ ११३ ॥ चाहे मुनि हो और चाहे गृहस्थ हो यह नियम सब जगह समझ लेना चाहिए कि जहांपर प्रमाद नहीं है वहांपर न तो कर्मोंका बंध होता है और न कर्मोंके बंध होनेका कोई कारण ही है। भावार्थ–जो मुनि वा गृहस्थ प्रमादरहित है, जीवोंकी रक्षा करनेमें सावधान है, उनके कर्मोंका बंध नहीं होता है। सो ही लिखा है—

मरदुव जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थिबंधो हिंमामित्तेण समिदस्स।

अर्थ—जीव चाहे मर जाय अथवा जीवित बना रहे परंतु जो जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न नहीं करता जीवोंकी रक्षामें सावधान नहीं रहता उसके हिंसाका पाप अवश्य लगता है तथा जो समितियोंका पालन करता है जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करता है सावधानी रखता है उसके जीवोंकी हिंसा होनेपर भी कर्मोंका बंध नहीं होता। भावार्थ—हिंसाका दोष प्रमादके होनेपर ही होता है बिना प्रमादके हिंसाका दोष नहीं लगता।

यहांपर शंका करनेवाला शंका करता है कि जब प्रमादके संबंधसे ही हिंसाका पाप लगता है, जीवोंके प्राणोंका वियोग हो या न हो परंतु प्रमाद होनेपर हिंसाका पाप लग ही जाता है तो फिर प्रमादका ही त्याग करना चाहिए क्योंकि प्रमाद ही त्याग करने योग्य है। प्रमादके त्याग कर देनेपर फिर प्राणियोंको पीडा हो वा न हो यह प्राणियोंकी इच्छापर निर्भर रहना चाहिए। भावार्थ–प्रत्येक प्राणीको प्रमादका त्याग कर देना चाहिए, प्रमादका त्याग कर देनेपर फिर चाहे वह जीवोंकी हिंसा करे या न करे दोनों ही अवस्थाओंमें उसे हिंसा करनेका पाप नहीं लग सकता। इसका भी अभिप्राय यह है कि प्रमादका त्याग कर देनेपर चाहे वह अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता रहे तो भी उस हिंसाका दोष नहीं लगना चाहिए ॥११५॥ परंतु कविराज कहते हैं कि शंकाकारकी ऊपर लिखी शंका

च।। प्राणिपीडा भवेन्मा वा कामचारोस्तु देहिनाम् ॥ ११५ ॥ मैवं स्यात्कामचारोऽस्मिन्नवश्यं प्राणिपीडनात्। विना प्रमत्तयोगाद्दै कामचारो न दृश्यते ॥११६॥ उक्तं च। तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम्। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः॥ अकामकृतकर्म तन्मतमकारण ज्ञानिनां। द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च॥ सिद्धमेतावता नूनं त्याज्या हिंसादिका क्रिया। त्यक्तायां प्रमत्तयोगस्तत्रावश्यं निवर्तते ॥ ११७ ॥ अत्यक्तायां तु हिंसादिक्रियायां द्रव्य-

ठीक नहीं है क्योंकि प्रमादका त्याग कर देनेपर जीवोंकी हिंसा करना हिंसा करनेवालेकी इच्छा पर निर्भर रखना सर्वथा अयुक्त है अर्थात् यह बात बन नहीं सकती। जिसने प्रमादका त्याग कर दिया है वह हिंसा भी करता रहे यह बात सर्वथा असंभव है क्योंकि हिंसा करनेसे प्राणोंकी पीडा अवश्य होती है तथा बिना प्रमादके हिंसा करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। भावार्थ—बिना प्रमादके न तो हिंसा करनेके परिणाम होते हैं और न हिंसा हो सकती है ॥ ११६ ॥ सो ही लिखा है—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां। द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च।

अर्थ—ज्ञानियोंको निरर्गल प्रवृति नहीं करनी चाहिए क्योंकि निरर्गल व्यापार करना प्रमादका घर है। जो कर्म बिना इच्छाके किया जाता है वह ज्ञानियोंके लिए कर्मबंधका कारण नहीं होता। इसलिए करता और जानता दोनों ही परस्पर विरुद्ध नहीं होते इससे सिद्ध होता है कि हिंसादिक क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। हिंसादिक क्रियाओंका त्याग कर देनेसे प्रमादरूप योगोंका त्याग अपनेआप हो जाता है। भावार्थ—जब यह नियम है कि प्रमादके होनेसे ही हिंसादिक क्रिया होती है बिना प्रमादके हिंसा नहीं होती तो फिर हिंसादिकका त्याग कर देनेसे प्रमादका त्याग अपनेआप सिद्ध हो जाता है इसलिए हिंसादिक क्रियाओंका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ११७ ॥ यदि द्रव्यरूपसे हिंसादिक क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो प्रमत्तयोगरूप जो परिणाम हैं उनका त्याग भी कभी नहीं हो सकेगा ॥११८॥ इसलिए आत्माका कल्याण करनेके लिए द्रव्य और भावकी मैत्री होना ही अच्छा है अर्थात् द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनोंका साथ साथ त्याग कर देना अच्छा है।

रूपतः। भावः प्रमत्तयोगोपि न कदाचिन्निवर्तते ॥ ११८ ॥ ततः साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयोः। न श्रेयान् कदाचिद्वै विरोधो वा मिथोनयोः ॥ ११९ ॥ ननु हिंसा निषिद्धा स्याद्यदुक्तं तद्धि सम्मतः। तस्य देशतो विरतिस्तत्कथं तद्वदाद्य नः ॥ १२० ॥ उच्यते श्रृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुंकाम फामन। देशतो विरतेर्लक्ष्म हिंसाया वच्मि साम्प्रतम् ॥ १२१ ॥ अत्रापि देशशब्देन विशिष्टोशो विवक्षितः। न यथाकाममात्मोर्थे कश्चिदन्यतमोंशकः ॥ १२२ ॥ देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे

इन दोनोंका विरोध होना कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। भावार्थ—यदि भावहिंसाका त्याग कर दिया जाय और द्रव्यहिंसाका त्याग न किया जाय तो भी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता क्योंकि ऊपर लिख चुके हैं कि द्रव्यहिंसाका त्याग कर देनेसे भावहिंसा अवश्य छूट जाती है, यदि भावहिंसाका त्याग न किया जाय तो भावहिंसाका त्याग किए बिना द्रव्यहिंसाका त्याग होना असंभव है इसलिए दोनोंका ही त्याग करना आवश्यक है ॥ ११९ ॥

इतना सब सुन लेनेपर फामन फिर पूछने लगा कि आपने जो हिंसाका त्याग करना बतलाया और उसके त्याग करनेकी जो विधि बतलाई सो तो सब ठीक है परंतु उसका एकदेश त्याग कैसे किया जाता है। एकदेशका क्या अर्थ है उसे ही आज बतलाइये ॥ १२० ॥ हे विद्वान् फामन! तू हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण सुनना चाहता है सो सुन मैं अब उसीका—हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण कहता हूं ॥ १२१ ॥ यहां पर देश शब्दका अर्थ विशिष्ट अंश लिया गया है। अपनी इच्छानुसार त्याग कर देना अथवा किसी एक अंशका त्याग कर देना एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है।

भावार्थ—अपनी इच्छानुसार किसी जीवकी हिंसाका त्याग कर देना और किसीका त्याग न करना एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है, अन्यथा अपने कुटंबके जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देना और अन्य जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना भी अहिंसाणुव्रत हो जायगा, परंतु ऐसे त्यागको अहिंसाणुव्रत कभी नहीं कहते हैं। इसी प्रकार किसी एक अंशका त्याग कर देना भी एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है। यदि यह अर्थ मान लिया जायगा तो सूअरके मारनेका त्याग कर देना और अन्य जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना अथवा गायकी हिंसाका त्याग

तथा भावाद्विवक्षितः । कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥ स्थूलत्वमार्द्रव स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् । अतिचारात्रिनाभूतं सातिचारं च सास्रवम् ॥ १२४ ॥ तद्यथा यो निवृत्तः स्याद्यावत्त्रसवधादिह । न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥ विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि । लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥ उक्तं च । जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ । एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ अत्र तात्पर्य-

कर देना और अन्य बकरे आदि जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना भी अहिंसाणुव्रत माना जायगा, परंतु ऐसे त्यागको अहिंसाणुव्रत कभी नहीं कहते हैं इसलिए एकदेश शब्दका अर्थ शास्त्रोंमें कहा हुआ विशेष अर्थ ही लेना चाहिए ॥ १२२ ॥ यहांपर एकदेश शब्दका अर्थ स्थूल लेना चाहिए तथा भावपूर्वक लेना चाहिए अर्थात् कारणपूर्वक स्थूल हिंसादिकका त्याग करना ही एकदेश त्यागका अर्थ है । यही अर्थ शास्त्रोंमें कहा गया है ॥ १२३ ॥ स्थूल शब्दका भी अर्थ कोमल परिणाम वा करुणा है । करुणापूर्वक स्थूल त्रस जीवोंकी रक्षा करना ही अहिंसाणुव्रत है । यह अणुव्रत अतिचारोंके साथ साथ होता है अर्थात् यह अतिचारसहित होता है और आस्रवसहित होता है । भावार्थ—ऊपर जो स्थूल त्रस जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाणुव्रत बतलाया है उसका अर्थ यह है कि वह अणुव्रत अतिचारसहित होता है तथा यह अणुव्रत सरागसंयमासंयम है इसलिए इसमें आस्रव भी बराबर होता रहता है, इसीलिए इस व्रतको सास्रव अर्थात् आस्रवसहित बतलाया है ॥ १२४ ॥ आगे इसीका खुलासा कहते हैं । इस अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला गृहस्थ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देता है परंतु पांचों स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करता इसलिए अणुव्रतोंको धारण करनेवाला गृहस्थ एक ही पापका त्यागी भी होता है और त्यागी नहीं भी होता अतएव अणुव्रतीको विरताविरत कहते हैं तथा अहिंसाणुव्रतका लक्षण त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना बतलाया है । इसप्रकार जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है उसको अणुव्रती कहते हैं ॥ १२५-१२६ ॥ सो ही लिखा है—

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ । एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥

मेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम । त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितावती ॥१२७। क्रियायां यत्र विद्यातत्त्रसकायवधो महान् । तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥ अत्राप्याशकते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः । कुर्याद्धिंमां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥१२९॥ अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् । अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥ तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शित पूर्वसूरिभिः । नत्रार्थाय विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है परंतु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है। इसप्रकार केवल जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको माननेवाला सम्यग्दृष्टी श्रावक एक ही समयमें विरताविरत कहलाता है। भावार्थ—वह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है इसलिए विरत कहलाता है और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है इसलिए अविरत कहलाता है, इसप्रकार एक ही समयमें वह विरत और अविरत अर्थात् विरताविरत कहलाता है ॥ १ ॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि जिन जिनसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएं हैं उनका सबप्रकारसे आरंभपूर्वक त्याग कर देना चाहिए । इस बातको खूब अच्छी तरह सुन लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी क्रियाओंसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता है । ऐसी त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंसे यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियोंमें ही प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ जिस क्रियाके करनेमें त्रस जीवोंकी महा हिंसा होती हो ऐसी ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए । भावार्थ—अहिंसाणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकको ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥ १२८ ॥

यहांपर कोई पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे कुतर्क करता हुआ शंका करता है कि अपने कार्यके लिए तो त्रस जीवोंकी हिंसा भी कर लेनी चाहिए परंतु बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंका विघात भी नहीं करना चाहिए, परंतु यह उसका विकल्प कपोलकल्पित है । या तो उस अर्थका यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ है अथवा भ्रमरूप बुद्धि होनेसे ऐसी कपोलकल्पना करता है, क्योंकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र वा शास्त्रोंके अनुसार नहीं है। सूत्र वा शास्त्रोंके विरुद्ध है ॥१२९-३०॥ शंका करनेवालेने जो शंका करते हुए अहिंसा अणुव्रतका अर्थ किया है वह विरुद्ध क्यों है इसी बातको आगे दिखलाते हैं। पहलेके आचार्योंने अनादिसिद्ध शास्त्रोंमें जो अर्थ बत-

एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः। नूनं तैः स्खलितं मोहात्सर्वसामान्यसंग्रहात् ॥ १३२ ॥ किञ्च कार्यं विना, हिंसा न कुर्यादितिधीमता। दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥ १३३ ॥ तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने। तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वच्मिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥ उक्तं च। सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम्। तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रक-

लाया है वह यह है कि बिना प्रयोजनके स्थावर जीवोंकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिए (फिर भला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकी तो बात ही क्या है। त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिए। किसी विशेष प्रयोजनके वश होकर भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ १३१ ॥ जो लोग इस सिद्धान्तके विशेष अर्थको नहीं जानते हैं ऐसे लोग ही अपने मोहनीयकर्मके उदयसे स्खलित हो जाते हैं अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे हिंसाको ही अहिंसा वा अहिंसा अणुव्रत मान लेते हैं। ऐसे लोग समस्त कथनको सामान्यरूपसे समझ लेते हैं और सबको सामान्य समझकर एक साथ संग्रह कर लेते हैं ॥ १३२ ॥ दूसरी समझनेयोग्य विशेष बात यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष कृतार्थ होता है वह अपने आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है अतएव वह चौथे गुणस्थानमें भी बिना प्रयोजनके हिंसा नहीं करता। इस बातको सब बुद्धिमान अच्छीतरह जानते हैं ॥ १३३ ॥ यही बात जीवकी सिद्ध अवस्थाके उपायको बतलानेवाले गोमट्टसारनामके सिद्धांतशास्त्रमें बतलाई है। आचार्योंकी परंपरापूर्वक चला आया जो वह सूत्र है उसको मैं अब विश्वासके लिए कहता हूं। भावार्थ—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव भी बिना प्रयोजनके किसी जीवकी हिंसा नहीं करता इस बातको कहनेवाला जो गोमट्टसारका सूत्र है उसको बतलाते हैं ॥ १३४ ॥ गोमट्टसारमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टी जीव भगवान सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रोंका श्रद्धान करता है तथा जिस किसी पदार्थका स्वरूप वह नहीं जानता है और उसका स्वरूप गुरु बतला देवें तो उन गुरुका बतलाया हुआ उस पदार्थका स्वरूप चाहे यथार्थ न हो तो भी वह उन यथार्थ गुरुके कहे हुए बचनोंका श्रद्धान कर लेता है। भावार्थ—गोमट्टसारमें चौथे गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए यह गाथासूत्र कहा गया है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव देव शास्त्र गुरु तीनोंका यथार्थ श्रद्धान

टीकतः ॥ १३५ ॥ टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान्। उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्धाति सः ॥ १३६ ॥ चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिं-

करता है। वह वीतराग सर्वज्ञदेवको ही देव मानता है। वीतराग सर्वज्ञदेव श्रीअरहंतदेवके कहे हुए वचनोंको ही शास्त्र मानता है और परिग्रहरहित मुनिराजको ही गुरु मानता है। इन तीनोंपर वह गाढ श्रद्धान करता है इसीलिए कहा है कि वह भगवान अरहंतदेवके कहे हुए शास्त्रोंका ही श्रद्धान करता है। ऐसा कहनेसे देव और शास्त्रका यथार्थ श्रद्धान सूचित किया है तथा वह निर्ग्रंथ गुरुका इतना गाढ श्रद्धान करता है कि यदि वह गुरुके उपदेशानुसार किसी पदार्थका स्वरूप विपरीत भी समझ ले तथापि उसपर उसीप्रकार श्रद्धान कर लेता है। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी जीव देव शास्त्र गुरुका गाढ श्रद्धान करता है। यह चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवका स्वरूप है॥ इस सूत्रमें एक चकार है। सूत्रकारने जिस प्रयोजनके लिए चकारका ग्रहण किया है उसका स्पष्ट अर्थ टीकाकारने लिखा है ॥ १३५ ॥ टीकाकारने इस सूत्रकी टीका इसप्रकार लिखी है कि जो कोई भी सम्यग्दृष्टी जीव है वह भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका श्रद्धान करता है। इस सूत्रमें जो चकार है उसका अभिप्राय यह है कि उसका हृदय करुणासे अत्यन्त भीगा रहता है क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चार गुण उसके स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं। अतएव वह सम्यग्दृष्टी पुरुष विना प्रयोजनके त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करता है। भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि गोमट्टसारमें यह सूत्रगाथा चौथे गुणस्थानका स्वरूप कहते समय कहा है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यद्यपि व्रती नहीं है, क्योंकि व्रत धारण करना पांचवें गुणस्थानका स्वरूप है अतएव यद्यपि वह हिंसाका त्यागी नहीं है तथापि उसके जो अनुकंपा गुण प्रगट हो गया हैं उसके कारण वह विना प्रयोजनके कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयसे वह हिंसाका त्याग नहीं कर सकता तथापि सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला अनुकंपागुण अपना कार्य अवश्य करता है और उसीके कारण हिंसा करनेके भाव उसके नहीं होते। वह जो प्रयोजनवश हिंसा करता है वह भी कर्मोंके उदयके वशीभूत हो कर लाचारीसे करता है। यही सूत्रमें दिये हुए चकारका अर्थ है ॥ १३६-१३७ ॥

सनम् । विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥ एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे । स एवार्थो यद्यत्रापि व्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥ तत्पञ्चमगुणस्थाने दिग्मात्रं व्रतमिच्छता । त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्याखिलापि च ॥ १३९॥ ननु जलानलोर्व्यन्नसद्वनस्पतिकेषु च । प्रवृत्तौ तच्छ्रिताङ्गानां त्रसानां

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टीका यह स्वरूप सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा जैनशास्त्रोंमें सर्वत्र कहा है। यदि यही अर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें लिया जायगा तो फिर उसको व्रती किस कारणसे कहा जायगा। भावार्थ—पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक ऐसी कोई क्रियाएं नहीं करता जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो। यदि वृती श्रावकका लक्षण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अवृती श्रावकके समान ही माना जायगा तो फिर उसको पांचवें गुणस्थानमें आनेका और व्रती बननेका कारण क्या मानना पडेगा। जब पांचवें गुणस्थानका कोई कारण ही नहीं होगा तो यह अर्थात् सिद्ध हैं कि पांचवें गुणस्थानका अभाव मानना पडेगा ॥ १३८ ॥ इसलिए जो श्रावक पांचवें गुणस्थानको धारण कर थोडेसे भी वृतोंको धारण करना चाहता है उसे ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥ १३९ ॥

यहांपर शंका करनेवाला फिर शंका करता है कि अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवालीं क्रियाओंका त्यागी होता है। स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवालीं क्रियाओंका त्यागी नहीं होता अतएव जब वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करनेवालीं क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है उस समय उन स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी क्या अवस्था होती होगी। भावार्थ—पृथ्वीकायिक जलकायिक वा वनस्पतिकायिक आदि स्थावर जीवोंके आश्रय अनेक त्रस जीव रहते हैं। जब वह अणुव्रती श्रावक ऐसी क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है जिनमें केवल स्थावर जीवोंकी हिंसा होना सम्भव हो तो उस अवस्थामें भी उन स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी भी हिंसा अवश्य हो जायगी अतएव ऊपर जो यह बतलाया गया है कि अणुव्रती श्रावक ऐसी क्रियाएं नहीं करता जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा हो सर्वथा असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रती श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली

तत्र का कथा ॥१४०॥ नैष दोषोल्पदोषत्वाद्वा शक्यावव चनात् । नन्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥१४१॥ एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।

क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता ॥ १४० ॥ कदाचित् यह कहो कि अणुव्रतीके लिए इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि इसमें बहुत थोडा दोष लगता है क्योंकि वह त्रस जीवोंकी हिंसा करनेके लिए तैयार नहीं हुआ है केवल स्थावर जीवोंके आश्रय होनेसे उनका घात हो जाता है। उसके परिणाम उनके हिंसा करनेके लिए नहीं होते इसलिए इसमें अधिक दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिन त्रस जीवोंको वह बचा सकता है उनको बचा देता है, जिनके बचानेमें वह असमर्थ है, किसीतरह भी नहीं बचा सकता उन्हींका घात हो जाता है इसलिए भी इसमें दोष नहीं है। तीसरी बात यह है कि वह श्रावक उन जीवोंके मारनेके प्रति कषाय नहीं कर रहा है कषाय-पूर्वक उनका घात नहीं करता है अतएव प्रमादरहित होनेके कारण भी उसमें दोष नहीं है और चौथी बात यह है कि उनकी रक्षा करनेके लिए वह अच्छीतरह यत्न करता है। उनकी हिंसा होनेमें वह असावधान नहीं है इसलिए भी अणुव्रतीके लिये कोई दोष नहीं आता। शंकाकार कहता है कि इसप्रकार अणुव्रतीको तुम निर्दोष सिद्ध करना चाहो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि वह इसप्रकार निर्दोष सिद्ध हो नहीं सकता। कदाचित् ऊपर लिखे कारणोंसे उसे निर्दोष सिद्ध करना चाहो तो फिर अणुव्रतीके लिये खेती करनेमें भी क्या दोष है क्योंकि जो कारण ऊपर बताए हैं वे सब यहां भी मिलते हैं। जिसप्रकार स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता उसीप्रकार खेतीमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता भावार्थ—यद्यपि खेती करनेमें त्रस जीवोंकी हिंसाका उद्देश नहीं होता तथापि त्रस जीवोंकी हिंसा होती अवश्य है। यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष मानोगे तो फिर खेती करनेमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसा भी निर्दोष माननी पडेगी क्योंकि जिसप्रकार वह उन जीवोंको नहीं बचा सकता उसीप्रकार खेतीमें भी नहीं बचा सकता ॥ १४१-१४२ ॥ दूसरी बात यह है कि खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसके करते समय वह अपनी निंदा अवश्य करता है अर्थात् उस हिंसाको वह त्याज्य वा त्याग

अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥ अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः । प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथास्वं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥ जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः । कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥ नैवं यतोऽनभिज्ञोसि हिंसाणुव्रतलक्षणे । सतृणाभ्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥ वक्ष्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु । क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥ १४६ ॥ अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृह्वेरिहार्थतः । यथा-

करने योग्य अवश्य मानता है। इसीप्रकार जैसे वहांपर उसके प्रमादका अभाव है, कषायरूप परिणामोंका अभाव है उसीप्रकार खेती करनेमें भी कषायरूप परिणामोंका अभाव है। खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसको वह कषाय पूर्वक नहीं करता तथा उनकी रक्षा करनेमें भी वह सावधान रहता है अतएव अणुव्रतीके लिए यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष कहा जायगा तो खेती करनेमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी निर्दोष कहना पडेगा ॥ १५३ ॥

शंकाकार कह रहा है कि कदाचित् तुम यह कहो कि स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीव रहते ही नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जलके आश्रय रहनेवाले त्रस जीव प्रसिद्ध हैं और वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा छोटी छोटी मछलियां तथा और भी अनेकप्रकारके जलचर जीव इन्द्रियोंसे भी दिखाई देते हैं। इसीप्रकार खेती करनेमें भी पृथ्वीमंडलमें रहनेवाले अनेकप्रकारके त्रस जीव प्रसिद्ध हैं। गिंडोरे गिंजाई आदि असंख्यात जीव खेतोंमें उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीवोंका सद्भाव मानना ही पडता है तथा खेती करनेमें भी त्रस जीवोंकी हिंसा माननी ही पडती है। इसप्रकार पांच श्लोकोंमें शंकाकारने शंका उपस्थित की है ॥ १४४ ॥ कविराज अब उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिसप्रकार घासके साथ चावलोंको खाता हुआ हाथी चावलोंको नहीं समझता, केवल घासको ही समझता है उसीप्रकार शंका करनेवाला अहिंसा अणुव्रतके लक्षणको नहीं समझता ॥ १४५ ॥ कविराज शंका करनेवालेसे कहते हैं कि हे शंकाकार तू अत्यंत निन्दनीय और पापका कारण ऐसे प्रमादको छोड कर तथा सावधान हो कर क्षणभर सुन। मैं अब अणुव्रतका लक्षण कहता हूं ॥ १४६ ॥ अणु शब्दका

वधस्य हिंसादेर्हृषीकविषयस्य च ॥ १४७ ॥ कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः। तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसावकाशवान् ॥ १४८ ॥ नचाशंक्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या। सत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिंसाणुव्रतमिष्यते ॥ १४९ ॥ यतः स्वल्पीकृतोप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते। महावधस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत्

अर्थ घटाना है तथा यहांपर प्रकरणके वशसे गृद्धता वा लालसाका घटाना लेना चाहिए तथा वह लालसा भी पापकर्मोंकी लालसा, हिंसाकी लालसा और इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा घटानी वा कम करनी चाहिए ॥१४७॥ खेती आदिक व्यापार महा आरंभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा क्रूर कार्योंसे उपार्जन किए जाते हैं? उन क्रूर कार्योंमें लगा हुआ जीव भला अहिंसा अणुव्रतको किसप्रकार पाल सकता है? भावार्थ—खेती करनेमें महा हिंसा होती है इसलिए खेती करनेवालेसे अणुव्रत कभी पल नहीं सकते ॥ १४८ ॥

यहांपर यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि खेती आदिक महारंभोंमें होनेवाली क्रियाओंका कम करना भी अहिंसा अणुव्रत कहलावेगा क्योंकि खेती आदिमें होनेवाली महारंभोंकी क्रियाएं चाहें जितनी कम की जायं तो भी उनमें महारंभ ही होते रहते हैं। इसका भी कारण यह है कि खेती करनेका महारंभ महा पापका कारण है इसलिए खेती करनेवाला महारंभी पुरुष कभी अणुव्रती नहीं हो सकता। भावार्थ—ऊपर जो यह कहा गया है कि पापोंका वा इन्द्रियोंके विषयोंका कम करना अहिंसाणुव्रत है तथा खेती करनेसे महारंभ होता है इसलिए खेती करनेवालेके अहिंसाणुव्रत हो नहीं सकता। इसपरसे शंकाकार कहता है कि जब कम करनेको ही अहिंसाणुव्रत कहते हैं तब खेती करनेके महारंभको कम कर देना भी अणुव्रत हो जायगा और इस हिसाबसे खेती करनेवाला भी अणुव्रती हो जायगा। जो किसान पहले एक हजार बीघा जमीन जोतता था वह यदि उसको घटा कर पांच सौ बीघा जमीन जोतने लगे तो उसके अणुव्रत क्यों नहीं मानना चाहिए परंतु कविराज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि खेतीकी क्रिया घट जानेपर भी उसमें महारंभ ही रहता है इसलिए खेती करनेवालेके अणुव्रत हो नहीं सकते ॥ १४९-१५० ॥ बहुत कहनेसे क्या? अथवा अधिक वाद विवाद करनेसे वा अधिक बोलनेसे क्या? यह निश्चित सिद्धांत है कि अहिंसा

।१५०। अलं वा बहुनोक्तेन वावदूकतयाप्यलम् । त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥१५१॥ ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः । इच्छतः स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गतिः ॥ १५२ ॥ अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः । कार्या पुण्यफलारलाध्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥ १५३ ॥ यथाशक्ति महारम्भा-स्वल्पीकरणमुत्तमम् । विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥१५४॥ हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरोंशतः । न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते

अणुव्रत धारण करनेवालेको त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १५१ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि जो कोई पुरुष खेती आदिके महारंभोंको पूर्ण रीतिसे त्याग नहीं कर सकता परंतु उनको कम करना चाहता है उसके लिए क्या उपाय किया जायगा । भावार्थ–यदि कोई पुरुष खेती आदिके महारंभोंको कम करना चाहे तो ऊपर लिखे अनुसार उसके अणुव्रत तो हो नहीं सकते फिर उसको उन महारंभोंके कम करनेमें कोई लाभ है या नहीं । यदि कुछ लाभ है तो उन महारंभोंके कम करनेको क्या कहोगे ? कोई व्रत कहोगे या और कुछ ? ॥ १५२ ॥ कविराज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि खेती आदिके महारंभोंको कम करनेवाले लोगोंके लिए भी भगवान जिनेन्द्रदेवने बहुत ही अच्छी गति बतलाई है । भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जो क्रियाएं पुण्यरूप फलको उत्पन्न करनेवाली हैं और इसीलिए प्रशंसनीय और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाली हैं ऐसी क्रियाएं गृहस्थोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ १५३ ॥ अपनी शक्तिके अनुसार खेती आदिके महारंभोंको कम करना उत्तम कार्य है । ऐसे कार्योंके करनेके लिए कभी देर नहीं करनी चाहिए और न ऐसे उत्तम कार्योंके करनेके लिए कुछ विचार करना चाहिए । ॥ १५४ ॥ ऐसे उत्तम कार्योंको अत्यंत शीघ्र और बिना किसी सोचविचारके करनेका कारण भी यह है कि खेती आदिके महा आरंभ जितने कम कर दिये जायंगे उतने ही पापकर्मोंके अंशोंका संवर हो जायगा । यह न्यायसे प्राप्त हुआ प्रवाह सदासे चला आ रहा है वह किसीसे निवारण नहीं हो सकता । भावार्थ—यह नियम है कि पापकार्य जितने कम कर दिये जायंगे उतने ही कर्मोंका बंध कम हो जायगा तथा जितने कर्मोंका बंध कम

॥ १५५ ॥ साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात्। युक्तेः स्वानुभवाच्चापि कर्तव्य प्रकृतं महत् ॥ १५६ ॥ तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम्। पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरवाधितम् ॥ १५७ ॥ उक्तं च। यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः । उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥ आगमः स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम्। यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवलात् ॥ १५८ ॥ यमस्तत्र यथा यावज्जीवन प्रतिपालनम। दैवाद्घोरोपसर्गेपि दुःखे वामरणावधि ॥१५९॥

होगा उतना दुःख कम होगा वा उतना ही सुख अधिक मिलेगा इसलिए खेती आदिके महारंभोंका कम करना सर्वथा कल्याणकारी है ॥ १५५ ॥ इसप्रकार न्यायसे सिद्ध होता है कि खेती आदि महारंभोंका कम करना भी सफल वा पुण्यफलको देनेवाला है। यह बात जैनशास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है, युक्तिसे भी सिद्ध होती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है अतएव खेती आदिके महारंभोंको कम करनेरूप जो उत्तम कार्य है वह गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये ॥ १५६ ॥ जो सूत्रोंके द्वारा आप्तवाक्योंका कहना है वही आगम कहलाता है। वह आगम पूर्वापर विरोधसे रहित होता है और प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे अवाधित होता है। भावार्थ—वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत भगवानको आप्त कहते हैं। ऐसे आप्तके कहे हुए वाक्योंकी सूत्रबद्ध रचना करना आगम है। वह आगम परंपरासे सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ होता है इसलिए उसमें पूर्वापर कोई विरोध नहीं आता और न प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे किसीप्रकारकी वाधा आती है ॥ १५७ ॥ सो ही अन्य शास्त्रोंमें लिखा है। जो पुरुषविशेष वा अरंहतदेव यथार्थदर्शी हैं, समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा जिसप्रकार देखते हैं उसीप्रकार उनका स्वरूप निरूपण कहते हैं ऐसे भगवान अरंहतदेवका भव्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए दिया हुआ जो उपदेश है उसीको आगम कहते हैं ॥ १ ॥ उस आगममें हिंसादिक पापोंका जो त्याग बतलाया है वह दोप्रकारसे बतलाया है। एक तो केवल यमरूपसे और दूसरा केवल नियमरूपसे ॥ १५८ ॥ इन यम नियम दोनोंमेंसे जीवनपर्यंत पालन करना यम है। यदि दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय अथवा महादुःख उत्पन्न हो जाय अथवा मरण होनेतकका समय आ जाय तो भी उस किए हुए त्यागसे विचलित न होना यम कहलाता है ॥ १५९ ॥ वह यम भी दो प्रकार है ॥

[illegible] द्विविधो यम [illegible] । [illegible] तल्लक्षणं यथा ॥१६०॥ यावज्जीवं त्रसानां हि हिंसादेरपकर्षणम् । सर्वतस्तत्क्रियायोऽपि [illegible] ॥ १६१ ॥ [illegible] तदपकर्षणं मनाक् । यावज्जीवनमप्येतद्देशतो न (तु) सर्वतः ॥ १६२ ॥ यथा कृषीवलः कश्चिद् द्विशतं [illegible] [illegible] ॥ १६३ ॥ नियमोऽपि द्विधा ज्ञेयः सावधिर्जीवनावधिः । त्रसहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥१६४॥

एक प्रतिमारूप और दूसरा सामान्यरूप । इन दोनोंका स्पष्ट लक्षण नीचे लिखे अनुसार है ॥ १६० ॥ जीवन पर्यंत पूर्णरूपसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना तथा जिन जिन क्रियाओंमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका जीवनपर्यंततकके लिए त्याग कर देना प्रतिमारूप यम कहलाता है । भावार्थ— जिसने जन्मभरके लिए त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग पूर्णरूपसे कर दिया है तथा खेती आदि जिन क्रियाओंमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका भी जिसने पूर्णरूपसे त्याग कर दिया है उसके प्रतिमारूप यम होता है ॥ १६१ ॥ तथा जीवनपर्यंत त्रस जीवोंकी हिंसाको थोडा कम करना और वह भी पूर्णरूपसे नहीं किंतु एकदेश कम करना सामान्यरूप यम कहलाता है । भावार्थ—त्रस जीवोंकी हिंसाको जन्मभरतक पूर्णरूपसे त्याग करना प्रतिमारूप यम है और एकदेशरूपसे त्याग करना सामान्य यम है ॥ १६२ ॥ जैसे कोई किसान जन्मभरके लिए यह नियम ले कि मैं जो इस समय दोसौ बीघा खेती करता हूं सो अब न करूंगा । अबसे मैं जन्मभर तक सौ बीघा खेती करूंगा । ऐसे यमरूप त्यागको सामान्य यम कहते हैं । इसमें त्रस जीवोंकी हिंसा कम की गई है, उसका पूर्णरूपसे त्याग नहीं किया गया है इसलिए वह प्रतिमारूप यम नहीं है किन्तु एकदेशरूपसे कम की गई है इसलिए उसको सामान्य यम कहते हैं ॥१६३॥ इसप्रकार यमके दो भेद बतलाए । अब आगे नियमके भी दो भेद बतलाते हैं । नियम भी दो प्रकार है । जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना पहला नियम है तथा उन्हीं क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार जीवनपर्यंत त्याग करना दूसरा नियम है ॥ १६४ ॥ अपनी आयुके पहले पहलेतक किसी कालकी मर्यादा लेकर किसी वस्तुके त्याग करनेका नियम करना वह पहला सावधि (अवधि अर्थात्

सावधिः स्वायुषोयावदर्वागेव व्रतावधिः । ऊर्द्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥ १६५॥ पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् । न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥ १६६ ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोपि द्वयोर्यमनियमयोः । नियमो दृक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मतः ॥ १६७ ॥ अयं भावो व्रतस्थाने या

कालकी मर्यादासहित) नियम कहलाता है। उस व्रतके धारण करनेकी जितने कालकी मर्यादा ली है उतने काल तक तो वह उसको पालन करता ही है। उसके बाद वह उस व्रतको अपनी इच्छानुसार और अपनी सामर्थ्यके अनुसार पालन करता भी है और नहीं भी करता है। भावार्थ-कालकी मर्यादाको लेकर जो व्रत धारण किए जाते हैं वे उतने कालतक तो पालन किए ही जाते हैं इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, परंतु कालकी मर्यादाके बाहर फिर उस व्रतका पालन उसकी इच्छापर निर्भर है पालन करे या न करे। कोई कोई पालन करता है और कोई कोई नहीं भी करता ॥ १६५ ॥ कालकी मर्यादा लेकर नियम करनेवाला पुरुष उस मर्यादके पूर्ण होनेपर फिर उस व्रतको करता भी है करके छोड भी देता है, छोड करके भी फिर करने लगता है और फिर छोड देता है अथवा फिर उसे नहीं छोडता बराबर करता ही रहता है अथवा कालकी मर्यादा पूर्ण होनेपर फिर उसे करता ही नहीं, सर्वथा छोड देता है अथवा बार बार करता है और फिर करता है ॥ १६६ ॥ इन यम और नियम दोनोंमें विशेषकर यह भेद है कि दर्शनप्रतिमामें तो श्रावक नियमोंका पालन करता है और व्रतप्रतिमामें यमका पालन करता है ॥ १६७ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि व्रतप्रतिमामें (पांचवें गुणस्थानमें) सज्जनोंके लिये जो क्रियाएं बतलाई हैं उनको जो सामान्य रीतिसे वा एक देशरूपसे पालन करता है उसको सामान्य यम कहते हैं तथा दर्शनप्रतिमामें (चौथे गुणस्थानमें) जो क्रियाएं पहले बतलाई हैं उनको जो पुरुष जीवनपर्यन्त पालन करता है उसको अनवधि नियम अथवा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम कहते हैं । भावार्थ—इन दो श्लोकोंमें सामान्य यम और जीवनपर्यंत होनेवाले नियममें अन्तर बतलाया है। यह बात पहले बता चुके हैं जीवनपर्यंतके पालन करनेको यम कहते हैं। उस यमके दो भेद बतलाये एक त्रस जीवोंकी हिंसाका पूर्णरूपसे त्याग और दूसरा एकदेशरूपसे वा सामान्यरूपसे त्याग। फिर नियमका लक्षण करते समय भी नियमके दो भेद बतलाये। एक

क्रियामिमता सताम्। तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्यम उच्यते ॥ १६८ ॥ प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता। यावज्जीवं हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥ १६९ ॥ उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत्। यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथावयः ॥ १७० ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते। व्रतस्थाना-

तो कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना और दूसरा जीवनपर्यंत त्याग करना। कालकी मर्यादा लेकर त्याग करनेरूप पहले नियमका लक्षण तो पहले अच्छीतरह दिखला चुके हैं कि वह अपनी मर्यादातक पालन करता है, आगे उसकी इच्छापर निर्भर है पालन करे भी और न भी करे। अब रहा दूसरा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम। सो इस नियममें तथा सामान्य यममें कविराजने यह स्पष्ट भेद बतला दिया कि पांचवें गुणस्थानकी क्रियाओंको जन्मभर समान्यरूपसे पालन करना सामान्य यम है और चौथे गुणस्थानकी क्रियाओंको जीवनपर्यंत पालन करना दूसरा जीवनपर्यंत होनेवाला नियम है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकर्ताने यम नियमका साधारण लक्षण ही यह बतला दिया है कि चौथे गुणस्थानमें नियम ही होता है यम नहीं होता तथा पांचवें गुणस्थानमें यम ही होता है नियम नहीं होता। यहांपर इतना विशेष और समझ लेना चाहिए कि यहांपर यम नियमका लक्षण बतलाया है वह त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागके लिये ही बतलाया है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग जन्मभरके लिये कर देता है अन्यथा उसके पांचवां गुणस्थान ही नहीं होता तथा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक अभ्यासरूपसे कुछ कालतक त्याग करता है फिर छोड देता है फिर करने लगता है इसीप्रकार अहिंसाका पालन करता रहता है परन्तु इसप्रकारकी खंडशः अहिंसाका पालन करता हुआ भी वह अपने चतुर्थ गुणस्थानमें होनेवाली क्रियाओंको पूर्ण रीतिसे जन्मभरतक पालन करता है। वही उसका दूसरा नियम कहलाता है ॥ १६८-१६९ ॥

ऊपर जो कुछ यम और नियमका स्वरूप बतलाया है उसको अच्छीतरह समझ कर अपनी शक्तिके अनुसार, देशके अनुसार, कालके अनुसार और अपनी आयुके अनुसार गृहस्थोंको व्रत पालन करना चाहिए ॥ १७० ॥ जो पुरुष जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता उसको पांचवें

ग्रहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् ॥ १७१ ॥ व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योपि यदीप्सति । व्रतंमन्योपि संमोहाद्व्रताभासोस्ति न व्रती ॥ १७२ ॥ अलं कोलाहलेनालं कर्तव्याः

गुणस्थानमें आनेकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् उसे अणुव्रत धारण नहीं करना चाहिए। उसको चतुर्थ गुणस्थानमें होनेवाली क्रियाएं ही पूर्णरीतिसे पालन करनी चाहिए ॥ १७१ ॥ जो पुरुष पांचवें गुणस्थानमें होनेवाली क्रियाओंका पालन नहीं कर सकता अर्थात् अणुव्रतोंको धारण नहीं कर सकता अथवा त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता तथापि वह यदि व्रतोंको धारण करना चाहे और अपनेको व्रती मानना चाहे तो भी वह व्रती नहीं हो सकता किन्तु मोहनीयकर्मके उदय होनेसे उसको व्रताभासी अथवा व्रताभासोंको धारण करनेवाला कहते हैं। भावार्थ— अप्रत्यख्यानावरण कषायके उपशम वा क्षयोपशम होनेसे अणुव्रत धारण किये जाते तभी त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेरूप परिणाम होते हैं। जिस श्रावकके सम्यग्दर्शन तो प्रगट हो गया है परन्तु अप्रत्यख्यानावरण कषायके उपशम वा क्षयोपशम न होनेसे जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता तथापि अणुव्रत धारण करना चाहता है उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जबतक उसके अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशमादिक नहीं होता तबतक उसके अणुव्रत नहीं हो सकते क्योंकि अप्रत्यख्यानावरणकषायके होनेसे उसके वैसे परिणाम ही नहीं हो सकते। यदि वैसे परिणामोंके न होनेपर भी वह व्रतोंको धारण कर ले तो उसको व्रती नहीं कह सकते क्योंकि उसके वे व्रत व्रत नहीं हैं किन्तु व्रताभास हैं। व्रताभास उनको कहते हैं जो वास्तवमें व्रत तो न हों किन्तु व्रतोंके समान मालूम पडते हों। ऐसे दिखाऊ व्रतोंको धारण करनेवाला वह व्रताभासी कहलाता है ॥ १७२ ॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यर्थके कोलाहल करनेसे कोई लाभ नहीं है। जिन क्रियाओंसे आत्माका कल्याण होता हो ऐसी ही क्रियाएं श्रावकोंको करनी चाहिए क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष जितने आरम्भ वा कार्य करते हैं उन सबसे अपने फलकी ही सिद्धि करते हैं। भावार्थ—व्रत धारण करनेका फल आत्माका कल्याण करना है अतएव जिनसे आत्माका कल्याण हो ऐसी ही क्रियाएं करनी चाहिए ॥ १७३ ॥ "अणुव्रती श्रावकोंको

श्रेयसः क्रियाः। फलमेव हि साध्यं स्यात्सर्वारंभेण धीमता ॥ १७३ ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागशब्दः स्यादुपलक्षणम् । तेन भूकायिकादींश्च निःशंकं नोपमर्दयेत् ॥ १७४ ॥ किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु । अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥ १७५ ॥ त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् । नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःखकारणम् ॥ १७६ ॥ उक्तं च । मिच्छो हु महारंभो निस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो । निरयाउगं णिबद्धइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥ क्रूरं कृष्यादिकं

जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये" यह जो कहा गया है वह उपलक्षण है। लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि बिल्लीसे इस दूधको बचाना, इसका अर्थ यह है कि दूधकी रक्षा करना इष्ट है उसको बिल्ली कुत्ता आदि सबसे रक्षा करना चाहिए। इसीप्रकार जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए इसका अर्थ यह है कि जीवोंकी रक्षा करना सबप्रकारसे इष्ट है अतएव त्रस जीवोंकी रक्षा तो करनी ही चाहिए किंतु पृथ्वीकायिक जलकायिक आदि स्थावरकायिक जीवोंको निःशंक होकर उपमर्दन नहीं करना चाहिये। भावार्थ—त्रस जीवोंकी रक्षा करनेके साथ साथ यथासाध्य स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये ॥ १७४ ॥ अतएव अहिंसा अणुव्रतको शुद्ध बनाये रखनेके लिये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचों-प्रकारके एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेमें भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिए। भावार्थ—अपने सब कार्य यत्नाचारपूर्वक करने चाहिए जिससे स्थावर जीवोंकी भी रक्षा अच्छीतरह हो सके क्योंकि यत्नाचार-पूर्वक कार्य किए बिना न तो स्थावर जीवोंकी रक्षा हो सकती है और न फिर त्रस जीवोंकी रक्षा हो सकती है ॥ १७५ ॥ जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंको त्याग करनेवाले श्रावकको खेती आदि-के समान महा आरंभोंका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि महा आरंभ करना नरकगतिका कारण है तथा निश्चयसे नरकोंके महा दुःख देनेवाला है ॥ १७६ ॥ क्योंकि गोमट्टसारमें लिखा है कि जो मिथ्यादृष्टी है, महारंभ करनेवाला है, शीलरहित है, तीव्र लोभके वशीभूत है, पापरूप क्रियाओंको करनेवाला है और रौद्रपरि-णामी है वह नरक आयुका बंध करता है।

कर्म सर्वतोपि न कारयेत् । वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥ १७७ ॥ क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु त्रसोज्झितम् । विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥ १७८ ॥ वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः । घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥ १७९ ॥ लाक्षालोष्टदणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् । हस्त्यश्ववृषादीना चतुष्पदानां च यावताम् ॥ १८० ॥ द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह । महारम्भो भवत्यत्र पशुपाल्यादिकर्मणि ॥ १८१ ॥ शुककुर्कुर-

भावार्थ—वह नरकमें जाता है ॥१॥ अणुव्रती श्रावकोंको परिणामोंमें क्रूरता उत्पन्न करनेवाले खेती आदिके कार्य पूर्णरूपसे छोड देना चाहिए तथा व्यापार करनेके लिए (किसी मालको भेजने वा मंगानेके लिए) परदेशको गाडी आदि नहीं भेजने चाहिए ॥ १७७ ॥ यदि किन्हीं पदार्थोंके खरीदने वा बेचनेका व्यापार करना हो तो ऐसे पदार्थोंको खरीदना चाहिए जिनमें त्रस जीव न हों तथा जिनके खरीदनेमें बहुत सा पापकार्य न हो। इसीप्रकार ऐसे ही पदार्थ बेचने चाहिए जिनमें त्रस जीव न हों और जिनके बेचनेमें अधिक पाप न हो ॥१७८॥ व्यापार करनेके लिए गेहूं जौ आदि धान्योंका संग्रह बहुत दिन तक नहीं करना चाहिये, इसीप्रकार गुड तैल और घी आदि पदार्थोंका भंडार भी नहीं रखना चाहिये। भावार्थ—इन पदार्थोंका अधिक संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अधिक संग्रह करनेसे इनमें बहुतसे जीव आ जाते हैं और वे इनमें पड कर मरते रहते हैं। ॥ १७९ ॥ लाख, गूगुल, नील, लोहा, खार, शस्त्र, चमडा आदिका व्यापार नहीं करना चाहिए तथा इसीप्रकार हाथी घोडा बैल आदि पशुओंका व्यापार भी नहीं करना चाहिए । भावार्थ—लाख आदि पदार्थोंके व्यापार करनेमें असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है क्योंकि लाख असंख्यात जीवोंका पिंड है । लोहा खार शस्त्र आदिके व्यापारसे अनेक जीव मरते हैं। चमडा बिना हिंसाके उत्पन्न हो नहीं हो सकता तथा पशुओंका व्यापार करनेसे उनको महा दुःख होता है इसलिए ये सब व्यापार निषिद्ध हैं। श्रावकोंको कभी नहीं करने चाहिए। १८० ॥ अणुव्रती श्रावकोंको दास दासी आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिए तथा पशुओंके पलनेका व्यापार भी नहीं करना चाहिए क्योंकि पशुओंके पालन करनेमें भी महा आरंभ होता है ॥ १८१ ॥ तोते, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, सिंह, हिरण आदि पशुओंको भी नहीं पालना चाहिए क्योंकि ये सब पशु वा जानवर महा

मार्जारीकपिसिंहमृगादयः । न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥ १८२ ॥ इत्यादिकाश्च यावन्त्यः क्रियास्त्रसवधात्मिकाः । न कर्तव्यास्त्रसानां हि हिंसाणुव्रतधारिभिः ॥ १८३ ॥ सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनानगारयोग्यायाः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥ १८४ ॥ यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः ।

हिंसा करनेवाले हैं। जो श्रावक इन पशुओंको पाल कर इनका स्वामी बनता है वह भी इनकी हिंसाके संबंधसे हिंसक कहलाता है। भावार्थ—हिंसक जीव समयानुसार हिंसा करते ही रहते हैं। जो गृहस्थ इन हिंसक जीवोंको पालता है वह उनका स्वामी होनेके कारण उस हिंसाका भागी होता है अतएव व्रती श्रावकोंको हिंसक जीव कभी नहीं पालने चाहिए ॥ १८२ ॥ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेवाले अहिंसाणुव्रती श्रावकोंको ऊपर लिखीं क्रियाओंके समान त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवालीं समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ—वृक्षोंका बेचना, वनमें अग्नि लगवाना, भाडेपर गाडी घोडे चलाना, तेल आदिकी मिलें बनवाना, शरीरको छेदनेके व्यापार करना, तालाब कूओंको खाली करना, विषैले पदार्थोंका बेचना, हाथीदांत, चमरीगायके बाल, मक्खन लोनी आदिका बेचना आदि ऐसी बहुतसी क्रियाएं हैं जिनके करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है, अणुव्रती श्रावकोंको ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८३ ॥

अहिंसा अणुव्रतीके कर्तव्य ऊपर दिखला चुके हैं। इनके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिए कि गृहस्थोंके धर्ममें देश शब्द लगा हुआ है अर्थात् गृहस्थोंका धर्म एकदेश धर्म है और मुनियोंका धर्म सर्वदेश वा पूर्ण धर्म है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुनियोंका जो धर्म है उसीको एकदेशरूपसे पालन करना गृहस्थोंका धर्म है अतएव अणुव्रती श्रावकोंको मुनियोंके करनेयोग्य क्रियाओंमेंसे जो जो क्रियाएं गृहस्थ पालन कर सकते हैं अथवा उन क्रियाओंके जितने अंशोंको पालन कर सकते हैं उतनी क्रियाओंको अथवा उन क्रियाओंके उतने अंशोंको अवश्य पालन करना चाहिए ॥ १८४ ॥ आगे उन्हीं क्रियाओंको बतलाते हैं। जिसप्रकार पांचों महाव्रतोंका पालन करना मुनियोंका कर्तव्य है उसीप्रकार पांच समिति और तीन गुप्तियोंका पालन करना भी मुनियोंका कर्तव्य है अतएव अणुव्रती श्रावक जिसप्रकार पांचों व्रतोंको एक देशरूपसे

अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ॥ १८५ ॥ उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा । व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥ १८६ ॥ तत्सूत्रं यथा— "तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च" तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं—"वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" नचाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचराः । न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभिः ॥ १८७ ॥ यतोत्र देशशब्दोहि सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ॥ १८८ ॥

पालन करता है उसीप्रकार उसको तीनों समितियोंको और पांचों गुप्तियोंको भी एकदेशरूपसे पालन करना चाहिए । जिसप्रकार पांचों समितियों और तीनों गुप्तियोंके पालन करनेसे महाव्रतोंकी रक्षा होती है उसीप्रकार एकदेशरूपसे समितियों और गुप्तियोंके पालन करनेसे अहिंसाणुव्रतकी रक्षा होती है अतएव अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए श्रावकोंको एकदेशरूपसे समिति और गुप्तियोंका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ १८५ ॥ अहिंसा अणुव्रतका स्वरूप कहते समय तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावना करनी चाहिए ॥ १८६ ॥ तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र यह है ।

"तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।"

अर्थात् उन व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं । उसमें भी अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए नीचे लिखी पांच भावनाएं हैं ।

"वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच"

अर्थात् वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसाणुव्रतकी भावनाएं हैं । आगे संक्षेपसे इन्हीं भावनाओंका निरूपण करते हैं ।

कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि इन भावनाओंका पालन करना मुनियोंका ही कर्तव्य है एकदेशव्रतोंको धारण करनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको इन भावनाओंके पालन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, परंतु यहांपर ऐसी शंका करना सर्वथा अनुचित है, कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि गृहस्थोंके व्रतोंमें एकदेश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है इसीलिए वह एकदेश शब्द अणुव्रतोंमें भी व्यापक नहीं है अर्थात् अव्यापक है क्योंकि

अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥ १८९ ॥ तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वचः । न वक्तव्यं प्रमादाद्वा बधबन्धादिसूचकम् ॥ १९० ॥ अवश्यंभाविकार्येपि वक्तव्यं सकृदेव तत् । धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाश्रयेत् ॥ १९१ ॥ मनोगुप्तिर्यथानाम त्रसच्छेदे न

अणुव्रत भी व्रत है । भावार्थ—जो जो व्रत हैं उन सबमें एकदेश शब्द व्यापक है । जैसे व्रत पालना मुनियोंका कर्तव्य है परन्तु एकदेशव्रत वा अणुव्रत पालना गृहस्थोंका कर्तव्य है । जिसप्रकार एकदेश शब्द व्रतोंमें व्यापक है उसीप्रकार एकदेश शब्द समिति और गुप्तियोंमें वा इन भावनाओंमें व्यापक है । मुनियोंका मुख्य चारित्र तेरह प्रकारका बतलाया है । उस तेरहप्रकारके चारित्रको एकदेश पालन करना गृहस्थोंका कर्तव्य समझना चाहिये ॥ १८७-१८८ ॥ इस विषयमें अनेक विकल्प उठानेसे कोई लाभ नहीं है । यह निश्चित सिद्धांत है कि श्रावक जिसप्रकार अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेकेलिए व्रतोंका एकदेशरूपसे वा अणुव्रतरूपसे पालन करता है उसीप्रकार उसको उसी अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिए इन भावनाओंका पालन करना चाहिये ॥ १८९ ॥ अब आगे इन पांचों भावनाओंमेंसे बचन गुप्तिका स्वरूप कहते हैं । बचनयोगको अपने वशमें रखना बचनगुप्ति है । गृहस्थ उसको पूर्णरूपसे पालन नहीं कर सकता इसलिये उसे ऐसे बचन नहीं कहने चाहिये जिनसे त्रस जीवोंको बाधा पहुंचे अथवा प्रमादसे ऐसे बचन भी नहीं कहने चाहिए जो त्रस जीवोंके बध बंधन आदिको सूचित करनेवाले हों ॥ १९० ॥ जो कार्य अवश्य करने पडेंगे उनके लिए एक बार कहना चाहिये । यह नियम रखना चाहिये कि धर्मकार्योंमें तो सदा कहना वा बोलना चाहिये । धर्मकार्योंके सिवाय बाकीके कार्योंमें मौन धारण करना चाहिये । भावार्थ—जिन बचनोंसे किसी भी जीवको दुःख पहुंचनेकी सम्भावना हो ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकोंको कभी नहीं चाहिए । धर्मकार्योंमें तो उसे चाहे जितना बोलना चाहिए परन्तु पापरूप कार्योंमें उसे मौन धारण करना चाहिए । अणुव्रती श्रावकोंके लिये यही एकदेश बचनगुप्तिका पालन करना है ॥ १९१ ॥ आगे गृहस्थोंके लिये एकदेश मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाते हैं । यदि किसी त्रस जीवके छेदन भेदन करनेका कार्य आ पडे अथवा कोई अपराधी जीव सामने आ जाय तो भी अणुव्रती श्रावकको त्रस जीवोंके छेदन भेदन करनेके लिए कभी

चिन्तयेत् । समुत्पन्नेपि तत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥ १९२ ॥ संग्रामादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती । अव्रती पाक्षिकः कुर्याद्दैवयोगात्कदाचन ॥१९३॥ नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गरक्रियाम् । कुर्यात्तावतिकाले स भवेद्दात्मव्रतनाच्युतः ॥ १९४ ॥ त्रसहिंसाक्रियायां वा नापि व्यापारयेन्मनः । मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्येकृतेऽपि वा ॥ १९५ ॥ वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसावद्यं न वर्तते । रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥ १९६ ॥ रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थ-

चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥ १९२ ॥ व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको युद्ध आदिका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिये । जो अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं वे दैवयोगसे कभी कभी युद्धादिकका चिन्तवन करते हैं ॥ १९३ ॥ यदि कोई व्रतोंको करनेवाला नैष्ठिक श्रावक तीव्र क्रोधके उदयसे अथवा मोहनीयकर्मके उदयसे युद्ध करनेमें लग जाय तो वह जितने कालतक युद्ध करता है उतने कालतक अपने व्रतोंसे रहित हो जाता है । भावार्थ–युद्ध करना वा युद्धका चिन्तवन करना व्रती श्रावकका कर्तव्य नहीं है यदि कोई व्रती श्रावक किसीकारणसे युद्ध करनेमें प्रवृत्त हो जाय तो उतने समयतक उसे व्रतरहित समझना चाहिए ॥ १९४ ॥ इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकको मोहसे अथवा प्रमादसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंमें अपना मन कभी नहीं लगाना चाहिये । यदि ऐसा कोई कार्य अपना न हो किन्तु अपने स्वामीका हो तो उस अपने स्वामीके ऐसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले कार्योंमें भी व्रती श्रावकको अपना मन नहीं लगाना चाहिए । भावार्थ–ऐसे कार्योंका कभी चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥ १९५ ॥ यह निश्चित सिद्धांत है कि वीतराग सर्वज्ञदेव भगवान अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममें तो हिंसा करनेवाले पापकार्य हैं ही नहीं तथा जो रूढिसे माने हुए धार्मिक कार्य हैं उनके लिये भी अणुव्रती श्रावकोंको कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । भावार्थ–संसारमें ऐसे बहुतसे कार्य हैं जो रूढिसे करने पडते हैं । ऐसे कार्योंमें भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए । अभिप्राय यह है कि अणुव्रती श्रावकको किसीप्रकारसे भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १९६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको यह स्वयं ही समझ लेना चाहिये कि जब रूढिसे माने गये धार्मिक कार्योंमें ही त्रस जीवोंकी हिंसाका निषेध किया गया है तो फिर अर्थ और काम पुरुषार्थके लिए तो कहना ही क्या है क्योंकि जहांपर बडे बडे

योस्तु का कथा । मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुनः ॥ १९७ ॥ हृषीकार्थादिदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः । चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥ १९८ ॥ यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः । यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥ १९९ ॥ जगत्कायस्वभावौ वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । द्वादशात्रा-

हाथी डूब जाते हैं वहांपर मच्छरोंकी तो बात ही क्या है। भावार्थ—धन कमानेके कार्योंको अर्थपुरुषार्थ कहते हैं और अपनी इच्छाओंकी पूर्ति करनेको कामपुरुषार्थ कहते हैं। अणुव्रती श्रावकोंको न तो किसी रूढिसे माने गये वा किये गये कार्योंमें त्रस जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये, न धन कमानेके किसी भी कार्यमें त्रस जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये और न अपनी इच्छाओंको पूरी करनेके लिये वा वाजीकरण आदि प्रयोगोंके लिए कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १९७ ॥ इंन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुए आर्तध्यान वा रौद्रध्यानोंसे बचनेके लिये अथवा किसी भी प्रकारके अशुभ ध्यानसे बचनेके लिये व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको सदा परमात्माका चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप और देदीप्यमान अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये। भावार्थ—अणुव्रती श्रावकको अपना मन धर्मध्यानमें लगाये रखना चाहिये जिससे वह अशुभ ध्यानोंसे बचता रहे ॥ १९८ ॥ अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांचों परमेष्ठियोंके स्वरूपका बार बार चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा तीनों लोकोंका आकार चिन्तवन करना चाहिये वा तीनों लोकोंमें भरे हुए जीवोंके स्वरूपका चिन्तवन करते रहना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चारोंप्रकारके धर्मध्यानोंका चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ १९९ ॥ अथवा जगत और कायके स्वभावका चिंतवन बार बार करते रहना चाहिए। यह संसार दुःखमय है, इसमें कोई भी जीव सुखी नहीं है, इस अनादि अनिधन संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव नरक निगोद आदि चारों गतियोंके महादुःख सदा भोगता रहता है, इसप्रकार संसारके स्वरूपका चिंतवन करनेसे सम्यग्दर्शनका संवेगगुण बढता है। इसीप्रकार यह शरीर महा अपवित्र है, हड्डी मांस रुधिर आदि अपवित्र और घृणित पदार्थोंसे बना है तथा मल मूत्र आदि महा घृणित पदार्थ इससे सदा बहते रहते हैं, इसप्रकार, शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे

२६५

प्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥ २०० ॥ यद्वा दृष्टिचरानत्र जिनबिम्बांश्च चिन्तयेत् । मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥ २०१ ॥ इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद्भावशुद्धये । न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥२०२॥ उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च । अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् गृह्णातिसूत्रवित् ॥२०३॥ तत्रेर्यादाननिःक्षेपभावनाःकायसंश्रिताः । भावनीयाः सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥ २०४ ॥ अत्रेर्यावचनं यावद्धर्मोपकरणं मतम् । तस्यादान च निःक्षेपःसमासात्तथा स्मृतः ॥ २०५ ॥ अस्यार्थो मुनिसापेक्षः पिच्छिका च कमण्डलुः । त्रसरक्षाव्रतापेक्षः पूजोपकरणानि च ॥२०६॥ घण्टाचामरदीपाग्भः परछत्रध्वजादिकान् ।

वैराग्य गुण बढता है । अतएव संवेग और वैराग्य गुण बढानेके लिए तथा अपध्यानसे बचनेके लिए अणुव्रती श्रावकको सदा शरीर और जगतका स्वभाव चिंतवन करते रहना चाहिए अथवा अणुव्रती श्रावकको अपने मनमें बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ २०० ॥ अथवा जहां जहांपर भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओंके दर्शन किए हों उन सबका चिंतवन करना चाहिए, अथवा जिन जिन मुनियोंके दर्शन किये हुए हों उनका चिंतवन करना चाहिए, जिन जिन जिनालयोंके दर्शन किये हों उन जिनालयोंका चिंतवन करना चाहिए तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके अभिषेककी विधि वा पूजाकी विधि आदिका चिंतवन करना चाहिए ॥ २०१ ॥ अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिए इसप्रकार ऊपर लिखे हुए परिणामोंको निर्मल रखनेके जितने साधन हैं उन सबका चिन्तवन करते रहना चाहिए, परंतु जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिए ॥२०२॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार वचनगुप्ति और मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाया. अब आगे जैनसूत्रोंके जाननेवाले विद्वान् कायगुप्तिके भेदोंको इसप्रकार ग्रहण करते हैं ॥ २०३ ॥

ईर्या आदाननिक्षेपण भावनाएं शरीरके आश्रित हैं अतएव संसारके दुःखोंको नाश करनेके लिए अणुव्रत आदि सदाचरणोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको इन भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ २०४ ॥ यहांपर ईर्या शब्दका अर्थ धर्मोपकरण है तथा आदान शब्दका अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है । उन धर्मोपकरणोंका ग्रहण करना तथा रखना सो संक्षेपसे ईर्यादाननिक्षेप भावना कहलाती है ॥२०५॥ इसका भी अर्थ यह है कि मुनियोंके धर्मोपकरण पीछी और कमंडलु हैं तथा त्रस जीवोंकी रक्षा करनेरूप अणु-

स्नानार्थं जलादींश्च धौतवस्त्रादिकानपि ॥ २०७ ॥ देशनावसरे शास्त्रं दानकाले तु भोजनम् । काष्ठपट्टादिकं शुद्धं काले सामायिकेऽपि च ॥ २०८ ॥ इत्याद्यनेकभेदानि धर्मोपकरणानि च । निष्प्रमादतया तत्र कार्यो यत्नो बुधैर्यथा ॥ २०९ ॥ दृग्भ्यां सम्यग्गिरीक्ष्यादौ यत्नतः प्रतिलेखयेत् । समादाय ततस्तत्र कार्ये व्यापारयत्यपि ॥ २१० ॥ दृष्टिपूतं यथादानं निक्षेपोपि यथा स्मृतः । दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥ २११ ॥ इतः समितयः पञ्च वक्ष्यन्ते नातिविस्त-

व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके धर्मोपकरण पूजाके उपकरण हैं अर्थात् पूजाकी सामग्री, बर्तन, स्थान, पुस्तक आदि पूजा करनेमें जो जो पदार्थ काममें आते हैं वे सब पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥ २०६ ॥ इनके सिवाय घंटा, चमर, दीपक, जल, छत्र, ध्वजा, स्नान करनेका जल और धुले हुए वस्त्र आदि भी सब पूजामें काम आते हैं इसलिए ये सब भी पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥२०७॥ जो श्रावक धर्मोपदेश देता है उस समय उसका उपकरण शास्त्र है, जिस समय वह दान देता है उस समय बना हुआ तैयार भोजन भी उसका धर्मोपकरण है तथा सामायिकके समय बैठनेका आसन वा काठका पाटा आदि धर्मोपकरण है । अभिप्राय यह है कि धार्मिक क्रियाओंमें जो जो पदार्थ काम आते हैं वे सब धर्मोपकरण कहलाते हैं ॥ २०८ ॥ इसप्रकार श्रावकोंके धर्मोपकरणोंके अनेक भेद हैं । बुद्धिमानोंको इन सब कार्योंमें सबतरहका प्रमाद छोड कर यत्न वा यत्नाचार करना चाहिए । वह यत्नाचार किसप्रकारका करना चाहिए इसी बातको आगे दिखलाते हैं ॥ २०९ ॥ सबसे पहले उन पदार्थोंको नेत्रोंसे अच्छीतरह देख लेना चाहिए फिर यत्नाचारपूर्वक उसको कोमल वस्त्रसे झाड पोंछ लेना चाहिए और फिर उसको वहांसे उठाना चाहिए । इसप्रकार उन धर्मोपकरणको उठा कर फिर उसको जिस कार्यमें लगाना हो उस कार्यमें लगाना चाहिए । उस धर्मोपकरणसे कार्य लेते समय भी किसी जीवका घात न हो जाय, इस बातका ध्यान रखना चाहिये ॥२१०॥ जिसप्रकार उस पदार्थको नेत्रोंसे देख कर उठाया था उसीप्रकार नेत्रोंसे देख कर तथा कोमल वस्त्रसे झाड कर शोध कर उस पदार्थको रखना चाहिए तथा रखते समय जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानको भी नेत्रोंसे देख लेना चाहिये तथा कोमल वस्त्रसे झाड कर शुद्ध कर लेना चाहिए इसप्रकार स्थान और पदार्थ दोनोंको देख शोध कर तब उस पदार्थको रखना चाहिये, इसप्रकार संक्षेपसे श्रावकोंके पालन

रात्। ग्रन्थगौरवतोऽप्यत्र नोक्तास्ताः संयतोचिताः ॥ २१२ ॥ संयतासंयतस्यास्य प्रोक्तस्य गृहमेधिनः। समितयो या योग्याः स्युर्वेदयन्ते ताः क्रमादपि ॥२१३॥ ईर्यासमितिरप्यस्ति कर्तव्या गृहमेधिना। अत्रेर्याशब्दो वाच्योस्ति मार्गेऽप गतिगोचरः ॥ २१४॥ दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुरः। निष्प्रमादी गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥ २१५ ॥ किञ्च तत्र विवेकोस्ति विचेयस्त्रसरक्षकैः। बहुत्रसाकुले मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥ २१६ ॥ तत्र विचार्या प्रागेव देश-

करने योग्य कायगुप्तिका स्वरूप कहा ॥ २११ ॥ अब आगे संक्षेपसे पांचों समितियोंका स्वरूप कहते हैं। यहांपर केवल अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप कहते हैं। ग्रंथ बढ जानेके डरसे मुनियोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप इस ग्रंथमें नहीं कहा है ॥ २१२ ॥ ऊपर जिस अणुव्रती श्रावककी क्रियाओंका वर्णन करते चले आ रहे हैं ऐसे संयतासंयत गृहस्थके पालन करने योग्य जो समितियां हैं उन्हींको यहांपर क्रमसे कहते हैं ॥ २१३ ॥

पांचों समितियोंमें पहली ईर्यासमिति है वह भी अणुव्रती श्रावकको पालन करनी चाहिए। यहांपर ईर्या शब्दका अर्थ मार्गमें गमन करना है ॥२१४॥ गृहस्थोंको आगेकी चार हाथ जमीन देख कर तथा प्रमादको छोड कर धीरे धीरे अच्छीतरह बार बार देखते हुए गमन करना चाहिए, इसीको ईर्यासमिति कहते हैं ॥ ११५ ॥ इसमें भी त्रस जीवोंकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको बहुतसा विचार करना चाहिए और वह विचार यह है कि श्रावकोंको ऐसे मार्गमें कभी भी गमन नहीं करना चाहिए जिसमें बहुतसे त्रस जीव भरे हों ॥ २१६ ॥ देश और कालकी गतिके अनुसार उसका विचार पहलेसे ही कर लेना चाहिए अथवा उस मार्गको देखनेवाले सज्जन-लोगोंसे पूछ लेना चाहिए। भावार्थ—प्रायः वर्षाके समयमें अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा वर्षा भिन्न भिन्न समयमें हुआ करती है। कहीं वैशाखसे पानी बरसना प्रारंभ हो जाता है, कहीं जेठसे प्रारंभ होता है और कहीं असाढसे प्रारंभ होता है। जिस देशको जाना हो उस देशको जाते समय इस बातका भी विचार कर लेना चाहिए। इसके सिवाय भिन्न भिन्न देशमें भिन्न भिन्न समयमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है अतएव जीवोंके उत्पन्न होनेके समयका भी विचार कर लेना चाहिए। इन सब बातोंका विचार कर और उस देश वा मार्गको जानने-

कालगतिर्यथा । प्रष्टव्याः साधवो यद्वा तत्तन्मार्गावलोकिनः ॥ २१७ ॥ निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुत्रसैरनाश्रितम् । ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्नत्रचान्यथा ॥२१८॥ गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत्पुरोमार्गस्त्रसाकुलः । तदा व्याघुट्टनं कुर्यात्कुर्याद्वा वीरकर्मतत् ॥ २१९ ॥ वीरकर्म यथा तत्र पर्यंकाद्यासनेन वा । कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्योगमार्गवित् ॥ २२० ॥ यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुःक्षतिः । यद्वावधियथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥२२१॥ सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससंकुले ।

वाले सज्जनोंसे पूछ कर वा निर्णय कर गमन करना चाहिए ॥ २१७ ॥ गमन करनेके पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जिस मार्गसे जाना है वह प्रासुक है या नहीं अथवा वह अनेक त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं जब वह मार्ग प्रासुक वा जीवजंतुओंसे रहित हो तथा उसमें त्रस जीवोंका आश्रय न हो तब ईर्यासमितिसे उस मार्गको शोधते हुए गमन करना चाहिए यदि ऐसा मार्ग न हो तो उस मार्गसे कभी गमन नहीं करना चाहिए ॥ २१८ ॥ जिस मार्गका प्रासुक होने तथा त्रस जीवोंसे रहित होनेका निश्चय हो चुका है उस मार्गमें गमन करते हुए यदि दैवयोगसे आगेका मार्ग त्रस जीवोंसे भरा हुआ हो तो वहांसे लौट आना चाहिए अथवा वहींपर बैठ कर वीरकर्म करना चाहिये ॥ २१९ ॥ आगे वीरकर्मका स्वरूप कहते हैं । योगकी विधिको जानने-वाला जो श्रावक योगियोंके समान पर्यंकासनसे अथवा कायोत्सर्गसे एक स्थानपर विराजमान होता है उसको वीरकर्म कहते हैं । इस वीर कर्ममें उस श्रावकको जबतक वह उपसर्ग दूर न हो जाय अथवा जबतक अपना शरीर नाश न हो जाय तबतक वहींपर विराजमान रहना पडता है अथवा जबतक उसकी मर्यादाका समय पूरा हो जाय अथवा इधर उधरसे जानेका मार्ग हो जाय तबतक उसको वहीं विराजमान रहना पडता है । भावार्थ—जिसको महाशक्तिको धारण करनेवाले वीरपुरुष ही कर सकें उसको वीरकर्म कहते हैं । यदि किसी मार्गमें जाते हुए अणुव्रती श्रावकको आगेके उस मार्गमें त्रस जीवोंका समुदाय मिल जाय और ऐसी अवस्था उपस्थित हो जाय कि बिना उन त्रस जीवोंका घात किये आगे चलना असम्भव हो जाय तो फिर उस श्रावकके लिए दो ही उपाय हैं । सबसे अच्छा उपाय तो उसका लौट आना है । यदि वह लौटना न चाहे और त्रस जीवोंके घातके डरसे आगे भी न जाना चाहे तथा वह यथेष्ट शक्तिको धारण करनेवाला धीरवीर हो तो उसे वीरकर्म करना चाहिये अर्थात् जब-

मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥ २२२ ॥ किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घेध्वनि। दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गेगतिः ॥ २२३ ॥ अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा। ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतःस्यात्तत्र कर्मणि ॥ २२४ ॥ इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद्व्रतधारिणः। यद्वोपासकाध्ययनात्

तक वह उपसर्ग दूर न हो जाय अथवा अपना शरीर नष्ट न हो जाय अथवा उस उपसर्गके कालकी मर्यादा समाप्त न हो जाय वा इधरउधरसे मार्ग न हो जाय तबतक उसको वहींपर कार्योत्सर्गसे खडे हो कर पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना चाहिये अथवा पद्मासनसे बैठ कर परमेष्ठीका ध्यान करना चाहिये, इसीको वीरकर्म कहते हैं ॥ २२०-२२१ ॥ इस समस्त कथन कहनेका अभिप्राय यह है कि जो मार्ग प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले त्रस जीवोंसे भरा हो उस मार्गमें अणुव्रती श्रावकको मरनेका समय आनेपर भी अपने पैर नहीं रखने चाहिये। भावार्थ—समाधिमरण धारण कर प्राणोंका त्याग करना अच्छा परन्तु त्रस जीवोंसे भरे हुए मार्गमें पैर रखना अच्छा नहीं क्योंकि ऐसे मार्गमें पैर रखनेसे वा चलनेसे असंख्यात त्रस जीवोंका घात हो जाता है ॥२२२॥ इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकको किसी लम्बे मार्गमें रातको नहीं चलना चाहिये परन्तु जो मार्ग नेत्रोंसे देखा हुआ है, शुद्ध है और छोटा है उस मार्गमें रातमें चलनेका निषेध नहीं है। भावार्थ—आवश्यक काम पडनेपर अणुव्रती श्रावक रातको परिचित तथा शुद्ध मार्गमें तो जा सकता है परन्तु अपरिचित और लम्बे मार्गमें उसको रातमें नहीं चलना चाहिये क्योंकि सम्भव है कि उस मार्गमें त्रस जीव हों और दिखाई न पडनेके कारण वे रातमें दब कर मर जांय ऐसे इसलिये मार्गमें दिनमें ही चलना चाहिये ॥ २२३ ॥ अणुव्रती श्रावकको घोडे गाडी आदिकी सवारीपर चढ कर भी मार्गमें नहीं चलना चाहिये क्योंकि घोडे आदिकी सवारीपर चढ कर चलनेमें उसके ईर्यासमितिकी शुद्धि किसप्रकार हो सकती है। भावार्थ—अहिंसा अणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको भी जब सवारीमें चलनेका निषेध है तब फिर ब्रह्मचारी और क्षुल्लक आदिको तो कभी सवारीमें चलना ही नहीं चाहिये ॥२२४॥ इसप्रकार अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य ईर्यासमितिका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे बतलाया। इसका विशेष स्वरूप वा विस्तारपूर्वक स्वरूप उपासकाध्ययनोंसे वा श्रावकाचारोंसे जान लेना चाहिये ॥ २२५ ॥

ज्ञातव्यातीवविस्तरात् ॥ २२५ ॥ अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या सम्रतासिभिः । अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुंजरैः ॥ २२६ ॥ वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत् । हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥ २२७ ॥ इतिसंक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् । मृषात्यागव्रताख्याने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥ २२८ ॥ एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः । यया सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥ २२९ ॥ यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् । आहारस्तस्य मूलं

दूसरी समितिका नाम भाषासमिति है। उस भाषासमितिका एकदेश पालन गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये क्योंकि इसका पूर्ण पालन मुनिराज ही करते हैं। भावार्थ—भाषासमितिका पालन पूर्णरीतिसे मुनिराज करते हैं और एकदेशरूपसे अणुव्रती श्रावकोंको पालन करना चाहिये ॥ २२६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको धर्मरूप ही बचन कहने चाहिये। यदि धर्मरूप बचन कहते न बने तो फिर मौन धारण करना चाहिए। जिन बचनोंसे हिंसा होना सम्भव हो अथवा जो बचन हिंसात्मक हों ऐसे बचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। हिंसात्मक बचन कहनेका त्याग करना और धर्मरूप बचन कहना ही श्रावकोंके लिये भाषासमिति कही जाती है ॥२२७॥ इसप्रकार यहांपर संक्षेपसे भाषासमितिका स्वरूप कहा है। इसका थोडासा विशेष स्वरूप अथवा थोडेसे विस्तारके साथ इसका स्वरूप आगे सत्यणुव्रतका स्वरूप कहते समय कहेंगे ॥ २२९ ॥

तीसरी समितिका नाम एषणासमिति है। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले श्रावकोंको इस एषणासमितिका पालन भी अवश्य करना चाहिये क्योंकि गृहस्थधर्मकी स्थिति और मुनियोंके व्रतोंकी स्थिति इस एषणासमिति पर ही निर्भर है। भावार्थ—एषणासमितिके पालन करनेसे ही गृहस्थधर्मका निर्वाह हो सकता है क्योंकि दान देना गृहस्थधर्मका मुख्य कर्तव्य है और वह पात्रदान एषणासमितिके पालन किये बिना नहीं सकता इस लिये गृहस्थ धर्मका निर्वाह भी एषणा समितिके पालन करनेसे ही हो सकता है। इसीप्रकार एषणा समितिके पालन करनेसे ही श्रावक पात्रदान दे सकता है तथा पात्रदानकी प्रवृत्ति होनेसे ही मुनिराज अपने व्रतोंको पालन कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं अतएव मोक्षका प्राप्त करना वा तपश्चरण महाव्रत आदिका पालन करना सब गृहस्थोंकी एषणासमितिपर निर्भर है। इसलिये श्रावकोंको एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिये

स्यादेषणासमितावसौ ॥ २३० ॥ एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि । आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ २३१ ॥ उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशना-

॥ २२९ ॥ गृहस्थोंको एषणासमितिका पालन करना अत्यावश्यक है क्योंकि व्रतोंके समूहको पालन करनेका मूल साधन शरीर है। यदि शरीर न हो तो कोई किसीप्रकारका तप वा व्रत पालन नहीं हो सकता तथा शरीरका मूल साधन आहार है क्योंकि बिना आहारके यह शरीर टिक नहीं सकता और उस आहारका प्राप्त होना एषणासमितिके पालनसे ही होता है। यदि श्रावकजन एषणासमितिका पालन न करें तो मुनियोंको आहारकी प्राप्ति हो नहीं सकती अतएव मुनिजन शुद्ध आहार ग्रहण कर तपश्चरण करते हुए मोक्ष प्राप्त करते रहें इसके लिए प्रत्येक गृहस्थको इस एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ २३० ॥ समस्त व्रतोंको शुद्ध पालन करनेके लिए आहारकी शुद्धि रखना ही एषणासमिति है तथा संक्षेपसे यही एषणासमितिका लक्षण है। भावार्थ—इस जीवकी जैसी भोजनसामग्री होती है वैसे ही इसके परिणाम होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि मांस खानेवाले मुसलमान आदिकोंके परिणाम सदा क्रूर ही बने रहते हैं तथा साधारण आहार लेनेवालों-के परिणाम प्रायः कोमल होते हैं। इसी प्रकार शुद्ध और निर्दोष आहार लेनेवाले मुनियोंके परिणाम सदा शुद्ध रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि परिणामोंका शुभ अशुभ वा शुद्ध होना आहारपर निर्भर है। जो जैसा आहार करता है उसके वैसे ही परिणाम होते हैं इसीलिए आचार्योंने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिए आहारकी शुद्धता बतलाई है और आहारकी शुद्धता ही एषणासमिति है अतएव मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको मोक्षमार्ग-की प्रवृत्तिसे सदा बनी रहनेके लिए एषणासमितिका पालन अवश्य करना चाहिए। वर्तमान समयमें प्रायः श्रावकोंके परिणाम शुभ वा धार्मिक नहीं देखे जाते इसका मूल कारण यही है कि उन लोगोंकी आहारशुद्धि नहीं रही है। आहारशुद्धि न होनेसे ही लोगोंके परिणाम मिथ्यारूप परिणत चल जाते हैं अतएव सबसे पहले आहारशुद्धिका रखना श्रावकोंका सबसे पहला कर्तव्य है। यही मोक्षमार्गकी जड है ॥ २३१ ॥ पहले जो मांस मद्य मधु उदंबर आदिके अतिचार बतलाए हैं उनसे रहित भोजन करना शुद्ध आहार कहलाता है।

दिकः । स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥ २३२ ॥ सोपि शुद्धो यथाभक्तं यथाकालं यथाविधिः । अन्यथा सर्वशुद्धोऽपि स्यादशुद्धवदेनकृत् ॥ २३३ ॥ काले पूर्वाह्णिके यावत्परतोऽपराह्णेऽपि च । यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने ॥ २३४ ॥ याममध्ये न भोक्तव्यं याममुग्मं न लङ्घयेत् । आहारस्याल्पयं

जिस भोजनमें मांसादिकके अतिचार लगें वह भोजन कभी शुद्ध नहीं कहला सकता ॥ २३२ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको वह शुद्ध और यथायोग्य भोजन भी समयके अनुसार और विधिके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भोजन समय और विधिके अनुसार ग्रहण न किया गया हो तो सबप्रकारसे शुद्ध होनेपर भी वह अशुद्ध और पाप उत्पन्न करनेवाला कहलाता है ॥ २३३ ॥

भोजनका समय दोपहरसे पहले पहले है अथवा दोपहरके बाद दिन ढलेका समय भी भोजनका समय है, अणुव्रती श्रावकोंको सूर्य निकलनेके बाद आधे पहरतक भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार सूर्य अस्त होनेके आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। दिन निकलनेके समय और अस्त होनेके समय आधा पहर बचा देना चाहिए। इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकको रातमें सर्वथा भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस दिन पानी बरस रहा हो, काली घटा छाई हो और उस घटाके कारण अंधेरा सा हो गया हो उस समय भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २३४ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको प्रायः पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए। (क्योंकि वह समय मुनियोंके भोजनका समय नहीं है। मुनिलोग प्रायः दूसर पहरमें भोजनके लिए निकलते हैं तथा मुनियोंको आहार दे कर वा उस समयतक पात्रकी प्रतीक्षा कर भोजन करना श्रावकका कर्तव्य है अतएव श्रावकोंको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार अणुव्रती श्रावकोंको दोपहरका समय उलंघन भी नहीं करना चाहिए अर्थात् दोपहरसे पहले पहले भोजन कर लेना चाहिए। अणुव्रती श्रावकोंके लिए यही आहार ग्रहण करनेका समय है। यह ध्यान रखना चाहिए कि अणुव्रती गृहस्थोंके लिए यह भोजनका समय बतलाया है औषधि और जलका समय नहीं बतलाया।

भावार्थ—सूर्यके उदय होनेके आधे पहरतक तथा अस्त होनेके आधे पहर पहले अणुव्रती श्रावकोंके लिए

कालो नैषधादेर्जलस्य वा ॥ २३५ ॥ संग्रामादिदिने हिंस्रे चन्द्रसूर्याद्युपग्रहे । अन्यत्राप्यवयोगेषु भोजनं नैव कारयेत् ॥ २३६ ॥ उच्यते विधिरत्रापि भोजयेन्ना-शुचिगृहे । तमश्छन्नेऽथ त्रसादिबहुजन्तुसमाश्रिते ॥ २३७ ॥ जैमनीयादिजीवानां हिंस्राणां दृष्टिगोचरे । अश्वादिपशुसंकीर्णे स्थाने भोज्यं न जातुचित् ॥ २३८ ॥ अन्तरायाश्च सन्त्यत्र श्रावकाचारगोचराः । अवश्यं पालनीयास्ते त्रसहिंसानिवृत्तये ॥२३९॥ दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि । श्रवणाद्गन्धनाच्चापि रसनादन्त-

भोजनका निषेध किया है परंतु जल और औषधिका निषेध नहीं है, जल और औषधि वह उस समयमें भी ले सकता है ॥ २३५ ॥ जिस दिन कोई भारी युद्ध हो रहा हो अथवा जिस दिन अनेक जीवोंकी हिंसा हो रही हो, जिस दिन सूर्यग्रहण वा चन्द्रग्रहण पड रहा हो तथा इनके सिवाय और भी अशुभयोग जिस दिन हों उस दिन अणुव्रती श्रावकको उचित है कि वह भोजन न करे ॥ २३६ ॥ आगे भोजनकी विधि बतलाते हैं। अपवित्र घरमें कभी भोजन नहीं करना चाहिए। जिस घरमें अंधेरा हो वहांपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस घरमें वा जिस स्थानमें त्रस और स्थावर आदि अनेकप्रकारके बहुतसे जीवोंका समुदाय हो, जहांपर बहुतसे त्रस वा स्थावर जीव भरे हों वहांपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए।२३७। जहांपर घोडे, गाय, बैल आदि पशु बांधे जाते हों ऐसे संकीर्ण वा छोटे स्थानमें भी कभी भोजन नहीं करना चाहिए, इसीप्रकार जहांपर यज्ञ आदिमें मारे जानेवाले जीव दृष्टिगोचर हो रहे हों वहांपर भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २३८ ॥ यह भोजनकी विधि है।

आगे भोजनके अंतराय बतलाते हैं। अणुव्रती श्रावकोंके लिए श्रावकाचारोंमें भोजनके अंतराय बतलाए हैं। श्रावकोंको त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेके लिए उन अंतरायोंको भी सदा बचाते रहना चाहिए। भावार्थ—श्रावकोंको अंतरायरहित भोजन करना चाहिए ॥ २३९ ॥ श्रावकोंके लिए भोजनके अंतराय कईप्रकारके होते हैं। कितने ही अंतराय देखनेसे होते हैं, कितने ही छूनेसे वा स्पर्श कर लेनेसे होते हैं, कितने ही मनमें स्मरण कर लेनेमात्रसे होते हैं, कितने ही सुननेसे होते हैं, कितने ही सूंघनेसे होते हैं और कितने ही अंतराय चखने वा स्वाद लेनेसे अथवा खानेमात्रसे होते हैं ॥ २४० ॥ आगे उन्हीं अंतरायोंको दिखलाते हैं। सबसे पहले

रायकाः ॥ २४० ॥ दर्शनात्तथा सार्द्रं मांसमश्रं वसाऽजिनम् । अस्थ्यादि भोजनस्यादौ सद्यो दृष्ट्वा न भोजयेत् ॥ २४१ ॥ शुष्कचर्मास्थिलोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत् । मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमञ्जसा ॥ २४२ ॥ गन्धनान्मद्यगन्धेव पूतिगन्धेव तत्समे । आगते घ्राणमार्गं च नान्नं भुंजीत दोषवित् ॥ २४३ ॥ प्राक् परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम् । भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद्भोज्यमसंशयम् ॥ २४४ ॥ आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत् । लालायाःस्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥ २४५ ॥ भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् । यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥ २४६ ॥ चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोष-

देखनेके अंतराय दिखलाते हैं। गीला मांस, मद्य, चर्बी, गीला चमडा, गीली हड्डी, रुधिर, पीव आदि पदार्थ यदि भोजन करनेसे पहले दिखाई पड जायं तो उसी समय भोजन नहीं करना चाहिए। भावार्थ—यदि भोजन करनेके पहले ही ये पदार्थ दिखाई पड जांय तो उसी समय भोजनको नहीं बैठना चाहिए किंतु कुछ काल बाद भोजन करना चाहिए। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड जांय तो भोजन छोड देना चाहिए। मुखशुद्धि कर उठ आना चाहिए। ये देखनेके अंतराय हैं ॥ २४१ ॥

सूकी हड्डी, सूका चमडा, बाल आदिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओंका स्पर्श हो जानेपर शीघ्र ही भोजनका त्याग कर देना चाहिए। ये स्पर्श करनेके अंतराय हैं ॥ २४२ ॥ भोजनके अंतराय और दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको मद्य की दुर्गंध आनेपर वा मद्यकी दुर्गंधके समान दुर्गंध आनेपर अथवा और भी अनेकप्रकारकी दुर्गंधोंके आनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिए। ये सूंघनेके अंतराय हैं ॥ २४३ ॥ भोगोपभोग पदार्थोंका परिमाण करते समय जिन पदार्थोंका त्याग कर दिया है अथवा जिन रसोंका त्याग कर दिया है उनको भूल जानेके कारण अथवा किसी अन्य पदार्थका भ्रम हो जानेके कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय अथवा किसी भी तरह मालूम होजाय तो बिना किसी संदेहके उस समय भोजन छोड देना चाहिए।२४४। कच्चे दूध दही आदि गोरसमें मिले हुए चना, उडद, मूग, रमास आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं (जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्नका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि कच्चे गोरसमें मिले हुए चना, उडद, मूग आदि अन्नोंके खानेसे मुहकी लारका स्पर्श होते ही

मद्यमांसादिकम् । परिज्ञायेंगितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥ २४७ ॥ श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् । दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २४८ ॥ शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् । दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥ २४९ ॥ उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् । मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ॥ सूतकं पातकं चापि यथोक्त जैनशासने । एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ २५१ ॥ एषणासमितिः-

उसमें उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२४५॥ यदि बने हुए भोजनमें किसी भी प्रकारके त्रस जीवोंका कलेवर दिखाई पडे तो उसे देखते ही भोजन छोड देना चाहिए, इसीप्रकार यदि भोजनमें जडसहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड देना चाहिए ॥ २४६ ॥ "यह भोजन चमडेके पानीसे बना है वा इसमें चमडेके बर्तनमें रक्खे हुए घी दूध तेल पानी आदि पदार्थ मिले हुए हैं और इसीलिए यह भोजन अशुद्ध वा सदोष हो गया है" ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारेसे वा किसी भी सूक्ष्म चेष्टासे मालूम हो जाय तो उसी समय आहार छोड देना चाहिए। ये सब चखनेके अंतराय हैं ॥ २४७ ॥ मैं इसको मारता हूं इसप्रकारके हिंसक शब्दोंको सुन कर अथवा वह जल गया, मर गया इसप्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिए। ये सुननेके अंतराय हैं ॥ २४८ ॥ अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोंको सुन कर वा किसीके मोहसे अत्यन्त रोनेके शब्द सुन कर अथवा अत्यन्त दीनताके वचन सुन कर वा अत्यन्त भयंकर शब्द सुन कर शीघ्र ही भोजन छोड देना चाहिए। ये सुननेके अंतराय हैं ॥२४९॥

"यह भोजन मांसके समान है वा रुधिरके समान है अथवा विष्ठाके समान है" इसप्रकार किसी भी उपमेय वा उपमानके द्वारा मनमें स्मरण हो आवे तो भी उसी समय समस्त जलपानादिका त्याग कर देना चाहिए। ("यह भोजन मांसके समान है" इसप्रकारका स्मरण हो आना उपमेयके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है तथा "मांस भी ऐसा ही होता है" इसप्रकारका स्मरण होना उपमानके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है) ॥२५०॥ अणुव्रतोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको अपने भोजनोंकी शुद्धि बनाए रखनेके लिए अथवा एषणासमितिको शुद्धरीतिसे पालन करनेके लिए जैनशास्त्रोंमें अच्छीतरह बतलाए हुए सूतक पातकोंका भी त्याग कर देना चाहिए।

ख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् । तत्रान्तराद्विशेषज्ञैर्ज्ञातव्यास्ति सुविस्तरात् ॥ २५२ ॥ अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् । वस्त्राभरणपात्रादिनिखिलोपधिगोचराः ॥ २५३ ॥ यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च । तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥ २५४ ॥ प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा । श्रवद्वपुर्दशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥ २५५ ॥ निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् । दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥ २५६ ॥ अस्ति

भावार्थ–किसीके सूतक पातकमें भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २५१ ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे तथा सबका थोडा थोडा सार कह कर एषणासमितिका स्वरूप बतलाया । विशेष विद्वानोंको यदि विस्तारके साथ इसका स्वरूप जानना हो तो अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥ २५२ ॥

चौथी समितिका नाम आदाननिक्षेपण समिति है । अणुव्रती श्रावकोंको इसका भी पालन करना चाहिए । वस्त्र, आभरण, बर्तन आदि घरके जितने पदार्थ हैं वा जितने पदार्थ घरके काममें आते हैं उन सबको देख शोध कर उठाना वा रखना चाहिए जिससे किसी जीवका घात न हो जाय, इसीको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं ॥ २५३-२५४ ॥

पांचवीं समितिका नाम प्रतिष्ठानसमिति वा उत्सर्गसमिति है । वह भी अणुव्रती श्रावकोंको पालन करनी चाहिए । इस शरीरके दश द्वार हैं । दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुह, एक गुदा, एक गुह्येन्द्रिय और एक ब्रह्मांड द्वार इसप्रकार दश द्वार हैं । इन दश द्वारोंसे मल मूत्र कफ मैल आदि पदार्थ सदा बहते रहते हैं । उन सब मलोंको तथा विशेषकर मल मूत्रको ऐसे स्थानपर छोडना चाहिये जो छिद्र रहित हो, प्रासुक वा निर्जीव हो और समस्त दोषोंसे रहित हो ऐसे स्थानको देख कर और शोध कर अणुव्रती श्रावकोंको मल मूत्र छोडना चाहिए जिससे किमी जीवका घात न हो ॥ २५६ ॥ इसप्रकार चार भावनाओंका स्वरूप कहा । पांचवीं भावनाका नाम आलोकितपानभोजन है । आलोकितपानभोजन दिनमें सूर्यके प्रकाशमें देख शोध कर भोजन करनेको कहते हैं । इसका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिए इसप्रकार पांचों भावनाओंका स्वरूप कहा । अणुव्रती श्रावकोंको अहिंसाव्रत पालन करनेके लिए इन पांचों भावनाओंको अच्छीतरह पालन

चालोकितपानभोजनाख्याथ पञ्च ताः । भावना भावनीया स्यादहिंसाव्रतहेतवे ॥२५७॥ शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्तादिभोजनम । सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥ २५८ ॥ नचानध्यवसायेन दोषेणानवधानतः । मया दृष्टचरं चैतन्मत्वाभोज्यं न भोजयेत् ॥ २५९ ॥ तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् ।

करना चाहिए तथा अच्छीतरह चिंतवन करना चाहिए ॥ २५७ ॥ जो दाल भात आदि भोजन तैयार किया हुआ है वह चाहे शुद्ध हो और खूब अच्छीतरह शोध लिया हो तथापि उसे फिर भी अच्छीतरह देख कर बडी सावधानीके साथ भोजन करना चाहिए । भावार्थ—शुद्ध और शोधे हुए तैयार भोजनको भी भोजन करते समय अच्छीतरह देख शोध कर भोजन करना चाहिए । संभव है तैयार होनेपर कोई जीव उसमें पड जाय इसलिए अणुव्रती श्रावकोंको सदा नेत्रोंसे देखते हुए सावधानीके साथ भोजन करना चाहिए ॥ २५८ ॥ अपने अज्ञानसे वा किसी अन्य दोषसे अथवा असावधानीसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए कि यह भोजन मेरा देखा हुआ है अथवा मेरा शुद्ध किया है तथा ऐसा मान कर बिना देखे शोधे कभी भोजन नहीं करना चाहिए । भावार्थ—शुद्ध किए हुए भोजनको भी भोजन करते समय अच्छीतरह देख शोध कर भोजन करना चाहिए । यह शुद्ध किया हुआ है वा देखा शोधा हुआ है ऐसा मानना अज्ञान, दोष वा प्रमाद है। भोजन करनेमें ऐसा प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए ॥ २५९ ॥ यद्यपि उस भोजनमें यह निश्चित है कि यह भोजन शुद्ध है, इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है तथापि यदि बिना देखे शोधे भोजन किया जायगा तो प्रमाद वा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ महा दोष लगेगा । भावार्थ—बिना देखे शोधे भोजन करना अज्ञान और प्रमाद है । अणुव्रती श्रावकोंको बिना देखे शोधे भोजन कर अज्ञान और प्रमादका दोष भी नहीं लगाना चाहिए । इस अज्ञान और प्रमादके दोषको दूर करनेके लिए उसे सदा सावधानीके साथ देख शोध कर भोजन करना चाहिए ॥ २६० ॥

सूत्रकार श्रीउमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्र वा मोक्षशास्त्रनामक महाग्रंथमें त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेरूप अहिंसा अणुव्रतके पांच अतिचार बतलाये हैं। भावार्थ—आचार्योंने प्रत्येक व्रतके पांच पांच

तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥ २६० ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पंच सूत्रेपि लक्षिताः । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥ २६१ ॥ तत्सूत्रं यथा-

अतिचार बतलाये हैं। अतिचार दोषोंको कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक व्रतके अनेक दोष होते हैं तथापि उन सबको सूत्रोंमें कहे हुए पांच पांच अतिचारोंके भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। सामान्य रीतिसे दोष चारप्रकार हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। शास्त्रकारोंने इन चारोंका लक्षण इसप्रकार लिखा है-

अतिक्रमो मानसशुद्धहानि-र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा।
तथातिचारं करणालसत्वं, भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥

अर्थ-मनकी शुद्धतामें कमी होना, वृत पालते हुए मनमें अशुद्धता लाना अतिक्रम है। विषयोंकी इच्छा रखना अर्थात् जिनका त्याग कर दिया है उनको सेवन तो न करना किंतु सेवन करनेकी इच्छा वा लालसा करना व्यतिक्रम है तथा चारित्रके पालन करनेमें वा वृतोंके पालन करनेमें आलस वा असावधानी वा प्रमाद करना अतिचार है और वृतोंके भंग करनेको अनाचार कहते हैं। अन्य ग्रन्थकारोंने अतिचारका लक्षण लिखा है-

सापेक्षस्य वृते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्। मंत्रतंत्रप्रयोगाद्याः परेप्यूह्यास्तथात्ययाः ॥

अर्थ-"मैं ग्रहण किये हुए अहिंसावृतका भंग नहीं करूंगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकके वृतका एक अंश भंग होना अर्थात् चाहे अंतरंग वृतका खण्डन होना अथवा बहिरंग व्रतका खंडन होना उस वृतमें अतिचार कहलाता है। भावार्थ-निर्दय होना अंतरंग वृतका खंडन है तथा अंतरंगकी प्रवृत्तिके बिना प्राणघात होना किसीको दुख पहुंच जाना आदि बहिरंग वृतका खण्डन हो जाना है। यदि अन्तरंग और बहिरंग दोनों वृतोंका खण्डन हो जाय तो अनाचार कहलाता है। पांच अतिचारोंके सिवाय किसी भी दुष्ट क्रियाके सिद्ध करनेके लिये किसी मन्त्रका प्रयोग करना वा तंत्रका प्रयोग करना हिंसक व्यापार करना आदि सब अतिचार कहलाते हैं ॥२६१॥

आचार्यवर्य श्री १०८ श्री उमास्वामीने जो अतिचार बतलानेवाला सूत्र कहा है वह यह है-

बधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः। अत्रोक्तं बधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः। प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥ २६२ ॥ पशूनां गोमहिष्यादिछागवारणवाजिनाम्। तन्मात्रातिरिक्तां बाधां न कुर्याद्वा कशादिभिः ॥२६३॥ बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृंखलादिभिः। आततायात् (?) प्रमादाद्वा न कुर्याच्छ्रावकोत्तमः ॥२६४॥ छेदो नाशादिछिद्रार्थः काष्ठसूलादिभिः कृतः। तावन्मात्रातिरिक्त तन्नविधेयं प्रतिमान्वितैः ॥२६५॥ सापराधे मनुष्यादौ कर्णनाशादि छेदनम्।

बधबन्धछेदातिभारारोपणान्ननिरोधाः।

अर्थ—मारना, बांधना, छेदना, अधिक बोझा लादना तथा अन्नपानका रोक देना ये पांच अहिंसा अणुव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका स्वरूप यथाक्रमसे दिखलाते हैं।

यहांपर बध शब्दसे वा मारना शब्दसे लकडी आदिसे मारना लेना चाहिये। प्राणोंका नाश करना नहीं लेना चाहिये क्योंकि प्राणोंकी हत्या करना तो पहले ही छोडा जा चुका है, उसका त्याग पहले ही किया जा चुका है, प्राणोंकी हत्या करना कभी कल्याण करनेवाली नहीं है इसलिये उसका तो सर्वथा त्याग करना बतलाया है और सबसे पहले उसका त्याग बतलाया है। प्राणोंकी हत्याका त्याग करके किसी भी पुरुष वा पशुको लकडी बेत थप्पड घूंसा आदिसे मारना अतिचार कहलाता है ॥ २६२ ॥ गाय भैंस बकरी हाथी घोडा आदि पशुओंको कोडा, पैना, लकडी आदिसे उनकी शक्तिसे अधिक बाधा नहीं पहुंचाना चाहिये अर्थात् यदि मारनेका भी काम पडे तो उतना ही मारना चाहिए जितना कि वह सहन कर ले अथवा उसको अधिक दुःख न पहुंचे। उसकी शक्तिसे अधिक मारना अतिचार है ॥ २६३ ॥ अणुव्रत धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोंको अपने क्रूर परिणामोंसे अथवा प्रमादसे गाय भैंस आदि पशुओंको सांकल रस्सी आदिसे इसप्रकार कस कर नहीं बांधना चाहिये जिससे उनको दुःख पहुंचे अथवा जिस बन्धनको वह सहन न कर सके। भावार्थ—पशुओंको किसी मकानमें बिना बांधे हुए रखना अच्छा है। यदि बांधनेका काम पडे तो इसप्रकार बांधना चाहिए जिससे काम पडनेपर, अग्नि आदिके लगनेपर अपनेआप तोड कर भाग जांय। उसको दुखदायी कस कर बांधना अतिचार है ॥ २६४ ॥ प्रतिमारूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सुई सूआ वा लकडी

न कुर्याद्भूपकल्पोऽपि व्रतवानपि कश्चन ॥२६६॥ भारः काष्ठादिलोष्ठान्नघृततैलजलादिकम् । नेतुं क्षेत्रान्तरे क्षिमं मनुजांश्वत्रिकादिषु ॥२६७॥ यावदस्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् ॥ नातिरिक्तं ततः क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥ २६८ ॥ दासीदासादिभृत्यानां बन्धुमित्रादिप्राणिनाम् । सामर्थ्यातिक्रमः क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणैः ॥२६९॥ अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोस्ति पञ्चमः । तिरश्चां वा नराणां वा गोचरः स स्मृतो यथा ॥२७०॥ नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः ।

आदिसे जो छेद करना पडता है वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाय, उससे अधिक छेद नहीं करना चाहिये। दुख देनेवाला अधिक छेद करना अतिचार है ॥ २६५ ॥ यदि कोई राजाके समान व्रती मनुष्य हो तथा उसे अपराधी मनुष्योंको दंड देनेका पूर्ण अधिकार हो तो भी उसे अपराधी मनुष्योंके भी नाक कान आदि नहीं काटने चाहिए। भावार्थ—नाक कान आदि काटनेमें महा दुःख होता है इसलिए अपराधी होनेपर भी किसीके नाक कान नहीं काटने चाहिए ॥ २६६ ॥ इसीप्रकार किसी मनुष्य वा पशुपर उसकी सामर्थ्यसे अधिक बोझा लादना भी अतिचार है । यदि किसी व्रती श्रावकको काठ, पत्थर, लोहा, अन्न, घी, तेल, जल आदि पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाना हो अथवा किसी मनुष्य वा स्त्रीको डोलीमें बिठा कर दूसरे किसी स्थानमें ले जाना हो तो जिस मनुष्य वा पशुकी जितनी सामर्थ्य है उसपर उतना ही बोझ रखना चाहिए, अणुव्रती श्रावकोंको उनकी शक्तिसे अधिक बोझा कभी नहीं रखना चाहिए। अधिक बोझा लादना अहिंसाणुव्रतका चौथा अतिचार है ॥२६७-२६८॥ चतुर श्रावकोंको उचित है कि वे दास दासी आदि नौकरचाकरोंसे अथवा भाई मित्र आदि कुटंबीजनोंसे काम लेवें तो उनकी शक्तिसे अधिक काम नहीं लेना चाहिए। उनकी शक्तिका अतिक्रम कभी नहीं करना चाहिए। शक्तिसे अधिक काम लेना वा शक्तिसे अधिक बोझा लादना वा शक्तिसे अधिक चलाना आदि सब अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२६९॥ इस अहिंसाणुव्रतका पांचवां अतिचार अन्नपानविरोध है वह भी मनुष्य और पशु दोनोंके लिए होता है। भावार्थ—दासी दास भाई बंधु पुत्र स्त्री आदि अपने आश्रित मनुष्योंको वा पशुओंको समयपर भोजन न देना अथवा उनको भूखे प्यासे रखना वा कम भोजन देना आदि अहिंसाणुव्रतका पांचवां अतिचार है ॥ २७० ॥ प्रमादसे दासी दासादिक मनुष्योंको वा

तृणाद्यन्नादिपातानां निरोधो व्रतदोषकृत् ॥ २७१ ॥ बहुप्रजल्पितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रतः । सा क्रिया नैव कर्तव्या यया त्रसवधो भवेत् ॥२७२॥ इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं

सागाराहंमणुव्रतम् । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥ २७३ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां त्रसहिंसापरित्याग-

साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां त्रसहिंसापरित्याग-

प्रथमाणुव्रतवर्णनो नाम पंचमः सर्गः ।

गाय भैंस आदि पशुओंको भोजन वा घास जल आदि खानेपीनेकी सामग्रीको उनको देनेसे रोक देना न

देने देना अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥ २७१ ॥ बहुत कहनेसे क्या सबका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिए

कि अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा

होती हो । भावार्थ—त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली जितनी भी क्रियाएं हैं, जितने भी व्यापार हैं उन सबका त्याग

कर देना चाहिए, त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवालीं क्रियाओंका त्याग कर देनेसे ही अहिंसाणुव्रत निर्दोष रीतिसे

पल सकता है ॥ २७२ ॥ इसप्रकार ऊपर जो कुछ कहा गया है, जो जो त्याग बतलाया है, जिन जिन क्रियाओं-

का निषेध किया है, जिन जिन व्यापारोंका निषेध किया है वह सब गृहस्थोंके द्वारा पालन करने योग्य त्रस

जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेरूप अहिंसाणुव्रत है ऐसा भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है । भावार्थ—ऊपर इस पांचवें

अध्यायमें जो जो क्रियाएं बतलाई हैं वे सब अहिंसाणुव्रतीको पालन करनी चाहिये ॥ २७३ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा

सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और

श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसी इस लाटीसंहिता नामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी

"धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें त्रसहिंसाके त्याग करनेरूप अहिंसाणुव्रत

नामके प्रथम अणुव्रतको वर्णन करनेवाला यह पांचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः सर्गः

त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं यदणुव्रतम्। साधुदूदाङ्गजोद्दामफामनार्घ्यं पुनातु तत् ॥१॥ इत्याशीर्वादः।

अथमृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते। सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेश्मवासिनाम् ॥ १ ॥ ग्राह्या नत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः। प्रोक्तमसदभिधानमनृतं सूत्रकारकैः ॥२॥ असदिति हिंसाकरमभिधानं स्याद्भाषणम्। शब्दानामनेकार्थत्वाद्वृत्तेश्चार्थानुसारिणी ॥ ३ ॥ नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते। साकारमन्त्रभे-

अथ छठा सर्ग

त्रसहिंसाका त्याग करनेरूप जो अहिंसाणुव्रत है वह सज्जन दूदाके पुत्र और अत्यन्त उदार ऐसे फामनको पवित्र करो। इति आशीर्वादः।

अब आगे असत्य बचनोंका त्याग कर देना ही जिसका लक्षण है ऐसे सत्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं, यह सत्यव्रत पूर्णरूपसे तो मुनियोंके होता है तथा एकदेशरूपसे गृहस्थोंके होता है। भावार्थ—असत्य बचनोंका त्याग पूर्णरूपसे मुनियोंके होता है और एकदेशरूपसे गृहस्थोंके होता है। मुनियोंके इस व्रतको सत्यमहाव्रत कहते हैं और गृहस्थोंके इस व्रतको सत्यअणुव्रत कहते हैं ॥ १ ॥ बुद्धिमानोंको अहिंसाणुव्रतमें कहे हुए समस्त कथनकी अनुवृत्ति इस सत्याणुव्रतमें भी ग्रहण करनी चाहिये। सूत्रकारने कहा है "असदभिधानमनृतम्" अर्थात् प्रमादके योगसे असत्य बचन कहना अनृत वा झूठ है।२। आगे असत् और अभिधान दोनोंका अलग अलग अर्थ कहते हुए दिखलाते हैं। हिंसा करनेवालेको असत् कहते हैं तथा भाषण करने, कहने वा बोलनेको अभिधान कहते हैं। इन दोनों शब्दोंका मिला कर अर्थ करनेसे यही अर्थ निकलता है कि जो जो बचन हिंसा करनेवाले हैं उन सबको अनृत कहते हैं। यद्यपि असत् शब्दके अनेक अर्थ होते हैं तथापि उनका अर्थ वही लिया जाता है जो प्रकरणके अनुसार ठीक बैठता है। भावार्थ—यहांपर प्रकरणके अनुसार असत् शब्दका अर्थ हिंसा करनेवाला ही लेना चाहिये और अर्थ नहीं लेना चाहिए ॥ ३ ॥ यहांपर असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलनामात्र नहीं लेना हिये क्योंकि यदि असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना लिया जायगा तो साकारमंत्रभेद आदि जो झूठके भेद

दादौ सूनृतत्वानुषङ्गतः ॥ ४ ॥ देशतो विरतिस्तत्र सूत्रमित्यनुवर्तते । त्रसबाधाकरं तस्माद्वचो वाच्यं न धीमता ॥ ५ ॥ सत्यमप्यसत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः । सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चोरादिदर्शनम् ॥६॥ असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवस्य रक्षणात् । अचक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ।७। तत्रासत्यवचस्त्याग-

हैं उनमें कुछ बोलना नहीं पडता इसलिये ऐसे झूठको सत्यमें ही शामिल करना पडेगा। भावार्थ—साकारमंत्र भेद भी एक झूठका भेद वा अतिचार है परन्तु उसमें कुछ बोलना नहीं पडता, केवल इशारे वा चेष्टासे कोई बात जान कर उसको प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। यदि असत् शब्दका अर्थ झूठ बोलना ही लिया जायगा तो फिर साकारमन्त्रभेदको सत्यव्रतका अतिचार नहीं कह सकेंगे, फिर उसे सत्य ही कहना पडेगा इसलिए असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं लेना चाहिये किन्तु "हिंसा करनेवाले" यही अर्थ लेना चाहिये ॥ ४ ॥ सूत्रमें जो 'असदभिधानमनृतम्' लिखा है। उसमें "एकदेशरूपसे त्याग करना" इस वाक्यकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिको मिलानसे इस सबका यही अर्थ होता है जो हिंसा करनेवाले बचन हैं उनका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है अतएव बुद्धिमान श्रावकोंको ऐसे बचन कभी नहीं कहना चाहिए जिनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना संभव हो। भावार्थ—त्रस जीवोंकी हिंसाको सूचित करनेवाले बचनोंके कहनेका त्याग करना सत्याणुव्रत है ॥ ५ ॥ जिस सत्यबचनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना संभव हो ऐसे सत्यबचन भी कभी कभी असत्य ही कहलाते हैं "जैसे इस चोरको चोरी करते हुए मैंने देखा था" ऐसा कहनेसे उसको दंड दिया जा सकता है अतएव ऐसे सत्यबचन कहना भी हिंसा करनेवाले बचन हैं, ऐसे सत्यबचन भी असत्यबचन कहलाते हैं ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकोंको कभी नहीं बोलने चाहिए ॥ ६ ॥ इसीप्रकार कहीं कहीं पर जीवोंकी रक्षा होनेसे असत्य बचन भी सत्य कहलाते हैं। जैसे मुझे दिखाई नहीं देता इसलिए मार्गमें मैंने किसी चोरको नहीं देखा। भावार्थ—चोरको देख कर भी यह कहना कि "मैंने चोरको नहीं देखा है" सरासर असत्य बचन है, तथापि ऐसा कहनेसे उसके प्राणोंकी रक्षा होती है अतएव ऐसे असत्यबचन भी प्राणोंके रक्षक होनेके कारण सत्य ही कहलाते हैं ॥७॥

व्रतरक्षार्थमेव याः । भावनाः पञ्च सूत्रोक्ताः भावनीया व्रतार्थिभिः ॥८॥ तत्सूत्रं यथा-क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच । यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः । स्वपराश्रितभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥ ९ ॥ स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन । न च वाच्यं वचस्तद्वत्परेषां क्रोधकारणम् ॥१०॥ यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च । तेषामवद्यहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥ ११ ॥ हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित् । तदपि द्विविधं ज्ञेयं

इस असत्यबचनोंके त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये सूत्रकारने पांच भावनाएं बतलाई हैं। अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको उन भावनाओंका पालन भी अच्छीतरह करते रहना चाहिए ॥८॥ सूत्रकार श्रीउमास्वामीने उन भावनाओंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ।

अर्थ–क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, डर वा भयका त्याग, हंसीका त्याग और अनुवीचिभाषण वा निर्दोष अनिंद्य भाषण ये पांच सत्याणुव्रतकी भावनाएं हैं। आगे इन्हीं पांचों भावनाओंका स्वरूप बतलाते हैं।

बुद्धिमानोंको ऐसे बचन कहने चाहिए जिसमें क्रोध उत्पन्न न हो, यही क्रोधका त्याग नामकी पहली भावना है। क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले बचन दो प्रकार हैं एक अपने क्रोधसे कहे जानेवाले बचन और दूसरे दूसरे-को क्रोध उत्पन्न करनेवाले बचन ॥ ९ ॥ अणुव्रती श्रावकको स्वयं क्रोध कर सत्य बचन भी कभी नहीं कहने चाहिये तथा इसीप्रकार ऐसे बचन भी कभी नहीं कहने चाहिये जो दूसरे लोगोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हों ॥१०॥ जिसप्रकार क्रोधसे कहे जानेवाले बचनोंका त्याग करना बतलाया है उसीप्रकार मान माया और लोभका त्याग भी समझ लेना चाहिये अर्थात् मान माया लोभके वशीभूत हो कर बचन नहीं कहना चाहिये और न ऐसे बचन कहने चाहिये जिनसे दूसरोंको मान माया वा लोभ उत्पन्न हो। इसका भी कारण यह है कि क्रोध मान माया वा लोभसे उत्पन्न हुए बचन पापके कारण होते हैं अतएव असत्य बचनोंसे उनमें किसीप्रकारकी विशेषता नहीं होती अर्थात् जो जो बचन कषायोंके वशीभूत हो कर कहे जाते हैं अथवा कषायोंको उत्पन्न करनेवाले बचन कहे जाते हैं वे सब प्राणोंको पीडा उत्पन्न करनेवाले वा पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं इसलिये ऐसे बचन असत्य

स्वपरोभयभेदतः ॥ १२ ॥ स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः। न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥ १३ ॥ हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया नवेतिये।
तेपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥ १४ ॥ भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः। अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥ १५ ॥ आलोचितं

ही कहे जाते हैं। अणुव्रती श्रावकको ऐसे असत्य वचनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ११ ॥ अणुव्रती श्रावकको सदा हास्यरहित वचन कहना चाहिये। हंसीसे मिले हुए वचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। क्रोधरूप बचनोंके समान हास्यरूप वचन भी दोप्रकार हैं। एक स्वयं हंसीसे कहे जानेवाले वचन और दूसरे दूसरोंको वा दोनोंको हंसी उत्पन्न करनेवाले बचन ॥ १२ ॥ अणुव्रती श्रावकको प्रमादके वशीभूत होकर स्वयं हंस कर बचन कभी नहीं कहने चाहिये। इसीप्रकार चतुर श्रावकोंको ऐसे वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये जो दूसरोंको हसी उत्पन्न करनेवाले हों ॥ १३ ॥

यहांपर हास्यशब्द उपलक्षण है इसीलिये हास्य शब्दसे नौ नोकषाय लेने चाहिये। असत्य वचनों-के त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उस सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये हास्यके समान हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नौ नोकषायोंका भी त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार श्रावकोंको हंसीके वचनोंका त्याग कर देना चाहिये उसीप्रकार प्रेम द्वेष शोक भय ग्लानिसे कहे जानेवाले बचन वा इनको उत्पन्न करनेवाले बचन नहीं कहने चाहिये, इसीप्रकार स्त्रीवेद पुरुष-वेद वा नपुंसकवेदके विकारसे उत्पन्न होनेवाले वचन वा इनके विकारोंको उत्पन्न करनेवाले बचन भी श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। अभिप्राय यह है कषाय वा नोकषायोंसे कहे जानेवाले बचन अथवा कषाय वा नो-कषायोंको उत्पन्न करनेवाले बचन किसी न किसीको दुःख पहुचानेवाले वा प्राणोंको पीडा पहुंचानेवाले होते हैं अतएव ऐसे बचन असत्य ही कहे जाते हैं इसीलिए श्रावकोंको ऐसे वचन नहीं कहने चाहिए ॥१४॥ अणुव्रती श्रावकोंको डर उत्पन्न करनेवाले भयानक शब्द कभी नहीं कहने चाहिए क्योंकि दूसरोंको डरानेवाले भयानक शब्दोंके कहनेसे असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंका बंध अवश्य होता है।

च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् । चौर्यादिविकथाख्यान न वाच्यं पापभीरुणा ॥ १६ ॥ अत्रासत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपंचकम् । प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेप्युक्तं महर्षिभिः ॥ १७ ॥ तत्सूत्रं यथा—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः । तत्रमिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा । अहमेवं न वक्ष्यामि

भावार्थ—ऐसे बचन कहनेसे कहनेवालेके भी अशुभ कर्मोंका बंध होता और सुननेवालोंके भी अशुभ कर्मोंका बंध होता है । कभी कभी भयानक शब्दोंको सुन कर लोग रोगी हो जाते हैं तथा कभी कभी तो मर जाते हैं इसलिए ऐसे बचन हिंसक बचन कहलाते हैं। ऐसे बचन अणुव्रती श्रावकको कभी नहीं कहने चाहिए ॥ १५ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको जो कुछ कहना चाहिए वह सब समझ कर शास्त्रोंके अनुकूल बचन कहने चाहिए। बिना सोचे समझे शास्त्रोंके विरुद्ध वचन कभी नहीं कहने चाहिए, इसीप्रकार पापोंसे डरनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको चौर्यकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, युद्धकथा आदि विकथाएं कभी नहीं कहनी चाहिए क्योंकि इन विकथाओंके कहनेसे कहने सुननेवाले दोनोंके परिणामोंमें मलिनता और विकार उत्पन्न होता है जिससे अशुभ कर्मोंका बंध होता है इसलिए श्रावकोंको ऐसे बचनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ १६ ॥ अणुव्रती श्रावकोंको इसप्रकार ऊपर लिखी हुई सत्यव्रतकी पांचों भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिए। इनके पालन करनसे व्रतोंकी रक्षा होती है।

इस असत्य बचनोंके त्याग करनेरूप सत्याणुव्रतके पांच अतिचार हैं। वे पांचों ही अतिचार प्रसिद्ध हैं और उनको सब मानते हैं। बडे बडे महर्षियोंने भी सूत्रोंमें उनका वर्णन किया है अर्थात् उमास्वामी ऐसे महा आचार्योंने भी मोक्षशास्त्रोंमें उनका वर्णन किया है ॥१७॥ वह मोक्षशास्त्रका सूत्र यह है—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः ।

अर्थ—मिथ्या उपदेश देना, किसी एकांतमें की हुई क्रियाओंको वा कही हुई बातको प्रगट कर देना, झूठे लेख लिखना, किसीकी धरोहर मार लेना और किसी भी चेष्टासे किसीके मनकी बातको जान कर प्रगट कर देना ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं। आगे अनुक्रमसे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं।

वद त्वं मम मन्मनात् ॥ १८ ॥ रहोभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् । परेषां शङ्कया किंचिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥ कूटलेखक्रिया सा स्याद्वंचनार्थं लिपिर्मृषा । सा न साक्षात्तया तस्या मृषानाचारसम्भवात् ॥ २० ॥ किन्तु स्खलना यथा कश्चित्किंचित्प्रत्यूहनिस्पृहः । इदं मदीयपत्रेषु मदर्थं न लिपीकृतम् ॥ २१ ॥

"इस बातको मैं नहीं कहूंगा मेरे मनके अनुसार तू ही कह" इसप्रकार मिथ्यावचन कहनेके लिए दूसरों-को प्रेरणा करना मिथ्योपदश नामका पहला अतिचार कहलाता है । भावार्थ—दूसरोंने मिथ्यावचन कहल-वाना वा धर्मका विपरीत स्वरूप बतलाना आदि सब मिथ्योपदशनामका पहला अतिचार कहलाता है । सत्या-णुव्रती श्रावकको इसका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८ ॥

"यहांपर कुछ कारण अवश्य है बिना कारणके एकांतमें कोई बातचीत नहीं करता" इस हेतुसे शंका उत्पन्न करा कर एकांतमें किसी पुरुषके द्वारा वा स्त्री पुरुषोंके द्वारा कही हुई बातोंको वा की हुई क्रियाओंको प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान कहलाता है॥ १९ ॥

दूसरोंको ठगनेके लिए झूठा लेख लिखना या लिखाना कूटलेखक्रिया है । इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि यह झूठा लेख साक्षात् नहीं लिखा जाता न साक्षात झूठा लेख लिखाया जाता है क्योंकि यदि साक्षात् झूटा लेख लिखा जाय या लिखाया जाय तब तो वह असत्य बचनरूप अनाचार ही हो जाता है क्योंकि ऐसा करनेसे किसी भी अंशमें सत्यव्रतकी रक्षा नहीं होती है किंतु उसमें थोडे थोडे झूठे शब्द मिलाये जाते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये कहता है कि "मैंने जो यह अपने पत्रमें लेख लिखा है वह अपने लिये नहीं लिखा है"। भावार्थ—वह उसे अपना लिखा हुआ तो स्वीकार करता है। इतने अंशोंमें अपने सत्यव्रतकी रक्षा करता है परन्तु अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये इतना और बढा देता है कि "यह लेख लिखा तो मैंने है परन्तु मैंने अपने लिये नहीं लिखा है।" इतने अंशमें सत्यका घात होनेसे यह अति-चार कहलाता है। सत्याणुव्रतीको ऐसे अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २०-२१ ॥ दूसरेकी धरोहरको अपहरण कर लेना, मार लेना, न देना न्यासापहार कहलाता है। उसमें भी इतना विशेष है कि वह दूसरेके समस्त

स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥ २३ ॥ वदत्येवं स लोकानां पुरस्तादिह निन्हवात्। धृतं न मे गृहे किंचित्तेनाऽमाऽर्थेन गच्छता ॥ २४ ॥ उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थसूचकः। मृषात्यागव्रतस्योच्चैः दोषः स्यात्सर्वतोमहान् ॥ २५ ॥ साकारमन्त्रभेदोपि दोषोतीचारसंज्ञकः। न वक्तव्यः कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥ २६ ॥

धनका हरण नहीं करता किन्तु उसका कुछ भाग हरण करता है क्योंकि रक्खी हुई धरोहरके कुछ भागको हरण कर लेना ही न्यासापहार कहलाता है। न्यासापहारका यही लक्षण है, जैसे किसी पुरुषके पास कुछ धन था। वह अपना सब धन किसी अन्य धनीके यहां जमा कराकर वा रख कर स्वयं परदेशको चला गया। उस धनको छिपानेके लिये वा प्रगट न होने देनेके लिये वह धनी दूसरे लोगोंके सामने यह कहता है कि वह पुरुष मेरे घर तो कुछ नहीं रख गया, वह तो परदेश जाते समय सब धन अपने साथ ले गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वह धनी पुरुष उसके धनको मारना तो नहीं चाहता किन्तु किसी पुरुषका धन मेरे घर रक्खा है इस बातको प्रगट करना नहीं चाहता इसीलिये वह लोगोंके सामने कहता है कि वह अपना सब धन साथ ले गया है, मेरे यहां कुछ नहीं रख गया। इसमें यद्यपि बाह्य वचन असत्य है तथापि उसके अन्तरंगमें सत्यताका घात नहीं है अन्तरंग व्रतोंकी रक्षा बनी हुई है इसीलिये यह अतिचार कहलाता है ॥ २३-२४ ॥ ऊपर जो न्यासापहारका स्वरूप बतलाया है वह प्रसिद्ध है और अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है। असत्य वचनोंके त्याग करनेरूप सत्य अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकके लिये यह सबसे बडा और बहुत बडा दोष है। इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २५ ॥ साकारमन्त्रभेद भी सत्याणुव्रतका अतिचार और दोष कहलाता है। नैष्ठिक उत्तम श्रावकको यह साकारमन्त्रभेद भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥ २६ ॥ दूसरेके मनमें जो छिपी हुई बात है अथवा कोई ऐसी बात है जो दूसरोंको मालूम नहीं है उस बातको किसी चेष्टासे वा किसी इशारे आदिसे जान कर प्रकाशित कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। व्रती श्रावकोंको ऐसी किसी दूसरेकी मनकी बात कभी प्रकाशित नहीं करनी चाहिये। भावार्थ—ऐसी बातके प्रकाशित हो जानेसे जिसने वह बात किसी भी कारणसे अबतक छिपा रक्खी थी

दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम्। कथंचिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥२७॥ ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः। इत्येवं यज्जगत्सर्वं वदत्ये- तन्मृषा वचः ॥ २८ ॥ मैवं प्रमत्तयोगाद्धि सूत्रादित्यनुवर्तते। तस्याभावान्न दोषोस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥ २९ ॥ एवं संव्यवहाराय स्याददोषो नयात्मके। नास्ति

उसको दुःख पहुंचता है तथा दुःख पहुंचनेसे आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान होनेसे अशुभ कर्मोंका बंध करता है इसीलिये साकारमन्त्रभेद सत्याणुव्रतका अतिचार है। अणुव्रतियोंको इसका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २७ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि "यह गांव मेरा है, यह देश मेरा है अथवा यह मनुष्य मेरा है" इस प्रकार जो यह समस्त संसार कहता है वह भी सब मिथ्या बचन हैं। भावार्थ—वास्तवमें देखा जाय तो गांव वा देश किसीका नहीं होता, फिर भी लोग उसको अपना बतलाते ही हैं परन्तु गांव वा देशको अपना बतलाना मिथ्या बचन हैं और मिथ्या बचनोंको समस्त संसार बोलता है, व्रती भी बोलते हैं इसलिए असत्यका त्याग व्रतियोंसे भी नहीं हो सकता ॥२८॥ इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि तत्वार्थसूत्रमें जो असत्यका लक्षण "असदभिधानमनृतम्" लिखा है उसमें ऊपरके सूत्रसे "प्रमत्तयोगात्" शब्दोंकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिके अर्थको मिला देनेसे असत्यका लक्षण "प्रमाद वा कषायके निमित्तसे दूसरेकी अनुवृत्तिसे दूसरेकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले बचन कहना असत्य है" ऐसा बन जाता है। जहां जहां प्रमाद वा कषाय होते हैं वहीं असत्य होता है जहां प्रमाद वा कषाय नहीं होता वहां असत्य भी नहीं होता। संसारमें जो "यह गांव मेरा है वा यह देश मेरा है" ऐसा बचन कहा जाता है उसमें प्रमाद वा कषाय नहीं है केवल अपना निवासस्थान बतलानेके लिये ऐसा कहता है परन्तु जहांपर उस गांव वा उस देशको अपनानेके लिए उसपर अपना अधिकार जमानेके लिये कषायकी प्रवृत्ति होती है वहांपर वही वाक्य असत्य हो जाता है अतएव शंकाकारने जो शंका की थी वह सर्वथा निर्मूल है ॥ २९ ॥

"जहां जहांपर कषाय होता है वहींपर असत्यता होती है" ऐसा मान लेनेसे नयोंके अनुसार जो एक ही

२९०

च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ॥ ३० ॥ अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत् । देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ॥ ३१ ॥ तल्लक्षणं यथा सूत्रे

पदार्थका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे कहा जाता है अथवा संसारमें अपना व्यवहार चलानेके लिये जो नाम स्थापना द्रव्य भाव चार निपेक्ष बतलाये हैं उनसे भी पदार्थोंका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे समझा जाता है। उसमें भी कोई दोष नहीं आता। भावार्थ—संसारमें जितने जीव अजीव आदि पदार्थ हैं वे सब द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं और पर्यायार्थिकनयसे अनित्य हैं ऐसा निश्चित सिद्धांत है। जिस पदार्थको द्रव्यार्थिकनयसे नित्य कहा है उसी पदार्थको पर्यायार्थिकनयसे अनित्य कहना मिथ्या है परन्तु कहनेवाला कषायरहित होकर कहता है वह केवल किसी विशेष नयकी अपेक्षा उसका स्वरूप बतला रहा है, किसी मोह वा अज्ञानके कारण वा किसीको दुःख पहुं-चानेके लिये नहीं कह रहा है अतएव कषायरहित होनेके कारण वह असत्य नहीं कहलाता। इसीप्रकार चारों निक्षेपोंसे भी पदार्थोंका स्वरूप अलग अलग कहा जाता है। भावनिक्षेपसे वर्तमानकी अवस्था कही जाती है, द्रव्यनिक्षेपसे भूत वा भविष्यत्कालका स्वरूप वर्तमानमें कहा जाता है, नामनिक्षेप केवल पहिचानके लिये ही है और स्थापनानिक्षेपमें उस पदार्थका अभाव होनेपर भी उसकी कल्पना किसी अन्य पदार्थमें की जाती है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो भूत वा भविष्यके स्वरूपको वर्तमानमें कहना असत्य है अथवा स्थापनानिक्षेपके द्वारा कल्पना किया हुआ पदार्थ भी असत्य है परन्तु उसके कहनेमें किसीप्रकारका प्रमाद वा कषाय नहीं है, जो कुछ कहा जाता है वह किसी भी विशेष अपेक्षासे उसके स्वरूपका कथन किया जाता है इसलिये वह असत्य नहीं है किन्तु नयसत्य, नाम सत्य, स्थापनासत्य, द्रव्यसत्य और भावसत्य कहलाता है, इसप्रकार अतिचारोंका वर्णन समाप्त कर सत्याणुव्रतका स्वरूप समाप्त किया ॥ ३० ॥

चोरीका त्याग करनेरूप अचौर्यव्रत भी दोप्रकार है। एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। एकदेश चोरी-का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है और पूर्णरूपसे चोरीका त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत है, इसप्रकार चोरीका त्याग दो प्रकारसे संभव हो सकता है ॥ ३१ ॥ सूत्र बनानेमें अत्यंत चतुर ऐसे आचार्यवर्य श्रीउमास्वामीने उस

सूक्तं सूत्रविशारदैः । अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदर्थः कथ्यतेऽधुना ॥ ३२ ॥ अदत्तस्य यदादानं चाथामत्युच्यते बुधैः । अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे सद्द्रव्ये नेतरे पुनः ॥ ३३ ॥ अन्यथा सर्वलोकेस्मिन्नतिव्याप्तिः पदे पदे । अनगौरश्च दुर्वारा विशद्भिर्गोपुरादिषु ॥ ३४ ॥ सर्वतः सर्वविषयं देशतस्त्रसगोचरम् । यतो सागारिणां न

चोरीका लक्षण कहते हुए सूत्र लिखा है वह सूत्र "अदत्तादानं स्तेयम्" है अर्थात् बिना दिए हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है। अब आगे इसी सूत्रका अर्थ बतलाते हैं ॥ ३२ ॥ किसी भी बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इसका भी अर्थ यह है कि जिन पदार्थोंका कोई स्वामी है तथा जो पदार्थ कुछ मूल्यवाले हैं ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करना चोरी है । जिन पदार्थोंका कुछ मूल्य नहीं है अथवा जिन पदार्थोंका कोई स्वामी नहीं है ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण कर लेना गृहस्थों-के लिए चोरी नहीं है ॥ ३३ ॥ यदि चोरीका लक्षण यह न माना जायगा तो इस समस्त संसारमें पद पदपर अतिव्याप्तिदोष मानना पडेगा क्योंकि सांसके द्वारा वायुका ग्रहण करना, कर्म नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करना आदि सब बिना दिये हुए होता है इसलिए वहां भी चोरी समझी जायगी परंतु वहांपर चोरी नहीं कही जाती इसलिए चोरीका ऊपर लिखा हुआ लक्षण ही ठीक है । दूसरी बात यह है कि मुनिराज नगरमें जानेके लिए नगरके बडे दरवाजेमें प्रवेश करते हैं वह भी बिना पूछे ही प्रवेश करते हैं इसलिए उसको भी चोरी ही मानना पडेगा तथा इसप्रकार माननेसे अचौर्यव्रतका पालना कठिन ही नहीं किंतु असंभव हो जायगा इसलिए चोरीका लक्षण वही मानना चाहिए जो ऊपर कहा जा चुका है ॥ ३४ ॥ उस चोरीका पूर्ण-रूपसे त्याग करना महाव्रत है अर्थात् त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंको दुःख पहुंचानेवाली चोरीके त्याग करनेको पूर्ण त्याग वा अचौर्य महाव्रत कहते हैं तथा केवल त्रस जीवोंको पीडा पहुंचानेवाली चोरीके त्याग करनेको एकदेश त्याग अथवा अचौर्याणुव्रत कहते हैं। गृहस्थ लोग अचौर्याणुव्रत ही पालन कर सकते हैं क्योंकि वे गृहस्थ जल मिट्टी आदि सर्वसाधारणके ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको बिना दिये ग्रहण करनेका त्याग नहीं कर सकते। भावार्थ—मुनिराज तो बिना दिया जल मिट्टी आदि कुछ भी पदार्थ ग्रहण नहीं करते हैं

स्याज्जलादिपरिवर्जनम् ॥ ३५ ॥ देशतः स्तेयसंत्यागलक्षणं गृहिणां व्रतम । अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति त्रसाश्रयः ॥ ३६ ॥ रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः । सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ॥ ३७ ॥ तत्सूत्रं यथा—शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च । शून्यागारेषु

परन्तु गृहस्थलोग इन पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करते ही हैं, कूआ वा नदीसे पानी लाते ही हैं, जंगलसे मिट्टी ले ही आते हैं, ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म चोरीका त्याग गृहस्थलोग नहीं कर सकते अतएव वे ऐसी ही चोरीका त्याग करते हैं जिससे त्रसजीवोंको पीडा पहुंचे। स्थावर जीवोंको पीडा पहुंचानेवाली चोरीका त्याग गृहस्थोंके नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥ एकदेश चोरीका त्याग करना गृहस्थ श्रावकोंका व्रत है। अणुव्रती श्रावकोंको जिनमें त्रस जीवोंका आश्रय हो ऐसे कोई भी पदार्थ बिना दिये हुए कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये। यही उनका अचौर्याणुव्रत है ॥ ३६ ॥

इस अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए पांच भावनाएं हैं वे भी नित्य पालन करनी चाहिए। उन भावनाओंका पालन मुनियोंको पूर्णरूपसे करना चाहिये और श्रावकोंको एकदेश करना चाहिये ॥ ३७ ॥ इस अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए जो भावनाएं सूत्रकारने बतलाई हैं वे ये हैं—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पंच । अर्थात् सूने मकानमें रहना, छोडे हुए मकानमें रहना, किसीको रोकना नहीं, भोजनकी शुद्धि रखना और धर्मात्माओंके साथ यह तेरा है यह मेरा है, इसप्रकार धर्मोपकरणोंमें विवाद नहीं करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं। आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं।

व्रतियोंको पर्वतोंकी गुफा आदि सूने मकानोंमें ठहरना चाहिए तथा वहांपर भी उस स्थानके इन्द्रसे वा स्वामीसे विरोध कर नहीं रहना चाहिए। भावार्थ—प्रत्येक स्थानका स्वामी कोई न कोई व्यंतर देव है। यदि व्रतीको किसी भी स्थानपर ठहरना हो तो उस व्यंतरदेवसे आज्ञा ले लेनी चाहिए तथा वह आज्ञा इसप्रकार लेनी चाहिए कि "यहां इस स्थानपर रहनेवाले वा इस स्थानके स्वामी हे देव प्रसन्न हो मैं यहांपर पांच दिनतक

चावासा भूभृतां गह्वरादयः । तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ॥ ३८ ॥ किंतु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् । प्रसीदात्रत्य भो देव ! पंचरात्रं वसाम्यहम् ॥ ३९ ॥ निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहाः सन्त्युद्वसाह्वयाः । प्राग्वदत्रापि वसतिं न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ॥ ४० ॥ स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्धितम् । परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥ ४१ ॥ तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्थातव्यं न गृहिव्रतैः । स्थातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमाने तदाज्ञया ॥ ४२ ॥ भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादो भावनीयो व्रतार्थिना । सर्वतो मुनिनाथेन देशतोगृहमेधिना ॥ ४३ ॥ नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना । तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्याददत्तवत्

ठहरूंगा या तीन दिनतक ठहरूंगा” इसप्रकार पहले प्रार्थना कर फिर उस स्थानमें प्रवेश करना चाहिए ॥ ३८-३९ ॥ अपना अधिकार न होनेके कारण जो घर छोड दिया गया है उसको छोडा हुआ घर कहते हैं। इस छोडे हुए घरमें भी पर्वतकी गुफा आदि सूने मकानके समान बिना उसके स्वामीकी आज्ञा लिए कभी निवास नहीं करना चाहिए यदि वहां निवास करना हो तो वहांके इन्द्रकी वा वहांपर रहनेवाले व्यंतरदेवकी ऊपर लिखे अनुसार आज्ञा ले कर निवास करना चाहिए ॥ ४० ॥ जिस बसतिका आदि स्थानको अन्य लोगोंने स्वामी बन कर रोक रक्खा है उसको शास्त्रोंके जानकार विद्वान् पुरुष परोपरोधाकरण कहते हैं। गृहस्थोंको ऐसे स्थानमें उसके स्वामीको बिना पूछे कभी नहीं रहना चाहिए। उसको पूछ कर और उनकी आज्ञा मिल जानेपर रहना चाहिए। भावार्थ—यदि किसी गुफा आदिमें कोई रह रहा है तो गृहस्थोंको उनसे पूछ कर रहना चाहिए। यदि किसी गुफा आदिमें स्वयं रह रहा हो और अन्य कोई व्रती उसमें आना चाहे तो उसे रोकना नहीं चाहिए, इसीको परोपरोधाकरण कहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

चौथी भावनाका नाम भैक्ष्यशुद्धि और पांचवीं भावनाका नाम अविसंवाद है। व्रती श्रावकोंको इन दोनों भावनाओंका पालन भी करना चाहिए। मुनिराज इन दोनों भावनाओंका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और गृहस्थ श्रावक इनका पालन एकदेशरूपसे करते हैं ॥ ४३ ॥ यदि कोई श्रावक भोजन देवे और वह भोजन उसका न हो किसी अन्यका हो तो उस व्रती श्रावकको नहीं लेना चाहिए। यदि वह भोजन उसीका हो और वह उसे छिपा कर देता हो तो भी उसे विना दिये हुएके समान ही समझना चाहिये। यही श्रावककी भैक्ष्यशुद्धि है ॥ ४४ ॥ जो

॥ ४४ ॥ आत्मधर्मः सधर्मी स्यादर्थाज्जैनो व्रतान्वितः । तेन कारापितं यावज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥ ४५ ॥ तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया । तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥ ४६ ॥ भावनापंचकं यावदत्रोक्तं चांशमात्रतः । स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥ ४७ ॥ अत्रापि सन्त्यतीचाराः पंचेति सूत्रसम्मताः । त्याज्याःस्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥ ४८ ॥ उक्तं च—"स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यादिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।

आत्मके धर्मको पालन करता हो अथवा जो अपने धर्मको पालन करता हो उसको सधर्मी कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जैनधर्मको धारण करनेवाला व्रती श्रावक है उसको सधर्मी कहते हैं । उसने जो कुछ जिनेन्द्रभवन, चैत्यालय आदि बनवाया है उसमें भी यदि कोई श्रावक ठहरना चाहे तो उसकी आज्ञा लेकर क्षणभर ठहरना चाहिये, उसकी आज्ञाके विना उपेक्षापूर्वक उसे वहांपर कभी नहीं रहना चाहिए। इसको सद्धर्माविसम्वाद नामकी पांचवीं भावना कहते हैं ॥ ४५-४६ ॥ इसप्रकार यहांपर पांचों भावनाओंका स्वरूप बहुत ही संक्षेपसे अंशमात्र कहा है। व्रती श्रावकको सोना चांदी वस्त्र आदि कुछ भी विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ४७ ॥

इस अचौर्याणुव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें कहे हैं। चोरीके त्याग करनेरूप अचौर्य अणुव्रतको शुद्ध रखनेके लिए व्रती श्रावकको इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए ॥ ४८ ॥ सूत्रकारने अतिचारोंका कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।

अर्थ—चोरीका प्रयोग बतलाना, चोरीका माल लेना, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, तौलने वा नापनेके बांट गज आदि कमती बढती रखना वा और अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिला कर चलाना ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

किसी लोभके वश हो कर अन्य मनुष्योंको चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको बुद्धिमानलोग स्तेनप्रयोग कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका यह पहला अतिचार है। भावार्थ—स्वयं तो चोरी नहीं करना किंतु किसी लोभके कारण

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा । स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥ ४९॥ अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् । गृह्यते धनधान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥ ५० ॥ नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि तत् । स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥ ५१ ॥ राज्ञाज्ञापितमात्मेत्यं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् । क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥ ५२ ॥ कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा । आस्तामुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरंपरा ॥ ५३ ॥ क्रेतुं मानाधिकं मान

चोरी करनेकी प्रेरणा करना स्तेनप्रयोग है ॥ जिस किसी चोरको चोरी करनेकी प्रेरणा नहीं की है, विना प्रेरणा किये ही वह स्वयं चुरा कर जो धन धान्य आदि पदार्थ लाया है उसको ग्रहण करना तदाहृतादाननामका अतिचार कहलाता है ॥५०॥ अपने आत्माका कल्याण करनेवाले और अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले व्रती श्रावकोंको ऐसा चोरीका धन यदि कोई दे भी तो भी नहीं लेना चाहिए । यदि कोई पुण्य समझ कर दान देता हो तो भी नहीं लेना चाहिए ॥ ५१ ॥ राजाने कुछ आज्ञा दी है चाहे वह योग्य हो और चाहे वह अयोग्य हो, उसका पालन न करना विरुद्धराज्यातिक्रमनामका अतिचार कहलाता है ॥ ५२ ॥ अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको राजाकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि राज्यविरुद्ध कार्य करनेसे परलोकमें दुःख होना है और इसलोकमें अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—संसारके समस्त कार्य सुव्यवस्थित चलानेके लिए राजाकी आज्ञा मानना आवश्यक है । कभी कभी युद्धादिक होनेपर एकदेशके मनुष्योंको दूसरे देशमें जानेसे रोक दिया जाता है, ऐसी अवस्थामें उस रोके हुए देशमें जाना विरुद्धराज्यातिक्रम है, इसीप्रकार राज्य बदलनेके समय अधिक मूल्यके पदार्थ कम मूल्यमें लेना वा कम मूल्यके पदार्थ अत्यन्त अधिक मूल्यमें बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम है । ऐसा करनेवाला इस लोकमें भी अनेकप्रकारके दंड पाता है, महा दुःखी होता है और अशुभ परिणामोंके कारण परलोकमें भी महा दुःख पाता है अतएव व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ ५३ ॥ खरीदनेके लिए तोलनेके बांट वा नापनेके गज पायली आदि अधिक वा बढती रखना और बेचनेके लिए कमती रखना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतिचार है ॥५४॥ व्रती श्रावकको इस हीनाधिकमानोन्मान नामके अतिचारको पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिये क्योंकि जो गृहस्थ तोलनेके लिए बांटोंको कमती बढती

भावनाः पंचनिर्दिष्टाः सर्वतो मुनिगोचरा । तत्राशक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तितः ॥ ७१ ॥ लक्ष्यन्तेऽत्राप्यतीचाराः ब्रूह्मचर्यव्रतस्य ये । पंचैवेति यथा सूत्रे सूक्ताः प्रत्यक्षवादिभिः ॥ ७२ ॥ उक्तं च—परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः । परविवाहकरणं दोषो ब्रूह्मव्रतस्य यः । व्यक्तो

शरीरके संस्कार करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये । यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाली पांचवीं भावना है ॥ ७० ॥ इसप्रकार ब्रूह्मचर्यकी पांचों भावनाओंका निरूपण किया । इन भावनाओंका पूर्णरीतिसे पालन मुनियों· से ही होता है अथवा यों कहना चाहिये कि स्त्रियोंकी रागरूप कथा सुनना, उसके मनोहर अंग देखना, पहले भोगी हुई स्त्रियोंका स्मरण करना, पौष्टिक रसका सेवन और अपने शरीरका संस्कार ये पांच दोष ब्रूह्मचर्यको घात करनेवाले हैं इनका पूर्ण त्याग मुनिराज करते हैं तथा गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन सबमें आसक्त वा लीन रहनेका त्याग कर देना चाहिये । इन पांचों दोषोंमें लीन नहीं रहना चाहिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे जितना त्याग बन सके उतना त्याग कर देना चाहिये । यह ब्रूह्मचर्य व्रत सर्वोत्तम व्रत है, देव और इन्द्रोंके द्वारा भी बन्दनीय है इसलिये इसको जितना निर्मल और निर्दोष पालन किया जाय उतना ही श्रेष्ठ और कल्याणकारी है । इसप्रकार पांचों भावनाओंका स्वरूप बतलाया ॥ ७१ ॥

इस ब्रूह्मचर्य व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सर्वज्ञदेवने बतलाये हैं तथा जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें लिखे हैं ॥ ७२ ॥ वह सूत्र इसप्रकार है—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥

अर्थ—दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना कुलटा विवाहिता स्त्रीके यहां आना जाना, अविवाहिता कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, अनंगक्रीडा करना और कामसेवनकी तीव्र लालसा रखना ये पांच ब्रूह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार हैं । आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं ।

दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है । यह भी ब्रूह्मचर्यका एक अतिचार वा दोष है । दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना संसारमें प्रसिद्ध है, सब कोई जानता है अतएव सुगम होनेसे

लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥ ७३ ॥ अयं भावः खसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् । परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥ ७४ ॥ इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता । काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥७५॥ ताभ्यां सरागवागादिवपुस्पर्शोऽथवा रतम् । दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥७६॥ दोषश्चानङ्गक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः । विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥ ७७ ॥ कामतीव्राभिनिवेशो दोषोतीचारसंज्ञकः । दुर्दान्तवेदनाक्रांत-

इसके स्वरूपके कहनेमें परिश्रम करना व्यर्थ है। भावार्थ–इसका स्वरूप इसके शब्दोंसे ही निकल आता है तथा यह विषय लोकमें प्रसिद्ध होनेसे सब कोई इसको जानता है इसलिए इसका और स्वरूप कहना व्यर्थ है ॥ ७३ ॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि अपनेसे संबंध रखनेवाले पुत्र पुत्रियोंका तो विवाह कर देना चाहिए परंतु जिनसे अपना कोई संबध नहीं है ऐसे पुत्र पुत्रियोंका विवाह न तो कराना चाहिए और न उसकी अनुमोदना करनी चाहिए। भावार्थ–विवाह करनेमें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका घात होता है। अपने पुत्र पुत्री अपने आधीन हैं यदि उनका विवाह न किया जायगा तो संभव है कि वे न्यायमार्गसे च्युत हो जायं तथा उनको न्यायमार्गमें लगाये रखना अपना विशेष कर्तव्य है इसलिए अपने पुत्र पुत्रियोंका विवाह तो न्यायरूपसे करना पडता है परंतु जिनसे अपना कोई संबंध नहीं है ऐसोंका विवाह कराना ब्रह्मचर्यके घातका भागी बनना है इसलिए परविवाहकरण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पहला अतिचार है ॥ ७४ ॥ इत्वरिका शब्दका अर्थ पुंश्चली वा व्यभिचारिणी स्त्री है इसीको कुलटा कहते हैं। वह दो प्रकार है एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। इन दोनोंका स्वरूप पहले अच्छीतरह कह चुके हैं। भावार्थ–इसी ग्रंथके दूसरे सर्गके अंतिम भागमें इसका स्वरूप खूब विस्तारके साथ कहा है वहांसे जान लेना चाहिए ॥ ७५ ॥ परिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री और अपरिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री इन दोनोंके साथ रागपूर्वक बातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, अथवा क्रीडा करना अतिचार है, यह अतिचार वा दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला है ॥ ७६ ॥ स्वप्नमें वीर्यपात हो जाना अथवा किसी भी स्त्रीके समागमके विना खोटी चेष्टा करना, खोटी क्रिया करना अनंगक्रीडानामका दोष कहलाता है ॥ ७७ ॥ कामसेवनकी तीव्र वेदनाके वशीभूत हो कर कामके विकारसे अत्यंत पीडित हुआ मनुष्य

स्मरसंस्कारपीडितः ॥ ७८ ॥ ननु चास्ति स दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया। ब्रह्मव्रतगृहीतस्य सतोत्र वद का गतिः ॥ ७९ ॥ उच्यते गतिरस्यास्ति वृद्धैः सूत्रे प्रमाणिता। यथा कथंचिन्न त्याज्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥ ८० ॥ उक्तं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम्। पालनीयं सदाचारैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ८१ ॥ उपाधि-

जो कामसेवनकी तीव्र लालसा रखता है उसको कामतीव्राभिनिवेश नामका अतिचार कहते हैं ॥ ७८ ॥

यहांपर शंकाकार कहता है कि इस कामतीव्राभिनिवेशनामके अतिचारका त्याग करना अत्यंत कठिन है क्योंकि मनके विकारोंका त्याग करना अत्यन्त कठिन है फिर भला जिसने ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारण कर लिया है और मनके विकारोंका त्याग कर नहीं सकता कामतीव्राभिनिवेश नामके अतिचारका त्याग कर नहीं सकता ऐसा मनुष्य उस व्रतका पालन किसप्रकार कर सकेगा, उसके व्रत पालन करनेका क्या उपाय है सो बतलाना चाहिए ॥ ७९ ॥ कविराज इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसे मनुष्योंके व्रत पालन करनेका उपाय भी है। जो कि वृद्ध पुरुषोंने बडे बडे आचार्योंने सूत्रोंमें बतलाया है। उसका अभिप्राय यही है कि जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया है उसको जिसप्रकार बने उसीप्रकार पालन करना चाहिए उसको किसी भी प्रकार छोडना नहीं चाहिये ॥ ८० ॥ इसप्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहा। अणुव्रतोंको धारण करने वाले श्रावकोंको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुख देनेवाला यह व्रत अतिचार रहित और भावनाओं सहित पालन करना चाहिए ॥ ८१ ॥

अब आगे परिग्रहके परिमाण करनेकी विधि कहते हैं। यह निश्चित है कि परिग्रहके परिमाण करनेसे ही ऊपर कहे हुए समस्त व्रत चिरकालतक ठहर सकते हैं।

भावार्थ—परिग्रहकी तीव्र लालसा मोहनीयकर्मके उदयसे होती है तथा जब परिग्रहकी तीव्र लालसा होती है तब वह मनुष्य परिग्रहका परिमाण नहीं कर सकता, इससे सिद्ध होता है कि जिसके परिग्रह परिमाण नहीं है उसके मोहनीयकर्मका तीव्र उदय है तथा जिसके मोहनीयकर्मका तीव्र उदय होता है उसके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि कोई भी व्रत नहीं हो सकते, इसीलिए ग्रंथकारने कहा है कि जिसके परिग्रहका परिमाण होता है

परिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते। सति यत्रोदितानां स्याद्व्रतानां स्थितिसन्ततिः ॥ ८२ ॥ मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम्। तत्संख्यागृहिभिः कार्या त्रस-हिंसादिहानये ॥ ८३ ॥ अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे। गृहस्थेनापि कर्तव्य हिंसातृष्णोपशान्तये ॥ ८४ ॥ परिमाणे कृते तस्मादर्वाग्मूर्च्छा प्रवर्तते। अभावान्मूर्च्छायास्तदूर्ध्वं मुनिस्त्वमिव गीयते ॥ ८५ ॥ तस्मादात्मोचितादूद्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम्। अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥ ८६ ॥ अना-

उसीके ऊपर लिखे हुए वृतोंका पालन होता है क्योंकि मोहनीयकर्मके मंद उदयसे परिग्रहका परिमाण होता है और मोहनीयकर्मके मंद उदयसे ही समस्त वृतोंका पालन होता है ॥८२॥ परिग्रहका त्याग मुनियोंको पूर्णरूपसे कर देना चाहिए। मुनिराज तृणमात्र परिग्रह भी अपने पास नहीं रखते। उसका भी त्याग कर देते हैं तथा अणुवृती श्रावकोंको त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागका पालन करनेके लिए अथवा त्रस जीवोंकी रक्षा करनेके लिए उस परिग्रहका परिमाण नियत कर लेना चाहिए ॥ ८३ ॥ हिंसा और तृष्णाको शांत करनेके लिए गृहस्थोंको धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए। भावार्थ—समस्त परिग्रहोंका परिमाण कर लेनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा बच जाती है और हृदयकी तृष्णा वा लालसा कम हो जाती है इसलिए परिग्रहका परिमाण कर लेना गृहस्थोंके लिए अत्यावश्यक है ॥८४॥ जो मनुष्य जितने परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसकी लालसा वा मूर्च्छा उतने ही परिग्रहमें रहती है। उतने परिग्रहसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छा वा लालसा नहीं रहती। किये हुए परिमाणसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव किये हुए परिमाणके ऊपर वह परिमाण करनेवाला मुनिके समान समझा जाता है ॥ ८५ ॥ अतएव अपने योग्य जो परिग्रह है उसमेंसे घटाना ही कल्याणकारी है। जो द्रव्य अपने योग्य नहीं है उसका घटाना वा त्याग करना व्यर्थ है। भावार्थ—परिग्रह परिमाणका अभिप्राय वर्तमानके परिग्रहका घटाना है। अपनी हैसियतके अनुसार जो द्रव्य है जितना परिग्रह है उसमेंसे ही कम करना चाहिए, तभी लालसा कम हो सकती है और तभी आत्माका कल्याण हो सकता है। जो मनुष्य ऐसे परिग्रहोंका वा ऐसे पदार्थोंका त्याग करता है जो अपने लिए संभव ही नहीं हो सकते उनका त्याग करना व्यर्थ है ॥ ८६ ॥ जो परिग्रह वा जो द्रव्य अपने लिए कभी संभव नहीं हो

विक्रेतुं न्यूनमात्रकम् । हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥ ५४ ॥ सर्वारम्भेण त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना । इहैवाकीर्तिसन्तानः स्यादमुत्र च दुःखदः ॥ ५५ ॥ निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया । प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥ ५६ ॥ स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नादेयः श्रावकोत्तमैः । अस्त्यतीचारसंज्ञोपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥ ५७ ॥ उक्तातिचारनिर्मुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् । अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥ ५८ ॥ चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् ।

रखता है वा नापनेके गजोंको कमती बढती रखता है उसकी अपकीर्ति इस समस्त लोकमें फैल जाती है तथा बांट वा गजोंको कमती बढती रख कर वह दूसरोंको ठगता है इसलिए परलोकमें भी उसे नरकादिकके महा दुःख भोगने पडते हैं इसलिए व्रती गृहस्थको इस अतिचारका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥५५॥ दूसरों को ठगनेकी इच्छासे अधिक मूल्यके पदार्थमें जो उसमें अच्छीतरह मिल सके ऐसा कम मूल्यका पदार्थ मिला देना प्रतिरूपकव्यवहारनामका पांचवां अतिचार कहलाता है । इस अतिचारसे यह अचौर्याणुव्रत प्रायः नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥ चोरीके त्याग करनेरूप अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले उत्तम श्रावकोंको यह अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यह अतिचार यद्यपि अतिचार कहलाता है तथापि यह अतिचार सबसे बडा और सब दोषोंका अधिपति है । भावार्थ—अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिलानेसे दूसरे मनुष्य बहुत शीघ्र धोखेमें आ कर ठगे जाते हैं जिससे अंतमें मालूम होनेपर उनको बहुत दुःख पहुंचता है इसीलिए यह सबसे बडा अतिचार है और व्रती श्रावकोंको इसका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए ॥ ५७ ॥ व्रती गृहस्थोंको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिए ऊपर लिखे अतिचारोंको छोड कर इस तीसरे उत्तम अचौर्याणुव्रतको अवश्य पालन करना चाहिए । भावार्थ— अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको इसके अतिचार भी अवश्य छोड देने चाहिए । अतिचारोंके त्याग कर देनेसे ही उनका यह व्रत उत्तम व्रत कहलाता है ॥ ५८ ॥ इसप्रकार अचौर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाया ।

अब आगे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं । चौथे व्रतका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है । सोलह स्वर्गोंके देवोंके इन्द्र भी इस ब्रह्मचर्यव्रतकी वंदना करते हैं, मुनिराज इसका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और श्रावक इसका

देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥ ५९ ॥ देशतस्तद्व्रतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः । उदिता धर्मपत्नी या सैव सेव्या नचेतरा ॥६०॥ ब्रह्मव्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्चभावनाः । तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृतिः ॥ ६१ ॥ तत्सूत्रं यथा—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च । प्रसिद्ध विटचर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रतिः । अनुरागस्तद्वार्तायां योषिद्रागकथाश्रुतिः ॥ ६२ ॥ उक्तं च । रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्योः सानु-

पालन एकदेशरूपसे करते हैं ॥ ५९ ॥ घरमें रहनेवाले सरागी गृहस्थोंको इस व्रतका पालन एकदेशरूपसे करना चाहिए। इसी ग्रंथमें पहले जो धर्मपत्नीका स्वरूप कह आये हैं वह धर्मपत्नी ही गृहस्थोंको सेवन करनी चाहिए। उसके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए ॥ ६० ॥

इस ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए जो पांच भावनाएं बतलाई हैं उनका भी पालन करना चाहिए तथा उन पांचों भावनाओंका लक्षण जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें कहा है वही ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ६१ ॥ सूत्रकारका वह सूत्र यह है—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ।

अर्थ—स्त्रियोंकी रागरूप कथा सुननेका त्याग, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक रसका त्याग और अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं। इनके पालन करनेसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है। आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं।

व्यभिचारी लोग जो रागरूप कुचेष्टाएं करते रहते हैं अथवा कोई भी स्त्री पुरुष जो परस्पर कामक्रीडा करते हैं उनकी कथा सुननेमें प्रेम रखना स्त्रियोंकी रागरूप कथाका सुनना कहलाता है। यहांपर रागरूप कथाके कहनेसे शृंगारके कहनेका अभिप्राय है। शृंगाररसके सुननेमें प्रेम करना स्त्रीरागकथाश्रवण है ॥६२॥ लिखा भी है—

रतिरूपा तु या चेष्टा दंपत्योः सानुरागयोः । शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥

अर्थात् परस्पर एक दूसरेको प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषोंकी जो कामक्रीडारूप चेष्टा है उसको शृंगार कहते

रागयो । शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः सयोगो विप्रलम्भकः ॥ स त्याज्योऽपरदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम । प्रीतिः शृङ्गारशास्त्रादौ नादेया ब्रह्मचारिभिः ॥ ६३ ॥ चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् । पश्येत्तन्मनोहरांगनिरीक्षणमत्यादरात् ॥ ६४ ॥ न कर्तव्यं तदङ्गानां भाषणं वा निरीक्षणम् । कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रतधारिणा ॥ ६५ ॥ रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्यांगनादिभिः । तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम ॥ ६६ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोयं सर्वतो महान् । त्याज्यो ब्रह्मप-

हैं । वह शृंगार दोप्रकारका बतलाया है एक संयोगात्मक और दूसरा वियोगात्मक । स्त्री पुरुषोंके मिलनेसे जो शृंगाररस प्रगट होता है वह संयोगात्मक शृंगाररस है और स्त्री पुरुषोंके वियोग होनेपर जो परस्पर मिलनेकी उत्कट इच्छा होती है अथवा जो वियोगजन्य दुःख होता है उसको कहना वा सुनना वियोगात्मक रस है ।

व्रती श्रावकोंको अन्य स्त्री पुरुषोंसे उत्पन्न होनेवाले शृंगाररसके सुननेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी कुचेष्टाओंके सुननेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है । इसीप्रकार ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको शृंगाररसको कहनेवाले शास्त्रोंमें भी प्रेम नहीं करना चाहिए । भावार्थ—शृंगाररसको कहनेवाले काव्य आदिके सुनने वा पढनेका त्याग कर देना चाहिए तथा अन्य स्त्रीपुरुषसंबंधी कामक्रीडाकी चेष्टाओंके सुननेका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी चेष्टाओंके सुननेसे कामकी तीव्रता बढती है तथा कामकी तीव्रता बढनेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र बंध होता है इसलिए ऐसी कथाओंके सुननेका त्याग कर देना पहली भावना है ॥६३॥ स्त्रियोंके नेत्र, कपोल, अधर, ग्रीवा (गर्दन), स्तन, उदर, नितंब आदि मनोहर अंगोंको अत्यंत आदरसे देखना तन्मनोहरांगनिरीक्षण कहलाता है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले व्रती गृहस्थोंको मनसे, बचनसे और कायसे स्त्रियोंके मनोहर अंगोंका न तो कभी वर्णन करना चाहिए और न कभी उनको देखना चाहिए । ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए यह दूसरी भावना है ॥ ६५ ॥

मोहनीयकर्मके उदयसे पहले जो अन्य स्त्रियोंके साथ कामक्रीडा की थी उसका स्मरण करना पूर्वरतानुस्मरण कहलाता है । यह पूर्वरतानुस्मरणनामका दोष इस ब्रह्मचर्य व्रतका सबसे बडा दोष है । इसलिए इस ब्रह्मचर्यव्रतरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान ब्रह्मचारीको इस पूर्वरतानुस्मरणनामके दोषका

योजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥ ६७ ॥ वृषमन्नं यथा माषा:पयश्चेष्टरसः स्मृतः। वीर्यवृद्धिकरं चान्यरयाज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ ६८ ॥ स्नेहाभ्यंगादिस्नानानि माल्यं स्रक् चन्दनानि च । कुर्यादत्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥६९॥ स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोयं ब्रह्मचारिणः। सर्वतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥७०॥

त्याग अवश्य कर देना चाहिये। भावार्थ—पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेसे व्यर्थ ही अशुभ परिणाम होते हैं और ब्रह्मचर्य नष्ट होता है इसीलिये यह सबसे बडा दोष है। ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवालोंको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। इसका त्याग करनेसे ब्रह्मचर्यकी पूर्ण रक्षा होती है। यह तीसरी भावना है ॥ ६६-६७ ॥ उडदकी दाल, दूध तथा अपनेको अच्छे लगनेवाले जितने रस हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं अथवा वीर्यको बढानेवाले जितने भी पदार्थ हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं। अणुव्रती श्रावकोंको अपना ब्रह्मचर्य सुदृढ बनानेके लिये ऐसे पौष्टिक रसोंके सेवन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। पौष्टिक रसका त्याग करनेसे इंद्रियोंकी प्रबलता नष्ट हो जाती है तथा इन्द्रियोंकी प्रबलता नष्ट होनेसे ब्रह्मचर्यका पालन अच्छी तरह होता है। अतएव श्रावकोंको पौष्टिक रसोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए चौथी भावना है ॥ ६८ ॥ तेल लगा कर नहाना, उबटन लगा कर नहाना, फूलोंका शृंगार करना, माला पहिनना, चन्दन लगाना तथा इनके सिवाय शरीरको संस्कार करनेवाले जितने भी पदार्थ हैं उनका अधिकताके साथ सेवन करना स्वशरीरसंस्कार कहलाता है। यह स्वशरीरसंस्कार ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला, उसमें अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला और अनेकप्रकारके अतिचार उत्पन्न करनेवाला है ॥ ६९ ॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको यह स्वशरीरसंस्कारनामका दोष भी एक प्रबल दोष है। मुनियोंको इसका त्याग पूर्णरूपसे कर देना चाहिये और गृहस्थोंको इसका त्याग एकदेशरूपसे करना चाहिये। भावार्थ-गृहस्थोंको वस्त्राभूषण आदि भी पहनने पडते हैं परन्तु उनको इसप्रकार पहनना चाहिये जिससे रागकी वृद्धि न हो, गृहस्थोंको अपने पदस्थके अनुसार वेष और भूषा रखनी चाहिये। पदस्थके बाहर वेषभूषा करना अन्तरंगकी तीव्र रागरूप क्रियाको द्योतित करता है तथा उससे ब्रह्मचर्यका घात अवश्य होता है अतएव व्रती गृहस्थोंको अपने

त्योचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया । कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥ ८७ ॥ प्रत्यंप्रजन्मनीहेदमन्त्यन्ताभावलक्षणम् । तत्यागोपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥ ८८ ॥ तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम् । रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥ ८९ ॥ अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा । स्याद्वा न

सकते उनका त्याग वा उनका कम करना केवल मनके संकल्पसे होता है अतएव उनका त्याग करना वा न करना दोनों ही आकाशके चित्रके समान हैं। भावार्थ- जैसे आकाशके चित्रोंका होना असंभव है आकाशमें चित्र हो नहीं सकते उसीप्रकार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना कभी संभव नहीं है उन पदार्थोंका त्याग करना वा परिमाण करना व्यर्थ है। उनके त्याग करने वा परिमाण करनेको व्रत नहीं कह सकते ॥ ८७ ॥ इस विषयमें कोई कोई लोग ऐसा भी कहते हैं कि इस जन्ममें जिस पदार्थका प्राप्त होना अत्यंत असंभव है अथवा जो पदार्थ अत्यंत सारहीन है व्यर्थके समान है उसका त्याग करना भी अच्छा है । भावार्थ--कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो पदार्थ अपने पास नहीं है अथवा जिनका प्राप्त होना भी असंभव है ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना अच्छा है क्योंकि त्याग कर देनेसे लालसा घटती है, मनको संतोष होता है और आत्माके शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होती है अतएव जो पदार्थ वर्तमानमें उपस्थित है उनका तो परिमाण कर लेना ही चाहिए किंतु जो पदार्थ उपस्थित नहीं है वा जिनके होनेकी कोई संभावना भी नहीं है उनका भी त्याग कर देना अच्छा है ॥ ८८ ॥ इस परिग्रहके त्याग करनेकी रीति यह है कि इस मनुष्यपर्यायको स्थिर रखनेके लिए जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन तो रख लेना चाहिए और बाकीका जितना धन है वा जितना परिग्रह है उस सबका अणुव्रती श्रावकोंको त्याग कर देना चाहिए । भावार्थ---अपना पदस्थ देख कर उस पदस्थके अनुसार जितने धनसे वा जितने परिग्रहसे अपना जीवननिर्वाह अच्छीतरह हो जाय उतने धनका परिमाण कर लेना चाहिए । शेष परिग्रहका सबका त्याग कर देना चाहिए ॥८९॥ इसका भी आवश्यक अपवाद यह है कि जो व्रत धारण कर लिए उनकी रक्षा जिसप्रकार हो जाय जितने धन वा परिग्रहसे हो जाय अथवा जितना धन वा परिग्रह रखनेसे उनमें किसीप्रकारकी हानि न हो उतने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए। भावार्थ—धारण किये हुए व्रतोंका

यात्तु तद्धानिः संख्यातव्यस्तथोपधिः ॥ ९० ॥ रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः । भावनीयाश्च ता नित्यं यथा सूत्रेपि लक्षिताः ॥९१॥ तत्सूत्रं यथा— मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच । इन्द्रियाणि स्फुटं पंच पंच तद्विषयाः स्मृताः । यथास्वं तत्परित्यागभावनाः पंच नामतः ॥ ९२ ॥ पंचस्वेषु मनोज्ञेषु

पालन करना मुख्य कार्य है । जितना सब प्रयास है उतना सब व्रतोंकी रक्षाके लिए है यहांतक कि यह मनुष्य-पर्याय और इस गृहस्थधर्मका पालन करना सब व्रतोंकी रक्षाके लिए है अतएव उन्हीं व्रतोंकी रक्षा करनेमें जितना धन वा परिग्रह काम आता हो उतना धन वा परिग्रह तो रख लेना चाहिए और वाकीके परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए । अणुव्रती श्रावकोंके लिए परिग्रहका परिमाण करने वा परित्यागका त्याग करनेकी यह सबसे उत्तम रीति है ॥ ९० ॥

अन्य व्रतोंके समान इस परिग्रहत्यागव्रतकी रक्षा करनेके लिए भी पांच भावनाएं हैं जो कि आचार्यवर्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने बनाए हुए तत्त्वार्थसूत्रमें वा मोक्षशास्त्रमें बतलाई हैं । अणुव्रती श्रावकोंको उनका भी पालन करते रहना चाहिए ॥ ९१ ॥ उन भावनाओंको कहनेवाला सूत्र यह है—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ।

अर्थात् मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो इंद्रियोंके विषय हैं उनमें रागद्वेषका त्याग कर देना परिग्रहत्यागकी पांच भावनाएं हैं । आगे उन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ।

इंद्रियां पांच हैं और उनके विषय भी पांच हैं । उनका यथायोग्यरीतिसे त्याग करना ही पांच भावनाएं हैं ॥ ९२ ॥ इसका भी अर्थ यह है कि पांचों इंद्रियोंके जो विषय हैं उनमें कुछ मनोज्ञ विषय रहते हैं और कुछ अमनोज्ञ विषय रहते हैं । उनमेंसे जो मनोज्ञ विषय हैं इंद्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषय हैं उनमें राग नहीं करना चाहिए तथा जो अमनोज्ञ विषय हैं इंद्रियोंको बुरे लगनेवाले विषय हैं उनमें द्वेष नहीं करना चाहिए । पांचों इंद्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषयोंमें रागका त्याग कर देना और बुरे लगनेवाले विषयोंमें द्वेषका त्याग कर देना ही इस व्रतकी भावनाएं हैं ॥ ९३ ॥ इसका भी खुलासा यह है कि यदि शुभ कर्मोंके उदयसे इष्ट पदार्थोंका संयोग

भावना रागवर्जनम् । अमनोज्ञेषु तेषूच्चैर्भावना द्वेषवर्जनम् ॥ ९३ ॥ अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोस्ति शुभोदयात् । तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥ ९४ ॥ अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् । तदा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याव्रतेप्सिना ॥ ९५ ॥ इष्टानिष्टादिशब्दार्थः सुगमत्वान्न लक्षितः । रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥ ९६ ॥ अत्रातीचारसंज्ञाः स्युः दोषाः संख्याव्रतस्य च । उदिता सूत्रकारेण त्याज्या व्रतविशुद्धये ॥ ९७ ॥ उक्तं च—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण-

हो जाय, सोना, चांदी, भोजन, वस्त्र आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जायं तो सोना चांदी आदि पदार्थोंको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको उन पदार्थोंमें राग नहीं करना चाहिए । शांत और मध्यस्थ भावोंसे उसका उपभोग करना चाहिए ॥ ९४ ॥ यदि अशुभ कर्मके उदयसे मनुष्योंको अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हो जाय, रोग वा कुपुत्र वा कलह करनेवाली स्त्रीका संयोग प्राप्त हो जाय तो धनधान्यादिका परिमाण करनेवाले वा घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको उन अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष नहीं करना चाहिए । उन अनिष्ट पदार्थोंके संयोगको भी शांत और मध्यस्थ भावोंसे भोगना चाहिए ॥ ९५ ॥ इष्ट और अनिष्ट शब्दोंका अर्थ सुगम है इसलिए उनका अलग लक्षण नहीं कहा है इसीप्रकार राग और द्वेष शब्द भी प्रसिद्ध हैं अतएव उनका अर्थ भी नहीं बतलाया है क्योंकि जिन शब्दोंका अर्थ सुगमतासे मालूम हो जाय उनके अर्थ बतलानेमें परिश्रम करना व्यर्थ है । ऐसे शब्दोंके अर्थ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ९६ ॥

इस परिग्रहपरिमाणव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाए हैं । अणुव्रती श्रावकोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये उन दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ९७ ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥

अर्थ—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास और कुप्य पदार्थोंका जितना परिमाण किया है उसः को उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार हैं, आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ।

क्षेत्र शब्दका अर्थ रहनेका स्थान है अथवा जिनमें गेहूं जौ चावल आदि धान्य उत्पन्न होते हैं ऐसे खेतोंको

धनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा । गवाद्यागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥ ९८ ॥ ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छा-वृत्तिरतिक्रमः । न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपधितुच्छताम् ॥९९॥ वास्तु वस्त्रादिसामान्यं तत्सङ्ख्या क्रियतां बुधैः । अतीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥१००॥ हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रमौक्तिकसत्फलम् । तेषा प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रलीयते ॥ १०१ ॥ अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः । संख्या तेषां च कर्तव्या

भी क्षेत्र कहते हैं अथवा जिनमें गाय भैंस आदि पशु बांधे जाते हैं ऐसे स्थानको भी क्षेत्र कहते हैं। ऐसे क्षेत्रका जितना परिमाण कर लिया है उससे अधिक क्षेत्रमें किसी लोभके कारण मुर्च्छा रखना, मोह रखना, ममत्व रखना अतिक्रम वा अतिचार कहलाता है । अणुव्रतोंको धारण करनेवाले और परिग्रहको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको ऐसे अतिचारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ–किसी लोभमें आ कर किसी खेत-को वा मकानको नियत परिमाणसे अधिक नहीं बढाना चाहिये क्योंकि जो परिमाण नियत कर लिया है उससे अधिक बढाना व्रतका भंग करना है इसलिये नियत किये हुए परिमाणसे उनकी मर्यादा कभी नहीं बढानी चाहिये ॥ ९८-९९ ॥ वस्त्र आदि सामानको वास्तु कहते हैं। बुद्धिमान श्रावकोंको अतिचार वा दोषोंका त्याग करनेके लिये वस्त्रादिकोंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जो परिमाण नियत कर लिया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥ १०० ॥ हिरण्य शब्दका अर्थ हीरा मोती मानिक आदि जवाहरात है ऐसे पदार्थोंका परिमाण कर लेनेसे अणुव्रती श्रावकका ममत्व क्षणभरमें नष्ट हो जाता है। भावार्थ—अणुव्रती श्रावकों-को जवाहरातका परिमाण भी कर लेना चाहिये जिससे लालसा न बढे और व्रतमें कोई दोष न लगे ॥ १०१ ॥ सुवर्ण शब्दका अर्थ सोना, चांदी, तांबा, पीतल आदि धातु समझना चाहिये। अणुव्रती श्रावकको ऐसी धातुओं-का परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि उल्लंघन करनेसे व्रतका भंग होता है और व्रतोंका भंग करनेसे अनेकप्रकारके दुख भोगने पडते हैं अतएव जितना परिमाण नियत किया है उतना ही दृढ रखना चाहिये ॥ १०२ ॥ धन शब्दका अर्थ गाय भैंस घोडा आदि पशु हैं। अणुव्रती श्रावकको गाय भैंस आदि पशुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा

श्रेयान्नातिक्रमस्ततः ॥ १०२ ॥ धनशब्दो गवाद्यर्थः स्याच्चतुष्पदवाचकः । विधेयं तत्परिमाण ततो नातिक्रमो वरः ॥ १०३ ॥ धान्यशब्देन मुद्गादि यावदन्नकदम्बकम् । व्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरतिक्रमात् ॥ १०४ ॥ दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती । तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥ १०५ ॥ यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी । श्रेयानतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपबृंहणात् ॥ १०६ ॥ कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा । तेषामप्यल्पीकरण

जितने पशुओंका परिमाण नियत किया है उससे कभी बढाना नहीं चाहिये ॥ १०२ ॥ गेहूं, जौ, उडद, मूंग आदि सबप्रकारके अन्नोंको धान्य कहते हैं। परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको इन धान्योंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत किये हुए परिमाणका उल्लंघन करनेसे व्रतकी हानि होती है, व्रतमें दोष लगता है अतएव जितना परिमाण नियत किया है उसका पालन पूर्णरीतिसे करना चाहिये ।१०४। घरका काम काज करनेवाली स्त्रीको दासी कहते हैं, चाहे वह खरीदी हो, नौकर रक्खी हुई हो अथवा और किसीतरहसे काम काजके लिये घरमें रख ली हो। अणुव्रती श्रावकोंको अपना परिग्रहपरिमाणव्रत शुद्ध रखनेके लिये दासियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये तथा जितनी संख्या नियत की है उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।१०५। जिसप्रकार टहल चाकरी करनेवाली दासियां होती हैं उसीप्रकार दास होते हैं। अणुव्रती श्रावकको दासोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और फिर नियत की हुई संख्याको कभी नहीं बढाना चाहिये क्योंकि नियत की हुई संख्याको बढा लेनेसे हिंसा और तृष्णाकी वृद्धि होती है। भावार्थ-जितने दासदासी अधिक रक्खे जाते हैं उतनी ही हिंसा अधिक होती है, उतना ही ममत्व वा लालसा अधिक बढती है जिससे अशुभ कर्मोंका बन्ध अधिक होता है अतएव व्रतको शुद्ध रखनेके लिये नियत की हुई संख्या कभी नहीं बढानी चाहिये ॥१०६॥ कुप्य शब्दका अर्थ घी तेल आदि रखनेके बर्तन अथवा रोटी पानी आदिके बर्तन हैं व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंको उन बर्तनोंकी संख्या भी घटा लेनी चाहिये क्योंकि ममत्व वा परिग्रह जितना कम होता है उतना ही पाप कम लगता है तथा उतना ही आत्माका कल्याण अधिक होता है ॥ १०७ ॥ इसप्रकार संक्षेपसे परिग्रहपरिमाणके अतिचार वा दोष बतलाये। परिग्रहपरिमाण नामके अणु-

श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥ १०७ ॥ उक्ताः संख्या व्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया । परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥ १०८ ॥ प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपंचकम् । गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ १०९ ॥ दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । एकत्वाद्विरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥ ११० ॥ दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च । गमनं प्रतिजानीते कृत्वासीमानमार्हतः ॥१११॥ सन्त्यत्र विषयाः सीम्नः वननीवृन्नगापगाः । अनु तानवधिं कृत्वा गच्छे-

व्रतको धारण करनेवाले श्रावकको प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये । भावार्थ–व्रतकी महिमा अतिचार रहित पालन करनेसे ही होती है अतएव व्रती श्रावकको अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१०८॥

जिसप्रकार पांचों अणुव्रतोंका स्वरूप सूत्रके अनुसार निरूपण किया है उसीप्रकार कविराज अब तीनों गुणव्रतोंका स्वरूप कहते हैं ॥ १०९ ॥ दिशाओंका त्याग करना (दिशाओंकी मर्यादा नियत कर उससे आगे आने जानेका त्याग करना) देशका त्याग (कुत्सित देशमें जानेका त्याग अथवा जो त्याग किया है उसको किसी कालकी मर्यादासे और घटाना) तथा अनर्थ दंडोंका त्याग (विना प्रयोजनके जिनमें पाप लगता है ऐसी क्रियाओंका त्याग कर देना) इन तीनोंको गुणव्रत कहते हैं । यद्यपि त्यागकी अपेक्षासे ये तीनों ही एक हैं तथापि जिनका त्याग किया जाता है उन विषयोंमें भेद होनेसे तीनप्रकारके कहलाते हैं । भावार्थ–दिशाओंका त्याग करना दिग्व्रत है, देशका त्याग करना देशव्रत है और अनर्थदंडोंका त्याग करना अनर्थदंडव्रत है इस-प्रकार गुणव्रतके तीन भेद हैं ॥ ११० ॥ भगवान अरहन्तदेवकी आज्ञानुसार व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओंकी सीमा नियत कर उससे आगे न जानेका नियम लेना दिग्व्रत अथवा दिग्विरतिव्रत कहलाता है । भावार्थ–पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ईशान, आग्नेय, नैऋत, वायव्य, ऊपर, नीचे ये दश दिशाएं कहलाती हैं । श्रावकको इन दश दिशाओंमें जन्मभरतकके आने जानेके लिये मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये । सब दिशाओंमें सीमा नियत कर लेनी चाहिये और फिर उस सीमाके बाहर न स्वयं जाना चाहिये, न किसीको भेजना चाहिये और न कोई किसीप्रकारका व्यापार करना चाहिये । इसीको दिग्व्रत नामका गुणव्रत कहते हैं ॥ १११ ॥ वन, देश, पर्वत, नदी और बडे बडे देश इस दिग्व्रतकी सीमा कहलाते हैं ।

दर्वाग्र तद्बहिः ॥ ११२ ॥ पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गाबु केवलम् । तद्बहिर्वपुषानेन न गच्छामि सचेतनः ॥११३॥ एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः । तद्बहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥११४॥ परिपाट्यानयोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृता: । मर्यादोदूर्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥ ११५ ॥ तत्करणे महच्छ्रेयो हिंसा तृष्णाद्वयात्ययात् । करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥११६॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पंचेति सूत्रसाधिताः । सावधानतया त्याज्यास्तेपि तद्व्रतसिद्धये

इनकी मर्यादा नियत करके उस मर्यादाके भीतर ही जाना चाहिये। मर्यादाके बाहर कभी नहीं जाना चाहिये। भावार्थ—इस दिग्व्रतकी सीमा ऐसी होनी चाहिये जो संसारमें प्रसिद्ध हो जैसे हिमालय पर्वत, गंगा नदी, बंगाल देश। ऐसी प्रसिद्ध सीमा नियत करके फिर जन्मभरतक उसीमें अपना निर्वाह करना चाहिये। उसके बाहर कभी नहीं जाना चाहिये और न किसीप्रकारका सम्बन्ध रखना चाहिये ॥ ११२ ॥ जैसे मैं इस शरीरसे सचेतन अवस्थामें पूर्व दिशामें जहांतक गंगानदी बहती है वहांतक जाऊंगा इससे आगे कभी नहीं जाऊंगा ॥ ११३ ॥ इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकको मर्यादाके बाहर मुनिके समान समस्त हिंसाका त्याग हो जाता है। अतएव उस श्रावकके मुनियोंके समान ही पापकर्मोंका संवर होता है। भावार्थ—मर्यादाके बाहर श्रावकके मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे सबप्रकारकी हिंसाका त्याग हो जाता है अतएव उस श्रावकके उस हिंसाके त्यागसे पापकर्मोंका महा संवर होता है ॥ ११४ ॥ जिसप्रकार यह पूर्व दिशाका उदाहरण दिया है उसीप्रकार उत्तर दिशामें, पश्चिम दिशामें, दक्षिण दिशामें, ईशान आग्नेय नैऋत्य वायव्यादिक चारों विदिशाओंमें तथा ऊपरकी और नीचेकी ओर भी मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये ॥११५॥ इसप्रकार दशों दिशाओंमें मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनेसे आत्माका बहुत भारी कल्याण होता है क्योंकि इसप्रकारकी प्रतिज्ञा करनेसे हिंसा और तृष्णा दोनोंका त्याग हो जाता है। मर्यादा नियत कर लेनेपर मर्यादाके बाहर फिर किसी भी प्रकारका सम्बन्ध रखनेकी तृष्णा नहीं रहती है और न किसीप्रकारकी हिंसा हो सकती है अतएव व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको यह दिग्व्रत अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥११६॥

अन्य व्रतोंके समान इस दिग्व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो कि आचार्यवर्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने

॥११७॥ तत्सूत्रं यथा —ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि। उच्चैर्धात्रीधरारोहे भवेदूर्द्ध्वव्यतिक्रमः। अगाधभूधरावेशाद्दिग्ख्यातोऽधोव्यतिक्रमः

बनाये हुए सूत्रमें बतलाये हैं। इस दिग्व्रतको अच्छीतरह पालन करनेके लिये, निर्दोष वा शुद्ध पालन करनेके लिये इन सब अतिचारोंका त्याग भी बडी सावधानीके साथ कर देना चाहिये॥ ११७॥ उन अतिचारोंके कहनेवाला वह सूत्र यह है।

ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।

अर्थ—ऊर्द्ध्वव्यतिक्रम अर्थात् ऊपरकी मर्यादाका उल्लंघन करना, अधोव्यतिक्रम अर्थात् नीचेकी मर्यादाका उल्लंघन करना, तिर्यग्व्यतिक्रम अथात् आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढा लेना और नियत की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं।

ऊंची पृथ्वीपर चढनेसे अथवा किसी पर्वतपर चढनेसे ऊर्द्ध्वव्यतिक्रम होता है। इसीप्रकार किसी पर्वतकी बहुत नीची गुफामें जानेसे अधोव्यतिक्रम होता है। भावार्थ--ऊपर और नीचेकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसका उल्लंघन करना अतिचार है। पर्वतपर चढनेसे ऊपरकी दिशाका उल्लंघन होना सम्भव है और किसी गुफामें जानेसे नीचेकी दिशाका उल्लंघन होना सम्भव है अतएव किमी पर्वतपर चढते समय और गुफामें उतरते समय इन दोनों अतिचारोंका ध्यान रखना चाहिये और जिसप्रकार ये अतिचार न लगें उसीप्रकार कार्य करना चाहिये॥ ११८॥ कोई कोई देश ऐसे हैं जो दिशाओंके कोनोंमें हैं और बहुत लम्बे हैं अथवा उनका जो मार्ग है वह बहुत ही लम्बा है। ऐसे किसीदेश वा क्षेत्रमें किसी लोभके कारणसे जाना तिर्यग्व्यतिक्रमनामका अतिचार कहलाता है। भावार्थ--कोई गांव वा क्षेत्र ऐसा है जो दो दिशाओंके बीचमें हैं, यदि दिशाओंकी सीमाके हिसाबसे देखा जाय तो मर्यादाके भीतर आ जाता है परन्तु तिरछा होनेके कारण उसका मार्ग नियत किये हुए योजनोंसे अधिक होता है ऐसे देश वा क्षेत्रमें जाना तिर्यग्व्यतिक्रमनामका अतिचार कहलाता है क्योंकि जानेके

।। ११८ ।। क्वचिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाध्ववर्तिनि । कारणाद्गमन लोभाद्वेत्तिर्यग्व्यतिक्रमः ।।११९।। यथा सत्यमितः क्रोशः शतं यावद्गतिर्मम । क्रोशा मालवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ।। १२० ।। स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् । दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया ।।१२१।। प्रोषिता देशविरतिर्या-

लिये जितना मार्ग नियत कर रक्खा है उससे अधिक दूरतक चलना पडता है। व्रती श्रावकोंको ऐसा अतिचार नहीं लगाना चाहिये ।।११९।।

यह ठीक है वह नगर यहांसे सौ कोश है तथा यहांसे सौ कोशतक जाने की ही मेरी मर्यादा है परन्तु ये कोश मालवदेशके कोश हैं इसको क्षेत्रवृद्धिनामका दोष कहते हैं। भावार्थ--देशके भेदसे कोशमें भी भेद होता है। जैसे उत्तरकी ओर (मेरठ सहारनपुरकी ओर) सोलह मीलके बारह कोश गिने जाते हैं परन्तु आगरेकी ओर सोलह मीलके आठ ही कोश होते हैं। कहीं कहींपर तीन तीन मीलका भी एक कोश माना जाता है। जिस श्रावकने पहले सौ कोशकी मर्यादा नियत कर ली है वह श्रावक यदि काम पडनेपर यह कहे कि कोश मालवदेशके कोशसे संभाले जांयगे अथवा अन्य किसी देशके कोश मालवदेशके कोशसे भी बडे हों और वह श्रावक वहांके कोशोंसे अपनी मर्यादाके सौ कोश संभाले तो उसके क्षेत्रवृद्धिनामका दोष होता है क्योंकि पहले उसने साधारण वा उस देशमें प्रचलित कोशोंसे मर्यादा नियत की थी और अब वह अपनी सौ कोशकी संख्याको तो नियत रखता है उसको तो नहीं बढाता किंतु कोशोंको बडा मान कर क्षेत्रकी मर्यादा बढा लेता है अतएव व्रतका एकदेश भंग होनेके कारण वह अतिचार वा दोष कहलाता है। ऐसा दोष व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ।।१२०।। जो मर्यादा नियत की थी वह पहले तो स्मरण थी, फिर कुछ दिन बाद उसे भूल गया अथवा नियत संख्याको भूल कर कोई और संख्या स्मरण हो आई ऐसे दोषको स्मृत्यन्तराधान कहते हैं। इस स्मृत्यन्तराराधाननामके दोषमें कोई भी संख्या निश्चित नहीं रहती अथवा वह नियत की हुई मर्यादा निश्चित नहीं रहती इसलिए यह दोष गिना जाता है क्योंकि मर्यादाका निश्चय न होनेके कारण व्रतका निश्चय भी नहीं हो सकता इसलिए यह दोष व्रतका एकदेश भंग करनेवाला है । ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको कभी

वत्कालात्मवर्तिनी । तत्पर्यायाः क्षणं यामदिनमासर्तुवत्सराः ॥१२२॥ तादृशयो गतित्यागस्तथा चाशनवर्जनम् । मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥१२३॥

नहीं लगाना चाहिए ॥ १२१ ॥ इसप्रकार पांचों अतिचारोंका स्वरूप वर्णन कर दिग्व्रतका स्वरूप समाप्त किया अब आगे देशव्रतका निरूपण करते हैं ।

किसी नियत समयतक त्याग करनेको देशविरति वा देशव्रत कहते हैं । नियत समयतक अथवा थोडे कालतकका अर्थ एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक ऋतु वा दो महीना अथवा एक वर्ष लेना चाहिए। भावार्थ–एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर किसी भी पाप रूप क्रियाका त्याग करना देशविरतिनामका व्रत कहलाता है ॥ १२२ ॥

इस व्रतका विषय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग अथवा मौन धारण करना आदि है । भावार्थ–यहांपर देश शब्दका अर्थ एकदेश है, व्रती श्रावकने जो जो व्रत धारण कर रक्खे हैं उनमें जन्मभरके लिए जिन जिन पापरूप क्रियाओंका त्याग कर रक्खा है उन पापरूप क्रियाओंको किसी कालकी मर्यादा नियत कर और अधिक त्याग कर देना देशव्रत है । जैसे जिसने जन्मभरके लिए पूर्वमें गंगा नदीतक आने जानेके मर्यादा नियत कर रक्खी है वह यदि दो चार महीनेतकके लिए जमुना नदी तक ही अपनी मर्यादा नियत कर लेवे अथवा एक दो दिनके लिए किसी घर मोहल्ला वा गांव तक ही मर्यादा नियत कर लेवे तो वह उसका देशव्रत कहलाता है। जिसने स्वदारसन्तोषव्रत धारण कर लिया है वह यदि महीने दो महीनेके लिये वा एक दो दिनके लिये अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ भी मैथुन करनेका त्याग कर देवे तो भी उसके वह व्रत देशव्रत कहलाता है। जिसने सत्यअणुव्रत धारण कर लिया है वह यदि घण्टे दो घण्टेके लिये मौनव्रत धारण कर ले तो वह उसका देशव्रत कहलाता है, इसीप्रकार यदि कोई श्रावक घण्टे दो घण्टेतकके लिये भोजन पानका त्याग कर देवे वा आठ दश दिनके लिये अपना परिमाण किया हुआ परिग्रह और घटा कर बहुत थोडा रख लेवे तो वह सब उसका देशव्रत कहलाता है। यह व्रत समस्त व्रतोंकी मर्यादा

यथाच यदि गच्छामि प्राच्यामेवेति केवलम् । कारणान्नापि गच्छामि शेषदिक्त्रितयेवशात् ॥१२४॥ यथा वा यावदद्याह्नि भूयान्मेऽनशनं महत् । यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु तत् ॥१२५॥ यथा वा वर्षासमये चातुर्मासेऽथ योगिवत् । इतः स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे जवात् ॥१२६॥ परिपाट्यानया योज्या वृत्तिः स्याद्बहुविस्तरा । कर्तव्या च यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥१२७॥ पंचातिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता बुधैः । देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदाः ॥१२८॥

का और संक्षेप करता है परन्तु करता है कुछ कालके लिये इसीलिये इसको देशव्रत कहते हैं ॥१२३॥ जैसे यदि आज मैं कहीं जाऊंगा तो केवल पूर्व दिशामें ही जाऊंगा। यदि आज मुझे जानेके लिये कोई विशेष कारण भी मिल जायगा तो भी मैं बाकीकी तीन दिशाओंमें नहीं जाऊंगा ॥ १२४ ॥ अथवा आज अबसे लेकर दिनभरतक मेरे चारोंप्रकारके आहारका त्याग है और आजकी रात्रिमें अपना पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करूंगा ॥ १२५ ॥ अथवा बर्षा होनेके समयमें अथवा बर्षाऋतुके चार महीनेमें मैं मुनिराजके समान इसी स्थानपर रहूंगा इतने दिनतक इस स्थानसे अन्य किसी भी देश वा गांवमें कभी नहीं जाऊंगा । भावार्थ—जैसे मुनिराज एक ही स्थानपर चौमासा करते हैं वैसे ही मैं भी इसी स्थानपर चौमासा करूंगा, चौमासेमें इस स्थानको छोड कर और किसी भी गांव वा देशमें नहीं जाऊंगा ॥ १२६ ॥ इस क्रमके अनुसार, इस परिपाटीके अनुसार इस देशव्रतका पालन करना चाहिये। इस परिपाटीके अनुसार इसका विस्तार बहुत कुछ बढ सकता है। व्रती श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार इस व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह व्रत माताके समान आत्माका कल्याण करनेवाला है। भावार्थ–जिसप्रकार माता अपने पुत्रका सदा कल्याण करती रहती है उसीप्रकार इस देशव्रतसे भी बहुत अंशोंमें और अनेकरूपसे पापोंका त्याग होता रहता है अतएव इस व्रतके धारण करनेसे बहुत कुछ आत्माका कल्याण होता रहता है इसलिये व्रती श्रावकोंको इसका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥ १२७ ॥

इस देशविरतिनामके व्रतको दूषित करनेवाले पांच अतिचार हैं जो अत्यन्त विद्वान् आचार्य श्री १०८ उमास्वामीने अपने सूत्रमें बतलाये हैं। व्रती श्रावकोंको उनका भी त्याग कर देना चाहिये॥ १२८॥

आचार्य श्री उमास्वामीने उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है–

तत्सूत्रं यथा—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । आत्मसंकल्पिताद्देशाद्बहिःस्थितस्य वस्तुनः । आनयेतींगितैः किंचिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥ १२९ ॥ उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम् । एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥ १३० ॥ शब्दानुपातनामापि दोषोतीचारसंज्ञकः । संदेशकारणं दूरे तद्व्यापार-

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।

अर्थ—नियत की हुई मर्यादाके बाहरसे किसीको बुलाना या कोई पदार्थ मगाना, मर्यादाके बाहर किसीको भेजना या किसीके द्वारा काम कराना, मर्यादाके भीतर रहते हुए मर्यादाके बाहर अपने शब्दसे ही काम निकालना अथवा अपना रूप दिखा कर अथवा शरीरके किसी इशारेसे मर्यादाके बाहर काम निकालना तथा ढेले पत्थर फेंक कर मर्यादाके बाहर रहनेवालोंके लिये कुछ इशारा करना या काम निकालना ये पांच देशवृतके अतिचार हैं । आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ।

देशवृतको धारण करनेवाले व्रती पुरुषने उस देशव्रतकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसके बाहर रक्खे हुए पदार्थको मंगानेके लिये किसी पुरुषको किसी भो इशारेसे बतला देना आनयननामका अतिचार है। भावार्थ--इस वृतका अभिप्राय पापोंका घटाना है । जब पापोंको घटानेके लिये ही दिग्वृतकी मर्यादा घटा कर कुछ समयके लिये बहुत थोडी रख ली है तो फिर उसको मर्यादाके बाहर कोई किसीप्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये । यदि वह मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको मगा लेता है चाहे वह किसी इशारेसे मगावे या कह कर मगावे दोनों ही अवस्थाओंमें वह मर्यादाके बाहर अपना कार्य करता है । यद्यपि वह समझता है कि मर्यादाके बाहर मैं नहीं जाता हूं तथापि वह अपना कार्य कर लेता है इसीलिये वृतका एकदेश भंग होनेके कारण यह आनयन अतिचार वा दोष कहलाता है । वृती श्रावकको यह अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिये ॥ १२९ ॥ इसीप्रकार जिस किसी पुरुषको उस पदार्थको लानेके लिये आज्ञा नहीं दी है या कुछ भी इशारा नहीं किया है वह पुरुष यदि यह कहे कि मैं उस पदार्थको लाता हूं उस पुरुषको "तू ऐसा करना इसप्रकार करना" इसप्रकारकी आज्ञा देनेको प्रेष्यप्रयोग कहते हैं । भावार्थ--मर्यादाके बाहर किसीको भेजना वा कार्य बतलाना प्रेष्यप्रयोग है ।

करान् प्रति ॥ १३१ ॥ दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते। स्वांगांगदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥ १३२ ॥ अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोत्र संयमे। इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥ १३३ ॥ उक्तातीचारनिर्मुक्तं स्याद्देशविरतिर्व्रतम्। कर्तव्यं व्रतिनावश्यं हिंसातृष्णादिहानये ॥ १३४ ॥ वृतं चानर्थ-

इससे भी पहले अतिचारके वृतका एकदेश भंग होता है इसलिये वृती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३० ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर जो कोई व्यापार करनेवाले हैं वा अपना काम करनेवाले मुनीम गुमास्ते नौकर चाकर हैं उनको अपने शब्दके द्वारा कोई भी संदेश पहुंचाना, कोई भी कार्य बता देना अथवा वे अपने काममें लगे रहें इसलिए खकार मठार कर अपनी देखरेख वा उपस्थिति बतला देना शब्दानुपातनामका अतिचार है। यह भी वृतको दूषित करनेवाला है इसलिये वृती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३१ ॥

मर्यादाके बाहर काम करनेवाले नौकर चाकर अपना काम करते रहें इसकेलिये अपनी उपस्थिति वा देखरेख सूचित करनेकेलिये अपना शरीरं दिखलाना वा और किसी प्रयोजनकेलिये मर्यादाके बाहरवालोंको अपना शरीर दिखला कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा आंख आदि शरीरके अवयवोंसे मर्यादाके बाहरवालोंको कोई इशारा करना रूपानुपातनामका अतिचार कहलाता है। यह अतिचार भी इस देशवृतमें दोष लगानेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३२ ॥ अपनी मर्यादामें रहते हुए मर्यादाके बाहर सोना चांदी वस्त्र चिट्ठी पत्री आदि कोई भी पदार्थ भेजना अथवा मर्यादाके बाहरवालोंको ढेले पत्थर फेंक कर अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध कर लेना पुद्गलक्षेपनामका अतिचार है। इस अतिचारसे भी इस व्रतका एक-देश भंग होता है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ १३३ ॥ इस देशव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उचित है कि वे हिंसा और तृष्णा, ममत्व, लालसा, इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसाको दूर करनेके लिये ऊपर कहे हुए अतिचारोंको छोड कर इस देशव्रतका पालन अवश्य करें। भावार्थ—ऊपर बता चुके हैं कि इस वृतके पालन करनेसे बहुतसे पापोंका त्याग हो जाता है तथा मर्यादाके बाहर वह मुनियोंके समान पापोंका

दण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम्। द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥ १३५ ॥ एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम्। व्रतित्वं स्यादनायासान्नान्यथायासकोटिभिः

त्यागी समझा जाता है इसलिये श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिये और ऊपर लिखे हुए सब अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि अतिचारोंका त्याग कर देनेसे ही यह व्रत निर्दोष वा निर्मल रीतिसे पल सकता है ॥ १३४ ॥ इसप्रकार देशव्रतका स्वरूप बतलाया।

अब आगे अनर्थदण्डविरतिनामके व्रतका स्वरूप बतलाते हैं।

अनर्थदण्डोंका त्याग करनेरूप अनर्थदण्डविरतिनामके व्रतका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह अनर्थदंडविरतिनामका व्रत बारह व्रतरूपी वृक्षकी अद्वितीय वा सबसे मुख्य जड है। भावार्थ—विना किसी प्रयोजनके जो पाप लगते हैं उनको अनर्थदंड कहते हैं। ऐसे अनर्थदंडोंका बिना प्रयोजनके लगनेवाले पापोंका त्याग कर देना अनर्थदंडविरति है। संसारमें अनर्थदंड अनेक हैं, उनकी कोई गिनती नहीं कर सकता तथापि संग्रहनयकी अपेक्षा पांच अनर्थदंड माने हैं और सबका अन्तर्भाव इन्हीं पांचोंमें कर लिया है, उन पांचों के नाम ये हैं, पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या। जिसमें जीवोंकी हिंसा हो ऐसा उपदेश देना पापोपदेश है, तलवार आदि हिंसा करनेवाले पदार्थोंका दान देना हिंसादान है। दूसरोंका बुरा चिंतवन करना अपध्यान है, मिथ्यात्वकी पुष्टि करनेवाले शास्त्रोंका पढना पढाना सुनना सुनाना दुःश्रुति है तथा बिना प्रयोजनके पानी फैलाना, हवा करना, पृथ्वी खोदना, अग्नि जलाना, पेड पौधे तोडना आदि प्रमादचर्या है। इन पांचों अनर्थदंडोंका त्याग कर देना अनर्थदण्डव्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंका मूल है क्योंकि इसका पालन करनेसे अनेक-प्रकारके त्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा होती है तथा अपने परिणाम सदा निर्मल और निर्दोष रहते हैं इसलिये श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिये ॥ १३५॥ इन अनर्थदण्डोंमेंसे किसी एक अनर्थदंडका त्याग कर देना व्रत नहीं है क्योंकि एक एक अनर्थदंडका त्याग बहुत आसानीसे वा बिना किसी परिश्रमके हो जाता है तथा समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग करोडों परिश्रमसे भी नहीं होता है। भावार्थ—समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग कर

॥ १३६ ॥ स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म तत्। स्वार्थश्चावश्यमात्रात्मा स्वार्थः सर्वो न सर्वतः ॥ १३७ ॥ यथानाम विनोदार्थं जलादि वनक्रीडनम्।

देना अनर्थदण्डव्रत है। किसी एक अनर्थदण्डके त्याग कर देनेसे अनर्थदंडव्रत नहीं होता ॥ १३६ ॥ जिसमें दूसरेके स्वार्थकी सिद्धि हो ऐसा कार्य सिवाय समाधिमरणके और कुछ नहीं करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो आत्माको अवश्य करने योग्य ऐसा आत्माका कल्याण करना ही स्वार्थ है। संसारसम्बन्धी और समस्त कार्य स्वार्थ नहीं हैं तथा वे पूर्णरूपसे स्वार्थ कभी नहीं हो सकते। भावार्थ—आत्माका कल्याण करना सबसे बडा स्वार्थ है और वह समाधिमरण धारण करनेसे होता है अतएव समाधिमरण धारण करना आत्माका सबसे बडा स्वार्थ है। यदि कोई समाधिमरण धारण करता हो तो उसमें सहायता अवश्य पहुंचानी चाहिये, जिसप्रकार उसका समाधिमरण अच्छीतरह हो जाय वह कार्य अवश्य करना चाहिये। इस कार्यके सिवाय संसारसम्बन्धी कार्योंसे होनेवाली स्वार्थसिद्धि किसीको नहीं करनी चाहिये क्योंकि संसारसम्बन्धी कार्योंसे होनेवाली स्वार्थसिद्धिमें सिवाय अनर्थदंडके और कुछ आत्माका कल्याण नहीं होता है इसीलिये वह आत्माका स्वार्थ नहीं कहलाता है ॥१३७॥ जैसे चित्त प्रसन्न करनेके लिये जलक्रीडा करना, बनक्रीडा करना आदि सब अनर्थदण्ड कहलाता है। उसको मनसे करना, बचनसे करना, कायसे करना आदि रूपसे उसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥ १३८ ॥ मन बचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे भूत भविष्यत और वर्तमानकालसम्बन्धी समस्त पापरूप कार्योंका त्याग कर सबसे उत्तम उदासीन अवस्था धारण करनी चाहिये। भावार्थ—पापोंके त्याग करनेके कृत कारित अनुमोदना और मन बचन कायके भेदसे उनंचास भेद होते हैं। जैसे कोई भी पापरूप कार्य मनसे नहीं करना, बचनसे नहीं करना, कायसे नहीं करना, मनबचनसे नहीं करना, मनकायसे नहीं करना, बचनकायसे नहीं करना और मनबचनकाय तीनोंसे नहीं करना, इसप्रकार करनेके त्यागके सात भेद होते हैं। इसीप्रकार कारित अर्थात् करानेके सात भेद और अनुमोदनाके सात भेद होते हैं। ये सब इक्कईस भेद होते हैं तथा उसी पापरूप कार्यके करने करानेका मनसे त्याग, बचनसे त्याग, कायसे त्याग, मनबचनसे त्याग, मनकायसे त्याग, बचनकायसे त्याग,

कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥ १३८ ॥ कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः । परिहृत्य कर्मसकलं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बेत् ॥ १३९ ॥

तथा मन बचन काय तीनोंसे त्याग । इसप्रकार करने करानेके त्यागके सात भेद होते हैं, इसीप्रकार कराने और अनुमोदनाके त्यागके सात भेद, करने तथा अनुमोदनाके त्यागके सात भेद तथा करने कराने और अनुमोदनाके सात भेद इसप्रकार अट्ठाईस भेद ये होते हैं। इनमें उपरके इकईस भेद मिलनेसे सब उनंचास भेद हो जाते हैं। इनके अलग अलग भेद नीचे लिखे कोष्ठकसे समझ लेने चाहिये।

	१	२	३	४	५	६	७
१	मनकृत	वचनकृत	कायकृत	मनवचनकृत	मनकायकृत	बचनकायकृत	मनबचनकायकृत
२	मनकारित	बचनकारित	कायकारित	मनबचनकारित	मनकायकारित	बचनकायकारित	मनबचनकायकारित
३	मनोनुमत	वचनानुमत	कायानुमत	मनोवचनानुमत	मनःकायानुमत	वचनकायानुमत	मनोबचनकायानुमत
४	मनःकृत-कारित	वचनकृतकारित	कायकृतकारित	मनोवचनकृतकारित	मनःकायकृतकारित	बचनकायकृतकारित	मनोबचनकायकृत-कारित
५	मनःकृतानुमत	बचनकृतानुमत	कायकृतानुमत	मनोबचनकृतानुमत	मनःकायकृतानुमत	बचनकायकृतानुमत	मनोबचनकायकृतानु-मत
६	मनःकारितानु-मत	वचनकारितानुमत	कायकारितानु-मत	मनोबचनकारितानु-मत	मनःकायकारितानुमत	बचनकायकारिता-नुमत	मनोबचनकाय-कारितानुमत
७	मनःकृतकारि-तानुमत	बवनकृतकारिता-नुमत	कायकृतकारि-तानुमत	मनःबचनकृतकारि-तानुमत	मनःकायकृत-कारितानुमत	बचनकायकृत-कारितानुमत	मनोबचनकायकृत-कारितानुमत

इसप्रकार पापोंके त्यागके उनंचास भेद हो जाते हैं। इनके भूतकाल वर्तमान और भविष्यत्कालसम्बन्धी पापोंके त्याग करनेसे तिगुने अर्थात् एकसौ सैंतालीस भेद हो जाते हैं। जैसे उनंचासप्रकारसे पहले किये हुए पापोंका पश्चात्ताप करना वा त्याग करना, वर्तमानकालमें उनंचास प्रकारसे त्याग करना तथा भविष्यतकालके पापोंको उनंचासप्रकारसे त्याग करना। इसप्रकार पापोंके त्यागके एकसौ सैंतालीस भेद होते हैं। ये भेद एक एक पापके त्यागके हैं। इसीप्रकार सब पापोंके त्यागके भेद होते हैं।

प्रोक्तेन विधिना व्रती । वपुषश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ २३५ ॥ धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः । येषां सल्लेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥२३६॥ दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अन्त्यसल्लेखनायास्ते संत्याज्याः पारलौकिकैः ॥२३७॥ तत्सूत्र यथा—जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानु-

होनेका निश्चय हो जाय तो उस समय व्रती श्रावकको सल्लेखना वा समाधिमरण अवश्य धारण करना चाहिये ॥ २३४ ॥ व्रती श्रावकको आराधनाशास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार अनुक्रमसे शरीर और कषायोंको जीतना चाहिये और फिर शरीरका त्याग करना चाहिये । भावार्थ--समाधिमरणमें चारों आराधनाओंका आराधन किया जाता है इसीलिये सल्लेखनाकी विधिको कहनेवाले शास्त्र आराधनाशास्त्र कहलाते हैं जैसे भगवतीआराधना । सल्लेखनाकी विधिका विशेष स्वरूप भगवती आराधनामें वर्णन किया है तथा साधारण वर्णन धर्मामृत आदि श्रावकाचारोंमें किया है। भव्य जीवोंको वहांसे जान लेना चाहिये ॥ २३५ ॥ इस संसारमें वे ही व्रती-श्रावक धन्य हैं, वे ही शूरवीर वा वीरकर्म करनेवाले हैं और वे ही ज्ञानी हैं जिनका समाधिमरण बिना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाता है । भावार्थ—व्रत और तपश्चरणका अन्तिम फल समाधिमरण है । जिसका समाधिमरण हो गया उसका व्रत तप सब सफल हो गया समझना चाहिये तथा जिसका समाधिमरण नहीं हुआ उसका करोडों बर्षोंका किया हुआ जप तप भी व्यर्थ ही समझना चाहिये। समाधिमरणके बिना ही यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है । यदि एक बार भी समाधिमरण हो जाय तो फिर इस जीवको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय अतएव समाधिमरण धारण करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ २३६ ॥

इस सल्लेखनाव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाये हैं । परलोकमें सुख चाहनेवाले व्रती श्रावकोंको इस मरण समयमें होनेवाले सल्लेखनाव्रतके उन पांचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २३७ ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।

अर्थ—जीवित रहनेकी आशा रखना, शीघ्र मरनेकी आशा रखना, मित्रोंमें प्रेम रखना, भोगे हुए सुखोंका

बन्धनिदानानि । आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् । यद् जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्समस्यते ।२३८। आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् । वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसंकटात् ॥२३९॥ दोषो मित्रानुरागाख्यो यन्नेच्छेन्मरणं क्वचित् । पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ।२४०। दोषः सुखानुबन्धाख्यो

अनुभव करना अथवा आगामी सुखोंको चाह करना और निदान करना ये पांच सल्लेखनाव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं।

मोहनीयकर्मके उदयसे जीवित रहनेकी आशा करना अथवा अपने जीवित रहनेकी इच्छा करना अथवा "मैं यदि तबतक जीता रहूं तो अच्छा" इसप्रकार नियतकालतक जीवित रहनेकी इच्छा करे तो उसके जीविताशंसानामका पहला अतिचार होता है। भावार्थ—ये बडे बडे मनुष्य मेरी सेवा कर रहे हैं, मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, यदि मैं थोडी देरतक और जीवित बना रहूं तो अच्छा, इसप्रकार समाधिमरण धारण करके भी जीवित रहनेकी आशा रखना समाधिमरणका अतिचार है। जीवित रहना वा मरना किसीके आधीन नहीं है इसलिये इन दोनोंकी आशा करना व्यर्थ और कर्मबन्ध करनेवाली है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इन दोनोंकी आशा करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ २३८ ॥ "मुझे इस समय बहुत दुःख हो रहा है, यदि मेरा मरण शीघ्र हो जाय तो मैं इस भारी दुःखसे छूट जाऊं" इसप्रकार विचार कर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा नामका दूसरा अतिचार है ॥ २३९ ॥ "मेरा मरण यदि मेरे मित्रके सामने ही होता तो अच्छा, मित्रके पीछे मेरा मरण होना अच्छा नहीं" इसप्रकार मित्रके सामने ही अपने मरणकी इच्छा करना मित्रानुरागनामका अतिचार है। मित्रानुराग शब्दका अर्थ मित्रोंमें प्रेम रखना है। सो इसप्रकार मित्रके सामने मरनेकी इच्छा करना भी मित्रानुराग है तथा पहले जो मित्रोंके साथ बालकपनमें क्रीडा की थी उसका स्मरण करना भी मित्रानुराग है। ऐसा स्मरणकरनेसे भी परिणामोंकी निर्मलतामें कमी आ जाती है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २४० ॥ "मैं इस जन्ममें बहुत दुःखी हूं, मैंने जो ये व्रत पालन किये इनके माहात्म्यसे मैं मर कर किसी दूसरे स्थानमें जा कर सुखी हूंगा" इसप्रकार चिंतवन करना

यथात्रास्मीह दुःखवान्। मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥ २४१ ॥ दोषो निदानबन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः। भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥ २४२ ॥ यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः। भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥ २४३ ॥ यदिवा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशयाः। भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्विवादिनी ॥ २४४ ॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम्। स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥२४५॥ उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादशव्रतभावनाः। एताभिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥ २४६ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां मृषात्यागादि लक्षणाणुव्रतचतुष्क गुणव्रतत्रिक शिक्षाव्रतचतुष्टय प्रतिमाप्रतिपादकः षष्ठः सर्गः।

सुखानुबन्धनामका अतिचार है। (अथवा इस जन्ममें जिन जिन सुखोंका अनुभव किया है उनका स्मरण करना भी सुखानुबन्धनामका अतिचार है) ॥ २४१ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला कोई श्रावक अपनी दुर्बुद्धिके दोषसे यह चिन्तवन करे कि "मैं इस व्रतके माहात्म्यसे मर कर ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊं जो इस अपने शत्रुका घात करूं" यही सोच कर मरनेकी इच्छा करना निदाननामका अतिचार है ॥२४२॥ अथवा कोई मूर्ख मोहनीयकर्मके उदयसे यह चिंतवन करे कि मैं मर कर इस व्रतके माहात्म्यसे ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊं जो अपने इस मित्रका अच्छा उपकार करूं" इसप्रकार चिंतवन कर मरनेकी इच्छा करना निदानबन्धनामका अतिचार है ॥ २४३ ॥ अथवा अपने अज्ञानसे सुखकी इच्छा करता हुआ वह समाधिमरण धारण करनेवाला यह चिंतवन करे कि "मैं शीघ्र मर जाऊं जिससे मुझे इस व्रतके माहात्म्यसे स्वर्गकी अद्वितीय लक्ष्मी प्राप्त हो।" इसप्रकार चिंतवन कर मरनेकी इच्छा करना निदाननामका अतिचार है ॥ २४४ ॥ जो व्रती मनुष्य ऊपर लिखे समस्त दोषोंसे रहित इस मरणसमयके सल्लेखनाव्रतको पालन करते हैं अर्थात् इस सल्लेखनाव्रतको अतिचाररहित पालन करते हैं उनको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुखरूपी अमृत अवश्य पीनेको मिलता है। भावार्थ—उनको स्वर्ग-मोक्षके सुख अवश्य प्राप्त होते हैं ॥२४५॥ इसप्रकार सल्लेखनाव्रतके साथ बारह व्रतोंका तथा उनकी भावनाओं-

अथ सप्तमः सर्गः

द्वादशव्रतरूपं यद् व्रतं सद्गृहमेधिनाम्। साधुदूदाङ्गजोद्धारभूयाद्वो नामफामनः ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः।

द्वादशव्रतशुद्धस्य विशुद्धेश्चातिशायिनः। युक्तमुत्कृष्टाचरणमिच्छतस्तत्पदं मुदे ॥ १ ॥ स्यात्सामायिकप्रतिमा नाम्ना चाप्यस्ति संख्यया। तृतीया व्रतरूपा स्यात्क-

का निरूपण किया। जो व्रती श्रावक इन सम्पूर्ण व्रतोंको पालन करता है उसके व्रतप्रतिमा पूर्णरीतिसे पालन होती है। भावार्थ–इन सब वृतोंको निर्दोष और निरतिचार पालन करना व्रतप्रतिमा कहलाती है ॥ २८६ ॥ इसप्रकार व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहा।

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसे इस लाटीसंहितानामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत तीन गुणव्रत और चारों शिक्षाव्रतोंको निरूपण करनेवाला अथवा दूसरी प्रतिमाके स्वरूपको पूर्ण कहनेवाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सातवां सर्ग

इसप्रकार जो गृहस्थोंके बारह व्रत बतलाये हैं वे सज्जनोत्तम दूदाके पुत्र फामनके लिये उद्धार करनेवाले हों। भावार्थ–ऊपर लिखे हुए बारह व्रत फामनका उद्धार करें ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः।

जो श्रावक बारह व्रतोंके पालन करनेसे शुद्ध है तथा निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जिसकी विशुद्धि, जिसके आत्माकी निर्मलता अत्यन्त बढती जा रही है और जो अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये उत्तम मुनिपदको धारण करनेकी इच्छा करता है ऐसे श्रावकको उत्कृष्ट आचरण धारण करना चाहिए। भावार्थ— ऐसे श्रावकको आगेकी प्रतिमाएं धारण करनी चाहिए ॥ १ ॥ तीसरी प्रतिमाका नाम सामयिकप्रतिमा है। वृती श्रावकोंको दूसरी प्रतिमाके पालन करनेमें निपुण हो जानेपर तीसरी प्रतिमा पालन करनी चाहिए ॥ २ ॥

दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥ १४० ॥ तत्सूत्रं यथा —कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगनार्थक्यानि । अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः । रागोद्रेकात्प्रहासादिमिश्रोवाग्योग इत्यपि ॥ १४१ ॥ दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोऽस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् । पराङ्गस्पर्शनं स्वांगैरर्थादन्याङ्गनादिषु ॥ १४२ ॥ मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम् । अतीव गर्हितं धार्ष्ट्याद्वाचालत्वं प्रजल्पनम् ॥ १४३ ॥ असमीक्ष्याधिकर-

इसप्रकार अनर्थदंडको त्याग करनेवाले श्रावकोंको इन सब भेदोंसे अनर्थदंडोंका त्याग कर देना चाहिए और फिर अत्यंत शांत होकर अपने आत्मामें लीन हो जाना चाहिए ॥ १३९ ॥

इस अनर्थदंडत्याग व्रतके भी पांच अतिचार हैं जो कि सूत्रकारने अपने सूत्रमें बतलाए हैं । ये अतिचार भी व्रतमें दोष लगानेवाले हैं इसलिए व्रती श्रावकको इनका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४० ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।

अर्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडव्रतके अतिचार हैं । आगे इनका स्वरूप कहते हैं ।

रागकी तीव्रतासे हंसीसे मिले हुए अशिष्ट बचन कहना कंदर्प कहलाता है । यह कंदर्प भी अनर्थदंडत्यागव्रतका पहला अतिचार है । कंदर्प शब्दका अर्थ काम है । कामको बढानेवाले जितने हंसीके बचन हैं अथवा जितने अशिष्ट बचन हैं उनके कहनेको कंदर्प कहते हैं । ऐसे बचन कहनेसे परिणाम मलिन होते हैं तथा व्यर्थ ही पापकर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इस अतिचारका त्याग कर देना चाहिए ॥ १४१ ॥ रागकी तीव्रतासे शरीरकी दुष्ट क्रिया करना कौत्कुच्य है । जैसे अपने शरीरसे अन्य स्त्रियोंका शरीर स्पर्श करना, भौंह चलाना, आंखें मटकाना आदि सब कामको बढानेवालीं शरीरकी चेष्टाओंको, शरीरकी क्रियाओंको कौत्कुच्य कहते हैं । इससे भी व्यर्थ ही पाप कर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥ कामको बढानेवाले अत्यन्त निंदनीय सैकडों बचन कहना अथवा धृष्टतापूर्वक बहुत बकवाद करना

णमनल्पीकरणं हि यत् । अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥ १४४ ॥ यथाहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् । नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥ १४५ ॥ भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः । यथा स्रक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥ १४६ ॥ परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः । यथा योषिदलंकारवस्त्रागारगजादिकम् ॥ १४७ ॥ आनर्थक्यं तयोरेव स्यादसंभविनोर्द्वयोः । अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥ १४८ ॥ यथा दीनश्च दुर्भाग्यो

गौखर्यनामका अतिचार है । इससे भी व्यर्थ ही पापकर्मोंका बंध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४३ ॥ अपने प्रयोजन वा आवश्यकताका विचार किए विना असावधानीके साथ पदार्थोंका अधिक संग्रह करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है । भावार्थ–पदार्थोंका उतना ही संग्रह करना चाहिए जितनेकी आवश्यकता हो, पदार्थोंका अधिक संग्रह करनेसे अधिक हिंसा होती है अतएव आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना अनर्थदंडका अतिचार है । व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १४४ ॥ जैसे भोजनादि बनानेके लिए जितने जलकी आवश्यकता हो उतना ही जल भरना चाहिए, उससे अधिक जल भरना अनर्थदंड है, अधिक जल भरनेसे व्यर्थका पाप लगता है अतएव आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिए ॥ १४५ ॥ जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं, एक बार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं जैसे माला, चंदन, फूल, भोजन, पानी, औषध आदि ॥ १४६ ॥ जो पदार्थ बार बार भोगनेमें आते हैं उनको परिभोग कहते हैं जैसे स्त्री, अलंकार, वस्त्र, घर, हाथी, घोडे आदि ॥ १४७ ॥ उपभोग और परिभोग इन दोनोंको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा करना अनर्थदंडका अतिचार है अथवा जिन पदार्थोंकी संभावना ही नहीं है, जो पदार्थ असंभव है उनका परिमाण करना अथवा जो पदार्थ अपनी योग्यतासे बाहर हैं, अपनी योग्यताके अनुसार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना असंभव है ऐसे पदार्थोंका त्याग करना वा परिमाण करना अनर्थदंडव्रतका अतिचार है ॥ १४८ ॥ जैसे कोई अत्यन्त दरिद्र पुरुष है और उसके अशुभकर्मका उदय अत्यन्त प्रबल हो रहा है वह यदि ऐसा प्रमाण करना चाहे कि संसारमें जितने अनित्य पदार्थ हैं उनको ही ग्रहण करनेकी मेरे प्रतिज्ञा है । अनित्य पदार्थोंके सिवाय नित्य पदार्थोंको मैं कभी ग्रहण नहीं करूंगा यह परि-

वस्तुसंख्यां चिकीर्षति । गृह्णाम्यशाश्वतं यावन्न गृह्णामि ततोधिकम् ॥१४९॥ निर्दिष्टानर्थदण्डस्य विरतिर्नाम्ना गुणाव्रतम् । अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥ १५० ॥ शिक्षाव्रतानि चत्वारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् । इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥ १५१ ॥ तत्सूत्रं यथा—सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च । अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्यावलम्बनम् । तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥ १५२ ॥ तत्सूत्रं यथा—

माण असंभव पदार्थोंका है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अनित्य न हो अथवा ऐसा पदार्थ होना सर्वथा असंभव है जो सर्वथा नित्य हो अतएव ऐसा परिमाण करना उपभोपरिभोगपरिमाणनामक व्रतका अतिचार है ॥ १४९ ॥ इसप्रकार अनर्थदंडविरतिनामक गुणव्रतका स्वरूप बतलाया। इस व्रतको अतिचार-रहित पालन करनेसे ही आत्माका कल्याण होता है अतएव व्रती श्रावकोंको अतिचाररहित ही व्रतोंको पालन करना चाहिए ॥ १५० ॥

गृहस्थोंके पालन करनेयोग्य शिक्षाव्रत चार हैं। अब आगे पहलेके आचार्योंके कथनानुसार अथवा सूत्रोंमें लिखे अनुसार उन्हीं शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं ॥ १५१ ॥ उन शिक्षाव्रतोंको वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—

सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।

अर्थ—सामायिक प्रोषधोपवास उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं । व्रती गृहस्थ इन व्रतोंका भी पालन करता है । आगे इन्हींका वर्णन करते हुए सबसे पहले सामायिकका स्वरूप वर्णन करते हैं ।

शुद्ध आत्माका साक्षात् चिंतवन करना सामायिक है अथवा शुद्ध आत्माका चिंतवन करनेके लिए योग्य समयमें योग्य आसनसे बैठकर सामायिकका पाठ करना भी सामायिक कहलाता है ॥ १५२ ॥ सो ही सामायिक पाठमें लिखा है--

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावनाः । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥

अर्थ—समस्त जीवोंमें समताभाव धारण करना, संयम पालन करनेके लिए सदा शुभ भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर देना सामायिकव्रत कहलाता है ॥ १ ॥

समता सर्वभूतेषु सयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥ १ ॥ तदर्थात्प्रातरुत्थाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् । एकोहं शुद्धचिद्रूपो नाहं पैद्गलिकं वपुः ॥ १५४ ॥ चिन्तनीयं ततश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् । ततः ससारिणो मुक्त्वा जीवाश्चिन्त्या द्विधार्थतः ॥ १५५ ॥ तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिनिवासिनः । कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यायिनोऽतीव दुःखिताः ॥ १५६ ॥ पूर्वकर्मोदयाद्भावस्तेषां रागादिसंयुतः । जायते शुद्धसञ्ज्ञो यस्तस्माद्बन्धोस्ति कर्मणाम् ॥ १५७ ॥

उस सामायिकव्रतको पालन करनेके लिए प्रातःकाल उठ कर शुद्ध आत्माका चिंतवन करना चाहिए। मैं अकेला हूं, शुद्ध हूं और चैतन्यस्वरूप हूं, पुद्गलका वना हुआ शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल जड है मैं चैतन्यरूप हूं अतएव पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूं । इसप्रकार चिंतवन करना चाहिए ॥ १५३ ॥ तदनंतर अपने हृदयमें छहों द्रव्योंका सूक्ष्म स्वरूप चिंतवन करना चाहिए। फिर उन छह द्रव्योंमेंसे भी जीव दो प्रकार हैं। एक संसारी और दूसरे मुक्त। इसप्रकार जीवोंके भेदप्रभेदोंका तथा उनके स्वरूपका चिंतवन करना चाहिए ॥ १५४ ॥ उन दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे जो जीव चारों गतियोंमें निवास करते हैं, कर्म नोकर्म सहित होनेसे जो सदा परिभ्रमण करते रहते हैं और अत्यन्त दुखी रहते हैं उनको संसारी जीव कहते हैं । भावार्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठ कर्मोंको कर्म कहते हैं और औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गल-वर्गणा ग्रहण की जाती हैं उनको नोकर्म कहते हैं । कर्म और नोकर्मके कारण ही यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है तथा संसारमें परिभ्रमण करनेके कारण ही अत्यंत दुखी रहता है तथा चारों गतियोंमें निवास करता रहता है। ऐसे जीवको संसारी जीव कहते हैं ॥ १५५ ॥ इस संसारी जीवके पूर्व कर्मोंके उदय होनेसे रागद्वेषरूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते हैं तथा उन्हीं रागद्वेषरूप अशुद्ध भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है । भावार्थ—इस संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके राग द्वेष न हो। समस्त संसारी जीवोंके राग द्वेष पाए जाते हैं। उन राग द्वेषरूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तथा उन कर्मोंका जब उदय होता है तभी उन कर्मोंके उदयसे फिर राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं। उन राग द्वेष परिणामोंसे फिर कर्मोंका बन्ध होता है ॥१५६ ॥ जिसप्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है अर्थात् बीज वृक्ष दोनों एक दूसरेसे उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार पहले

एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः । शक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥ १५८ ॥ एवं वाऽनादिसन्तानाद्भ्रमतिस्म चतुर्गतौ । जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥ १५९ ॥ तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥ १६० ॥ अस्ति सद्दर्शनज्ञानचारित्राण्यत्र

कर्मोंके उदयसे राग द्वेष और उन राग द्वेषसे नवीन कर्मोंका बन्ध, तथा उन कर्मोंके उदयसे फिर राग द्वेष और उन राग द्वेषसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता रहता है। जबतक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, तबतक यह कार्यकारणसम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। भावार्थ–यह कभी नहीं हो सकता कि राग द्वेष तो हो और उनसे नवीन कर्मोंका बन्ध न हो अथवा उन कर्मोंका उदय तो हो और राग द्वेषरूप भाव न हो। राग द्वेषसे कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है और कर्मोंके उदयसे राग द्वेष अवश्य होते हैं। जबतक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है तबतक यह सम्बन्ध कभी नहीं छूटता ॥१५७॥ इसप्रकार यह जीव अनादिकालसे नरक तिर्यंच देव मनुष्य इन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है तथा जन्म, मरण, बुढापा, रोग आदि अनेक दुःखोंसे दुःखी बना रहता है ॥१५८॥ उन संसारी जीवोंमेंसे कोई भव्य जीव काललब्धिके प्राप्त हो जानेपर समस्त कर्मोंको नाश करके इस संसारसे छूट कर मुक्त हो जाता है। भावार्थ–जबतक इस जीवके साथ कर्मोंका सम्बन्ध लगा रहता है तबतक यह जीव संसारी कहलाता है तथा जब उन समस्त कर्मोंको तथा कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले शरीरको नष्ट कर देता है, कर्म और शरीरसे रहित हो कर शुद्ध बुद्ध और चैतन्यस्वरूप हो जाता है तब वही जीव मुक्त कहलाता है, इसप्रकार सामयिक करते समय जीवोंके इन भेदोंके स्वरूपको चिंतवन करना चाहिये ॥ १५९ ॥ इसके साथ यह भी चिंतवन करना चाहिये कि उन कर्मोंसे छूटनेके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेके लिये काललब्धिकारण है और काललब्धि अपनेआप प्रगट होती है।

भावार्थ–जब कोई भव्य जीव सैनी पंचेंद्रिय होता है तथा संसारपरिभ्रमणका काल अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तन बाकी रहता है तब उनको सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता होती है। उसके साथ

इतना और होना चाहिये कि जो उसके नवीन कर्मोंका बन्ध हो वह अधिकसे अधिक अंतःकोडाकोडी सागरसे (एक कोडाकोडी सागरसे कुछ कम) अधिक नहीं होना चाहिये तथा उसके जिन कर्मोंकी सत्ता है उनकी स्थिति भी अन्तःकोडाकोडी सागरसे अधिक नहीं होनी चाहिये इसका अभिप्राय यह है कि उसके कर्मोंकी सत्ता अधिक नहीं है, अधिक स्थितिवाली नहीं है वा तीव्ररूप नहीं है इसलिये उसके परिणाम तीव्र अशुभ नहीं होते किंतु मन्दरूप ही उदयमें आते रहते हैं इसलिये उसके जो नवीन कर्मोंका बन्ध होता है वह तीव्र नहीं होता किंतु मन्द ही होता है। ऐसी अवस्थामें उसका मोहनीयकर्म (दर्शनमोहनीय कर्म) अत्यन्त बलहीन हो जाता है तथा धीरे धीरे समय पा कर वा किसी उपदेशादिकके मिलनेपर वा भगवान सर्वज्ञदेवके दर्शन करनेपर वह मोहनीयकर्म शांत हो जाता है, इसप्रकार दर्शनमोहनीयकर्मके शांत होनेसे शुद्ध आत्माका अविनाभावी, शुद्ध आत्माके साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शनगुण प्रगट हो जाता है। उस सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही उसका ज्ञान जो कि दर्शनमोहनीयकर्मके उदय होनेसे मिथ्याज्ञान कहलाता था वही मिथ्याज्ञान उसी दर्शनमोहनीयके उपशम होनेसे वा उदय न होनेसे सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ साथ प्रगट हो जाते हैं।

दर्शनमोहनीयकर्मका जब उपशम होता है तब वह अकेला उपशांत नहीं होता, किंतु उसके साथमें अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंका वा चारित्रमोहनीयकी इन ऊपर लिखी हुई चार प्रकृतियोंका भी उपशम हो जाता है। दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियां हैं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व। इन तीनों प्रकृतियोंके साथ साथ ही अनन्तानुबन्धी चारों प्रकृतियोंका उपशम होता है अर्थात् सातों प्रकृतियोंका उपशम एक साथ होता है। इन सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है। इस आत्माका अपने ही आत्मामें

कारणम् । हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥ १६१ ॥ इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥ १६२ ॥

आचरण करने लगना स्वरूपाचरणचारित्र है। इसका भी अभिप्राय यह है कि इस आत्माका शरीरादिकसे ममत्व छूट जाता है और केवल शुद्ध आत्मामें ही अपनापन मानने लगता है इसीको स्वपरभेदविज्ञान कहते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो दर्शनमोहनीयकर्म एक घोर अन्धकारके समान है। जबतक उसका उदय रहता है रहता है तबतक इस आत्माको अपना अर्थात् अपने ही आत्माका स्वरूप दिखाई नहीं देता। उस अन्धेरेमें यह आत्मा कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले राग द्वेषको शरीरादिकको, अथवा धनादिकको अपना समझ लेता लेता है। जब वह दर्शनमोहनीयकर्म उपशम हो जाता है तब वह अंधेरा दूर हो कर सम्यग्दर्शनरूपी एक अद्भुत प्रकाश प्रगट हो जाता है जिससे इस आत्माको अपने परायेका ज्ञान होने लगता है, रागद्वेषको, शरीरको वा धनादिकको अपनेसे भिन्न समझने लगता है तथा भिन्न समझ कर उसके त्याग करनेकी चेष्टा करता जाता है तथा जैसे जैसे चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम होना जाता है वैसे ही वैसे वह उनका त्याग करता जाता है इसीको रत्नत्रय वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं।

इसप्रकार त्याग करते करते जब आत्मा शुद्ध हो जाता है और समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है उसी समय इसको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तथा अनंत और अविनश्वर सुख प्राप्त हो जाना है। सामायिक करते समय यह सब चिंतवन करना चाहिए ॥ १६० ॥ इसप्रकार महा बुद्धिमान श्रावकको आत्माका संवेग और वैराग्यगुण बढानेके लिए अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिए तथा इसी संवेग और वैराग्यगुणको बढानेके लिए इस समस्त जगतका स्वरूप बार बार चिंतवन करना चाहिए ॥ १६१ ॥ तत्त्वार्थसूत्रमें लिखा भी है--

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।

अर्थ—जगतका स्वरूप वा स्वभाव चिंतवन करनेसे संवेग बढता है और शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। भावार्थ—पंचपरावर्तनरूप संसारसे अथवा जन्ममरणरूप संसारसे भयभीत होना संवेग है।

उक्तं च–जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् । चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् । कोऽहं कुतः समायातः क्व यास्यामि जवादितः ॥१६३॥ हेयं किं किमु-

इन तीनों लोकोंका आकार ऐसा है, इसमें यह जीव चारों गतियोंमें अनेकप्रकारके दुःख पाता हुआ सदा परिभ्रमण करता है, यह जीवन जलके बुद्बुदाके समान क्षणभंगुर है तथा भोगोपभोगकी सामग्री देखते देखते नष्ट हो जाती है, इस संसारमें कोई भी ऐसा सुख वा पदार्थ नहीं हैं जो नित्य हो सदा टिकनेवाला हो। इसप्रकार संसारका स्वरूप चिंतवन करनेसे इस संसारसे भयभीतपना उत्पन्न होता है। इसीप्रकार शरीरका स्वरूप चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। यह शरीर अपवित्र है, अनित्य है, दुर्गंधमय है, जो उत्तमसे उत्तम पदार्थ इसपर लगा दिया जाता है वह भी लगानेमात्रसे ही अपवित्र हो जाता है, यह शरीर हड्डी मांस रुधिर आदि और घृणित पदार्थोंसे बना है और मलमूत्रसे भरा है। जिस शरीरको देख देखकर यह जीव मोहित होता है उसी शरीरके भीतरी भागको बाहर रख दिया जाय तो उसी मोहित होनेवाले जीवको इतनी घृणा उत्पन्न होती है कि फिर वह उस शरीरको आंख उठाकर देख भी नहीं सकता। इसप्रकार शरीरके स्वभावका चिंतवन करनेसे वैराग्य बढता है। रागके उदयकी मंदता वा अभाव होनेके कारण जो इंद्रियोंके विषयमें अरुचि प्रगट होती है उसीको वैराग्य कहते हैं। वह वैराग्य शरीरका स्वभाव चिंतवन करनेसे बढता है।

इसप्रकार चिंतवन कर लेनेके अनंतर सामायिक करनेवालेको अपने आत्माका स्वरूप चिंतवन करना चाहिए तथा विचार करना चाहिए कि "मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, किस गतिसे आकर इस गतिमें जन्म लिया है और अब यहांसे जो मुझे शीघ्र जाना है सो कहां जाना होगा ॥ १६२ ॥ मेरे इस शुद्ध आत्माके लिए ऐसे कौन कौनसे कार्य हैं अथवा ऐसे कौन कौनसे पदार्थ हैं जो त्याग करनेयोग्य हैं, तथा ऐसे कौनसे पदार्थ हैं जो ग्रहण करनेयोग्य हैं। मुझे अब इस जन्मपर्यंत क्या क्या कार्य करने चाहिए और किन किन कार्योंका त्याग कर देना चाहिए ॥ १६३ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे सामायिक करनेवालेके आत्माका संवेग गुण बढता है तथा संसार शरीर और भोगोंसे अथवा संसारमें उत्पन्न हुए भोगोंसे वैराग्य बढता है ॥ १६४ ॥ तदनंतर सामायिक

पादेयं मम शुद्धचिदात्मनः । कर्तव्यं किं मया त्वाज्यमधुना जीवनावधि ॥ १६४ ॥ इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः । संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥ १६५ ॥ ततः साधुसमाधिश्च सामायिकव्रतान्वितः । ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥ १६६ ॥ तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत्पद्यादिलक्षणम् । सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोपि गुणस्तुतिम् ॥ १६७ ॥ ततोर्हद्भारतीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमधीय च । क्षणं ध्यानस्थितो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥ १६८ ॥ ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् । संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥ १६९ ॥ स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रासुकोदकैः ॥ गृह्णीयद्धौतवस्त्राणि दृष्टि-

करनेवाले व्रती श्रावकको साधुसमाधि करनी चाहिए। अपने आत्माके शुद्धस्वरूपका चिंतवन करने अथवा पंच-परमेष्ठीके स्वरूपका चिंतवन करनेको साधुसमाधि कहते हैं। इसप्रकार चिंतवन कर लेनेके अनंतर उस वृती श्रावकको माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको छोड कर सामयिककी क्रिया करनी चाहिये ॥ १६५ ॥ आगे उसी सामयिककी क्रियाको बतलाते हैं। अनुष्टुप, जाति, उपजाति, बसन्ततिलका आदि छन्दोंमें भगवान जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी स्तुति पढनी चाहिये अथवा सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुति करनी चाहिये वा साधुओंके गुणोंकी स्तुति-करनी चाहिये ॥ १६६ ॥ तदनन्तर भगवान अरहन्तदेवकी कही हुई वाणीकी अर्थात् सरस्वतीदेवीकी स्तुति करनी चाहिये और संसारकी शांतिकी कामनाके लिये शांतिपाठ पढना चाहिये। भावार्थ—ये सब भक्तियां हैं। अरहन्तभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति वा गुरुभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्तिका पाठ पढना चाहिये। फिर क्षणभर ध्यान करना चाहिये और उस ध्यानमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥१६७॥ तदनन्तर समय पूरा हो जानेपर उस ध्यानको समाप्त कर देना चाहिये और फिर जिनकी स्तुति की है उनकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार करनी चाहिये। भावार्थ—पहले अरहन्तदेव, सिद्ध परमेष्ठी, गुरु और सरस्वतीकी स्तुति की थी सो अब अपनी शक्तिके अनुसार इन्हीं सबकी पूजा करनी चाहिये ॥ १६८ ॥ भगवान अरहन्तदेव आदिकी पूजा करनेके लिये यत्नाचारपूर्वक शुद्ध और प्रासुक जलसे स्नान करना चाहिये और फिर धुले हुए वस्त्रोंको आंखोंसे देख कर पहनना चाहिये। भावार्थ—धुले हुए वस्त्रोंको देखभाल कर पहनना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो जाय ॥ १६९ ॥ तदनन्तर जल चन्दन आदि आठों द्रव्योंको किसी उत्तम

पूतानि प्रायशः ॥ १७० ॥ ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये । द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भाजने ॥ १७१ ॥ तत्रस्थान् जिनबिम्बांश्च सिद्धयन्त्रान् समर्चयेत् । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥ १७२ ॥ शेषानपि यथाशक्ति गुणानभ्यर्चयेद्व्रती । अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुल्लखतो मया ॥ १७३ ॥ अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका । प्रतिष्ठापनसंज्ञाथ सन्निधीकरणं तथा ॥ १७४ ॥ ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् । पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदा-

थाल आदि पात्रमें ले कर धीरे धीरे अपने घरके चैत्यालयमें जाना चाहिये ॥ १७० ॥ उस चैत्यालयमें विराजमान अरहन्तदेवके प्रतिबिम्बोंकी पूजा करनी चाहिये, सिद्धयन्त्रकी पूजा करनी चाहिये और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको स्थापन कर उनकी पूजा करनी चाहिये । भावार्थ—देवपूजा सिद्धपूजा और रत्नत्रयकी पूजा करनी चाहिये ॥ १७१ ॥ व्रती श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार आत्माके शेष उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी भी पूजा करनी चाहिये । यह पूजा करनेका विधान पहले आचार्योंके कहे अनुसार हमने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है । भावार्थ—किस किसकी पूजा करनी चाहिये इसका विधान बहुत बडा है वह अन्य ग्रन्थोंसे देख लेना चाहिये यहांपर हमने बहुत ही संक्षेपसे कहा है ॥ १७२ ॥

पूजा पंचोपचारी होती है अर्थात् पांचप्रकारसे की जाती है। सबसे पहले आह्वान करना चाहिये, फिर स्थापन करना चाहिये, फिर सन्निधापन वा सन्निधिकरण करना चाहिये तदनन्तर पूजा करनी चाहिये और फिर विसर्जन करना चाहिये । इसप्रकार यह पूजा पांचप्रकारकी बतलायी है । यह पांचप्रकारसे की हुई पूजा पंचकल्याणक फलको देनेवाली है । भावार्थ—भगवान अरहन्तदेव और सिद्ध भगवान गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपःकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक इन पांचों कल्याणको प्राप्त हुए हैं अतएव जो भव्य जीव इनकी पूजा करता है वह भी अरहन्तदेवके समान पांचों कल्याणकोंको प्राप्त होता है । यह पूजा करनेका फल है ॥ १७३-१७४ ॥ पूजाकी विधि बहुत बडी है यद्यपि उसको पूर्ण रीतिसे मैं कह सकता हूं तथापि मैंने उसका उपलक्षण मात्र कहा है क्योंकि पूजाकी विधि तो बहुत बडी है और यह स्मृतिशास्त्र अथवा श्रावकाचार अत्यन्त संक्षेपसे केवल संकेतमात्र कहा है । भावार्थ—यह पूजाकी विधि बहुत ही संक्षेपसे कही गई है, इसका विस्तार अन्य संहिता

यिनी ॥ १७५ ॥ तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हन्नप्युपलक्षितः । स्मृतेः संदेहसंकेताद्विशेषातीव विस्तरात् ॥ १७६ ॥ एवमित्याद्यवश्यं स्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः । अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥ १७७ ॥ अर्चयेच्चैत्यवेश्मस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि । सूर्युपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद्भक्तितो व्रती ॥ १७८ ॥ ततो मुनिमुखोद्गीर्णं प्रोक्तं वा सधर्मसूरिभिः । धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥ १७९ ॥ गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दादिमानयम् । ततो मध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यादमुं विधिम्

ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये ॥ १७५ ॥ व्रती श्रावकोंको ऊपर लिखे अनुसार कर्तव्य तो अवश्य पालन करना चाहिये । यदि उसकी अधिक सामर्थ्य हो तो अन्य शास्त्रोंके अनुसार उसे और विधि भी करनी चाहिये ॥ १७६ ॥

तदनन्तर उस व्रती श्रावकको जिनालयमें जा कर वहांपर विराजमान भगवान अरहन्तदेवके बिम्बोंकी पूजा करनी चाहिये तथा आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी पूजा भी भक्तिके साथ करनी चाहिये । भावार्थ–बडे जिनालयमें जा कर भगवानकी पूजा करनी चाहिये । यदि वहांपर अथवा पास ही किसी और स्थानपर आचार्य उपाध्याय और साधु हों तो उनकी पूजा भी भक्तिपूर्वक करनी चाहिये ॥ १७७ ॥ तदनन्तर मुनिराजके मुखारविन्दसे कहे हुए धर्मका श्रवण करना चाहिये अथवा अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंकी ज्योति बढानेके लिये अपने घरके आचार्यके (गृहस्थाचार्यके) द्वारा कहे हुए धर्मका श्रवण बडे आदरके साथ करना चाहिये ॥ १७८ ॥

तदनन्तर अपनी निन्दा करते हुए उस व्रती श्रावकको अपने घरके व्यापार धन्धे करने चाहिये और दोपहरका समय होनेपर फिर भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ १७९ ॥ दोपहरके कुछ समय पहले अतिथिसंविभागव्रतकी भावनाका भी चिन्तवन करना चाहिये । भावार्थ–दोपहरसे कुछ समय भगवानकी पूजा करनी चाहिये फिर मुनियोंको दान देनेकेलिये दरवाजेपर आ कर खडा होना चाहिये, यदि किसी मुनि आदिका संयोग मिल जाय तो भक्तिपूर्वक आहारदान देना चाहिये । यदि किसी भी पात्रका संयोग न मिले तो मुनियोंके आहारका समय पूर्ण हो जानेपर भोजन करना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि आहारदान देनेके लिये मुनियोंके आहारके समय ही खडा होना चाहिये उस समयको टाल कर वा बिता कर खडा होनेसे कोई लाभ नहीं होता । समयपर यदि किसी पात्रका संयोग न भी मिले तो भी उसको उसकी भावनाका फल मिल ही जाता

॥ १८० ॥ अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयेदपि । मध्याह्नादीषदर्वाग्वै नातः कालातिक्रमे ॥ १८१ ॥ भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया । धारयेद्धर्मश्रवणं पूर्वाह्णे यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥ १८२ ॥ ऊहापोहोपि कर्तव्यः सार्द्धं चापि सधर्मिभिः । अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥ १८३ ॥ गृहकार्यं ततः कुर्याद्भूयः संध्यावधेरिह । ततः सायंतने प्रामे कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८४ ॥ किन्त्वापराह्णके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् । ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥ १८५ ॥ ततश्च शयनं कुर्याद्यथानिद्रं यथोचितम् । निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८६ ॥ तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि । हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥ १८७ ॥ एवं प्रवर्तमानश्च सागारो व्रतवानिह । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥ १८८ ॥ सामायिकव्रत-

है ॥ १८० ॥ फिर भोजन कर थोडी देर तक आराम करनेके लिये सोना चाहिये । फिर प्रातःकाल मुनियोंसे वा गृहस्थाचार्यसे जो धर्म श्रवण किया था उसका मनन करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये और धारण करना चाहिये ॥ १८१ ॥ इसीसमय धर्मात्माओंके साथ बैठ कर धर्मचर्चा करनी चाहिये । यदि अपनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य अधिक हो तो शास्त्रोंका अवलोकन करना चाहिये । भावार्थ—आरामके बाद धर्मचर्चा और स्वाध्याय करना चाहिये ॥ १८२ ॥ तदनन्तर फिर शामतक घरके व्यापार धन्धे करने चाहिये तथा शाम हो जानेपर सामायिक करना चाहिये ॥ १८३ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि शाम हो जानेपर पहले भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये और फिर उस व्रती श्रावकको ऊपर लिखी विधिके अनुसार सामायिक करना चाहिये ॥ १८४ ॥ फिर सोना चाहिये । अपनी नींदके अनुसार तथा जितना उचित समझा जाय उतना सोना चाहिये । फिर आधी रातके समय उठ कर सामायिक करना चाहिये ॥ १८५ ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि आधी रातके समय भगवान अरहन्तदेवकी पूजा नहीं करनी चाहिये क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है । रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई भी नहीं पडते इसलिये रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है ॥ १८६ ॥ इस संसारमें इसप्रकार ऊपर लिखी हुई क्रियाओंको करता हुआ व्रती गृहस्थ स्वर्गादिकके अनुपम सुखोंको भोग कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १८७ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस सामयिकव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो दोषोंके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका

स्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः । दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा ॥ १८९ ॥ तत्सूत्रं यथा —योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । सामायिकादितोऽन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् । मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९० ॥ वाग्योगोपि ततोन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते । वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः

वर्णन सूत्रमें भी किया है । व्रती श्रावकोंको उन अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ १८८ ॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

अर्थ- मनोदुष्प्रणिधान अर्थात मनके द्वारा अशुभ चिंतवन, बचनदुष्प्रणिधान अर्थात् बचनके द्वारा अशुभ प्रवृत्ति, कायदुष्प्रणिधान अर्थात् शरीरके द्वारा अशुभ क्रियाका होना, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पांच सामायिकके अतिचार हैं । आगे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं ।

सामायिक करते समय अपने मनकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्योंमें लगाना—अपने आत्माके स्वरूपके चिंतवनके सिवाय वा पंच परमेष्ठीके स्वरूपके चिंतवनके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका चिंतवन करना मनोदुष्प्रणिधाननामका दोष है जो सामायिकका पहला अतिचार कहलाता है ॥ १८९ ॥ सामायिक करते समय हुं हुं, हूं, हां आदिरूपसे बचनोंकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्यमें लगाना बचनदुष्प्रणिधाननामका दोष है । भावार्थ-उस समय ऊपर लिखे हुए पाठ वा भक्ति तो पढना चाहिये । इसके सिवाय अन्य किसी भी कार्यके लिए हूं, हां आदिरूपसे भी कुछ नहीं कहना चाहिये । उस समय किसी भी कार्यके इशारेके लिये हूं, हां करना सामायिकका दूसरा अतिचार है ॥ १९० ॥ इसीप्रकार सामायिक करते समय अपने शरीरकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य किसी भी कार्यमें लगाना हाथ, उंगली, माथा, आंख, भौंह आदिके इशारेसे किसी भी कार्यका इशारा करना, किसी पदार्थको इशारेसे दिखलाना कायदुष्प्रणिधाननामका अतिचार कहलाता है ॥ १९१ ॥ यह व्रती श्रावक जब कभी आलससे, मोहसे वा प्रमादसे वा अन्य किसी कारणसे बिना उत्साहके सामायिक करता है तब उसके अनादरनामका चौथा अतिचार लगता है ॥ १९२ ॥ जब कभी यह व्रती श्रावक प्रमादी

॥ १९१ ॥ काययोगस्ततोन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने । वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥ १९२ ॥ यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः । अनुत्साहतया कुर्याच्चदाऽनादरदूषणम् ॥ १९३ ॥ अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् । न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥ १९४ ॥ इत्यातं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् । अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥१९५॥ स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् । जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥१९६॥ चतुर्द्वाशनसंन्यासो यावद्यामाश्च षोडश । स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥ १९७ ॥ कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्या प्रोषधव्रतम् । अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथा-

हो कर वर्णरहित (अक्षररहित) पदरहित वा वाक्यरहित सामायिकका पाठ पढता है वा शीघ्रताके साथ पढता है वा पढते पढते भूल जाता है वा कुछ छोड कर आगे पढने लगता है तब उसके स्मृत्यनुपस्थाननामका सामायिकका पांचवां अतिचार होता है ॥ १९३ ॥ इसप्रकार अणुव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकोंके लिये सामायिकनामके शिक्षाव्रतका स्वरूप कहा। यदि इस व्रतको अतिचाररहित पालन किया जाय तो इस जीवके संसारपरिभ्रमणका अवश्य ही नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ १९४ ॥

आगे प्रोषधोपवासव्रतका स्वरूप कहते हैं। जन्म, मरण, बुढापा, रोग आदि संसारसम्बन्धी समस्त दुःखोंको, समस्त रोगोंको नाश करनेके लिये यह प्रोषधोपवासनामका व्रत एक विलक्षण और सबसे उत्तम औषधि है। भावार्थ–प्रोषधोपवासनामका व्रत एक प्रकारका तप है। इस तपके करनेसे जन्म मरण आदि समस्त दोषोंका नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १९५ ॥ सोलह पहर तक चारप्रकारके आहारका त्याग कर देना और जिनालय आदि किसी भी निर्दोष स्थानमें रहना प्रोषधोपवासव्रत कहलाता है। भावार्थ–प्रोषधोपवासके दिन जिनालयमें वा चैत्यालयमें ही रहना चाहिये। उस दिन सबप्रकारके व्यापार और घरसम्बन्धी समस्त कार्य छोड देना चाहिये। केवल धर्मसम्बन्धी कार्य करना चाहिये या धर्मचर्चा दिन बिताना चाहिये ॥ १९६ ॥ यह प्रोषधोपवास नामका व्रत अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वोंके दिनोंमें अवश्य करना चाहिये । भावार्थ–प्रत्येक महीनेमें चार पर्व होते हैं। दो अष्टमी और दो चतुर्दशी। इन चारों पर्वोंके दिनोंमें प्रोषधोपवास व्रत अवश्य करना चाहिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार और और दिनोंमें भी करना चाहिये अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके

शक्त्यपि चान्यदा ॥ १९८ ॥ धारणाहृणि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः । तिष्ठेत्स्थानं समासाद्य नीरागं निरवद्यकम् ॥ १९९ ॥ तत्रैव निवसेद्रात्रौ जागरूको

दिन तो करना ही चाहिये तथा शक्ति हो तो इन दिनोंके सिवाय अन्य दिनोंमें भी करना चाहिये ॥१९७॥ यदि चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना हो तो इस व्रतको त्रयोदशीके दिन ही ग्रहण करना चाहिये। त्रयोदशीके दिन मध्याह्नमें वा दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये तथा भोजन बाद किसी निर्दोष और रागरहित स्थानमें पहुंच कर रहना चाहिये। भावार्थ—प्रोषधोपवासव्रत करनेवालेको पर्वके पहिले दिन और दूसरे दिन एकाशन करना पडता है। जिसे चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना है वह त्रयोदशीको एकाशन करता है, चतुर्दशीको उपवास करता है और पौर्णिमाको फिर एकाशन करता है। इसका कारण यह है कि प्रोषध शब्दका अर्थ एकाशन है। लिखा भी है—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासः यदुपोष्यारम्भमाचरति।

अर्थात्—चारप्रकारके आहारका त्याग कर देना उपवास है और एक बार भोजन करना प्रोषध है। जो उपवास करनेके बाद आरम्भ वा प्रोषध किया जाय उसको प्रोषधोपवास कहते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जो उपवास प्रोषधसे घिरा हो, जिसके पहले पीछे दोनों ओर प्रोषध हो उसको प्रोषधोपवास कहते हैं। इसीलिये यह व्रत एक दिन पहले ग्रहण किया जाता है। एक दिन पहले एकाशन करके सोलह पहरतक आहार त्यागका नियम ले कर किसी ऐसे स्थानमें निवास करना चाहिये जो सबप्रकारके दोषोंसे रहित हो तथा जिसमें राग द्वेष उत्पन्न होनके कोई साधन न हों। ऐसा स्थान या मुनियोंके निवास करने योग्य स्थान होता है या चैत्यालय वा जिनालय होता है। व्रती श्रावकको प्रोषधोपवासके दिन या तो मुनिसंघमें रहना चाहिये अथवा चैत्यालय वा जिनालयमें रहना चाहिये। इनके सिवाय योग्यता और साधन मिलनेपर गुफा आदि एकान्त स्थानमें भी रह सकता है ॥ १९८ ॥ बाकी दिन उसे वहीं बिताना चाहिये, रात्रिमें भी वहीं निवास करना चाहिये। उस रातको अपनी शक्तिके अनुसार जगते रहना चाहिये। प्रातःकाल उठ कर उस व्रती श्रावकको वह समस्त दिन धर्मध्यानसे

यथाबलम् । प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद्व्रती ॥ २०० ॥ जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे । न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ॥ २०१ ॥ यदा सा क्रियते पूजा न दोषोस्ति तदापि वै । न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥ २०२ ॥ एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधीः । कृतक्रियोऽशनं

बिताना चाहिये ॥१९९॥ प्रोषधोपवासके दिन उस व्रती श्रावकको जलपान नहीं करना चाहिये अर्थात् जल नहीं पीना चाहिये। आचार्योंने प्रोषधोपवासके दिन मुनियोंके समान ही जलपानका निषेध किया है । भावार्थ-जिस प्रकार मुनिराज उपवासके दिन जल नहीं पीते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावकको भी प्रोषधोपवासके दिन जल नहीं पीना चाहिये । इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि उस व्रती श्रावकको जलके पीनेका निषेध है, जल चन्दन अक्षत आदि आठों द्रव्योंसे भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनेका निषेध नहीं है क्योंकि भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है । प्रोषधोपवासके दिन उसे अचित्त द्रव्योंसे पूजा करनी चाहिये, क्योंकि उस दिनके लिये वह व्रती श्रावक सचित्त पदार्थोंके स्पर्शमात्रका भी त्याग कर देता है ॥ २०० ॥ प्रोषधोपवासके दिन भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करनेके लिये आचार्योंकी ऐसी आज्ञा है कि व्रती श्रावक यदि प्रोषधोपवासके दिन भगवान अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है। यदि उस दिन वह पूजा न करे तो भी कोई दोष नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि उस दिन वह ध्यान और स्वाध्यायमें ही दिन बिताना चाहे तो वह ऊपर लिखे दोनों कार्योंमें ही अपने दिनको व्यतीत कर सकता है, यदि उसकी रुचि ध्यान और स्वाध्यायमें कम लगती हो तथा पूजामें विशेष लगती हो तो वह अपनी इच्छानुसार पूजा भी कर सकता है । जिसमें अपने परिणाम निर्मल बने रहें वही कार्य उस दिन करना चाहिये ॥ २०१ ॥ उस धर्मात्मा व्रती श्रावकको वहींपर उस दिनकी रात्रि व्यतीत करनी चाहिये तथा पारणाके दिन अर्थात् पौर्णिमाके दिन प्रातःकाल उठ कर पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अपना नित्य कर्तव्य करना चाहिये और दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये ॥ २०२ ॥ धारणाके दिनसे लेकर अर्थात् त्रयोदशीसे लेकर तीन दिनतक त्रयोदशी चतुर्दशी और पौर्णिमा इन तीनों दिन उसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसे व्रती श्रावकके लिये परस्त्रीका

कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥ २०३ ॥ ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम । परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥२०४॥ स्युः प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चो- दिताः स्मृतौ । निरस्यास्ते व्रतस्थैस्तैः सागारैरपि यत्नतः ॥ २०५ ॥ तत्सूत्रं यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । जीवाः सन्ति नवा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् । चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥ २०६ ॥ प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् । उत्सर्गादानसंस्तरविषयं

निषेध वा त्याग तो पहले ही कह चुके हैं। अब यहांपर जो तीन दिनके लिये ब्रह्मचर्यका पालन बतलाया है वह अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके सेवन करनेका त्याग बतलाया है। भावार्थ—धारणाके दिन,उपवासके दिन और पारणाके दिन तीनों दिनतक उसे जिनालय आदि एकान्त स्थानमें रहना चाहिये और इन तीनों दिनतक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥ २०३ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस प्रोषधोपवासके भी श्रावकाचारोंमें पांच अतिचार बतलाये हैं। व्रती श्रावकोंको इन पांचों अतिचारोंका त्याग बडे प्रयत्नसे कर देना चाहिये ॥२०४॥ आचार्य श्रीउमास्वामीने उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

अर्थ--अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग अर्थात् बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना वा कोई वस्तु रखना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान अर्थात् बिना देखे बिना शोधे कोई वस्तु उठाना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण अर्थात् बिना देखे बिना शोधे सांथरा वा सोनेका बिछोना बिछाना, अनादर अर्थात् व्रतको उत्साह-पूर्वक नहीं करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् उस दिन मनको स्थिर न रख कर चंचल रखना ये पांच प्रोषधो-पवासके अतिचार हैं। आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं।

जीव हैं अथवा नहीं हैं इस बातको जाननेके लिये नेत्रोंसे खूब अच्छी तरह देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। प्रत्यवेक्षणका लक्षण सूत्रोंमें यही बतलाया है ॥ २०५ ॥ कोमल वस्त्रोंसे पोंछना झाडना प्रमार्जन कहलाता है। किसी वस्तुको रखना हो, उठाना हो वा बिछोना वा सांथरा बिछाना हो तो उन सबको खूब अच्छीतरह देख कर वा कोमल वस्त्रसे झाड पोंछ कर रखना वा उठाना चाहिये तथा देख शोध कर बिछोना वा सांथरा

चोपबृंहणम् ॥ २०७ ॥ अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् । मुत्रादुत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥ २०८ ॥ यथोत्सर्गस्तथादानं संस्तरोपक्रमस्तथा । तुन्नमानो व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥ २०९ ॥ ज्ञेय. पूर्वोक्तसंदर्भादनुत्साहोप्यनादरः । प्रोषधो पोषिनस्यास्य दोषोती चारसंज्ञकः ॥ २१० ॥ स्यात्स्मृत्यनु-

बिछाना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो । ऐसा करनेमे व्रत निर्दोष पलता है, व्रतकी वृद्धि होती है ॥ २०६ ॥ बिना देखे बिना शोधे मल मूत्र करना वा अन्य कोई पदार्थ रखना प्रोषधोपवासका पहला अतिचार है । भावार्थ--प्रोषधोपवासके दिन यदि मलमूत्र करना हो तो उस स्थानको खूब अच्छीतरह देख शोध कर मलमूत्र करना चाहिये । उस स्थानको बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना पहला अतिचार है । इसीप्रकार पूजाके बर्तन पुस्तक चौकी आदि धर्मके उपकरण रखना हो तो रखनेके स्थानको तथा उन उपकरणोंको खूब देख शोध कर रखना चाहिये, बिना देखे शोधे रखना अतिचार है ॥ २०७ ॥ जिसप्रकार बिना देखे बिना शोधे किसी पदार्थको रखना पहला अतिचार है उसीप्रकार बिना देखे और बिना शोधे झाडे किसी भी पुस्तक आदि धर्मोप-करणको उठा लेना अप्रत्यवक्षित-अप्रमार्जित-आदाननामका प्रोषधोपवासव्रतका तीसरा अतिचार कहलाता है तथा बिना देखे बिना शोधे सांथरा बिछाना वा सोनेकेलिये चटाई आदि बिछाना इस प्रोषधोपवासव्रतका अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण नामका तीसरा अतिचार है ॥ २०८ ॥ अनादरका लक्षण जो पहले कह चुके हैं वही ग्रहण करना चाहिये अर्थात् इस प्रोषधोपवास व्रतको उत्साहपूर्वक न करना, बिना उत्साहके, बिना मनके करना प्रोषधोपवासका अनादरनामका चौथा अतिचार वा दोष कहलाता है ॥ २०९ ॥ प्रोषधोपवासके दिन मनको स्थिर न रखना, चंचल वा डवांडोल रखना स्मृत्यनुपस्थाननामका पांचवां अतिचार कहलाता है । इस अतिचारका यह लक्षण उपलक्षणरूपसे कहा है । मनके समान बचन और शरीरको भी चंचल रखना प्रोषधोपवासका अतिचार सम-झना चाहिये । इसप्रकार प्रोषधोपवासके पांचों अतिचारोंका वर्णन किया । प्रोषधोपवासव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकको इन पांचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ २१० ॥ इसप्रकार प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण बतलाया ।

पस्थानं दूषणं प्रोषधस्य तत् । अनेकाग्रयं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥ २११ ॥ प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया । इतः संख्योपभोग्यस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥ २१२ ॥ निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः । तयोः सख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥ २१३ ॥ सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः ।

अब आगे भोगोपभोगपरिमाणका लक्षण कहते हैं ॥ २११ ॥ उपभोग और परिभोग दोनोंका लक्षण पहले इसी अध्यायमें कह चुके हैं। व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको उपभोग और परिभोग दोनोंप्रकारके पदार्थों की संख्या नियत कर लेनी चाहिये। भावार्थ--भोजन, पान, तांबूल, फूलमाला, चन्दन आदि जो पदार्थ एक बार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं तथा सवारी, वस्त्र, बिछाना, अलंकार, मकान, खेत आदि परिभोग कहलाते हैं, इन पदार्थोंको मैं इतने दिन सेवन करूंगा आगेके लिये सर्वथा त्याग कर दूंगा अथवा वर्ष, दो वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर नियम कर लेना चाहिये कि मैं इतने दिनतक इन पदार्थोंका त्याग करता हूं अथवा आज मैं इतने पदार्थ, इतने रस काममें लाऊंगा बाकी सबका त्याग है। इसप्रकारके नियम करनेको उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत कहते हैं ॥ २१२ ॥

इस उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके भी पांच अतिचार हैं जो सूत्रमें भी बतलाये हैं। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् श्रावकोंको बडे प्रयत्नसे इन अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥२१३॥ उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।

अर्थ—सचित्त पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका सेवन करना, रसीले पौष्टिक आहारका सेवन करना और दुष्पक्व अर्थात् जो अच्छीतरह नहीं पका है अथवा जो आवश्यकतासे अधिक पक गया है ऐसे पदार्थोंका सेवन करना ये पांच उपभोगपरिभोगपरिमाणके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं।

उपभोगपरिभोगपदार्थोंका परिमाण करनेकी इच्छा करनेवाला अर्थात् उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतको

परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥२१४॥ तत्सूत्रं यथा–सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः। चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति। दोषः सचित्तसंज्ञोस्य भवेत्सख्याव्रतस्य सः ॥ २१५ ॥ तथाविधोपि यः कश्चिच्चेतनाविष्ठितं च यत्। वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥ २१६ ॥ मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना। स्वीकुर्वाणोप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥२१७॥ आहारं स्निग्धमाहिश्च ? दुर्जरं जठराग्निना। असंख्यातवतस्तस्य दोषो दुष्पक्व-

धारण करनेवाला श्रावक यदि सचित्त पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका सचित्त नामका अतिचार होता है। भावार्थ–चित्त शब्दका अर्थ चेतना है। जिसमें चेतना हो उसको सचित्त कहते हैं। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोंको सचित्त पदार्थोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए तभी यह व्रत निर्दोष पल सकता है। सचित्त पदार्थका त्याग न करना व्रती श्रावकके लिए उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका पहला अतिचार कहलाता है ॥ २१४ ॥ जो पदार्थ अचित्त हैं परंतु उनका संबंध सचित्त पदार्थोंसे हो तो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोंको ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि व्रती श्रावक ऐसे पदार्थोंका त्याग न करें तो उनको सचित्तसंबंधनामका दूसरा अतिचार लगता है ॥ २१५ ॥ यदि उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाला व्रती श्रावक सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका त्याग न करे, सचित्तसे मिले हुए अचित्त पदार्थोंका सेवन करे तो उसके सचित्तसन्मिश्रनामका तीसरा अतिचार वा दोष लगता है। ॥ २१६ ॥ जो पदार्थ चिकने और रसीले हैं तथा जो पेटकी अग्निसे पच नहीं सकते ऐसे पदार्थोंका त्याग न करना अभिषवनामका अतिचार है। भावार्थ–अभिषव शब्दका अर्थ रसीले और पौष्टिक पदार्थ हैं जैसे घी, रबडी आदि। ऐसे पदार्थ बडी कठिनतासे पचते हैं, व्रती श्रावकको ऐसे पदार्थोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेसे विकार उत्पन्न होता है अतएव ऐसे पदार्थोंका सेवन करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका चौथा अतिचार कहलाता है ॥ २१७ ॥ जो पदार्थ अग्निके द्वारा अच्छी तरह पका नहीं है जैसे कच्ची रोटी, बिना गली हुई दाल वा भात अथवा जो पदार्थ आवश्यकतासे अधिक पक गया है जैसे जली रोटी, जला हुआ शाक आदि, ऐसे पदार्थोंको दुष्पक्व कहते है। ऐसे पदार्थोंके सेवन

संज्ञकः ॥ २१८ ॥ उक्तातिचारनिर्युक्तं परिभोगोपभोगयोः । संख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥ २१९ ॥ अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् । सर्वे-व्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥ २२० ॥ ईषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् । दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥ २२१ ॥ तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं

करनेसे लोलुपता अधिक प्रतीत होती है तथा अधपके कच्चे पदार्थ पचते भी नहीं हैं, कठिनतासे पचते हैं अतएव उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवालोंको ऐसे दुष्पक्व पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि इस व्रतको पालन करनेवाला ऐसे पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके दुष्पक्वनामका पांचवां अतिचार लगता है। इसप्रकार इस व्रतके पांचों अतिचारोंका निरूपण किया। व्रती श्रावकोंको अपना व्रत शुद्ध और निर्दोष रखनेके लिए इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए ॥ २१८ ॥ इसप्रकार अतिचार रहित पालन किया हुआ यह उपभोगपरिभोगपरिमाणनामका व्रत गृहस्थोंके लिए अवश्य ही कल्याणकारी होता है। भावार्थ—जो गृहस्थ इसका पालन करते हैं उनकी आत्माका कल्याण अवश्य होता है। वे स्वर्गादिकके सुख भोग कर अवश्य ही मुक्त होते हैं* ॥ २१९ ॥

व्रत पालन करनेवालोंके लिए अतिथिसंविभागव्रतनामका भी एक उत्तम व्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंके मस्तकका रत्न है तथा इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला है ॥ २२० ॥ जिस महात्माके लिए, जिस देनेयोग्य सुपात्रके लिए दान देनेकी इच्छा हो ऐसे श्रावकको दोपहरके कुछ समय पहले द्वारावलोकन करना चाहिए। भावार्थ—मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका आदि जिस किसी भी पात्रको देनेकी इच्छा हो तो दान देनेवालेको दोपहरसे पहले द्वारपर खडे होकर पात्रकी प्रतीक्षा करनी चाहिए क्योंकि दोपहरका समय सामायिकका समय है और मुनिराज प्रायः आहार ग्रहण करनेके बाद सामायिक करते हैं। इसका भी कारण यह है कि गृहस्थोंके भोजनका यही समय है ॥ २२१ ॥ जिनको आहार देना चाहिए ऐसे पात्रोंके तीन भेद हैं। पहले उत्तमपात्र, दूसरे मध्यमपात्र और तीसरे जघन्यपात्र ॥ २२२ ॥ सो ही लिखा है। मुनियोंको

* मूलप्रतिमें एक श्लोक कम है। ऐसा मालूम होता है कि एक श्लोकके पहले दो चरण हैं और दूसरे श्लोकके अंतिम दो चरण हैं।

तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् । द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥ २२२ ॥ उक्तं च—उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं, मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् । निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि । एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि । प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥ २२३ ॥ पात्रालाभे यथाचित्ते पश्चात्तापपरो भवेत् । अधमे विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥ २२४ ॥ कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् । केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥ २२५ ॥ अस्ति सूत्रोदित शुद्धं तत्रातीचारपंचकम् । अतिथिसंविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥ २२६ ॥ तत्सूत्रं यथा—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमा-

उत्तम पात्र कहते हैं. अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं, व्रतरहित सम्यग्दृष्टी श्रावक जघन्यपात्र हैं । सम्यग्दर्शनसे रहित और व्रतोंको पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टी कुपात्र हैं और जो सम्यग्दर्शनसे भी रहित हैं तथा व्रतोंसे भी रहित हैं ऐसे मनुष्योंको अपात्र कहते हैं ॥ १ ॥ उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनों पात्रोंमेंसे जो कोई मिल जाय उसीको विधिपूर्वक दान देना चाहिये । दानमें जो आहार दिया जाय वह प्रासुक होना चाहिये और शुद्ध होना चाहिये तथा विनयपूर्वक देना चाहिये ॥ २२३ ॥ यदि दैवयोगसे किसी पात्रका लाभ न हो तो अपने हृदयमें पश्चात्ताप करना चाहिये और इस अधम समयमें मेरा जन्म व्यर्थ जा रहा है इसप्रकार उसे बार बार चिंतवन करना चाहिये ॥ २२४ ॥ कुपात्र और अपात्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार दान देना चाहिये परन्तु इसमें इतना विशेष है कि कुपात्र अपात्रोंको दिया हुआ दान केवल करुणादान कहलाता है तथा करुणाबुद्धिसे ही देना चाहिये । उनको पात्र समझ कर वा पात्रबुद्धिसे दान कभी नहीं देना चाहिये ॥ २२५ ॥

अन्य व्रतोंके समान इस व्रतके भी सूत्रमें कहे हुए पांच अतिचार हैं अतएव इस अतिथिसंविभागव्रतकी रक्षा करनेके लिये, इस व्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये उन पांचों अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २२६ ॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है--

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।

अर्थ—आहारदान देते हुए सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए पदार्थको दानमें देना, सचित्त वस्तुसे ढके हुए

रसर्यकालातिक्रमाः। सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः। दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः॥ २२७॥ अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि। स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः॥ २२८॥ आस्माकीनं सुसिद्धान्नं त्वं प्रयच्छेति योजनम्। दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः॥ २२९॥ प्रयच्छन्नन्नमन्नादि गर्वमुद्वहते यदि। दूषणं लभते सोपि महामात्सर्यसंज्ञकम्॥ २३०॥ ईषन्न्यूनाच्च मध्याह्नाद्दानकालादधोथवा। ऊर्द्ध्वं तद्भावनाहेतोर्दोषः कालव्यतिक्रमः

पदार्थको दान देना, दान देनेकेलिये दूसरेको आज्ञा देना, मात्सर्य वा ईर्षा करना और समयको टाल कर आहारका समय बीत जानेपर द्वारावलोकन करना ये पांच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका वर्णन करते हैं।

हरे कमलके पत्तेपर वा केलेके पत्तेपर रक्खे हुए पदार्थको आहारदानमें देना सचित्तनिक्षेपनामका अतिचार है। जिसमें चेतनाके अंश हों उसको सचित्त कहते हैं, ऐसे सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए दाल भात आदि पदार्थोंका दान देना सचित्तनिक्षेपनामका पहला अतिचार है॥ २२७॥ अपिधान शब्दका अर्थ ढकना है। जो दालभात रोटी आदि पदार्थ हरे कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए हैं ऐसे पदार्थोंका दान देना व्रती श्रावकके लिए सचित्तापिधाननामका दूसरा अतिचार लगता है॥२२८॥ "यह हमारा बना बनाया तैयार भोजन है इसको तुम दान दे देना" इसप्रकार दान देनेके लिये दूसरेको कहना व्रती श्रावककेलिये परव्यपदेशनामका तीसरा अतिचार है॥ २२९॥ यदि कोई दान देनेवाला दाता दानमें किसी निर्दोष अन्नको देवे परन्तु उसको देते हुए वह यदि अभिमान करे और यह समझे कि निर्दोष अन्न मैंने ही दिया है इसप्रकारका समझना वा अभिमान करना महामात्सर्यनामका अतिचार कहलाता है॥ २३०॥ दान देनेका समय दोपहरके समयसे कुछ पहलेका समय है, उस आहारदान देनेके समयसे पहले अथवा उसके बाद यदि आहारदानकी भावना करनेके लिये द्वारावलोकन करे तो उसके कालातिक्रमनामका पांचवां अतिचार होता है। भावार्थ—आहारदान देनेके लिये नियत समयपर पडगाहन करनेके लिये द्वारपर खडा होना चाहिये। नियत समयसे पहले खडे होना अथवा समय बीत जानेपर खडे होना अतिचार है जो कालातिक्रम अतिचार कहलाता है॥ २३१॥ जो व्रती श्रावक समयानुसार प्राप्त

॥ २३१ ॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् । अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥ २३२ ॥ यथात्मज्ञानमाख्यातं संख्याव्रतचतुष्टयम् । अस्ति सल्लेखना कार्या तद्व्रतो मारणान्तकी ॥ २३३ ॥ सोस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि रोगोऽसाध्यतरेऽपि च ॥२३४॥ क्रमेणाराधनाशास्त्र-

हुए उत्तम मध्यम जघन्यपात्रोंको ऊपर लिखे पांचों अतिचारोंसे रहित दान देता है और इसप्रकार इस अतिथिसंविभाग वृतको निर्दोष पालन करता है उसको स्वर्ग मोक्षके अनुपम सुखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ।२३२। इसप्रकार अपने ज्ञानके अनुसार चारों संख्यावृतोंका अथवा शिक्षावृतोंका निरूपण किया। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन वृतोंसे मुनिराजके चारित्रकी शिक्षा मिलती है। जिसप्रकार मुनिराज सामायिक करते हैं उसीप्रकार गृहस्थको करना पडता है, जिसप्रकार मुनिराज अनेक उपवास करते हैं उसीप्रकार वृती श्रावक प्रोषधोपवास करता है, जिसप्रकार मुनिराज इंद्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग करते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावक भी उन विषयोंका परिमाण नियत कर लेता है तथा जिसप्रकार मुनिराज ज्ञानदान देकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं उसीप्रकार व्रती श्रावक भी चारोंप्रकारके दान देकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं। इसप्रकार इन चारों वृतोंसे मुनिधर्म की शिक्षा मिलती है इसलिये इनको शिक्षाव्रत कहते हैं तथा इन चारों व्रतोंमें पापोंका त्याग किया जाता है तथा नियतकालतक त्याग किया जाता है वा परिमाण किया जाता है इसलिये इन व्रतोंको संख्याव्रत कहते हैं। यहांपर संख्या शब्दका अर्थ नियत की हुई संख्या अथवा परिमाण है इसीलिये इसको संख्यावृत कहते हैं।

अब आगे सलेखनावृतको कहते हैं। वृती श्रावकको गरण समयमें होनेवाली सलेखना भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २३३ ॥ जब अपनी आयु अत्यन्त जीर्ण हो जाय अर्थात् सबसे अधिक बुढापा आ जाय अथवा दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय (जलमें डूब जाय अथवा अग्निमें जल मरनेका समय आ जाय) अथवा कोई प्रबल और असाध्य रोग हो जाय तो वही समय सलेखनाका समय समझना चाहिये। भावार्थ--असाध्य रोग हो जानेसे अथवा कोई घोर उपसर्ग आ जानेसे वा अत्यन्त बुढापा आ जानेसे यदि अपनी आयुके पूर्ण

द्वादशव्रतमध्येपि विद्यते प्रोषधं व्रतम्। तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षितः ॥ १३ ॥ अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम्। कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥ १४ ॥ पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह। तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥ १५ ॥ इतःपूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत्। इतः परं स नाश्नुयात्सचित्त तज्जलाद्यपि ॥ १६ ॥ भक्ष्येऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने। तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥ १७ ॥ रात्रिभक्तपरि-

प्रोषधोपवासव्रतमें उससे कुछ विशेषता है और वह विशेषता यही है कि बारह व्रतोंका पालन करनेवाला व्रतप्रतिमावाला श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करता है तथा कभी किसी स्थानपर कारण मिलनेपर नहीं भी करता है तो भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती किन्तु चौथी प्रतिमावालेको प्रत्येक पर्वके दिन प्रोषधोपवास अवश्य करना पडता है. यदि चौथी प्रतिमावाला किसी भी स्थानपर किसी भी कारणसे किसी भी समय प्रोषधोपवास न करे तो फिर उसके व्रतकी अर्थात् चौथी प्रतिमाकी हानि हो जाती है। यही व्रतप्रतिमा और चौथी प्रतिमाके प्रोषधोपवासमें अन्तर है इसलिये ऊपर कहा गया है कि व्रत प्रतिमावाला अतिचार सहित पालन करता है और चौथी प्रतिमावाला अतिचार रहित पालन करता है ॥ १३ ॥ यह प्रोषधोपवासव्रत कर्मरूपी करोडों वनोंको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, जिसप्रकार दावानल अग्नि करोडों वनोंको भस्म कर देती है उसीप्रकार इस प्रोषधोपवासव्रतके पालन करनेसे करोडों जन्मके अनन्तानन्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अतएव व्रती श्रावकोंको इस चौथी प्रतिमाका पालन अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

गृहस्थ व्रतियोंकी पांचवी प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है। यह प्रतिमा केवल खाने योग्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती है ॥ १५ ॥ इस पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक इससे पहले अर्थात् चौथी प्रतिमातक कभी कभी सचित्त पदार्थोंका भी भक्षण कर लेता था परन्तु अब इस प्रतिमाको स्वीकार करनेके बाद वह कभी भी सचित्त पदार्थका भक्षण नहीं करता है। यहांतक कि कच्चा जल भी कभी काममें नहीं लाता है ॥ १६ ॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके सचित्त पदार्थोंके खानेका त्याग होता है सचित्त पदार्थोंके स्पर्श करनेका त्याग नहीं होता। पांचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक

त्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा। विख्याता संख्यया षष्ठी सम्यक्श्रावकोचिता ॥ १८ ॥ इतःपूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निशि। इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोपि तत् ॥ १९ ॥ यद्वा विद्यते नात्र गन्धमाल्यादिलेपनम्। नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यङ्गादि कर्मतत् ॥ २० ॥ किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा। दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥ २१ ॥ अस्ति तस्यापि जन्मार्द्धं ब्रह्मचर्याधिवासितम्। तदर्द्धंसर्वसन्याससनाथं फलवन्महत् ॥ २२ ॥ नहि कालकले-

जलादिक सचित्त पदार्थोंको अपने हाथसे प्रासुक करके भक्षण करता है। भावार्थ—सचित्तत्यागप्रतिमावाला जल भरता है, छानता है, उसे गरम करता है। इसप्रकार उसे अचित्त वा प्रासुक बना लेता है। वह केवल सचित्त पदार्थोंको भक्षण नहीं करता किन्तु सचित्त अचित्त बना कर भोजन करता है ॥ १७ ॥ इसप्रकार पांचवीं प्रतिमाका निरूपण किया।

अब आगे छठी प्रतिमाका वर्णन करते हैं। गृहस्थ वृतियोंको पालन करनेयोग्य छठी प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा है ॥ १८ ॥ इस प्रतिमाको स्वीकार करनेसे पहले अर्थात् पांचवीं प्रतिमातक पालन करनेवाला श्रावक कदाचित् रात्रिमें पानी आदि पीता था परन्तु अब इस छठी प्रतिमाको स्वीकार कर लेनेपर वह श्रावक रात्रिमें पानी पीनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥ १९ ॥ इस छठी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक रात्रिमें गन्ध, पुष्पमाल आदिका सेवन नहीं कर सकता, न कोई लेप लगा सकता है तथा अपने किसी रोगको शान्त करनेके लिये रात्रिमें तेल लगाना वा उबटन लगाना आदि कार्य भी नहीं कर सकता ॥ २० ॥ इस छठी प्रतिमाको पालन करनेवाला वृती श्रावक जिसप्रकार रात्रिमें भोजनका सर्वथा त्याग कर देता है उसीप्रकार वह दिनमें स्त्रीसेवन करनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है। भावार्थ—छठी प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके लिये दिनमें स्त्रीसेवन करनेका त्याग और रात्रिमें भोजन करनेका सर्वथा त्याग कर देना अत्यावश्यक है। इन दोनों क्रियाओंको जब पालन करता है तभी उसके छठी प्रतिमा होती है अन्यथा नहीं ॥ २१ ॥ इसप्रकार जो श्रावक इस छठी प्रतिमाका पालन करता है उसका आधा जन्म तो ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है तथा आधा जन्म सब-प्रकारके आहारके त्याग पूर्वक व्यतीत होता है अतएव संसारमें वही जन्म सफल और महत्वशाली गिना जाता

तव्या वेश्मशालिभिः ॥२॥ व्रतानां द्वादश चात्र प्रतिपाल्यं यथोदितम्। विशेषादपि कर्तव्यं सम्यक् सामायिकव्रतम् ॥ ३ ॥ ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम्। तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमाया तु किं पुनः ॥ ४ ॥ सत्यं किन्तु विशेषोस्ति प्रसिद्धः परमागमे। सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारविवर्जितम् ॥ ५ ॥ किंच तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम्। अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत्। तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित्। सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥ अत्रावश्यं त्रिकालेपि कार्यं सामायिकं जगत्। अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥ अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः। व्रतान्येव

इस तीसरी प्रतिमामें ऊपर कहे हुए बारह वृतोंका तो पालन करना ही चाहिए किंतु इतना और विशेष है कि इसमें सामयिकनामका वृत बहुत अच्छीतरहसे विधिपूर्वक करना चाहिए ॥ ३ ॥

यहांपर शंकाकार शंका करता है कि यह सामायिकनामका वृत वृतप्रतिमामें कहा है तथा वही सामायिकनामका वृत इस तीसरी प्रतिमामें बतलाया सो इसमें क्या विशेषता है ॥ ४ ॥ कविराज उत्तर देते हुए कहते हैं कि ठीक है जो सामयिक वृतप्रतिमामें है वही सामयिक तीसरी प्रतिमामें है परंतु उन दोनोंमें जो विशेषता है वह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है और वह विशेषता यह है कि वृतप्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा इस तीसरी प्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥ ५ ॥ इसके सिवाय भी इसमें इतनी और विशेषता है कि वृतप्रतिमामें श्रावकोंको तीनों समय सामायिक करनेका नियम नहीं है किंतु इस तीसरी सामयिकप्रतिमामें मुनियोंके मूलगुणोंके समान तीनों समय सामयिक करनेका नियम है ॥ ६ ॥ दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाला वृती श्रावक सामयिक करता है और कभी किसी स्थानपर कारणवश नहीं भी करता है क्योंकि वहांपर वह सामयिकवृतको अतिचारसहित पालन करता है। इसीलिए कभी किसी स्थानपर कारणवश सामायिक न करनेपर भी उसके वृतकी हानि नहीं होती ॥ ७ ॥ परंतु इस तीसरी सामयिकप्रतिमामें यह बात नहीं है। सामायिकप्रतिमाको धारण करनेवाले वृती श्रावकको तीनों समय अवश्य सामयिक करना पड़ता है। यदि वह तीनों समयमेंसे एक समयमें भी सामयिक न करें तो उसके व्रतोंकी हानि हो जाती है फिर भला अतिचारोंकी तो बात ही क्या है ॥ ८ ॥ जो यह

विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥ शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकारजो मणिः । संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥ स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा । कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥ ११॥ अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥१२॥

नियम तथा दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंके व्रतोंसे विशेषता इस सामायिकमें बतलाई है वही विशेषता ग्यारह प्रतिमातक सब प्रतिमाओंमें समझ लेना चाहिये क्योंकि आगेकी प्रतिमाओंमें बारह वृत ही विशेषताके साथ पालन किए जाते हैं। उन आगेकी प्रतिमाओंमें उन्हीं व्रतोंकी विशेष विधिके सिवाय और कुछ नहीं है। भावार्थ—वृतप्रतिमामें पांच अणुव्रत तो अतिचाररहित पालन किये जाते हैं और गुणवृत तथा शिक्षावृत अतिचारसहित पालन किए जाते हैं। इससे आगे जितनी प्रतिमाएं बढती जाती हैं उनमें प्राय इन्हीं सब वृतोंके अतिचार छूटते जाते हैं वा अन्य किसी विशेष विधिके साथ उन वृतोंको निर्दोष रीतिसे पालन किया है। ॥ ९ ॥ जिसप्रकार खानिमेंसे निकला हुआ मणि स्वभावसे ही शोभायमान होता है परंतु यदि उसको शानपर रख कर उसका विशेष संस्कार कर दिया जाय, उसके पहल आदि कर दिये जायं तो वह और अधिक शोभायमान होने लगता है उसीप्रकार वृत पालन करना स्वभावसे ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है परंतु वे ही वृत यदि अतिचाररहित पालन किए जायं तथा विशेष विधिके साथ पालन किए जायं तो कर्मोंकी विशेष निर्जराके कारण होते हैं ॥ १० ॥

चौथी प्रतिमाका नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है। यह प्रतिमा सबमें शुभ है, कर्मोंकी निर्जराका कारण और संवरका भी कारण है अतएव वृती श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ ११ ॥ वृतप्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत कहा है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत बतलाया है। इसका समाधान वही है जो ऊपर बतलाया है अर्थात् व्रतप्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवासव्रत अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥ १२ ॥ जो प्रोषधोपवासव्रत बारह वृतोंमें वा वृतप्रतिमामें बतलाया है वही प्रोषधोपवासवृत यहांपर चौथी प्रतिमामें बतलाया है, यहांपर चौथी प्रतिमामें होनेवाले

काऽपि केनावहूतस्य बन्धुनाथसधर्मिणा । तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥ ३५ ॥ किञ्चायं सद्मस्वामित्वे वर्तते व्रतवानपि । अर्वागादशमस्थानान्नापरान्नपरायणः ॥ ३६ ॥ प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना । कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥ ३७ ॥ बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने । यत्रा-

प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये कुछ भोजन नहीं बनवाता क्योंकि वह जिसप्रकार आरम्भ करनेका त्यागी है उसीप्रकार वह आरम्भ करानेका भी त्यागी है अतएव जिस किसी कुटुम्बीके आश्रय वह रहता है उसके यहां जो कुछ भोजन बन जाता है वही प्रासुक भोजन वह खा लेता है ॥ ३४ ॥ कभी कभी यदि कोई अन्य कुटम्बी अथवा बाहरका कोई अन्य साधर्मी पुरुष भोजनके लिये बुला लेवे तो उसके घर भी भोजन कर लेता है । इसप्रकार भोजन करनेमें न तो उसके व्रतमें कोई दोष आता है और न कोई गुण बढता है ॥३५॥ इस आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी दशवीं प्रतिमासे पहले पहले अपने घरका स्वामी बना रहता है इसीलिये वह दूसरेके घर भोजन करनेका नियम नहीं लेता । भावार्थ—आठवीं प्रतिमावाला श्रावक प्रायः घर ही भोजन करता है । यदि किसी बाहरवाले साधर्मीने बुला लिया तो उसके यहां भोजन कर आता है परन्तु उसके बाहर ही भोजन करनेका नियम नहीं रहता और न रहना चाहिये क्योंकि वह अभीतक अपने घरका स्वामी गिना जाता है अतएव वह प्रायः अपने ही घर भोजन करता है ॥ ३६ ॥ वह अपने वस्त्रोंको प्रासुक जलसे अपने हाथसे धोता है अथवा अन्य किसी साधर्मी भाईसे धुलवा लेता है ॥ ३७ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये अथवा किसी दूसरेके लिये ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करता जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो । भावार्थ—आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सबप्रकारके आरम्भोंका त्याग कर देता है, वह ऐसी कोई क्रिया नहीं करता जिसमें रंचमात्र भी आरम्भ करना पडे ॥ ३७ ॥ इसप्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा ।

वृती श्रावककी नौवीं प्रतिमाका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है । इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी रुपया पैसा आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ॥ ३९ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको

विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥ शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकारजो मणिः । संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥ स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा । कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥ ११॥ अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥१२॥

नियम तथा दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंके व्रतोंसे विशेषता इस सामायिकमें बतलाई है वही विशेषता ग्यारह प्रतिमातक सब प्रतिमाओंमें समझ लेना चाहिये क्योंकि आगेकी प्रतिमाओंमें बारह व्रत ही विशेषताके साथ पालन किए जाते हैं । उन आगेकी प्रतिमाओंमें उन्हीं व्रतोंकी विशेष विधिके सिवाय और कुछ नहीं है । भावार्थ—व्रतप्रतिमामें पांच अणुव्रत तो अतिचाररहित पालन किये जाते हैं और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत अतिचारसहित पालन किए जाते हैं । इससे आगे जितनी प्रतिमाएं बढती जाती हैं उनमें प्राय इन्हीं सब व्रतोंके अतिचार छूटते जाते हैं वा अन्य किसी विशेष विधिके साथ उन व्रतोंको निर्दोष रीतिसे पालन किया है । ॥ ९ ॥ जिसप्रकार खानिमेंसे निकला हुआ मणि स्वभावसे ही शोभायमान होता है परंतु यदि उसको शानपर रख कर उसका विशेष संस्कार कर दिया जाय, उसके पहल आदि कर दिये जायं तो वह और अधिक शोभायमान होने लगता है उसीप्रकार व्रत पालन करना स्वभावसे ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है परंतु वे ही व्रत यदि अतिचाररहित पालन किए जायं तथा विशेष विधिके साथ पालन किए जायं तो कर्मोंकी विशेष निर्जराके कारण होते हैं ॥ १० ॥

चौथी प्रतिमाका नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है । यह प्रतिमा सबमें शुभ है, कर्मोंकी निर्जराका कारण और संवरका भी कारण है अतएव व्रती श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिए ॥ ११ ॥ व्रतप्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत कहा है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवासव्रत बतलाया है । इसका समाधान वही है जो ऊपर बतलाया है अर्थात् व्रतप्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवासव्रत अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥ १२ ॥ जो प्रोषधोपवासव्रत बारह व्रतोंमें वा व्रतप्रतिमामें बतलाया है वही प्रोषधोपवासव्रत यहांपर चौथी प्रतिमामें बतलाया है, यहांपर चौथी प्रतिमामें होनेवाले

कापि काचित्तस्यास्ति निष्फला । मन्ये साधुः स एवास्ति कृती सोपीह बुद्धिमान् ॥ २३ ॥ सप्तमी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः । यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः ॥२४॥ कायेन मनसा वाचा त्रिकालं वनितारतम् । कृतानुमननं चापि कारितं तत्र वर्जयेत् ॥२५॥ अस्ति हेतुवशादेष गृहस्थो मुनिरर्थतः । ब्रह्मचर्यव्रतं यस्माद् दुर्धरं व्रतसन्ततौ ॥ २६ ॥ हेतुस्तत्रास्ति विख्यातः प्रत्याख्यानावृतेर्यथा । विपाकात्कर्मणः सोपि नेतुं नार्हति तत्पदम् ॥ २७ ॥ उदयात्कर्मणो नान्यं

है । भावार्थ—दिनमें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे आधा जन्म ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है और रात्रिमें सबप्रकारके आहारका त्याग होनेसे आधा जन्म पूर्ण संन्यासके साथ अथवा पूर्ण त्यागके साथ व्यतीत होता है ॥ २२ ॥ इसप्रकार उसका दिन और रात्रि दोनों ही त्यागपूर्वक व्यतीत होते हैं इसप्रकार उसका एक समय भी निष्फल व्यतीत नहीं होता इसलिये संसारमें वही साधु है, वही कृती है और वही बुद्धिमान गिना जाता है ॥ २३ ॥ इसप्रकार छठी प्रतिमाका वर्णन किया ।

सातवीं प्रतिमाका नाम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है । इस प्रतिमामें अपनी विवाहिता धर्मपत्नीका भी सर्वथा त्याग कर देना पडता है और अपना हृदय सर्वथा निःशल्य बना लेना पडता है । भावार्थ—जिसका हृदय सर्वथा शल्योंसे रहित है और जो स्त्रीमात्रका सर्वथा त्याग कर देता है उसीके यह अनुपम सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा होती है ॥ २४ ॥ इस ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मनसे बचनसे कायसे और कृत कारित अनुमोदनामें भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालसम्बन्धी समस्त स्त्रीमात्र सेवन करनेका त्याग कर देता है ॥ २५ ॥ इस सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी कारणविशेषसे गृहस्थ वा श्रावक कहलाता है वास्तवमें देखा जाय तो एकप्रकारसे मुनिके ही समान है क्योंकि समस्त व्रतोंके समुदायमें यह ब्रह्मचर्यव्रत सबसे अधिक कठिन है, इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये जिसने इस व्रतको पालन कर लिया उसे मुनिके ही समान समझना चाहिये ॥ २६ ॥ ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मुनिपदको धारण नहीं कर सकता इसका प्रसिद्ध कारण प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय ही समझना चाहिए । भावार्थ—प्रत्याख्यानावरणकर्मके उपशम क्षय वा क्षयोपशम हुए बिना मुनिपद धारण नहीं हो सकता । जिसने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ली है

कर्तुनालमयं जनः । क्षुत्पिपासादि दुःखं च सोढुं न क्षमते यतः ॥ २८ ॥ ततोऽशक्यः गृहत्यागः सद्मन्येवात्र तिष्ठते । वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढः स शुद्धधीः ॥ २९ ॥ इतः प्रभृति सर्वेपि यावदेकादशस्थितिः । इयद्वस्त्रावृताश्चापि विज्ञेया मुनिसन्निभाः ॥ ३० ॥ अष्टमी प्रतिमा साथ प्रोवाच वदतां वरः । सर्वतो देशत-

उसकी इच्छा तो मुनिपद धारण करनेकी होती है परंतु उसके जो प्रत्याख्यानावरण कषायका तीव्र उदय है वह उसे मुनिपद धारण नहीं करने देता। उसी प्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयसे वह ब्रह्मचारी श्रावक नग्न अवस्था धारण नहीं कर सकता और न भूख, प्यास आदि परिषहोंको सहन कर सकता है ॥ २७-२८ ॥ इसीलिए वह घरके त्याग करनेमें असमर्थ होता है, गृहस्थ अवस्थाका त्याग नहीं कर सकता। अत्यन्त शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी श्रावक अवस्थामें ही रहकर सबसे उत्कृष्ट वैराग्यको धारण करता है ॥ २९ ॥ इस सातवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमातकके समस्त श्रावक अपने नियत किए हुए वस्त्र रखते हैं। अपने नियत किए हुए वस्त्रोंके साथ साथ वे मुनियोंके ही समान माने जाते हैं। भावार्थ-जिसप्रकार मुनिराज इस संसारसे अपना संबंध छोड देते हैं उसीप्रकार सातवीं प्रतिमासे ले कर ग्यारहवीं प्रतिमातकके श्रावक संसारसे अपना कोई संबंध नहीं रखते। फिर उनका संबंध सबसे धार्मिक संबंध रहता है। इसीलिए वे मुनियोंके समान समझे जाते हैं ॥ ३० ॥ इसप्रकार सातवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा।

अब आगे वक्ताओंमें श्रेष्ठ कविराज आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जिसमें आरंभका सर्वथा भी त्याग है और एकदेश भी त्याग है। भावार्थ-इस आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक खेती व्यापार आदि आरंभोंका त्याग कर देता है परंतु वह भी मन बचन काय और कृत कारितसे त्याग करता है। अनुमो-देनेसे त्याग नहीं करता क्योंकि अनुमोदना वा अनुमति देनेका त्याग वह दशवीं प्रतिमामें जाकर करता है, इसके सिवाय वह ऐसे आरंभोंका तो सर्वथा त्याग कर देता है जिनमें हिंसाका होना अनिवार्य है रुक नहीं सकती परंतु अभिषेक पूजन आदि आरंभोंका त्याग नहीं करता। ऐसे आरंभोंको वह यत्नाचारपूर्वक करता है जिसमें किसी भी जीवको किंचितमात्र भी बाधा नहीं होती। खेती व्यापार आदि आरंभ चाहे जितने

श्चापि यत्रारम्भस्य वर्जनम् ॥ ३१ ॥ इतः पूर्वमतीचारो विद्यते वधकर्मणः । सचित्तस्पर्शनत्वाद्वा स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥ ३२ ॥ इतः प्रभृति यद्द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत् । न स्पर्शति स्वहस्तेन बह्वारम्भस्य का कथा ॥ ३३ ॥ तिष्ठेत्स्वबन्धुवर्गाणां मध्येप्यन्यतमाश्रितः । सिद्धं भक्त्यादि भुञ्जीत यथालब्धं मुनिर्यथा ॥३४॥

यत्नाचारसे किए जायं तो भी उनमें हिंसाका बचाव नहीं हो सकता अतएव वह खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्यों के आरंभका सर्वथा त्यागी होता है इसीलिए वह सर्वदेश आरंभका त्यागी कहलाता है तथा अभिषेक पूजन आदि क्रियाओंके आरंभका त्यागी होता है इसीलिए वह एकदेश आरंभका त्यागी कहलाता है। वास्तवमें देखा जाय तो जिन आरंभोंमें हिंसा होती है ऐसे आरंभोंका वह सर्वथा ही त्यागी है इसीलिए इस प्रतिमाका नाम आरंभत्याग प्रतिमा है। अभिषेक पूजन आदि आरभोंको वह यत्नाचारपूर्वक करता है, प्रासुक द्रव्योंसे करता है इसलिए इन क्रियाओंके आरंभको आरंभ ही नहीं समझना चाहिए क्योंकि इनके आरंभमें किसी भी जीवको किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं होती है ॥ ३१ ॥ इस आठवीं प्रतिमाके स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श करता था, जैसे अपने हाथसे जल भरता था, छानता था और फिर उसे प्रासुक करता था। इसप्रकार करनेसे उसे अहिंसाव्रतका अतिचार लगता था परन्तु इस आठवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेके अनन्तर वह जल आदि सचित्त द्रव्योंको अपने हाथसे छूता भी नहीं है, फिर भला अधिक आरम्भ करनेकी तो बात ही क्या है। भावार्थ—पांचवीं, छठी, सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सचित्तका त्यागी है परन्तु वह सचित्तके भक्षण करनेमात्रका त्यागी है उसके स्पर्श करनेका त्यागी नहीं है। वह कच्चे जलको अपने हाथसे छान कर गरम कर सकता है। ऐसी अवस्थामें उसे अहिंसाव्रतका अतिचार अवश्य लगता है परन्तु आठवीं प्रतिमावाला कच्चे जलको स्पर्शतक नहीं कर सकता क्योंकि वह हिंसा होनेवाले आरम्भोंका सर्वथा त्याग कर देता है अतएव वह हिंसा उत्पन्न करनेवाला लेशमात्र भी आरम्भ नहीं कर सकता ॥ ३२-३३ ॥ आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने बन्धुवर्गोंमेंसे किसी एकके आश्रय रहता है तथा उसके यहां जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही मुनिके समान निस्पृह हो कर कर लेता है। भावार्थ—इस

क्वापि केनावहूतस्य बन्धुनाथसधर्मिणा । तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥ ३५ ॥ किञ्चायं सग्रामित्वे वर्तते व्रतवानपि । अर्वागादशमस्थानान्नापरान्नपरायणः ॥ ३६ ॥ प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना । कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥ ३७ ॥ बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने । यत्रा-

प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये कुछ भोजन नहीं बनवाता क्योंकि वह जिसप्रकार आरम्भ करनेका त्यागी है उसीप्रकार वह आरम्भ करानेका भी त्यागी है अतएव जिस किसी कुटुम्बीके आश्रय वह रहता है उसके यहां जो कुछ भोजन बन जाता है वही प्रासुक भोजन वह खा लेता है ॥ ३४ ॥ कभी कभी यदि कोई अन्य कुटम्बी अथवा बाहरका कोई अन्य साधर्मी पुरुष भोजनके लिये बुला लेवे तो उसके घर भी भोजन कर लेता है । इसप्रकार भोजन करनेमें न तो उसके व्रतमें कोई दोष आता है और न कोई गुण बढता है ॥३५॥ इस आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी दशवीं प्रतिमासे पहले पहले अपने घरका स्वामी बना रहता है इसीलिये वह दूसरेके घर भोजन करनेका नियम नहीं लेता । भावार्थ—आठवीं प्रतिमावाला श्रावक प्रायः घर ही भोजन करता है । यदि किसी बाहरवाले साधर्मीने बुला लिया तो उसके यहां भोजन कर आता है परन्तु उसके बाहर ही भोजन करनेका नियम नहीं रहता और न रहना चाहिये क्योंकि वह अभीतक अपने घरका स्वामी गिना जाता है अतएव वह प्रायः अपने ही घर भोजन करता है ॥ ३६ ॥ वह अपने वस्त्रोंको प्रासुक जलसे अपने हाथसे धोता है अथवा अन्य किसी साधर्मी भाईसे धुलवा लेता है ॥ ३७ ॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिये अथवा किसी दूसरेके लिये ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करता जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो । भावार्थ—आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सबप्रकारके आरम्भोंका त्याग कर देता है, वह ऐसी कोई क्रिया नहीं करता जिसमें रंचमात्र भी आरम्भ करना पडे ॥ ३७ ॥ इसप्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा ।

व्रती श्रावककी नौवीं प्रतिमाका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है । इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी रुपया पैसा आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ॥ ३९ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको

रम्भस्य लेशोस्ति न कुर्यात्तामपिक्रियाम् ॥ ३८ ॥ नवम प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ॥ ३९ ॥ इतः पूर्वं सुवर्णादि-संख्यामात्रापकर्षणः । इतप्रभृतिवित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ॥४०॥ अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ॥४१॥ स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्य जीवनावधि ॥ ४२ ॥ शेषो विधिस्तु सर्वोपि ज्ञातव्यः परमागमात् । सानुवृत्तं व्रतं

स्वीकार करनेके पहले सोना चांदी आदि द्रव्योंका परिमाण कर रक्खा था तथा अपनी इच्छानुसार वह परिमाण बहुत कुछ घटा रक्खा था अर्थात् बहुत थोडे द्रव्यका परिमाण कर रक्खा था परंतु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर वह श्रावक सोना चांदी आदि धनका त्याग सर्वथा कर देता है। भावार्थ--नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी आदि द्रव्यका सर्वथा त्याग कर देता है इसीलिए इस प्रतिमाका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है ॥ ४० ॥ इस परिग्रहत्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र, घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधनके लिए जिन जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है उनको ग्रहण करता है। इनके सिवाय बाकीके समस्त पदार्थोंका--समस्त परिग्रहोंका वह त्याग कर देता है। भावार्थ–अपने शरीरकी रक्षाकेलिए जितने वस्त्रोंकी आवश्यकता पडती है उतने वस्त्र रखता है और रहनेके लिए जितने घरकी जितने स्थानकी आवश्यकता पडती है उतना घर वा उतना स्थान रखता है अथवा अभिषेक पूजा आदिके बर्तन वा स्वाध्याय आदिके लिए ग्रंथ वा दान देनेके साधन रखता है, बाकीके समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है ॥ ४१ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेसे पहले वह घर और स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था परंतु इस नौवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेपर उसे जन्मपर्यंततकके लिए पूर्णरीतिसे सबका त्याग कर देना पडता है और सबतरहसे शल्यरहित हो जाना पडता है । भावार्थ–परिग्रहत्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक अब न तो घरका स्वामी माना जाता है और न अपनी स्त्रीका स्वामी माना जाता है । परिग्रहका त्याग कर देनेसे वह सबसे अलग हो जाता है, फिर उसका घरसे वा कुटंबी लोगोंसे कोई किसीप्रकारका संबंध नहीं रहता ॥ ४२ ॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावककी शेष विधि

यावत्सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ ४३ ॥ व्रतं दशमस्थानस्यमननुमननाह्वयम् । यत्राहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमतिः क्वचित् ॥ ४४ ॥ आदेशोनुमतिश्चाज्ञा सैवं कुर्विति-लक्षणा । यद्वा स्वतः कृतेनादौ प्रशंसानुमतिः स्मृता ॥ ४५ ॥ अयं भावः स्वतः सिद्धं यथालब्धं समाहरेत् । तपश्चेच्छानिरोधाख्यं तस्यैव किल संवरः ॥ ४६ ॥

अन्य शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिए क्योंकि यह निश्चय है कि व्रतोंका स्वरूप समस्त शास्त्रोंमें एकसा ही वर्णन किया है। भावार्थ—शास्त्रोंमें जितना कथन है वह सब भगवान सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार ही किया है अतएव समस्त शास्त्रोंमें व्रतोंका स्वरूप ही एकसा है। उनमें किसीप्रकारका अन्तर नहीं है इसलिये जो विधि वा जो क्रिया हमने इस शास्त्रमें वर्णन नहीं की है वह अन्य शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥ ४३ ॥ इसप्रकार नौवीं प्रतिमाका निरूपण किया।

श्रावकोंकी दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमतित्यागप्रतिमा है। इस अनुमतित्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक आहार आदि बनानेके लिये भी कभी अपनी सम्मति नहीं देता ॥ ४४ ॥ किसी कामके लिये आदेश देना, सलाह देना, आज्ञा देना, अथवा "ऐसा करो" इसप्रकार कहना अथवा जो कार्य किसीने पहलेसे कर रक्खा है उसकी प्रशंसा करना आदिको अनुमति कहते हैं। भावार्थ—ये सब अनुमतिके ही नाम हैं ॥४५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसीको ग्रहण कर लेता है। वह कह कर कुछ नहीं बनवाता। इसप्रकार जो श्रावक अपनी इच्छाको रोकनेरूप तपश्चरण करता है उसके कर्मोंका संवर अवश्य होता है। भावार्थ—दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक अपनी इच्छाओंको सर्वथा रोक लेता है। बिना कुछ कहे, बिना किसीप्रकारकी सलाहके, बिना किसी पदार्थकी प्रशंसाके जो कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही वह ग्रहण करता है इसीलिये उसकी इच्छाको रोकनेरूप महा तपश्चरण होता है और उस तपश्चरणके कारण उसके अनन्त कर्मोंका संवर होता रहता है ॥ ४६ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक "ऐसा करो ऐसा करो" "ऐसा मत करो, ऐसा भी मत करो" इसप्रकारकी आज्ञा किसीको नहीं देता। उसे जो कुछ बना बनाया शुद्ध प्रासुक भोजन मिल जाता है उसे

इदमिदं कुरु मैवेदमित्यादेशं न यच्छति । मुनिवत्प्राशुकं शुद्धं यावदन्नादि भोजयेत् ॥ ४७ ॥ गृहे तिष्ठेद् व्रतस्थोपि सोयमर्थादपि स्फुटम् । शिरः क्षौरादि कुर्याद्वा न कुर्याद्वा यथामतिः ॥ ४८ ॥ अथ यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक् । शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥ ४९ ॥ तिष्ठेद्देवालये यद्वा गेहे सावद्यवर्जिते । स्वसम्बन्धिगृहे भुंक्ते यद्वाहूतोऽन्यसद्मनि ॥ ५० ॥ एवमित्यादिदिग्मात्रं व्याख्यातं दशमव्रतम् । पुनरुक्तभयादत्र नोक्तमुक्तं पुनः पुनः ॥ ५१ ॥ व्रतं चैका-

ही वह मुनिके समान भोजन कर लेता है ॥ ४७ ॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी घरमें रहता है तथा अपने मस्तकके बाल बनवा लेता है अथवा नहीं भी बनवाता । बाल बनवाने अथवा न बनवानेमें जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही करता है ॥ ४८ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जबतक मुनिवृत धारण नहीं करता तबतक कोई विशेष वेष धारण नहीं करता । जैसा है वैसा ही बना रहता है । चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है अथवा नहीं भी करता । भावार्थ—दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकके लिये न तो कोई विशेष भेष धारण करनेका नियम है और न यज्ञोपवीत तथा चोटी रखनेका नियम है। यदि उसकी इच्छा हो तो यज्ञोपवीत और चोटी धारण कर ले, यदि इच्छा न हो तो इनको धारण न करे । इनको धारण करना अथवा न करना उसकी इच्छापर निर्भर है ॥ ४९ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी देवालय (जिनालयमें वा चैत्यालयमें) रहता है अथवा किसी निर्दोष वा पापरहित मकानमें रहता है तथा अपने सम्बन्धियोंके घर कुटुम्बियोंके घर भोजन करता है अथवा बुलानेपर किसी अन्य साधर्मीके घर भोजन कर लेता है ॥ ५० ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेपसे दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा । पुनरुक्त दोषके भयसे जो ऊपरकी प्रतिमाओंमें कहा हुआ विषय है वह बार बार नहीं कहा है । भावार्थ—पहिली पहिली प्रतिमाओंकी समस्त विधि आगेकी प्रतिमावालोंको अवश्य पालन करनी पडती है परंतु वह विधि कही नहीं गई है क्योंकि उसके कहनेमें पुनरुक्त दोष आता है अतएव उस विधिको ऊपरके कथनसे समझ लेना चाहिए ॥ ५१ ॥ इसप्रकार दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा ।

अब आगे ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं । इस ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है

जानन्नेवं न गृह्णीयान्नूनमेकादशव्रती
दशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टभोजनम्। अर्थादीषन्मुनिस्तद्वान्निर्जराधिपतिः पुनः ॥ ५२ ॥ समुद्दिश्य कृतं यावदन्नपानौषधादि यत्। एकादशव्रतस्थौ द्वौ
॥ ५३ ॥ सर्वतोस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव। तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ ॥ ५४ ॥ उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।

अथवा इस प्रतिमाको पालन करनेवाला अनुद्दिष्ट भोजन करनेवाला है इसलिए अनुद्दिष्टभोजन भी इस प्रतिमा-का नाम है। इस प्रतिमाको पालन करनेवाला है उत्कृष्ट श्रावक ईषत् मुनि अर्थात् मुनिका छोटा भाई गिना जाता है और निर्जराका स्वामी होता है। भावार्थ--मुनिराज जिसप्रकार उद्दिष्ट भोजनके त्यागी होते हैं उसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक भी उद्दिष्ट भोजनका त्यागी होता है अतएव जिसप्रकार मुनिराजके बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है उसीप्रकार उस उद्दिष्टत्यागी उत्कृष्ट श्रावकके भी बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है ॥ ५२ ॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जो कुछ अन्नपान औषधि आदि उसके लिए बनाया गया होगा उसको जानता हुआ वह कभी ग्रहण नहीं करता है। भावार्थ--यदि ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावकको यह मालूम हो जाय कि यह अन्न, पानी, औषधि आदि मेरे लिये बनाया गया है तो वह श्रावक उस अन्न पानी वा औषधिको कभी ग्रहण नहीं करता है क्योंकि वह मुनिके ही समान उद्दिष्ट भोजनका त्यागी है अतएव जान बूझ कर वह कभी भी उद्दिष्ट भोजनको ग्रहण नहीं करता है ॥५३॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक मुनिके समान ही पूर्णरूपसे घरका त्याग कर देता है। वह उत्कृष्ट श्रावक घरका सर्वथा त्याग कर या तो देवालयमें रहता है अथवा किसी वनमें मुनियोंके संघमें रहता है ॥५४॥

इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह उत्कृष्ट श्रावक दो-प्रकारका होता है एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। इन दोनोंके कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती रहती है। भावार्थ--क्षुल्लकके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक ऐलकके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ५५ ॥ लिखा भी है --

स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५॥ उक्तं च—एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ ॥ तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम्। लोचं स्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ॥ ५६ ॥ पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा। सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥५७॥ कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया। विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥ तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ। निरवद्ये यथा-

एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।

अर्थ—ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह दोप्रकारका होता है। एक तो खण्ड वस्त्रको धारण करनेवाला क्षुल्लक और दूसरा कोपीनमात्र परिग्रहको धारण करनेवाला ऐलक। भावार्थ—क्षुल्लक श्रावक एक वस्त्र धारण करता है और कोपीन धारण करता है तथा ऐलक कोई वस्त्र नहीं रखता केवल एक कोपीन रखता है।

इन दोनोंप्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंमेंसे जो ऐलक है वह केवल कोपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है। कोपीनके सिवाय अन्य समस्त परिग्रहका—समस्त वस्त्रोंका त्याग कर देता है तथा दाढी मूछ और मस्तकके बालोंका लोच करता है और पीछी कमण्डलु धारण करता है ॥ ५६ ॥ इसके सिवाय स्वाध्यायकेलिये पुस्तक आदि सबके काममें आनेवाले धर्मोपकरणोंको भी धारण करता है। भावार्थ—जिनसे मुनि आदि सब ही धर्मात्मा त्यागी श्रावक आदि स्वाध्यायादि कर सकें ऐसे धर्मशास्त्रोंको भी रखता है परन्तु जो पदार्थ थोडीसी भी हिंसाके कारण हैं वा अन्य किसी पापके कारण हैं ऐसे पदार्थोंको वह लेशमात्र भी अपने पास नहीं रखता है। भावार्थ—जिन पदार्थोंसे लेशमात्र भी हिंसा वा पाप होता है ऐसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको भी वह अपने पास नहीं रखता है ॥ ५७ ॥ यह ऐलक श्रावक एक कोपीनमात्र परिग्रहको तो रखता है, इस कोपीनमात्र परिग्रहके सिवाय उसकी समस्त क्रियाएं मुनियोंके समान होती हैं तथा मुनियोंके समान ही वह अत्यन्त कठिन कठिन व्रतोंको पालन करता है ॥ ५८ ॥ यह ऐलक श्रावक या तो किसी चैत्यालयमें रहता है या मुनियोंके संघमें रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमें रहता है अथवा किसी भी सूने मठमें वा अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध

स्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥ पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् । ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥ ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया । द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥ ६१ ॥ दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् । तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥ ६२ ॥ क्षुल्लकः

स्थानमें रहता है ॥ ५९ ॥ यह ऐलक श्रावक पहले कहे हुए क्रमके अनुसार समस्त क्रियाएं करता हैं तथा दोपहरसे कुछ समय पहले सावधान हो कर आहारके लिये नगरमें जाता है ॥ ६० ॥ आहारको जाते समय भी ईर्यापथ शुद्धिसे जाता है तथा घरोंकी संख्याका नियम ले कर भी जाता है । भावार्थ--आज दश घर जाऊंगा, दश घरोंमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं। आज बीस घर जाऊंगा, बीस घरोंमें आहार मिल जायगा तो लूंगा नहीं तो नहीं। इसप्रकार घरोंकी संख्याका नियम ले कर भी जाता है तथा वहांपर जा कर पात्रोंके समान केवल अपने दोनों हाथोंसे ही आहार लेता है। अन्य किसी पात्रमें आहार नहीं लेता किंतु दोनों हाथोंसे ही करपात्र आहार लेता है ॥ ६१ ॥ यह ऐलक श्रावक बिना किसी छल कपटके मोक्षका कारण ऐसा धर्मोपदेश देता है तथा बारहप्रकारका तपश्चरण पालन करता है और किसी व्रतमें किसीप्रकारका दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। भावार्थ—ऐलक श्रावक तपश्चरण करना प्रायश्चित्त ग्रहण करना तथा धर्मोपदेश देना आदि समस्त कर्तव्य मुनियोंके समान ही पालन करता है ॥ ६२ ॥

इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकका दूसरा भेद क्षुल्लक है। यह क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है, चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है, एक वस्त्र धारण करता है, कोपीन धारण करता है, वस्त्रकी पीछी रखता है और कमण्डलु रखता है। भावार्थ--पहले दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते समय कह आये थे कि दशवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक चोटी और यज्ञोपवीतको अपनी इच्छानुसार धारण करता भी है और नहीं भी करता है। यही क्रम ग्यारहवीं प्रतिमाके क्षुल्लकके लिये समझ लेना चाहिये । यदि उसने दशवीं प्रतिमामें चोटी और यज्ञोपवीतको नहीं छोडा है तो उसे क्षुल्लक अवस्थामें भी अवश्य रखना चाहिये। इसी अभिप्रायको ले कर लिखा है कि क्षुल्लक श्रावक चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है

कोमलाचारः शिखासूत्रांकितो भवेत्। एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥ ६३ ॥ भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमयम्। एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६४ ॥ क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत्। अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥६५॥ यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्। पात्रे

तथा वस्त्रकी पीछी रखता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह एक वस्त्रका छोटा टुकडा रखता है उसीसे पीछीका सब काम लेता है। पीछी लेनेका नियम ऐलक अवस्थासे है इसलिये क्षुल्लकको वस्त्रकी ही पीछी रखनेके लिये कहा है। एक वस्त्र रखनेका अभिप्राय खण्ड वस्त्रसे है। डुपट्टाके समान एक वस्त्र धारण करता है॥ ६३ ॥ यह ऐलक श्रावक भिक्षाके लिये एक कांसेका अथवा लोहेका पात्र रखता है तथा शास्त्रोंमें जो भोजनके दोष बतलाये हैं उन सब दोषोंसे रहित एकबार भिक्षा भोजन करता है॥ ६४ ॥ दाढी मूछ और मस्तकके बालोंको बनवा लेता है तथा बाकीकी समस्त क्रिया पहले कही हुई प्रतिमाओंके अनुसार करता है अर्थात् दश प्रतिमाओंमें कही हुई समस्त क्रियाओंका पालन करता है। यदि उसके किसी व्रतमें किसीप्रकारका दोष वा अतिचार लग जाता है तो वह उसका प्रायश्चित्त लेता है॥ ६४ ॥ भोजनके समयपर अर्थात् दोपहरके पहले वह भोजनके लिये नगरमें जाता है तथा भ्रमरके समान बिना किसीको किसीप्रकारका दुख पहुंचाये अपने पात्रमें पांच घरोंसे आहार लेता है। भावार्थ—क्षुल्लकके भी दो भेद हैं एक तो क्षुल्लक ऐसा होता है जो एक ही घरमें आहार लेता है। ऐसा क्षुल्लक मुनिके पीछे पीछे आहारके लिये जाता है और जिस घरमें मुनि आहार लेते हैं उसी घरमें पीछेसे भोजन ग्रहण करता है तथा दूसरेप्रकारका क्षुल्लक वह कहलाता है जो अपने पात्रमें पांच घरोंसे आहार ला कर इकट्ठा कर लेता है और अपने उदरनिर्वाहके योग्य हो जानेपर किसी एक घरमें जहां प्रासुक जलकी योग्यता मिल जाय तो वहीं बैठ कर भोजन कर लेता है। पांच घरोंमेंसे यदि एक ही घरमें वा दो ही घरमें उतना आहार मिल जाय तो वहींपर बैठ कर भोजन कर लेता है। भोजन करनेके पहले वह किसी मुनिराजको आहार देनेके लिये भी प्रतीक्षा करता है जैसा कि आगे स्पष्ट किया है॥ ६६ ॥ वह क्षुल्लक श्रावक उन पांच घरोंमेंसे ही जिस

१ "क्षुल्लक श्रावक मुनिराजको आहारदान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है, किसी मुनिराजका समागम मिलनेपर वह उनको आहार देता है।" यह

भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवत् ॥ ६६ ॥ तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् । क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्यार्थ्यं च भोजयेत् ॥ ६७ ॥ दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत् । तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥ ६८ ॥ किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः । अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदा-

घरमें प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है उसी घरमें भोजनके लिये ठहर जाता है तथा थोडी देरतक वह किसी भी मुनिराजको आहारदान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है। यदि आहारदान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम नहीं मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ॥ ६७ ॥ यदि दैवयोगसे आहारदान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम मिल जाय अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाय तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके ही समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दान दे देता है। दान दे कर फिर अपने पात्रमें जो कुछ बच रहता है उसको वह स्वयं भोजन कर लेता है। यदि अपने पात्रमें कुछ न बचे तो उस दिन वह नियमसे उपवास ही करता है। भावार्थ--वह क्षुल्लक श्रावक जो अपने लिये आहार लाया था यदि उसे वह किसी मुनिराजको दे देवे तो फिर उसे उपवास ही करना चाहिये। यदि उसमेंसे कुछ बच रहे तो जितना बचा है उतना ही खा लेना चाहिये। उसे फिर और घरसे नहीं लेना चाहिये ॥ ६८ ॥ तथा यदि उस क्षुल्लक श्रावकको किसी साधर्मी पुरुषसे जल चन्दन अक्षत आदि पूजा करनेकी सामग्री मिल जाय तो उसे प्रसन्नचित्त हो कर भगवान अरहन्तदेवकी पूजा कर लेनी चाहिये अथवा भगवान सिद्ध परमेष्ठी वा साधु परमेष्ठीकी पूजा कर लेनी चाहिये ॥ ६९ ॥ इसप्रकार क्षुल्लक और ऐलक दोनोंप्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंकी क्रियाओंका निरूपण किया।

जिसप्रकार उत्कृष्ट श्रावकके क्षुल्लक ऐलक ये दो भेद हैं उसीप्रकार क्षुल्लक श्रावकोंके भी कितने ही भेद हैं। कोई साधक क्षुल्लक हैं, कोई गूढ क्षुल्लक होते हैं और कोई वाणप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनोंप्रकारके

कथन काष्ठासंघकी अपेक्षासे है। यह ग्रन्थ काष्ठासंघका है और इसीलिये मूलसंघसे इसमें अन्तर है। मूलसंघमें क्षुल्लकको दान देनेका अधिकार नहीं है। वह स्वयं दान लेनेका पात्र बन गया है इसलिये वह आहारदान नहीं दे सकता। क्षुल्लकके लिये आहारदान देनेकी बात लिखना मूलसंघके विरुद्ध है।

रमना ॥ ६९ ॥ किन्चात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः । वाणप्रस्थाह्वयकाः केचित्सर्वे तद्वेशधारिणः ॥ ७० ॥ क्षुल्लकीवत्क्रिया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः । मध्यावर्तिव्रतं तद्वत्पञ्च गुर्वात्मसाक्षिकम् ॥ ७१ ॥ अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणात् । अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशयाः ॥ ७२ ॥ समभ्यस्तव्रताः केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात् । न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥ ७३ ॥ एवमित्यादि दिङ्मात्रं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् । दृगाद्येकादशं यावत् शेषं

क्षुल्लक क्षुल्लकके समान वेष धारण करते हैं ॥ ७० ॥ ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकोंकी ही क्रियाओंको पालन करते हैं। ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक न तो अत्यंत कठिन व्रतोंका पालन करते हैं और न अत्यंत सरल व्रतोंका पालन करते हैं किंतु मध्यम स्थितिके व्रतोंका पालन करते हैं तथा पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रतोंको ग्रहण करते हैं ॥ ७१ ॥ क्षुल्लकोंके जो साधक गूढ और वाणप्रस्थ भेद बतलाए हैं उनमें कुछ विशेष भेद नहीं है किंतु थोडा सा ही भेद है। इनमेंसे जिन्होंने क्षुल्लकके व्रत धारण नहीं किये हैं; किंतु क्षुल्लकके व्रत धारण करना चाहते हैं वे उन व्रतोंका अभ्यास करते हैं।

भावार्थ—वे नियमानुसार क्षुल्लककी दीक्षा नहीं लेते, पंच परमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक क्षुल्लकके व्रत स्वीकार नहीं करते किंतु बिना स्वीकार किये ही उनको स्वीकार करनेकी इच्छासे उनका अभ्यास करते हैं। अभ्यासरूपसे उनका पालन करते हैं तथा जिन्होंने उन व्रतोंके पालन करनेका पूर्ण अभ्यास कर लिया है वे साहस पूर्वक उन व्रतोंको ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक उन व्रतोंको स्वीकार कर लेते हैं तथा कोई कोई कातर और असाहसी वा निर्बल ऐसे भी होते हैं जो व्रतोंको ग्रहण नहीं करते किंतु घर चले जाते हैं अर्थात् व्रतोंका अभ्यास करते हैं और फिर भी व्रतोंको ग्रहण नहीं करते किंतु उस अभ्यासको भी छोड कर घरको चले जाते हैं ॥ ७३ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार दर्शनप्रतिमासे ले कर उद्दिष्टत्यागप्रतिमातक गृहस्थोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप मैंने अत्यंत संक्षेपसे कहा है। इन प्रतिमाओंके स्वरूप कहनेमें जो कुछ बाकी रह गया है वह अन्य जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥ ७४ ॥

एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले इन श्रावकोंके (उत्कृष्ट श्रावकोंके) उत्तरगुण बारहप्रकारके तप कह-

ज्ञेयं जिनागमात् ॥ ७४ ॥ अस्त्युत्तरगुणं नाम्नां तपो द्वादशधा मतम् । सूचामात्रं प्रवक्ष्यामि देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ७५ ॥ तत्सूत्रं यथा—अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः । खाद्यादिचतुर्द्धाहारसन्यासोऽनशनं मतम् । केवलं भक्तसलिलमवमोदर्यमुच्यते ॥ ७६ ॥ त्रिचतुःपञ्चषष्ठादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् । सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते ॥ ७७ ॥ मधुरादिरसादनां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा । परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स

लाते हैं। आगे मैं संक्षेपमे नाममात्र इन बारहप्रकारके तपोंको भी कह देता हूं ॥ ७५ ॥ तप दोप्रकार है एक अंतरंग तप और दूसरे बाह्य तप। इनमेंसे बाह्य तपके छह भेद हैं जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें इसप्रकार बतलाए हैं।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छहप्रकारका बाह्य तप है। आगे संक्षेपसे इन्हींका स्वरूप लिखते हैं।

अन्न पान लेह्य खाद्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना अनशन तप कहलाता है। भावार्थ—दाल भात आदि खाने योग्य पदार्थोंको अन्न कहते हैं, दूध, पानी आदि पीने योग्य पदार्थोंको पान कहते हैं, रबडी चटनी आदि चाटने योग्य पदार्थोंको लेह्य कहते हैं और लड्डू पेडा बरफी पान सुपारी आदि स्वादिष्ट पदार्थोंको खाद्य कहते हैं, इन चारोंप्रकारके आहारका त्याग कर उपवास धारण करना अनशन है तथा केवल भात और पानी लेना बाकीके समस्त आहारोंका त्याग कर देना अर्थात् थोडा भोजन लेना अवमोदर्य तप है ॥ ७६ ॥ मैं आज केवल दाल भात और पानी ऐसे तीन पदार्थ खाऊंगा बाकी सबका त्याग है अथवा चार वा पांच पदार्थ खाऊंगा वा छह खाऊंगा बाकीके नहीं अथवा पांच घरतक जाऊंगा पांच घरमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं। इसप्रकार खाने योग्य पदार्थोंका नियम कर अथवा जाने योग्य घरोंका नियम कर आहारके लिए जाना। अथवा आहारके लिए इस प्रकारका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्याननामका तप कहलाता है ॥ ७७ ॥ मीठा, खट्टा, चरपरा, कडवा, कषायला आदि रसोंका अथवा मीठा, दूध दही, घी, तेल और फलादिक

ध्यते ॥ ७८ ॥ एकान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोज्झिते । शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥ ७९ ॥ आतपनादियोगेन वीर्यचर्यासनेन वा । वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥ षोढा बाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः । अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिःषोढा वाभ्यन्तरं तपः ॥८१॥ तत्सूत्रं यथा—प्रायश्चित्त-

सचित्त पदार्थ इन छहों रसोंका पूर्णरूपसे त्याग कर देना अथवा एक दो आदि अलग अलगरूपसे रसोंका त्याग करना, जैसी अपनी शक्ति हो उसीके अनुसार त्याग करना रसपरित्यागनामका तप है। यदि अपनी शक्ति हो तो समस्त रसोंका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसी शक्ति न हो तो फिर जितनी शक्ति हो उसके अनुसार एक दो चार आदि रसोंका त्याग कर देना चाहिए। इसप्रकारके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं ॥ ७८ ॥ जहांपर मनुष्योंका निवास न हो तथा राग द्वेष उत्पन्न होनेके कोई कारण न हों ऐसे निर्दोष एकांत स्थानमें सोने और बैठनेका स्थान बनाना विविक्तशय्यासननामका तप कहलाता है । भावार्थ—एकांत स्थानमें रहनसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती है इसलिए ही यह तप किया जाता है ॥ ७९ ॥ आतापन योग धारण कर अथवा वीरचर्या आसन धारण कर शरीरको क्लेश पहुंचाना कायक्लेशनामका तप कहलाता है। नग्न अवस्था धारण कर एक स्थानपर खडे हो कर ध्यान धारण करना आतापन योग है तथा भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतपर खडे होना, वर्षामें वृक्षके नीचे रहना और शीत ऋतुमें नदीके किनारे वा चौहटेमें रहना आदि वीरचर्या है। इनके द्वारा शरीरको क्लेश पहुंचाना कायक्लेशनामका तप कहलाता है ॥ ८० ॥ इसप्रकार अत्यंत संक्षेप रीतिसे सबका लक्षण कहकर छहोंप्रकारके बाह्य तपका निरूपण किया।

अब आगे छहों प्रकारके अंतरंग तपका लक्षण कहते हैं ॥ ८१ ॥ उन अतरंग तपोंको कहनेवाला सूत्र यह है—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छहप्रकारका अतरंग तप है। आगे इनका स्वरूप संक्षेपसे कहते हैं।

विनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । प्रायो दोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यग्निवेदिते । उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्त तपः स्मृतम् ॥ ८२ ॥ गुर्वादीनां यथाप्येषामभ्युत्थाने च गौरवम् । क्रियते चात्मसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम् ॥ ८३ ॥ तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वं समुपेयुषाम् । यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः स उच्यते ॥ ८४ ॥ नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ । यद्वा सामायिकी पाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः ॥८५॥ शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः ।

किसी व्रतमें वा किसी भी क्रियामें किसीप्रकारका अतिचार वा दोष लग जानेपर उसको बिना किसी छल कपटके अच्छीतरह गुरुसे निवेदन करना और उसके बदले गुरुमहाराज जो कुछ आज्ञा दें, जो दंड दें उसे मन बचन कायसे पालन करना प्रायश्चित्तनामका तप कहलाता है। भावार्थ—प्रायः शब्दका अर्थ दोष है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है। जिससे दोषोंकी शुद्धि हो जाय उसको प्रायश्चित्तता कहते हैं। यह तप उसीके होता है जिसका मन बचन काय सरल है। जो साधु वा श्रावक सरल मन बचन कायसे अपने दोषों को आचार्यसे निवेदन करता है और फिर उनकी शुद्धिके लिए आचार्यमहाराजके द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित वा दंड स्वीकार करता है उसीके इस तपका पालन होता है ॥ ८२ ॥ आचार्य उपाध्याय आदि गुरुओंका अपनी सामर्थ्यके अनुसार आदर सत्कार करना, उनके सामने खडे होना, पीछे पीछे चलना तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका महत्व प्रगट करना आदि विनयनामका तप कहलाता है ॥ ८३ ॥ यदि दैवयोगसे किसी मुनिके किसीप्रकारका रोग हो गया हो अथवा और किसीप्रकारकी शरीरमें बाधा हो गई हो तो अपनी शक्तिके अनुसार उसको दूर करना, उन मुनिराजकी सेवा करना, पैर दाबना तथा जिसप्रकार वह व्याधि दूर हो सके उसीप्रकार निर्दोष यत्न करना वैयावृत्यनामका तप कहलाता है ॥ ८४ ॥ आचार्य महाराजके समीप बैठ कर निरंतर पाठ करनेको अथवा सामायिकके पाठ करनेको विद्वान् लोग स्वाध्यायनामका तप कहते हैं ॥ ८५ ॥ ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले महा तपस्वीलोग शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देनेको प्रसिद्ध कायोत्सर्गनामका तप कहते हैं। भावार्थ—शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देना और पूर्णरूपसे निर्ममत्व हो जाना कायोत्सर्ग नामका तप है ॥ ८६ ॥ योगीलोग जो अन्य समस्त चिंतवनोंको रोक कर

तपःसंज्ञः सुविख्यातो कायोत्सर्गो महर्षिभिः ॥ ८६ ॥ कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसःशुद्धस्य चिन्तनम् । एकाग्रलक्षणं ध्यानं तदुक्तं परमं तपः ॥ ८७ ॥ एवमित्यादि-दिग्मात्रं षोढा चाभ्यन्तरं तपः । निर्दिष्टं कृपयाऽस्माभिर्देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ८८ ॥ अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् । साधु मिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ ८९ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां सामायिक-प्रतिमाद्येकादशप्रतिम पर्यन्तवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ।

(समस्त चिंतवनोंका त्याग कर) अपने मनकी एकाग्रतासे केवल शुद्ध आत्माका चिंतवन करते हैं उसको ध्याननामका परम तपश्चरण कहते हैं ॥ ८७ ॥ इसप्रकार हमने कृपापूर्वक एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके लिए छहोंप्रकारके अंतरंग तपोंका स्वरूपअत्यंत संक्षेपसे बतलाया ॥ ८८ ॥

इस ग्रंथमें जो अक्षर, मात्रा, पद, स्वर आदि कम हों अथवा व्यंजन संधि रेफ आदिसे रहित हों तो भी सज्जनलोगोंको मेरा यह अपराध क्षमा कर देना चाहिए क्योंकि शास्त्र एक प्रकारका अगाध समुद्र है इसमें कौन गोता नहीं खाता है। अर्थात् कौन नहीं भूलता है । भावार्थ—छद्मस्थ अल्पज्ञानी सभी भूलते हैं ॥ ८९ ॥

इसप्रकार स्याद्वादस्वरूप निर्दोष गद्यपद्यविद्यामें अत्यन्त चतुर और विद्वानोंमें शिरोमणि ऐसे कविराज राजमल्लके द्वारा बनी हुई तथा सज्जनोत्तम दूदाके सुपुत्र श्रीफामनके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यमंडलके समान सुशोभित होनेवाली और श्रावकाचार है दूसरा नाम जिसका ऐसे इस लाटीसंहितानामके ग्रंथकी चावली (आगरा) निवासी देहलीप्रवासी "धर्मरत्न" लालाराम जैन शास्त्री द्वारा विरचित हिन्दी भाषा टीकामें सामायिक प्रतिमासे लेकर उद्दिष्ट त्यागनामकी ग्यारहमीं प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओंके स्वरूपको निरूपण करनेवाला यह सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

सामायिकाद्यनुद्दिष्टपर्यन्तं प्रतिमाव्रतम् । साधुदूदाङ्गजोद्दामफामनाय श्रियं दिशेत् ॥ इत्याशीर्वादः ।

किमिदमिह किलास्ते नाम सम्वत्सरादि, नरपतिरपि कःस्यादत्र साम्राज्यकल्पः । कृतमपि कमिदं भो केन कारापितं यत्, शृणु तदिति वदद्भिः स्तूयतेऽद्य प्रशस्तिः ॥ १ ॥ (श्री) नृपति विक्रमादित्यराज्ये परिणते सति । सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥ तत्रापि चाश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते । दशम्यां च दाशरथे शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥ अस्ति साम्राज्यतुल्योऽसौ भूपतिश्चाप्यकब्बरः । महद्भिर्मण्डलेशैश्च चुम्बितांह्रिपदाम्बुजः ॥ ४ ॥ अस्ति दैगम्बरो धर्मो जैनः शर्मैककारणम् । तत्रास्ति काष्ठासंघश्च क्षालितांहः कदम्बकः ॥ ५ ॥ तत्रापि माथुरो गच्छो गणः पुष्करसंज्ञकः । लोहाचार्यान्वयस्तत्र तत्परंपरया यथा ॥ ६ ॥ नाम्ना कुमारसेनोऽभूद्भट्टारकपदाधिपः । तत्पट्टे हेमचन्द्रोऽभूद्भट्टारकशिरोमणिः ॥ ७ ॥ तत्पट्टे पद्मनन्दी च भट्टारकनभोंऽशुमान् । तत्पट्टेऽभूद्भट्टारको यशस्कीर्तिस्तपो-

प्रशस्ति

सामयिकको आदि ले कर उद्दिष्ट त्यागपर्यंत जो नौ प्रतिमारूप व्रत हैं वे सज्जनोत्तम दूदाके पुत्र उदार फामनके लिए कल्याण करें । इति आशीर्वादः ।

यह लाटीसंहितानामका ग्रंथ किस सम्वत्में बना है । उस समय सम्राट्के समान कौन राजा था । यह ग्रंथ किसने बनाया और किसने बनवाया उस सबकी प्रशस्ति कहता हूं तुम लोग सुनो ॥ १ ॥ श्रीविक्रम सम्बत् सोलहसौ इकतालीसमें आश्विन शुक्ला दशमी रविवारके दिन अर्थात् विजया दशमीके दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ ॥ २-३ ॥ उस समय सम्राट्के समान बादशाह अकबर राज्य करता था । उस समय बडे बडे मंडलेश्वर राजा लोग उसके चरणकमलोंको नमस्कार करते थे ॥ ४ ॥

इस संसारमें आत्माका कल्याण करनेवाला दिगम्बर जैनधर्म है । उस जैनधर्ममें भी पापरूपी कीचडको धोनेवाला एक काष्ठासंघ है ॥ ५ ॥ उसमें भी माथुर गच्छ है, पुष्कर गण है और लोहाचार्यकी आम्नाय है । उसी परंपरामें एक कुमारसेन नामके भट्टारक हुए थे तथा उन्हींके पदपर भट्टारकोंमें शिरोमणि ऐसे हेमचन्द्र नामक भट्टारक बैठे थे ॥ ६-७ ॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंके समुदायरूपी आकाशमें सूर्यके समान चमकनेवाले

निधिः ॥ ८ ॥ तत्पट्टे क्षेमकीर्तिः स्यादद्य भट्टारकाग्रणी । तदाम्नाये सुविख्यातं पत्तनं नाम डौकनि ॥ ९ ॥ तत्रत्यः श्रावको भारु भार्यास्तिस्रोऽस्य धार्मिकाः । कुलशीलवयोरूपधर्मबुद्धिसमन्विताः ॥ १० ॥ नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी । रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥ ११ ॥ योषितो देविलाख्यायाः पुंसो भारूसमाह्वयात् । चत्वारस्तत्समाः पुत्राः समुत्पन्नाः क्रमादिह ॥ १२ ॥ तत्रादिमः सुतो दूदो द्वितीयः ठुकराह्वयः । तृतीयो जगसी नाम्ना तिलोकोऽभवत्तुर्यकः ॥ १३ ॥ दूदाभार्या कुलांगासी नाम्ना ख्याता उवारही । तयोः पुत्रास्त्रयः साक्षादुत्पन्नाः कुलदीपकाः ॥ १४ ॥ आद्यो न्योता द्वितीयस्तु भोल्हा नाम्नाथ फामनः । न्योता संघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥ १५ ॥ आद्या नाम्ना हि पद्माही गैराही द्वितीया मता । पद्माहीयोषितस्तत्र न्योतसंघाधिनाथतः ॥ १६ ॥ पुत्रश्च देई-

पद्मनंदि भट्टारक हुए थे तथा उनके पट्टपर बडे तपस्वी यशस्कीर्तिनामके भट्टारक हुए थे ॥ ८ ॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंमें मुख्य ऐसे क्षेमकीर्तिनामक भट्टारक हुए थे उन्हींके समयमें यह ग्रंथ बना है ।

क्षेमकीर्ति भट्टारककी आम्नायमें एक डौकनिनामका नगर था । उस डौकनिनगरका रहनेवाला एक भारु नामका श्रावक था । उसके तीन स्त्रियां थीं जो अच्छी धार्मिक थीं । वे तीनों स्त्रियां कुलीन थीं, शीलवती थीं, रूपवती थीं, अच्छी आयुवाली थीं, धर्मको धारण करनेवाली थीं और बुद्धिमती थीं ॥ ९-१० ॥ पहली स्त्रीका नाम मेघी था, दूसरीका नाम रूपिणी था और रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली वसुमती पृथ्वीके समान तीसरी स्त्री थी उसका नाम देविला था ॥ ११ ॥ ऊपर लिखे हुए भारूनामक सेठके उस देविलानामकी स्त्रीसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे । उनके अनुक्रमसे ये नाम थे ॥ १२ ॥

पहले पुत्रका नाम दूदा था, दूसरेका नाम ठुकर था, तीसरेका नाम जगसी था और चौथेका नाम तिलोक था ॥ १३ ॥ अपने कुलको सुशोभित करनेवाली दूदाकी स्त्रीका नाम उवारही था । उससे दूदाके तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो कि अपने कुलको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान हैं ॥ १४ ॥ पहले पुत्रका नाम न्योता है, दूसरेका नाम भोल्हा है और तीसरेका नाम फामन है । उनमेंसे न्योता संघनायक कहलाता है । उसके शुद्ध वंशकी उत्पन्न हुई दो स्त्रियां हैं ॥ १५ ॥ पहली स्त्रीका नाम पद्माही है और दूसरी स्त्रीका नाम गौराही है । उस न्योता नामके संघनायकके पद्माही स्त्रीसे देईदास नामका एक पुत्र हुआ है जो कि एक हो

दासः स्यादेकोपि लक्षायते । गौराहीयोषितः पुत्राश्चत्वारो मदनोपमाः ॥ १७ ॥ न्योतासंघाधिनायस्य स्ववंशावनिचक्रिणः । तत्राद्योऽङ्गजो गोपा हि सामा पुत्रो द्वितीयकः ॥ १८ ॥ तृतीयो धनमल्लोस्ति ततस्तुर्यो नरायणः । भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥ १९ ॥ कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्छन्दानुगामिनी । रामूहीयोषितः पुत्रा देईदासस्य सद्मनि ॥ २० ॥ प्रथमाश्चाह्वयया साधू द्वितीयो हरदासकः । ताराचन्द्रः तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तेजपालकः ॥ २१ ॥ पञ्चमो रामचन्द्रश्च पञ्चापि पाण्डवोपमाः । साधूभार्या मथुरी च या गंगा शुद्धवंशजा ॥ २२ ॥ गोपाभार्या समाख्याता अजवा शुद्धवंशजा । सामाभार्या च पूरी स्याल्लावण्यादिगुणान्विता ॥ २३ ॥ धनमल्लस्य भार्या स्याद्विख्याता हि उद्धरही । भोल्हासंघाधिनाथस्य भार्यास्तिस्रः कुलांगनाः ॥ २४ ॥ छाजूही योषितः पुत्राः पञ्च प्रोच्चण्डविक्रमाः । प्रथमो बालचन्द्रः स्याल्लालचन्द्रो द्वितीयकः ॥ २५ ॥ तृतीयो निहालचन्द्रश्चतुर्थो गणेशाह्वयः । कनिष्ठोपि गुणोत्कृष्टः पञ्चमस्तु नरायणः ॥ २६ ॥

कर भी लाखोंके समान है तथा अपने वंशरूपी पृथ्वीको वश करनेके लिए चक्रवर्तीके समान ऐसे न्योता नामक संघनायकके गौराही स्त्रीसे कामदेवके समान अत्यंत सुंदर चार पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहले पुत्रका नाम गोया है, दूसरेका नाम सामा है, तीसरेका नाम धनमल्ल है और चौथेका नाम नारायण है। देईदासके दो स्त्रियां हैं, पहलीका नाम रामूही है ॥ १८-१९ ॥ तथा अपने पतिकी आज्ञानुसार चलनेवाली दूसरी स्त्रीका नाम कामूही है। देईदासके घर रामूही स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहलेका नाम साधु है, दूसरेका नाम हरदास है, तीसरेका नाम ताराचंद है, चौथेका नाम तेजपाल है और पांचवेंका नाम रामचन्द्र है। ये पांचों ही पुत्र पांचों पांडवोंके समान हैं। साधुकी स्त्रीका नाम मथुरी और शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गंगा है। ॥ २०-२२ ॥ शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गोयाकी स्त्रीका नाम अजवा है तथा लावण्य आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाली सामाकी स्त्रीका नाम पूरी है ॥ २३ ॥ धनमल्लकी स्त्रीका प्रसिद्ध नाम उद्धरही है। यह न्योताका वंश बतलाया।

भोल्हानामके संघनायकके तीन स्त्रियां हैं। ये तीनों ही कुलांगनाएं हैं ॥ २४ ॥ उनमेंसे छाजूही नामकी स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो बडे ही पराक्रमी हैं। इनमेंसे पहलेका नाम बालचन्द्र है, दूसरेका लालचंद्र है, तीसरेका नाम निहालचंद्र है, चौथेका नाम गणेश है तथा सबसे छोटा किंतु गुणोंमें सबसे बडा ऐसा पांचवां पुत्र

तयोर्द्वयोः । ज्झारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥ तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः । एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥ एतेषामस्तिमध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी । श्रेयोर्थं फामनीयै समुदितमनसा दानमानासनाद्यैः; स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा माध्विना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम्।

पृथ्वीपर ऐसे शोभायमान हैं मानो अपने वंशरूपी आकाशमें सूर्य चन्द्रमा ही हो ॥३४॥ यह सब भारूके पहले पुत्र दूदाका वंश बतलाया।

अब भारूके अन्य पुत्रोंका वंश बतलाते हैं। भारूके दूसरे पुत्रका नाम ठकुर है। वह भी बहुत धर्मात्मा है। उसकी स्त्रीका नाम तिहुणा है। उन दोनोंके एक पुत्र है जिसका नाम नाथू है ॥३५॥ नाथूकी स्त्रीका नाम चिताल्ही है। नाथूके उस चिताल्ही स्त्रीसे रूढानामका पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह भारूके दूसरे पुत्र ठुकरका वंश बतलाया।

अब भारूके चौथे पुत्रका वंश बतलाते हैं। भारूके चौथे पुत्रका नाम तिलोक है। उसकी स्त्रीका नाम चुंही है ॥३६॥ उसके पुत्रका नाम गांगू है। यह गांगू अपने वंशमें आभूषणके समान सुशोभित है। ये सब जैनधर्मको धारण करते हैं और अपनी कीर्तिके द्वारा ये संघेश्वर कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

इन सबमें गृहस्थधर्ममें अत्यन्त प्रेम रखनेवाला फामननामका संघनायक है उसीने यह गृहस्थोंके योग्य लाटीसंहितानामका ग्रन्थ निर्माण कराया है। फामनके द्वारा दिये हुए दान मान और आसनके द्वारा जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है तथा जो अत्यन्त विद्वान् है और श्रीहेमचन्द्रकी आम्नायमें रहता है ऐसे विद्वद्वर राजमल्लने अपने नामको धारण करनेवाली यह लाटीसंहिता अपने कल्याणके लिये निर्माण की है ॥ ३८ ॥ इसप्रकार वंशका वर्णन समाप्त हुआ।

इस संसारमें जबतक गंगाका जल विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा परिभ्रमण कर रहे

दासः स्यादेकोपि लक्षायते । गौराहीयोषितः पुत्राश्चत्वारो मदनोपमाः ॥ १७ ॥ न्योतासंघाधिनायस्य स्ववंशावनिचक्रिणः । तत्राद्योङ्गजो गोपा हि सामा पुत्रो द्वितीयकः ॥ १८ ॥ तृतीयो धनमल्लोस्ति ततस्तुर्यो नरायणः । भार्या देईदासस्य रामुही प्रथमा मता ॥ १९ ॥ कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्छन्दानुगामिनी । रामुहीयोषितः पुत्रा देईदासस्य सन्ति ॥ २० ॥ प्रथमाश्चाद्यया साधू द्वितीयो हरदासकः । ताराचन्द्रः तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तेजपालकः ॥ २१ ॥ पञ्चमो रामचन्द्रश्च पञ्चापि पाण्डवोपमाः । साधूभार्या मथुरी च या गंगा शुद्धवंशजा ॥ २२ ॥ गोपाभार्या समाख्याता अजवा शुद्धवंशजा । सामाभार्या च पूरी स्याल्लावण्यादिगुणान्विता ॥ २३ ॥ धनमल्लस्य भार्या स्याद्विख्याता हि उद्धरही । भोल्हासंघाधिनायस्य भार्यास्तिस्रः कुलांगनाः ॥ २४ ॥ छाजांही योषितः पुत्राः पञ्च प्रोच्चण्डविक्रमाः । प्रथमो वालचन्द्रः स्याल्लालचन्द्रो द्वितीयकः ॥ २५ ॥ तृतीयो निहालचन्द्रश्चतुर्थो गणेशाह्वयः । कनिष्ठोपि गुणोत्कृष्टः पञ्चमस्तु नरायणः ॥ २६ ॥

कर भी लाखोंके समान है तथा अपने वंशरूपी पृथ्वीको वश करनेके लिए चक्रवर्तीके समान ऐसे न्योता नामक संघनायकके गौराही स्त्रीसे कामदेवके समान अत्यंत सुंदर चार पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहले पुत्रका नाम गोया है, दूसरेका नाम सामा है, तीसरेका नाम घनमल्ल है और चौथेका नाम नारायण है। देईदासके दो स्त्रियां हैं, पहलीका नाम रामूही है ॥ १८-१९ ॥ तथा अपने पतिकी आज्ञानुसार चलनेवाली दूसरी स्त्रीका नाम कामूही है। देईदासके घर रामूही स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहलेका नाम साधु है, दूसरेका नाम हरदास है, तीसरेका नाम ताराचंद है, चौथेका नाम तेजपाल है और पांचवेंका नाम रामचन्द्र है। ये पांचों ही पुत्र पांचों पांडवोंके समान हैं। साधुकी स्त्रीका नाम मथुरी और शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गंगा है। ॥ २०-२२ ॥ शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गोयाकी स्त्रीका नाम अजवा है तथा लावण्य आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाली सामाकी स्त्रीका नाम पूरी है ॥ २३ ॥ घनमल्लकी स्त्रीका प्रसिद्ध नाम उद्धरही है। यह न्योताका वंश बतलाया।

भोल्हानामके संघनायकके तीन स्त्रियां हैं। ये तीनों ही कुलांगनाएं हैं ॥ २४ ॥ उनमेंसे छाजूही नामकी स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो बडे ही पराक्रमी हैं। इनमेंसे पहलेका नाम बालचन्द्र है, दूसरेका लालचंद्र है, तीसरेका नाम निहालचंद्र है, चौथेका नाम गणेश है तथा सबसे छोटा किंतु गुणोंमें सबसे बडा ऐसा पांचवां पुत्र

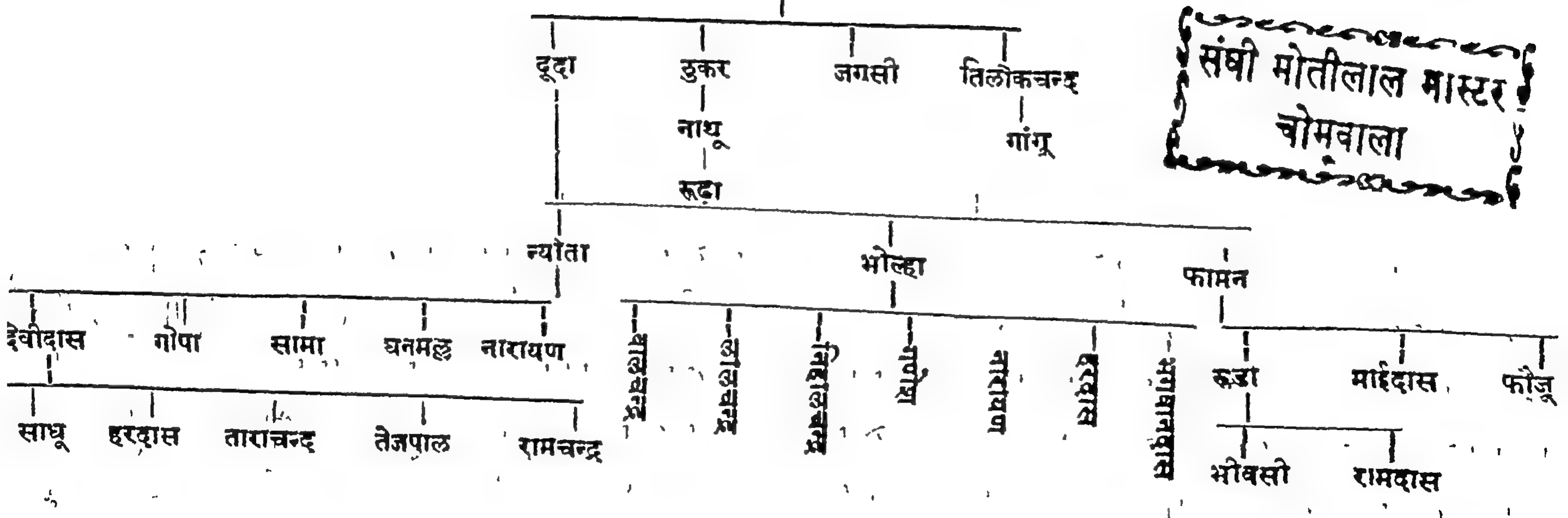
यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ, यावत्क्षेत्रेऽत्र दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेस्मिन्। तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु जिनयतेराज्ञया
ख्यातलक्ष्म तावत्त्वं फामनाख्यः श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥ ३९ ॥ इत्याशीर्वादः।
यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चंद्रदिवाकरौ। वाच्यमानं बुधैस्तावच्चिरं नन्दतु पुस्तकम् ॥ ४० ॥

हैं और जबतक इस भरतक्षेत्रमें दिव्य सरस्वतीदेवी पूर्णरूपसे अपना प्रभाव जमा रही हैं तबतक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार ही जिसमें समस्त लक्षण कहे गये हैं ऐसा यह जैनसिद्धांत अथवा यह सिद्धांत ग्रंथ जयशील बना रहे तथा तभीतक संघका नायक यह फामन भी सब तरहकी लक्ष्मी और शोभाको प्राप्त होता रहे ॥ ३९ ॥ इति आशीर्वादः।

इस पृथ्वीपर जबतक मेरु पर्वत विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा विद्यमान हैं तबतक विद्वानोंके द्वारा पढा जानेवाला यह ग्रंथ चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त होता रहे।

इति श्रीलाटी-संहिता भाषा टीका समाप्त

ग्रंथ बनानेवाले फामनका वंशवृक्ष



एते पञ्चापि पुत्राश्च जैनधर्मपरायणाः । वीधूहीयोषितः पुत्रौ जानकीपुत्रतोपमौ ॥ २७ ॥ भोल्हासंघाधिनाथस्य वणिजां चक्रवर्तिनः । प्रथमको हरदासः कृष्णराजबलोपमः ॥ २८ ॥ द्वितीयो भावनादासः शत्रुकाष्ठदवानलः । बालचन्द्रस्य सद्भार्या करमाया स्यात्कुलांगना ॥ २९ ॥ लालचन्द्रभार्या गोमा धर्मपत्नी पतिव्रता । निहालचन्द्रस्य भार्ये वंश्या नाम्ना च वीरणी ॥ ३० ॥ गणेशाह्वयास्य सद्भार्या साध्वी नाम्ना सहोदरा । फामनसंघनाथस्य भार्ये द्वे शुद्धवंशजे ॥ ३१ ॥ आद्या डूगरही ख्याता नाम्ना गंगा द्वितीयका । डूँगरही भार्यायाः द्वौ पुत्रौ हि चिरजीविनौ ॥ ३२ ॥ रूडा स्यादादिमो नाम्ना माईदासो द्वितीयकः । गंगायाः योषितः पुत्रो मुख्यः फौजूसमाह्वयः ॥ ३३ ॥ रूडाभार्या च दूलाही तयोः पुत्रौ च द्वौ स्मृतौ । प्रथमो भीवसी नाम्ना रायदासो द्वितीयकः ॥ खवंशगगने भूम्नि पुष्पदन्ताविवस्थितौ ॥ ३४ ॥ उक्तारू द्वितीयपुत्रस्य फठुराह्वयस्य धर्मिणः । भार्या तिह्वणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥३५॥ नाथू भार्याचिताल्ही स्यात्पुत्रो रूडा

नारायण है ॥ २४-२६ ॥ ये पांचों पुत्र जैनधर्ममें तत्पर हैं । वैश्य वा व्यापारियोंमें चक्रवर्तीके समान भोल्हानामके संघनायकके बीधूहीनामकी स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो दोनों ही जानकीके पुत्र लव और अंकुशके समान हैं। इन दोनोंमेंसे पहले पुत्रका नाम हरदास है जो कृष्णराजबलके समान है । अथवा कृष्णराजके समान बलवान है तथा दूसरे पुत्रका नाम भगवानदास है जो शत्रुरूपी काष्ठको भस्म कर देनेके लिये दावानल अग्निके समान है। इनमेंसे बालचन्दकी श्रेष्ठ कुलस्त्रीका नाम करमा है ॥२७-२९॥ लालचन्द्रकी धर्मपत्नी पतिव्रता स्त्रीका नाम गोमा है। निहालचन्द्रके दो स्त्रियां हैं। पहिली स्त्रीका नाम वंश्या है और दूसरीका नाम वीरणी है ॥३०॥ गणेशकी श्रेष्ठ और साध्वी (सीधीसाधी) स्त्रीका नाम सहोदरा है। इसप्रकार यह भोल्हाका वंश बतलाया ।

फामननामके संघनायकके दो स्त्रियां है जो दोनों ही शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई हैं। पहिली स्त्रीका नाम डूगरही है और दूसरीका नाम गंगा है। फामनके डूगरही स्त्रीसे दो चिरंजीव पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥३१-३२॥ पहले पुत्रका नाम रूडा है और दूसरे पुत्रका नाम माईदास है तथा फामनसेठके गंगानामकी स्त्रीसे फौजू नामका एक मुख्य पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥३३॥ उनमेंसे रूडाकी स्त्रीका नाम दूलाही है । उस रूडाकी दूलाही स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। पहले पुत्रका नाम भीवसी है और दूसरे पुत्रका नाम रामदास है। ये दोनों पुत्र

तयोर्द्वयोः। भारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥ तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः। एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥ एतेषामस्तिमध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी। श्रेयोर्थं फामनीयै समुदितमनसा दानमानासनाद्यैः; स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा मापिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम्।

पृथ्वीपर ऐसे शोभायमान हैं मानो अपने वंशरूपी आकाशमें सूर्य चन्द्रमा ही हो ॥३४॥ यह सब भारूके पहले पुत्र दूदाका वंश बतलाया।

अब भारूके अन्य पुत्रोंका वंश बतलाते हैं। भारूके दूसरे पुत्रका नाम ठकुर है। वह भी बहुत धर्मात्मा है। उसकी स्त्रीका नाम तिहुणा है। उन दोनोंके एक पुत्र है जिसका नाम नाथू है ॥३५॥ नाथूकी स्त्रीका नाम चितात्ही है। नाथूके उस चितात्ही स्त्रीसे रूढानामका पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह भारूके दूसरे पुत्र ठुकरका वंश बतलाया।

अब भारूके चौथे पुत्रका वंश बतलाते हैं। भारूके चौथे पुत्रका नाम तिलोक है। उसकी स्त्रीका नाम चुंही है ॥३६॥ उसके पुत्रका नाम गांगू है। यह गांगू अपने वंशमें आभूषणके समान सुशोभित है। ये सब जैनधर्मको धारण करते हैं और अपनी कीर्तिके द्वारा ये संघेश्वर कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

इन सबमें गृहस्थधर्ममें अत्यन्त प्रेम रखनेवाला फामननामका संघनायक है उसीने यह गृहस्थोंके योग्य लाटीसंहितानामका ग्रन्थ निर्माण कराया है। फामनके द्वारा दिये हुए दान मान और आसनके द्वारा जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है तथा जो अत्यन्त विद्वान् है और श्रीहेमचन्द्रकी आम्नायमें रहता है ऐसे विद्वद्वर राजमल्लने अपने नामको धारण करनेवाली यह लाटीसंहिता अपने कल्याणके लिये निर्माण की है ॥ ३८ ॥ इस प्रकार वंशका वर्णन समाप्त हुआ।

इस संसारमें जबतक गंगाका जल विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा परिभ्रमण कर रहे

छठा सर्ग

सातवां सर्ग

लाटी-संहिता

भाषा-टीका-सहित

(समाप्त)

अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तासि णं खुड्डियाणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे उप्पायपव्वया णियइपव्वया जगतिपव्वया दारुपव्वयगा दगमंडवगा दगमंचका दगमालका दगपासायगा ऊसडा खुल्ला खडहडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं उप्पायपव्वतेसु जाव पक्खंदोलएसु बहवे हंसासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्कंकडच्छायाइं सप्पभाइं सम्मिरीयाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं ॥ तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालिघरा कयलिघरा लयाघरा अच्छणघरा पेच्छणघरा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालघरगा जालघरगा कुसमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सम्मिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ तेसु णं आलिघरएसु जाव आयंसघरएसु बहूइं हंसासणाइं जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं ॥ तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं

तहिं बहवे जाइमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा णवमालियामंडवगा वासंतीमंडवगा दधिवासुयामंडवगा सूरिल्लिमंडवगा तंबोलीमंडवगा मुद्दियामंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तमंडवगा अप्फोलामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामंडवगा णिच्चं कुसुमिया णिच्चं जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं जातीमंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता, तंजहा—हंसासणसंठिता कोंचासणसंठिता गरुलासणसंठिता उण्णयासणसंठिता पणयासणसंठिता दीहासणसंठिता भद्दासणसंठिता पक्खासणसंठिता मगरासणसंठिता उसभासणसंठिता सीहासणसंठिता पउमासणसंठिता दिसासोत्थियासणसंठिता पं०, तत्थ बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया पण्णत्ता समणाउसो! आइण्णगरूयबूरणवणीततूलफासा मउया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ तीसे णं जगतीए उप्पिं अंतो पउमवरवेदियाए एत्थ णं एगे महं वणसंडे पण्णत्ते देसूणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेणं वेइयासमएणं परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे वणसंडवण्णओ (मणि)तणसद्दविहूणो णेयव्वो, तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीयंति तुयट्टंति रमंति

ललंति कीडंति मोहंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कंताणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ (सू० १२७)

'तस्स णं वणसंडस्से'त्यादि, तस्य णमिति वाक्यालङ्कारे वनखण्डस्य मध्ये तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे 'बहूईओ' इति बह्व्यः 'खुड्डा खुड्डियाओ' इति क्षुल्लिकाः क्षुल्लिका लघवो लघव इत्यर्थः, 'वाप्यः' चतुरस्राकाराः 'पुष्करिण्यः' वृत्ताकाराः अथवा पुष्कराणि विद्यन्ते यासु ताः पुष्करिण्यः 'दीर्घिकाः' सारिण्यस्ता एव वक्रा गुञ्जालिकाः, बहूनि केवलकेवलानि पुष्पावकीर्णकानि सरांसि, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, बहूनि सरांसि एकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सरःपङ्क्तिस्ता बह्व्यः सरःपङ्क्तयः, तथा येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया संचरति सा सरःसरःपङ्क्तिस्ता बह्व्यः सरःसरःपङ्क्तयः, तथा बिलानीव बिलानि—कूपास्तेषां पङ्क्तयो बिलपङ्क्तयः, एताश्च सर्वा अपि कथम्भूताः ? इत्याह—'अच्छा' स्फटिकवद्बहिर्निर्म्मलप्रदेशाः 'श्लक्ष्णाः' श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशाः, तथा रजतमयं—रूप्यमयं कूलं यासां ता रजतमयकूलाः, तथा समं—अगर्त्तासद्भावतोऽविषमं तीरं तीरावर्त्तिजलापूरितं स्थानं यासां ताः समतीराः, तथा वज्रमयाः पाषाणा यासां ता वज्रमयपाषाणाः, तथा तपनीयं—हेमविशेषस्तपनीयं—तपनीयमयं तलं—भूमितलं यासां तास्तपनीयतलाः, तथा 'सुवण्णसुज्झरययवालुयाओ' इति सुवर्णं—पीतकान्तिहेम सुज्झं—रूप्यविशेषः रजतं—प्रतीतं तन्मय्यो वालुका यासु ताः सुवर्णसुज्झरजतवालुकाः, 'वेरुलियमणिफालिहपडलपच्चोयडाओ य'त्ति वैडूर्यमणिमयानि स्फाटिकपटलमयानि प्रत्यवतटानि तटसमीपवर्त्तिनोऽत्युन्नतप्रदेशा यासां ता वैडूर्यमणिस्फटिकपटलप्रत्यवतटाः 'सुहोयारासुउत्तारा' इति सुखेनावतारो—जलमध्ये प्रवेशनं यासु ताः स्ववताराः तथा सु—सुखेन उत्तारो—जलमध्याद्बहिर्विनिर्गमनं यासु ताः

सुखोत्तारा: ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः 'नाणामाणतित्थसुबद्धाओ' इति नानामणिभिः—नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः, अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्प्राकृतशैलीवशाद्वा, 'चउक्कोणाओ' इति चत्वारः कोणा यस्यां सा चतुष्कोणाः एतच्च विशेषणं वापीः कूपांश्च प्रति द्रष्टव्यं, तेषामेव चतुष्कोणत्वसम्भवात् न शेषाणां, तथा आनुपूर्व्वेण—क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु—अतिशयेन यो जातो वप्रः—केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरं—अलब्धस्थानं शीतलं जलं यासु ता आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजलाः 'संछण्णपत्तभिसमुणालाओ' संछन्नानि—जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यासु ताः संछन्नपत्रबिसमृणालाः, इह बिसमृणालसाहचर्यात्पत्राणि—पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि—कन्दा मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिताः, तथा षट्पदैः—भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि च यासु ताः षट्पदपरिभुज्यमानकमलाः, तथाऽच्छेन—स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेन—आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा अच्छविमलसलिलपूर्णाः, तथा 'पडिहत्था' अतिरेकिताः अतिप्रभूता इत्यर्थः "पडिहत्थमुद्धुमायं अहिरेइयं च जाण आउण्णं" इति वचनात्, उदाहरणं चात्र—"घणपडिहत्थं गयणं सराइं नवसलिलसुद्ध(उद्धु)मायाइं । अहिरेइयं मई उण चिंताएँ मणं तुहं विरहे ॥ १ ॥" इति, भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र ताः पडिहत्थभ्रमन्मत्स्यकच्छपाः, तथाऽनेकैः—शकुनमिथुनकैः प्रविचरिता—इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ता अनेकशकुनमिथुनकप्रविचरिताः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, एता वाप्यादयः सरस्सरःपङ्क्तिपर्यवसानाः प्रत्येकं प्रत्येकमिति, एकमेकं प्रति प्रत्येकम्, अत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दो न वीप्साविवक्षायां, पश्चात्प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनमिति, पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं वनषण्डपरिक्षिप्ताश्च, 'अप्पेगतियाओ' इत्यादि, अपिर्बाढार्थे बाढमेकका:—काश्चन

वाप्यादय आसवमिव—चन्द्रहासादिपरमासवमिव उदकं यासां ता आसवोदकाः, अप्येकका वारुणस्य वारुणसमुद्रस्येव उदकं यासां ता वारुणोदकाः, अप्येकका: क्षीरमिवोदकं यासां ताः क्षीरोदकाः, अप्येकका घृतमिवोदकं यासां ता घृतोदकाः, अप्येकका: क्षोद इव—इक्षुरस इव उदकं यासां ताः क्षोदोदकाः, अप्येकका अमृतरससमरसमुदकं यासां ता अमृतरससमरसोदकाः, अप्येकका अमृतरसेन स्वाभाविकेन प्रज्ञप्ताः, 'पासाईया(ओ)' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्, तासां क्षुल्लिकानां यावद्बिलपङ्क्तीनां प्रत्येकं २ चतुर्दिशि चत्वारि, एकैकस्यां दिशि एकैकभावात्, 'त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि' प्रतिविशिष्टं रूपं येषां तानि प्रतिरूपकाणि त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, तानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणाम् 'अयं' वक्ष्यमाणः 'एतद्रूपः' अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'वज्रमयाः' वज्ररत्नमया 'नेमाः' भूमेरूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः 'रिष्ठमयाः' रिष्ठरत्नमयाः 'प्रतिष्ठानाः' त्रिसोपानमूलपादा वैडूर्यमयाः स्तम्भाः सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि—त्रिसोपानाङ्गभूतानि वज्रमयानि वज्ररत्नापूरिताः सन्धयः—फलकद्वयापान्तरालप्रदेशाः लोहिताक्षमय्यः सूच्यः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः नानामणिमया अवलम्ब्यन्ते इति अवलम्बना—अवतरतामुत्तरतां चालम्बने हेतुभूता अवलम्बनबाहातो विनिर्गताः केचिदवयवाः 'अवलंबणबाहाओ' इति अवलम्बनबाहा अपि नानामणिमयाः, अवलम्बनबाहा नाम उभयोः उभयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः, 'पासाईयाओ' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च तोरणानामयमेतद्रूपो 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'ते णं तोरणा नाणामणिमया' इत्यादि, तानि तोरणानि नानामणिमयानि, मणयः—चन्द्रकान्तादयः, विविध म-

णिमयानि, नानामणिमयेषु स्तम्भेषु 'उपविष्टानि' सामीप्येन स्थितानि, तानि च कदाचिच्चलानि अथवाऽपदपतितानि वाऽऽशङ्क्येरन् तत आह—सम्यग्—निश्चलतयाऽपदपरिहारेण च निविष्टानि ततो विशेषणसमासः उपविष्टसन्निविष्टानि 'विविहमुत्तंतरोचिया' इति विविधा—विविधविच्छित्तिकलिता मुक्ता—मुक्ताफलानि 'अंतरे'ति अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति, अन्तरा २ 'ओचिया' आरोपिता यत्र तानि तथा, 'विविहतारारूवोवचिया' इति विविधैस्तारारूपैः—तारिकारूपैरुपचितानि, तोरणेषु हि शोभार्थं तारका निबध्यन्ते इति लोकेऽपि प्रतीतं इति विविधतारारूपोपचितानि, 'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता' इति ईहामृगा—वृका व्यालाः—श्वापदभुजगाः, ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिंनररुरुसरभकुञ्जरवनलतापद्मलतानां भक्त्या—विच्छित्त्या विचित्रं—आलेखो येषु तानि तथा, स्तम्भोद्गताभिः—स्तम्भोपरिवर्त्तिनीभिर्वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामाणि, तथा 'विज्जाहरजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया' इति विद्याधरयोर्यद् यमलं—समश्रेणीकं युगलं—द्वन्द्वं विद्याधरयमलयुगलं तेषां यन्त्राणि—प्रपञ्चास्तैर्युक्तानीव, अर्चिषां सहस्रैर्मालनीयानि—परिवारणीयानि अर्चिःसहस्रमालनीयानि, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम प्रभासमुदायोपेतानि येनैवं संभावनोपजायते यथा नूनमेतानि न स्वाभाविकप्रभासमुदयोपेतानि किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषविशेषप्रपञ्चयुक्तानीति, 'रूवगसहस्सकलिया' इति रूपकाणां सहस्राणि रूपकसहस्राणि तैः कलितानि रूपकसहस्रकलितानि 'भिसमाणा' इति दीप्यमानानि 'भिब्भिसमाणा' इति अतिशयेन दीप्यमानानि 'चक्खुल्लोयणलेसा' इति चक्षुः कर्तृ लोकने—अवलोकने लिसतीव—दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतीव यत्र तानि चक्षुर्लोकनलेसानि 'सुहफासा' इति शुभस्पर्शानि सशोभाकानि रूपाणि यत्र तानि सश्रीकरूपाणि,

'पासाईया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसिं तोरणाणं उवरिं अट्ठट्ठमंगले'त्यादि सुगमं, नवरं 'जाव पडिरूवा' इति यावत्करणात् 'घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादिपरिग्रहः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानामुपरि वहवः 'कृष्णचामरध्वजाः' कृष्णचामरयुक्ता ध्वजाः कृष्णचामरध्वजाः एवं वहवो नीलचामरध्वजा लोहितचामरध्वजा हारिद्रचामरध्वजाः शुक्लचामरध्वजाः, कथम्भूता इत्याह एते सर्वेऽपि? इति, अत आह—'अच्छा' आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः 'कृष्णाः' कृष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिता 'रूप्यपट्टा' इति रूप्यो—रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येपां ते रूप्यपट्टाः 'वइरदंडा' इति वज्रो—वज्ररत्नमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्त्ती येपां ते वज्रदण्डाः, तथा जलजानामिव—जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवामलो—निर्म्मलो न तु कुद्रव्यगंधसम्मिश्रो यो गन्धः स विद्यते येपां ते जलजामलगन्धिका 'अतः अनेकस्वरा'दितीकप्रत्ययः, अत एव सुरम्याः, 'पासादीया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानामुपरि वहूनि 'छत्रातिच्छत्राणि' छत्रात्—लोकप्रसिद्धादेकसङ्ख्याकादतिशायीनि द्विसङ्ख्यानि त्रिसङ्ख्यानि वा छत्रातिच्छत्राणि, वह्व्यः पताकाभ्यो—लोकप्रसिद्धाभ्योऽतिशायिन्यो दीर्घत्वेन विस्तारेण च पताकाः पताकातिपताकाः, वहूनि घण्टायुगलानि वहूनि चामरयुगलानि वहवः 'उत्पलहस्तकाः' उत्पलाख्यजलजकुसुमसमूहविशेपाः, एवं पद्महस्तका वहवो नलिनहस्तका वहवः सुभगहस्तका वहवः सौगन्धिकहस्तका वहवः पुण्डरीकहस्तका वहवः शतपत्रहस्तकाः वहवः सहस्रपत्रहस्तकाः, उत्पलादीनि प्रागेव व्याख्यातानि, एते च छत्रातिच्छत्रादयः सर्वेऽपि सर्वरत्नमयाः 'जाव पडिरूवा' इति यावत्करणात् 'अच्छा सण्हा लण्हा' इत्यादि विशेपणकदम्वकपरिग्रहः ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां क्षुल्लिकानां वापीनां यावद्बिलपङ्क्तीनाम्, अत्र यावच्छब्दात् पुष्करिण्यादिपरिग्रहः, अपान्तरालेषु तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे वहव उत्पातपर्वता—यत्रागत्य वहवो व्यन्तरदेवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति

'नियइपव्वया' इति **नियत्या**—नैयत्येन पर्वता नियतिपर्वताः, कचित् **'निययपव्वया'** इति पाठस्तत्र **नियताः**—सदा भोग्यत्वेनावस्थिताः पर्वता नियतपर्वताः, यत्र वानमन्तरा देवा देव्यश्च भवधारणीयेन वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते इति भावः, **'जगतीपर्वतकाः'** पर्वतविशेषाः **'दारुपर्वतकाः'** दारुनिर्मापिता इव पर्वतकाः **'दगमंडवगा'** इति **'दकमण्डपकाः'** स्फटिकमण्डपकाः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"दकमण्डपकाः स्फाटिकमण्डपका" इति, एवं दकमञ्चका दकमालका दकप्रासादाः, एते च दकमण्डपादयः केचित् **'ऊसडा'** इति उत्सृता उच्चा इत्यर्थः, केचित् **'खुड्डा'** इति क्षुल्ला लघवः कचित् **'खडख(ह)डगा'** इति लघव आयताश्च, तथा अन्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च, तत्र यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमन्दोलयन्ति ते अन्दोलका इति लोके प्रसिद्धाः, यत्र तु पक्षिण आगत्यात्मानमन्दोलयन्ति ते पक्ष्यन्दोलकाः, ते चान्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च तस्मिन् वनषण्डे तत्र तत्र प्रदेशे वानमन्तरदेवदेवीक्रीडायोग्या बहवः सन्ति, ते चोत्पातपर्वतादयः कथम्भूताः ? इत्याह—**'सर्वरत्नमयाः'** सर्वात्मना रत्नमयाः, **'अच्छा सण्हा'** इत्यादि विशेषणजातं पूर्ववत् ॥ **'तेसु ण'**मित्यादि, तेषु उत्पातपर्वतेषु यावत्पक्ष्यन्दोलकेषु, यावत्करणान्नियतिपर्वतकादिपरिग्रहः, बहूनि हंसासनानि तत्र येषामासनानामधोभागे हंसा व्यवस्थिता यथा सिंहासने सिंहाः तानि हंसासनानि, एवं क्रौञ्चासनानि गरुडासनानि च भावनीयानि, उन्नतासनानि नाम यानि उच्चासनानि प्रणतासनानि—निम्नासनानि दीर्घासनानि—शय्यारूपाणि **भद्रासनानि** येषामधोभागे पीठिकाबन्धः पक्ष्यासनानि येषामधोभागे नानास्वरूपाः पक्षिणः, एवं मकरासनानि सिंहासनानि च भावनीयानि, **पद्मासनानि**—पद्माकाराणि आसनानि **'दिसासोवत्थियासणाणि'** येषामधोभागे दिक्सौवस्तिका आलिखिताः सन्ति, अत्र यथाक्रममासनानां सङ्ग्राहिका सङ्ग्रहणिगाथा—"हंसे १ कोंचे २ गरुडे ३ उणय ४ पणए य ५ दीह ६ भद्दे य ७ । पक्खे ८ मयरे ९

तथा वर्त्तन्त इति भावः 'क्रीडन्ति' यथासुखमितस्ततो गमनविनोदेन गीतनृत्यादिविनोदेन वा तिष्ठन्ति 'मोहन्ति' मैथुनसेवां कुर्वन्ति, इत्येवं 'पुरा पोराणाण'मित्यादि, 'पुरा' पूर्वं प्राग्भवे इति भावः कृतानां कर्म्मणामिति योगः, अत एव पौराणानां सुचीर्णानां—सुचरितानामितिभावः, इह सुचरितजनितं कर्म्मापि कार्ये कारणोपचारात्सुचरितमिति विवक्षितं, ततोऽयं भावार्थः—विशिष्टतथाविधधर्म्मानुष्ठानविषयाप्रमादकरणक्षान्त्यादिसुचरितानामिति, तथा सुपराक्रान्तानाम्, अत्रापि कारणे कार्योपचारात् सुपराक्रान्तजनितानि कर्माण्येव सुपराक्रान्तानि इत्युक्तं भवति, सकलसत्त्वमैत्रीसत्यभाषणपरद्रव्यानपहारसुशीलादिरूपसुपराक्रमजनितानामिति, अत एव शुभानां—शुभफलानाम्, इह किञ्चिदशुभफलमपीन्द्रियमतिविपर्यासात् शुभफलमाभाति ततस्तात्त्विकशुभत्वप्रतिपत्त्यर्थमस्यैव पर्यायशब्दमाह—'कल्याणानां' तत्त्ववृत्त्या तथाविधविशिष्टफलदायिनाम्, अथवा कल्याणानाम्—अनर्थोपशमकारिणां, कल्याणं—कल्याणरूपं फलविपाकं 'पच्चणुभवमाणा' प्रत्येकमनुभवन्तः—'विहरन्ति' आसते ॥ तदेवं पद्मवरवेदिकाया वहिर्यो वनखण्डस्तद्वक्तव्यतोक्ता, सम्प्रति तस्या एव पद्मवरवेदिकाया अर्वाग् जगत्या उपरि यो वनखण्डस्तद्वक्तव्यतामभिधित्सुराह—'तीसे णं जगतीए' इत्यादि, तस्या जगत्या उपरि पद्मवरवेदिकाया 'अन्तः' मध्यभागे अत्र महानेको वनषण्डः प्रज्ञप्तः 'देसोणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेण'मित्यादि सर्वं वहिर्वनखण्डवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरमत्र मणीना तृणानां च शब्दो न वक्तव्यः, पद्मवरवेदिकान्तरिततया तथाविधवाताभावतो मणीनां तृणानां च चलनाभावतः परस्परसंघर्षाभावात्, तथा चाह—"वणसंडवण्णतो सद्दवज्जो जाव विहरंति" इति ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपस्य द्वारसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—

जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा— ॥ २०१ ॥

विजये वेजयंते जयंते अपराजिए ॥ (सू० १२८) कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजये नामं दारे पण्णत्ते ?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाधाए जंबुद्दीवे दीवे पुरच्छिमपेरंते लवणसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजये णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेए वरकणगथूभियागे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलतपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गतवइरवेदियापरिगताभिरामे विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिते भिसिमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे वण्णो दारस्स (तस्सिमो होइ) तं०—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतले हंसगब्भमए एलुए गोमेज्जमते इंदक्खीले लोहितक्खमईओ दारचिडाओ जोतिरसामते उत्तरंगे वेरुलियामया कवाडा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया समुग्गगा वईरामई अग्गलाओ अग्गलपासाया वइरामई आवत्तणपेढिया अंकुत्तरपासते णिरंतरितघणकवाडे भित्तीसु चेव भित्तीगुलिया छप्पण्णा तिण्णि होंति गोमाणसी तत्तिया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालिभंजिया वइरामए कूडे रययामए उ-

रसेहे सव्वतवणिज्जमए उल्लोए णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहितक्खपडिवंसगरयत-भोम्मे अंकामया पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रयतामयी पट्टिताओ जायरूवमती ओहाडणी वइरामयी उवरि पुच्छणी सव्वसेतरययमए च्छायणे अंकमतकणगकूडत-वणिज्जथूभियाए सेते संखतलविमलणिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे तिलगरयणद्ध-चंदचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो य बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडे सुह-प्फासे सस्सिरीयरूवे पासातीए ४ ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयो पासिं दुहतो णिसीहियाते दो दो चंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवर-वारिपडिपुण्णा चंदणकयचच्चागा आबद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा महता महता महिंदकुंभसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीहिआए दो दो णागदंतपरिवाडीओ, ते णं णागदंतगा मुत्ताजालंतरू-सितहेमजालगवक्खजालखिंखिणीघंटाजालपरिक्खित्ता अब्भुग्गता अभिणिसिट्ठा तिरियं सुसं-पगहिता अहेपण्णगद्धरूवा पण्णगद्धसंठाणसंठिता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महता महया गयदंतसमाणा प० समणाउसो ! ॥ तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धवग्घारि-तमल्लदामकलावा जाव सुक्किलसुत्तबद्धवग्घारियमल्लदामकलावा ॥ ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा

सुवण्णपतरगमंडिता णाणामणिरयणविविधहारद्धहार (उवसोभितसमुदया) जाव सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति ॥ तेसि णं णागदंतकाणं उवरिं अण्णाओ दो दो णागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, तेसि णं णागदंतगाणं मुत्ताजालंतरूसिया तहेव जाव समणाउसो! । तेसु णं णागदंतएसु बहवे रयतामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रयणामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामतीओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुण्णेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं तप्पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ आपूरेमाणीओ अतीव अतीव सिरीए जाव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीधियाए दो दो सालिभंजियापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठिताओ सुपयट्ठियाओ सुअलंकिताओ णाणागारवसणाओ णाणामल्लपिणद्धि(द्धि)ओ मुट्ठीगेज्झमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टिअब्भुण्णयपीणरचियसंठियपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिदुविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लितग्गसिरयाओ ईसिं असोगवरपादवसमुट्ठिताओ वामहत्थगहितग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीतो इव चक्खुल्लोयणलेसाहिं अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ इव पुढविपरिणामाओ सासयभावमुव-

गताओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोएमाणीओ विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहियसंनिकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाइयाओ ४ तेयसा अतीव अतीव सोभेमाणीओ सोभेमाणीओ चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओपासिं दुहओ णिसीधियाए दो दो घंटापरिवाडिओ पण्णत्ताओ, तासि णं घंटाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—जंबूणतमतीओ घंटाओ वइरामतीओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासगा तवणिज्जमतीओ संकलाओ रयतामतीओ रज्जूओ ॥ ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ हंसस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ सीहस्सराओ सीहघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ ते पदेसे ओरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणनिव्वुइकरेण सद्देण जाव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओपासिं दुहतो णिसीधिताए दो दो वणमालापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणादुमलताकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलसोभंतसस्सिरीयाओ पासाईयाओ ते पएसे उरालेणं जाव गंधेणं आपूरेमाणीओ जाव चिट्ठंति (सू० १२९) ॥

'जंबुद्दीवस्स णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ 'कहिं णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य 'पुरच्छिमेणं'ति पूर्वस्यां दिशि पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रप्रमाणया 'अबाधया' अपान्तरालेन यो जम्बूद्वीपस्य 'पुरच्छिमे पेरंते' इति पूर्वः पर्यन्तो लवणसमुद्रपूर्वार्द्धस्य 'पच्चत्थिमेणं'ति पश्चिमे भागे शीताया महानद्या उपरि 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, अष्टौ योजनानि उच्चैस्त्वेन चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन, 'तावइयं चेव पवेसेणं'ति तावन्त्येव चत्वारीत्यर्थः योजनानि प्रवेशेन, कथम्भूतमित्यर्थः, 'सेए' इत्यादि, 'श्वेतं' श्वेतवर्णोपेतं बाहल्येनाङ्करत्नमयत्वात् 'वरकणगथूभियाए' इति वरकनका—वरकनकमयी स्तूपिका—शिखरं यस्य तद् वरकनकस्तूपिकाकम्, 'ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामे विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे' इति विशेषणजातं प्राग्वत्। 'वण्णो दारस्स तस्सिमो होइ' इति 'वर्णः' वर्णकनिवेशो द्वारस्य 'तस्य' विजयाभिधानस्य 'अयं' वक्ष्यमाणो भवति, तमेवाह—'तंजहे'त्यादि, तद्यथा—वज्रमया नेमा—भूमिभागादूर्द्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशा रिष्ठमयानि प्रतिष्ठानानि—मूलपादाः 'वेरुलियरुइलखंभे' इति वैडूर्या—वैडूर्यरत्नमया रुचिराः स्तम्भा यस्य तद् वैडूर्यरुचिरस्तम्भं 'जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकुट्टिमतले' इति जातरूपेण—सुवर्णेनोपचितैः—युक्तैः प्रवरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैर्मणिभिः—चन्द्रकान्तादिभिः रत्नैः—कर्केतनादिभिः कुट्टिमतलं—बद्धभूमितलं यस्य तत्तथा 'हंसगब्भमए एलुगे'

इति हंसगर्भो—रत्नविशेषस्तन्मय एलुको—देहली 'गोमेज्जमयंइंदकीले' इति गोमेयकरत्नमय इन्द्रकीलो लोहिताक्षरत्नमय्यौ द्वारपिण्डौ(चेट्यौ)—द्वारशाखे 'जोइरसामए उत्तरंगे' इति ज्योतीरसमयमुत्तरङ्गं—द्वारस्योपरि तिर्यग्व्यवस्थितं काष्ठं वैडूर्यमयौ कपाटौ लोहिताक्षमय्यो—लोहिताक्षरत्नालिकाः सूचयः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः 'वइरामया संधी' वज्रमयाः 'सन्धयः' सन्धिमेलाः फलकानां, किमुक्तं भवति ?—वज्ररत्नापूरिताः फलकानां सन्धयः, 'नानामणिमया समुग्गया' इति समुद्गका इव समुद्गकाः—सूतिकागृहाणि तानि नानामणिमयानि 'वइरामया अग्गला अग्गलपासाया' अर्गलाः—प्रतीताः अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते, आह च मूलटीकाकारः—"अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते" इति, एतौ द्वावपि वज्ररत्नमयौ, 'रययामयी आवत्तणपेढिया' इति आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलिका, उक्तं च मूलटीकायाम्—"आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवति" 'अंकुत्तरपासाए' इति अङ्का अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वा यस्य तद् अङ्कोत्तरपार्श्वं 'निरंतरियघणकवाडे' इति निर्गता अन्तरिका—लघ्वन्तररूपा ययोस्तौ निरन्तरिकौ अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरघनकपाटं 'भित्तिसु चेव भित्तिगुलिया छप्पण्णा तिन्नि होंति' इति तस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्भित्तिषु—भित्तिगता भित्तिगुलिकाः—पीठकसंस्थानीयास्तिस्रः षट्पञ्चाशतः—षट्पञ्चाशत्त्रिकप्रमाणा भवन्ति, 'गोमाणसिया तत्तिया' इति गोमानस्यः—शय्याः 'तत्तिया' इति तावन्मात्राः षट्पञ्चाशत्त्रिकसङ्ख्याका इत्यर्थः, 'नानामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालभंजियाए' इति इदं द्वारविशेषणं, नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि व्यालरूपकाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च—लीलास्थितपुत्रिकाश्च यस्य तत्तथा 'वइरामए कूडे' वज्रमयो—वज्ररत्नमयः कूटो—माडभागः रजतमय उत्सेधः—शिखरम्, आह च मूलटीकाकारः—"कूडो—माडभाग उच्छ्रयः—शिखर"मिति, केवलं शिखरमत्र तस्यैव माडभागस्य सं-

बन्धि द्रष्टव्यं न द्वारस्य, तस्य प्रागेवोक्तत्वात्, **'सव्वतवणिज्जमए उल्लोए'** सर्वात्मना तपनीयमय उल्लोकः—उपरिभागः **'नानामणि-रयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमे'** इति, मणयो—मणिमया वंशा येषां तानि मणिमयवंशकानि लोहिताक्षा—लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषां तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजता—रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि, प्राकृतत्वात्समासान्तो मकारस्य च द्वित्वं, मणिवंशकानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि—गवाक्षापरपर्यायाणि यस्मिन् द्वारे तत्तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात्, 'अंकमया पक्खा पक्खबाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुंछणीओ सव्वसेयरययामए छा(य)णे' इति पक्षवरवेदिकावद्भावनीयम्, **'अंकमयकणगकूडतवणिज्जथूभियागे'** इति अङ्कमयं—बाहुल्येनाङ्करत्नमयं पक्षबाहादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकं—कनकमयं कूटं—शिखरं यस्य तत् कनककूटं तपनीया—तपनीयमयी स्तूपिका—लघुशिखररूपा यस्य तत्तपनीयस्तूपिकाकं, ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्म्मधारयः, एतेन यत् प्राक् सामान्यत उत्क्षिप्तं **'सेए वरकणगथूभियागे'** इति तदेव प्रपञ्चतो भावितमिति। सम्प्रति तदेव श्वेतत्वमुपसंहारव्याजेन भूय उपदर्शयति—**'सेए'** श्वेतं, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति—**'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासे'** इति विमलं—विगतमलं यत् शङ्खतलं शङ्खस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनो—घनीभूतं दधिगोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत्प्रकाशः—प्रतिमता यस्य तत्तथा, **'तिलगरयणद्धचंदचित्ते'** इति तिलकरत्नानि—पुण्ड्रविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि—नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि, क्वचित् 'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनियरप्पगासद्धचंदचित्ता' इति पाठस्तत्र पूर्ववत् पृथक् पृथग् व्युत्पत्तिं कृत्वा पश्चात्पदद्वयस्य २ कर्मधारयः, **'नाणामणिदामालंकिए'** नाना-

मणयो—नानामणिमयानि दामानि—मालास्तैरलङ्कृतं नानामणिदामालङ्कृतम् अन्तर्बहिश्च 'श्लक्ष्णं' श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापितं 'तवणिज्जवालुयापत्थडे' इति तपनीया:—तपनीयमय्यो या वालुका:—सिकतास्तासां प्रस्तट:—प्रस्तारो यस्मिन् तत्तथा, 'सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स णं दारस्से' त्यादि, विजयस्य णमिति प्राग्वत् द्वारस्य उभयो: पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां, नैषेधिकी—निषीदनस्थानम्, उक्तं च मूलटीकाकारेण—''नैषेधिकी निषीदनस्थान''मिति प्रत्येकं द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, ते च चन्दनकलशा: 'वरकमलपइट्ठाणा'इति वरं—प्रधानं यत्कमलं तत्प्रतिष्ठानं—आधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठाना:, तथा सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णाश्चन्दनकृतचर्चाका:—चन्दनकृतोपरागा: 'आविद्धकंठेगुणा' इति आविद्ध:—आरोपित: कण्ठे गुणो—रक्तसूत्ररूपो येषु ते आविद्धकण्ठेगुणा:, कण्ठेकालवत्सप्तम्या अलुक्, 'पउमुप्पलपिहाणा' इति पद्ममुत्पलं च यथायोगं पिधानं येषां ते पद्मोत्पलपिधाना: 'सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् 'महयामहया' इति अतिशयेन महान्तो महेन्द्रकुम्भसमाना:, कुम्भानामिन्द्र इन्द्रकुम्भो, राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपात:, महांश्चासौ इन्द्रकुम्भश्च तस्य समाना महेन्द्रकुम्भसमाना—महाकलशप्रमाणा: प्रज्ञप्ता: हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयो: पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ 'नागदन्तकौ'नर्कुटकौ अङ्कुटकावित्यर्थ: प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तका 'मुत्ताजालंतरुसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणीजालपरिक्खित्ता' इति मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उत्सृतानि—लम्बमानानि हेमजालानि—हेममयदामसमूहा: यानि च गवाक्षजालानि—गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहा: यानि च किङ्किणी—क्षुद्रघण्टा किङ्किणीजालानि—क्षुद्रघण्टा(सङ्घाता)स्तै: परिक्षिप्ता:—सर्वतो व्याप्ता: 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गता अभ्युद्गता अग्रिमभागे मनाग् उन्नता

इति भावः 'अभिनिसिट्ठा' इति अभिमुखं—बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टाः अभिनिसृष्टाः 'तिरियं सुसंपग्गहिया' इति तिर्यग्—भित्तिप्रदेशे सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्—मनागप्यचलनेन परिगृहीताः सुसंपरिगृहीताः 'अहेपन्नगद्धरूवा' इति अधः—अधस्तनं यत्पन्नगस्य—सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपं—आकारो येषां ते तथा अधःपन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भावः, एतदेव व्याचष्टे—'पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः' अधःपन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः 'सव्ववइरामया' सर्वात्मना वज्रमयाः 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, 'महयामहया' इति अतिशयेन 'गजदन्तसमानाः' गजदन्ताकाराः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसु णं नागदंतएसु' इत्यादि, तेषु च नागदन्तकेषु बहवः कृष्णसूत्रे बद्धाः 'वग्घारिया' इति अवलम्बिताः 'माल्यदामकलापाः' पुष्पमालासमूहा बहवो नीलसूत्रबद्धा माल्यदामकलापाः, एवं लोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्याः ॥ 'ते णं दामा' इत्यादि, तानि दामानि 'तवनिज्जलंबूसगा' इति तपनीयः—तपनीयमयो लम्बूसगो—दाम्नामग्रिमभागे प्राङ्गणे लम्बमानो मण्डनविशेषो गोलकाकृतिर्येषां तानि तपनीयलम्बूसकानि 'सुवण्णपयरगमंडिया' इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरेण—सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि 'नानामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदया' इति नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च ये विविधा—विचित्रवर्णा हारा—अष्टादशसरिका अर्द्धहारा—नवसरिकास्तैरुपशोभितः समुदायो येषां तानि तथा 'जाव सिरीए अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति' अत्र यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः—'ईसिमण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायमेइज्जमाणा पलंबमाणा पलंबमाणा पझंझ(झंझ)माणा पझंझ(झंझ)माणा ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।' एतच्च प्रागेव पद्मवरवेदिकावर्णने व्याख्यातमिति भूयो न व्याख्यायते ॥ 'तेसि णं नागदं-

ताण'मित्यादि, तेषां नागदन्तानामुपरि अन्यौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तकाः 'मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजाल' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं द्रष्टव्यं यावद् गजदन्तसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसु णं णागदंतएसु' इत्यादि, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो 'वेडूर्यरत्नमय्यो' वैडूर्यरत्नात्मिकाः 'धूपघट्यो' धूपघटिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च धूपघटिकाः 'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा' कालागुरुः प्रसिद्धः प्रवरः—प्रधानः कुन्दुरुष्कः—चीडा तुरुष्कं—सिल्हकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्के च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्काणि तेषां धूपस्य यो मघमघायमानो गन्ध उद्धुत—इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामाः कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूममघमघायमानगन्धोद्धुताभिरामाः, तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धास्तेषां गन्धः स आस्वस्तीति सुगन्धवरगन्धिकाः 'अतोऽनेकस्वरादि'तीकप्रत्ययः, अत एव गन्धवर्त्तिभूताः—सौरभ्यवर्त्तिभूताः सौरभ्यातिशयाद् गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पाः 'उदारेण' स्फारेण 'मनोज्ञेन' मनोऽनुकूलेन, कथं मनोऽनुकूलत्वम्? अत आह—घ्राणमनोनिर्वृतिकरेण हेतौ तृतीया यतो घ्राणमनोनिर्वृतिकरस्ततो मनोज्ञस्तेन गन्धेन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् आपूरयन्त्य आपूरयन्त्यः अत एव श्रियाऽतीव शोभमानास्तिष्ठन्ति ॥ 'विजयस्स णं दारस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो—द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते, ताश्च शालभञ्जिका लीलया ललिताङ्गनिवेशरूपया स्थिता लीलास्थिताः 'सुपइट्ठियाओ' इति सुष्ठु—मनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः 'सुअलंकियाओ' इति सुष्ठु—अतिशयेन रमणीयतयाऽलङ्कृताः स्वलङ्कृताः 'नाणाविहरागवसणाओ' इति नानाविधो—नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि तानि वसनानि—वस्त्राणि संवृततया यासां ता नानाविधरागवसनाः 'रत्तावंगाओ' इति रक्तोऽपाङ्गो—नयनोपान्तं यासां ता रक्तापाङ्गाः 'असिय-

केसीओ' इति असिताः—कृष्णाः केशा यासां ता असितकेश्यः 'मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ' मृदवः—कोमला विशदा—निर्म्मलाः प्रशस्तानि—शोभनानि अस्फुटितलप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणाः संवेल्लितं—संवृतमग्रं येषां शेखरककरणात् ते संवेल्लिताग्राः शिरोजाः—केशा यासां ता मृदुविशदप्रशस्तलक्षणसंवेल्लिताग्रशिरोजाः 'नाणामल्लपिणद्धाओ' इति नानारूपाणि माल्यानि—पुष्पाणि पिनद्धानि—आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्, 'मुट्ठिगेज्झसुमज्झा' इति मुष्टिग्राह्यं सुष्ठु—शोभनं मध्यं—मध्यभागो यासां ता मुष्टिग्राह्यसुमध्याः 'आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहराओ' पीनं—पीवरं रचितं संस्थितं—संस्थानं यकाभ्यां तौ पीनरचितसंस्थितौ आमेलक—आपीडः शेखरक इत्यर्थः तस्य यमलं—समश्रेणीकं युगलं तद्वत् वर्त्तितौ—बद्धस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थितौ च पयोधरौ यासां तास्तथा, 'ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ' इति ईषत्—मनाक् अशोकवरपादपे समवस्थिता—आश्रिता ईषदशोकवरपादपसमवस्थिताः, तथा वामहस्तेन गृहीतमग्रं शालायाः—शाखाया अर्थादशोकपादपस्य यकाभिस्ता वामहस्तगृहीताग्रशालाः, 'ईसिं अड्डुऽच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीओ विवे'ति ईषत्—मनाग् 'अड्डुं'तिर्यग्वलितम् अक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु तैर्मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसि 'चक्खुल्लोयणलेसेहि य अण्णमण्णं विज्झेमाणीओ इव' अन्नमन्नं—परस्परं चक्षुषां लोकनेन—अवलोकनेन लेशाः—संश्लेषास्तैर्विध्यमाना इव, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम तास्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परमवलोकमाना अवतिष्ठन्ते यथा नूनं परस्परसौभाग्यासहनतस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परं खिद्यन्त इवेति 'पुढविपरिणामाओ' इति पृथिवीपरिणामरूपाः शाश्वतभावमुपागता विजयद्वारवत् 'चंदाणणाओ' इति चन्द्रवद् आननं—मुखं यासां ताश्चन्द्राननाः 'चंदविलासिणीओ' इति चन्द्रवन्मनोहरं

विलसन्तीत्येवंशीलाश्चन्द्रविलासिन्यः 'चंदद्धसमनिडालाओ' इति चन्द्रार्द्धेन–अष्टमीचन्द्रेण समं–समानं ललाटं यासां ताश्चन्द्रार्द्धसमललाटाः 'चंदाहियसोमदंसणाओ' इति चन्द्रादप्यधिकं सोमं–सुभगं कान्तिमद्दर्शनं–आकारो यासां तास्तथा, उल्का इव द्योतमानाः 'विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ' इति विद्युतो ये घना–बहुलतरा मरीचयस्तेभ्यो यच्च सूर्यस्य दीप्यमानमनावृतं तेजस्तस्मादप्यधिकतरः सन्निकाशः–प्रकाशो यासां तास्तथा 'सिंगारागारचारुवेसाओ' इति शृङ्गारो–मण्डनभूपणाटोपस्तत्प्रधान आकार–आकृतिर्यासां ताः शृङ्गाराकाराः चारु वेषो–नेपथ्यं यासां ताश्चारुवेषास्ततः कर्म्मधारये शृङ्गाराकारचारुवेषाः 'पासाईयाओ' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स णं दारस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'द्विधातो' द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ जालकटकौ प्रज्ञप्तौ, 'ते णं जालकडगा'इत्यादि, ते च जालकटकाकीर्णा रम्यसंस्थानाः प्रदेशविशेषाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'विजयस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे घण्टे प्रज्ञप्ते, तासां च घण्टानामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेश. प्रज्ञप्तः, तद्यथा–जाम्बूनदमय्यो घण्टाः वज्रमय्यो लालाः नानामणिमया घण्टापार्श्वाः तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति रजतमय्यो रज्जवः ॥ 'ताओ णं घंटाओ' इत्यादि, ताश्च घण्टाः 'ओघस्वराः' ओघेन–प्रवाहेण स्वरो यासां ता ओघस्वराः, मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः, हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हंसस्वराः, एवं क्रौञ्चस्वराः, सिंहस्येव प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः, एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशतूर्यसङ्घातो नन्दिः, नन्दिवद् घोषो–निनादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जुः–प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वराः, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना ?, सुस्वराः सुस्वरघोषाः,

'ओरालेण'मित्यादि प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे वनमाले प्रज्ञप्ते, ताश्च वनमाला नानाद्रुमाणां नानालतानां च ये किशलयरूपा अतिकोमला इत्यर्थः पल्लवास्तैः समाकुलाः—सम्मिश्राः 'छप्पयपरिभुज्जमाणसोभंतसस्सिरीया' इति षट्पदैः परिभुज्यमाना सती शोभमाना षट्पदपरिभुज्यमानशोभमाना अत एव सश्रीका ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणाइं बाहल्लेणं सव्ववइरामता अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पयंठगाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसितपहसिताविव विविहमणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाण(णुलिहंत)सिहरा जालंतररयणपंजरुम्मिलितव्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीयतिलकरयणद्धयंदचित्ता णाणामणिमयदामालंकिया अंतो य बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडगा सुद्ध(ह)फासा सस्सिरीयरूवा पासातीया ४ ॥ तेसि णं पासायवडेंसगाणं उल्लोया पउमलता जाव सामलयाभत्तिचित्ता सव्वतवणिज्जमता अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पासायवडिंसगाणं पत्तेयं पत्तेयं अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहा-

णामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीहिं उवसोभिए, मणीण गंधो वण्णो फासो य नेयव्वो ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वरयणामईओ जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ सीहासणे पण्णत्ते, तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा–तवणिज्जमया चक्कवाला रयतामया सीहा सोवण्णिया पादा णाणामणिमयाइं पायवीढगाइं जंबूणयमताइं गत्ताइं वतिरामया संधी नाणामणिमए वेच्चे, ते णं सीहासणा ईहामियउसभ जाव पउमलयभत्तिचित्ता ससारसारोवइयविविहमणिरयणपायपीढा अच्छरगमिउमसूरगनवतयकुसंतलिचसीहकेसरपच्चुत्थताभिरामा उयचियखोमदुगुल्लयपडिच्छयणा सुविरचितरयत्ताणा रत्तंसुयसंवुया सुरम्मा आईणगरुयबूरणवनीततूलमउयफासा मउया पासाईया ४॥ तेसि णं सीहासणाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं विजयदूसं पण्णत्ते, ते णं विजयदूसा सेता संखकुंददगरयअमतमहियफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा॥ तेसि णं विजयदूसाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामया अंकुसा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु अंकुसेसु पत्तेयं २ कुंभिक्का मुत्तादामा पण्णत्ता, ते णं कुंभिक्का मुत्तादामा अन्नेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चप्पमाणमेत्तेहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता,

ते णं दामा तवणिज्जलंबूसका सुवण्णपयरगमंडिता जाव चिट्ठंति, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता सोत्थिय तधेव जाव छत्ता ॥ (सू० १३०)

'**विजयस्स ण**'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ प्रकण्ठकौ प्रज्ञप्तौ, प्रकण्ठको नाम पीठविशेषः, आह च **मूलटीकाकारः**—"प्रकण्ठौ पीठविशेषौ," **चूर्णिकारस्त्वेवमाह**—"आदर्शवृत्तौ पर्यन्तावनतप्रदेशौ पीठौ प्रकण्ठावि"ति, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनानि '**आयामविक्खम्भेन**' आयामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने बाहल्येन '**सव्ववइरामया**' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्रमयाः '**अच्छा सण्हा य**' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ '**तेसि णं पकंठयाण**'मित्यादि, तेषां च प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, प्रासादावतंसको नाम प्रासादविशेषः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"प्रासादावतंसकः प्रासादविशेष" इति, व्युत्पत्तिश्चैवम्—प्रासादानामवतंसक इव—शेखरक इव प्रासादावतंसकः, ते च प्रासादावतंसकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्याम्, '**अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे**'ति अभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता—प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सिता इव—बद्धा इव तिष्ठन्तीति गम्यते, अन्यथा कथमिव तेऽत्युच्चा निरालम्बास्तिष्ठन्तीति भावः, अथवा प्रबलश्वेतप्रभापटलया प्रहसिताविव प्रकर्षेण हसिताविव, तथा '**विविहमणिरयणभत्तिचित्ता**' विविधा अनेकप्रकारा ये मणयः—चन्द्रकान्ताद्या यानि च रत्नानि—कर्केतनादीनि तेषां भक्तिभिः—विच्छित्तिभिश्चित्रा—नानारूपा आश्चर्यवन्तो वा नानाविधमणिरत्नभक्तिविचित्राः '**वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागछत्तातिछत्तकलिया**' वातोद्धूता—वायुकम्पिता विजयः—अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्तीनामानो (नाम्न्यो) याः पताकाः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो

विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिछत्राणि—उपर्युपरिस्थितान्यातपत्राणि तैः कलिता वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाछत्रातिच्छत्रकलिताः 'तुङ्गाः' उच्चा उच्चैस्त्वेन चतुर्योजनप्रमाणत्वात्, अत एव 'गगणतलमणुलिहन्तसिहरा' इति, गगनतलम्—अम्बरम् अनुलिखन्ति—अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः, तथा जालानि—जालकानि यानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि येषु ते जालान्तररत्नाः, सूत्रे चात्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्, तथा पञ्जराद् उन्मीलिता इव—बहिष्कृता इव, यथा हि किल किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायं भवति एवं तेऽपि प्रासादावतंसका इति भावः, तथा मणिकनकानि—मणिकनकमय्यः स्तूपिकाः—शिखराणि येषां ते मणिकनकस्तूपिकाः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकरत्नानि भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषा अर्द्धचन्द्राश्च द्वारादिषु तैश्चित्रा—नानारूपा आश्चर्यभूता विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकार्द्धचन्द्रचित्राः अन्तर्बहिश्च (नाना—अनेकप्रकारा ये चन्द्रकान्ताद्या मणयस्तन्मयानि—तत्प्रधानानि यानि दामानि—पुष्पमालास्तैरलङ्कृताः) 'श्लक्ष्णाः' मसृणाः, तथा तपनीयं—सुवर्णविशेषस्तन्मय्या वालुकायाः प्रस्तटं—प्रतरो येषु ते तपनीयवालुकाप्रस्तटाः 'सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च प्रासादावतंसकानाम् 'उल्लोकाः' उपरितनभागाः पद्मलताभक्तिचित्रा अशोकलताभक्तिचित्राश्चम्पकलताभक्तिचित्राश्चूतलताभक्तिचित्रा वनलताभक्तिचित्रा वासन्तिकलताभक्तिचित्राः सर्वात्मना तपनीयमयाः 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहा नामए आलिंगपुक्खरे इ वा' इत्यादि समस्तं भूमिवर्णनं मणीनां वर्णपञ्चकसुरभिगन्धशुभस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि,

तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं (मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भेन अष्ट योजनानि बाहल्येन सर्वरत्नमय्यो यावत्प्रतिरूपाः तासां मणिपीठिकानामुपरि) सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानामयमेतद्रूपो 'वर्णावासो' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—रजतमयाः सिंहा तैरुपशोभितानि सिंहासनानि 'सौवर्णिकाः' सुवर्णमयाः पादाः तपनीयमयानि चक्कलानि—पादानामधःप्रदेशाः भवन्ति [मुक्तानानामणिमयानि पादानामधःप्रदेशाः] प्रयुक्ता, नानामणिमयानि 'पादशीर्षकाणि' पादानामुपरितना अवयवविशेषा जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषदच्छाः 'वज्रमयाः' वज्ररत्नापूरिताः 'सन्धयः' गात्राणां सन्धिमेला नानामणिमयं 'वेच्चं' व्यूतं वानमित्यर्थः, आह च चूर्णिकृत्—"वेच्चे वाणकतेण"मित्यादि, तानि च सिंहासनानि ईहामृगऋषभतुरगनरमकरव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राणि 'ससारसारोवचियविविहमणिरयणपादपीढा' इति, सारसारैः—प्रधानप्रधानैर्विविधैर्मणिरत्नैरुपचितैः पादपीठैः सह यानि तानि तथा, प्राकृतत्वाच्च उपचितशब्दस्यान्तरुपन्यासः, 'अच्छरमउयमसूरगनवतयकुसन्तलित्तकेसरपच्चत्थुयाभिरामा' इति, आस्तरकं—आच्छादनं मृदु येषां मसूरकाणां तानि आस्तरकमृदूनि, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, नवा त्वग् येषां ते नवत्वचः कुशान्ता—दर्भपर्यन्ताः, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः प्रत्यग्रत्वग्दर्भपर्यन्तरूपाणि लतिकोमलानि लित्तानि—नम्र(मन)शीलानि च केसराणि, क्वचित् सिंहकेसरेति पाठस्तत्र सिंहकेसराणीव केसराणि मध्ये मसूरकाणां तानि नवत्वक्कुशान्तचिह्न(लित्त)केसराणि, सिंहकेसरेति पाठपक्षे एकस्य केसरशब्दस्य शाकपार्थिवादिदर्शनाल्लोपः, आस्तरकमृदुभिर्मसूरकैर्नवत्वक्कुशान्तलिच(त्त)केसरैः प्रत्यवस्तृतानि—आच्छादितानि सन्ति यानि अभिरामाणि तानि तथा, विशेषणपूर्वापरनिपातो यादृच्छिकः प्राकृतत्वात्, 'आईणगरुयबूरनवणीयतूलफासा' इति आजिनकं—

चर्म्ममयं वस्त्रं तच्च स्वभावादतिकोमलं भवति रूतं—कर्पासपक्ष्म वूरो—वनस्पतिविशेषः नवनीतं—म्रक्षणं तूलं—अर्कतूलं तेषामिव स्पर्शो येषां तानि तथा, तथा सुविरचितं रजस्त्राणं प्रत्येकमुपरि येषां तानि सुविरचितरजस्त्राणानि 'उवचिय(खोम)दुगुल्लपट्टपडिच्छायणे' इति उपचितं—परिकर्म्मितं यत्क्षौमं दुकूलं—कार्पासिकं वस्त्रं तत्प्रतिच्छादनं—रजस्त्राणस्योपरि द्वितीयमाच्छादनं प्रत्येकं येषां तानि तथा, तत उपरि 'रत्तंसुयसंवुया' इति रक्तांशुकेन—अतिरमणीयेन रक्तेन वस्त्रेण संवृतानि—आच्छादितानि रक्तांशुकसंवृतानि अत एव सुरम्याणि 'पासाइया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां च सिंहासनानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं विजयदूष्यं—वस्त्रविशेषः प्रज्ञप्तः, आह च मूलटीकाकारः—"विजयदूष्यं वस्त्रविशेष" इति । 'ते णं'मित्यादि, तानि च विजयदूष्याणि 'शङ्खकुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसन्निकाशानि' शङ्खः प्रतीतः कुन्देति—कुन्दकुसुमं दकरजः—उदककणाः अमृतस्य—क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो—डिण्डीरोत्करस्तत्सन्निकाशानि—तत्समप्रभाणि, पुनः कथम्भूतानि ? इत्यत आह—'सव्वरयणामया' सर्वात्मना रत्नमयानि 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां—सिंहासनोपरिस्थितानां विजयदूष्याणां प्रत्येकं प्रत्येकं बहुमध्यदेशभागे वज्रमयाः वज्ररत्नात्मकाः 'अङ्कुशाः' अङ्कुशाकारा मुक्तादामावलम्बनाश्रयभूताः प्रज्ञप्ताः, तेषु च वज्रमयेष्वङ्कुशेषु प्रत्येकं प्रत्येकं 'कुम्भाग्रं' मगधदेशप्रसिद्धं कुम्भप्रमाणमुक्तामयं मुक्तादाम प्रज्ञप्तं, तानि च कुम्भाग्राणि मुक्तादामानि प्रत्येकं प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिः कुम्भाग्रैर्मुक्तादामभिस्तदर्धोच्चप्रमाणमात्रैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तानि, 'ते णं दामा तवणिज्जलंवूसगा नाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिमन्नमन्नमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं

मंदायं मंदायं एइज्जमाणा २ वेइज्जमाणा २ पकंपमाणा पकंपमाणा पझंझमाणा पझंझमाणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा 'सिरीए उवसोभमोणा चिट्ठंति" ॥

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा णाणामणिमया तहेव जाव अट्ठट्ठमंगलका य छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सालभंजिताओ पण्णत्ताओ, जहेव णं हेट्ठा तहेव ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो णागदंतगा पण्णत्ता, तेणं णागदंतगा मुत्ताजालंतरूसिया तहेव, तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हे सुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा जाव चिट्ठंति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयसंघाडगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा, एवं पंतीओ वीहीओ मिहुणगा, दो दो पउमलयाओ जाव पडिरूवाओ तेसि णं तोरणाणं पुरनो (अक्खाअसोवत्थिया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा) तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चंदणकलसा पण्णत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव सव्वरयणामया जाव पडिरूवा समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो भिंगारगा पण्णत्ता वरकमलपइट्ठाणा जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महतामहता मत्तगयमुहागितिसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो आतंसगा पण्णत्ता, तेसि णं आतंसगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया पयंठगा वेरु-

लियमया छरुहा (थंभया) वइरामया वरंगा णाणामणिमया वलक्खा अंकमया मंडला अणोघसियनिम्मलासाए छायाए सव्वतो चेव समणुबद्धा चंदमंडलपडिणिकासा महतामहता अद्धकायसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो वइरणाभे थाले पण्णत्ते, ते णं थाला अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठबहुपडिपुण्णा चेव चिट्ठंति सव्वजंबूणतामता अच्छा जाव पडिरूवा महतामहता रहचक्कसमाणा समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पातीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं पातीओ अच्छोदयपडिहत्थाओ णाणाविधपंचवण्णस्स फलहरितगस्स बहुपडिपुण्णाओ विव चिट्ठंति सव्वरयणामतीओ जाव पडिरूवाओ महयामहया गोकलिंजगचक्कसमाणाओ पण्णत्ताओ समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता, ते णं सुपतिट्ठगा णाणाविध(पंचवण्ण)पसाहणगभंडविरचिया सव्वोसधिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो मणोगुलियाओ पण्णत्ताओ ॥ तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंतगा मुत्ताजालंतरुसिता हेम जाव गयंदगसमाणा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वायकरगा पण्णत्ता ॥ ते णं वायकरगा किण्हसुत्तसिक्कगवत्थिया जाव सुक्किलसुत्तसिक्कगवत्थिया सव्वे

वेरुलियामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरंडगा पण्णत्ता, से जहाणामए—रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडे वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासइ उज्जोवेति तावेइ पभासेति, एवामेव ते चित्तरयणकरंडगा पण्णत्ता वेरुलियपडलपच्चोयडा साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासेति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयकंठगा जाव दो दो उसभकंठगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं हयकंठएसु जाव उसभकंठएसु दो दो पुप्फचंगेरीओ, एवं मल्लगंधचुण्णवत्थाभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ सव्वरयणामतीओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पुप्फपडलाइं जाव लोमहत्थपडलाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सीहासणाइं पण्णत्ताइं, तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तहेव जाव पासातीया ४ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो रुप्पच्छदाछत्ता पण्णत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियभिसंतविमलदंडा जंबूणयकन्निकावइरसंधी मुत्ताजालपरिगता अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा दद्दरमलयसुगंधी सव्वोउअसुरभिसीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा वट्टा ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चामराओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामराओ (चन्दप्पभवइरवेरुलियनानामणि-

रयणखचियदंडा) णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लिआओ संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ सव्वरयणामताओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो तिल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयसमुग्गा तयरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालसमुग्गा हिंगुलयसमुग्गा मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ (सू० १३१)

'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्या द्वे द्वे तोरणे प्रज्ञप्ते, तानि च तोरणानि नानामणिमयानीत्यादि तोरणवर्णनं निरवशेषं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषा तोरणानां पुरतो द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते, शालभञ्जिकावर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां द्वौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां च नागदन्तकानां वर्णनं यथाऽधस्तादनन्तरमुक्तं तथा वक्तव्यं, नवरमत्रोपरि नागदन्तका न वक्तव्या अभावात् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयसंघाटकौ द्वौ द्वौ गजसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ नरसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ किन्नरसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ किंपुरुषसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ महोरगसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ गन्धर्वसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ वृषभसङ्घाटकौ, एते च कथम्भूताः? इत्याह—'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत्, एवं पङ्क्तिवीथीमिथुनकान्यपि प्रत्येकं वाच्यानि ॥ 'तेसिं तोरणाण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पद्मलते यावत्करणाद् द्वे द्वे नागलते द्वे द्वे अशोकलते द्वे द्वे चम्पकलते द्वे द्वे चूतलते द्वे द्वे वासन्तीलते द्वे द्वे कुन्दलते द्वे द्वे अतिमुक्तकलते इति परिग्रहः, द्वे द्वे श्यामलते, एताश्च कथम्भूताः? इत्याह—'निच्चं सुकुमियाओ' इत्यादि यावत्करणात् 'निच्चं मउलिया निच्चं लवइयाओ निच्चं थइयाओ निच्चं गोच्छियाओ निच्चं जमलियाओ निच्चं

विणमियाओ (निच्चं पणमियाओ) निच्चं सुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयनिच्चंगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ' इति परिगृह्यते, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । पुनः कथम्भूताः? इत्याह—'सव्वरयणामया जाव पडिरूवा' इति, अत्रापि यावत्करणात् 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकपरिग्रहः स च प्राग्वद्भावनीयः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, वर्णकश्च चन्दनकलशानां 'वरकमलपइट्ठाणा' इत्यादिरूपः सर्वः प्राक्तनो वक्तव्यः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ भृङ्गारकौ प्रज्ञप्तौ, तेषामपि चन्दनकलशानामिव वर्णको वक्तव्यः, नवरं पर्यन्ते 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो!' इति वक्तव्यं 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा' इति मत्तो यो गजस्तस्य महद्—अतिविशालं यन्मुखं तस्याकृतिः—आकारस्तत्समानाः—तत्सदृशाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वावादर्शकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां चादर्शकानामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—तपनीयमयाः 'प्रकण्ठकाः' पीठकविशेषाः 'वैडूर्यमयाथंभया' आदर्शकगण्डप्रतिवन्धप्रदेशाः, आदर्शकगण्डानां मुष्टिग्रहणयोग्याः प्रदेशा इति भावः, वज्ररत्नमया वराङ्गा गण्डा इत्यर्थः, 'नानामणिमया वलक्षाः' वलक्षो नाम शृङ्खलादिरूपमवलम्बनम्, अङ्कमयानि—अङ्करत्नमयानि मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसंभूतिः 'अणोहसियणिम्मलाए छायाए' इति, अवघर्षणमवघर्षितं, भावे क्तप्रत्ययः, भूत्यादिना निमज्जनमित्यर्थः, अवघर्षितस्याभावोऽनवघर्षितं तेन निर्म्मला अनवघर्षितनिर्म्मला तया छायया समनुबद्धाः 'चंदमंडलपडिनिकासा' इति चन्द्रमण्डलसदृशाः 'महयामहया' अतिशयेन महान्तः 'अर्द्धकायसमानाः' द्रष्टुः शरीरार्द्धप्रमाणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे वज्रनाभे स्थाले प्रज्ञप्ते, तानि च स्थालानि [तिष्ठन्ति] 'अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसं-

दह्यपडिपुण्णा इव चिट्ठंति' अच्छा–निर्म्मलाः शुद्धस्फटिकवत्रिच्छटिता अत एव नखसंदष्टाः–नखाः संदष्टा मुसलादिभिश्चुम्बिता येषां ते तथा, भार्यादिदर्शनात्परनिपातो निष्ठान्तस्य, अच्छैस्त्रिच्छटितैः शालितन्दुलैर्नखसंदष्टैः परिपूर्णानीव अच्छत्रिच्छटितशालितन्दुलनखसंदष्टपरिपूर्णानीव पृथिवीपरिमाणरूपाणि तानि तथा स्थितानि केवलमेवमाकाराणीत्युपमा, तथा चाह—'सव्वजंवूनदमया' सर्वात्मना जम्बूनदमयानि 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत् 'महयामहया' इति अतिशयेन महान्ति रथचक्रसमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'पाईओ' इति पात्र्यौ प्रज्ञप्ते, ताश्च पात्र्यः 'अच्छोदकपडिहत्थाओ' इति स्वच्छपानीयपरिपूर्णाः 'नाणाविहस्स फलहरियस्स वहुपडिपुण्णाओ विवे'ति अत्र षष्ठी तृतीयार्थे वहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, नानाविधैः 'फलहरितैः' हरितफलैर्वहु–प्रभूतं प्रतिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, न खलु तानि फलानि जलं वा किन्तु तथारूपाः शाश्वतभावमुपगताः पृथिवीपरिणामास्तत उपमानमिति, 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, 'महयामहया' इति अतिशयेन महत्यो गोकलिञ्ज (र) चक्रसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ सुप्रतिष्ठकौ आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः [सु]सर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च वहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, अत्रापि तृतीयार्थे षष्ठी वहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, उपमानभावना प्राग्वत्, 'सव्वरयणामया' इत्यादि तथैव ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे मनोगुलिके प्रज्ञप्ते, मनोगुलिका नाम पीठिका, उक्तं च मूलटीकायां—"मनोगुलिका पीठिके"ति, ताश्च मनोगुलिकाः सर्वात्मना 'वेडूर्यमय्यो' वैडूर्यरत्नात्मिकाः 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासु णं मणोगुलियासु वहवे' इत्यादि, तासु मनोगुलिकासु वहूनि सुवर्णमयानि रूप्यमयानि च फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सुवर्णरूप्यमयेषु फलकेषु वहवो वज्रमयाः

'नागदन्तकाः' अङ्कुटकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि **'रजतमयानि'** रूप्यमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो **'वातकरकाः'** जलशून्याः करका इत्यर्थः प्रज्ञप्ताः ॥ **'ते ण'**मित्यादि ते वातकरकाः **'कृष्णसूत्रसिक्कगवस्थिताः'** इति, आच्छादनं गवस्था:(ता:) संजाता एष्विति गवस्थिताः कृष्णसूत्रैः—कृष्णसूत्रमयैर्गवस्थैरिति गम्यते, सिक्ककेषु गवस्थिताः कृष्णसूत्रसिक्कगवस्थिताः, एवं नीलसूत्रसिक्ककगवस्थिता इत्याद्यपि भावनीयं, ते च वातकरकाः सर्वात्मना वैडूर्यमया अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ **'चित्रौ'** चित्रवर्णोपेतावाश्चर्यभूतौ वा रत्नकरण्डकौ प्रज्ञप्तौ, **'से जहा नामए'** इत्यादि, स यथा नाम—राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिनः, चतुर्षु—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु पृथ्वीपर्यन्तेषु चक्रेण वर्त्तितुं शीलं यस्य तस्य **'चित्रः'** आश्चर्यभूतो नानामणिमयत्वेन नानावर्णो वा **'वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे'** इति वाहुल्येन वैडूर्यमणिमयः, तथा 'स्फाटिकपटलप्रत्यवतटः' स्फाटिकपटलमयाच्छादनः **'साय पभाए'** इति स्वकीयया प्रभया **'तान्'** प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् **'सर्वतः'** सर्वासु दिक्षु **'समन्ततः'** सामस्त्येनावभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति तापयति प्रभासति, **'एवमेवे'**त्यादि सुगमम् ॥ **'तेसि णं तोरणाण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ **'हयकण्ठौ'** हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ प्रज्ञप्तौ, एवं गजकिंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठा अपि वाच्याः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"हयकण्ठौ हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ," एवं सर्वेऽपि कण्ठा वाच्या इति, तथा चाह—**'सव्वरयणामया'** सर्वे **'रत्नमयाः'** रत्नविशेषरूपा 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पुष्पचङ्गेर्यौ प्रज्ञप्तौ, एवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकचङ्गेर्योऽपि वक्तव्याः, एताश्च सर्वा अपि सर्वात्मना रत्नमय्यः, 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ एवं पुष्पादीनामष्टानां पटलकान्यपि द्विद्विसङ्ख्याकानि वाच्यानि ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे

सिंहासने प्रज्ञप्ते, तेषां च सिंहासनानां वर्णकः प्रागुक्तो निरवशेषो वक्तव्यो यावद्दामवर्णनम् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'रूप्यच्छदे' रूप्याच्छादने छत्रे प्रज्ञप्ते, तानि च छत्राणि वैडूर्यरत्नमयविमलदण्डानि जाम्बूनदकर्णिकानि 'वज्रसन्धीनि' वज्ररत्नापूरितदण्डशलाकासन्धीनि मुक्ताजालपरिगतानि अष्टौ सहस्राणि—अष्टसहस्रसङ्ख्याका वरकाञ्चनशलाका—वरकाञ्चनमय्यः शलाका येषु तानि अष्टसहस्रवरकञ्चनशलाकानि 'दद्दरमलयसुगन्धिसव्वोउयसुरहिसीयलच्छाया' इति दर्दरः—चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितास्तत्र पक्वा वा ये मलय इति—मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्सम्बन्धिनः सुगन्धयो गन्धवासास्तद्वत्सर्वेषु ऋतुषु सुरभिः शीतला च छाया येषां तानि, तथा 'मंगलभत्तिचित्ता' तेषां अष्टानां मङ्गलानां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रं—आलेखो येषां तानि मङ्गलभक्तिचित्राणि, तथा 'चंदागारोवमा' इति चन्द्राकारः—चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा चन्द्रमण्डलवद्वृत्तानीति भावः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते, तानि च चामराणि 'चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचियदंडा' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपाश्चित्रा—नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, तथा 'सुहुमरययदीहवालाओ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा, 'संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिकासाओ' इति शङ्खः—प्रतीतोऽङ्को—रत्नविशेषः कुन्देति—कुन्दपुष्पं दकरजः—उदककणाः अमृतमथितफेनपुञ्जः—क्षीरोदजलमथनसमुत्थफेनपुञ्जस्तेषामिव संनिकाशः—प्रभा येषां तानि तथा, अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ 'तैलसमुद्गकौ' सुगन्धितैलाधारविशेषौ, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां—"तैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ" एवं कोष्ठादिसमुद्गका अपि वाच्याः, अत्र

सङ्ग्रहणिगाथा—“तेल्लो कोट्ठसमुग्गा पत्ते चोए य तगर एला य। हरियाले हिंगुलए मणोसिला अंजणसमुग्गो ॥ १ ॥” ‘सव्व रयणामया’ इति एते सर्वेऽपि सर्वात्मना रत्नमयाः ‘अच्छा सण्हा’ इत्यादि प्राग्वत् ॥

विजये णं दारे अट्ठसतचक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं अट्ठसयं गरुडज्झयाणं अट्ठसयं विगद्धयाणं (अट्ठसयं रुरुयज्झयाणं) अट्ठसतं छत्तज्झयाणं अट्ठसयं पिच्छज्झयाणं अट्ठसयं सउणिज्झयाणं अट्ठसतं सीहज्झयाणं अट्ठसतं उसभज्झयाणं अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेतूणं एवामेव सपुव्वावरेणं विजयदारे य आसीयं केउसहस्सं भवतित्ति मक्खायं ॥ विजये णं दारे णव भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता जाव मणीणं फासो, तेसि णं भोमाणं उप्पिं उल्लोया पउमलया जाव सामलताभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमता अच्छा जाव पडिरूवा, तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे से पंचमे भोम्मे तस्स णं भोमस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णतो विजयदूसे जाव अंकुसे जाव दामा चिट्ठंति, तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसहस्साणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स

अब्भिंतरियाए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठण्हं भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणेणं विजयस्स देवस्स मज्झिमियाए परिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स बाहिरियाए परिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ॥ तस्स णं सीहासणस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ, एवं चउसुवि जाव उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता ॥ (सू० १३२)

'विजये णं दारे' इत्यादि, तस्मिन् विजये द्वारे 'अष्टशतम्' अष्टाधिकं शतं 'चक्रध्वजानां' चक्रालेखरूपचिह्नोपेतानां ध्वजानाम्, एवं मृगगरुडरुरुकच्छत्रपिच्छशकुनिसिंहवृषभचतुर्दन्तहस्तिध्वजानामपि प्रत्येकमष्टशतमष्टशतं वक्तव्यम्, 'एवामेव सपुव्वावरेणं' 'एवमेव' अनेन प्रकारेण सपूर्वापरेण सह पूर्वैरपरैश्च वर्त्तत इति सपूर्वापरं सङ्ख्यान तेन विजयद्वारे 'अशीतम्' अशीत्यधिकं केतुसहस्रं भवतीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य पुरतो नव 'भौमानि' विशिष्टानि स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च पूर्ववद्वक्तव्याः, तेषां च भौमानां बहुमध्यदेशभागे यत्पञ्चमं भौमं तस्य बहुमध्यदेशभागे विजय-

द्वाराधिपतिविजयदेवयोग्यं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तस्य च सिंहासनस्य वर्णनं विजयदूष्यं कुम्भाग्रमुक्तादामवर्णनं प्राग्वत्, तस्य च सिंहासनस्य 'अपरोत्तरस्यां' वायव्यकोणे उत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां च विजयदेवस्य संवन्धिनां चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य पूर्वस्यामत्र विजयस्य देवस्य चतसृणामग्रमहिषीणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेयकोण इत्यर्थः, अत्र विजयदेवस्य 'अभ्यन्तरपर्षदाम्' अभ्यन्तरपर्षद्रूपाणामष्टानां देवसहस्राणां योग्यानि अष्टौ भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणस्यां दिशि अत्र विजयदेवस्य मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणापरस्यां दिशि नैर्ऋतकोण इत्यर्थः अत्र विजयदेवस्य बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां योग्यानि द्वादश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'तस्स णं सीहासणस्से'त्यादि, तस्य सिंहासनस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धिनां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त भद्रासनानि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन अत्र विजयस्य देवस्य संबन्धिनां षोडशानामात्मरक्षदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, अवशेषेषु प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनमपरिवारं सामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनरूपपरिवाररहितं प्रज्ञप्तम् ॥

विजयस्स णं दारस्स उवरिमागारा सोलसविहेहिं रतणेहिं उवसोभिता, तंजहा—रयणेहिं वयरेहिं वेरुलिएहिं जाव रिट्ठेहिं ॥ विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थितसिरिवच्छ जाव दप्पणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं

दारस्स उप्पिं बहवे कण्हचामरज्झया जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे छत्तातिच्छत्ता तहेव ॥ (सू० १३३)

'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य 'उवरिमाकारा' इति उपरितन आकार:—उत्तरङ्गादिरूप: षोडशविधै रत्नैरुपशोभित:, तद्यथा—रत्नै: सामान्यत: कर्केतनादिभि: १ वज्रै: २ वैडूर्यै: ३ लोहिताक्षै: ४ मसारगल्लै: ५ हंसगर्भै: ६ पुलकै: ७ सौगन्धिकै: ८ ज्योतीरसै: ९ अङ्कै: १० अञ्जनै: ११ रजतै: १२ जातरूपै: १३ अञ्जनपुलकै: १४ स्फटिकै: १५ रिष्टै: १६॥ 'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्र०, तद्यथेत्यादिना तान्येवोपदर्शयति—'सव्वरयणामया' इत्यादि प्राग्वत् ॥

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचति?—विजए णं दारे २, गोयमा विजए णं दारे विजए णाम देवे महिड्ढीए महज्जुतीए जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं विजयस्स णं दारस्स विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयाए रायहाणीए वत्थव्वगाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुचति—विजये दारे विजये दारे, [अदुत्तरं च णं गोयमा! विजयस्स णं दारस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते जण्ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति जाव अवट्ठिए णिच्चे विजए दारे]॥ (सू० १३४)

'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—'गोयमे'त्यादि, गौतम ! विजये द्वारे विजयो नाम, प्राकृतत्वाद् अव्ययत्वाच्च नामशब्दात्परस्य टावचनस्य लोपस्ततोऽयमर्थः—प्रवाहतोऽनादिकालसन्ततिपतितेन विजय इति नाम्ना देवः 'महर्द्धिकः' महती ऋद्धिः—भवनपरिवारादिका यस्यासौ महर्द्धिकः 'महाद्युतिकः' महती द्युतिः शरीरगता आभरणगता च यस्यासौ महाद्युतिकः, तथा महद् बलं—शारीरः प्राणो यस्य स महाबलः, तथा महद् यशः—ख्यातिर्यस्यासौ महायशाः, महेश इत्याख्या—प्रसिद्धिर्यस्य स महेशाख्यः, अथवा ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्ययः ऐश्वर्यमित्यर्थः 'ईश ऐश्वर्ये' इति वचनात् तत ईशनमैश्वर्यं आत्मनः ख्याति अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति—प्रथयति यः स ईशाख्यः महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः, क्वचित् 'महासोक्खे' इति पाठस्तत्र महत् सौख्यं प्रभूतसद्वेद्योदयवशाद् यस्य स महासौख्यः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां प्रत्येकमेकैकसहस्रसङ्ख्यपरिवारसहितानां तिसृणां अभ्यन्तरमध्यमबाह्यरूपाणां यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रसङ्ख्याकानां पर्षदां सप्तानामनीकानां—हयानीकगजानीकरथानीकपदात्यनीकमहिषानीकगन्धर्वानीकनाट्यानीकरूपाणां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षसहस्राणां विजयस्य द्वारस्य विजयाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां विजयराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां च 'आहेवच्चं'ति आधिपत्यम् अधिपतेः कर्म आधिपत्यं रक्षा इत्यर्थः, सा च रक्षा सामान्येनाप्यारक्षकेणेव क्रियते तत आह—पुरस्य पतिः पुरपतिस्तस्य कर्म्म पौरपत्यं सर्वेषामग्रेसरत्वमिति भावः, तच्चाग्रेसरत्वं नायकत्वमन्तरेणापि स्वनायकनियुक्ततथाविधगृहचिन्तकसामान्यपुरुषस्येव (स्यात्) ततो नायकत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह—'स्वामित्वं' स्वमस्यास्तीति स्वामी तद्भावः स्वामित्वं नायकत्वमित्यर्थः, तदपि च नायकत्वं कदाचित्पोषकत्वमन्तरेणापि भवति यथा हरिणयूथाधिपतेर्हरिणस्य तत आह—भर्तृत्वं—पोषकत्वं 'डुभृञ् धारणपोषणयोः'

इति वचनात्, अत एव महत्तरकत्वं, तदपि चेह महत्तरकत्वं कस्यचिदाज्ञाविकलस्यापि भवति यथा कस्यचिद्वणिजः स्वदासदासीवर्गं प्रति तत आह—'आणाईसरसेणावच्चं' आज्ञया ईश्वर आज्ञेश्वरः सेनायाः पतिः सेनापतिः आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म्म आज्ञेश्वरसेनापत्यं स्वसैन्यं प्रत्यद्भुतमाज्ञाप्राधान्यमिति भावः 'कारयन्' अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः पालयन् स्वयमेव, महता रवेणेति योगः 'अहय'त्ति आख्यानकप्रतिबद्धानि यदिवा 'अहतानि' अव्याहतानि नित्यानि नित्यानुबन्धीनीति भावः, ये नाट्यगीते नाट्यं—नृत्यं गीतं—गानं यानि च वादितानि 'तन्त्रीतलतालत्रुटितानि' तन्त्री—वीणा तलौ—हस्ततलौ तालः—कंसिका त्रुटितानि—वादित्राणि, तथा यश्च घनमृदङ्गः पटुना पुरुषेण प्रवादितः, तत्र घनमृदङ्गो नाम घनसमानध्वनिर्यो मृदङ्गस्तत एतेषां द्वन्द्वस्तेषां रवेण 'दिव्यान्' प्रधानान् भोगार्हा भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जानः 'विहरति' आस्ते 'से एएणट्ठेण'मित्यादि, तत एतेन 'अर्थेन' कारणेन गौतम! एवमुच्यते—विजयद्वारं विजयद्वारमिति, विजयाभिधानदेवस्वामिकत्वाद् विजयमिति भावः ॥

कहि णं भंते! विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी पण्णत्ता?, गोयमा! विजयस्स णं दारस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवतित्ता अण्णंमि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी प० बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसजोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ सा णं एगेणं पागारेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ से णं पागारे सत्ततीसं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झेत्थ

सक्कोसाइं छजोयणाइं विक्खंभेणं उप्पिं तिण्णि सद्धकोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए बाहिं वट्टे अंतो चउरंसे गोपुच्छसंठाणसंठिते सव्वकणगामए अच्छे जाव पडिरूवे॥ से णं पागारे णाणाविहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोभिए, तंजहा—किण्हेहिं जाव सुक्किल्लेहिं ॥ ते णं कविसीसका अद्धकोसं आयामेणं पंचधणुसताइं विक्खंभेणं देसोणमद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणिमया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगाए बाहाए पणुवीसं पणुवीसं दारसतं भवतीति मक्खायं॥ ते णं दारा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेता वरकणगथूभियागा ईहामिय० तहेव जधा विजए दारे जाव तवणिज्जवालुगपत्थडा सुहफासा सस्सि(म)रीए सरूवा पासातीया ४। तेसि णं दाराणं उभयपासिं दुहतो णिसीहियाए दो वंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ तहेव भाणियव्वं जाव वणमालाओ ॥ तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पगंठगाणं उप्पिं पत्तेयं २ पासायवडिंसगा पण्णत्ता ॥ ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे य कोसे आयामवि-

क्खंभेणं सेसं तं चेव जाव समुग्गया णवरं बहुवयणं भाणितव्वं। विजयाए णं रायधाणीए एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं जाव अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेऊणं, एवामेव स पुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगे दारे आसीतं २ केउसहस्सं भवतीति मक्खायं॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे (तेसि णं दाराणं पुरओ) सत्तरस भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं (भूमिभागा) उल्लोया (य) पउमलया० भत्तिचित्ता॥ तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे ते नवमनवमा भोमा तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ जाव दामा जहा हेट्ठा, एत्थ णं अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता। तेसि णं दाराणं उत्तिमं (उवरिमा) गारा सोलसविधेहिं रयणेहिं उवसोभिया तं चेव जाव छत्ताइछत्ता, एवामेव पुव्वावरेण विजयाए रायहाणीए पंच दारसता भवंतीति मक्खाया॥ (सू० १३६)

'कहि णं भंते! विजयस्से'त्यादि, क्व भदन्त! विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! विजयस्य द्वारस्य पूर्वस्यां दिशि तिर्यग् असङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् 'व्यतिव्रज्य' अतिक्रम्य अत्रान्तरे योऽन्यः जम्बूद्वीपः अधिकृतद्वीपतुल्याभि-

१ वृत्तिकारा अतिदिशन्ति 'तोरणे'त्यादिगाथात्रयं सूत्रादर्शगतं पर न क्वाप्यादर्शेऽत्र दृश्यत इदं, अनेकेषु च स्थानेष्वेवं वृत्तिकारप्राप्तानामादर्शानामिदानीन्तनप्राप्यादर्शाना च परस्परं भिन्नतमत्वात् सूत्रवृत्त्योर्वैचित्र्यं न च तादृश उपलभ्यते आदर्श इति निरुपाया वयं सर्वत्र द्वयोरेकत्रीकरणे.

धानः, अनेन जम्बूद्वीपानामप्यसङ्ख्येयत्वं सूचयति, तस्मिन् द्वादश योजनसहस्राणि अवगाह्य अत्रान्तरे विजयस्य देवस्य योग्या विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, सा च द्वादश योजनसहस्राणि 'आयामविष्कम्भेन' आयामविष्कम्भाभ्यां, सप्तत्रिंशद् योजनसहस्राणि नव शतानि 'अष्टाचत्वारिंशानि' अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, इदं च परिक्षेपपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ' इति करणवशात्स्वयमानेतव्यम् ॥ 'सा ण'मित्यादि, 'सा' विजयाभिधाना राजधानी णमिति वाक्यालङ्कारे एकेन महता प्राकारेण 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन परिक्षिप्ता ॥ 'से ण'मित्यादि, स प्राकारः सप्तत्रिंशतं योजनानामर्द्धयोजनमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन मूलेऽर्द्धत्रयोदश योजनानि विष्कम्भेन मध्ये षड् योजनानि सक्रोशानि—एकेन क्रोशेनाधिकानि विष्कम्भेन उपरि त्रीणि योजनानि सार्द्धक्रोशानि [योजनानि] सार्द्धानि द्वादश अर्द्धक्रोशाधिकानि (द्वादश) विष्कम्भेन, मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्तो, मूलविष्कम्भतोऽर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, उपरि तनुको, मध्यविष्कम्भादप्यर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, बहिर्वृत्तोऽन्तश्चतुरस्रो 'गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः' ऊर्द्ध्वीकृतगोपुच्छसंस्थानसंस्थितः 'सव्वकणगमए' सर्वात्मना कनकमयः 'अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'से ण'मित्यादि, स प्राकारो नानाविधानि च तानि पञ्चवर्णानि च नानाविधपञ्चवर्णानि तैः, नानाविधत्वं च पञ्चवर्णापेक्षया कृष्णादिवर्णतारतम्यापेक्षया वा द्रष्टव्यं, पञ्चवर्णत्वमेवोपदर्शयति—'किण्हेहिं' इत्यादि ॥ 'ते णं कविसीसगा' इत्यादि, तानि कपिशीर्षकाणि प्रत्येकमर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रप्रमाणमायामेन—दैर्घ्येण पञ्च धनुःशतानि 'विष्कम्भेन' विस्तारेण, देशोनमर्द्धक्रोशमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'सव्वमणिमया' इत्यादि सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'विजयाए णं रायहाणीए' इत्यादि, विजयाया राजधान्या एकैकस्यां बाहायां पञ्चविंशं—पञ्चविंशत्यधिकं द्वारशतं २ प्रज्ञप्तं, सर्वसङ्ख्यया पञ्च द्वारशतानि ॥ 'ते णं दारा'

इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भतः, 'तावइयं चेव पवेसेणं' एतावदेव—एकत्रिंशद् योजनानि क्रोशं चेत्यर्थः प्रवेशेन, 'सेया वरकणगथूभियागा' इत्यादि द्वारवर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावद्वनमालावर्णनम् ॥ 'तेसि णं दाराण'मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'द्विधातो' द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ 'प्रकण्ठकौ' पीठविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकमेकत्रिंशतं योजनानि क्रोशमेकं च आयामविष्कम्भाभ्यां, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् बाहल्येन 'सव्ववइरामया' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्ररत्नमयाः 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'तेसिं पगंठगाण'मित्यादि, तेषां प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं 'प्रासादावतंसकः' प्रासादविशेषः प्रज्ञप्तः ॥ 'ते णं पासायवडेंसगा' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषां च प्रासादानाम् 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि सामान्यतः स्वरूपवर्णनम् उल्लोकवर्णनं मध्यभूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनं मुक्तादामोपवर्णनं च विजयद्वारवत्, शेषमपि तोरणादिकं विजयद्वारवदिमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्गाथाभिरनुगन्तव्यं, ता एव गाथा आह—'तोरणे'त्यादि गाथात्रयं, द्वारेषु प्रत्येकमेकैकस्यां नैषेधिक्यां द्वे द्वे तोरणे वक्तव्ये, तेषां च तोरणानामुपरि प्रत्येकमष्टावष्टौ मङ्गलकानि, तेषां तोरणानामुपरि कृष्णचामरध्वजादयो ध्वजाः, तदनन्तरं तोरणानां पुरतः शालभञ्जिकाः तदनन्तरं नागदन्तकास्तेषु च नागदन्तकेषु दामानि ततो हयसङ्घाटादयः सङ्घाटा वक्तव्याः ततो हयपङ्क्त्यादयः पङ्क्तयस्तदनन्तरं हयवीथ्यादयो वीथयस्ततो हयमिथुनकादीनि मिथुनानि ततः पद्मलतादयो लताः ततः 'सोत्थिया' चतुर्दिक्सौवस्तिका वक्तव्यास्ततो वन्दनकलशास्तदनन्तरं भृङ्गारकास्तत आदर्शकास्ततः स्थालानि ततः पात्र्यस्तदनन्तरं सुप्रतिष्ठानि ततो मनोगुलिकास्तासु

'वातकरकाः' वातभृताः करका वातकरका जलशून्या इत्यर्थः, तदनन्तरं चित्रा रत्नकरण्डकास्ततो हयकण्ठा गजकण्ठा नरकण्ठाः, उपलक्षणमेतत् किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठकाः क्रमेण वक्तव्याः, तदनन्तरं पुष्पादिचङ्गेर्यो वक्तव्यास्ततः पुष्पादिपटलकानि ततः सिंहासनानि तदनन्तरं छत्राणि ततश्चामराणि ततस्तैलादिसमुद्गका वक्तव्यास्ततो ध्वजाः, तेषां च ध्वजानामिदं चरमसूत्रम्— 'एवामेव सपुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगंसि दारंसि असीयं असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं' तदनन्तरं भौमानि वक्तव्यानि, तत्सूत्रं साक्षादुपदर्शयति—'तेसि णं दाराण'मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः सप्तदश सप्तदश भौमानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च प्राग्वद्वक्तव्याः ॥ 'तेसि णं भोमाण'मित्यादि, तेषां च भौमानां वहुमध्यदेशभागे यानि नवमनवमानि भौमानि तेषां बहुमध्यदेशभागेषु प्रत्येकं विजयदेवयोग्यं (सिंहासनं यथा) विजयद्वारपञ्चमभौमे किन्तु सपरिवारं सिंहासनं वक्तव्यम्, अवशेषेषु च भौमेषु प्रत्येकं सपरिवारं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, 'तेसि णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिता' इत्यादि प्राग्वत् ॥

विजयाए णं रायहाणीए चउद्दिसिं पंचजोयणसताइं अबाहाए, एत्थ णं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तंजहा—असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपगवणे चूतवणे, पुरत्थिमेणं असोगवणे दाहिणेणं सत्तवण्णवणे पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूतवणे ॥ ते णं वणसंडा साइरेगाइं दुवालस जोयणसहस्साइं आयामेणं पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवण्णओ भाणियव्वो जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य

आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कम्माणं कडाणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसिया तहेव जाव अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता उल्लोया पउमभत्तिचित्ता भाणियव्वा, तेसि णं पासायवडेंसगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता वण्णावासो सपरिवारा, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—असोए सत्तवण्णे चंपए चूते ॥ तत्थ णं ते साणं साणं वणसंडाणं साणं साणं पासायवडेंसयाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं आयरक्खदेवाणं आहेवच्चं जाव विहरति ॥ विजयाए णं रायहाणीए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए तणसद्दविहूणे जाव देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं ओवरियालेणे पण्णत्ते बारस जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं

सत्त य पंचाणउते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वजंबूणतामतेणं अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेतियाए वण्णओ वणसंडवण्णओ जाव विहरंति, से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं ओवारियालयणसमपरिक्खेवेणं ॥ तस्स णं ओवारियालयणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता छत्तातिछत्ता ॥ तस्स णं उवारियालयणस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीहिं उवसोभिते मणिवण्णओ, गंधरसफासो, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं मूलपासायवडिंसए पण्णत्ते, से णं पासायवडिंसए बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियप्पहसिते तहेव तस्स णं पासायवडिंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणिफासे उल्लोए ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पन्नत्ता, सा च एगं जोयणमायामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा सण्हा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एगे महं सीहासणे पन्नत्ते, एवं सीहासणवण्णओ सपरिवारो, तस्स णं पासायवडिंसगस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंग-

लगा झया छत्तातिछत्ता ॥ से णं पासायवडिंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० तहेव, तेसि णं पासायवडिंसयाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणं पण्णत्तं, वण्णओ, तेसिं परिवारभूता भद्दासणा पण्णत्ता, तेसि णं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडिंसका अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं पासायवडेंसका अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव, तेसि णं पासायवडेंसगाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया, तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पउमासणा पन्नत्ता, तेसि णं पासायाणं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं पासायवडेंसका देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० भूमिभागा उल्लोया भद्दासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, ते णं पासायव-

डिंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता। ते णं पासायवडिंसगा देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेण अब्भुग्गयमूसिय० भूमिभागा उल्लोया पउमासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता ॥ (सू० १३६)

'विजयाए णं रायहाणीए' इत्यादि, विजयाया राजधान्याः 'चउदिसि'मिति चतस्रो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चतुर्दिशि—चतसृषु दिक्षु पञ्च पञ्च योजनशतानि 'अबाहाए' इति बाधनं बाधा—आक्रमणं तस्यामबाधायां कृत्वेति गम्यते, अपान्तरालेषु मुक्त्वेति भावः, चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्ताः, 'तद्यथे'त्यादि, तानेव वनषण्डान् नामतो दिग्भेदतश्च दर्शयति, अशोकवृक्षप्रधानं वनमशोकवनम्, एवं सप्तपर्णवनं चम्पकवनं चूतवनमपि भावनीयं, 'पुव्वेण असोगवण'मित्यादिरूपा गाथा पाठसिद्धा (अत्र तु न)॥ 'ते णं वणसंडा' इत्यादि, ते वनखण्डाः सातिरेकाणि द्वादश योजनसहस्राण्यायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेन प्रत्येकं प्रज्ञप्ताः प्रत्येकं प्राकारपरिक्षिप्ताः, पुनः कथम्भूतास्ते वनषण्डाः? इत्यादि पद्मवरवेदिकाबहिर्वनषण्डवत्तावदविशेषेण वक्तव्यं यावत् 'तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति'॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां वनषण्डानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, ते च प्रासादावतंसका द्वाषष्टिर्योजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेन 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि प्रासादावतंसकानां वर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावत्तत्र प्रत्येकं सिंहासनं सपरिवारं। 'तत्थ णं'मित्यादि, तेषु वनषण्डेषु प्रत्येकमेकैकदेवभावेन चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् 'महज्जुइया महाबला महायसा महासोक्खा महाणु-

भावा' इतिपरिग्रहः पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—'असोए' इत्यादि, अशोकवनेऽशोकः सप्तपर्णवने सप्तपर्णः चम्पकवने चम्पकः चूतवने चूतः ॥ 'तेसि ण'मि(तत्थ णं ते इ) त्यादि, ते अशोकादयो देवास्तस्य वनखण्डस्य स्वस्य प्रासादावतंसकस्य, सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवतीति, स्वेषां स्वेषां सामानिकसहस्राणां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां स्वासां पर्षदां स्वेषां स्वेषामनीकानां (अनीकाधिपतीनां) स्वेषां स्वेषामात्मरक्षकाणाम् 'आहेवच्चं पोरेवच्च'मित्यादि प्राग्वत् ॥ 'विजयाए ण'-मित्यादि, विजयाया राजधान्या अन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि वर्णनं प्राग्वत् निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महद् एकमुपकारिकालयनं प्रज्ञप्तं, राजधानीस्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीन् उपकरोति—उपष्टभ्नातीत्युपकारिका—राजधानीस्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारकेति प्रसिद्धा, उक्तञ्च—"गृहस्थानं स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारका" इति, उपकारिकालयनमिव उपकारिकालयनं तद् द्वादश योजनशतानि 'आयामविष्कम्भेन' आयामविष्कम्भाभ्यां, त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त योजनशतानि पञ्चनवतानि—पञ्चनवत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि, परिक्षेपपरिमाणं चेदं प्रागुक्तकरणवशात्स्वयमानेतव्यम्, अर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रपरिमाणं बाहल्येन 'सव्वजंबूणयामए' इति सर्वात्मना जाम्बूनदमयम्, 'अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'से ण'मित्यादि, 'तद्' उपकारिकालयनम् एकया पद्मवरवेदिकया तत्पृष्ठभाविन्या एकेन च वनपण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं, पद्मवरवेदिकावर्णको वनपण्डवर्णकः प्राग्वन्निरवशेषो वक्तव्यो यावत् 'तत्थ बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' इति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य उपकारिकालयनस्य 'चउदिसिं'ति चतुर्दिशि चतसृषु

दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, त्रिसोपानवर्णकः पूर्ववद्वक्तव्यः, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, तेषां च तोरणानां वर्णनं प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, 'तस्य' उपकारिकालयनस्य उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहानामए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं प्राग्वत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको मूलप्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धं च योजनमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चायामविष्कम्भाभ्याम्, 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि, तस्य वर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं शेषाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि विजयद्वारबहिःस्थितप्रासादवद्भावनीयानि ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चैकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इति सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तस्य च सिंहासनस्य परिवारभूतानि शेषाणि भद्रासनानि प्राग्वद्वक्तव्यानि ॥ 'से ण'मित्यादि, स च मूलप्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिर्मूलप्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—मूलप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं प्राग्वत्, नवरमत्र सिंहासनानां शेषाणि परिवारभूतानि न वक्तव्यानि ॥ 'ते णं पासा-

यवडेंसया' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—मूलप्रासादावतंसकपरिवारभूतप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसकाः पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोनानि अष्टौ योजनानि आयामविष्कम्भाभ्यां, सूत्रे च 'आयामविक्खंभेणं'ति एकवचनं समाहारविवक्षणात्, एवमन्यत्रापि भावनीयम्, एतेषामपि 'अब्भुग्गयमूसिये'त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च प्राग्वत् केवलमत्रापि सिंहासनमपरिवारं वक्तव्यम् ॥ 'ते ण'मित्यादि, तेऽपि प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चप्रमाणमात्रैः—अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादापेक्षयाऽष्टभागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदेव तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रमुपदर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसका देशोनानि अष्टौ योजनानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोनानि चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि स्वरूपादिवर्णनमनन्तरप्रासादावतंसकवत् ॥ (एतयोः सूत्रयोर्मूलपाठो न दृश्यते) 'ते ण'मित्यादि, तेऽपि च प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादावतंसकापेक्षया षोडशभागप्रमाणमात्रैरित्यर्थः सर्वतः समन्ततः संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसका देशोनानि चत्वारि योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषामपि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च परिवारवर्जितं प्राग्वत्, तदेवं चतस्रः प्रासादावतंसकपरिपाट्यो भवन्ति, कचित्तिस्र एव दृश्यन्ते न चतुर्थी ॥

तस्स णं मूलपासायवडेंसगस्स उत्तरपुरत्थिमे णं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सभा सुधम्मा पण्णत्ता अद्धत्तेरसजोयणाइं आयामेणं छ सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसतसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेदिया तोरणवररतियसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा णाणामणिकणगरयणखइयउज्जलबहुसमसुविभत्तचित्त(णिचिय)रमणिज्जकुट्टिमतला ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता थंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणी भिब्भिसमाणी चक्खुलोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा कंचणमणिरयणथूभियागा नाणाविहपंचवण्णघंटापडागपडिमंडितग्गसिहरा धवला मिरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिन्ना दिव्वतुडियमधुरसद्दसंपणाइया सुरम्मा सव्वरयणामती अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं सोहम्माए सभाए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता ॥ ते णं दारा पत्तेयं पत्तेयं

वा-
भि०
णि-
तिः

दो दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया· वरकणगथूभियागा जाव वणमालादारवन्नओ ॥ तेसि णं दाराणं पुरओ मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छजोयणाइं सक्कोसाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मुहमंडवा अणेगखंभसयसंनिविट्ठा जाव उल्लोया भूमिभागवण्णओ ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं अट्ठट्ठ मंगला पण्णत्ता सोत्थिय जाव मच्छ० ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता, ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं जाव दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव मणिफासो ॥ तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामयअक्खाडगा पण्णत्ता, तेसि णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ मणिपीढिया पण्णत्ता, ताओ णं मणिपीढियाओ जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपीढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ जाव दामा परिवारो। तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरतो तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पं० ताओ णं मणिपेढियाओ दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमतीओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभा पण्णत्ता, ते णं चेइयथूभा

दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंददगरयामयमहितफेणपुंजसण्णिकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा बहुकिण्हचामरज्झया पण्णत्ता छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं चेतियथूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ प०, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ ॥ तासि णं मणिपीढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ पलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निविट्ठाओ चिट्ठंति, तंजहा—उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा ॥ तेसि णं चेतियथूभाणं पुरतो तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पन्नत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ दो दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ लण्हाओ सण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णिप्पंकाओ णीरयाओ जाव पडिरूवाओ। तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरुक्खा पण्णत्ता, ते णं चेतियरुक्खा अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधी अद्धजोयणं विक्खंभेणं छजोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं। तेसि णं चेइयरुक्खाणं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया मूला रययसुपतिट्ठिता विडिमा रिट्ठामयविपुल-

कंदवेरुलियरुतिलखंधा सुजातरूवपढमगविसालसाली नाणामणिरयणविविधसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवसोभंतवरंकुरग्गसिहरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमियसाला सच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया अमयरससमरसफला अधियं णयणमणणिव्वुतिकरा पासातीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ ते णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तवन्नदहिवन्नलोद्धधवचंदणनीवकुडयकयंबपणसतालतमालपियालपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं तिलया जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कन्दमंतो जाव सुरम्मा ॥ ते णं तिलया जाव नंदिरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं पउमलयाहिं जाव सामलयाहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं चेतियरुक्खाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरतो तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमतीओ अच्छा जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं माहिंदझया अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिता विसिट्ठा अणेगवरपंचव-

णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो तिदिसिं तओ णंदाओ पुक्खरिणीओ पं० ताओ णं पुक्खरिणीओ अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं सक्कोसाइं छ जोयणाइं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं २ तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पं०, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणा भाणियव्वा, जाव छत्तातिच्छत्ता सभाए णं सुहम्माए छ मणोगुलिसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पुरत्थिमे णं दो साहस्सीओ पच्चत्थिमेणं दो साहस्सीओ दाहिणेणं एगसाहस्सी उत्तरेणं एगा साहस्सी, तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा जाव सुक्किलवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा जाव चिट्ठंति ॥ सभाए णं सुहम्माए छगोमाणसीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ तंजहा—पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ, एवं पच्चत्थिमेणवि दाहिणेणं सहस्सं एवं

उत्तरेणवि, तासु णं गोमाणसीसु बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पं० जाव तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रयतामया सिक्कता पण्णत्ता, तेसु णं रयतामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडिताओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क जाव घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ चिट्ठंति। सभाए णं सुधम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीणं फासो उल्लोया पउमलयभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ (सू० १३७)

'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य 'उत्तरपूर्वस्याम्' ईशानकोण इत्यर्थः, 'अत्र' एतस्मिन् भागे विजयस्य देवस्य योग्या सभा सुधर्मा नाम विशिष्टच्छन्दकोपेता साऽर्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन पट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन नव योजनानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन 'अणेगे'त्यादि अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टा अनेकस्तंभशतसन्निविष्टा 'अब्भुग्गयसुकयवरवेइया तोरणवररइयसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा' अभ्युद्गता—अतिरमणीयतया द्रष्टॄणां प्रत्यभिमुखमुत्—प्राबल्येन स्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिरचितेवेति भावः, अभ्युद्गता चासौ सुकृता च अभ्युद्गतसुकृता वज्रवेदिका—द्वारमुण्डकोपरि वज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं चाभ्युद्गतसुकृतं यत्र सा तथा, तथा वराभिः—प्रधानाभिः रचिताभिः—विरचिताभिः रतिदाभिर्वा सालभञ्जिकाभिः सुश्लिष्टा—संबद्धा विशिष्टं—प्रधानं लष्टं—मनोज्ञं संस्थितं—संस्थानं येषां ते विशिष्टलष्टसंस्थिताः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यस्तम्भाः—वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भा यस्यां सा वररचितशालभञ्जिकासुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्तवैडूर्यस्तम्भा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयः, तथा नानामणिकन-

करत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्, नानामणिकनकरत्नखचितः उज्ज्वलो—निर्म्मलो बहुसमः—अत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो—निविडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा नानामणिकनकरत्नखचितोज्ज्वलबहुसमसुविभक्त (निचितरमणीय) भूमिभागा 'ईहामिगउसहतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता' इति तथा **स्तम्भोद्गतया**—स्तम्भोपरिवर्त्तिन्या **वज्रवेदिकया**—वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगता सती याऽभिरामा स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामा 'विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा' इति प्राग्वत् **'कंचणमणिरयणथूभियागा'** इति काञ्चनमणिरत्नानां स्तूपिका—शिखरं यस्याः सा काञ्चनमणिरत्नस्तूपिकाका 'नाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरा' नानाविधाभिः—नानाप्रकाराभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाभिः पताकाभिश्च परि—सामस्त्येन मण्डितमग्रशिखरं यस्याः सा नानाविधपञ्चवर्णघण्टापताकापरिमण्डिताग्रशिखरा **'धवला'** श्वेता **मरीचिकवचं**—किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चन्ती **'लाउल्लोइयमहिया'** इति लाइयं नाम यद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम् उल्लोइयं—कुड्यानां मालस्य च सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं लाउल्लोइयं ताभ्यामिव महिता—पूजिता लाउल्लोइयमहिता, तथा **गोशीर्षेण**—गोशीर्षनामचन्दनेन सरसरक्तचन्दनेन दर्द्दरेण—बहलेन चपेटाकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला—हस्तका यत्र सा गोशीर्षकसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितला, तथा उपचिता—निवेशिता वन्दनकलशा—मङ्गलकलशा यस्यां सा उपचितवन्दनकलशा **'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा'** इति चन्दनघटैः—चन्दनकलशैः सुकृतानि—सुष्ठु कृतानि शोभनानीति तात्पर्यार्थः यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागे यस्यां सा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागा, तथा **'आसत्तोसत्तवट्टवग्घारिय-**

मल्लदामकलावा' इति आ—अवाङ् अधोभूमौ सक्त आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्द्ध सक्त उत्सक्तः—उल्लोचतले उपरिसंवद्ध इत्यर्थः, विपुलो—विस्तीर्णः वृत्तो—वर्त्तुलः 'वग्घारिय' इति प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो यस्यां सा आसक्तोत्सक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापा, तथा पञ्चवर्णेन सरसेन—सच्छायेन सुरभिणा मुक्तेन—क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण—पूजया कलिता पञ्चवर्णसरससुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलिता 'कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया' इति प्राग्वत्, 'अच्छरगणसंघसंविकिण्णा' इति अप्सरोगणानां सङ्घः—समुदायस्तेन सम्यग्—रमणीयतया विकीर्णा—व्याप्ता 'दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया' इति दिव्यानां त्रुटितानां—आतोद्यानां वेणुवीणामृदङ्गादीनां ये शब्दास्तैः सम्यक्—श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नादिता—शब्दवती दिव्यत्रुटितसंप्रणादिता 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तीसे णं सभाए ण'मित्यादि, सभायाः सुधर्मायाः 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्याम् ॥ 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन योजनमेकं विष्कम्भेन 'तावइयं चेवे'ति योजनमेकं प्रवेशेन 'सेया वरकणगथूभियागा' इत्यादि प्रागुक्तं द्वारवर्णनं तदेतावद्वक्तव्यं यावद्वनमाला इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मुखमण्डपः प्रज्ञप्तः, ते च मुखमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन, एतेषामपि 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठा' इत्यादि वर्णनं सुधर्म्मायाः सभाया इव निरवशेषं द्रष्टव्यं, तेषां मुखमण्डपानामुल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं च यावन्मणीनां स्पर्शः प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि—स्वस्तिकादीनि प्रज्ञप्तानि, तान्येवाह—'तंजहे'त्यादि, एतच्च विशेषणं

सुधर्मासभाया अपि द्रष्टव्यम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ प्रेक्षागृहमण्डपः प्रज्ञप्तः, तेऽपि च प्रेक्षागृहमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन, सक्रोशानि षड् योजनानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन, प्रेक्षागृहमण्डपानां च भूमिभागवर्णनं पूर्ववत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं वज्रमयः 'अक्षपाटकः' चतुरस्राकारः प्रज्ञप्तः, तेषां चाक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमईओ' इति सर्वात्मना मणिमय्यः 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं परिवारश्च प्राग्वद्वक्तव्यः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि, कृष्णचामरध्वजादि च प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः प्रत्येकं द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं चैत्यस्तूपाः प्रज्ञप्ताः, ते च चैत्यस्तूपाः सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां शङ्खाङ्ककुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसंनिकाशाः सर्वात्मना रत्नमया अच्छाः श्लक्ष्णा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं प्रत्येकं 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि,

तासां मणिपीठिकानामुपरि एकैकस्या मणिपीठिकाया उपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमा जिनोत्सेधः—उत्कर्षतः पञ्च धनुः-शतानि जघन्यतः सप्त हस्ताः, इह तु पञ्च धनुःशतानि संभाव्यन्ते, **'पलियंकनिसन्नाओ'** इति पर्यङ्कासननिषण्णाः स्तूपाभिमुख्य-स्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा वर्द्धमाना चन्द्रानना वारिषेणा ॥ **'तेसि णं'**मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्ताः । ते चैत्यवृक्षा अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धयोजनमुत्सेधेन उण्डत्वेन द्वे योजने उच्चैस्त्वेन स्कन्धः स एवार्द्धं योजनं विष्कम्भेन यावद्बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा सा विडिमा सा षड् योजनान्यूर्द्ध्व-मुच्चैस्त्वेन, साऽपि चार्द्धं योजनं विष्कम्भेन, सर्वाग्रेण सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि प्रज्ञप्ताः । तेषां च चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—**'वइरामया मूला रययसुपइट्ठिया विडिमा'** वज्राणि—वज्ररत्नमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता—रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वविनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयस-मासः, **'रिट्ठमयकंदवेरुलियरुचिरखंधी'** रिष्ठमयो—रिष्ठरत्नमयः कन्दो येषां ते रिष्ठरत्नमयकन्दाः, तथा वैडूर्यो—वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयसमासः, **'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला'** सुजातं—मूलद्रव्यशुद्धं वरं—प्रधानं यज्जातरूपं तदात्मका प्रथमका—मूलभूता विशाला शाला—शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः **'नानामणिरयणविवि-हसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा'** नानामणिरत्नानां नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखाश्च येषां ते तथा, वैडूर्याणि—वैडूर्यमयानि पत्राणि येषां ते तथा, तथा तपनीयानि—तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत्पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्म्म-

धारयः, जाम्बूनदा—जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता—रक्तवर्णा मृदवो—मनोज्ञाः सुकुमाराः—सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला—ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः—संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः—प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः, कचित्पाठः 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालकोमलपवालपल्लवङ्कुरग्गसिहरा' तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि—अकठिनानि सुकुमाराणि—अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि—मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुराः—यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च येषां ते तथा, 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला' विचित्रमणिरत्नानि—विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता—नाम्रं ग्राहिताः शालाः—शाखा येषां ते तथा, सती—शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, तथा सती—शोभना प्रभा—कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, सह उद्द्योतेन वर्त्तन्ते मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् सोद्द्योताः, अधिकं—अतिशयेन नयनमनोनिर्वृतिकराः, अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते अमृतरससमफलाः 'पासाईया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'ते णं चेइयरुक्खा' इत्यादि, ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवङ्गछत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः ॥ 'ते णं तिलगा' इत्यादि, ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावदनेकशकटरथयानशिबिकास्यन्दमानिकाप्रतिमोचनासुरम्या इति ॥ 'ते णं तिलगा' इत्यादि, ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिर्नागलताभिरशोकलताभिश्चम्पकलताभिश्चूतलताभिर्वनलताभिर्वासन्तिकालताभिरतिमुक्तकलताभिः कुन्दलताभिः श्यामलताभिः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, 'ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ' इत्यादिलतावर्णनं तावद्वक्तव्यं यावत् 'पडिरूवाओ' इति, व्याख्या चास्य पूर्ववत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि,

तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत्प्रतिरूपका इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः, अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, ते च महेन्द्रध्वजा 'अर्द्धाष्टमानि' सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रप्रमाणमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रप्रमाणं 'विष्कम्भेन' विस्तारेण, 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिया' इति वज्रमया—वज्ररत्नमयाः तथा वृत्तं—वर्तुलं लष्टं—मनोज्ञं संस्थितं—संस्थानं येषां ते वृत्तलष्टसंस्थिताः, तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टा इव खरशानया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः मृष्टाः सुकुमारशानया पाषाणप्रतिमेव सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् 'अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा' अनेकैर्वरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुडभीसहस्रैः—लघुपताकासहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामा अनेकवरपञ्चवर्णकुडभीसहस्रपरिमण्डिताभिरामाः 'वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइछत्तकलिया तुंगा गगणतलमणुलिहंतसिहरा पासाईया जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत् सर्वं वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रकहस्तका इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं 'नन्दा' नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, 'अर्द्धत्रयोदश' सार्द्धानि द्वादश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, दश योजनान्युद्वेधेन—उण्डत्वेन, 'अच्छाओ सण्हाओ रययमयकूडाओ' इत्यादि वर्णनं जगत्युपरिपुष्करिणीवन्निरवशेषं वक्तव्यं यावत् 'पासाईयाओ उदगरसेणं पन्नत्ताओ' ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं २

वनषण्डेन च परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दापुष्करिणीनां त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि तेषां च वर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्म्मायां षड् (मनो) गुलिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं सहस्रं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामिति, एतासु च फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्मायां षड् गोमानसिकाः—शय्यारूपाः स्थानविशेषास्तासां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामिति, तास्वपि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं धूपघटिकावर्णनं च विजयद्वारवत् । 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि उल्लोकवर्णनं 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत् ॥

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपीढिया पण्णत्ता, सा णं मणिपीढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमता ॥ तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एत्थ णं माणवए णाम चेइयखंभे पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं छकोडीए छलंसे छविग्गहिते वइरामयवट्टलट्ठसंठिते, एवं जहा महिंदज्झयस्स वण्णओ जाव पासातीए ॥ तस्स णं माणवकस्स चेतियखंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हेट्ठावि छक्कोसे वज्जेत्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पं०, तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रययामता सिक्कगा पण्णत्ता ॥ तेसु णं रययाम-

यसिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गका पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं विजयस्स देवस्स अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ । माणवस्स णं चेतियखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तस्स णं माणवकस्स चेतियखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं एगा महामणिपेढिया पं०, सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ ॥ तस्स णं माणवगस्स चेतियखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पं० जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—नाणामणिमया पडिपादा सोवण्णिया पादा नाणामणिमया पायसीसा जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमते चिच्चे रइयामता तूली लोहियक्खमया बिब्बोयणा तवणिज्जमती गंडोवहाणिया, से णं देवसयणिज्जे उभओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झेणयगंभीरे सालिंगणवट्टीए गंगापुलिणवालुउद्दालसालिसए ओतवितक्खो-

मउयुगुल्लपट्टपडिच्छायणे सुविरचितरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुते सुरम्मे आईणगरूतबूरणवणीयतूलफासमउए पासाईए ॥ तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महई एगा मणिपीठिका पण्णत्ता जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव अच्छा ॥ तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेधेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वेरुलियामयवट्टलट्ठसंठिते तहेव जाव मंगला झया छत्तातिछत्ता॥ तस्स णं खुड्डमाहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चुप्पालए नाम पहरणकोसे पण्णत्ते ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स फलिहरयणपामोक्खा बहवे पहरणरयणा संनिक्खित्ता चिट्ठंति, उज्जलसुणिसियसुतिक्खधारा पासाईया ॥ तीसे णं सभाए सुहम्माए उप्पिं बहवे अट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ (सू० १३८)

'तस्स णं बहुसमरमणीयस्स भूमिभागस्से'त्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यामेकं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि महानेको माणवकनामा चैत्यस्तम्भः प्रज्ञप्तः, अर्द्धाष्टमानि—सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धकोशं—धनुःसहस्रमानमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन षडस्रिकः—षट्कोटीकः षड्विग्रहिकः 'वइरामयवट्टलट्ठसंठिए' इत्यादि महेन्द्रध्वजवद् वर्णनमशेषमस्यापि तावद्वक्तव्यं यावद् 'बहवो सहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा' इति ॥ 'तस्स ण'मि-

त्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्योपरि पट् क्रोशान् अवगाह्य उपरितनभागात् पट् क्रोशान् वर्जयित्वेति भावः, अधस्तादपि पट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्द्धपञ्चमेषु योजनेषु वहवे 'सुवण्णरूप्पमया फलगा' इत्यादिफलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्कगवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'तेसु ण'मित्यादि, तेषु रजतमयेषु सिक्ककेषु वहवो वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः, तेषु च वज्रमयेषु समुद्गकेषु वहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति यानि विजयस्य देवस्यान्येषां च वहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चार्चनीयानि चन्दनतः वन्दनीयानि स्तुत्यादिना पूजनीयानि पुष्पादिना माननीयानि वहुमानकरणतः सत्कारणीयानि वस्त्रादिना कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमितिवुद्ध्या पर्युपासनीयानि ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं तद्वर्णनं शेषाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य माणवकनाम्नश्चैत्यस्तम्भस्य पश्चिमायां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, एकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं (देव) शयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य च देवशयनीयस्यायमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—नानामणिमयाः प्रतिपादाः—मूलपादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः 'सौवर्णिकाः' सुवर्णमयाः 'पादाः' मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि—ईषादीनि वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः, 'नानामणिमये चिच्चे' इति चिच्चं नाम च्युतं वानमित्यर्थः, नानामणिमयं च्युतं—विशिष्टवानं रजतमयी तूली लोहिताक्षमयानि 'विव्वोयणा' इति उपधानकानि, आह च मूलटीकाकारः—"विव्वोयणा—उपधानकानि उच्यन्त" इति, तपनीयमय्यो गण्डोपधानकाः ॥

'**से णं देवसयणिज्जे**' इत्यादि, तद् देवशयनीयं '**सालिङ्गनवर्त्तिकं**' सह आलिङ्गनवर्त्त्या—शरीरप्रमाणेनोपधानेन यद् तत्तथा '**उभओविव्वोयणे**' इति उभयतः—उभौ—शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य विव्वोयणे—उपधाने यत्र तद् उभयतोविव्वोयणं '**दुहतो उन्नते**' इति उभयत उन्नतं '**मज्झेणयगंभीरे**' इति, मध्ये च नतं निम्नत्वाद् गम्भीरं च महत्त्वात् नतगम्भीरं गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो—विदलनं पादादिन्यासेऽधोगमनमिति भावः तेन '**सालिसए**' इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशं, तथा '**ओयविय**' इति विशिष्टं परिकर्मितं क्षौमं—कार्पासिकं दुकूलं—वस्त्रं तदेव पट्ट ओयवियक्षौमदुकूलपट्टः स प्रतिच्छादनं—आच्छादनं यस्य तत्तथा, '**आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासे**' इति प्राग्वत्, '**रत्तंसुयसंवुए**' इति रक्तांशुकेन संवृतं रक्तांशुकसंवृतम्, अत एव सुरम्यं '**पासाइए**' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ '**तस्स ण**'मित्यादि, तस्य देवशयनीयस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन '**सव्वमणिमयी अच्छा**' इत्यादि प्राग्वत् ॥ '**तीसे ण**'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र क्षुल्लको महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, तस्य प्रमाणं च वर्णकश्च महेन्द्रध्वजवद्वक्तव्यः ॥ '**तस्स ण**'मित्यादि, तस्य क्षुल्लकस्य महेन्द्रध्वजस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धी महान् एकश्चोप्पालो नाम '**प्रहरणकोशः**' प्रहरणस्थानं प्रज्ञप्तं, किंविशिष्टमित्याह—'**सव्ववइरामए अच्छे जाव पडिरूवे**' इति प्राग्वत् ॥ '**तत्थ ण**'मित्यादि, तत्र चोप्पालकाभिधाने प्रहरणकोशे बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि संक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, कथम्भूतानीत्यत आह—**उज्ज्वलानि**—निर्मलानि **सुनिशितानि**—अतितेजितानि अत एव तीक्ष्णधाराणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत् ॥ '**तीसे णं सभाए**' इत्यादि, तस्याः सुधर्म्मायाः सभाया उपरि बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि, इत्यादि सर्वं प्राग्वत्तावक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥

सभाए णं सुधम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पण्णत्ते अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छजोयणाइं सकोसाइं विक्खंभेणं नव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव गोमाणसिया वत्तव्वया जा चेव सहाए सुहम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा तहेव दारा मुहमंडवा पेच्छाघरमंडवा झया थूभा चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदाओ पुक्खरिणीओ, तओ य सुधम्माए जहा पमाणं मणगुलियाणं गोमाणसीया धूवयघडिओ तहेव भूमिभागे उल्लोए य जाव मणिफासे ॥ तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा०, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवच्छंदए पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए अच्छे ॥ तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताणं संणिखित्तं चिट्ठइ ॥ तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा— तवणिज्जमता हत्थतला अंकामयाइं णक्खाइं अंतोलोहियक्खपरिसेयाइं कणगमया पादा कणगामया गोप्फा कणगामतीओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामयाओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमतीओ णाभीओ रिट्ठामतीओ रोमरातीओ तवणिज्जमया चुच्चुया तवणिज्जमता सिरिवच्छा कणगमयाओ बाहाओ कणगमईओ पासाओ कणगमतीओ गीवाओ रिट्ठामते मंसु

सिलप्पवालमया उट्ठा फलिहामया दंता तवणिज्जमतीओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुया कणगमतीओ णासाओ अंतोलोहितक्खपरिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि अंतोलोहितक्खपरिसेताइं पुलगमतीओ दिट्ठीओ रिट्ठामतीओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामतीओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वट्टा वइरामतीओ सीसघडीओ तवणिज्जमतीओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरिमुद्धजा। तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठतो पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरततकुंदेंदुसप्पकासाइं सकोरेंटमल्लदामधवलाइं आतपत्तातिं सलीलं ओहारमाणीओ चिट्ठंति ॥ तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारपडिमाओ पन्नत्ताओ, ताओ णं चामरधारपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमतमथितफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरयतदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति ॥ तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो दो दो नागपडिमाओ दो २ जक्खपडिमाओ दो २ भूतपडिमाओ दो २ कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पायवडियाओ पंजलिउडाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति सव्वरयणामतीओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ णिप्पंकाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं

जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसतं घंटाणं अट्ठसतं चंदणकलसाणं एवं अट्ठसतं भिंगारगाणं एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं मणगुलियाणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठगाणं जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं जाव धूवगडच्छुयाणं संणिखित्तं चिट्ठति ॥ तस्स णं सिद्धायतणस्स णं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया तंजहा—रयणेहिं जाव रिट्ठेहिं ॥ (सू० १३९)

'सभाए ण'मित्यादि, सभायाः सुधर्म्मीया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम्, अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भतो नव योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेनेत्यादि सर्वं सुधर्म्मावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तथा चाह— 'जा चेव सभाए सुधम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा जाव गोमाणसियाओ' इति, किमुक्तं भवति?—यथा सुधर्म्मायाः सभायाः पूर्वदक्षिणोत्तरवर्त्तीनि त्रीणि द्वाराणि, तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपाः, तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रेक्षागृहमण्डपाः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतश्चैत्यस्तूपाः सप्रतिमाः, तेषां च चैत्यस्तूपानां पुरतश्चैत्यवृक्षाः, तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां च महेन्द्रध्वजानां पुरतो नन्दापुष्करिण्य उक्ताः, तदनन्तरं च सभायां सुधर्म्मायां षड् गुलिकासहस्राणि षड् गोमानसीसहस्राण्यप्युक्तानि तथाऽत्रापि सर्वमनेनैव क्रमेण निरवशेषं वक्तव्यम्, उल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनमपि तथैव ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य (सिद्धायतनस्य) बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता द्वे

योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वमणिमयी अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां सर्वात्मना रत्नमया अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, तत्र देवच्छन्दके 'अष्टशतम्' अष्टाधिकं शतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां पञ्चधनुःशतप्रमाणानामिति भावः सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तासि णं जिणपडिमाण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि 'अङ्कमयाः' अङ्करत्नमया अन्तः—मध्ये लोहिताक्षरत्नप्रतिषेका नखाः, कनकमय्यो जङ्घाः, कनकमयानि जानूनि, कनकमया ऊरवः, कनकमय्यो गात्रयष्टयः, तपनीयमया नाभयः, रिष्ठरत्नमय्यो रोमराजयः, तपनीयमयाः 'चुच्चुकाः' स्तनाग्रभागाः, तपनीयमयाः श्रीवृक्षाः (वत्सा.) 'शिलाप्रवालमयाः' विद्रुममया ओष्ठाः, स्फटिकमया दन्ताः, तपनीयमय्यो जिह्वाः, तपनीयमयानि तालुकानि, कनकमय्यो नासिकाः अन्तर्लोहिताक्षरत्नप्रतिसेकाः, अङ्कमयानि अक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि, रिष्ठरत्नमय्योऽक्षिमध्यगतास्तारिकाः, रिष्ठरत्नमयानि अक्षिपत्राणि, रिष्ठरत्नमय्यो भ्रुवः, कनकमयाः कपोलाः, कनकमयाः श्रवणाः, कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः, वज्रमय्यः शीर्षघटिकाः, तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशानामन्तभूमयः केशभूमयश्चेति भावः, रिष्ठमया उपरि मूर्द्धजाः—केशाः, तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधरप्रतिमा हेमरजतकुन्देन्दु (समान) प्रकाशं सकोरिंटमाल्यदामधवलमातपत्रं गृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति ॥ 'तासि णं जिणपडिमाण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चमरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, 'चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचितदंडाओ' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपाश्चित्राः—नानाप्र-

कात्रा दण्डा येषां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, 'सुहुमरययदीहवालाओ' इति सूक्ष्माः—श्लक्ष्णा रजतस्य—रजतमया वाला येषां तानि तथा, 'संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निकासाओ धवलाओ चामराओ' इति प्रतीतं चामराणि गृहीत्वा सलीलं वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे संनिक्षिप्ते तिष्ठतः, ताश्च 'सव्वरयणामईओ अच्छाओ' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, 'तस्मिन्' देवच्छन्दके जिनप्रतिमानां पुरतोऽष्टशतं घण्टानामष्टशतं चन्दनकलशानामष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं स्थालानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठानामष्टशतं मनोगुलिकानां—पीठिकाविशेषरूपाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकाणामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानामष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किंनरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं गन्धर्वकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणामष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तचङ्गेरीणां लोमहस्तका—मयूरपिच्छपुञ्जनिकाः अष्टशतं पुष्पपटलकानामष्टशतं माल्यपटलकानां मुत्कलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि अष्टशतं चूर्णपटलकानाम्, एवं गन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं वक्तव्यम्, अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतं अंजनसमुद्गकानां, सर्वाण्यप्येतानि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि द्रष्टव्यानि, अष्टशतं ध्वजानाम्, अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—''वंदणकलसा भिंगारगा य आयंसगा य थाला य। पाईओ सुपइट्ठा मणगुलिया वायकरगा य ॥१॥

चित्ता रयणकरंडा हयगयनरकंठगा य चंगेरी । पडला सिंहासणछत्तचामरा समुग्गयक(जु)या य ॥ २ ॥" अष्टशतं धूपकडुच्छुकानां संनिक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि, ध्वजच्छत्रातिछत्रादीनि तु प्राग्वत् ॥

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं उववायसभा पण्णत्ता जहा सुधम्मा तहेव जाव गोमाणसीओ उववायसभाएवि दारा मुहमंडवा सव्वं भूमिभागे तहेव जाव मणिफासो (सुहम्मासभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव भूमीए फासो) ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स वण्णओ, उववायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता जाव उत्तिमागारा, तीसे णं उववायसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं एगे महं हरए पण्णत्ते, से णं हरए अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छक्कोसातिं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे वण्णओ जहेव णंदाणं पुक्खरिणीणं जाव तोरणवण्णओ, तस्स णं हरतस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अभिसेयसभा पण्णत्ता जहा सभासुधम्मा तं चेव निरवसेसं जाव गोमाणसीओ भूमिभाए उल्लोए तहेव ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं

अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ अपरिवारो ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहु अभिसेक्के भंडे संणिक्खित्ते चिट्ठति, अभिसेयसभाए उप्पिं अट्ठट्ठमंगलए जाव उत्तिमागारा सोलसविधेहिं रयणेहिं, तीसे णं अभिसेयसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अलंकारियसभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव गोमाणसीओ मणिपेढियाओ जहा अभिसेयसभाए उप्पिं सीहासणं स(अ)-परिवारं ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहु अलंकारिए भंडे संनिक्खित्ते चिट्ठति, उत्तिमागारा अलंकारिय० उप्पिं मंगलगा झया जाव (छत्ताइछत्ता) ॥ तीसे णं आलंकारियसहाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं ववसातसभा पण्णत्ता, अभिसेयसभावत्तव्वया जाव सीहासणं अपरिवारं ॥ त(ए)त्थणं विजयस्स देवस्स एगे महं पोत्थयरयणे संनिक्खित्ते चिट्ठति, तत्थ णं पोत्थयरयणस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते, तंजहा—रिट्ठामतीओ कंबियाओ [रयतामतातिं पत्तकाइं रिट्ठामयातिं अक्खराइं] तवणिज्जमए दोरे णाणामणिमए गंठी (अंकमयाइं पत्ताइं) वेरुलियमए लिप्पासणे तवणिज्जमती संकला रिट्ठमए छादने रिट्ठामया मसी वइरामयी लेहणी रिट्ठामयाइं अक्खराइं धम्मिए सत्थे ववसायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमागारेति । तीसे णं

ववसा(उववा)यसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एगे महं बलिपेढे पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वरयतामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ एत्थ णं तस्स णं बलिपेढस्स उत्तरपुर-त्थिमेणं एगा महं णंदापुक्खरिणी पण्णत्ता जं चेव माणं हरयस्स तं चेव सव्वं ॥ (सू० १४०)

'तस्स ण'मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उत्तरपूर्वस्यामत्र महत्येका उपपातसभा प्रज्ञप्ता, तस्याश्च सुधर्म्मासभाया इव प्रमाणं त्रीणि द्वाराणि तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपा इत्यादि सर्वं तावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवर्णनं, तदनन्तरमुल्लोकवर्णनं ततो भूमिभा-गवर्णनं तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः, तथा चाह—'सुहम्मसभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव भूमीए फासो' इति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य स्वरूपवर्णनं यथा सुधर्म्मायां सभायां देवशयनीयस्य तस्य तथा द्रष्टव्यं, तस्या अपि उपपातसभाया उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानी-त्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महानेको ह्रदः प्रज्ञप्तः, अर्द्धत्रयोदश योजना-न्यायामेन षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन दश योजनान्युद्वेधेन 'अच्छे सण्हे रययाकूले' इत्यादि नन्दापुष्करिणीवत्सर्वं-निरवशेषं वाच्यं, तथा चाह—'आयामुव्वेहेणं विक्खंभेणं वन्नओ जो चेव नंदापुक्खरिणीण'मिति ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, स ह्रद

१ अत्र प्रथमं जीर्णपुस्तके नंदापुष्करिणीविवेचनं वर्त्तते पश्चात् बलिपीठस्य परं च टीकायां प्रथमं बलिपीठस्य पश्चात् नंदायाः, एतदनुसारेण मयाऽप्यत्रैवं लिखितं

२ अस्या वक्ष्यमाणव्याख्याया मूलपाठो न दृश्यते पुस्तकेषु.

एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकाया वर्णनं वनषण्डवर्णनं च तावद् यावत् 'तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंती'ति, तस्य ह्रदस्य 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां तोरणानां च (वर्णनं पूर्ववत्) 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य ह्रदस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽभिषेकसभा प्रज्ञप्ता, साऽपि प्रमाणस्वरूपद्वारमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपचैत्यस्तूपवर्णनादिप्रकारेण सुधर्मासभावत्तावद्वक्तव्या यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तदनन्तरं तथैवोल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णनं च तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, सिंहासनवर्णकः प्राग्वत्, नवरमत्र परिवारभूतानि भद्रासनानि न वक्तव्यानि ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तस्मिन् सिंहासने विजयस्य देवस्य योग्यं सुबहु 'अभिषेकभाण्डम्' अभिषेकोपस्करः संनिक्षिप्तः तिष्ठति, तस्याश्चाभिषेकसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽलङ्कारसभा प्रज्ञप्ता, सा च प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनप्रकारेणाभिषेकसभावत्तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, 'तत्र' सिंहासने विजयदेवस्य योग्यं सुबहु 'आलङ्कारिकम्' अलङ्कारयोग्यं भाण्डं संनिक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या अलङ्कारसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका व्यवसायसभा प्रज्ञप्ता, सा चाभिषेकसभावत्प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिवर्णकप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् ॥ 'एत्थ ण'मित्यादि, 'अत्र' सिंहा-

१ अत्र संबंधत्रुटितो दृश्यते.

सने महदेकं पुस्तकरत्नं संनिक्षिप्तं तिष्ठति, तस्य च पुस्तकरत्नस्यायमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः—'रिष्ठमय्यौ' रिष्ठरत्नात्मिके कम्बिके पुष्टके इति भावः, रजतमयो(तपनीयमयो)दवरको यत्र पत्राणि प्रोतानि सन्ति, नानामणिमयो ग्रन्थिर्दवरकस्यादौ येन पत्राणि न निर्गच्छन्ति 'अङ्कमयानि' अङ्करत्नमयानि पत्राणि नानामणि(वैडूर्य)मयं लिप्पासनं—मषीभाजनमित्यर्थः, तपनीयमयी शृङ्खला मषीभाजनसत्का रिष्ठरत्नमयमुपरितनं तस्य छादनं 'रिष्ठमयी' रिष्ठरत्नमयी मषी वज्रमयी लेखिनी रिष्ठमयान्यक्षराणि धार्म्मिकं लेख्यं, तस्याश्च उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं बलिपीठं प्रज्ञप्तं द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन 'अच्छे सण्हे' इत्यादि विशेपणजातं प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बलिपीठस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका नन्दापुष्करिणी प्रज्ञप्ता, सा च ह्रद-प्रमाणा, ह्रदस्येव च तस्या अपि त्रिसोपानवर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत् ॥ तदेवं यत्र यादृग्भूता च राजधानी विजयस्य देवस्य तदे-तदुपवर्णितं, सम्प्रति विजयो देवस्तत्रोत्पन्नस्तदा यदकरोद् यथा च तस्याभिषेकोऽभवत्तदुपदर्शयति—

तेणं कालेणं तेणं समएणं विजए देवे विजयाए रायहाणीए उववातसभाए देवसयणिज्जंसि देव-दूसंतरिते अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्तीए बोंदीए विजयदेवत्ताए उववण्णे ॥ तए णं से विजये देवे अहुणोववण्णमेत्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तंजहा —आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणापाणुपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिते मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मे पुव्वं सेयं किं मे पच्छा सेयं किं मे पुव्विं कर-

णिज्जं किं मे पच्छा करणिज्जं किं मे पुव्विं वा पच्छा वा हिताए सुहाए खेमाए णीस्सेसयाते अणुगामियत्ताए भविस्सतीतिकट्टु एवं संपेहेति ॥ ततो णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा विजयस्स देवस्स इमं एतारूवं अज्झत्थितं चिंतियं पत्थियं मणोगयं संकप्पं समुप्पण्णं जाणित्ता जेणामेव से विजए देवे तेणामेव उवागच्छंति तेणामेव उवागच्छित्ता विजयं देवं करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए सिद्धायतणंसि अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति सभाए य सुधम्माए माणवए चेतियखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गतेसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति जाओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ एतण्णं देवाणुप्पियाणं पुव्विंपि सेयं एतण्णं देवाणुप्पियाणं पच्छावि सेयं एतण्णं देवा० पुव्विं करणिज्जं पच्छा करणिज्जं एतण्णं देवा० पुव्विं वा पच्छा वा जाव आणुगामियत्ताते भविस्सतीतिकट्टु महता महता जय(जय)सद्दं पउंजंति ॥ तए णं से विजए देवे तेसिं सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियते देवसयणिज्जा-

ओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता दिव्वं देवदूसजुयलं परिहेइ २ त्ता देवसयणिज्जाओ पच्चोरुहइ २ त्ता उववातसभाओ पुरत्थिमेणं बारेणं णिग्गच्छइ २ त्ता जेणेव हरते तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता हरयं अणुपदाहिणं करेमाणे करेमाणे पुरत्थिमेणं तोरणेणं अणुप्पविसति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति २ हरयं ओगाहति २ त्ता जलावगाहणं करेति २ त्ता जलमज्जणं करेति २ त्ता जलकिड्डं करेति २ त्ता आयंते चोक्खे परमसूतिभूते हरताती पच्चुत्तरति २ त्ता जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति २ त्ता अभिसेयसभं पदाहिणं करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं बारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव सए सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे ॥ तते णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिते देवे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह ॥ तते णं ते आभिओगिता देवा सामाणियपरिसोववण्णेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हितया करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति २ त्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमंति २ त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं णिसरंति तं०—रयणाणं जाव रिट्ठाणं, अहाबायरे पोग्गले परिसाडंति २ त्ता अहासुहुमे पोग्गले परियायंति २ त्ता दोच्चंपि वेउ-

व्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं कलसाणं अट्ठसहस्सं रुप्पामयाणं कलसाणं अट्ठसहस्सं मणिमयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पामयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णमणिमयाणं अट्ठसहस्सं रुप्पामणिमयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पामताणं अट्ठसहस्सं भोमेज्जाणं अट्ठसहस्सं भिंगारगाणं एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं जाव लोमहत्थगपडलगाणं अट्ठसतं सीहासणाणं छत्ताणं चामराणं अवपडगाणं वट्टकाणं तवसिप्पाणं खोरकाणं पीणकाणं तेल्लसमुग्गकाणं अट्ठसतं धूवकडुच्छुयाणं विउव्वंति ते साभाविए विउव्विए य कलसे य जाव धूवकडुच्छुए य गेण्हंति गेण्हित्ता विजयातो रायहाणीतो पडिनिक्खमंति २ त्ता ताए उक्किट्ठाए जाव उद्धुताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीयीवयमाणा २ जेणेव खीरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता खीरोदगं गिण्हित्ता जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्तातिं तातिं गिण्हंति २ त्ता जेणेव पुक्खरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता पुक्खरोदगं गेण्हंति पुक्खरोदगं गिण्हित्ता जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति २ त्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयातिं वासाइं जेणेव मागधवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गिण्हंति २ त्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति २ त्ता जेणेव गंगासिं-

धुरत्तारत्तवतीसलिला तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सरितोदगं गेण्हंति २ त्ता उभओ तडमट्टियं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासधरपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतूवरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमल्ले य सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हित्ता जेणेव पउमदहपुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति तेणेव २ दहोदगं गेण्हंति जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति ताइं गिण्हित्ता जेणेव हेमवयहेरण्णवयाइं वासाइं जेणेव रोहियरोहितंससुवण्णकूलरुप्पकूलाओ तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सलिलोदगं गेण्हंति २ त्ता उभओ तडमट्टियं गिण्हंति गेण्हित्ता जेणेव सद्दावातिमालवंतपरियागा वट्टवेतड्ढपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, सिद्धत्थए य गेण्हित्ता जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासधरपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव जेणेव महापउमद्दहमहापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव जेणेव हरिवासे रम्मावासेति जेणेव हरकान्तहरिकंतणरकंतनारिकंताओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति सलिलोदगं गेण्हित्ता जेणेव वियडावइगंधावतिवट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छंति सव्वपुप्फे य तं चेव जेणेव णिसहनीलवंतवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवा-

गच्छित्ता सव्वतूवरे य तहेव जेणेव तिंगिच्छिदहकेसरिदहा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव जेणेव पुव्वविदेहावरविदेहवासाइं जेणेव सीयासीओयाओ महाणईओ जहा णईओ जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तहेव जहेव जेणेव सव्ववक्खारपव्वता सव्वतुवरे य जेणेव सव्वंतरणदीओ सलिलोदगं गेण्हंति २ तं चेव जेणेव मंदरे पव्वते जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति २ त्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सव्वतुवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थे य सरसं च गोसीसचंदणं गिण्हंति २ त्ता जेणेव सोमणसवणे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव पंडगवणे तेणामेव समुवागच्छंति तेणेव समुवा० २ त्ता सव्वतूवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणोदामं दद्दरयमलयसुगंधिए य गंधे गेण्हंति २ त्ता एगतो मिलंति २ त्ता जंबूद्दीवस्स पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छंति पुरत्थिमिल्लेणं निग्गच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीयीवयमाणा २ जेणेव विजया रायहाणी तेणेव उवागच्छंति २ त्ता विजयं रायहाणिं अणुप्पयाहिणं करेमाणा २ जेणेव अभिसेयसभा जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता करतलपरि-

ग्गहितं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति विजयस्स देवस्स तं महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं अभिसेयं उवट्ठवेंति ॥ तते णं तं विजयदेवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ तिण्णि परिसाओ सत्त अणिया सत्त अणियाहिवई सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे विजयरायधाणिवत्थव्वगा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं साभावितेहि उत्तरवेउव्वितेहिं य वरकमलपतिट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चातेहिं आविद्धकंठेगुणेहिं पउमुप्पलपिधाणेहिं करतलसुकुमालकोमलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्साणं सोवण्णियाणं कलसाणं रूप्पमयाणं ताव अट्ठसहस्साणं भोमेयाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूतिए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वोरोहेणं सव्वणाडएहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडियणिणाएणं महया इड्ढीए महया जुत्तीए महया बलेणं महता समुदएणं महता तुरियजमगसमगपड्डप्पवादितरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिमुरवमुयंगदुंदुहिहुडुक्कणिग्घोससंनिनादितरवेणं महता महता इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स महता महता इंदाभिसेगंसि वट्टमाणंसि अप्पेगतिया देवा णच्चोदगं णातिमट्टियं पविरलफुसियं दिव्वं सुरभिं रयरेणुविणासणं गंधोदगवासं

वासंति, अप्पेगतिया देवा णिहतरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं सब्भिंतरबाहिरियं आसितसम्मज्जितोवलित्तं सित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं मंचातिमंचकलितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं णाणाविहरागरंजियऊसियजयविजयवेजयन्तीपडागातिपडागमंडितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं लाउल्लोइयमहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं गोसीससरससरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारितमल्लदामकलावं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेंति, अप्पेगइया देवा हिरण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा सुवण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा एवं रयणवासं वइरवासं पुप्फवासं मल्लवासं गंधवासं चुण्णवासं वत्थवासं आहरणवासं, अप्पेगइया देवा हिरण्णविधिं भाइंति, एवं सुवण्णविधिं रयणविधिं वतिरविधिं पुप्फविधिं मल्लविधिं चुण्णविधिं गंधविधिं वत्थविधिं भाइंति आभरणविधिं ॥ अप्पेगतिया देवा दुयं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया

विलंबितं णट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगइया देवा दुतविलंबितं णाम णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा अंचियं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा रिभितं णट्टविधिं उवदंसेंति अ० अंचितरिभितं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा भसोलं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडभसोलं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा उप्पायणिवायपवुत्तं संकुचियपसारियं रियारियं भंतसंभंतं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा चउव्विधं वातियं वादेंति, तंजहा—ततं विततं घणं झुसिरं, अप्पेगतिया देवा चउव्विधं गेयं गातंति, तंजहा—उक्खित्तयं पवत्तयं मंदायं रोइदावसाणं, अप्पेगतिया देवा चउव्विधं अभिणयं अभिणयंति, तंजहा—दिट्ठंतियं पाडंतियं सामन्तोवणिवातियं लोगमज्झावसाणियं, अप्पेगतिया देवा पीणंति अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा तंडवेंति अप्पे० लासेंति अप्पेगतिया देवा पीणंति बुक्कारेंति तंडवेंति लासेंति अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा अप्फोडंति अप्पेगतिया देवा वग्गंति अप्पेगतिया देवा तिवतिं छिंदंति अप्पेगतिया देवा अप्फोडेंति वग्गंति तिवतिं छिंदेंति अप्पेगतिया देवा हतहेसियं करेंति अप्पेगतिया देवा हत्थिगुलगुलाइयं करेंति अप्पेगतिया देवा रहघणघणातियं करेंति अप्पेगतिया देवा हयहेसियं करेंति हत्थिगुलगुलाइयं करेंति रहघणघणाइयं करेंति

अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति अप्पेगतिया देवा पच्छोलेंति [अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठिं करेंति] अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठीओ करेंति अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति पच्छोलिंति उक्किट्ठिओ करेंति अप्पेगतिया देवा सीहणादं करेंति अप्पेगतिया देवा पादद्दरयं करेंति अप्पेगतिया देवा भूमिचवेडं दलयंति अप्पेगतिया देवा सीहनादं पादद्दरयं भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति अप्पेगतिया देवा वुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा थक्कारेंति अप्पे० पुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा नामाइं सावेंति अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति वुक्कारेंति थक्कारेंति पुक्कारेंति णामाइं सावेंति अप्पेगतिया देवा उप्पतंति अप्पेगतिया देवा णिवयंति अप्पेगतिया देवा परिवयंति अप्पेगतिया देवा उप्पयंति णिवयंति परिवयंति अप्पेगतिया देवा जलेंति अप्पेगतिया देवा तवंति अप्पेगतिया देवा पतवंति अप्पेगतिया देवा जलंति तवंति पतवंति अप्पेगइया देवा गज्जेंति अप्पेगइया देवा विज्जुयायंति अप्पेगइया देवा वासंति अप्पेगइया देवा गज्जंति विज्जुयायंति वासंति अप्पेगतिया देवा देव सन्निवायं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुक्कलियं करेंति अप्पेगइया देवा देवकहकहं करेंति-अप्पेगतिया देवा दुहदुहं करेंति अप्पेगतिया देवा देवसन्निवायं देवउक्कलियं देवकहकहं देवदुहदुहं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं करेंति अप्पेगतिया देवा विज्जुयारं करेंति अप्पेगतिया देवा चेलुक्खेवं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं विज्जुतारं चेलुक्खेवं करेंति अप्पेगतिया देवा उप्प-

लहत्थगता जाव सहस्सपत्त० घंटाहत्थगता कलसहत्थगता जाव धूवकडुच्छहत्थगता हट्ठ तुट्ठा जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया विजयाए रायहाणीए सव्वतो समंता आधावेंति परिधावेंति ॥ तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ जाव सोलसआयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे विजयरायहाणीवत्थव्वा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं वरकमलपतिट्ठाणेहिं जाव अट्ठसतेणं सोवण्णियाणं कलसाणं तं चेव जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदगेहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए जाव निग्घोसनाइयरवेणं महया २ इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति २ पत्तेयं २ सिरसावत्तं अंजलिं कट्टु एवं वयासि—जय जय नंदा! जय जय भद्दा! जय जय नंद भद्दं ते अजियं जिणेहि जियं पालयाहि अजितं जिणेहि सत्तुपक्खं जितं पालेहि मित्तपक्खं जियमज्झे वसाहि तं देव! निरुवसग्गं इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूणि पलिओवमाइं बहूणि सागरोवमाणि चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं विजयस्स देवस्स विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं वाणमंतराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे विहराहित्तिकट्टु महता २ सद्देणं जयजयसद्दं पउंजंति ॥ (सू० १४१) ॥

'तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादि, तस्मिन् काले तस्मिन् समये विजयो देव उपपातसभायां देवशयनीये देवदूष्यान्तरिते अङ्गुलासंख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया समुत्पन्नः ॥ 'तए णं'मित्यादि, सुगमं नवरमिह भाषामनःपर्याप्त्योः समाप्तिकालान्तरस्य प्रायः शेषपर्याप्तिकालान्तरापेक्षया स्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणमिति 'पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ' इत्युक्तम् ॥ 'तए णं'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तभावं गतस्य सतोऽयम्—एतद्रूपः संकल्पः समुदपद्यत, कथम्भूतः? इत्याह—'आध्यात्मिकः' आत्मन्यधि अध्यात्मं तत्र भव आध्यात्मिक आत्मविषय इति भावः, सङ्कल्पश्च द्विधा भवति—कश्चिद्ध्यानात्मकोऽपरश्च चिन्तात्मकः, तत्रायं चिन्तात्मक इति प्रतिपादनार्थमाह—'चिन्तितः' चिन्ता संजाताऽस्येति चिन्तितश्चिन्तात्मक इति भावः, सोऽपि कश्चिदभिलाषात्मको भवति कश्चिदन्यथा, तत्रायमभिलाषात्मकस्तथा चाह—प्रार्थनं प्रार्थो णिजन्तादच् प्रार्थः संजातोऽस्येति प्रार्थितोऽभिलाषात्मक इति भावः, किंरूपः? इत्याह—'किं मे' इत्यादि, किं 'मे' मम पूर्वं करणीयं किं मे पश्चात्करणीयं, तथा किं मे पूर्वं कर्तुं श्रेयः किं मे पश्चात्कर्तुं श्रेयः, तथा किं मे पूर्वमपि च पश्चादपि च हिताय भावप्रधानोऽयं निर्देशो हितत्वाय—परिणामसुन्दरतायै सुखाय—शर्मणे क्षेमाय अत्रापि भावप्रधानो निर्देशः संगतत्वाय, निःश्रेयसाय—निश्चितकल्याणाय अनुगामिकतायै—परम्परया शुभानुबन्धसुखाय भविष्यतीति ॥ 'तए णं'मित्यादि, 'ततः' एतच्चिन्तासमनन्तरमेव द्रिक्ानुभावतो विजयस्य देवस्य 'सामानिकपर्षदुपपन्नका देवा' इति सामानिकाः पर्षदुपपन्नकाश्च—अभ्यन्तरादिपर्षदुपगताः 'इमम्' अनन्तरोक्तम् 'एतद्रूपम्' अनन्तरोदितस्वरूपमाध्यात्मिकं चिन्तितं प्रार्थितं मनोगतं सङ्कल्पं समभिज्ञाय 'जेणेवे'ति यत्रैव विजयो देवस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागम्य च

'करयलपरिग्गहिय'मित्यादि द्वयोर्हस्तयोरन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिस्तां करतलाभ्यां परिगृहीता—निष्पादिता करतलपरिगृहीता ताम्, आवर्त्तनमावर्त्तः शिरस्यावर्त्तो यस्याः सा शिरस्यावर्त्ता, कण्ठेकाल उरसिलोमेत्यादिवदलुक्समासः, तामत एव मस्तके कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति—जय त्वं देव! विजय त्वं देव! इत्येवं वर्द्धापयन्तीत्यर्थः, तत्र जयः—परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च, विजयस्तु—परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः, जयेन विजयेन च वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुः—'एवं खलु देवाणुप्पियाण'मित्यादि पाठसिद्धम् ॥ 'तए णं'मित्यादि, 'ततः' एतद्वचनानन्तरं विजयो देवस्तेषां सामानिकपर्षदुपपन्नकानां—सामानिकानां पर्षदुपपन्नकानां च देवानामन्तिके एनमर्थं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'निशम्य' हृदये परिणमय्य 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए' इति हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्ट इति भावः, अथवा हृष्टो नाम विस्मयमापन्नो यथा शोभनमहो! एतैरुपदिष्टमिति, 'तुष्टः' तोषं कृतवान् यथा भव्यमभूद् यदेतैरित्थमुपदिष्टमिति, तोषवशादेव चित्तमानन्दितं—स्फीतीभूतं 'टुणदु समृद्धौ' इति वचनात्, यस्य स चित्तानन्दितः, भार्यादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वय २ मीलनेन कर्म्मधारयः, 'पीइमणे' इति प्रीतिर्मनसि यस्यासौ प्रीतिमना जिनप्रतिमाऽर्चनविषयबहुमानपरायणमना इति भावः, ततः क्रमेण बहुमानोत्कर्षवशात् 'परमसोमणस्सिए' इति शोभनं मनो यस्यासौ सुमनास्तस्य भावः सौमनस्यं परमं च तत् सौमनस्यं च परमसौमनस्यं तत्संजातमस्मिन्निति परमसौमनस्यितः, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—'हरिसवसविसप्पमाणहियए' हर्षवशेन विसर्पद्—विस्तारयायि हृदयं यस्य स हर्षवशविसर्पद्धृदयः देवशयनीयादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय च देवदूष्यं परिधत्ते, परिधाय च उपपातसभातः पूर्वद्वारेण निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव प्रदेशे ह्रदस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य ह्रदमनुप्रदक्षिणीकृत्य पूर्वेण तोरणेन ह्रदमनुप्रविशति, प्रविश्य च

ह्रदे प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य च ह्रदमवगाहते, अवगाह्य जलमज्जनं करोति, कृत्वा च क्षणमात्रं जलक्रीडां करोति, ततः 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेनाऽऽचान्तो—गृहीताचमनश्चोक्षः—स्वल्पस्यापि शङ्कितमलस्यापनयनात्, अत एव परमशुचिभूतो ह्रदात् प्रत्युत्तरति, प्रत्युत्तीर्य यत्रैव प्रदेशेऽभिषेकसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्याभिषेकसभामनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव च मणिपीठिकाया उपरि सिंहासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य सामानिकाः पर्षदुपपन्नकाश्च देवाः 'आभियोगिकान्' अभियोजनमभियोगः, प्रेष्यकर्म्मणि व्यापार्यमाणत्वमिति भावः, अभियोगे नियुक्ता आभियोगिकास्तान् देवान् 'शब्दायन्ते' आकारयन्ति, शब्दायित्वा च तानेवमवादिषुः—'क्षिप्रमेव' शीघ्रमेव भो देवानां प्रियाः! विजयस्य देवस्य 'महार्थं' महान् अर्थो—मणिकनकरत्नादिक उपयुज्यमानो यस्मिन् स महार्थस्तं महार्थं, तथा महान् अर्घः—पूजा यत्र स महार्घस्तं, महं—उत्सवमर्हतीति महार्हस्तं 'विपुलं' विस्तीर्णं शक्राभिषेकवद् इन्द्राभिषेकमुपस्थापयत ॥ 'तए णं ते' इत्यादि, ततस्ते आभियोगिका देवाः सामानिकपर्षदुपपन्नकैर्देवैरेवमुक्ताः 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु' इति पूर्ववत्, विनयेन वचनं 'प्रतिशृण्वन्ति' अभ्युपगच्छन्ति, कथम्भूतेन विनयेन? इत्याह—'एवं देवा तहत्ति आणाए' इति हे देवाः! एवं—यथैव यूयमादिशत तथैवाज्ञया—युष्मदादेशेन कुर्म्म इत्येवंरूपेण प्रतिश्रुत्य वचनमुत्तरपूर्वं दिग्भागमीशानकोणमित्यर्थः तस्यात्यन्तप्रशस्तत्वात् 'अपक्रामन्ति' गच्छन्ति अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन—वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण 'समोहणंति' समवहन्यन्ते समवहता भवन्तीत्यर्थः, समवहताश्चात्मप्रदेशान् दूरतो विक्षिपन्ति, तथा चाह—'संखेज्जाणि जो-

यणाणि दंडं निसरंति' दण्ड इव दण्ड ऊर्द्धाधआयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशसमूहस्तं शरीरस्य वहिः सङ्ख्येयानि योजनानि यावत् 'निसृजन्ति' निष्काशयन्ति, निसृज्य च तथाविधान् पुद्गलानाददते, एतदेव दर्शयति—तद्यथा—'रत्नानां' कर्केतनादीनां १ वज्राणां २ वैडूर्याणां ३ लोहिताक्षाणां ४ मसारगल्लानां ५ हंसगर्भाणां ६ पुलकानां ७ सौगन्धिकानां ८ ज्योतीरसानाम् ९ अञ्जनानाम् १० अञ्जनपुलकानां ११ रजतानां १२ जातरूपाणाम् १३ अङ्कानां १४ स्फटिकानां १५ रिष्टानां १६, यथाबादरान्—असारान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मान्—सारान् पुद्गलान् पर्याददते, पर्यादाय च चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यन्ते समवहत्य यथोक्तानां रत्नादीनां योग्यान् यथाबादरान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मानाददते आदाय च 'अष्टसहस्रम्' अष्टाधिकं सहस्रं सौवर्णिकानां कलशानां विकुर्वन्ति १ अष्टसहस्रं रूप्यमयानाम् २ अष्टसहस्रं मणिमयानाम् ३ अष्टसहस्रं सुवर्णरूप्यमयानाम् ४ अष्टसहस्रं सुवर्णमणिमयानाम् ५ अष्टसहस्रं रूप्यमणिमयानाम् ६ अष्टसहस्रं सुवर्णरूप्यमणिमयानाम् ७ अष्टसहस्रं भौमेयानाम् ८ अष्टसहस्रं भृङ्गाराणाम् ९, एवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठमनोगुलिकावातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तकपटलकसिंहासनच्छत्रचामरसमुद्गकध्वजधूपकडुच्छुकानां प्रत्येकं प्रत्येकमष्टसहस्रं विकुर्वन्ति, विकुर्वित्वा 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि पूर्वं व्याख्यातार्थं यत्रैव क्षीरोदसमुद्रस्तत्रागच्छन्ति, आगत्य च क्षीरोदकं गृह्णन्ति, यानि च तत्र उत्पलानि पद्मानि कुमुदानि नलिनानि सुभगानि सौगन्धिकानि पुण्डरीकाणि महापुण्डरीकाणि शतपत्राणि सहस्रपत्राणि शतसहस्रपत्राणि च तानि गृह्णन्ति, गृहीत्वा पुष्करोदे समुद्रे समागत्य तत्रोदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, तदनन्तरं यत्रैव समयक्षेत्रं यत्रैव भरतैरावतानि क्षेत्राणि यत्रैव च तेषु भरतैरावतेषु वर्षेषु मागधवरदामप्रभासाख्यानि तीर्थानि तत्रैवोपागत्य तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततो गङ्गा-

सिन्धुरक्तारक्तवतीषु महानदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततः क्षुल्लहिमवच्छिखरिषु समागत्य सर्वतुबरान्—कषायान् सर्वाणि जातिभेदेन पुष्पाणि सर्वान् 'गन्धान्' गन्धवासादीन् सर्वाणि माल्यानि—ग्रथितादिभेदभिन्नानि सर्वौषधीः सिद्धार्थकांश्च गृह्णन्ति, गृहीत्वा तदनन्तरं पद्मह्रदपुण्डरीकह्रदेषूपागत्य तदुदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, ततो हैमवतैरण्यवतेषु वर्षेषु रोहितारोहितांशासुवर्णकूलारूप्यकूलासु महानदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकां तदनन्तरं शब्दापातिविकटापातिवृत्तवैताढ्येषु सर्वतुबरादीन् ततो महाहिमवद्रूपिवर्षधरपर्वतेषु सर्वतुबरादीन् ततो महापद्ममहापौण्डरीकह्रदेषु ह्रदोदकमुत्पलादीनि च तदनन्तरं हरिवर्षरम्यकवर्षेषु हरकान्ताहरिकान्तानरकान्तानारीकान्तासु महानदीषु सलिलोदकम् उभयतटमृत्तिकां च ततो गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायवृत्तवैताढ्येषु सर्वतुबरादीन् ततो निषधनीलवर्षधरपर्वतेषु सर्वतुबरादीन् तदनन्तरं तद्गतेषु तिगिच्छिकेसरिमहाह्रदेषु ह्रदोदकमुत्पलादीनि च ततः पूर्वविदेहापरविदेहेषु शीताशीतोदामहानदीषु नद्युदकम् उभयतटमृत्तिकां च तदनन्तरं सर्वेषु चक्रवर्त्तिविजेतव्येषु मागधवरदामप्रभासाख्यतीर्थेषु तीर्थोदकानि तीर्थमृत्तिकाश्च ततः सर्वेषु वक्षस्कारपर्वतेषु सर्वतुबरादीन् तदनन्तरं सर्वास्वन्तरनदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकाश्च ततो मन्दरपर्वते भद्रशालवने सर्वतुबरादीन् ततो नन्दनवने सर्वतुबरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं ततः सौमनसवने सर्वतुबरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदाम गृह्णन्ति, ततः पण्डकवने सर्वतुबरपुष्पगन्धमाल्यसरसगोशीर्षचन्दनदिव्यसुमनोदामानि 'दद्दरमलए सुगंधिए य गिण्हंति' इति दर्दरः—चीवरावनद्धकुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितं तत्र पक्वं वा यन्मलयोद्भवतया प्रसिद्धत्वान्मलयं—श्रीखण्डं येषु तान् 'सुगन्धान्' परमगन्धोपेतान् गन्धान् गृह्णन्ति, गृहीत्वा एकत्र मिलन्ति, मिलित्वा तया उत्कृष्टया दिव्यया देवगत्या यत्रैव विजया राजधानी यत्रैव विजयो देवस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च करतलपरिगृहीतां शिरस्यावर्त्तिकां मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा विजयं देवं जयेन

विजयेन वर्द्धापयन्ति, वर्द्धापयित्वा महार्थं महार्घं महार्हं विपुलमिन्द्राभिषेकयोग्यं क्षीरोदकादि 'उपनयन्ति' समर्पयन्ति ॥ 'तए णं'-मित्यादि, ततो णमिति वाक्यालङ्कारे तं विजयं देवं चत्वारि देवसामानिकसहस्राणि चतस्रोऽग्रमहिष्यः सपरिवारास्तिस्रः पर्षदो यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रपरिमाणाः सप्तानीकानि सप्तानीकाधिपतयः षोडश आत्मरक्षदेवसहस्राणि, अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवा देव्यश्च तैः—तद्गतदेवजनप्रसिद्धैः स्वाभाविकैर्वैकुर्विकैश्च वरकमलप्रतिष्ठानैः सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णैश्चन्दनकृतचर्चाकैः 'आविद्धकण्ठेगुणैः' आरोपितकण्ठे रक्तसूत्रतन्तुभिः पद्मोत्पलपिधानैः सुकुमारकरतलपरिगृहीतैरनेकसहस्रसङ्ख्यैः कलशैरिति गम्यते, तानेव विभागतो दर्शयति—अष्टसहस्रेण सौवर्णिकानां कलशानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण मणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण भौमेयानां, सर्वसङ्ख्ययाऽष्टभिः सहस्रैश्चतुःषष्ट्यधिकैः, तथा 'सर्वोदकैः' सर्वतीर्थनद्याद्युदकैः सर्वतुवरैः सर्वपुष्पैः सर्वगन्धैः सर्वमाल्यैः सर्वौषधिसिद्धार्थकैश्च 'सर्वर्द्ध्या' परिवारादिकया 'सर्वद्युत्या' यथाशक्ति विस्फारितेन शरीरतेजसा 'सर्वबलेन' सामस्त्येन स्वस्वहस्त्यादिसैन्येन 'सर्वसमुदयेन' स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारेण 'सर्वादरेण' समस्तयावच्छक्तितोलनेन 'सर्वविभूत्या' स्वस्वाभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसम्पदा, तथा 'सर्वविभूषया' यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणेन 'सव्वसंभमेणं'ति सर्वोत्कृष्टेन संभ्रमेण, सर्वोत्कृष्टसंभ्रमो नाम इह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनार्थपरा स्वनायककार्यसम्पादनाय यावच्छक्ति त्वरितत्वरिता प्रवृत्तिः, सर्वपुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कारेण, अत्र गन्धा—वासा माल्यानि—पुष्पदामानः अलङ्कारा—आभरणानि ततः समाहारो द्वन्द्वः, ततः सर्वदिव्यत्रुटितानि तेषां शब्दाः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दास्तैः सह सर्वशब्देन विशेषणसमासः, 'सव्वदिव्वतुडियसद्दनि-

नाएण'मिति सर्वाणि च तानि दिव्यत्रुटितानि च—दिव्यतूर्याणि च, एषामेकत्र मीलनेन यः संगतो नितरां नादो—महान् घोषः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दसंनिनादस्तेन, इह तुल्येष्वपि सर्वशब्दो दृष्टो यथाऽनेन सर्वं पीतं घृतमिति, तत आह—'महया इड्ढीए' इत्यादि, महत्या यावच्छक्तितुलितया 'ऋद्ध्या' परिवारादिकया 'महया जुईए' इत्याद्यपि भावनीयं, तथा महता—स्फूर्त्तिमता वराणां—प्रधानानां त्रुटितानां—आतोद्यानां यमकसमकं—एककालं पटुभिः पुरुषैः प्रवादितानां यो रवस्तेन, एतदेव विशेषेणाचष्टे—'संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिनिग्घोससंनिनादितरवेणं' शङ्खः प्रतीतः पणवो—भाण्डानां पटहः—प्रतीतः भेरी—ढक्का झल्लरी—चर्मावनद्धा विस्तीर्णा वलयरूपा खरमुही—काहला हुडुक्का—महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः—स एव लघुर्मृदङ्गो दुन्दुभिः—भेर्याकारा सङ्कटमुखी, तासां द्वन्द्वः, तासां निर्घोषो—महान् ध्वानो नादितं च घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी सततध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन महता महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिञ्चति ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततो णमिति पूर्ववत् तस्य विजयस्य देवस्य 'महया' इति अतिशयेन महति इन्द्राभिषेके वर्त्तमानेऽप्येकका देवा विजयां राजधानीं, सप्तम्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः—विजयायां राजधान्यां नात्युदके प्रभूतजलसंग्रहभावतो वैरस्योपपत्तेः नातिमृत्तिके अतिमृत्तिकाया अपि कर्दमरूपतायां उत्साहवृद्धिजनकत्वाभावात् 'पविरलफुसिय'मिति प्रविरलानि—घनभावे कर्दमसम्भवात् प्रकर्षेण यावता रेणवः स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेण स्पृष्टानि—स्पर्शनानि यत्र वर्षे तत् प्रविरलस्पृष्टं 'रयरेणुविणासणं'ति श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला रजस्त एव स्थूला रेणवः रजांसि च रेणवश्च रजोरेणवस्तेषां विनाशनं रजोरेणुविनाशनं 'दिव्वं' प्रधानं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति, अप्येकका विजयां राजधानीं समस्तामपि 'निहतरजसं' निहतं रजो यस्यां सा निहतरजास्तां, तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनापि संभवति तत आह—'नट्ठरजसं' नष्टं—सर्वथाऽदृश्यी-

भूतं रजो यत्र [ग्रन्थाग्रं ७०००] सा नष्टरजास्तां, तथा भ्रष्टं—वातोद्धूततया राजधान्या दूरतः पलायितं रजो यस्याः सा भ्रष्टरजास्ताम्, एतदेवैकार्थिकद्वयेन प्रकटयति—प्रशान्तरजसं उपशान्तरजसं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीम् 'आसियसंमज्जियोवलित्तं सित्तं सुइसम्मट्ठ[रय]रत्थंतरावणवीहियं करेंति' इति आसिक्तमुदकच्छटेन संमार्जितं कचवरशोधनेन उपलिप्तमिव गोमयादिनोपलिप्तं, तथा सिक्तानि जलेनात एव शुचीनि—पवित्राणि संमृष्टानि—कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथय इव—हट्टमार्गा इव आपणवीथयो रथ्याविशेषाश्च यस्यां सा तथा तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा मञ्चातिमञ्चकलितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा नानाविधा विशिष्टा रागा येषु ते नानाविरागा नानाविरागैरुच्छ्रतैः—ऊर्द्धीकृतैर्ध्वजैः पताकातिपताकाभिश्च मण्डितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा लाउल्लोइयमहितां गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितला कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीमुपचितचन्दनकलशां कुर्वन्ति अप्येकका देवा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीमासिक्तोत्सक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीं पञ्चवर्णसुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपमघमघायमानां गन्धोद्धुताभिरामां सुगन्धवरगन्धगन्धिकां गन्धवर्त्तिभूतां कुर्वन्ति, एतेषां च पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्, अप्येकका देवा हिरण्यवर्षं वर्षन्ति, अप्येककाः सुवर्णवर्षमप्येकका आभरणवर्ष (रत्नवर्षमप्येकका वज्रवर्षमप्येकका:) पुष्पवर्षमप्येकका माल्यवर्षमप्येककाश्चूर्णवर्षं वस्त्रवर्षं (आभरणवर्षं) वर्षन्ति, अप्येकका देवा हिरण्यविधिं—हिरण्यरूपं मङ्गलप्रकारं 'भाजयन्ति' विश्राणयन्ति शेषदेवेभ्यो ददतीति भावः, एवं सुवर्णरत्नाभरणपुष्पमाल्यगन्धचूर्णवस्त्रविधिभाजनमपि भावनीयम् ॥ 'अप्पेगइया देवा दुयं नट्टविहिं उवदंसेंति' इत्यादि, इह द्वात्रिंशन्नाट्यविधयः, ते च येन क्रमेण

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतः सूर्याभदेवेन भाविता राजप्रश्नीयोपाङ्गे दर्शितास्तेन क्रमेण विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्श्यन्ते, तत्र स्वस्तिकश्रीवत्सनन्द्यावर्त्तवर्द्धमानकभद्रासनकलशमत्स्यदर्पणरूपाष्टमङ्गलाकाराभिनयात्मकः प्रथमो नाट्यविधिः १, द्वितीय आवर्त्तप्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रतिश्रेणिस्वस्तिकपुष्पमाणवकवर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्राभिनयात्मकः २, तृतीय ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्रात्मकः ३, चतुर्थ एकतोच(तश्च)क्रद्विधातोच(तश्च)क्रएकतश्चक्रवालद्विधातश्चक्रवालचक्रार्द्धचक्रवालाभिनयात्मकः ४, पञ्चमश्चन्द्रावलिप्रविभक्तिसूर्यावलिप्रविभक्तिवलयावलिप्रविभक्तिहंसावलीप्रविभक्तितारावलिप्रविभक्तिमुक्तावलिप्रविभक्तिरत्नावलिप्रविभक्तिपुष्पावलिप्रविभक्तिनामा ५, षष्ठश्चन्द्रोद्गमप्रविभक्तिसूर्योद्गमप्रविभक्त्यभिनयात्मक उद्गमनोद्गमनप्रविभक्तिनामा ६, सप्तमश्चन्द्रागमनसूर्यागमनप्रविभक्त्यभिनयात्मक आगमनागमनप्रविभक्तिनामा ७, अष्टमश्चन्द्रावरणप्रविभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्त्यभिनयात्मक आवरणावरणप्रविभक्तिनामा ८, नवमश्चन्द्रास्तमयनप्रविभक्तिसूर्यास्तमयनप्रविभक्त्यभिनयात्मकोऽस्तमयनास्तमयनप्रविभक्तिनामा ९, दशमश्चन्द्रमण्डलप्रविभक्तिसूर्यमण्डलप्रविभक्तिनागमण्डलप्रविभक्तियक्षमण्डलप्रविभक्तिभूतमण्डलप्रविभक्त्यभिनयात्मको मण्डलप्रविभक्तिनामा १०, एकादश ऋषभमण्डलप्रविभक्तिसिंहमण्डलप्रविभक्तिहयविलम्बितगजविलम्बितहयविलसितगजविलसितमत्तहयविलसितमत्तगजविलसितमत्तहयविलम्बितमत्तगजविलम्बिताभिनयो द्रुतविलम्बितनामा ११, द्वादशः सागरप्रविभक्तिनागप्रविभक्त्यभिनयात्मकः सागरनागप्रविभक्तिनामा १२, त्रयोदशो नन्दाप्रविभक्तिचम्पाप्रविभक्त्यभिनयात्मको नन्दाचम्पाप्रविभक्त्यात्मकः १३, चतुर्दशो मत्स्याण्डकप्रविभक्तिमकराण्डकप्रविभक्तिजारप्रविभक्तिमारप्रविभक्त्यभिनयात्मको मत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारप्रविभक्तिनामा १४, पञ्चदशः क इति ककारप्रविभक्तिः ख इति खकारप्रविभ-

क्गिं इति गकारप्रविभक्तिर्घं इति घकारप्रविभक्तिर्ङं इति ङकारप्रविभक्तिरित्येवं क्रमभाविककारादिप्रविभक्त्यभिनयात्मकः ककारखकारगकारघकारङकारप्रविभक्तिनामा १५, एवं षोडशश्चकारछकारजकारझकारञकारप्रविभक्तिनामा १६, सप्तदशः टकारठकारडकारढकारणकारप्रविभक्तिनामा १७, अष्टादशस्तकारथकारदकारधकारनकारप्रविभक्तिनामा १८, एकोनविंशतितमः पकारफकारबकारभकारमकारप्रविभक्तिनामा १९, विंशतितमोऽशोकपल्लवप्रविभक्त्याम्रपल्लवप्रविभक्तिजम्बूपल्लवप्रविभक्तिकोशाम्बपल्लवप्रविभक्त्यभिनयात्मकः पल्लव २ प्रविभक्तिनामा २०, एकविंशतितमः पद्मलताप्रविभक्त्यशोकलताप्रविभक्तिचम्पकलताप्रविभक्तिचूतलताप्रविभक्तिवनलताप्रविभक्तिवासन्तीलताप्रविभक्त्यतिमुक्तलताप्रविभक्तिश्यामलताप्रविभक्त्यभिनयात्मको लताप्रविभक्तिनामा २१, द्वाविंशतितमो द्रुतनामा २२, त्रयोविंशतितमो विलम्बितनामा २३, चतुर्विंशतितमो द्रुतविलम्बितनामा २४, पञ्चविंशतितमः अञ्चितनामा २५, षड्विंशतितमो रिभितनामा २६, सप्तविंशतितमोऽञ्चितरिभितनामा २७, अष्टाविंशतितम आरभटनामा २८, एकोनत्रिंशत्तमो भसोलनामा २९, त्रिंशत्तम आरभटभसोलनामा ३०, एकत्रिंश उत्पातनिपातप्रसक्तसंकुचितप्रसारितरेचकरचितभ्रान्तसंभ्रान्तनामा ३१ द्वात्रिंशत्तमस्तु चरमचरमनामानिबद्धनामा, स च सूर्याभदेवेन भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतो भगवतश्चरमपूर्वमनुष्यभवचरमदेवलोकभवचरमच्यवनचरमगर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्प्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरमबालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्चरणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमपरिनिर्वाणाभिनयात्मको भावितः ३२। तत्रैतेषां द्वात्रिंशतो नाट्यविधीनां मध्ये कांश्चन नाट्यविधीनुपन्यस्यति—अप्येकका देवाः द्रुतं—द्रुतनामकं द्वाविंशतितमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, एवमप्येकका विलम्बितं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, अप्येकका द्रुतविलम्बितं नाट्यविधिं, अप्येकका अञ्चितं नाट्यविधिं, अप्येकका रिभितं नाट्यविधिं, अप्येकका अ-

ञ्चितरिभितं नाट्यविधिं, अप्येकका आरभटं नाट्यविधिं, अप्येकका भसोलं नाट्यविधिं, अप्येकका आरभटभसोलं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, अप्येकका देवा उत्पातनिपातम् उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातस्तं; एवं निपातोत्पातं सङ्कुचितप्रसारितं 'रियारियं'मिति गमनागमनं भ्रान्तसम्भ्रान्तं नाम, नाट्यविधिं—सामान्यतो नर्त्तनविधिं द्वात्रिंशद्विध्युत्तीर्णमुपदर्शयन्ति । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं वाद्यं वादयन्ति, तद्यथा—'ततं' मृदङ्गपटहादि 'विततं' वीणादिकं 'घनं' कंसिकादि 'शुषिरं' काहलादि, अप्येकका देवाश्चतुर्विधं गेयं गायन्ति, तद्यथा—'उत्क्षिप्तं' प्रथमतः समारभ्यमाणं 'प्रवृत्तम्' उत्क्षेपावस्थातो विक्रान्तं मनाग्भरेण प्रवर्त्तमानं मन्दायमिति—मध्यभागे मूर्छनादिगुणोपेततया मन्दं मन्दं घोलनात्मकं 'रोचितावसान'मिति रोचितं—यथोचितलक्षणोपेततया भावितं सत्यापितमितियावद् अवसानं यस्य तद् रोचितावसानं । अप्येककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति, तद्यथा—दार्ष्टान्तिकं प्रतिश्रुतिकं सामान्यतोविनिपातिकं लोकमध्यावसानिकमिति, एतेऽभिनयविधयो नाट्यकुशलेभ्यो वेदितव्याः, अप्येकका देवाः 'पीनयन्ति' पीनमात्मानं कुर्वन्ति स्थूला भवन्तीति भावः, अप्येकका देवाः 'ताण्डवयन्ति' ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः 'लास्ययन्ति' लास्यरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः 'छुकारेंति' छूत्कारं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा एतानि पीनत्वादीनि चत्वार्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा उच्छलन्ति अप्येकका देवाः प्रोच्छलन्ति अप्येकका देवास्त्रिपदिकां छिन्दन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा हयहेपितानि कुर्वन्ति अप्येकका देवा हस्तिगडगडायितं कुर्वन्ति अप्येकका रथघणघणायितं कुर्वन्ति अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा आस्फोटयन्ति; भूम्यादिकमिति गम्यते, अप्येकका देवा वल्गन्ति; अप्येकका देवाः सिंहनादं नदन्ति अप्येकका देवाः पाददर्दरकं कुर्वन्ति अप्येकका देवा भूमिचपेटां ददति—भूमिं चपेटयाऽऽस्फाल-

यन्तीति भावः, अप्येकका देवा महता महता शब्देन 'रवन्ते' शब्दं कुर्वन्ति अप्येकका देवाश्चत्वार्यपि सिंहनादादीनि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा 'हक्कारेंति' हक्कारं कुर्वन्ति अप्येकका देवाः 'वुक्कारेंति' मुखेन वुक्कारशब्दं कुर्वन्ति अप्येकका देवाः 'थक्कारेंति' थक्क इत्येवं महता शब्देन कुर्वन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा अवपतन्ति अप्येकका देवा उत्पतन्ति अप्येकका देवाः परिपतन्ति—तिर्यग्निपतन्तीत्यर्थः अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येककाः 'ज्वलन्ति' ज्वालामालाकुला भवन्ति अप्येकका देवाः 'तपन्ति' तप्ता भवन्ति अप्येककाः प्रतपन्ति अप्येकका देवास्त्रीण्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा गर्जयन्ति अप्येककाः 'विज्जुयारंति' विद्युतं कुर्वन्ति अप्येकका देवा वर्षं वर्षन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवोत्कलिकां कुर्वन्ति—देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवकहकहं कुर्वन्ति—प्रभूतानां देवानां प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलः कोलाहलो देवकहकहस्तं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवदुहुदुहुकं कुर्वन्ति—दुहुदुहुकमित्यनुकरणवचनमेतत्, अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवाश्चेलोत्क्षेपं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा वन्दनकलशहस्तगताः—वन्दनकलशा हस्ते गता येषां ते वन्दनकलशहस्तगताः, अप्येकका देवाः भृङ्गारकलशहस्तगताः, एवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठकवातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिंहासनचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः प्रत्येकमभिलाप्याः, 'हट्ठतुट्ठे'त्यादि यावत्करणात् 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीतिमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया' इति परिग्रहः, सर्वतः समन्ताद् आधावन्ति प्रधावन्ति ॥ 'तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ' इत्याद्यभिषेकनिगमनसूत्रमाशीर्वादसूत्रं च पाठसिद्धम् ॥

तए णं से विजए देवे महया २ इंदाभिसेएणं अभिसित्ते समाणे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ सीहासणाओ अब्भुट्ठेत्ता अभिसेयसभातो पुरत्थिमेणं दारेणं पडिनिक्खमति २ त्ता जेणामेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति २ त्ता आलंकारियसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसति पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे, तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति २ एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स आलंकारियं भंडं उवणेह, तेणेव ते आलंकारियं भंडं जाव उवट्ठवेंति ॥ तए णं से विजए देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए दिव्वाए सुरभीए गंधकासाईए गाताइं लूहेति गाताइं लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपति सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपेत्ता ततोऽणंतरं च णं नासाणीसासवायवज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हतलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखइयंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अहतं दिव्वं देवदूसजुयलं णियंसेइ णियंसेत्ता हारं पिणिद्धेइ हारं पिणिद्धेत्ता एवं एकावलिं पिणिंधति एकावलिं पिणिंधेत्ता एवं एतेणं अभिलावेणं मुत्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं कडगाइं तुडियाइं अंगयाइं केयूराइं दसमुद्दिताणंतकं कडिसुत्तकं तेअत्थिसुत्तगं मुरविं कंठमुरविं पालंबंसि

कुंडलाइं चूडामणिं चित्तरयणुक्कडं मउडं पिणिंधेइ पिणिंधित्ता गंठिम[1]वेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्वि-हेणं मल्लेणं कप्परुक्खयंपिव अप्पाणं अलंकियविभूसितं करेति, कप्परुक्खयंपिव अप्पाणं अलं-कियविभूसियं करेत्ता दद्द[2]रमलयसुगंधगंधितेहिं गंधेहिं गाताइं सुक्किडति २ त्ता दिव्वं च सुमणदामं पिणिद्धति ॥ तए णं से विजए देवे के[3]सालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकिते विभूसिए समाणे [4]पडिपुण्णालंकारे सीहा-सणाओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता आलंकारियसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमति २ त्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छति २ त्ता ववसायसभं अणुप्पदाहिणं करेमाणे २ पुरत्थि-मिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तते णं तस्स विजयस्स देवस्स आहिओगिया देवा पोत्थयरयणं उवणेंति ॥ तए णं से विजए देवे पोत्थयरयणं गेण्हति २ त्ता पोत्थयरयणं मुयति पोत्थयरणं मुएत्ता पोत्थयरयणं विहाडेति पोत्थयरयणं विहाडेत्ता पोत्थयरयणं वाएति पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं

१ 'गंठिमे'त्यादितो यावत् 'करेत्ता' इत्ययं पाठोऽप्रलिखितसूत्रस्यादावेव दृश्यते व्याख्यानुसारेण. २ अस्य व्याख्या न दृश्यते. ३ 'गंठिमे'त्यादि यावत् 'करेत्ता' इत्ययं पाठ व्याख्या न दृश्यते, 'केसालंकारेणं' इत्यादि यावत् 'विभूसिए समाणे' इत्येतस्य व्याख्याऽपि न दृश्यते । गंठिमे'त्यादि यावत् 'करेत्ता' इत्येतस्य 'पडिपुण्णालंकारे' इत्येतेन सह संबंधो दृश्यते व्याख्यानुसारेण. ४ अयं पुस्तकद्वयेऽप्यत्रैव दृश्यतेऽतोऽहं व्याख्यानुसारेण मूलपाठे कर्त्तुं न शक्तोऽभूवम् ..

वक्सायं पगेण्हति धम्मियं ववसायं पगेण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिणिक्खिवेइ २ त्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेति २ त्ता ववसायसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता णंदं पुक्खरिणिं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवगएणं पच्चोरुहति २ त्ता हत्थं पादं पक्खालेति २ त्ता एगं महं सेतं रयतामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकितिसमाणं भिंगारं पगेण्हति भिंगारं पगेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हति २ त्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चुत्तरेइ २ त्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ जाव अण्णे य बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य अप्पेगइया उप्पलहत्थगया जाव हत्थगया विजयं देवं पिट्ठतो पिट्ठतो अणुगच्छंति ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स बहवे आभिओगिया देवा देवीओ य कलसहत्थगता जाव धूवकडुच्छुयहत्थगता विजयं देवं पिट्ठतो २ अणुगच्छंति । तते णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अण्णेहि य बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए जाव णिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणु-

पविसित्ता जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छति २ त्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेति २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेति २ त्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइए गाताइं लूहेति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताणि अणुलिंपइ अणुलिंपेत्ता जिणपडिमाणं अहयाइं सेताइं दिव्वाइं देवदूसजुयलाइं णियंसेइ नियंसेत्ता अग्गेहिं वरेहि य गंधेहि य मल्लेहि य अच्चेति २ त्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभरणारुहणं करेति करेत्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारितमल्लदाम० करेति २ त्ता अच्छेहिं सण्हेहिं [सेएहिं] रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठट्ठमंगलए आलिहति सोत्थियसिरिवच्छ जाव दप्पण अट्ठट्ठमंगलगे आलिहति आलिहित्ता कयग्गाहग्गहितकरतलपब्भट्ठविप्पमुक्केण दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेति २ त्ता चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं धूमवट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियामयं कडुच्छुयं पग्गहित्तु पयत्तेण धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं संथुणइ २ त्ता सत्तट्ठ पयाइं ओसरति सत्तट्ठपयाइं ओसरित्ता वामं जाणुं अंचेइ २ त्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवाडेइ तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणि-

यलंसि णमेइ नमित्ता ईसिं पच्चुण्णमति २ त्ता कडयतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरति २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं जाव सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं तिकट्टु वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलं आलिहति २ त्ता चच्चए दलयति चच्चए दलयित्ता कयग्गाहग्गहियकरतलपब्भट्ठविमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति २ त्ता धूवं दलयति २ जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थयं गेण्हइ २ दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जति २ बहुमज्झदेसभाए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं अणुलिंपति २ चच्चए दलयति २ पुप्फारुहणं जाव आहरणारुहणं करेति २ आसत्तोसत्तविपुल जाव मल्लदामकलावं करेति २ कयग्गाहग्गहित जाव पुंजोवयारकलितं करेति २ धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति २ त्ता बहुमज्झदेसभाए लोमहत्थेणं पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलगं आलिहति २ चच्चए दलयति २ कयग्गाह जाव धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवगस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव

उवा० लोमहत्थगं गेण्हति २ दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगेण पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं जाव चच्चए दलयति २ आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवगस्स उत्तरिल्ला णं खंभपंती तेणेव उवागच्छइ २ लोमहत्थगं परा० सालभंजियाओ दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति जेणेव मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव दारस्स अच्चणिया जेणेव दाहिणिल्ले दारे तं चेव जेणेव पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ लोमहत्थगं गिण्हति लोमहत्थगं गिण्हित्ता अक्खाडगं च सीहासणं च लोमहत्थगेण पमज्जति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भु० पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयति जेणेव पेच्छाघरमंडवपच्चत्थिमिल्ले दारे दारच्चणिया उत्तरिल्ला खंभपंती तहेव पुरत्थिमिल्ले दारे तहेव जेणेव दाहिणिल्ले दारे तहेव जेणेव चेतियथूभे तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति २ त्ता चेतियथूभं लोमहत्थएणं पमज्जति २ दिव्वाए दग० सरसेण० पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त जाव धूवं दलयति २ जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छति जिणपडिमाए आलोए पणामं करेइ २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति २ त्ता तं

चेव सव्वं जं जिणपडिमाणं जाव सिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्ताणं वंदति णमंसति, एवं उत्तरिल्लाएवि, एवं पुरत्थिमिल्लाएवि, एवं दाहिणिल्लाएवि, जेणेव चेइयरुक्खा दारविही य मणिपेढिया जेणेव महिंदज्झए दारविही, जेणेव दाहिणिल्ला नंदापुक्खरणी तेणेव उवा० लोमहत्थगं गेण्हति चेतियाओ य तिसोपाणपडिरूवए य तोरणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएण पमज्जति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए सिंचति सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपति २ पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयति २ सिद्धायतणं अणुपयाहिणं करेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता तहेव महिंदज्झया चेतियरुक्खो चेतियथूभे पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जिणपडिमा उत्तरिल्ला पुरत्थिमिल्ला दक्खिणिल्ला पेच्छाघरमंडवस्सवि तहेव जहा दक्खिणिल्लस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे जाव दक्खिणिल्ला णं खंभपंती मुहमंडवस्सवि तिण्हं दाराणं अच्चणिया भणिऊणं दक्खिणिल्ला णं खंभपंती उत्तरे दारे पुरच्छिमे दारे सेसं तेणेव कमेण जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥ तते णं तस्स विजयस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ एयप्पभितिं जाव सव्विड्ढीए जाव णाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता तं णं सभं सुधम्मं अणुपयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं अणुपविसति २ आलोए जिणसकहाणं पणामं करेति २ जेणेव मणिपेढिया

जेणेव माणवचेतियक्खंभे जेणेव वइरामया गोलवट्टसमुग्गका तेणेव उवागच्छति २ लोमहत्थयं गेण्हति २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थएण पमज्जइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेति २ त्ता जिणसकहाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं तिसत्तखुत्तो जिणसकहाओ पक्खालेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ २ त्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहि य अच्चिणति २ त्ता धूवं दलयति २ त्ता वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिणिक्खिवति २ त्ता माणवकं चेतियखंभं लोमहत्थएणं पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयति २ पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति २ जेणेव सभाए सुधम्माए बहुमज्झदेसभाए तं चेव जेणेव सीहासणे तेणेव जहा दारच्चणिता जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव जेणेव खुड्डागे महिंदज्झए तं चेव जेणेव पहरणकोसे चोप्पाले तेणेव उवागच्छति २ पत्तेयं २ पहरणाइं लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं तहेव सव्वं सेसंपि दक्खिणदारं आदिकाउं तहेव णेयव्वं जाव पुरच्छिमिल्ला णंदापुक्खरिणी सव्वाणं सभाणं जहा सुधम्माए सभाए तहा अच्चणिया उववायसभाए णवरि देवसयणिज्जस्स अच्चणिया सेसासु सीहासणाण अच्चणिया हरयस्स जहा णंदाए पुक्खरिणीए अच्चणिया, ववसायसभाए पोत्थयरयणं लोम० दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं

अणुलिंपति अग्गेहिं वरेहिं गंधेहि य मल्लेहि य अच्चिणति २ त्ता [मल्लेहि] सीहासणे लोमहत्थएणं पमज्जति जाव धूवं दलयति सेसं तं चेव णंदाए जहा हरयस्स तहा जेणेव वलिपीढं तेणेव उवागच्छति २ त्ता अभिओगे देवे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य तिएसु य चउक्केसु य चच्चरेसु य चतुमुहेसु य महापहपहेसु य पासाएसु य पागारेसु य अट्टालएसु य चरियासु य दारेसु य गोपुरेसु य तोरणेसु य वावीसु य पुक्खरिणीसु य जाव विलपंतिगासु य आरामेसु य उज्जाणेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य वणराईसु य अच्चणियं करेह करेत्ता ममेयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगिया देवा विजएणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा जाव हट्ठतुट्ठा विणएणं पडिसुणेंति २ त्ता विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य जाव अच्चणियं करेत्ता जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छन्ति २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ॥ तए णं से विजए देवे तेसि णं आभिओगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिय जाव हयहियए जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं जाव हत्थपायं पक्खालेति २ त्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए णंदापुक्खरिणीओ पच्चुत्तरति २ त्ता जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाह-

स्सीहिं जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सव्विड्ढीए जाव निग्घोसनाइयरवेणं जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छति २ त्ता सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव मणिपेढिया तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे ॥ (सू० १४२)

'तए ण'मित्यादि, ततः स विजयो देवो वानमन्तरैः 'महया २' इति अतिशयेन महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिक्तः सन् सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायाभिषेकसभातः पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य यत्रैवालङ्कारसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालङ्कारिकसभामनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य च यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव च सिंहासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्या देवा सुबहु 'आलङ्कारिकम्' अलङ्कारयोग्यं भाण्डमुपनयन्ति ॥

'तए ण'मित्यादि, ततः स विजयो देवस्तत्प्रथमतया तस्यामलङ्कारसभायां प्रथमतया पक्ष्मला च सा सुकुमारा च पक्ष्मलसुकुमारा तया 'सुरभिगन्धकाषायिक्या' सुरभिगन्धकषायद्रव्यपरिकर्म्मितया लघुशाटिकयेति गम्यते गात्राणि रूक्षयति रूक्षयित्वा सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्यनुलिम्पति अनुलिप्य देवदूष्ययुगलं निधत्त इति योगः, कथम्भूतः? इत्याह—'नासानीसासवायवज्झं' नासिकानिःश्वासवातवाह्यं, एतेन श्लक्ष्णतामाह, 'चक्षुर्हरं' चक्षुर्हरति—आत्मवशं नयति विशिष्टरूपातिशयकलितत्वाच्चक्षुर्हरं 'वर्णस्पर्शयुक्तम्' अतिशायिना वर्णेनातिशायिना स्पर्शेन युक्तं 'हयलालापेलवाइरेग'मिति हयलाला—अश्वलाला तस्या अपि पेलवमतिरेकेण हयलालापेलवातिरेकं 'नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुल'मिति समासः, अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः,

धवलं—श्वेतं कनकखचितानि—विच्छुरितानि अन्तकर्म्माणि—अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् कनकखचितान्तकर्म्म आकाशस्फटिकं नाम—अतिस्वच्छस्फटिकविशेषस्तत्समप्रभं दिव्यं 'देवदूष्ययुगलं' देववस्त्रयुग्मं 'निवस्ते' परिधत्ते, परिधाय हारादीन्याभरणानि पिनह्यति, तत्र हारः—अष्टादशसरिकः अर्द्धहारो—नवसरिकः एकावली—विचित्रमणिका मुक्तावली—मुक्ताफलमयी कनकावली—कनकमणिमयी प्रालम्बः—तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आसनः प्रमाणेन स्वप्रमाण आभरणविशेषः कटकानि—कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि—बाहुरक्षकाः अङ्गदानि—बाह्वाभरणविशेषा 'दशमुद्रिकाऽनन्तकं' हस्ताङ्गुलिसम्बन्धि मुद्रिकादशकं 'कुण्डले' कर्णाभरणे चूडामणिमिति—चूडामणिर्नाम सकलपार्थिवरत्नसर्वसारो देवेन्द्रमनुष्येन्द्रमूर्द्धकृतनिवासो निःशेषापमङ्गलाशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारी प्रवरलक्षणोपेतः परममङ्गलभूत आभरणविशेषः 'चित्तरयणसंकडं मउड'मिति चित्राणि—नानाप्रकाराणि यानि रत्नानि तैः सङ्कटः चित्ररत्नसङ्कटः प्रभूतरत्ननिचयोपेत इति भावः । 'तं दिव्वं सुमणदामं'ति 'दिव्यां' प्रधानां पुष्पमालाम् ॥ 'तए णं से विजए'इत्यादि, ग्रन्थिमं—ग्रथनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं 'भावादिमः प्रत्ययः' यत् सूत्रादिना ग्रथ्यते तद् ग्रन्थिममिति भावः, भरिमं—यद् ग्रन्थितं सद् वेष्टते यथा पुष्पलम्बूसको गण्डूक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकादिमयपञ्जरी पूर्यते, सङ्घातिमं यत्परस्परतो नालसङ्घातेन सङ्घात्यते, एवंविधेन चतुर्विधेन माल्येन कल्पवृक्षमिवात्मानमलङ्कृतविभूषितं करोति कृत्वा परिपूर्णालङ्कारः सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायालङ्कारसभातः पूर्वेण द्वारेण निर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः । 'तए णं'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्याः पुस्तकरत्नमुपनयन्ति ॥ 'तए णं'मित्यादि, ततः स विजयो देवः पुस्तकरत्नं गृह्णाति गृहीत्वा पुस्तकरत्नमुत्सङ्गादाविति गम्यते मुञ्चति

मुक्त्वा विघाटयति विघाट्यानुप्रवाचयति अनु—परिपाट्या प्रकर्षेण—विशिष्टार्थावगमरूपेण वाचयति वाचयित्वा 'धार्म्मिकं' धर्मानुगतं व्यवसायं व्यवस्यति, कर्त्तुमभिलषतीति भावः, व्यवसायसभायाः शुभाध्यवसायनिबन्धनत्वात्, क्षेत्रादेरपि कर्म्मक्षयोपशमादिहेतुत्वात्, उक्तश्च—"उदयक्खयखओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥ १ ॥" इति, धार्म्मिकं च व्यवसायं व्यवसाय पुस्तकरत्नं प्रतिनिक्षिपति प्रतिनिक्षिप्य सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय व्यवसायसभातः पूर्वद्वारेण विनिर्गच्छति विनिर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभाया एव पूर्वा नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य नन्दां पुष्करिणीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति प्रविश्य पूर्वेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति प्रक्षाल्यैकं महान्तं श्वेतं रजतमयं विमलसलिलपूर्णं मत्तकरिमहामुखाकृतिसमानं भृङ्गारं गृह्णाति गृहीत्वा यानि तत्रोत्पलानि पद्मानि कुमुदानि नलिनानि यावत् शतसहस्रपत्राणि तानि गृह्णाति गृहीत्वा नन्दातः पुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति प्रत्युत्तीर्य यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैव प्रधावितवान् गमनाय ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि चतस्रः सपरिवारा अग्रमहिष्यः तिस्रः पर्षदः सप्तानीकानि सप्तानीकाधिपतयः षोडशात्मरक्षदेवसहस्राणि अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवाश्च देव्यश्च अप्येकका उत्पलहस्तगता अप्येककाः पद्महस्तगता अप्येककाः कुमुदहस्तगताः एवं नलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रशतसहस्रपत्रहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकं वाच्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतः परिपाट्येति भावः अनुगच्छन्ति ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य बहव आभियोग्या देवा देव्यश्च अप्येकका वन्दनकलशहस्तगताः अप्येकका भृङ्गारहस्तगताः अप्येकका आदर्शहस्तगताः एवं स्थालपात्रीसुप्रतिष्ठवातकरकचित्ररत्नकरण्डक-

पुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिंहासनच्छत्रचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकमालाप्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति । ततः स विजयो देवश्चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च वहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या 'जाव निग्घोसनादितरवेण'मिति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः—'सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुडियसद्दनिनाएणं महया इड्डीए महया जुईए महया वलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगपडुप्पवाइयरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कदुंदुभिनिग्घोसनादितरवेणं' अस्य व्याख्या प्राग्वत् । यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्यालोक्य जिनप्रतिमानां प्रणामं करोति, कृत्वा यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव देवच्छन्दको यत्रैव जिनप्रतिमास्तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति परामृश्य च जिनप्रतिमाः प्रमार्जयति प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया स्नपयति स्नपयित्वा सरसेनार्द्रेण गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्यनुलिम्पति, अनुलिप्य 'अहतानि' अपरिमलितानि दिव्यानि देवदूष्ययुगलानि 'नियंसइ'त्ति परिधापयति परिधाप्य 'अग्रैः' अपरिभुक्तैः 'वरैः' प्रधानैर्गन्धैर्माल्यैश्चार्चयति । एतदेव सविस्तरमुपदर्शयति—पुष्पारोपणं माल्यारोपणं वर्णकारोपणं चूर्णारोपणं गन्धारोपणम् आभरणारोपणं (च) करोति, कृत्वा तासां जिनप्रतिमानां पुरतः 'अच्छैः' स्वच्छैः 'श्लक्ष्णैः' मसृणै रजतमयैः, अच्छो रसो येषां तेऽच्छरसाः, प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिविम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इति भावः, ते च ते तन्दुलाश्चाच्छरसतन्दुलाः, पूर्वपदस्य दीर्घान्तता प्राकृतत्वात्, यथा 'वइरामया नेमा' इत्यादौ, तैरष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गल-

कान्यालिखति, आलिख्य **'कयग्गाहगहिय'**मित्यादि मैथुनप्रथमसंरम्भे मुखचुम्बनाद्यर्थं युवत्याः पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणं कचग्राहस्तेन कचग्राहेण गृहीतं करतलाद्विमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविमुक्तं, प्राकृतत्वादेवं पदव्यत्ययः, तेन **'दशार्द्धवर्णेन'** पञ्चवर्णेन **'कुसुमेन'** कुसुमसमूहेन **'पुष्फपुञ्जोपचारकलितं'** पुष्पपुञ्ज एवोपचारः—पूजा पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं—युक्तं करोति, कृत्वा च **'चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं'** चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यमयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपेन गन्धोत्तमेनानुविद्धा कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपगन्धोत्तमानुविद्धा, प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः, तां धूपवर्त्ति विनिर्मुञ्चन्तं वैडूर्यमयं धूपकडुच्छुकं प्रगृह्य प्रयतो धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, सप्ताष्टानि पदानि पश्चादपसृत्य दशाङ्गुलिमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रयतः **'अट्ठसयविसुद्धगंठजुत्तेहिं'** इति विशुद्धो—निर्मलो लक्षणदोषरहित इति भावः यो ग्रन्थः—शब्दसंदर्भस्तेन युक्तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि अष्टशतं च तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि च तैः **'अर्थयुक्तैः'** अर्थसारैः अपुनरुक्तैः महावृत्तैः, तथाविधदेवलब्धेः प्रभाव एषः, संस्तौति संस्तुत्य वामं जानुं **'अञ्चति'** उत्पाटयति दक्षिणं जानुं धरणितले **'निवाडेइ'** इति निपातयति लगयतीत्यर्थः **'त्रिकृत्वः'** त्रीन् वारान् मूर्द्धानं धरणितले **'नमेइ'**त्ति नमयति नमयित्वा चेषत्प्रत्युन्नमयति, ईषत्प्रत्युन्नम्य कटकत्रुटितस्तम्भितौ भुजौ **'संहरति'** सङ्कोचयति, संहृत्य करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वैवमवादीत्—**'नमोऽत्थु ण'**मित्यादि, नमोऽस्तु णमिति वाक्यालङ्कारे देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेभ्यः, सूत्रे षष्ठी "छट्ठिविभत्तीएँ भन्नइ चउत्थी"इति प्राकृतलक्षणात्, ते चार्हन्तो नामादिरूपा अपि सन्ति ततो भावार्हत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—**'भगवद्भ्यः'** भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स एषामस्तीति भगवन्तस्तेभ्यः, आदिः—धर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीला आदिकरास्तेभ्यः, तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति

तीर्थं तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यः, स्वयं—अपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयंसंबुद्धास्तेभ्यः, तथा पुरुषाणामुत्तमाः पुरुषोत्तमाः, भगवन्तो हि संसारमप्यावसन्तः सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमास्तेभ्यः, तथा पुरुषाः सिंहा इव कर्म्मगजान् प्रति पुरुषसिंहास्तेभ्यः, तथा पुरुषा वरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना धर्म्मकलापेनेति पुरुषवरपुण्डरीकाणि तेभ्यः, तथा पुरुषा वरगन्धहस्तिन इव परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतिक्षुद्रगजनिराकरणेनेति पुरुषवरगन्धहस्तिनस्तेभ्यः, तथा लोको—भव्यसत्त्वलोकस्तस्य सकलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमा लोकोत्तमास्तेभ्यः तथा लोकस्य—भव्यलोकस्य नाथा—योगक्षेमकृतो लोकनाथास्तेभ्यः, तत्र योगो—बीजाधानोद्भेदपोषणकरणं क्षेमं—तदुपद्रवाद्यभावापादनं, तथा लोकस्य—प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य वा हितोपदेशेन सम्यक्प्ररूपणया वा हिता लोकहितास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—देशनायोग्यस्य विशिष्टस्य प्रदीपा—देशनांशुभिर्यथाऽवस्थितवस्तुप्रकाशका लोकप्रदीपास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—उत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतनं प्रद्योतः प्रद्योतकत्वं—विशिष्टज्ञानशक्तिस्तत्करणशीला लोकप्रद्योतकराः, तथा च भवन्ति भगवत्प्रसादात् तत्क्षणमेव भगवन्तो गणभृतो विशिष्टज्ञानसम्पत्समन्विता यद्वशाद् द्वादशाङ्गमारचयन्तीति तेभ्यः, तथाऽभयं—विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता परमा धृतिरिति भावः, तद् अभयं ददतीत्यभयदास्तेभ्यः, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतलक्षणवशात्, एवमन्यत्रापि, तथा चक्षुरिव चक्षुः—विशिष्ट आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं श्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव तत्त्वदर्शनायोगात्, तद्ददातीति चक्षुर्दास्तेभ्यः, तथा मार्गो—विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तं ददतीति मार्गदास्तेभ्यः, तथा शरणं—संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वसनस्थान-

कल्पं तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं तद्ददतीति शरणदास्तेभ्यः, तथा बोधिः—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तां तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपां ददतीति बोधिदास्तेभ्यः, तथा धर्मं—चारित्ररूपं ददतीति धर्मदास्तेभ्यः कथं धर्म्मदाः? इत्याह—धर्मं दिशन्तीति धर्म्मदेशकास्तेभ्यः, तथा धर्म्मस्य नायकाः—स्वामिनस्तद्वशीकरणात्तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकास्तेभ्यः, धर्म्मस्य सारथय इव सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन धर्मसारथयस्तेभ्यः, तथा धर्म एव वरं—प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं २ चक्रमिव चतुरन्तचक्रं तेन वर्त्तितुं शीलं येषां ते धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिनस्तेभ्यः, तथाऽप्रतिहते—अप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वाद् वरे—प्रधाने ज्ञानदर्शने धरन्तीति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरास्तेभ्यः, तथा छादयति—आवरयतीति छद्म—घातिकर्म्मचतुष्टयं व्यावृत्तं—अपगतं छद्म येभ्यस्ते व्यावृत्तछद्मानस्तेभ्यः, तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्म्मशत्रून् जितवन्तो जिनाः अन्यान् जापयन्तीति जापकास्तेभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्यः, तथा भवार्णवं स्वयं तीर्णा अन्यांश्च तारयन्तीति तीर्णास्तारकास्तेभ्यः, तथा केवलवेदसा अवगततत्त्वा बुद्धा अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकास्तेभ्यः, मुक्ताः—कृतकृत्या निष्ठितार्था इति भावः, अन्यांश्च मोचयन्तीति मोचकास्तेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः, शिवं—सर्वोपद्रवरहितत्वात् 'अचलं' स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात् 'अरुजं' शरीरमनसोरभावेनाऽऽधिव्याध्यसम्भवात् अनन्तं—केवलात्मनाऽनन्तत्वात् 'अक्षयं' विनाशकारणाभावात् 'अव्याबाधं' केनापि विबाधयितुमशक्यत्वात् न पुनरावृत्तिर्यस्मात्तदपुनरावृत्ति, सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिः—लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वाद् गतिः सिद्धिगतिः २ रिति नामधेयं यस्य तत्सिद्धिगतिनामधेयं, तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं—व्यवहारतः सिद्धक्षेत्रं निश्चयतो यथाऽवस्थितं स्वं स्वरूपं, स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात्तु सिद्धिगतिनामधेयं तत्संप्राप्तेभ्यः। एवं प्रणिपातदण्डकं पठित्वा 'वंदइ नमंसइ' इति वन्दते—ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति—

पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेत्येके, अन्ये त्वभिदधति—विरतिमतामेव प्रसिद्धश्चैत्यवन्दनविधिरन्येषां तथाऽभ्युपगमे कायोत्सर्गासिद्धेरिति वन्दते सामान्येन, नमस्करोत्याशयवृद्धेरुत्थाननमस्कारेणेति, तत्त्वमत्र भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति, ततो वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव सिद्धायतनस्य वहुमध्यदेशभागस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य वहुमध्यदेशभागं दिव्ययोदकधारया 'अभ्युक्षति' अभिमुखं सिञ्चति, अभ्युक्ष्य सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं ददाति, दत्त्वा कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन 'कुसुमेन' कुसुमजातेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं गृह्णाति, गृहीत्वा तेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, ततो दक्षिणद्वारेण निर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य वहुमध्यदेशभागस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य च वहुमध्यदेशभागं लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं मण्डलमालिखति, कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन कुसुमेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति, कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पश्चिमं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तपरामर्शनं, तेन च लोमहस्तकेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकप्रमार्जनं, उदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद् द्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्राप्यर्चनिकां करोति, कृत्वा च दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्र पूजां विधाय तेन द्वारेण विनिर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यः प्रेक्षागृहमण्डपो यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य

वहुमध्यदेशभागो यत्रैव वज्रमयोऽक्षपाटको यत्रैव च मणिपीठिका यत्रैव च सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्याक्षपाटकं मणिपीठिकां सिंहासनं च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चां पुष्पपूजां धूपदानं च करोति, कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद्द्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्वद्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव तस्य दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रार्चनिकां कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यस्तम्भस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य स्तूपं मणिपीठिकां च लोमहस्तकेन प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षति सरसगोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च यत्रैव पाश्चात्या मणिपीठिका यत्रैव च पाश्चात्या जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य जिनप्रतिमाया आलोके प्रणामं करोतीत्यादि पूर्ववद् यावन्नमस्यित्वा यत्रैवोत्तरा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रापि यावन्नमस्यित्वा यत्रैव पूर्वा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति उपागत्य पूर्ववद् यावन्नमस्यित्वा यत्रैव दाक्षिणात्या जिनप्रतिमा पूर्ववत् सर्वं तदेव यावन्नमस्यित्वा यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यवृक्षस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव महेन्द्रध्वजस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां विधाय यत्रैव दाक्षिणात्या नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य तोरणानि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि शालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया सिञ्चति, सिक्त्वा सरसगोशीर्षचन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकृत्य यत्रैवोत्तरा नन्दापुष्करिणी स तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्सर्वं करोति, कृत्वा चौत्तराहे माहेन्द्रध्वजे तदनन्तरमौत्तराहे चैत्यवृक्षे तत औत्तराहे चैत्यस्तूपे, ततः पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणजिनप्रतिमासु पूर्ववत्सर्वा वक्तव्यता वक्तव्या,

तदनन्तरमौत्तराहे प्रेक्षागृहमण्डपे समागच्छति, तत्र दाक्षिणात्ये प्रेक्षागृहमण्डपे पूर्ववत्सर्वं वक्तव्यं, तत उत्तरद्वारेण विनिर्गत्यौत्तराहे मुखमण्डपे समागच्छति, तत्रापि दाक्षिणात्यमुखमण्डपवत्सर्वं कृत्वोत्तरद्वारेण विनिर्गत्य सिद्धायतनस्य पूर्वद्वारे समागच्छति, तत्रार्चनिकां पूर्ववत्कृत्वा पूर्वस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणोत्तरपूर्वद्वारेषु क्रमेणोक्तरूपां पूजां विधाय पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य पूर्वप्रेक्षामण्डपे समागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, ततः पूर्वप्रकारेणैव क्रमेण चैत्यस्तूपजिनप्रतिमाचैत्यवृक्षमाहेन्द्रध्वजनन्दापुष्करिणीनां ततः सभायां सुधर्मायां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालोके जिनसक्थां प्रणामं करोति, कृत्वा च यत्र माणवकचैत्यस्तम्भो यत्र वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकास्तत्रागत्य समुद्गकान् गृह्णाति, गृहीत्वा च विघाटयति, विघाट्य लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षति, अभ्युक्ष्य गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, ततः प्रधानैर्गन्धमाल्यैरर्चयति, अर्चयित्वा धूपं दहति, तदनन्तरं भूयोऽपि वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु प्रक्षिपति, प्रक्षिप्य तान् वज्रमयान् गोलवृत्तसमुद्गकान् स्वस्थाने प्रतिनिक्षिपति, प्रतिनिक्षिप्य तेषु पुष्पगन्धमाल्यवस्त्राभरणान्यारोपयति, ततो लोमहस्तकेन माणवकचैत्यस्तम्भं प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, कृत्वा सिंहासनप्रदेशे समागत्य सिंहासनस्य लोमहस्तकेन प्रमार्जनादिरूपां पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा यत्र मणिपीठिका यत्र च देवशयनीयं तत्रोपागत्य मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य च प्राग्वदर्चनिकां करोति, तत उक्तप्रकारेणैव क्षुल्लकेन्द्रध्वजपूजां करोति, कृत्वा च यत्र चोप्पालको नाम प्रहरणकोशस्तत्र समागत्य लोमहस्तेन परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा सभायाः सुधर्माया बहुमध्यदेशभागेऽर्चनिकां पूर्ववत्करोति, कृत्वा सभायाः सुधर्माया दक्षिणद्वारे समागत्यार्चनिकां पूर्ववत्करोति, ततो दक्षिणद्वारे विनिर्गच्छति, इत ऊर्द्ध्वं यथैव सिद्धायत-

नान्निष्क्रामतो दक्षिणद्वारादिका दक्षिणनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना पुनरपि प्रविशत उत्तरनन्दापुष्करिणीप्रभृतिका उत्तरान्ता ततो द्वितीयं वारं निष्क्रामतः पूर्वद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानार्चनिका वक्तव्या तथैव सुधर्मायाः सभाया अप्यन्यूनातिरिक्ता द्रष्टव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्या अर्चनिकां कृत्वोपपातसभां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य च मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य तदनन्तरं बहुमध्यदेशभागे प्राग्वदर्चनिकां विदधाति, ततो दक्षिणद्वारेण समागत्य तस्यार्चनिकां कुरुते, अत ऊर्द्धमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या । ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतोऽपक्रम्य ह्रदे समागत्य पूर्ववत्तोरणार्चनिकां करोति, कृत्वा पूर्वद्वारेणाभिषेकसभायां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्याभिषेकभाण्डस्य बहुमध्यदेशभागस्य च पूर्ववदर्चनिकां क्रमेण करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतः पूर्वद्वारेण व्यवसायसभां प्रविशति प्रविश्य पुस्तकरत्नं लोमहस्तकेन प्रमृज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनेन चर्चयित्वा वरगन्धमाल्यैरर्चयित्वा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, तदनन्तरं मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेणार्चनिकां करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतो बलिपीठे समागत्य तस्य बहुमध्यदेशभागे पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा चोत्तरपूर्वस्यां नन्दापुष्करिण्यां समागत्य तस्यास्तोरणेषु पूर्ववदर्चनिकां कृत्वाऽऽभियोगिकान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—'खिप्पामेवे'त्यादि सुगमं यावत् 'एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' नवरं शृङ्गाटकं—त्रिकोणं स्थानं त्रिकं—यत्र रथ्यात्रयं मिलति चतुष्कं—चतुष्पथयुक्तं चत्वरं—बहुरथ्यापातस्थानं चतुर्मुखं—यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति महापथो—राजपथः शेषः सामान्यः पन्थाः प्राकारः—प्रतीतः अट्टालकाः—प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः चरिका—अष्टह-

स्तप्रमाणो नगरप्राकारान्तरालमार्गः द्वाराणि— प्रासादादीनां गोपुराणि—प्राकारद्वाराणि तोरणानि—द्वारादिसम्बन्धीनि आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्य इति स आरामः पुष्पादिसद्वृक्षसङ्कुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यमुद्यानं सामान्यवृक्षवृन्दं नगरासन्नं काननं नगरविप्रकृष्टं वनं एकानेकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनषण्डः एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनराजी ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततः स विजयो देवो बलिपीठे बलिविसर्जनं करोति, कृत्वा च यत्रैवोत्तरनन्दापुष्करिणी तत्रोपागच्छति, उपागत्योत्तरपूर्वां नन्दां पुष्करिणीं प्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य पूर्वत्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति, प्रक्षाल्य नन्दापुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति, प्रत्युत्तीर्य चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावद् दुन्दुभिनिर्घोषनादितरवेण विजयाया राजधान्या मध्यंमध्येन यत्रैव सभा सुधर्मा तत्रोपागच्छति, उपागत्य सभां सुधर्मां पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः ॥

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पुरत्थिमेणं पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भितरियाए परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पत्तेयं २ जाव णिसी-

यंति । एवं दक्खिणेणं मज्झिमियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ जाव णिसीदंते । दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पत्तेयं २ जाव णिसीदंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पच्चत्थिमेणं सत्त अणियाहिवती पत्तेयं २ जाव णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीदंति, तंजहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ जाव उत्तरेणं ४ ॥ ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधीणि वइरामया कोडीणि धणूइं अहिगिज्झ परियाइयकंडकलावा णीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो चावपाणिणो चारुपाणिणो चम्मपाणिणो खग्गपाणिणो दंडपाणिणो पासपाणिणो णीलपीयरत्तचावचारुचम्मखग्गदंडपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगा गुत्ता गुत्तपालिता जुत्ता जुत्तपालिता पत्तेयं २ समयतो विणयतो किंकरभूताविव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं भंते! देवस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गो०! एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, विजयस्स णं भंते! देवस्स सामाणियाणं देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, एवंमहिड्ढीए एवंमहज्जुतीए एवंमहब्बले एवंमहायसे एवंमहासुक्खे एवंमहाणुभागे विजए देवे २ ॥ (सू० १४३)

ततस्तस्य विजयस्य देवस्यापरोत्तरेण—अपरोत्तरस्यां दिशि एवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि च चत्वारि २ सामानिकदेवसहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति । ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पूर्वस्यां दिशि चतस्रोऽग्रमहिष्यश्चतुर्षु भद्रासनेषु निषीदन्ति, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरिकायाः पर्षदोऽष्टौ देवसहस्राणि अष्टासु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति । ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणस्यां दिशि मध्यमिकायाः पर्षदो दश देवसहस्राणि दशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति । ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि बाह्यायाः पर्षदो द्वादश देवसहस्राणि द्वादशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति । ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि सप्तानीकाधिपतयः सप्तसु भद्रासनेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य सर्वतः समन्तात् सर्वासु दिक्षु सामस्त्येन षोडश आत्मरक्षकदेवसहस्राणि षोडशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति, तद्यथा—चत्वारि सहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु पूर्वस्यां दिशि, एवं दक्षिणस्यां दिशि, एवं प्रत्येकं पश्चिमोत्तरयोरपि ॥ ते चात्मरक्षाः सन्नद्धबद्धवर्मितकवचाः, कवचं—तनुत्राणं वर्म—लोहमयकुतूलिकादिरूपं संजातमस्मिन्निति वर्मितं सन्नद्धं शरीरे आरोपणात् बद्धं गाढतरबन्धनेन बन्धनात् वर्मितं कवचं यैस्ते सन्नद्धबद्धवर्मितकवचाः, 'उप्पीलियसरासणपट्टिया' इति उत्पीडिता—गाढीकृता शरा अस्यन्ते—क्षिप्यन्तेऽस्मिन्निति शरासनः—इषुधिस्तस्य पट्टिका यैरुत्पीडितशरासनपट्टिकाः 'पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा' इति पिनद्धं ग्रैवेयं—ग्रीवाभरणं विमलवरचिह्नपट्टश्च यैस्ते पिनद्धवरग्रैवेयविमलवरचिह्नपट्टाः 'गहियाउहपहरणा' इति आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधं—खेटकादि प्रहरणं—असिकुन्तादि, गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि च यैस्ते गृहीतायुधप्रहरणाः 'त्रिनतानि' आदिमध्यावसानेषु नमनभावात् 'त्रिसन्धीनि' आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात्, वज्रमयकोटीनि धनूंषि अभिगृह्य 'परियाइयकंडकलावा' इति पर्यात्तकाण्डकलापा विचित्रकाण्डकलापयोगात्, केचित् 'नीलपाणय' इति नीलः काण्डकलाप

इति गम्यते पाणौ येषां ते नीलपाणयः, एवं पीतपाणयः रक्तपाणयः, चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः, चारुः—प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः, चर्म—अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं पाणौ येषां ते चर्मपाणयः, एवं दण्डपाणयः खड्गपाणयः पाशपाणयः, एतदेव व्याचष्टे—यथायोगं नीलपीतरक्तचापचारुचर्मदण्डपाशधरा आत्मरक्षाः, रक्षामुपगच्छन्ति—तदेकचित्ततया तत्परायणा वर्त्तन्त इति रक्षोपगाः 'गुप्ताः' न स्वामिभेदकारिणः तथा गुप्ता—पराप्रवेश्या पालिः—सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः, तथा 'युक्ताः' सेवकगुणोपेततयोचिताः, तथा युक्ता—परस्परं बद्धा न तु बृहदन्तराला पालिर्येषां ते युक्तपालिकाः, प्रत्येकं प्रत्येकं समयतः—आचारत आचारेणेत्यर्थः विनयतश्च किङ्करभूता इव तिष्ठन्ति, न खलु ते किङ्कराः, किन्तु तेऽपि मान्याः, तेषामपि पृथगासननिपातनात्, केवलं ते तदानीं निजाचारपरिपालनतो विनीतत्वेन च तथाभूता इव तिष्ठन्ति तदुक्तं किङ्करभूता इवेति ॥ 'तए णं से विजए' इत्यादि सुप्रतीतं यावद्विजयदेववक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ तदेवमुक्ता विजयद्वारवक्तव्यता, सम्प्रति वैजयन्तद्वारवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाधाए जंबुद्दीवदीवदाहिणपेरंते लवणसमुद्ददाहिणद्धस्स उत्तरेणं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स २ वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सचेव सव्वा वत्तव्वता जाव णिच्चे। कहि णं भंते!० रायहाणी?, दाहिणे णं जाव वेजयंते देवे २ ॥ कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स २ जयंते णाम दारे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं जंबुद्दीवपच्चत्थिमपेरंते लवणसमुद्दपच्चत्थिमद्धस्स पुर-

च्छिमेणं सीओदाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स जयंते णाम दारे पण्णत्ते, तं चेव से पमाणं जयंते देवे पच्चत्थिमेणं से रायहाणी जाव महिड्ढीए ॥ कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स अपराइए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! मंदरस्स उत्तरेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए जंबुद्दीवे २ उत्तरपेरंते लवणसमुद्दस्स उत्तरद्धस्स दाहिणेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे २ अपराइए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव पमाणं, रायहाणी उत्तरेणं जाव अपराइए देवे, चउण्हवि अण्णंमि जंबुद्दीवे ॥ (सू० १४४) जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! अउणासीतिं जोयणसहस्साइं बावण्णं च जोयणाइं देसूणं च अद्धजोयणं दारस्स य २ अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥ (सू० १४५)

'कहि णं भंते' इत्यादि सर्वं पूर्ववत्, नवरमत्र वैजयन्तस्य द्वारस्य दक्षिणतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्येति वक्तव्यं, शेषं प्राग्वत् ॥ एवं जयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि वाच्या, नवरं जयन्तद्वारस्य पश्चिमायां दिशि, अपराजितद्वारस्योत्तरतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्येति वाच्यम् ॥ सम्प्रति विजयादिद्वाराणां परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'जंबुद्दीवस्स ण'मित्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त! द्वीपस्य सम्बन्धिनो द्वारस्य च द्वारस्य चैतत् कियत्प्रमाणाबाधया—अन्तरित्वा प्रतिघातेनान्तरं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकोनाशीतिर्योजनसहस्राणि द्विपञ्चाशद् योजनानि देशोनं चार्द्धयोजनं द्वारस्य च द्वारस्य चाबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—चतुर्णामपि द्वाराणां प्रत्येकमेकैकस्य कुड्यस्य द्वारशाखापरपर्यायस्य बाहल्यं गव्यूतं द्वाराणां च वि-

३ प्रतिपत्तौ वैजयन्तादीनि द्वाराणि सू० १४४ द्वारान्तरं उद्देशः २ सू० १४५

स्तारः प्रत्येकं २ चत्वारि २ योजनानि, ततश्चतुर्ष्वपि द्वारेषु सर्वसङ्ख्यया कुड्यद्वारप्रमाणमष्टादश योजनानि, जम्बूद्वीपस्य च परिधिस्तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके ३१६२२७ क्रोशत्रयं ३ अष्टाविंशं धनुःशतं १२८ त्रयोदशाङ्गुलानि एकमर्धाङ्गुल १३॥-मिति, अस्माच्च जम्बूद्वीपपरिधेः सकाशात्तानि कुड्यद्वारपरिमाणभूतान्यष्टादश योजनानि शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु परिधिसत्को योजनराशिरेवंरूपो जातः—तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते नवोत्तरे ३१६२०९, शेषं तथैव, ततो योजनराशेश्चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि योजनानामेकोनाशीतिः सहस्राणि द्विपञ्चाशदधिकानि गव्यूतं चैकं ७९०५२ क्रो० १, यानि च परिधिसत्कानि त्रीणि गव्यूतानि तानि धनुस्त्वेन क्रियन्ते लब्धानि धनुषां षट् सहस्राणि, यदपि च परिधिसत्कमष्टाविंशं धनुःशतं तदप्येतेषु धनुःषु मध्ये प्रक्षिप्यते, ततो जातो धनूराशिरेकषष्टिः शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ६१२८, एषां चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि धनुषां पञ्चदश शतानि द्वात्रिंशदधिकानि १५३२, यान्यपि च त्रयोदशाङ्गुलानि तेषामपि चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि त्रीणि अङ्गुलानि, एतदपि सर्वं देशोनमेकं गव्यूतमिति लब्धं देशोनमर्द्धयोजनं, उक्तं च—"[1]कुड्डुवारपमाणं अट्ठारस जोयणाइं परिहीए। सोहिय चउहिं विभत्तं इणमो दारंतरं होइ ॥ १ ॥ अउणासीइ सहस्सा बावण्णा अद्धजोयणं नूणं । दारस्स य दारस्स य अंतरमेयं विणिद्दिट्ठं ॥ २ ॥"

जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स पएसा लवणं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा ॥ ते णं भंते! किं जंबुद्दीवे २

---

१ कुड्यद्वारप्रमाणमष्टादश योजनानि परिधेः । शोधयित्वा चतुर्भिर्विभक्ते इदं द्वारान्तरं भवति ॥ १ ॥ एकोनाशीतिः सहस्राणि द्विपञ्चाशत् अर्धयोजनमूनं द्वारस्य द्वारस्य चान्तरमेतत् विनिर्दिष्टं ॥ २ ॥

लवणसमुद्दे?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे नो खलु ते लवणसमुद्दे ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा जंबूद्दीवं दीवं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा। ते णं भंते! किं लवणसमुद्दे जंबूद्दीवे दीवे?, गोयमा! लवणे णं ते समुद्दे नो खलु ते जंबुद्दीवे दीवे ॥ जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे जीवा उद्दाइत्ता २ लवणसमुद्दे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता २ जंबुद्दीवे २ पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति ॥ (सू० १४६)

'जंबूद्दीवस्स णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति पूर्ववत् भदन्त! द्वीपस्य 'प्रदेशाः' स्वसीमागतचरमरूपा लवणं समुद्रं 'स्पृष्टाः?' कर्तरि क्तप्रत्ययः, स्पृष्टवन्तः, काका पाठ इति प्रश्नार्थत्वावगतिः, पृच्छतश्चायमभिप्रायः—यदि स्पृष्टास्तर्हि वक्ष्यमाणं पृच्छयते नो चेत्तर्हि नेति भावः, भगवानाह—हंतेत्यादि, 'हन्त' इति प्रत्यवधारणे स्पृष्टाः ॥ एवमुक्ते भूयः पृच्छति—'ते ण'मित्यादि, ते भदन्त! स्वसीमागतचरमरूपाः प्रदेशाः किं जम्बूद्वीपः? किं वा लवणसमुद्रः?, इह यद् येन संस्पृष्टं तत्किञ्चित्तद्व्यपदेशमश्नुवानमुपलब्धं यथा सुराष्ट्रेभ्यः संक्रान्तो मगधदेशं मागध इति, किञ्चित्पुनर्न तद्व्यपदेशभाग् यथा तर्जन्या संस्पृष्टा ज्येष्ठाऽङ्गुलिर्ज्येष्ठैवेति, इहापि च जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तस्ततो व्यपदेशचिन्तायां संशय इति प्रश्नः, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीप एव णमिति निपातस्यावधारणार्थत्वात् ते चरमप्रदेशा द्वीपो, जम्बूद्वीपसीमावर्त्तित्वात्, न खलु ते जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रः, (न ते) जम्बूद्वीपसीमानमतिक्रम्य लवणसमुद्रसीमानमुपगताः किन्तु स्वसीमागता एव लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तस्तेन तटस्थतया संस्पर्शभावात् तर्जन्या

संस्पृष्टा ज्येष्ठाङ्गुलिरिव ते स्वव्यपदेशं भजन्ते न व्यपदेशान्तरं, तथा चाह—नो खलु ते जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रः । एवं 'लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा' इत्यादि लवणविषयमपि सूत्रं भावनीयम् ॥ 'जंबुद्दीवे णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे ये जीवास्ते 'उद्दाइत्ता' इति 'अवद्राय २' मृत्वा २ लवणसमुद्रे 'प्रत्यायान्ति' आगच्छन्ति ?, भगवानाह—गौतम! अस्तीति निपातोऽत्र बह्वर्थः, सन्त्येकका जीवा ये 'अवद्रायावद्राय' मृत्वा २ लवणसमुद्रे प्रत्यायान्ति, सन्त्येकका ये न प्रत्यायान्ति, जीवानां तथा तथा स्वस्वकर्म्मवशतया गतिवैचित्र्यसम्भवात् ॥ एवं लवणसूत्रमपि भावनीयं ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीप इति नाम्नो निबन्धनं जिज्ञासिषुः प्रश्नं करोति—

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति जंबूद्दीवे २?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पचत्थिमेणं गंधमायणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं उत्तरकुरा णाम कुरा पण्णत्ता, पाईणपडीणायता उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिता एक्कारस जोयणसहस्साइं अट्ठ बायाले जोयणसते दोण्णि य एकोणवीसतिभागे जोयणस्स विक्खंभेणं ॥ तीसे जीवा पाईणपडीणायता दुहओ वक्खारपव्वयं पुट्ठा, पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं वक्खारपव्वतं पुट्ठा पचत्थिमिल्लाए कोडीए पचत्थिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा, तेवण्णं जोयणसहस्साइं आयामेणं, तीसे धणुपट्ठं दाहिणेणं सट्ठिं जोयणसह-

स्साइं चत्तारि य अट्ठारसुत्तरे जोयणसते दुवालस य एकूणवीसतिभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ उत्तरकुराए णं भंते! कुराए केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते?, गोयमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहा णाम ए आलिंगपुक्खरेति वा जाव एवं एकोरुयदीववत्तव्वया जाव देवलोगपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!, णवरि इमं णाणत्तं—छधणुसहस्समूसिता दोछप्पन्ना पिट्ठकरंडसता अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति तिण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं पलिओवमस्सासंखिज्जइभागेण ऊणगाइं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं उक्कोसेणं एकूणपण्णराइंदियाइं अणुपालणा, सेसं जहा एगूरुयाणं ॥ उत्तरकुराए णं कुराए छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जंति, तंजहा—पम्हगंधा १ मियगंधा २ अम्ममा ३ सहा ४ तेयालीसे ५ सणिचारी ६ (सू० १४७)

'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केन 'अर्थेन' केन कारणेन भदन्त! एवमुच्यते जम्बूद्वीपो द्वीपः? इति, भगवानाह—

---

१ यद्यपि सूत्रकारैः जहा एगोरुयवत्तव्वयेति वाक्येनातिदिश्यते उत्तरकुरुस्वरूपमशेषं तथापि व्याख्यातमत्राशेषं तत्, न चैकोरुकद्वीपस्वरूपावसरे तल्लेशोऽपि व्याख्यातो वर्णनस्य, व्याख्यायकसूरिभिश्चान्यत्रातिदिश्यते कल्पद्रुमादिवर्णने यथोत्तरकुरुष्विति नात्र धृतं मूलसूत्रं न च परावर्त्तिता व्याख्या, परमेतदनुमीयते यदुत टीकाकृद्भिः प्राप्ता आदर्शा अत्रैव कल्पवृक्षादिवर्णनयुक्ता प्रथमोपस्थितैकोरुकवर्णनस्थाने च तद्रहिता अतिदिष्टा स्युः, चिन्त्यमेतावदेवात्र यत्र सूत्रकारशैल्याऽग्रे वर्णनीयपदार्थातिदेशस्तत्रैव सूत्रे, तत्र सामान्येन वर्णनं स्यादत्र विशेषेणेति युक्त विवेचनमत्र तत्रभवदीयादर्शानुसारेण वा, अत एवात्र प्रतिसूत्रं प्रतीकधृतिर्मलयगिरिपादानाम्

जम्बूद्वीपे णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीपे मन्दरपर्वतस्य **'उत्तरेण'** उत्तरतः नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य **'दक्षिणेन'** दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य **'पुरत्थिमेणं'**ति पूर्वस्यां दिशि माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायाम् **'अत्र'** एतस्मिन् प्रदेशे उत्तरकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः, सूत्र एकवचननिर्देशोऽकारान्तत्तानिर्देशश्च प्राकृतत्वात्, ताश्च कथम्भूताः ? इत्याह—**'पाईणे'**त्यादि, प्राचीनापाचीनायता उदग्दक्षिणविस्तीर्णा अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिता एकादश योजनसहस्राण्यष्टौ योजनशतानि **'द्विचत्वारिंशानि'** द्विचत्वारिंशदधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य **'विष्कम्भेन'** दक्षिणोत्तरतया विस्तारेण, तथाहि—महाविदेहे मेरोरुत्तरत उत्तरकुरवो दक्षिणतो दक्षिणकुरवः, ततो यो महाविदेहक्षेत्रस्य विष्कम्भस्तस्मान्मन्दरविष्कम्भे शोधिते यदवशिष्यते तस्यार्द्धं यावत्परिमाणमेतावत्प्रत्येकं दक्षिणकुरूणामुत्तरकुरूणां च विष्कम्भः, उक्तं च—"वइदेहा विक्खंभा मंदरविक्खंभसोहियद्धं जं। कुरुविक्खंभं जाणसु" इति, स च यथोक्तप्रमाण एव, तथाहि—महाविदेहे विष्कम्भस्त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि योजनानां चतस्रः कलाः ३३६८४ क० ४, एतस्मान्मेरुविष्कम्भो दश योजनसहस्राणि शोध्यन्ते १०००० स्थितानि पश्चात्त्रयोविंशतिः सहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि योजनानां चतस्रः कलाः २३६८४ क० ४, एतेषामर्द्धे लब्धान्येकादश सहस्राणि अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि योजनानां द्वे च कले ११८४२ क० २ ॥ **'तीसे'** इत्यादि, तासामुत्तरकुरूणां जीवा उत्तरतो नीलवर्षधरसमीपे प्राचीनापाचीनायता उभयतः पूर्वपश्चिमभागाभ्यां वक्षस्कारपर्वतं यथाक्रमं माल्यवन्तं गन्धमादनं च **'स्पृष्टा'** स्पृष्टवती, एतदेव भावयति—**'पुरत्थिमिल्लाए'** इत्यादि, पूर्वया **'कोट्या'** अग्रभागेन पूर्वं वक्षस्कारपर्वतं माल्यवदभिधानं **'स्पृष्टा'** स्पृष्टवती **'पश्चिमया'** पश्चिमदिगवलम्बिन्या कोट्या पश्चिमवक्षस्कारपर्वतं गन्धमादनाख्यं स्पृष्टा, सा च जीवा

आयामेन त्रिपञ्चाशद् योजनसहस्राणि, कथमिति चेदुच्यते—इह मेरोः पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि भद्रशालवनस्य यदायामेन परिमाणं यच्च मेरोर्विष्कम्भस्य तदेकत्र मीलितं गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वतमूलपृथुत्वपरिमाणरहितं यावत्प्रमाणं भवति तावदुत्तरकुरूणां जीवायाः परिमाणम्, उक्तं च—"मंदरपुव्वेणायय वावीस सहस्स भद्दसालवणं । दुगुणं मंदरसहियं दुसेलरहियं च कुरुजीवा ॥ १ ॥" तच्च यथोक्तप्रमाणमेव, तथाहि—मेरोः पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि प्रत्येकं भद्रशालवनस्य दैर्घ्यपरिमाणं द्वाविंशतिर्योजनसहस्राणि, ततो द्वाविंशतिः सहस्राणि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि चतुश्चत्वारिंशत् सहस्राणि ४४०००, मेरोश्च पृथुत्वपरिमाणं दश योजनसहस्राणि १००००, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि ५४०००, गन्धमादनस्य माल्यवतश्च वक्षस्कारपर्वतस्य प्रत्येकं मूले पृथुत्वं पञ्च योजनशतानि, ततः पञ्च शतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातं योजनसहस्रं, तत् पूर्वराशेरपनीयते, जातानि त्रिपञ्चाशद् योजनसहस्राणि ५३००० ॥ 'तीसे धणुपट्ठ'मित्यादि, तासामुत्तरकुरूणां धनुःपृष्ठं 'दक्षिणेन' दक्षिणतः, तच्च षष्टिर्योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि अष्टादशोत्तराणि द्वादश एकोनविंशतिभागा योजनस्य परिक्षेपेण, द्वयोरपि हि गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वतयोरायामपरिमाणमेकत्र मीलितमुत्तरकुरूणां धनुःपृष्ठपरिमाणं, "आयामो सेलाणं दोण्ह व मिलिओ कुरूण धणुपट्ठं" इति वचनात्, गन्धमादनस्य माल्यवतश्च वक्षस्कारपर्वतस्य प्रत्येकमायामपरिमाणं त्रिंशद् योजनसहस्राणि द्वे शते नवोत्तरे षट् च कलाः ३०२०९ क० ६, उभयोश्च मिलित आयामो यथोक्तपरिमाणो भवति ६०४१८ क० १२ ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते !' इत्यादि, उत्तरकुरूणां भदन्त ! कुरूणां, सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात्, कीदृश आकारभावस्वरूपस्य प्रत्यवतारः—सम्भवः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभाग उत्तरकुरूणां प्रज्ञप्तः, 'से जहानामए—आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि जगत्युपरि वनप-

ण्डवर्णकवत्तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां च मणीनां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च सवर्णकः परिपूर्ण उक्तो भवति, पर्यन्तसूत्रं चेदम्— 'दिव्वं नट्टं सज्जं गेयं पगीयाणं भवे एयारूवे ?, हंता सिया' इति ॥ **'उत्तरकुराए णं कुराए'** इत्यादि, उत्तरकुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवे **'खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ'** इत्यादि, तथा त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि तोरणानि पर्वतकाः पर्वतकेष्वासनानि गृहकाणि गृहेष्वासनानि मण्डपका मण्डपेषु पृथिवीशिलापट्टकाः पूर्ववद् वक्तव्याः, तदनन्तरं चेदं वक्तव्यम्—'तत्थ णं बहवे उत्तरकुरा मणुस्सा मणुस्सीओ य आसयंति सयंति जाव कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरन्ति' एतद्व्याख्याऽपि प्राग्वत् । **'उत्तरकुराए णं भंते ! कुराए'** इत्यादि, उत्तरकुरुषु णमिति पूर्ववत् कुरुषु तत्र तत्र देशे **'तहिं तहिं'** इति तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवः सरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः कोरण्डगुल्माः बन्धुजीवकगुल्माः मनोवद्यगुल्माः बीयकगुल्माः बाणगुल्माः (कणवीरगुल्माः) कुब्जकगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्मा यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः कस्तूलगुल्माः सेवालगुल्माः अगस्त्यगुल्माः मगदन्तिगुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्माः नवनातिकागुल्माः कुन्दगुल्माः महाकुन्दगुल्माः, सरिकादयो लोकतः प्रत्येतव्याः, गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः, ततः सर्वत्र विशेषणसमासः, सरिकादीनां चेमास्तिस्रः सङ्ग्रहणिगाथाः—"सेरियए नोमालियकोरंटयबन्धुजीवगमणोज्जा । बीययबाणयकणवीरकुज्ज तह सिंदुवारे य ॥ १ ॥ जाईमोग्गर तह जूहिया य तह मल्लिया य वासंती । वत्थुलकत्थुलसेवालगत्थिमगदंतिया चेव ॥ २ ॥ चंपकजाईनवनाइया य कुंदे तहा महाकुंदे । एवमणेगागारा हवंति गुम्मा मुणेयव्वा ॥ ३ ॥" **'ते णं गुम्मा'** इत्यादि, **'ते'** अनन्तरोदिता णमिति वाक्यालङ्कारे गुल्माः **'दशार्द्धवर्णं'** पञ्चवर्णं **'कुसुमं'** जातावेकवचनं कुसुमसमूहं **'कुसुमयन्ति'** उत्पादयन्तीति भावः, येन कुसुमोत्पादनेन कुरूणां बहुसमरम-

णीयो भूमिभागो 'वायविहुयग्गसालेहिं'ति वातेन विधुता:—कम्पिता वातविधुतास्ताश्च ता अग्रशाखाश्च वातविधुताग्रशाखास्ताभिः, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, मुक्तो यः पुष्पपुञ्जः स एवोपचारः—पूजा मुक्तपुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितः श्रियाऽतीव उपशोभमानस्तिष्ठति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, हरुतालवनानि भेरुतालवनानि मेरुतालवनानि शालवनानि सरलवनानि सप्तपर्णवनानि पूगीफलीवनानि खर्जूरीवनानि नालिकेरीवनानि कुशविकुशवि-शुद्धवृक्षमूलानि, ते च वृक्षाः मूलमंतो कंदमंतो इत्यादि विशेषणजातं जगत्युपरिवनपण्डकवर्णकवत्तावत्परिभावनीयं यावद् 'अणेगसग-डरहजाणजोग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणपडिमोयणेसु रम्मा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा' इति, भेरुतालादयो वृक्षजातिवि-शेषाः शालादयः प्रतीताः ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहव उद्दालाः कोद्दाला मोद्दालाः कृतमाला नृत्तमाला वृत्तमाला दन्तमालाः शृङ्गमालाः शङ्खमालाः श्वेतमाला नाम 'द्रुमगणाः' द्रुमजातिविशेषसमूहाः प्रज्ञप्ताः तीर्थकरगणधरैः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, ते च कथम्भूताः? इत्याह—कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला इत्यादि प्राग्वद् यावत् 'पडिमोयणा सुरम्मा' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवस्तिलका लवकाः छत्रोपगाः शिरीषाः सप्तपर्णाः लुध्राः धवाः चन्दनाः अर्जुनाः नीपाः कुटजाः कदम्बाः पनसाः शालाः तमोलाः प्रियालाः प्रियङ्गवः पारापता राजवृक्षा नन्दिवृक्षाः, तिलकादयो लोकप्रतीताः, एते कथम्भूताः? इत्याह—कुशविकु-शविशुद्धवृक्षमूला इत्यादि सर्वं प्राग्वद् यावत् 'पडिमोयणा सुरम्मा' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बह्व्यः पद्मलता नागलता अशोकलताश्चम्पकलताश्चूतलता वनलता वासन्तिकलता-

अतिमुक्तकलता: कुन्दलता: श्यामलता:, एता: सुप्रतीता:, 'निच्चं कुसुमियाओ' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् 'जाव पडिरूवाओ' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बह्वयो वनराजय: प्रज्ञप्ता:, इहै-कानेकजातीयानां वृक्षाणां पङ्क्तयो वनराजयस्तत: पूर्वोक्तसूत्रेभ्योऽस्य भिन्नार्थतेति न पौनरुक्त्यं, ताश्च वनराजय: प्रज्ञप्ता: कृष्णा: कृष्णा-वभासा इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् 'अणेगरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियपडिमोयणाओ सुरम्माओ जाव पडिरू-वाओ' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो मत्ताङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, किंविशिष्टास्ते? इत्याह—यथा 'से चंदप्पभमणिसलाग' इत्यादि, यथा चन्द्रप्रभादयो मद्यविधयो बहुप्रकारास्तत्र चन्द्रस्येव प्रभा—आकारो यस्या: सा चन्द्रप्रभा, मणिशलाकेव मणिशलाका, वरं च तत् सीधु च वरसीधु, वरा च सा वारुणी च वरवारुणी 'सुजायपुत्तपुप्फफलचोयनिज्जाससारबहुदव्वजुत्तिसंभारकालसंधियआसव' इति इहासव:—पत्रादि-वासकद्रव्यभेदादनेकप्रकार:, तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां लेश्यापदे रसचिन्तावसरे—'पत्तासवेइ वा पुप्फासवेइ वा फलासवेइ वा चोयासवेइ वा' ततोऽत्र निर्याससारशब्द: पत्रादिभि: सह प्रत्येकमभिसम्बन्धनीय:, पत्रनिर्याससार: पुष्पनिर्याससार: फलनिर्यास-सारश्चोयनिर्याससार:, तत्र पत्रनिर्यासो—धातकीपत्ररसस्तत्प्रधान आसव: पत्रनिर्याससार:, एवं पुष्पनिर्याससार: फलनिर्याससारश्च परिभावनीय:, चोयो—गन्धद्रव्यं तन्निर्याससारश्चोयनिर्याससार:, सुजाता:—सुपरिपाकागता:, 'बहुद्रव्ययुक्तिसंभारा' इति बहूनां द्रव्याणामुपबृंहकाणां युक्तयो—मीलनानि तासां संभार:—प्राभूत्यं येषु ते बहुद्रव्ययुक्तिसंभारा:, पुन: कथम्भूता:? इत्याह—'कालसं-धिय' इति कालसन्धिता: सन्धानं सन्धा काले—स्वस्वोचिते सन्धा कालसन्धा सा संजातैषामिति कालसन्धिता, तारकादिदर्शनादि-

तंप्रत्ययस्ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन विशेषणसमासः, सुजातपत्रपुष्पफलचोयनिर्यासः सारबहुद्रव्ययुक्तिसम्भारकालसन्धितासवाः, मधु- मेरकौ—मद्यविशेषौ, 'रिट्ठरत्नवर्णाभा' रिष्ठा या शास्त्रान्तरे जम्बूफलकलिकेति प्रसिद्धा, दुग्धजातिः—आस्वादतः क्षीरसदृशी, प्रसन्ना— सुराविशेषः, नेल्लकोऽपि सुराविशेषः, शतायुर्नाम या शतवारान् शोधिताऽपि स्वस्वरूपं न जहाति, 'खज्जूरमुद्दियासार' इति अ- त्रापि सारशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, खर्जूरसारो मृद्वीकासारः, तत्र ण(मू)लदलखर्जूरसारनिष्पन्न आसवविशेषः खर्जूरसारः, मृद्वीका— द्राक्षा तत्सारनिष्पन्न आसवविशेषो मृद्वीकासारः, कापिशायितं—मद्यविशेषः, सुपक्वः—सुपरिपाकागतो यः क्षोदरस—इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा सुपक्वक्षोदरसवरसुरा, कथम्भूता एते मद्यविशेषाः? इत्याह—'वन्नगंधरसफासजुत्तबलविरियपरिणामा' वर्णेन सामर्थ्यादति- शायिना एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन च युक्ताः—सहिता बलवीर्यपरिणामा—बलहेतवो वीर्यपरिणामा येषां ते तथा, किमुक्तं भवति?— परमातिशयसंपन्नैर्वर्णगन्धरसस्पर्शैर्बलहेतुभिर्वीर्यपरिणामैश्चोपेता इति, पुनः किंविशिष्टाः? इत्याह—'बहुप्रकाराः' बहवः प्रकारा येषां जातिभेदेन ते बहुप्रकाराः, तथैव मत्ताङ्गका अपि द्रुमगणा मद्यविधिनोपपेता इति योगः, किंविशिष्टेन मद्यविधिना? इत्यत आह— 'अणेगबहुविविहवीससापरिणयाए' इति न एकः अनेकः, तत्रानेकः अनेकजातीयोऽपि व्यक्तिभेदाद्भवति तत आह—बहु—प्रभूतं विविधो—जातिभेदान्नानाप्रकारो बहुविविधः प्रभूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः, स च केनापि निष्पादितोऽपि संभाव्यते तत आह —विश्रसया—स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादितो विश्रसापरिणतः, ततः पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः, सूत्रे च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, ते च मद्यविधिनोपपेता न ताडादिवृक्षा इवाङ्कुरादिषु किन्तु फलेषु तथा चाह—'फलेहिं पुण्णा वीसंदंति' अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया 'व्यत्ययोऽप्यासा'मिति वचनात्, फलेषु मद्यविधिभिरिति गम्यते 'पूर्णाः'

संभृता: 'विष्यन्दन्ति' स्रवन्ति, सामर्थ्यात्तानेवानन्तरोदितान् मद्यविधीन्, क्वचित् 'विसट्टंति' इति पाठस्तत्र विकसन्तीति व्याख्येयं, किमुक्तं भवति ?—तेषां फलानि परिपाकागतमद्यविधिभिः पूर्णानि स्फुटित्वा तान् मद्यविधीन् मुञ्चन्तीति, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला:, 'मूलवन्त' इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपका इति १। 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो भृङ्गाङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'जहा से' इत्यादि, यथा ते करकघटककलशकर्करीपादकाञ्चनिकाउदङ्कवार्द्धानीसुप्रतिष्ठकविष्टरपारीचषकभृङ्गारककरोटिकासरकपरकपात्रीस्थालमल्लकचपलितदकवारकविचित्रपट्टकशुक्तिचारुपीनका भाजनविधय:, एते प्रायः प्रतीता:, नवरं पादकाञ्चनिका—पादधावनयोग्या काञ्चनमयी पात्री उदङ्को—येनोदकमुदच्यते वार्द्धानी—गलन्तिका सरको—वंशमयच्छिक्का: शिक्काकृति: अप्रतीता लोकतो विशिष्टसंप्रदायाद्वाऽवसातव्या:, कथम्भूता:? इत्याह—काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रा:, पुन: कथम्भूता: ? इत्याह—बहुप्रकारा:, एकैकस्मिन् विधाववान्तरानेकभेदभावात्, तथैव ते भृङ्गाङ्गका अपि द्रुमगणा: 'अणेगबहुविविहविस्ससापरिणयाए' इत्यस्य व्याख्या पूर्ववत् भाजनविधिनोपपेता:, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपा: २॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवस्तुटिताङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'जहा से' इत्यादि, यथा ते आलिङ्ग्य(मुरव)मृदङ्गपणवपटहदर्दरककरटिडिण्डिमभम्भाहोरम्भाक्वणिताखरमुखीमकुन्दशङ्खिकापिरलीवच्चकपरिवादिनीवंशवेणुवीणासुघोषाविपञ्चीमहतीकच्छभीरिगसिका, तत्रालिङ्ग्य वाद्यत इति आलिङ्ग्य: मुरव:—वाद्यविशेष:, एष यकारान्तशब्द:, मृदङ्गो—लघुमर्दल:, पणवो—भाण्डपटहो लघुपटहो वा पटह:—प्रतीत:, दर्दरकोऽपि तथैव, करटी—सुप्रसिद्धा, डिण्डिम:—प्रथमप्रस्तावनासूचक: पणवविशेष:, भम्भा—

ढक्का, होरम्भा—महाढक्का, क्कणिता—काचिद् वीणा, खरमुखी—काहला, मकुन्दो—मरुजवाद्यविशेषो योऽभिलीनं प्रायो वाद्यते, शङ्खिका—लघुशङ्खरूपा तस्याः स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति नतु शङ्खस्येवातिगम्भीरः, पिरलीवच्चको तृणरूपवाद्यविशेषौ, परिवादिनी—सप्ततन्त्रीवीणा वंशः—प्रतीतो वेणुः—वंशविशेषः सुघोषा—वीणाविशेषः, विपञ्ची—तन्त्री वीणा महती—शततन्त्रिका, कच्छभी रिगसिका च लोकतः प्रत्येतव्या, एताः कथम्भूताः? इत्याह—'तलतालकंसतालसुसंपउत्ता' तलं—हस्तपुटं तालाः—प्रतीताः कांस्यतालाः—कंसालिया एतैः 'सुसंप्रयुक्ताः' सुष्ठु—अतिशयेन सम्यग्—यथोक्तनीत्या प्रयुक्ताः—संबद्धा आतोद्यविधयः—आतोद्यभेदाः, पुनः कथम्भूताः? इत्याह—'निउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिया' इति, निपुणं यथा भवति एवं गन्धर्वसमये—नाट्यसमये कुशलास्तैः स्पन्दिता—व्यापारिता इति भावः, पुनः किंविशिष्टाः? इत्याह—'त्रिस्थानकरणशुद्धाः' आदिमध्यावसानरूपेषु त्रिषु स्थानेषु करणेन—क्रियया यथोक्तवादनक्रियया शुद्धा अवदाता न पुनरवस्थानव्यापारणरूपदोपलेशेनापि कलङ्किताः, तथैव ते तुटिताङ्गका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत्, 'ततविततघनशुषिरेण' ततं—वीणादिकं विततं—पटहादिकं घनं—कांस्यतालादि शुषिरं—वंशादि, एतद्रूपेण चतुर्विधेनातोद्यविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूलाः मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपकाः ३। 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो दीपशिखा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तत् 'सन्ध्याविरागसमये' सन्ध्यारूपो विरुद्धस्तिमिररूपत्वाद्रागः सन्ध्याविरागस्तत्समये—तदवसरे नवनिधिपतेः—चक्रवर्त्तिन इव दीपिकाचक्रवालवृन्दं—ह्रस्वो दीपो दीपिका तासां चक्रवालं—सर्वं परिमण्डलरूपं वृन्दं दीपिकाचक्रवालवृन्दं, कथम्भूतमित्याह—'प्रभूतवर्त्ति' प्रभूता—बहुसङ्ख्याकाः स्थूरा वा वर्त्तयो यत्र तत्तथा, तथा 'पलित्तनेहं'ति पर्याप्तः—प्रतिपूर्णः स्नेहः—

तैलादिरूपो यस्य तत् पर्याप्तस्नेहं, 'धणिउज्जालिए' इति धणियं–अत्यर्थमुज्ज्वालितम्, अत एव तिमिरमर्दकं–तिमिरनाशकं, पुनः किंविशिष्टमित्याह—'कणगनिगरणकुसुमियपारियातगवणप्पगासे' कनकस्य निगरणं कनकनिगरणं गालितं कनकमिति भावः कुसुमितं च तत्पारिजातकवनं च कुसुमितपारिजातकवनं ततो द्वन्द्वसमासस्तद्वत्प्रकाशः–प्रभा आकारो यस्य तत्कनकनिगरणपारिजातकुसुमवनप्रकाशम्, एतावता समुदायविशेषणमुक्तम्, इदानीं समुदायसमुदायिनोः कथञ्चिद्भे(दभे)द इति ख्यापयन् समुदायविशेषणमेव विवक्षुः समुदायिविशेषणान्याह—'कंचणमणिरयणे'त्यादि, दीपिकाभिः शोभमानमिति सम्बन्धः, कथम्भूताभिर्दीपिकाभिः? अत आह–काञ्चनमणिरत्नानां काञ्चनमणिरत्नमया विमलाः–स्वाभाविकागन्तुकमलरहिता महार्हा–महोत्सवार्हाः विचित्रा–विचित्रवर्णोपेता दण्डा यासां ताः काञ्चनमणिरत्नविमलमहार्हविचित्रदण्डास्ताभिः, तथा सहसा–एककालं ज्वालिताश्च ता उत्सर्पिताश्च वर्त्त्युत्सर्प्पणेन सहसाप्रज्वालितोत्सर्प्पिताः, स्निग्धं–मनोहरं तेजो यासां ताः स्निग्धतेजसः, तथा दीप्यमानो–रजन्यां भास्वान् विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो–ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ता दीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभाः, ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्म्मधारयसमासः, सहसाप्रज्वालितोत्सर्पितस्निग्धतेजोदीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभास्ताभिः, तथा वितिमिराः करा यस्यासौ वितिमिरकरः स चासौ सूरश्च वितिमिरकरसूरस्तस्येव यः प्रसरति उद्द्योतः–प्रभासमूहस्तेन 'चिल्लियाहिं'ति देशीपदमेतद् दीप्यमानाभिरित्यर्थः, ज्वाला एव यदुज्ज्वलं प्रहसितमिव प्रहसितं तेनाभिरामा–अभिरमणीया ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताभिरामास्ताभिः, अत एव शोभमानाभिः शोभमानाः, तथैव दीपशिखा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतोद्योतविधिनोपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत् प्रतिरूपा इति ४ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे

बहवो ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तद् अचिरोद्गतं शरदि सूर्यमण्डलं यदिवा यथैतद् उल्कासहस्रं यथा वा दीप्यमाना विद्युत् अथवा यथा निर्धूमज्वलित उज्ज्वलः—उद्गता ज्वाला यस्य स तथा हुतवहः, सूत्रे च पदोपन्यासव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, ततः सर्वेषामेषां द्वन्द्वः समासः, कथम्भूता एते? इत्याह—'निद्धंतधोये'त्यादि, निध्मातेन—नितरामग्निसंयोगेन यद् धौतं—शोधितं तप्तं च तपनीयं ये च किंशुकाशोकजपाकुसुमानां विमुकुलितानां—विकसितानां पुञ्जाः ये च मणिरत्नकिरणाः यश्च जात्यहिङ्गुलकनिकरस्तद्रूपेभ्योऽप्यतिरेकेण—अतिशयेन यथायोगं वर्णतः प्रभया च रूपं—स्वरूपं येषां ते निध्मातधौततप्ततपनीयकिंशुकाशोकजपाकुसुमविमुकुलितपुञ्जमणिरत्नकिरणजात्यहिङ्गुलकनिकररूपातिरेकरूपाः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तथैव ते ज्योतिषिका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतेनोद्योतविधिनोपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपाः ५ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवश्चित्राङ्गका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तत् प्रेक्षागृहं विचित्रं—नानाविधचित्रोपेतम्, अत एव रम्यं—रमयति मनांसि द्रष्टॄणामिति रम्यं, बाहुलकात् कर्त्तरि यप्रत्ययः, वराश्च ताः कुसुमदाममालाश्च—ग्रथितकुसुममाला वरकुसुमदाममालास्ताभिरुज्ज्वलं देदीप्यमानत्वाद् वरकुसुमदाममालोज्ज्वलं, तथा भास्वान्—विकसिततया मनोहरतया च देदीप्यमानो मुक्तो यः पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं भास्वन्मुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितं, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तथा विरल्लितानि—विरलीकृतानि विचित्राणि यानि माल्यानि ग्रथितपुष्पमालास्तेषां यः श्रीसमुदयस्तेन प्रगल्भं—अतीव परिपुष्टं विरल्लितविचित्रमाल्यश्रीसमुदयप्रगल्भं, तथा ग्रन्थिमं—यत् सूत्रेण ग्रथितं वेष्टिमं—यत्पुष्पमुकुट इव उपर्युपरि शिखराकृत्या मालास्थापनं पूरिमं—यल्लघुच्छिद्रेषु पुष्पनिवेशेन पूर्यते सङ्घातिमं—यत्पुष्पं पुष्पेण

परस्परं नालप्रवेशेन संयोज्यते, ग्रन्थिमं च वेष्टिमं च पूरिमं च सङ्घातिमं चेति समाहारो द्वन्द्वस्तेन माल्येन छेकशिल्पिना—परमदक्षेण शिल्पिना विभागरहितेन यद् यत्र योग्यं ग्रन्थिमं वेष्टिमं पूरिमं सङ्घातिमं च तत्र तेन सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समनुबद्धं, तथा प्रविरलैः—लम्बमानैः, तत्र विरलत्वं मनागप्यसंहतत्वमात्रेण भवति ततो विप्रकृष्टत्वप्रतिपादनार्थमाह—विप्रकृष्टैः—बृहदन्तरालैः पञ्चवर्णैः कुसुमदामभिः शोभमानं 'वणमालाकयग्गए चेवे'ति वनमाला—चन्दनमाला कृताऽग्रे यस्य तद् वनमालाकृताग्रं तथाभूतं सद् दीप्यमानं, तथैव चित्राङ्गका अपि नाम द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन ग्रन्थिमवेष्टिमपूरिमसङ्घातिमेन चतुर्विधेन माल्यविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि यावत्प्रतिरूपकाः ६ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे चित्ररसा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, यथा तत्परमान्नं—पायसं भवेदिति सम्बन्धः, किंविशिष्टमित्याह—ये सुगन्धाः—प्रवरगन्धोपेताः, समासान्तविधेरनित्यत्वादत्रैतद्रूपस्य समासान्तस्याभावो यथा सुरभिगन्धेन वारिणा इत्यत्र, वराः—प्रधाना दोषरहितक्षेत्रकालादिसामग्रीसंपादितात्मलाभा इति भावः, कमलशालितन्दुलाः, यच्च विशिष्टं—विशिष्टगवादिसम्बन्धि निरुपहतमिति—पाकादिभिरविनाशितं दुग्धं तै राद्धं—पक्कं परमकलमशालिभिः परमदुग्धेन च यथोचितमात्रापाकेन निष्पादितमित्यर्थः, तथा शारदं घृतं गुडः खण्डं मधु वा शर्करापरपर्यायं मेलितं यत्र तत् शारदघृतगुडखण्डमधुमेलितं, निष्ठान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् सुखादिदर्शनाद्वा, अत एवातिरसमुत्तमवर्णगन्धवत्, यथा वा राज्ञश्चक्रवर्त्तिनो भवेत् कुशलैः सूपपुरुषैः—सूपकारैः पुरुषैः सज्जितो—निष्पादितः चतुष्कल्पसेकसिक्त इवौदनः, चत्वारश्च कल्पाः सेकविषया रसवतीशास्त्राभिज्ञेभ्यो भावनीयाः, स चौदनः किंविशिष्टः? इत्याह—कलमशालिनिर्वर्त्तितः—कलमशालिमयो विपक्को—विशिष्टपरिपाकमागतः, 'सब्वप्फमिउविसयसक-

लसित्थे' इति सबाष्पानि—बाष्पं मुञ्चन्ति मृदूनि—कोमलानि चतुष्कलपसेकादिना परिकर्मितत्वात् विशदानि सर्वथा तुषादिमलापगमात् सकलानि—परिपूर्णानि सित्थूनि यत्र स सबाष्पमृदुविशदसकलसित्थुः, अनेकानि यानि शालनकानि—पुष्पफलप्रभृतीनि तैः संयुक्तः—समुपेतोऽनेकशालनकसंयुक्तः, तथा चामोदक इति सम्बन्धः, किंविशिष्टः? इत्याह—परिपूर्णानि—समस्तानि द्रव्याणि—एलाप्रभृतीनि उपस्कृतानि—नियुक्तानि यत्र स परिपूर्णद्रव्योपस्कृतः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, सुसंस्कृतो—यथोक्तमात्राग्निपरितापादिना परमसंस्कारमुपनीतः, वर्णगन्धरसस्पर्शयुक्तबलवीर्यपरिणाम इति वर्णगन्धरसस्पर्शैः सामर्थ्यादतिशायिभिर्युक्ताः—सहिता बलवीर्यहेतवः परिणामा यस्य स तथा, अतिशायिभिर्वर्णादिभिर्बलवीर्यहेतुपरिणामैश्चोपपेता इति भावः, तत्र बलं—शारीरं वीर्यं—आन्तरोत्साहः, 'इंदियबलपुट्ठिवद्धणे' इति, इन्द्रियाणां—चक्षुरादीनां बलं—स्वस्वविषयग्रहणपाटवमिन्द्रियबलं तस्य पुष्टिः—अतिशायी पोष इन्द्रियबलपुष्टिस्तां वर्द्धयति, नन्द्यादित्वादनः, इन्द्रियबलपुष्टिवर्द्धनः, तथा क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासे तयोर्मथनः क्षुत्पिपासामथनः, तथा प्रधानः—कथितो यो गुडो यद्वा कथितं—प्रधानं खण्डं यदिवा कथिता प्रधाना मत्स्यण्डी—खण्डशर्करा यच्च प्रधानं घृतं तानि उपनीतानि—योजितानि यस्मिन् स प्रधानकथितगुडखण्डमत्स्यण्डीघृतोपनीतः, निष्ठान्तस्य परनिपातोऽत्रापि सुखादिदर्शनात्, स इव मोदकः श्लक्ष्णसमितिगर्भः—अतिश्लक्ष्णकणिकामूलदलः प्रशस्तः, तथैव चित्ररसा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भोजनविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्तो यावत्प्रतिरूपाः ७ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो मण्यङ्गका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, यथा ते हारोऽर्द्धहारो वेष्टनं मुकुटः कुण्डलं वामोत्तको हेमजालं मणिजालं कनकजालं सूत्रकमुच्चीकटकं खुड्डकाम(ङ्का ए)कावलिः कण्ठसूत्रं मकरिका उरस्क-

न्धग्रैवेयकं श्रोणीसूत्रकं चूडामणिः कनकतिलकं फुल्लकं सिद्धार्थकं कर्णपाली शशी सूर्यो वृषभश्चक्रकं तलभङ्गकं तुडितं हस्तमालकं हर्षकं केयूरं वलयं प्रालम्बमङ्गुलीयकं वलक्षं दीनारमालिका काञ्ची मेखला कलापः प्रतरं प्रातिहार्यकं पादोज्ज्वलं घण्टिका किङ्किणी रत्नोरुजालं वरनूपुरं चरणमालिका कनकनिगरमालिकेति भूषणविधयो बहुप्रकाराः, एते च लोकतः प्रत्येतव्याः, कथम्भूताः? इत्याह—काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्राः, तथैव ते मण्यङ्गका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भूषणविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला यावत्प्रतिरूपा इति ८ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो गेहाकारा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन्! यथा ते प्राकाराट्टालकचरिकाद्वारगोपुरप्रासादाकाशतलमण्डपैकशालकद्विशालकत्रिशालकचतुःशालकगर्भगृहमोहनगृहवलभीगृहचित्रशालमालिकभक्तिगृहवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रनन्द्यावर्त्तसंस्थितानि पाण्डुरतलहर्म्यं मुण्डमालहर्म्यं, अथवा धवलगृहाणि अर्द्धमागधविभ्रमाणि शैलसुस्थितानि अर्द्धशैलसुस्थितानि कूटाकाराद्यानि सुविधिकोष्ठकानि, तथाऽनेकानि गृहाणि शरणानि लयनानि 'अप्पेगे' इति भवनविकल्पा अत्र बहुविकल्पाः, एतेषां च परस्परं विशेषो वास्तुविद्यातोऽवसातव्यः, कथम्भूता एते? इत्याह—'विडंगे'त्यादि, विटङ्कः—कपोतपाली जालवृन्दं—गवाक्षसमूहः निर्यूहो—गृहैकदेशविशेषः अपवरकः—प्रतीतः चन्द्रशालिका—शिरोगृहं, एवंरूपाभिर्विभक्तिभिः कलिताः, तथैव गृहाकारा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भवनविधिनेति सम्बन्धः, किंविशिष्टेन? इत्याह—'सुहारुहणसुहोत्ताराए' इति सुखेनारोहणं—ऊर्द्ध्वं गमनं सुखेनोत्तारः—अधस्तादवतरणं यस्य दर्दरसोपानपङ्क्त्यादिभिः स सुखारोहसुखोत्तारस्तेन, तथा सुखेन निष्क्रमणं प्रवेशश्च यत्र स सुखनिष्क्रमणप्रवेशस्तेन, कथं सुखारोहसुखोत्तारः? इत्याह—दर्दरसोपानपङ्क्तिकलितेन, हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—यतो दर्दरसोपानपङ्क्तिक-

लितस्तत: सुखारोहसुखोत्तारः, 'पतिरिक्कसुहविहाराए' प्रतिरिक्ते—एकान्ते सुखविहारः—अवस्थानशयनादिरूपो यत्र प्रतिरिक्तसुखविहारस्तेनोपपेता, सर्वत्र स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपका: ९ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवोऽनग्नका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'जहा से' इत्यादि, आजिनकं नाम—चर्ममयं वस्त्रं क्षौमं—कर्पासिकं कम्बलः—प्रतीतः दुकूलं—वस्त्रजातिविशेषः कौसेयं—त्रसरितन्तुनिष्पन्नं कालमृगपट्टः—कालमृगचर्म अंशुकचीनांशुकानि—दुकूलविशेषरूपाणि पट्टानि—प्रतीतानि आभरणचित्राणि—आभरणैश्चित्राणि—विचित्राणि आभरणचित्राणि 'सण्ह' इति श्लक्ष्णानि कल्याणकानि—परमवस्त्रलक्षणोपेतानि गम्भीराणि—निपुणशिल्पिनिष्पादिततयाऽलब्धस्वरूपमध्यानि 'नेहल'त्ति स्नेहलानि—स्निग्धानि 'गया(ज्ज)लानि' उद्वेल्यमानानि परिधीयमानानि वा गर्जयन्ति, शेषं सम्प्रदायादवसातव्यं, तदन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्तत्वात्, वस्त्रविधयो बहुप्रकारा भवेयुर्वरपट्टनोद्गताः—प्रसिद्धतत्तत्पत्तनविनिर्गता 'विविधवर्णरागकलिता' विविधैर्वर्णैर्विविधै रागैः—मञ्जिष्ठारागादिभिः कलिताः, तथैवानग्नका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन वस्त्रविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपाः १० । 'उत्तरकुराए णं भंते! कुराए मणुयाण'मित्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त! 'मनुजानां' मनुष्याणां कीदृशः कीदृश आकारभावः, प्रत्यवतारस्वरूपसम्भव इति भावः, प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! 'ते ण'मिति पूर्ववत् मनुष्या 'अतीव' अतिशयेन सोमं—दृष्टिसुभगं चारु रूपं येषां तेऽतीवसोमचारुरूपाः 'भोगुत्तमगयलक्खणा' इति उत्तमशब्दस्य विशेषणस्यापि परनिपातः प्राकृतत्वात्, उत्तमाश्च ते भोगाश्च उत्तमभोगास्तद्गतानि—तत्संसूचकानि लक्षणानि येषां ते उत्तमभोगगतलक्षणाः, तथा भोगै. सश्रीकाः—सशोभाका भोगसश्रीकाः, तथा सुजातानि—

यथोक्तप्रमाणोपपन्नत्वेन शोभनजन्मानि यानि सर्वाणि उरःशिरःप्रभृतीन्यङ्गानि तैः सुन्दरमङ्गं—समग्रं वपुर्येषां ते सुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गाः, **'सुपइट्ठियकुम्मचारुचरणा'** इति सुष्ठु—शोभनं यथा भवति एवं प्रतिष्ठिताः कूर्म्मवदुन्नतत्वेन चारवश्चरणाः—पादा येषां ते सुप्रतिष्ठितकूर्मचारुचरणाः, **'रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतला'** इति रक्तं—लोहितमुत्पलपत्रवत् मृदु—मार्दवोपेतमकर्कशमिति भावः तच्चासुकुमारमपि संभवति यथा घृष्टमृष्टपाषाणप्रतिमा तत आह—सुकुमारं—शिरीषकुसुमवदकठिनं कोमलं—मनोज्ञं चरणतलं येषां ते रक्तोत्पलपत्रमृदुसुकुमारकोमलतलाः, तथा **'नगनगरमगरसागरचक्ंकहरंकलक्खणंकियचलणा'** नगः—पर्वतः नगरमकरसागरचक्राणि—प्रतीतानि अङ्कधरः—चन्द्रमा अङ्कः—तस्यैव लाञ्छनं मृगः एवंरूपाणि यानि लक्षणानि तैरङ्कितौ चरणौ येषां ते नगनगरमकरसागरचक्राङ्कधराङ्कलक्षणाङ्कितचरणाः, **'अणुपुव्वसुसाहयंगुलीया'** इति पूर्वस्याः पूर्वस्या अनु लघव इति गम्यते अनुपूर्वाः, किमुक्तं भवति?—पूर्वस्याः पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः "नहं नहेण हीणाओ" इति **सामुद्रिकशास्त्र**वचनात् सुसंहताः—सुश्लिष्टा अङ्गुलयो येषां ते अनुपूर्वसुसंहताङ्गुलीकाः, **'उन्नयतणुतंबनिद्धनखा'** उन्नता—ऊर्द्धं नतास्तनवस्ताम्राः **'स्निग्धाः'** स्निग्धच्छाया नखाः पादगता इति सामर्थ्यलभ्यं तद्वर्णनाधिकाराद् येषां ते उन्नततनुताम्रस्निग्धनखाः, **'संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फा'** सम्यक्स्वरूपप्रमाणतया स्थितौ संस्थितौ सुश्लिष्टौ—मांसलौ गुल्फौ—गुलुकौ येषां ते संस्थितसुश्लिष्टगूढगुल्फाः, **'एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघा'** इति एण्या इव—हरिण्या इव कुरुविन्दस्येव वर्त्त—सूत्रवलनकं तस्येव वृत्ते—वर्त्तुले आनुपूर्व्येण—क्रमेण ऊर्द्धं स्थूरे स्थूरतरे इति गम्यं जङ्घे येषां ते एणीकुरुविन्दवर्त्तवृत्तानुपूर्वजङ्घाः **'समुग्गनिमग्गगूढजाणू'** समुद्गकस्येव—समुद्गकपक्षिण इव निमग्ने—अन्तःप्रविष्टे गूढे—मांसलत्वादनुद्धते जानुनी—अष्ठीवन्तौ येषां ते समुद्गनिमग्नगूढजानवः, **'गयससणसुजायसन्निभोरू'** गजो—हस्ती श्वसिति—प्राणित्यनेनेति

श्वसनः—शुण्डादण्डः गजस्य श्वसनो गजश्वसनस्तस्य सुजातस्य—सुनिष्पन्नस्य सन्निभौ ऊरू येषां ते गजश्वसनसुजातसन्निभोरवः, सुजातशब्दस्य विशेषणस्यापि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात्, **'वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासियगई'** अत्रापि मत्तशब्दस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, मत्तो—मदोन्मत्तो यो वरः—प्रधानो भद्रजातीयो वारणो—हस्ती तस्य तुल्यः—सदृशो विक्रमः—पराक्रमो विलासिता—विलासः संजातोऽस्या विलासिता तारकादिदर्शनादितप्रत्ययः विलासवती गतिः—गमनं येषां ते वरवारणमत्ततुल्यविक्रमविलासितगतयः, **'पमुइयवरतुरगसीहवरवट्टियकडी'** प्रमुदितो—रोगशोकाद्युपद्रवाभावात्, कचित्पुनरेवं पाठः 'पमुइयवरतुरगसिंहअइरेगवट्टियकडी' तत्र प्रमुदितयो—रोगशोकाद्युपद्रवरहितत्वेनातिपुष्टयोर्वरयोस्तुरगसिंहयोः कट्याः सकाशादतिशयेन वर्त्तिता—वृत्तिः (त्ता) कटिर्येषां ते प्रमुदितवरतुरगसिंहातिरेकवर्त्तितकटयः, **'वरतुरयसुजायगुज्झदेसा'** वरतुरगस्येव सुजातः—संगुप्तत्वेन सुनिष्पन्नो गुह्यदेशो येषां ते वरतुरगसुजातगुह्यदेशाः, पाठान्तरं **'पसत्थवरतुरगगुज्झदेसा'** व्यक्तं, **'आइण्णहयव्व निरुवलेवा'** आकीर्णो—गुणैर्व्याप्तः स चासौ हयश्च आकीर्णहयस्तद्वन्निरुपलेपा—लेपरहितशरीरमलाः, यथा जात्याश्वो मूत्रपुरीषाद्यनुपलिप्तगात्रो भवति तथा तेऽपीति भावः, **'साहयसोणंदमुसलदप्पणनिगरियवरकणगछरुसरिसवरवइरवलियमज्झा'** संहृतसौनन्दं नाम ऊर्द्ध्वीकृतमुदूपलाकृति काष्ठं तच्च मध्ये तनु उभयोः पार्श्वयोर्बृहत्, मुसलं—प्रतीतं, दर्पणशब्देनेहावयवे समुदायोपचाराद्दर्पणगण्डो गृह्यते, तथा यन्निगरितं—सारीकृतं वरकनकं तस्य—तन्मयं त्सरुः—खड्गादिमुष्टिर्निगरितवरकनकत्सरुस्तैः सदृशः तेषामिवेत्यर्थः, तथा वरवज्रस्येव क्षामो वलितो—वलयः संजाता अस्य वलितः—वलित्रयोपेतो मध्यो—मध्यभागो येषां ते संहृतसोनन्दमुसलदर्प्पणनिगरितवरकनकत्सरुसदृशवरवज्रवलितमध्याः **'झसविहगसुजायपीणकुच्छी'** झषो—मत्स्यः पक्षी—प्रतीतस्तयोरिव सुजातौ—सुनिष्पन्नौ जन्मदोषरहिताविति भावः पीनौ—उपचितौ

कुक्षी येषां ते मत्स्यपक्षिसुजातपीनकुक्षयः, **'झषोदरा'** झषस्येवोदरं येषां ते झषोदराः, **'सुइकरणा'** इति शुचीनि—पवित्राणि निरुपलेपानीति भावः करणानि—चक्षुरादीनीन्द्रियाणि येषां ते शुचिकरणाः, कचिदेव 'पम्हवियडनाभा' इति पाठस्तत्र पद्मवद् विकटा—विस्तीर्णा नाभिर्येषां ते पद्मविकटनाभाः, अत एव निर्देशादनाश्यपि समासान्तः, एवमुत्तरपदेऽपि, **'गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियअ(आ)कोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा'** गङ्गावर्त्तक इव दक्षिणावर्त्ता तरङ्गैरिव तरङ्गैस्तिसृभिर्वलिभिर्भङ्गुरा तरङ्गभङ्गुरा रविकिरणैः—सूर्यकरैस्तरुणं—नवं तत्प्रथमं तत्कालमित्यर्थः यद्बोधितं—उन्निद्रीकृतमत एव **'आकोसायंत'** इत्याकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः पद्मं तद्वद् गम्भीरा च विकटा च नाभिर्येषां ते गङ्गावर्त्तकप्रदक्षिणावर्त्ततरङ्गभङ्गुररविकिरणतरुणबोधिताकोशायमानपद्मगम्भीरविकटनाभाः, **'उज्जुयसमसहियसुजायजच्चतणुकसिणनिद्धआइज्जलडहसुकुमालमिउरमणिज्जरोमराई'** ऋजुका—न वक्रा समा—न काप्युदन्तुरा सहिता—सन्तता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना सुजाता—सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्याद्दुर्जन्मा अत एव जात्या—प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न तु मर्कटवर्णा, कृष्णमपि किञ्चिन्निर्दीप्तिकं भवति तत आह—स्निग्धा आदेया—दर्शनपथमुपगता सती उपादेया सुभगा इति भावः, एतदेव विशेषणद्वारेण समर्थयते—'लडहा' सलवणिमा अत एव आदेया, तथा सुकुमारा—अकठिना, तत्राकठिनमपि किञ्चित्कर्कशस्पर्शं भवति तत आह—मृद्वी अत एव रमणीया—रम्या रोमराजिः—तनूरुहपङ्क्तिर्येषां ते ऋजुकसमसहितसुजातजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलटहसुकुमारमृदुरमणीयरोमराजयः, **'सन्नयपासा'** सम्यग्—अधोऽधःक्रमेण नतौ पार्श्वौ येषां ते सन्नतपार्श्वाः अधोऽधःक्रमावनतपार्श्वा इत्यर्थः, तथा **'संगयपासा'** इति संगतौ—देहप्रमाणोचितौ पार्श्वौ येषां ते सङ्गतपार्श्वा अत एव सुन्दरपार्श्वाः **'सुजायपासा'** इति सुनिष्पन्नपार्श्वाः **'मियमाइयपीणरइयपासा'** मितं—परिमितं यथा भवति देहानुसारेणेत्यर्थः आयतौ—दीर्घौ पीनौ-

उपचितौ मांसलाविति भावः रचितौ—स्वस्वनामकर्मोदयनिर्वर्त्तितौ रतिदौ वा—रम्यौ पार्श्वौ येषां ते तथा, 'अकरंडयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी' अविद्यमानं—मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणं करण्डकं—पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्य सोऽकरण्डकस्तं कनकस्येव रुचको—रुचिर्यस्य स कनकरुचिस्तं निर्मलं—स्वाभाविकागन्तुकमलरहितं सुजातं—बीजाधानादारभ्य जन्मदोषरहितं निरुपहतं—ज्वरादिदंशाद्युपद्रवरहितं देहं धारयन्तीत्येवंशीला अकरण्डककनकरुचकनिर्म्मलसुजातनिरुपहतदेहधारिणः 'कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतलोवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा' कनकशिलातलवदुज्ज्वलं च—निर्मलं प्रशस्तं च—अतिप्रशस्यं समतलं—न विषमोन्नतं उपचितं—मांसलं विस्तीर्णम्—ऊर्द्ध्वाधोऽपेक्षया पृथुलं दक्षिणोत्तरतो वक्षो येषां ते कनकशिलातलोज्ज्वलप्रशस्तसमतलोपचितविस्तीर्णपृथुलवक्षसः 'सिरिवच्छंकियवच्छा' इति श्रीवृक्षेणाङ्कितं—लाञ्छितं वक्षो येषां ते श्रीवृक्षलाञ्छितवक्षसः 'जुगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिरसुबद्धसंधी पुरवरफलिहवट्टियभुया' युगसन्निभौ—वृत्ततया आयततया च यूपतुल्यौ पीनौ—उपचितौ रतिदौ—पश्यतां दृष्टिसुखदौ पीवरप्रकोष्ठौ—अकृशकलाचिकौ संस्थितौ—विशिष्टसंस्थानौ सुश्लिष्टाः—संगताः विशिष्टाः—प्रधानाः घनाः—निविडाः स्थिरा—नातिश्लथाः सुबद्धाः—स्नायुभिः सुष्ठु नद्धाः सन्धयः—सन्धानानि ययोस्तौ तथा पुरवरपरिघवत्—महानगरार्गलावद् वर्त्तितौ च वाहू येषां ते युगसन्निभपीनरतिदपीवरप्रकोष्ठसंस्थितसुश्लिष्टविशिष्टघनस्थिरसुबद्धसन्धिपुरवरपरिघवर्त्तितभुजाः, पाठान्तरं 'जुगसन्निभपीणरइयपउट्ठसंठियोवचियघणथिरसुबद्धसुनिगूढपव्वसंधी' युगसन्निभौ वर्त्तुलत्वेन पीनौ रतिदौ प्रकोष्ठौ येषां ते तथा, तथा संस्थिताः—सम्यक्स्थिता उपचिता—मांसला घना—निविडाः स्थिरा—अचाल्याः, कुतः ? इत्याह—सुबद्धा—दृढबन्धनबद्धा निगूढा—मांसलत्वादनुपलक्ष्याः पर्वसन्धयो हस्तादिगता येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'भुयगीसरविपुलभोगआयाणफलि-

हउच्छूढदीहबाहू' भुजगेश्वरो—नागराजस्तस्य यो विपुलो—महान् भोगो—देहो भुजगेश्वरविपुलभोगः तथा आदीयते—द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः स चासौ परिघश्च आदानपरिघः 'उच्छूढ'त्ति अवक्षिप्तः—अर्गलास्थानान्निष्कासितो द्वारपृष्ठभागे दत्त इत्यर्थः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, भुजगेश्वरविपुलभोगश्च आदानपरिघावक्षिप्तश्च ताविव दीर्घौ बाहू येषां ते तथा, **'रत्ततलोवतियमांसलसुजायअच्छिद्दजालपाणी'** रक्ततलौ—लोहिततलौ अवपतितौ—क्रमेण हीयमानोपचयौ मृदुकौ—कोमलौ मांसलौ सुजातौ—जन्मदोषरहितौ अच्छिद्रजालौ—अङ्गुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी—हस्तौ येषां ते तथा, पाठान्तरं 'रत्ततलोवइयमंसलसुजायपसत्थलक्खणअच्छिद्दजालपाणी' तत्र प्रशस्तलक्षणौ—शुभचिह्नाविति व्याख्येयं, शेषं तथैव, **'पीवरकोमलवरंगुलीया'** इति पीवराः—स्वशरीरानुक्रमोपचयाः कोमला—मृदवो वराः—प्रशस्तलक्षणोपेता अङ्गुलयो येषां ते पीवरकोमलवराङ्गुलिकाः, पाठान्तरं 'पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलीया' व्यक्तम्, **'आयंबतलिणसुइरुइलनिद्धनखा'** आताम्रा—ईषद्रक्ताः तलिनाः—प्रतलाः शुचयः—पवित्रा रुचिरा—दीप्ताः स्निग्धा—अरूक्षा नखाः—कररुहा येषां ते तथा आताम्रतलिनशुचिरुचिरस्निग्धनखाः, **'चंदपाणिलेखा'** चन्द्र इव चन्द्राकारा पाणौ रेखा येषां ते चन्द्रपाणिरेखाः, एवं सूर्यपाणिरेखाः शङ्खपाणिरेखाश्चक्रपाणिरेखा दिक्सौवस्तिको—दिक्प्रोक्षको दक्षिणावर्त्तः स्वस्तिक इत्यन्ये स पाणौ रेखा येषां ते दिक्सौवस्तिकपाणिरेखाः, एतदेवानन्तरोक्तं विशेषणपञ्चकं तत्प्रशस्तताप्रकर्षप्रतिपादनाय सङ्ग्रहवचनेनाह—चन्द्रसूर्यशङ्खचक्रदिक्सौवस्तिकरेखाः, एतदनन्तरं क्वचिदेवं पाठः—'रविससिसंखवरचक्कसोत्थियविभिन्नसुविरइयपाणिरेहा' व्यक्तो नवरं विभक्ता—विभागवत्यः सुविरचिताः—सुष्ठु कृताः स्वकीयकर्म्मणा **'अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिलेहा'** अनेकैः—अनेकसङ्ख्यैर्वरैः—प्रधानैर्लक्षणैरुत्तमाः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूताः शुचयः—पवित्रा रचिताः—स्वकर्मणा निष्पा-

दिताः पाणिरेखा येषां ते अनेकवरलक्षणोत्तमप्रशस्तशुचिरचितपाणिरेखाः, 'वरमहिसवराहसिंहसद्दूलउसभनागवरपडिपुण्णविउलखंधा' वरमहिषः–प्रधानसौरभेयः वराहः–शूकरः सिंहः–केशरी शार्दूलो–व्याघ्रः ऋषभो–वृषभः नागवरः–प्रधानो गजः, एषामिव प्रतिपूर्णः–स्वप्रमाणेनाहीनो विपुलो–विस्तीर्णः स्कन्धः–अंशदेशो येषां ते वरमहिषवराहसिंहशार्दूलवृषभनागवरप्रतिपूर्णविपुलस्कन्धाः 'चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा' चतुरङ्गुलं–स्वाङ्गुलापेक्षया चतुरङ्गुलप्रमितं सुष्ठु–शोभनं प्रमाणं यस्याः सा चतुरङ्गुलसुप्रमाणा कम्बुवरसदृशी–उन्नततया वलियोगेन च प्रधानशङ्खसन्निभा ग्रीवा येषां ते चतुरङ्गुलसुप्रमाणकम्बुवरसदृशग्रीवाः 'मंसलसंठियसद्दूलविपुलहणुया' मांसलं–उपचितमांसं सम्यक् स्थितं संस्थितं विशिष्टस्थानमित्यर्थः प्रशस्तं प्रशस्यलक्षणोपेतत्वात् शार्दूलस्येव–व्याघ्रस्येव विपुलं–विस्तीर्णं हनुकं येषां ते तथा, 'अवट्ठियसुविभत्तमंसू' अवस्थितानि–अवर्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि–विविक्तानि चित्राणि–अतिरम्यतयाऽद्भुतानि श्मश्रूणि–कूर्चकेशा येषां तेऽवस्थितसुविभक्तचित्रश्मश्रवः 'ओयवियसिलप्पवालबिंबफलसन्निभाधरोट्ठा' ओयवियं–परिकर्मितं यत् शिलारूपं प्रवालं विद्रुममित्यर्थः बिम्बफलं–गोल्हाफलं तयोः सन्निभो रक्ततया उन्नतमध्यतयाऽधरओष्ठः–अधस्तनो दन्तच्छदो येषां ते तथा, 'पंडुरससिसगलविमलनिम्मलसंखगोखीरफेणकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी' पाण्डुरं–अकलङ्कं यत् शशिशकलं–चन्द्रखण्डं विमल–आगन्तुकमलरहितो निर्मलः–स्वभावोत्थमलरहितो यः शङ्खः गोक्षीरफेनः प्रतीतः कुन्दं–कुन्दकुसुमं दकरज–उदककणाः मृणालिका–बिसं, एतद्वद्धवला दन्तश्रेणिर्येषां ते पाण्डुरशशिशकलविमलनिर्मलगोक्षीरफेनकुन्ददकरजोमृणालिकाधवलदन्तश्रेणयः 'अखंडदंता' इति अखण्डाः–सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः 'अप्फुडियदंता' अस्फुटिता–अजर्जरा राजिरहिता दन्ता येषां ते अस्फुटितदन्ताः, तथा सुजाता–जन्मदोषरहिता दन्ता येषां ते सुजा-

तदन्ताः, तथाऽविरला—घना दन्ता येषां ते अविरलदन्ताः, 'एगदंतसेढीविव अणेगदंता' एकाकारा दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा ते इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वाद् अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः, एवं नामाविरलदन्ता यथाऽनेकदन्ता अपि सन्त एकाकारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्त इति भावः, 'हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा' हुतवहेन—अग्निना निर्ध्मातं सद् यद् धौतं—शोधितमलं तप्तं तपनीयं—सुवर्णविशेषस्तद्वद् रक्ते तले—हस्ततले तालु—काकुदं जिह्वा च—रसना येषां ते हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालुजिह्वाः 'गरुलाययउज्जुतुंगनासा' गरुडस्येवायता—दीर्घा ऋज्वी—अवक्रा तुङ्गा—उन्नता नासा—नासिका येषां ते गरुडायतऋजुतुङ्गनासाः 'कोकासियधवलपत्तलच्छा' कोकासिते—पद्मवद्विकसिते धवले क्वचिद्देशे पत्रले—पक्ष्मवती अक्षिणी—लोचने येषां ते कोकासितधवलपत्राक्षाः, एतदेव स्पष्टयति—'विप्फालियपुंडरीयनयणा' विस्फारितं—रविकिरणैर्विकासितं यत्पुण्डरीकं—सितपद्मं तद्वन्नयने येषां ते विस्फारितपुण्डरीकनयनाः, क्वचित् 'अवदालियपुंडरीयनयणा' इति पाठस्तत्रापि अवदालितं—रविकिरणैर्विकासितमिति व्याख्येयं, 'आणामियचावरुइलतणुकसिणनिद्धभुया' आनामितं—ईषन्नामितमारोपितमिति भावः यच्चापं—धनुस्तद्वद् रुचिरे—संस्थानविशेषभावतो रमणीये तनू—तनुके श्लक्ष्णपरिमितवालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे—परमकालिमोपेते स्निग्धे—स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते आनामितचापरुचिरतनुकृष्णस्निग्धभ्रूकाः, क्वचित्पाठः—'आणामियचारुरुचिलकिण्हब्भराईसंठियसंगयआययसुजायभुमया' तत्र आनामितचापवद् रुचिरे कृष्णाभ्रराजीव संस्थिते संगते—यथोक्तप्रमाणोपपन्ने आयते—दीर्घे सुजाते—सुनिष्पन्ने जन्मदोषरहितत्वाद् भ्रुवौ येषां ते तथा, क्वचित्पुनरेवं पाठः—'आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइतणुकसिणनिद्धभुमया' तत्रानामितचापवद् रुचिरे—मनोज्ञे कृष्णाभ्रराजीव—कालमेघरेखेव तनू—तनुके कृष्णे—काले स्निग्धे—सच्छाये भ्रुवौ येषां ते तथा, 'आलीणपमा-

णजुत्तसवणा' आलीनौ न तु टप्परौ प्रमाणयुक्तौ—प्रमाणोपेतौ श्रवणौ—कर्णौ येषां ते आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणाः, अत एव **'सुसवणा'** शोभनश्रवणाः **'पीणमंसलकवोलदेसभागा'** पीनौ—अकृशौ यतो मांसलौ—उपचितौ कपोलदेशौ—गण्डभागौ मुखस्य देशभागौ येषां ते पीनमांसलकपोलदेशभागाः, अथवा कपोलयोर्देशभागाः कपोलदेशभागाः कपोलावयवा इत्यर्थः पीना—मांसलाः कपोलदेशभागा येषां ते पीनमांसलकपोलदेशभागाः **'निव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमनिडाला'** निर्व्रणं—विस्फोटकादिक्षतरहितं समं—अविषमं अत एव लष्टं—मनोज्ञं मृष्टं—मसृणं चन्द्रार्द्धसमं—शशधरसमप्रविभागसदृशं ललाटं—अलकं येषां ते निर्व्रणसमलष्टचन्द्रार्द्धसमललाटाः, सूत्रे 'निडाले'ति प्राकृतलक्षणवशात्, **'उडुवइपडिपुण्णसोमवयणा'** प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः, प्रतिपूर्णोडुपतिरिव—सम्पूर्णचन्द्र इव सोमं—सश्रीकं वदनं येषां ते प्रतिपूर्णोडुपतिसोमवदनाः, **'घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिहपिंडियसिरा'** घनं—अतिशयेन निचितं घननिचितं सुष्ठु—अतिशयेन बद्धानि—अवस्थितानि लक्षणानि यत्र तत् सुबद्धलक्षणं, उन्नतं—मध्यभागे उच्चं यत्कूटं तस्याकारो—मूर्त्तिस्तन्निभमुन्नतकूटाकारसदृशमिति भावः पिण्डितं—स्वकर्म्मणा संयोजितं शिरो येषां ते घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटाकारनिभपिण्डितशिरसः **'छत्ताकारुत्तमंगदेसा'** छत्राकार उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते छत्राकारोत्तमाङ्गदेशाः **'दाडिमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुजायकेसंतकेसभूमी'** दाडिमपुष्पप्रकाशा—दाडिमपुष्पप्रतिमास्तपनीयसदृशाश्च निर्म्मला—आगन्तुकस्वाभाविकमलरहिताः केशान्ताः केशभूमिश्च—केशोत्पत्तिस्थानभूता मस्तकत्वग् येषां ते दाडिमपुष्पप्रकाशतपनीयसदृशनिर्मलसुजातकेशान्तकेशभूमयः **'सामलिबोंडघणछोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुन्दरभुयमोयगभिंगनीलकज्जलपहट्ठभमरगणनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया'** शाल्मली—वृक्षविशेषः स च प्रतीत एव तस्य बोण्डं—फलं तद्वच्छोटिता अपि घनं—अतिशयेन निचिताः शाल्मलीबोण्डघननि-

चितच्छोटिताः, स्नेहकेशपाशं न कुर्वन्ति परिज्ञानाभावात्, केवलं छोटिता अपि तथास्वभावतया शाल्मलीबोण्डाकारवद् घननिचिता अवतिष्ठन्ते तत एतद्विशेषणोपादानं, तथा मृदवः—अकर्कशा विशदा—निर्मलाः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूताः सूक्ष्माः—श्लक्ष्णाः लक्षणा—लक्षणवन्तः सुगन्धाः—परमगन्धकलिता अत एव सुन्दराः, तथा भुजमोचको—रत्नविशेषः भृङ्गः—प्रतीतः नीलो—मरकतमणिः कज्जलं—प्रतीतं प्रहृष्टः—प्रमुदितो भ्रमरगणः प्रहृष्टभ्रमरगणः, प्रहृष्टो हि भ्रमरगणस्तारुण्यावस्थायां भवति तदानीं चातिकृष्ण इति प्रहृष्टग्रहणं, तद्वत्स्निग्धा भुजमोचकभृङ्गनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धाः, तथा निकुरम्बा—निकुरम्बीभूताः सन्तो निचिता न तु विस्तृताः सन्तः परस्परसंहता निकुरम्बनिचिता ईषत्कुटिलाः प्रदक्षिणावर्त्ताश्च मूर्द्धनि शिरोजा—वाला येषां ते शाल्मलीबोण्डघननिचितच्छोटितमृदुविशदप्रशस्तसूक्ष्मलक्षणसुगन्धसुन्दरभुजमोचकभृङ्गनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धनिकुरम्बनिचितप्रदक्षिणावर्त्तमूर्द्धशिरोजाः, 'लक्खणवंजणगुणोववेया' लक्षणानि—स्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि—मषतिलकादीनि गुणाः—क्षान्त्यादयस्तैरुपपेता—युक्ता लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेताः 'सुजायसुविभत्तसुरूवगा' सुजातं—सुनिष्पन्नं जन्मदोषरहितत्वात् सुविभक्तं—अङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गानां यथोक्तवैविक्त्यभावात् सुरूपं—शोभनं रूपं समुदायगतं येषां ते सुजातसुविभक्तसुरूपकाः 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते! कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु भदन्त! कुरुषु मनुजीनां कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः स्वरूपसम्भव इति भावः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! ता मनुष्यः सुजातसर्वाङ्गसुन्दर्यः—सुजातानि—यथोक्तप्रमाणोपेततया शोभनजन्मानि यानि सर्वाण्यङ्गानि—उदरप्रभृतीनि तैः सुन्दर्यः—सुन्दराकाराः सुजातसर्वाङ्गसुन्दर्यः 'पहाणमहेलागुणजुत्ताओ' प्रधाना—अतिशायिनो ये महेलागुणाः—प्रियंवदत्वभर्तृचित्तानुवर्त्तकत्वप्रभृतयस्तैर्युक्ता—उपपेताः प्रधानमहेलागुणयुक्ताः 'कंतविसयमिउसुकुमालकुम्मसंठियविसि-

ट्ठचलणा' कान्तौ—कमनीयौ विशदौ—निर्म्मलौ मृदू—अकठिनौ सुकुमारौ—अकर्कशौ कूर्मसंस्थितौ—कूर्मवदुन्नतौ विशिष्टौ—विशिष्टलक्षणोपेतौ चरणौ यासां ताः कान्तविशदमृदुसुकुमारकूर्मवदुन्नतसंस्थितविशिष्टचरणाः 'उज्जुमउयपीवरपुट्ठसाहयंगुलीओ' ऋजवः—अवक्रा मृदवः—अकठिनाः पीवरा—अकृशाः पुष्टा—मांसलाः संहताः—सुश्लिष्टा अङ्गुलयो यासां ता ऋजुमृदुकपीवरपुष्टसंहताङ्गुलयः 'उन्नयरतियतलिनतंवसुइनिद्धनखा' उन्नता—ऊर्द्धूनता रतिदा—रमणीयास्तलिनाः—प्रतलास्ताम्रा—ईषद्रक्ताः शुचयः—पवित्राः स्निग्धाः—स्निग्धच्छाया नखा यासां ता उन्नतरतिदतलिनताम्रशुचिस्निग्धनखाः 'रोमरहियवट्टलट्ठसंठियअजहन्नपसत्थलक्खणजंघाजुयला' रोमरहितं वृत्तं—वर्त्तुलं लष्टसंस्थितं—मनोज्ञसंस्थानं क्रमेणोर्द्ध्वं स्थूरस्थूरतरमिति भावः, अजघन्यप्रशस्तलक्षणं—जघन्यपदरहितशेषप्रशस्तलक्षणाङ्कितं जङ्घायुगलं यासां ता रोमरहितवृत्तलष्टसंस्थिताजघन्यप्रशस्तलक्षणजङ्घायुगलाः 'सुनिम्मियगूढजाणुमंडलसुबद्धा' सुष्ठु—अतिशयेन निर्मितः सुनिर्मितः एवं सुगूढं—मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणं जानुमण्डलं सुबद्धं—स्नायुभिरतीव बद्धं यासां ताः सुनिर्मितसुगूढजानुमण्डलसुबद्धाः, सुबद्धशब्दस्य निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् प्राकृतत्वाद्वा, 'कयलीखंभातिरेगसंठियनिव्वणसुकुमालमउयकोमलअइविमलसमसंहतसुजायवट्टपीवरनिरंतरोरू' कदलीस्तम्भाभ्यामतिरेकेण—अतिशायितया संस्थितं—संस्थानं ययोस्तौ कदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितौ निर्व्रणौ—विस्फोटकादिकृतक्षतरहितौ सुकुमारौ—अकर्कशौ मृदू—अकठिनौ कोमलौ—दृष्टिसुभगौ अतिविमलौ—सर्वथा स्वाभाविकागन्तुकमललेशेनाप्यकलङ्कितौ समसंहतौ—समप्रमाणौ सन्तौ संहतौ समसंहतौ सुजातौ—जन्मदोषरहितौ वृत्तौ—वर्त्तुलौ पीवरौ—मांसलौ निरन्तरौ—उपचितावयवतयाऽपान्तरालवर्जितौ ऊरू यासां ताः कदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितनिर्व्रणसुकुमारमृदुकोमलातिविमलसमसंहतसुजातवृत्तपीवरनिरन्तरोरवः 'पट्टसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणीओ' पट्टवत्—शिलापट्टकादि-

वत् संस्थिता पट्टसंस्थिता प्रशस्ता प्रशस्तलक्षणोपेतत्वाद् विस्तीर्णा ऊर्ध्वाधः पृथुला दक्षिणोत्तरतः श्रोणिः—कटेरग्रभागो यासां ताः पट्टसंस्थितविस्तीर्णपृथुलश्रोणयः 'वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारणीओ' वदनस्य—मुखस्यायामप्रमाणं—द्वादशाङ्गुलानि तस्माद् द्विगुणितं—द्विगुणप्रमाणं सद् विशालं वदनायामप्रमाणद्विगुणितविशालं मांसलमप्युपचितं सुबद्धं—अतीव सुबद्धावयवं न तु श्लथमिति भावः जघनवरं—वरजघनं, वरशब्दस्य विशेषणस्यापि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात्, धारयन्तीत्येवंशीला वदनायामप्रमाणद्विगुणितविशालमांसलसुबद्धजघनवरधारिण्यः 'वज्जविराइयपसत्थलक्खणनिरोदरतिवलीविणीयतणुनमियमज्झियाओ' वज्रस्येव विराजितं वज्रविराजितं प्रशस्तानि लक्षणानि यत्र तत् प्रशस्तलक्षणं निरुदरं—विकृतोदररहितं त्रिवलीविनीतं—तिस्रो वलयो विनीता—विशेषतः प्रापिता यत्र तत् त्रिवलीविनीतं तनु—कृशं नतं तनुनतमीषन्नतमित्यर्थः मध्यं यासां ता वज्रविराजितप्रशस्तलक्षणनिरुदरत्रिवलीविनीततनुनतमध्यकाः 'उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणनिद्धआएज्जलडहसुविभत्तसुजायसोभंतरुइलरमणिज्जरोमराई' ऋजुका—न वक्रा समा—न काप्युद्दन्तुरा संहिता—सन्तता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना जात्या—प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न मर्कटवर्णा स्निग्धा—स्निग्धच्छाया आदेया—दर्शनपथप्राप्ता सन्ती उपादेया सुभगेति भावः, एतदेव समर्थयति—लटहा—सलवणिमाऽत एव आदेया सुविभक्ता—सुविभागा सुजाता—जन्मदोषरहिता अत एव शोभमाना रुचिरा—दीप्रा रमणीया—द्रष्टृमनोरमणशीला रोमराजिर्यासां ता ऋजुकसमसहितजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलटहसुविभक्तसुजातशोभमानरुचिररमणीयरोमराजयः 'गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियआकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा' इति पूर्ववत्, 'अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छीओ' अनुद्भटा—अनुल्बणा प्रशस्ता—प्रशस्तलक्षणा पीना कुक्षिर्यासां ता अनुद्भटप्रशस्तपीनकुक्षयः 'सन्नयपासा संगतपासा सुंदरपासा सुजायपासा मिय-

माइयपीणरइयपासा अकरंडयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलट्ठीओ' इति पूर्ववत्, 'कंचणकलससुप्पमाणसमसंहितसुजायलट्ठचूचुयआमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयरइयसंठियपओहराओ' काञ्चनकलशाविव काञ्चनकलशौ सुप्रमाणौ—स्वशरीरानुसारिप्रमाणोपेतौ समौ—नैको हीनो नैकोऽधिक इति भावः संहितौ—संततौ अपान्तरालरहिताविति भावः सुजातौ—जन्मदोषरहितौ लष्टौ—मनोज्ञौ चूचुक आमेलकः—आपीडकः शेखरो ययोस्तौ चूचुकापीडकौ 'जमलजुगले'ति यमलयुगलं—समश्रेणीकयुगलरूपौ वर्त्तिताविव वर्त्तितौ कठिनाविति भावः अभ्युन्नतौ—पत्युरभिमुखमुन्नतौ रतिदं—रतिकारि संस्थितं—संस्थानं ययोस्तौ रतिदसंस्थितौ पयोधरौ यासां ताः काञ्चनकलशसुप्रमाणसमसंहितसुजातलष्टचूचुकापीडयमलयुगलवर्त्तिताभ्युन्नतरतिदसंस्थितपयोधराः 'अणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहितनमियआएज्जललियबाहाओ' आनुपूर्व्येण—क्रमेण तनुकौ आनुपूर्व्यतनुकौ अत एव गोपुच्छवद् वृत्तौ—वर्तुलौ समौ—समप्रमाणौ संहितौ—स्वशरीरसंश्लिष्टौ नतौ स्कन्धदेशस्य नतत्वात् आदेयौ—अतिसुभगतयोपादेयौ ललितौ—मनोज्ञचेष्टाकलितौ बाहू यासां ता आनुपूर्व्यतनुगोपुच्छवृत्तसंहितनतादेयललितबाहवः 'तंबनहा' ताम्रा—ईषद्रक्ता नखाः—कररुहा यासां तास्ताम्रनखाः 'मंसलग्गहत्था' मांसलौ अग्रहस्तौ बाह्वग्रभागवर्त्तिनौ हस्तौ यासां ता मांसलाग्रहस्ताः 'पीवरकोमलवरंगुलीया' पीवरा—उपचिताः कोमलाः—सुकुमारा वराः—प्रमाणलक्षणोपेततया प्रधाना अङ्गुलयो यासां ताः पीवरकोमलवराङ्गुलिकाः 'निद्धपाणिरेहा' स्निग्धाः पाणौ रेखा यासां ताः तथा, 'रविससिसंखचक्कसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा' इति पूर्ववत् 'पीणुन्नयकक्खवक्खवत्थिप्पएसा' पीना—उपचितावयवा उन्नता—अभ्युन्नताः कक्षावक्षोबस्तिरूपाः प्रदेशा यासां ताः पीनोन्नतकक्षावक्षोबस्तिप्रदेशाः 'पडिपुण्णगलकवोला' प्रतिपूर्णौ गलकपोलौ च यासां तास्तथा 'चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा' पूर्ववत् 'मंसलसंठियपसत्थहणुया' मांसलम्

—उपचितमांसं संस्थितं—विशिष्टसंस्थानं प्रशस्तं—प्रशस्तलक्षणोपेतं हनुकं यासां ता मांसलसंस्थितप्रशस्तहनुकाः **'दाडिमपुप्फप्पगासपीवरप्पवराहरा'** दाडिमपुष्पप्रकाशः पीवरः प्रवरः—सुभगोऽधरो यासां ता दाडिमपुष्पप्रकाशपीवरप्रवराधराः **'सुंदरोत्तरोट्ठा'** व्यक्तं **'दहिदगरयचंदकुंदवासंतियमउलधवलअच्छिद्दविमलदसणा'** दधि—प्रतीतं दकरज—उदककणाः चन्द्रः—प्रतीतः कुन्दः—कुसुमं वासन्तिकामुकुलं—वासन्तिकाकलिका तद्वद्धवला अच्छिद्राः—छिद्ररहिता विमला—मलरहिता दशना—दन्ता यासां ता दधिदकरजश्चन्द्रकुन्दवासन्तिकामुकुलधवलाच्छिद्रविमलदशनाः **'रत्तुप्पलपत्तमउयसूमालतालुजीहा'** रक्तोत्पलवद् रक्तं मृदु—अकठिनं सुकुमारं—अकर्कशं तालु जिह्वा च यासां ता रक्तोत्पलमृदुसुकुमारतालुजिह्वाः **'कणइरमुकुलअकुडियअब्भुग्गयउज्जुतुंगनासा'** कणयरा—अतिस्निग्धतया श्लक्ष्णश्लक्ष्णस्वेदकणाकीर्णा मुकुला—नासापुटद्वयस्यापि यथोक्तप्रमाणतया संवृत्ताकारतया च मुकुलाकारा अभ्युद्गता—अभ्युन्नता ऋजुका—सरला तुङ्गा—उच्चा नासा यासां तास्तथा, **'सारयनवकमलकुमुयकुवलयविमुक्कदलनिगरसरिसलक्खणंकियकंतनयणाओ'** शारदं—शरन्मासभावि यन्नवं—प्रत्यग्रं कमलं—पद्मं कुमुदं—कैरवं कुवलयं—नीलोत्पलं तैर्विमुक्तो यो दलनिकरस्तत्सदृशे, किमुक्तं भवति ?—एवं नामायतदीर्घे मनोहारिणी नयने यत् शारदान्नवात् कमलाद्वा कुमुदाद्वा कुवलयाद्वा उत्पद्य पत्रद्वयमिवावस्थितमाभातीति, लक्षणाङ्किते—प्रशस्तलक्षणोपेते नयने यासां ताः शारदनवकमलकुमुदकुवलयविमुक्तदलनिकरसदृशलक्षणाङ्कितनयनाः, एतदेव किञ्चिद्विशेषार्थमाह—**'पत्तलचपलायंततंबलोयणाओ'** पत्रले—पक्ष्मवती चपलायमाने ताम्रे—कचित्प्रदेशे ईषद्रक्ते लोचने यासां ताः पत्रलचपलायमानताम्रलोचनाः 'आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंठियसंगयआगयसुजायभुमया अल्लीणपमाणजुत्तसवणा' इति पूर्ववत्, **'पीणमट्ठरमणिज्जगंडलेहा'** पीना—उपचिता मृष्टा—मसृणा रमणीया—रम्या गण्डरेखा—कपोलपाली यासां ताः पीनमृष्टरमणीयगण्ड-

लेखाः 'चउरंसपसत्थसमनिडाला' चतुरस्रं—चतुष्कोणं प्रशस्तं—प्रशस्तलक्षणोपेतं समं—ऊर्द्ध्वाधस्तया दक्षिणोत्तरतया च तुल्यप्रमाणं ललाटं यासां ताश्चतुरस्रप्रशस्तसमललाटाः 'कोमुईरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा' कौमुदी—कार्त्तिकी पौर्णमासी तस्यां रजनिकर इव विमलं प्रतिपूर्णं सोमं च वदनं यासां ताः कौमुदीरजनिकरविमलप्रतिपूर्णसोमवदनाः, सोमशब्दस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, 'छत्तुन्नयउत्तमंगाओ' छत्रवन्मध्ये उन्नतमुत्तमाङ्गं यासां तारछत्रोन्नतोत्तमाङ्गाः 'कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरयाओ' कुटिलाः सुस्निग्धा दीर्घाः शिरोजा यासां ताः कुटिलसुस्निग्धदीर्घशिरोजाः, छत्रध्वजयूपस्तूपदामनीकमण्डलुकलशवापीसौवस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरमकरशुकस्थालाङ्कुशाष्टापदसुप्रतिष्ठकमयूरश्रीदामाभिषेकतोरणमेदिन्युदधिवरभवनगिरिवरादर्शललितगजवृषभसिंहचामररूपाणि उत्तमानि—प्रधानानि प्रशस्तानि—सामुद्रिकशास्त्रेषु प्रशंसास्पदीभूतानि द्वात्रिंशतं लक्षणानि धारयन्तीति छत्रचामरयावदुत्तमप्रशस्तद्वात्रिंशल्लक्षणधराः 'हंससरिसगतीओ' हंसस्य सदृशी गतिर्यासां ता हंससदृशगतयः, कोकिलाया इव या मधुरा गीस्तया सुस्वराः कोकिलामधुरगीःसुस्वराः, तथा कान्ताः—कमनीयाः, तथा सर्वस्य—तत्प्रत्यासन्नवर्त्तिनो लोकस्यानुमताः—संमता न मनागपि द्वेष्या इति भावः, व्यपगतवलिपलिताः, तथा व्यङ्गदुर्वर्णव्याधिदौर्भाग्यशोकमुक्ताः, स्वप्नेऽपि तेषामसम्भवात्, स्वभावत एव शृंगारः—शृङ्गाररूपश्चारुः—प्रधानो वेषो यासां ताः स्वभावशृङ्गारचारुवेषाः, तथा 'संगयगयहसियभणियचेट्ठियविलाससंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला' सङ्गतं—सुश्लिष्टं यद् गतं—गमनं हंसीगमनवत् हसितं—हसनं कपोलविकासि प्रेमसंदर्शि च भणितं—भणनं गम्भीरं—मन्मथोद्दीपि च चेष्टितं—चेष्टनं सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपदर्शनादि विलासो—नेत्रविकारः संलापः—पत्या सहासकामस्वहृदयप्रत्यर्पणक्षमं परस्परसंभाषणं निपुणः—परमनैपुण्योपेतो युक्तश्च यः शेष उपचारस्तत्र कुशलाः संगतगतहसितभणितचेष्टितविलाससंलापनिपुणयुक्तोपचार-

कलिताः, एवंविधविशेषणाश्च स्वपतिं प्रति द्रष्टव्या न परपुरुषं प्रति, तथा क्षेत्रस्वाभाव्यतः प्रतनुकामतया परपुरुषं प्रति तासामभिलापासम्भवात्, पूर्वोक्तमेवार्थं संपिण्ड्याह—वरस्तनजघनवदनकरचरणनयनलावण्यवर्णयौवनविलासकलिता नन्दनवनचारिण्य इवाप्सरसः, **'अच्छेरपेच्छणिज्जा'** इति आश्चर्यप्रेक्षणीयाः **'पासाईयाओ'** इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ सम्प्रति स्त्रीपुंसविशेषमन्तरेण सामान्यतस्तत्रत्यमनुष्याणां स्वरूपं प्रतिपिपादयिपुरिदमाह—**'ते णं मणुया ओहस्सरा'** इत्यादि, ते उत्तरकुरुनिवासिनो मनुष्या ओघः—प्रवाही स्वरो येषां ते ओघस्वराः, हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते हंसस्वराः, क्रौञ्चस्येवाप्रयासविनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते क्रौञ्चस्वराः, एवं सिंहस्वरा दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, नन्द्या इव घोषः—अनुनादो येषां ते नन्दीघोषाः, मञ्जुः—प्रियः स्वरो येषां ते मञ्जुस्वराः, मञ्जुर्घोषो येषां ते मञ्जुघोषाः, एतदेव पदद्वयेन व्याचष्टे—सुस्वराः सुस्वरनिर्घोषाः **'पउमुप्पलगंधसरिसनीसाससुरभिवयणा'** पद्मं—कमलमुत्पलं—नीलोत्पलं अथवा पद्मं—पद्मकाभिधानं गन्धद्रव्यं उत्पलम्—उत्पलकुष्ठं तयोर्गन्धेन—सौरभ्येण सदृशः-समो यो निःश्वासस्तेन सुरभिगन्धि वदनं—मुखं येषां ते पद्मोत्पलगन्धसदृशनिःश्वाससुरभिवदनाः, तथा छवी—छविमन्त उदात्तवर्णया सुकुमारया च त्वचा युक्ता इति भावः **'निरायंकउत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू'** निरातङ्का—नीरोगा उत्तमा—उत्तमलक्षणोपेता अतिशेषा—कर्म्मभूमकमनुष्यापेक्षयाऽतिशायिनी अत एव निरुपमा—उपमारहिता तनुः—शरीरं येषां ते निरातङ्कोत्तमप्रशस्तातिशेषनिरुपमतनवः, एतदेव सविशेषमाह—**'जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरनिरुवलेवा'** याति च लगति चेति जल्लः—पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः स्वल्पप्रयत्नापनेयः स चासौ मलश्च जल्लमलः स च कलङ्कं च—दुष्टतिलकादिकं चित्रादिकं वा स्वेदश्च—प्रस्वेदः रजश्च—रेणुर्दोषो—मालिन्यकारिणी चेष्टा तेन वर्जितं निरुपलेपं च—मूत्रविष्ठाद्युपलेपरहितं शरीरं येषां ते जल्लमलकलङ्कस्वेदरजोदोषवर्जित-

निरुपलेपशरीराः, सूत्रे च निरुपलेपशब्दस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, 'छायाउज्जोवियंगमंगा' छायया—शरीरप्रभया उद्द्योतितमङ्गमङ्गम्—अङ्गप्रत्यङ्गं येषां ते तथा, 'अनुलोमवाउवेगा' अनुलोमः—अनुकूलो वायुवेगः—शरीरान्तर्वर्तिवातजवो येषां ते अनुलोमवायुवेगाः, वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशा इति भावः, आह च मूलटीकाकारः—"उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां तेपामनुलोमो वायुवेगो न भवति, तदभावाच्च तेपामनुलोमो भवति वायुवेगो मिथुनाना"मिति, 'कङ्कग्गहणी' इति कङ्कः—पक्षिविशेपस्तस्येव ग्रहणिः—गुदाशयो नीरोगवर्चस्कतया येषां ते कङ्कग्रहणयः, 'कवोयपरिणामा' कपोतस्येव—पक्षिविशेपस्य परिणाम—आहारपाको येषां ते कपोतपरिणामाः, कपोतस्य हि जाठराग्निः पापाणलवानपि जरयतीति श्रुतिः, एवं तेपामप्यत्यर्गलाहारग्रहणेऽपि न जातुचिदप्यजीर्णदोपा भवन्तीति, 'सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया' इति शकुनेरिव—पक्षिण इव पुरीपोत्सर्गे निर्लेपतया 'पोसं'ति पोसः—अपानदेशः 'पुसउत्सर्गे' पुरीपमुत्सृजन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेः, तथा लघुपरिणामतया पृष्ठं च प्रतीतं अन्तरे च—पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वावित्यर्थः ऊरू चेति द्वन्द्वः ते परिणता येषां ते शकुनिपोसपृष्ठान्तरोरुपरिणताः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, 'विग्गहियउन्नयकुच्छी' विग्रहिता—मुष्टिग्राह्या उन्नता च कुक्षिर्येषां ते विग्रहितोन्नतकुक्षयः, वज्रर्षभनाराचं संहननं येषां ते वज्रर्षभनाराचसंहननाः, तथा समचतुरस्रं च तत् संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थिताः समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः, षड्धनुःसहस्रोच्छ्रिताः—त्रिगव्यूतप्रमाणोच्छ्रयाः, तथा तेपामुत्तरकुरुवास्तव्यानां मनुष्याणां द्वे पृष्ठकरण्डकशते षट्पञ्चाशे—षट्पञ्चाशदधिके प्रज्ञप्ते तीर्थकरगणधरैः॥ 'ते णं मणुया' इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या मनुजाः प्रकृत्या—स्वभावेन भद्रकाः—अपरानुपतापहेतुकायवाङ्मनश्चेष्टाः, तथा प्रकृत्या—स्वभावेन न तु परोपदेशतः परेभ्यो भयतो वोपशान्ताः, तथा प्रकृत्या—स्वभावेन प्रतनवः—अतिमन्दीभूताः क्रोधमानमायालोभा येषां ते प्रकृ-

तिप्रतनुक्रोधमानमायालोभाः, अत एव मृदु—मनोज्ञं परिणामसुखावहमिति भावः यन्मार्दवं तेन संपन्ना मृदुमार्दवसंपन्ना न कपटमार्दवोपेताः 'अल्लीणा' इति आ—समन्तात्सर्वासु क्रियासु लीना—गुप्ता आलीना नोल्बणचेष्टाकारिण इत्यर्थः, भद्रकाः—सकलतत्क्षेत्रोचितकल्याणभागिनः विनीता—बृहत्पुरुषविनयकरणशीलाः अल्पेच्छा—मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिता अत एवासन्निधिसञ्चया—न विद्यते सन्निधिरूपः सञ्चयो येषां ते तथा, 'विडिमंतरपरिवसणा' विडिमान्तरेषु—शाखान्तरेषु प्रासादाद्याकृतिषु परिवसनं—आकालमावासो येषां ते विडिमान्तरपरिवसनाः 'जहिच्छियकामकामिणो' यथेप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान्—शब्दादीन् कामयन्त इत्येवंशीला यथेप्सितकामकामिनः, ते उत्तरकुरुवास्तव्या णमिति पूर्ववत् मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि णं भंते!' इत्यादि, तेषां भदन्त! उत्तरकुरुवास्तव्यानां मनुष्याणां 'केवइकालस्स'त्ति सप्तम्यर्थे षष्ठी कियति काले गते भूय आहारार्थः समुत्पद्यते?—आहारलक्षणं प्रयोजनमुपतिष्ठते?, भगवानाह—गौतम! 'अट्ठमभत्तस्स' अत्रापि सप्तम्यर्थे षष्ठी अष्टमभक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः समुत्पद्यते ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या भदन्त! मनुष्याः किमाहारमाहारयन्ति?, भगवानाह—गौतम! पृथिवीपुष्पफलाहाराः—पृथिवीपुष्पफलानि च कल्पद्रुमाणामाहारो येषां ते तथा ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि णं भंते' इत्यादि, तस्या भदन्त! पृथिव्याः कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! 'से जहा नामए' इत्यादि, तत्—लोके प्रसिद्धं यथा नाम 'ए' इति वाक्यालङ्कारेऽखण्डमिति वा, इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दो विकल्पने, एवं सर्वत्र, गुड इति वा शर्करा इति वा, इयं शर्करा काशादिप्रभवा द्रष्टव्या, मत्स्यण्डिका इति वा, मत्स्यण्डी—खण्डशर्करा, पर्पटमोदक इति वा विसकन्द इति वा पुष्पोत्तरेति वा पद्मोत्तरेति वा विजया इति वा महाविजया इति वा उपमा इति वा अनुपमा इति वा, पर्प-

टमोदकादयः खाद्यविशेषा लोकतः प्रत्येतव्याः, 'चाउरक्के वा गोखीरे' इत्यादि वा, चातुरक्यं-चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तं, तच्चैवं-गवां पुण्ड्रदेशोद्भवेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां कृष्णानां यत्क्षीरं तदन्यान्याभ्यः कृष्णगोभ्य एव यथोक्तगुणाभ्यः पानं दीयते, तत्क्षीरमप्येवंभूताभ्योऽन्याभ्यस्तत्क्षीरमप्यन्याभ्य इति चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तं, एवंभूतं यच्चातुरक्यं गोक्षीरं खण्डगुडमत्स्यण्डिकोपनीतं-खण्डगुडमत्स्यण्डिका उपनीता यत्र तत्तथा, सुखादिदर्शनान्निष्ठान्तस्य परनिपातः, खण्डादिभिः सुरसतां प्रापितमिति भावः, 'मंदग्गिकढिए' मन्दमग्निना कथितं मन्दाग्निकथितम्, अत्यग्निकथितं हि विरसं विगन्धादि च भवतीति मन्दग्रहणं, वर्णाद्यतिशयप्रतिपादनार्थमेवाह —वर्णेन-सामर्थ्यादतिशायिना अन्यथा वर्णोपादाननैरर्थक्यापत्तेः उपपेतं-युक्तं, एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन चातिशायिनोपपेतं, एवमुक्ते गौतम आह-भगवन्! भवेदेतद्रूपः पृथिव्या आस्वादः?, भगवानाह-गौतम! नायमर्थः समर्थः, तस्याः पृथिव्या इतो-गुडखण्डशर्करादेरिष्टतर एव, यावत्करणात् 'कंततराए चेव पियतराए चेव मणामतराए चेवे'ति परिग्रहः, आस्वादः प्रज्ञप्तः ॥ पुष्पफलादीनामास्वादनं पृच्छन्नाह—'तेसि णं भंते! पुप्फफलाण' मित्यादि, तेषां कल्पपादपसत्कानां पुष्पफलानां कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह-गौतम! 'से जहा नामए' इत्यादि तद्यथा नाम राज्ञः, स च राजा लोके कतिपयदेशाधिपतिरपि प्राप्यते तत आह- चतुरन्तचक्रवर्त्तिनः-चतुर्षु अन्तेषु त्रिसमुद्रहिमवत्परिच्छिन्नेषु चक्रेण वर्त्तितुं शीलं यस्यासौ चक्रवर्त्ती तस्य कल्याणं-एकान्तसुखावहं भोजनं शतसहस्रनिष्पन्नं-लक्षनिष्पन्नं वर्णेनातिशायिनेति गम्यते, एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेतं, आस्वादनीयं सामान्येन विस्वादनीयं विशेषतस्तद्रसप्रकर्षमधिकृत्य दीपनीयमग्निवृद्धिकरं, दीपयति हि जाठराग्निमिति दीपनीयं, बाहुलकात्कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः, एवं दर्प्पणीयमुत्साहवृद्धिहेतुत्वात्, मदनीयं मन्मथजननात्, बृंहणीयं धातूपचयकारित्वात्, सर्वाणीन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति स-

वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयं, वैशद्येन तत्प्रह्लादहेतुत्वात्, एवमुक्ते गौतम आह—भगवन्! भवेदेतद्रूपः पुष्पफलानामास्वादः?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थः, तेषां पुष्पफलानामितश्चक्रवर्त्तिभोजनादिष्टतरादिरेवास्वादः प्रज्ञप्तः ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते भदन्त! मनुजास्तं—अनन्तरोदितस्वरूपमाहारमाहार्य 'क्व वसतौ' कस्मिन्नुपाश्रये 'उपयान्ति?' उपगच्छन्ति, भगवानाह—गौतम! 'वृक्षगृहालयाः' वृक्षरूपाणि गृहाणि आलया—आश्रया येषां ते वृक्षगृहालयास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'ते णं भंते' इत्यादि, ते भदन्त! वृक्षाः 'किंसंस्थिताः' किमवसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! अप्येकका: कूटाकारसंस्थिताः शिखराकारसंस्थिता इत्यर्थः अप्येककाः प्रेक्षागृहसंस्थिताः अप्येककाश्छत्रसंस्थिताः अप्येकका ध्वजसंस्थिताः अप्येककाः स्तूपसंस्थिताः अप्येककास्तोरणसंस्थिताः अप्येकका गोपुरसंस्थिताः, गोभिः पूर्यत इति गोपुरं—पुरद्वारं, अप्येकका वेदिकासंस्थानसंस्थिताः, वेदिका—उपवेशनयोग्या भूमिः, अप्येककाश्चोप्पालसंस्थिता इत्यर्थः, चोप्पालं नाम मत्तवारणं, अप्येकका अट्टालकसंस्थिताः अट्टालकः—प्राकारस्योपर्याश्रयविशेषः, अप्येकका वीथीसंस्थिताः वीथी—मार्गः, अप्येककाः प्रासादसंस्थिताः, राज्ञां देवतानां च भवनानि प्रासादाः उत्सेधबहुला वा प्रासादास्ते चोभयेऽपि पर्यन्तशिखराः, हर्म्य—शिखररहितं धनवतां भवनं, अप्येकका गवाक्षसंस्थिताः, गवाक्षो—वातायनं, अप्येकका वालाग्रपोतिकासंस्थिताः, वालाग्रपोतिका नाम तडागादिषु जलस्योपरि प्रासादः, अप्येकका वलभीसंस्थिताः, वलभी—गृहाणामाच्छादनं, अप्येकका वरभवनविशिष्टसंस्थानसंस्थिताः, वरभवनं सामान्यतो विशिष्टं गृहं तस्यैव यद् विशिष्टं संस्थानं तेन संस्थिताः, शुभा शीतला च छाया येषां ते शुभशीतलच्छायास्ते द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु गृहाणि वाऽस्मद्गृहकल्पानि गृहायतनानि—तेषु गृहेषु तेषां मनुष्याणामायतनानि—गमनानि गृहायतनानि?,

भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, वृक्षगृहालयास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु ग्रामा इति वा यावत्सन्निवेशा इति वा, यावत्करणान्नगरादिपरिग्रहः, तत्र ग्रसन्ति बुद्ध्यादीन् गुणानिति यदिवा गम्याः—शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां कराणामिति ग्रामाः, न विद्यते करो येषु तानि नकराणि, नखादय इति निपातनान्नञोऽनादेशाभावः, निगमाः—प्रभूतवणिग्वर्गावासाः, पांशुप्राकारनिबद्धानि खेटानि, क्षुल्लप्राकारवेष्टितानि कर्बटानि, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितानि मडम्बानि, 'पट्टणाइ वे'ति पट्टनानि पत्तनानि वा, उभयत्रापि प्राकृतत्वेन निर्देशस्य समानत्वात्, तत्र यन्नौभिरेव गम्यं तत्पट्टनं, यत्पुनः शकटैर्घोटकैर्नौभिश्च गम्यं तत्पत्तनं यथा भरुकच्छं, उक्तं च—"पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च। नौभिरेव तु यद्गम्यं, पट्टनं तत्प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥" द्रोणमुखानि—बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशानि, आकरा—हिरण्याकरादयः, आश्रमाः—तापसावसथोपलक्षिता आश्रयाः, संवाधा—यात्रासमागतप्रभूतजननिवेशाः, राजधान्यो यत्र नकरे पत्तनेऽन्यत्र वा स्वयं राजा वसति, सन्निवेशा इति—सन्निवेशो यत्र सार्थादिरावासितः, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, यद्—यस्मान्नेच्छितकामगामिनः—न इच्छितं—इच्छाविषयीकृतं नेच्छितं, नायं नञ् किन्तु नशब्द इत्यत्रा(ना)देशाभावो यथा 'नैके द्वेपस्य पर्याया' इत्यत्र, नेच्छितं—इच्छाया अविषयीकृतं कामं—स्वेच्छया गच्छन्तीत्येवंशीला नेच्छितकामगामिनस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु 'असयः' अस्युपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः, मषीति वा मष्युपलक्षिता लेखनजीविनः, कृषिरिति कृषिकर्मोपजीविनः, 'पणी'ति पणितं पण्यमिति वा क्रयविक्रयोपजीविनः, वाणिज्यमिति वाणिज्यकलोपजीविनः?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगतासिमषीकृषिपण्यवाणिज्यास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते'

इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु हिरण्यमिति वा—हिरण्यं—अघटितं सुवर्णं कांस्यं—कांस्यभाजनजातिः 'दूस'मिति वा दूष्यं वस्त्रजातिः, मणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालसत्सारस्वापतेयानि वा, तत्र मणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालानि प्रतीतानि सद्—विद्यमानं सारं—प्रधानं स्वापतेयं—धनं सत्सारस्वापतेयं, भगवानाह—हन्ता! अस्ति, 'नो चेव ण'मित्यादि, न पुनस्तेषां मनुजानां तद्विषयस्तीव्रो ममत्वभावः समुत्पद्यते, मन्दरागादितया विशुद्धाशयत्वात् ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु राजेति वा राजा—चक्रवर्त्ती बलदेववासुदेवो महामाण्डलिको वा युवराज इति वा—उत्थिताशनः ईश्वरो—भोगिकादि, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके, तलवर इति वा, तलवरो नाम परितुष्टनरपतिप्रदत्तरत्नालङ्कृतसौवर्णपट्टविभूषितशिराः, कौटुम्बिक इति वा, कतिपयकुटुम्बप्रभुः कौटुम्बिकः, माडम्बिक इति वा, यस्य प्रत्यासन्नं ग्रामनगरादिकमपरं नास्ति तत्सर्वतश्छिन्नं जनाश्रयविशेषरूपं मडम्बं तस्याधिपतिर्माडम्बिकः, इभ्य इति वा, इभो—हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीभ्यः, यत्सत्कपुञ्जीकृतहिरण्यरत्नादिद्रव्येणान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इत्यर्थः, श्रेष्ठीति वा श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गः पुरज्येष्ठो वणिग्विशेषः श्रेष्ठी, सेनापतिरिति वा हस्त्यश्वरथपदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुः सेनापतिः, सार्थवाह इति वा, "[1]गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छेज्जं चेव दव्वजायं तु। घेत्तूणं लाभत्थं वच्चइ जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥ निववहुमओ पसिद्धो दीणाणाहाण वच्छलो पंथे। सो सत्थवाहनामं धणो व्व लोए समुव्वहइ ॥ २ ॥" एतल्लक्षणयुक्तः सार्थवाहः, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगतर्द्धिसत्कारा—

---

१ गणिमं धरिमं मेयं परिच्छेद्यं चैव द्रव्यजातं तु। गृहीत्वा लाभार्थं व्रजति योऽन्यदेशं तु ॥ १ ॥ नृपबहुमतः प्रसिद्धो दीनानाथाना वत्सल. पथि। स सार्थवाहनाम धन इव लोके समुद्वहति ॥ २ ॥

व्यपगता ऋद्धिः—विभवैश्वर्यं सत्कारश्च—सेव्यतालक्षणो येभ्यस्ते तथा उत्तरकुरुवास्तव्या मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! । 'अत्थि णं भंते', इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुपु कुरुपु दास इति वा, दासः—आमरणं क्रयक्रीतः, प्रेष्य इति वा, प्रेष्यः—प्रेपणयोग्यः, शिष्य इति वा, शिष्यः—उपाध्यायस्योपासकः, भृतक इति वा, भृतको—नियतकालमधिकृत्य वेतनेन कर्म्मकरणाय धृतः, 'भागिल्लए'ति वा भागिक इति वा, भागिको नाम द्वितीयांशस्य चतुर्थांशस्य वा ग्राहकः, कर्मकारपुरुप इति वा, कर्म्मकारो लोहारादिः कर्म्मकारः?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगताभियोग्यास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः, अभिमुखं कर्म्मसु युज्यते व्यापार्येत इति वाऽभियोग्यस्तस्य भावः कर्म्म वा आभियोग्यं, 'व्यञ्जनाद् यपंचमस्य सरूपे वा' इत्येकस्य यकारस्य लोपः, व्यपगतमाभियोग्यं येभ्यस्ते तथा हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुपु कुरुपु मातेति वा पितेति वा भ्रातेति वा भगिनीति वा भार्येति वा सुत इति वा दुहितेति वा स्नुपेति वा?, तत्र माता—जननी पिता—जनकः सहोदरो—भ्राता सहोदरी—भगिनी वधू:—भार्या सुतः—पुत्रः सुता—दुहिता पुत्रवधूः—स्नुपा, भगवानाह—हन्त! अस्ति, तथाहि—या प्रसूते सा जननी, यो वीजं निषिक्तवान् स पिता विवक्षितः पुरुपः, सहजातो यो भ्राता एकमातृपितृकत्वात्, इतरा तस्य भगिनी, भोग्यत्वाद् भार्या, स्वमातापित्रोः स पुत्र इतरा दुहिता, स्वपुत्रभोग्यत्वात्स्नुपेति, 'नो चेव णं'मित्यादि, न पुनस्तेपां मनुजानां तीव्रं प्रेमरूपं बन्धनं समुत्पद्यते, तथा क्षेत्रस्वाभाव्यात् प्रतनुप्रेमबन्धनास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुपु कुरुपु अरिरिति वा—शत्रुः वैरीति वा—जातिनिबद्धवैरोपेतः, घातक इति वा, घातको योऽन्येन घातयति, वधक इति वा, वधकः—स्वयं हन्ता, प्रत्यनीक इति वा, प्रत्यनीकः—छिद्रान्वेपी, प्रत्यमित्र इति वा, प्रत्यमित्रो यः पूर्वं मित्रं भूत्वा पश्चाद्-

मित्रो जातः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतवैरानुबन्धास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु मित्रमिति वा मित्रं—स्नेहविषयः, वयस्य इति वा—समानवया गाढतरस्नेहविषयः, सखा इति वा—समानखादनपानो गाढतमस्नेहस्थानं, सुहृदिति वा, सुहृत्—मित्रमेव सकलकालमव्यभिचारि हितोपदेशदायि च, साङ्गतिक इति वा, साङ्गतिकः—सङ्गतिमात्रघटितः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतस्नेहानुरागास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु 'आवाहा इति वा' आहूयन्ते स्वजनास्ताम्बूलदानाय यत्र स आवाहः—विवाहात्पूर्वस्ताम्बूलदानोत्सवः, वीवाहा इति वा, वीवाहः—परिणयनं, यज्ञा इति वा, यज्ञाः—प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजाः, श्राद्धानीति वा, श्राद्धं—पितृक्रिया, स्थालीपाका इति वा, स्थालीपाकः—प्रतीतः, मृतपिण्डनिवेदनानीति वा—मृतेभ्यः श्मशाने तृतीयनवमादिषु दिनेषु पिण्डनिवेदनानि मृतपिण्डनिवेदनानि, चूडोपनयनानीति वा, चूडोपनयनं—शिरोमुण्डनं, सीमन्तोन्नयनानीति वा, सीमन्तोन्नयनं—गर्भस्थापनं ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतावाहवीवाहयज्ञश्राद्धस्थालीपाकमृतपिण्डनिवेदनास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु नटप्रेक्षेति वा नटा—नाटकानां नाटयितारस्तेषां प्रेक्षा नटप्रेक्षा, नृत्यप्रेक्षेति वा, नृत्यन्ति स्म नृत्या—नृत्यविधायिनस्तेषां प्रेक्षा नृत्यप्रेक्षा इति वा, जल्लप्रेक्षेति वा, जल्ला—वरत्राखेलका राजस्तोत्रपाठका इत्यपरे तेषां प्रेक्षा जल्लप्रेक्षा, मल्लप्रेक्षेति वा, मल्लाः—प्रतीताः, मौष्टिकप्रेक्षेति वा, मौष्टिकाः मल्लविशेषा एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति, विडम्बकप्रेक्षेति वा, विडम्बका—विदूषका नानावेषकारिण इत्यर्थः, कथकप्रेक्षेति वा, कथकाः प्रतीताः, प्लवकप्रेक्षेति वा, प्लवका ये उत्प्लुत्य गर्त्तादिकं झम्पाभिर्लङ्घयन्ति नद्यादिकं वा तरन्ति तेषां प्रेक्षा प्लवकप्रेक्षा, लासकप्रेक्षेति वा, लासका ये रास-

कान् गायन्ति जयशब्दप्रयोक्तारो वा भाण्डास्तेषां प्रेक्षा लासकप्रेक्षा, आख्यायकप्रेक्षेति वा ये शुभाशुभमाख्यान्ति ते आख्यायकास्तेषां प्रेक्षा आख्यायकप्रेक्षा, लङ्घप्रेक्षेति वा, लङ्घा ये महावंशाग्रमारुह्य नृत्यन्ति तेषां प्रेक्षा लङ्घप्रेक्षा, मङ्खप्रेक्षेति वा, ये चित्रपट्टिकादिहस्ता भिक्षां चरन्ति ते मङ्खास्तेषां प्रेक्षा मङ्खप्रेक्षा, 'तूणइल्लपेच्छाइ वा' इति तूणइल्ला–तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तस्तेषां प्रेक्षा तूणइल्लप्रेक्षा, तुम्बवीणाप्रेक्षेति वा, तुम्बयुक्ता वीणा येषां ते तुम्बवीणाः–तुम्बवीणावादकास्तेषां प्रेक्षा तूणइडिवाहका तेषां प्रेक्षा, मागधप्रेक्षेति वा, मागधा–बन्दिभूतास्तेषां प्रेक्षा मागधप्रेक्षेति वा ?, भगवानाह–नायमर्थः समर्थो, व्यपगतकौतुकास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु इन्द्रमह इति वा, इन्द्रः–शक्रस्तस्य महः–प्रतिनियतदिवसभावी उत्सवः, स्कन्दमह इति वा, स्कन्दः–कार्त्तिकेयः, रुद्रमह इति वा, रुद्रः प्रतीतः, शिवमह इति वा, शिवो–देवताविशेषः, वैश्रमणमह इति वा, वैश्रमणः–उत्तरदिग्लोकपालः, नागमह इति वा, नागो–भवनपतिविशेषः, यक्षमह इति वा भूतमह इति वा, यक्षभूतौ–व्यन्तरविशेषौ, मकुन्दमह इति वा, मकुन्दो–बलदेवः, कूपमह इति वा तडागमह इति वा नदीमह इति वा ह्रदमह इति वा पर्वतमह इति वा वृक्षमह इति वा चैत्यमह इति वा स्तूपमह इति वा ?, कूपादयः प्रतीताः, भगवानाह–नायमर्थः समर्थो, व्यपगतमहमहिमास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु शकटानीति वा, शकटानि–प्रतीतानि, रथा वा, रथा द्विविधा–यानरथाः सङ्ग्रामरथाश्च, तत्र सङ्ग्रामरथस्य प्राकारानुकारिणी फलकमयी वेदिकाऽपरस्य तु न भवतीति विशेषः, यानानीति वा, यानं–गन्त्र्यादि, युग्यानीति वा, युग्यं–गोल्लविषयप्रसिद्धं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रवेदिकोपशोभितं जम्पानं, गिल्लय इति वा, गिल्लिर्हस्तिन उपरि कोल्लररूपा या मानुषं गिलतीव, थिल्लय इति वा,

लाटानां यद् अड्डपल्लाणं रूढं तदन्यविषये थिल्लिरित्युच्यते, शिबिका इति वा, शिबिका—कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः, सन्दमाणिया इति वा, सन्दमाणिया—पुरुषप्रमाणो जम्पानविशेषः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, पादविहारचारिणस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! अश्वा इति वा हस्तिन इति वा उष्ट्रा इति वा गाव इति वा महिषा इति वा खरा इति वा घोटका इति वा ?, इह जात्या आशुगमनशीला अश्वाः शेषा घोटकाः, खरा—गर्दभाः, अजा इति वा एडका इति वा ?, भगवानाह—हन्त! सन्ति, न पुनस्तेषां मनुजानां परिभोग्यतया 'हव्वं' शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु गाव इति वा, गावः—स्त्रीगव्यः, महिष्य इति वा उष्ट्र्य इति वा अजा इति वा एडका इति वा ?, हन्त! सन्ति, न पुनस्तेषां मनुष्याणामुपभोग्यतया हव्वं शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु सिंहा इति वा, सिंहः—पञ्चाननः, व्याघ्रा इति वा, व्याघ्रः—शार्दूलः, वृका इति वा, द्वीपिका इति वा द्वीपिकाः—चित्रकाः, ऋक्षा इति वा, परस्सरा इति वा, परस्सरो—गण्डः, शृगाला इति वा, बिडाला इति वा, शुनका इति वा, कालशुनका इति वा, कोकन्तिका इति वा, कोकन्तिका—लुङ्कडिकाः, शशका इति वा, चिल्लला इति वा, चिल्लल—आरण्यकः पशुविशेषः ?, भगवानाह—हन्त! सन्ति, न पुनस्ते परस्परस्या तेषां वा मनुजानां काञ्चिदाबाधां वा प्रबाधां वा छविच्छेदं वा कुर्वन्ति, प्रकृतिभद्रकास्ते श्वापदगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु शालय इति वा व्रीहय इति वा गोधूमा इति वा यवा इति वा तिला इति वा इक्षव इति वा ?, हन्त! सन्ति न पुनस्तेषां मनुष्याणां परिभोग्यतया 'हव्वं' शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु स्थाणुरिति वा कण्टक इति वा हीरमिति वा, हीरं—लघु कुत्सितं तृणं, शर्करेति वा, शर्करा—कर्क-

रकः, तृणकचवर इति वा पत्रकचवर इति वा अशुचीति वा, अशुचि—विगन्धं शरीरमलादि, पूतीति वा, पूति—कुथितं स्वस्वभावचलितं त्रिवासरवटकादिवत्, दुरभिगन्धमिति वा, दुरभिगन्धं मृतकलेवरादिवत्, अचोक्षं—अपवित्रमस्थ्यादिवत् ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतस्थाणुकण्टकहीरशर्करातृणकचवरपत्रकचवराशुचिपूतिदुरभिगन्धाचोक्षपरिवर्जिता उत्तरकुरव. प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु, गर्त्तेति वा, गर्त्ता—महती खड्डा, दरीति वा, दरी—मूषिकादिकृता लघ्वी खड्डा, घसीति वा, घसी—भूराजिः, भृगुरिति वा, भृगुः—प्रपातस्थानं, विषममिति वा, विषमं—दुरारोहावरोहस्थानं, धूलिरिति वा पङ्क इति वा, धूलीपङ्कौ प्रतीतौ, चलणीति वा, चलनी—चरणमात्रस्पर्शी कर्दमः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, उत्तरकुरुषु कुरुषु बहुसमरमणीयो भूभागः प्रज्ञप्तो हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! दंसा इति वा मसका इति वा ढङ्कुणा इति वा, क्वचित् पिशुगा इति वा इति पाठस्तत्र पिशुकाः—चंचटादयः, यूका इति वा लिक्षा इति वा ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतोपद्रवाः खलु उत्तरकुरवः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु अहय इति वा अजगरा इति वा महोरगा इति वा ?, हन्त! सन्ति न पुनस्तेऽन्योऽन्यस्य तेषां वा मनुजानां काञ्चिदाबाधां व्याबाधां वा छविच्छेदं वा कुर्वन्ति, प्रकृतिभद्रकास्ते व्यालकगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति (भदन्त)! उत्तरकुरुषु कुरुषु ग्रहदण्डा इति वा, दण्डाकारव्यवस्थिता ग्रहा ग्रहदण्डाः ते चानर्थोपनिपातहेतुतया प्रतिषेध्या न स्वरूपतः, एवं ग्रहमुशलानीति वा, ग्रहगर्जितानि—ग्रहचारहेतुकानि गर्जितानि, इमानि स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्यानि, ग्रहयुद्धानीति वा, ग्रहयुद्धं नाम यदेको ग्रहोऽन्यस्य ग्रहस्य मध्येन याति, ग्रहसङ्घाटका इति वा, ग्रहसङ्घाटको नाम ग्रहयुग्मं, ग्रहापसव्यानीति वा

अभ्राणीति वा, अभ्राणि—सामान्याकारेण प्रतीतानि, अभ्रवृक्षा इति वा, अभ्रवृक्षा—वृक्षाकारपरिणतान्यभ्राणि, सन्ध्या इति वा सन्ध्याकाले नीलाद्यभ्रपरिणतिरूपा प्रतीतैव, गन्धर्वनगराणि—सुरसदनप्रासादोपशोभितनगराकारतया तथाविधनभःपरिणतपुद्गलराशिरूपाणि, एतान्यपि तत्र स्वरूपतोऽपि न भवन्ति, गर्जितानीति वा विद्युत इति वा, गर्जितानि विद्युतश्च प्रतीताः, उल्कापाता इति वा, उल्कापाता—व्योम्नि संमूर्च्छितज्वलननिपतनरूपाः, दिग्दाह इति वा, दिग्दाहा—अन्यतरस्यां दिशि छिन्नमूलज्वलनज्वालाकरालिताम्बरप्रतिभासरूपाः, निर्घाता इति वा, निर्घातो—विद्युत्प्रपातः, पांशुवृष्टय इति वा, पांशुवृष्टयो—धूलिवर्षाणि, यूपका इति वा, यूपकाः 'संध्याछेयावरणो य' इत्यादिनाऽऽवश्यकग्रन्थेन प्रतिपत्तव्याः, यक्षदीप्तकानीति वा, यक्षदीप्तकानि नाम नभसि दृश्यमानाग्निसहितः पिशाचः, धूमिकेति वा रूक्षा प्रविरला धूमाभा धूमिका, महिकेति वा, स्निग्धा घना घनत्वादेव भूमौ पतिता सार्द्रतृणादिदर्शनद्वारेणोपलक्ष्यमाणा महिका, रजउद्घाता—रजस्वला दिशः, चन्द्रोपरागा इति वा सूर्योपरागा इति वा, चन्द्रोपरागः—चन्द्रग्रहणं सूर्योपरागः—सूर्यग्रहणं, इह गर्जितविद्युदुल्कादिग्दाहनिर्घातपांशुवृष्टियूपकयक्षदीप्तकधूमिकामहिकारजउद्घाताः स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, चन्द्रसूर्यग्रहणे त्वनर्थोपनिपातहेतुतया, स्वरूपतस्तयोः प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, जम्बूद्वीपगतौ हि चन्द्रौ सूर्यौ वा तत्प्रकाशयतः, एकस्य चन्द्रस्य ग्रहणे सकलमनुष्यलोकवर्त्तिनां चन्द्राणामेकस्य सूर्यस्य ग्रहणे सकलमनुष्यलोकवर्त्तिनां सूर्याणां ग्रहणमत इह क्षेत्र इव तत्रापि स्वरूपतश्चन्द्रसूर्योपरागप्रतिषेधासम्भवः, चन्द्रपरिवेषा इति वा सूर्यपरिवेषा इति वा, चन्द्रसूर्यपरिवेषाश्चन्द्रादित्ययोः परितो वलयाकारपरिणतिरूपाः प्रतीता एव, प्रतिचन्द्रा इति वा प्रतिसूर्या इति वा, प्रतिचन्द्र—उत्पातादिसूचको द्वितीयश्चन्द्रः, एवं द्वितीयः सूर्यः प्रतिसूर्यः, इन्द्रधनुरिति वा उदकमत्स्य इति वा, इन्द्रधनुः—प्रतीतं, तस्यैव खण्डमुदकमत्स्यः, कपिहसितानीति वा, कपिहसितानि—अकस्मा-

भसि ज्वलद्भीमशब्दरूपाणि, अमोघा इति वा, अमोघाः—सूर्यविम्बस्याधः कदाचिदुपलभ्यमानशकटोद्धिसंस्थिता श्यामादिरेखा, एते चन्द्रपरिवेषादयः स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, प्राचीनवाता इति वा अपाचीनवाता इति वा यावत् शुद्धवाता इति वा, यावत्करणाद्दक्षिणवातादिपरिग्रहः, एतेऽसुखहेतवो विकृतरूपाः प्रतिषेध्याः नतु सामान्येन, पूर्वादिवातस्य तत्रापि सम्भवात्, ग्रामदाहा इति वा नकरदाहा इति यावत्संनिवेशदाहा इति, यावत्करणान्निगमदाहखेटदाहादिपरिग्रहः, दाहकृतश्च प्राणक्षय इति वा भूतक्षय इति वा कुलक्षय इति वा, एते स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, तथा चाह भगवान्—गौतम! नायमर्थः समर्थः, केषाञ्चिदनर्थहेतुतया केषाञ्चित्स्वरूपतश्च तत्र तेषामसम्भवात् ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु डिम्बानीति वा, डिम्बानि—स्वदेशोत्था विप्लवाः, डमराणीति वा, डमराणि—परराजकृता उपद्रवाः, कलहा इति वा, कलहा—वाग्युद्धानि, वोला इति वा, बोलः—आर्त्तानां बहूनां कलकलपूर्वको मेलापकः, क्षार इति वा, क्षारः—परस्परं मात्सर्यं, वैराणीति वा, वैरं—परस्परमसहनतया हिंस्यहिंसकभावाध्यवसायः, महायुद्धानीति वा, महायुद्धं—परस्परं मार्यमाणमारकतया युद्धं, महासङ्ग्रामा इति वा, महासन्नाहा इति वा, महासङ्ग्रामश्रेटिककोणिकवत्, महासन्नाहो—बृहत्पुरुषाणामपि बहूनां यः सन्नाहः, महापुरुषनिपतनानीति वा, प्रतीतं, महाशस्त्रनिपतनानीति वा, महाशस्त्रनिपतनं—यन्नागवाणादीनां दिव्यास्त्राणां प्रक्षेपणं, नागवाणादयो हि वाणा महाशस्त्राणि, तेषामद्भुतविचित्रशक्तिकत्वात्, तथाहि नागवाणा धनुष्यारोपिता वाणाकारा मुक्ताश्च सन्तो जाज्वल्यमानासद्योल्कादण्डरूपास्ततः परशरीरे सङ्क्रान्ता नागमूर्तीभूय पाशत्वमुपगच्छन्ति, तामसवाणाश्च पर्यन्ते सकलसङ्ग्रामभूमिव्यापिमहान्धतमसरूपतया परिणमन्ते, उक्तञ्च—“चित्रं श्रेणिक! ते वाणा, भवन्ति धनुराश्रिताः। उल्कारूपाश्च गच्छन्तः, शरीरे नागमूर्त्तयः ॥ १ ॥ क्षणं वाणाः क्षणं दण्डाः, क्षणं पाशत्वमागताः।

आकरा ह्रस्वभेदास्ते, यथाचिन्तितमूर्त्तयः ॥ २ ॥” इत्यादि, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतडिम्बडमरकलहबोलक्षारवैरास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ ‘अत्थि णं भंते’ इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु दुर्भूतानीति वा, दुर्भूतं—अशिवं, कुलरोगा इति वा मण्डलरोगा इति वा शिरोवेदनेति वा अक्षिवेदनेति वा कर्णवेदनेति वा नखवेदनेति वा दन्तवेदनेति वा काश इति वा श्वास इति वा शोष इति वा ज्वर इति वा दाह इति वा कच्छूरिति वा खसर इति वा कुष्ठमिति वा अर्श इति वा अजीर्णमिति वा भगन्दर इति वा इन्द्रग्रह इति वा स्कन्धग्रह इति वा कुमारग्रह इति वा नागग्रह इति वा यक्षग्रह इति वा भूतग्रह इति वा धनुर्ग्रह इति वा उद्वेग इति वा एकाहिका इति वा द्व्याहिका इति वा त्र्याहिका इति वा चतुर्थका इति वा हृदयशूलानीति वा मस्तकशूलानीति वा पार्श्वशूलानीति वा कुक्षिशूलानीति वा योनिशूलानीति वा ग्राममारिरिति वा नकरमारिरिति वा निगममारिरिति वा यावत्सन्निवेशमारिरिति वा, यावत्करणात् खेडकर्बटादिपरिग्रहः, मारिकृतप्राणिक्षय इति वा जनक्षय इति वा धनक्षय इति वा कुलक्षय इति वा व्यसनभूतमनार्यंतेति वा?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतरोगातङ्कास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ ‘तेसि ण’ मित्यादि, तेषामुत्तरकुरुवास्तव्यानां भदन्त! मनुष्याणां कियन्तं कालं स्थितिः—अवस्थानं प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, तत्र न ज्ञायते कियता देशेनोनानि? तत आह—पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागेनोनानि, उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि ॥ ‘ते णं भंते’ इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या भदन्त! मनुजाः कालमासे ‘कालं’ मरणं कृत्वा क्व गच्छन्ति?, एतदेव व्याचष्टे—कोत्पद्यन्ते? इति, भगवानाह—गौतम! ते मनुजाः षण्मासावशेषायुषः कृतपरभवायुर्बन्धाः स्वकाले युगलं प्रसूवते, प्रसूय एकोनपञ्चाशतं रात्रिन्दिवानि तद् युगलमनुपालयन्ति, अनुपाल्य काशित्वा क्षुत्वा जृम्भयित्वा

'अक्लिष्टाः' स्वशरीरोत्थक्लेशरहिताः 'अव्यथिताः' परेणानापादितदुःखाः 'अपरितापिताः' स्वतः परतो वाऽनुपजातकायमनःपरितापाः कालमासे कालं कृत्वा 'देवलोकेषु' भवनपत्याद्याश्रयेपूत्पद्यन्ते, 'देवलोगपरिग्गहिया ण'मिति देवलोको-भवनपत्याद्याश्रयरूपस्तथाक्षेत्रस्वाभाव्यतस्तद्योग्यायुर्वन्धनेन परिगृहीतो यैस्ते देवलोकपरिगृहीताः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, णमिति वाक्यालङ्कारे, ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त! 'कतिविधाः' जातिभेदेन कतिप्रकारा मनुष्याः 'अनुसजन्ति?' सन्तानेनानुवर्त्तन्ते, भगवानाह-गौतम! षड्विधा मनुजा अनुसजन्ति, तद्यथा-पद्मगन्धा इत्यादि, जातिवाचका इमे शब्दाः। अत्र विनेयजनानुग्रहायोत्तरकुरुविषयसूत्रसङ्कलनार्थं सङ्ग्रहणिगाथात्रयमाह-"उसुजीवाधणुपट्ठं भूमी गुम्मा य हेरुउद्दाला। तिलगलयावणराई रुक्खा मणुया य आहारे ॥ १ ॥ गेहा गामा य असी हिरण्ण राया य दास माया य। अरिवेरिए य मित्ते विवाहमहनट्टसगडा य ॥ २ ॥ आसा गावो सीहा साली खाणू य गड्डदंसाही। गहजुद्धरोगठिइ उवट्टणा य अणुसज्जणा चेव ॥ ३ ॥" अस्य व्याख्या-प्रथममुत्तरकुरुविषयमिषुजीवाधनुःपृष्ठप्रतिपादकं सूत्रं, तदनन्तरं भूमिरिति भूमिविषयं सूत्रं, ततो 'गुम्मा' इति गुल्मविषयं, तदनन्तरं हेरुतालवनविषयं, ततः 'उद्दाला' इति उद्दालादिविषयं, तदनन्तरं 'तिलग' इति तिलकपदोपलक्षितं, ततो लताविषयं, तदनन्तरं वनराजीविषयं, ततः 'रुक्खा' इति दशविधकल्पपादपविषया दश सूत्रदण्डकाः, 'मणुया य' इति त्रयो मनुष्यविषयाः सूत्रदण्डकास्तद्यथा-आद्यः पुरुषविषयो द्वितीयः स्त्रीविषयस्तृतीयः सामान्यत उभयविषय इति, ततः 'आहारे' इति आहारविषयः, तदनन्तरं 'गेहा' इति गृहविषयौ द्वौ दण्डकौ, आद्यो गृहाकारवृक्षाभिधायी अपरो गेहाद्यभावविषय इति, ततः 'गामा' इति ग्रामाद्यभावः, तदनन्तरमसीति अस्याद्यभावविषयः, ततो हिरण्यादिविषयः, तद-

नन्तरं राजाद्यभावविषयः, ततो दासाद्यभावविषयः, ततो मात्रादिविषयः, तदनन्तरमरिवैरिप्रभृतिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं मित्राद्यभावविषयः, तदनन्तरं विवाहपदोपलक्षितंस्तत्प्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं महप्रतिषेधविषयः, ततो नृत्यपदोपलक्षितः प्रेक्षाप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं शकटादिप्रतिषेधविषयः, ततोऽश्वादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं स्त्रीगव्यादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः, ततः सिंहादिश्वापदविषयः, तदनन्तरं शाल्याद्युपभोगप्रतिषेधविषयः, ततः स्थाण्वादिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं गर्त्तादिप्रतिषेधविषयः, ततो दंशाद्यभावविषयः, ततोऽह्याादिविषयः, तदनन्तरं 'गह' इति महदण्डादिविषयः, ततः 'जुज्झ' इति युद्धपदोपलक्षितो डिम्बादिप्रतिषेधविषयः सूत्रदण्डकः, ततो रोग इति रोगपदोपलक्षितो दुर्भूतादिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं स्थितिसूत्रं, ततोऽनुषजनसूत्रमिति ॥ सम्प्रत्युत्तरकुरुभावियमकपर्वतवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए कुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पन्नत्ता?, गोयमा! नीलवंतस्स वासधरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते चत्तारि य सत्तभागे जोयणस्स अबाधाए सीताए महाणईए (पुव्वपच्छिमेणं) उभओ कूले, इत्थ णं उत्तर कुराए जमगा णामं दुवे पव्वता पण्णत्ता एगमेगं जोयणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसताणि उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं एगं च बावट्ठिं जोयणसतं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं मज्झे दो जोयणसहस्साइं तिन्नि य बावत्तरे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं

पन्नत्ते उवरिं पन्नरसं एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते, मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वकणगमया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता, वण्णओ दोण्हवि, तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते वण्णओ जाव आसयंति० ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकत्तीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसिता वण्णओ भूमिभागा उल्लोता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ वरसीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचति जमगा पव्वता? २, गोयमा! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहुइओ खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ जाव बिलपंतिताओ, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं २ जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं, जमगा य एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाण पव्वयाणं जमगाण य रायधाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवचं जाव पालेमाणा विहरंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं० जमगपव्वया २, अदुत्तरं च णं गोयमा! जाव णिचा

॥ कहि णं भंते! जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीइवतित्ता अण्णंमि जंबूदीवे २ बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्स जहा विजयस्स जाव महिड्ढिया जमगा देवा जमगा देवा ॥ (सू० १४८)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ?, भगवानाह—गौतम! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तात्—चरमरूपात्पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुर्स्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्तभागान् अबाधया कृत्वा—अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, अत्रान्तरे शीताया महानद्याः 'पूर्वपश्चिमेन' पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोः 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—एकः पूर्वकूले एकः पश्चिमकूले, प्रत्येकं चैकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन—अवगाहेन, मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामविशेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहनाभावात्, मूले एकयोजनसहस्रं विष्कम्भतः १०००, मध्येऽर्द्धाष्टमानि योजनशतानि ७५०, उपरि पञ्च योजनशतानि ५००, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टं—द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ३१६२, मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्ततानि—द्वासप्तत्यधिकानि २३७२ किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ, उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्च चैकाशीतानि—एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये सङ्क्षिप्तौ उपरि च तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ, 'सव्वकणगमया' इति सर्वात्मना कनकमयौ 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, तौ च प्रत्येकं

प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येकं २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ, पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरिपद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णकवद् वक्तव्यः ॥ 'तेसि णं जमगपव्वयाण'मित्यादि, यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, भूमिभागवर्णनं 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावद् 'वाणमंतरा देवाय देवीओ य आसयंति सयंति जाव पच्चणुभवमाणा विहरंति' ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टिर्योजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशद् योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया इवेत्यादि यावत् पडिरूवा' इति प्रासादावतंसकवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णनं दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यं, नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने, बाहल्येनैकं योजनं, शेषं तथैव । 'तेसि णं सिंहासणाण'मित्यादि, तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकम् 'अवरुत्तरेणं'ति अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थः उत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां च दिशि, अत एतासु तिसृषु दिक्षु 'यमकयोः' यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, एवमनेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राग्विजयदेवस्य ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपर्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि इत्याद्यपि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'सयसहस्सपत्तगा' इति पदम् ॥ सम्प्रति नामनिबन्धनं पिपृच्छिषुरिदमाह—अथ 'केनार्थेन' केन कारणेन एवमुच्यते—यमकपर्वतौ यमकपर्वतौ ? इति, भगवानाह—गौतम ! यमकपर्वतयोः णमिति वाक्यालङ्कारे क्षुल्लकक्षुल्लिकासु वापीपुष्करिणीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहूनि यावत्सहस्रपत्राणि 'यमकप्रभाणि' यमका नाम—शकुनिविशेषास्तत्प्रभानि—तदाकाराणि, एतदेव व्याचष्टे—यमकवर्णाभानि

—यमकवर्णसदृशवर्णानीत्यर्थः, 'यमकौ च' यमकनामानौ च तत्र—तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ च तत्र प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तर-मध्यमबाह्यरूपाणां यथासङ्ख्यमष्टदशद्वादशदेवसहस्रसङ्ख्याकानां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्ष-देवसहस्राणां 'जमगपव्वयाणं जमगाण य रायहाणीण'मिति स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्य स्वस्य यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयमिकाभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः, यावत्करणात् 'पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्त'मित्यादिपरिग्रहः, ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगाद्यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति यमिकाभिधराजधानीस्थानं पृच्छति—कहि णं भंते' इत्यादि, क भदन्त! यमकयोर्देवयोः सम्बन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते ?, भगवानाह—गौतम! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन्नसङ्ख्येयतमे जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राणि अवगाह्यात्रान्तरे यमकयोर्देवयोः सम्बन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते, ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृशे वक्तव्ये । सम्प्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहेणामं दहे पण्णत्ते?, गोयमा! जमगपव्वयाणं दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते चत्तारि सत्तभागा जोयणस्स अबाहाए सीताए महाणईए बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहे नामं दहे पन्नत्ते, उत्तरदक्खिणायए पाईणपडीणविच्छिन्ने एगं जोयणसहस्सं आयामेणं पंच जोयणसताइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रयतामत-

कूले चउक्कोणे समतीरे जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहि य पउमवरवेइयाहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ ॥ णीलवंतदहस्स णं दहस्स तत्थ २ जाव बहवे तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ भाणियव्वो जाव तोरणत्ति ॥ तस्स णं नीलवंतदहस्स णं दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पउमे पण्णत्ते, जोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिते जलंतातो सातिरेगाइं दसद्धजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ॥ तस्स णं पउमस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामता मूला रिट्ठामते कंदे वेरुलियामए नाले वेरुलियामता बाहिरपत्ता जंबूणयमया अब्भिंतरपत्ता तवणिज्जमया केसरा कणगामई कण्णिया नाणामणिमया पुक्खरत्थिभुता ॥ सा णं कण्णिया अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं सव्वप्पणा कणगमई अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं कण्णियाए उवरिं बहुसमरमणिज्जे देसभाए पण्णत्ते जाव मणीहिं ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसंनिविट्ठं जाव वण्णओ, तस्स णं भवणस्स तिदिसिं ततो दारा पण्णत्ता पुरत्थिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं

अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा जाव वणमालाउत्ति ॥ तस्स णं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा नामए—आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीणं वण्णओ ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं मणिपेढिया पण्णत्ता, पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, देवसयणिज्जस्स वण्णओ ॥ से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसतेणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्ताणं पउमाणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते ॥ ते णं पउमा अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं कोसं ऊसिया जलंताओ साइरेगाइं ते दस जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं ॥ तेसि णं पउमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया मूला जाव णाणामणिमया पुक्खरत्थिभुगा ॥ ताओ णं कण्णियाओ कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं स० परि० अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं कण्णियाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव मणीणं वण्णो गंधो फासो ॥ तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं नीलवंतद्दहस्स कुमारस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवं (एतेणं) सव्वो परिवारो

नवरि पउमाणं भाणितव्वो ॥ से णं पउमे अण्णेहिं तिहिं पउमवरपरिक्खेवेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, तंजहा—अब्भिंतरेणं मज्झिमेणं बाहिरएणं, अब्भिंतरएणं पउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीओ प०, मज्झिमए णं पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पं० बाहिरए णं पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवामेव सपुव्वावरेणं एगा पउमकोडी वीसं च पउमसतसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—णीलवंतद्दहे दहे?, गोयमा! णीलवंतद्दहे णं तत्थ तत्थ जाइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं नीलवंतप्पभातिं नीलवंतद्दहकुमारे य० सो चेव गमो जाव नीलवंतद्दहे २ ॥ (सू० १४९)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवद्ह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! यमकपर्वतयोर्दक्षिणात्यचरमान्तादर्वाग् दक्षिणाभिमुखमष्टौ 'चतुस्त्रिंशानि' चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति गम्यते अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, अत्रान्तरे शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'एत्थ णं'ति एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवद्ह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, स च किंविशिष्टः? इत्याह—उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः, उत्तरदक्षिणाभ्यामवयवाभ्यामायत उत्तरदक्षिणायतः, प्राचीनापाचीनाभ्यामवयवाभ्या विस्तीर्णः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः, एकं योजनसहस्रमायामेन, पञ्च योजनशतानि विष्कम्भतः, दश योजनान्युद्वेधेन—उण्डत्वेन, 'अच्छः' स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशः 'श्लक्ष्णः' श्लक्ष्णपुद्गलनिर्मापितबहिःप्रदेशः, तथा रजतमयं—रूप्यमयं कूलं यस्यासौ रजतमयकूलः, इत्यादि विशेषणकदम्बकं जगत्युपरिवाप्यादिवत्तावद्वक्तव्यं यावदिदं

पर्यन्तपदं 'पडिहत्थभमंतमच्छकच्छपअणेगसउणमिहुणपरियरिए' इति । 'उभओपासे' इत्यादि, स च नीलवन्नामा ह्रदः शीताया महानद्या उभयोः पार्श्वयोर्वहिर्विनिर्गतः, स तथाभूतः सन्नुभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्याम्, एकस्मिन् पार्श्वे एकया पद्मवरवेदिकया द्वितीये पार्श्वे द्वितीयया पद्मवरवेदिकयेत्यर्थः, एवं द्वाभ्यां वनषण्डाभ्यां 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णकश्च प्राग्वत् ॥ 'नीलवंतदहस्स णं दहस्स तत्थ तत्थे'त्यादि, नीलवद्ह्रदस्य णमिति वाक्यालङ्कारे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपकाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, वर्णकस्तेषां प्राग्वद्वक्तव्यः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, 'ते णं तोरणा' इत्यादि तोरणवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'बहवो सयसहस्सपत्तहत्थगा' इति पदम् ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य नीलवन्नाम्नो ह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तं योजनमायामतो विष्कम्भतश्चार्द्धयोजनं बाहल्येन दश योजनानि 'उद्वेधेन' उण्डत्वेन जलपर्यन्ताद् द्वौ क्रोशौ उच्छ्रितं सर्वाग्रेण सातिरेकाणि दश योजनशतानि प्रज्ञप्तानि ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य पद्मस्य 'अयं' वक्ष्यमाणः 'एतद्रूपः' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—वज्रमयं मूलं रिष्टरत्नमयः कन्दो वैडूर्यरत्नमयो नालः, वैडूर्यरत्नमयानि बाह्यपत्राणि, जाम्बूनदमयान्यभ्यन्तरपत्राणि, तपनीयमयानि केसराणि, कनकमयी पुष्करकर्णिका, नानामणिमयी पुष्करस्थिबुका ॥ 'सा णं कण्णिया अद्ध'मित्यादि, सा कर्णिकाऽर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहल्यतः सर्वात्मना कनकमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा, यावत्करणात् 'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादि परिग्रहः ॥ 'तीसे णं कण्णियाए' इत्यादि, तस्याः कर्णिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तद्वर्णनं च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वे'त्यादिना प्र-

न्थेन विजयराजधान्या उपकारिकालयनस्येव तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यादि तद्वर्णनं विजयराजधानीगतसुधर्मसभाया इव तावद्वक्तव्यं यावदिदं सूत्रं 'दिव्वतुडियसद्दसंपणदिते' इति, तदनन्तरं सूत्रमाह—'सव्वरयणामए' इत्यादि सर्वात्मना रत्नमयम् अच्छं यावत्प्रतिरूपं, यावत्करणात् 'सण्हे लण्हे घट्टे मट्टे' इत्यादिपरिग्रहः। तस्स णमित्यादि तस्य भवनस्य 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्याम् ॥ 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि विष्कम्भेन, तावदेव—अर्द्धतृतीयान्येव धनुःशतानीति भावः प्रवेशेन। 'सेयावरकणगथूभिया' इत्यादि द्वारवर्णनं विजयद्वारस्येव तावदविशेषेणावसातव्यं यावत् 'वणमालाओ' इति वनमालावक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य भवनस्य उल्लोचोऽन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागो मणीनां वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा इति प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपर्यत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, शयनीयवर्णकः प्राग्वत्। 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य भवनस्य उपर्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानीत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति ॥ 'से ण'मित्यादि, तत्पद्ममन्येनाष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां—तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धं तदर्द्धं तच्च तद् उच्चत्वप्रमाणं च तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं तत् मात्रा येषां ते तानि तथा तेषां, 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं। तद-

द्वौच्चत्वप्रमाणमेव तेषां भावयति—'ते णं पउमा' इत्यादि, तानि पद्मानि प्रत्येकमर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहल्येन दश योजनशतानि उद्वेधेन क्रोशमेकं जलपर्यन्तादुच्छ्रितं सातिरेकाणि दश योजनशतानि सर्वाग्रेण ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां पद्मानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, वज्रमयानि मूलानि रिष्टरत्नमयाः कन्दाः वैडूर्यरत्नमया नालाः तपनीयमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि अभ्यन्तरपत्राणि तपनीयमयानि केशराणि कनकमय्यः कर्णिकाः नानामणिमयाः पुष्करस्थिभुगाः ॥ 'ताओ णं कण्णियाओ' इत्यादि, ताः कर्णिकाः क्रोशमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धक्रोशं बाहल्येन सर्वात्मना कनकमय्यः 'अच्छाओ जाव पडिरूवाओ' इति प्राग्वत् ॥ 'तासि णं कण्णियाण'मित्यादि, तासां कर्णिकानामुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य वर्णकः पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलभूतपद्मस्य 'अपरोत्तरेण' अपरोत्तरस्यां, एवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां, सर्वसङ्कलनया तिसृषु दिक्षु अत्र नीलवतो नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । 'एतेण'मित्यादि, एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन यथा विजयस्य सिंहासनपरिवारोऽभिहितस्तथेहापि पद्मपरिवारो वक्तव्यः, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चत्वारि महापद्मानि, दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ पद्मसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश पद्मसहस्राणि, दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश पद्मसहस्राणि, पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त महापद्मानि प्रज्ञप्तानि, तदनन्तरं तस्य द्वितीयस्य पद्मपरिवेषस्य पृष्ठतश्चतसृषु दिक्षु षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—चत्वारि पद्मसहस्राणि पूर्वस्यां दिशि चत्वारि पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां चत्वारि पद्मसहस्राणि पश्चिमायां चत्वारि पद्मसह-

स्राण्युत्तरस्यामिति । तदेवं मूलपद्मस्य त्रयः पद्मपरिक्षेपा अभूवन्, अन्येऽपि च त्रयो विद्यन्त इति तत्प्रतिपादनार्थमाह—'से णं पउमे' इत्यादि, तत् पद्ममन्यैरनन्तरोक्तपरिक्षेपत्रिकव्यतिरिक्तैस्त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं, तद्यथा—अभ्यन्तरेण मध्यमेन बाह्येन च, तत्राभ्यन्तरे पद्मपरिक्षेपे सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशत्पद्मशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ३२०००००, मध्ये पद्मपरिक्षेपे चत्वारिंशत् शतसहस्राणि ४००००००, बाह्ये पद्मपरिक्षेपेऽष्टाचत्वारिंशत्पद्मशतसहस्राणि ४८००००० प्रज्ञप्तानि । 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण 'सपुव्वावरेणं'ति सह पूर्वं यस्य येन वा सपूर्वं सपूर्वं च तद् अपरं च सपूर्वापरं तेन, पूर्वापरसमुदायेनेत्यर्थः, एका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, एतेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह, कोट्यादिका च सङ्ख्या स्वयं मीलनीया, द्वात्रिंशदादिशतसहस्राणामेकत्र मीलने यथोक्तसङ्ख्याया अवश्यं भावात् ॥ सम्प्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केनार्थेनैवमुच्यते नीलवद्ध्रदो नीलवद्ध्रदः ? इति, भगवानाह—गौतम ! नीलवद्ध्रदे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि 'उत्पलानि' पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि नीलवद्ध्रदप्रभाणि—नीलवन्नाम ह्रदाकाराणि 'नीलवद्वर्णानि' नीलवन्नामवर्षधरपर्वतस्तद्वर्णानि नीलानीति भावः, नीलवन्नामा च नागकुमारेन्द्रो नागकुमारराजो महर्द्धिक इत्यादि यमकदेववन्निरवशेषं वक्तव्यं यावद्विहरति, ततो यस्मात्तद्वतानि पद्मानि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नामा च तदधिपतिर्देवस्ततस्तद्योगादसौ नीलवन्नामा ह्रदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ 'कहि णं भंते ! नीलवंतदहस्से'त्यादि राजधानीविषयं सूत्रं समस्तमपि प्राग्वत् ॥

नीलवंतदहस्स णं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं दस जोयणाइं अबाधाए एत्थ णं दस दस कंचणगप-

व्वता पण्णत्ता, ते णं कंचणगपव्वता एगमेगं जोयणसतं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं २ जोयणाइं उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे पण्णत्तरिं जोयणाइं [आयाम]विक्खंभेणं उवरिं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले तिण्णि सोले जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं मज्झे दोन्नि सत्ततीसे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं उवरिं एगं अट्ठावण्णं जोयणसतं किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वकंचणमया० अच्छा, पत्तेयं २ पउमवरवेतिया० पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता ॥ तेसि णं कंचणगपव्वताणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे जाव आसयंति० तेसि णं० पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा सड्ढबावट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं मणिपेढिया दोजोयणिया सीहासणं सपरिवारा ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—कंचणगपव्वता कंचणगपव्वता?, गोयमा! कंचणगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ वावीसु उप्पलाइं जाव कंचणगवण्णाभातिं कंचणगा जाव देवा महिड्ढीया जाव विहरंति, उत्तरेणं कंचणगाणं कंचणियाओ रायहाणीओ अण्णंमि जंबू० तहेव सव्वं भाणितव्वं ॥ कहि णं भंते! उत्तराए कुराए उत्तरकुरुद्दहे पण्णत्ते?, गोयमा! नीलवंतद्दहस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते, एवं सो चेव गमो णेतव्वो जो णीलवंतद्दहस्स सव्वेसिं सरिसको दहसरिनामा य देवा, सव्वेसिं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं

कंचणगपव्वता दस २ एकप्पमाणा उत्तरेणं रायहाणीओ अण्णंमि जंबुद्दीवे। कहि णं भंते! चंदद्दहे एरावणद्दहे मालवंतद्दहे एवं एक्केक्को णेयव्वो॥ (सू० १५०)

'नीलवंतदहस्स ण'मित्यादि, नीलवतो ह्रदस्य 'पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं'ति पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं दश दश योजनान्यबाधया कृत्वेति गम्यते, अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, दश दश काञ्चनपर्वता दक्षिणोत्तरश्रेण्या प्रज्ञप्ताः, ते च काञ्चनकाः पर्वताः प्रत्येकमेकं योजनशतमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चविंशतिर्योजनान्युद्वेधेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये पञ्चसप्ततिर्योजनानि विष्कम्भेन उपरि पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन, मूले त्रीणि पोडशोत्तराणि योजनशतानि ३१६ किञ्चिद्विशेपाधिकानि परिक्षेपेण मध्ये द्वे सप्तविंशे योजनशते २२७ किञ्चिद्विशेपोने परिक्षेपेण उपर्येकमष्टापञ्चाशं योजनशतं १५८ किञ्चिद्विशेपोनं परिक्षेपेण, अत एव मूले विस्तीर्णा मध्ये सङ्क्षिप्ता उपरि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना कनकमयाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्। तथा प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनपण्डपरिक्षिप्ताश्च, पद्मवरवेदिकावनपण्डवर्णनं प्राग्वत्॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां काञ्चनपर्वतानामुपरि बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः, तेषां च वर्णनं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनमिति॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, प्रासादवक्तव्यता यमकपर्वतोपरि प्रासादावतंसकयोरिव निरवशेषा वक्तव्या यावत्सपरिवारसिंहासनवक्तव्यतापरिसमाप्तिः॥ सम्प्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेण'मित्यादि प्राग्वन्नवरं यस्मादुत्पलादीनि काञ्चनप्रभानि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति ततः काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति, तथा चाह—'से एएणट्ठे-

ण'मित्यादि। काञ्चनिकाश्च राजधान्यो यमिकाराजधानीवद् वक्तव्याः ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु उत्तरकुरुह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! नीलवतो ह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमपर्यन्तादष्टौ 'चतुस्त्रिंशानि' चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च योजनस्य सप्तभागान् अबाधया कृत्वेति गम्यते शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्रोत्तरकुरुनामा ह्रदः प्रज्ञप्तः, यथैव प्राग् नीलवतो ह्रदस्यायामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनषण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यतोक्ता तथैवेहाप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या ॥ नामकरणं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि प्राग्वन्नवरमुत्पलादीनि यस्माद् 'उत्तरकुरुह्रदप्रभाणि' उत्तरकुरुह्रदाकाराणि तेन तानि तदाकारयोगात् उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति तेन तद्योगाद् ह्रदोऽप्युत्तरकुरुः, न चैवमितरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, उभयेषामपि नाम्नामनादिकालं तथा प्रवृत्तेः, एवमन्यत्रापि निर्दोषता भावनीया, उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति, तद्वक्तव्यता च नीलवन्नागकुमारवद्वक्तव्या, ततोऽप्यसावुत्तरकुरुरिति, राजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् ॥ चन्द्रह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! उत्तरकुरुह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' अस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु चन्द्रह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, अस्यापि नीलवद्ह्रदस्येवायामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनषण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यता वक्तव्या, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव, नवरं यस्मादुत्पलादीनि 'चन्द्रह्रदप्रभाणि' चन्द्रह्रदाकाराणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रनामा च देवस्तत्र परिवसति तस्माच्चन्द्रह्रदाभोत्पलादियो-

गाञ्चन्द्रदेवस्वामिकत्वाञ्च चन्द्रह्रद इति, चन्द्राराजधानीवक्तव्यता काञ्चनपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् ॥ साम्प्रतमैरावतह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, निर्वचनमाह—गौतम! चन्द्रह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे ऐरावतह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, अस्यापि नीलवन्नाम्नो ह्रदस्येवायामविष्कम्भादिवक्तव्यता परिक्षेपपर्यवसाना वक्तव्या, अन्वर्थसूत्रमपि तथैव; नवरं यस्मादुत्पलादीनि ऐरावतह्रदप्रभाणि, ऐरावतो नाम हस्ती तद्वर्णानि च ऐरावतश्च नामा तत्र देवः परिवसति तेन ऐरावतह्रद इति, ऐरावताराजधानी विजयराजधानीवत् काञ्चनकपर्वतवक्तव्यतापर्यवसाना तथैव ॥ अधुना माल्यवन्नामह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते' इत्यादि सुगमं, भगवानाह—गौतम! ऐरावतह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु माल्यवन्नामा ह्रदः प्रज्ञप्तः, स च नीलवद्ह्रदवदायामविष्कम्भादिना तावद्वक्तव्यो यावत्पद्मवक्तव्यतापरिसमाप्तिः, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव यस्मादुत्पलादीनि 'माल्यवद्ह्रदप्रभाणि' माल्यवद्ह्रदाकाराणि, माल्यवन्नामा वक्षस्कारपर्वतस्तद्वर्णानि—तद्वर्णाभानि माल्यवन्नामा च तत्र देवः परिवसति तेन माल्यवद्ह्रद इति, माल्यवतीराजधानी विजयाराजधानीवद् वक्तव्या काञ्चनकपर्वतवक्तव्यताऽवसाना प्राग्वत् ॥ सम्प्रति जम्बूवृक्षवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए २ जंबुसुदंसणाए जंबुपेढे नामं पेढे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं नीलवंतस्स वासधरपव्वतस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खा-

रपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं गंधमादणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीताए महाणदीए पुरत्थिमिल्ले कूले एत्थ णं उत्तरकुरुकुराए जंबूपेढे नाम पेढे पंचजोयणसताइं आयामविक्खंभेणं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं बहुमज्झदेसभाए बारस जोयणाइं बाहल्लेणं तदाणंतरं च णं माताए २ पदेसे परिहाणीए सव्वेसु चरमंतेसु दो कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते सव्वजंबूणतामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खेत्ते वण्णओ दोण्हवि । तस्स णं जंबुपेढस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता तं चेव जाव तोरणा जाव चत्तारि छत्ता ॥ तस्स णं जंबूपेढस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहाणामए आलिंगपुक्खरेतिवा जाव मणि० ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं मणिमती अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं महं जंबूसुदंसणा पण्णत्ता अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणातिं खंधे अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं छ जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता, वइरामयमूला रयतसुपतिट्ठियविडिमा, एवं चेतियरुक्खवण्णओ जाव सव्वो रिट्ठामयविउलकंदा

वेरुलियरुइरक्खंधा सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला नाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरधरा विचित्तमणिरयणसुरहिकुसुमा फलभारनमियसाला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया अहियं मणोनिव्वुइकरा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ (सू० १५१)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु जम्ब्वाः सुदर्शनायाः, जम्ब्वा हि द्वितीयं नाम सुदर्शनेति तत उक्तं सुदर्शनाया इति, जम्ब्वाः सम्बन्धि पीठं जम्बूपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! मन्दरस्य पर्वतस्य 'उत्तरपूर्वेण' उत्तरपूर्वस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य 'दक्षिणेन' दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य 'पूर्वेण' पूर्वस्यां दिशि माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायां शीताया महानद्याः पूर्वस्यामुत्तरकुरुपूर्वार्द्धस्य बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु जम्ब्वाः सुदर्शनापरनामिकाया जम्बूपीठं प्रज्ञप्तं, पञ्च योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यामेकं योजनसहस्रं पञ्चैकाशीतानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, बहुमध्यदेशभागे द्वादश योजनानि बाहल्येन, तदनन्तरं च मात्रया २ परिहीयमानं चरमपर्यन्तेषु द्वौ क्रोशौ बाहल्येन सर्वात्मना जाम्बूनदमयम्, 'अच्छे' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, उक्तञ्च—"जंबूनयामयं जंबूपीढमुत्तरकुराएँ पुव्वद्धे। सीयाए पुव्वद्धे पंचसयायामविक्खंभं ॥ १ ॥ पन्नरसेक्कासीए साहीए परिहिमज्झबाहल्लं। जोयणदुछक्कमसो हायंतंतेसु दो कोसा ॥ २ ॥" 'से णं'मित्यादि 'तत्' जम्बूपीठमेकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन परिक्षिप्तं, वेदिकावनषण्डयोर्वर्णकः प्राग्वद्वक्तव्यः। तस्य च जम्बूपीठस्य चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि

एकैकत्रिसोपानप्रतिरूपकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकं पश्चिमायामेकमुत्तरस्याम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—वज्रमया नेमा भूमेरूर्द्ध्वमुद्गच्छन्तः प्रदेशा इत्यादि जगत्युपरिवाप्यादित्रिसोपानवत्तावद्वक्तव्यं यावन्नानामणिमयान्यवलम्बनानि अवलम्बनवाहाश्च, तोरणान्यपि प्राग्वद्वाच्यानि ॥ 'तस्स णं जंबूपेढस्स ण'मित्यादि, जम्बूपीठस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, स च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि विजयाराजधान्युपकारिकालयनवत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यतापरिसमाप्तिः, यावच्च बहवो वानमन्तरा देवा देव्यश्चासते शेरते यावद् विहरन्तीति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि बहुमध्यदेशभागे, अत्र महती जम्बूः सुदर्शना प्रज्ञप्ता, अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धयोजनमुद्वेधेन, द्वे योजने स्कन्धः षड् योजनानि विडिमा—ऊर्द्ध्व विनिर्गता शाखा बहुमध्यदेशभागे अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, सातिरेकान्यष्टौ योजनानि 'सर्वाग्रेण' उद्वेधोच्चैस्त्वपरिमाणमीलनेन, तस्याश्च जम्ब्वा वज्रमयानि मूलानि यस्याः सा वज्रमयमूला 'रययसुपइट्ठियविडिमा' इति रजता—रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्व विनिर्गता यस्याः सा रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'रिट्ठामयविउलकंदा वेरुलियरुइलखंधा' रिष्ठमयो—रिष्ठरत्नमयः (विपुलः) कन्दो यस्याः सा रिष्ठरत्नमयकन्दा, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरो—दीप्यमानः स्कन्धो यस्याः सा वैडूर्यरुचिरस्कन्धा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयसमासः, 'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला' सुजातं—मूल-

द्रव्यशुद्धं वरं-प्रधानं यत् जातरूपं तदात्मकाः प्रथमका-मूलभूता विशालाः शालाः-शाखा यस्याः सा सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः 'नाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा' नानामणिरत्नानां-नानामणिरत्नात्मिका विविधा शाखाप्रशाखा यस्याः सा तथा तथा वैडूर्याणि-वैडूर्यरत्नमयानि पत्राणि यस्याः सा तथा तपनीयानि-तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि यस्याः सा तथा, ततः पदद्वय २ मीलनेन कर्म्मधारयः नानामणिरत्नविविधशाखाप्रशाखावैडूर्यपत्रतपनीयपत्रवृन्ताः, अपरे सौवर्णिक्यो मूलशाखाः प्रशाखा रजतमय्य इत्युचुः, 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरधरा' जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता-रक्तवर्णा मृदवो-मनोज्ञाः सुकुमाराः-सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला-ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः-प्रथमसुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुकसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः, कचित्पाठः—'जंबूनयरत्तमउयसुकुमालकोमलपल्लवंकुरग्गसिहरा' तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि-अकठिनानि सुकुमाराणि-अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि-मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुरा-यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च यस्याः सा तथा, अन्ये तु जम्बूनदमया अग्रप्रवाला अङ्कुरापरपर्याया राजता इत्याहुः, 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभारनमियसाला' विचित्रमणिरत्नानि-विचित्रमणिरत्नमयानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता-नामं ग्राहिताः शालाः-शाखा यस्याः सा तथा, उक्तञ्च—"मूला वइरमया से कंदो खंधो य रिट्ठवेरुलिओ। सोवण्णियसाहप्पसाह तह जायरूवा य ॥ १ ॥ विडिमा रययवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा य। पल्लव अग्गपवाला जंबूणयरायया तीसे ॥ २ ॥" 'रयणमयापुप्फफला' इति 'सच्छाया' इति सती-शोभना छाया यस्याः सा सच्छाया, तथा सती-शोभना प्रभा

यस्याः सा सत्प्रभा, अत एव सश्रीका सह उद्द्योतो यया मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् सोद्द्योता अधिकं—अतिशयेन मनोनिर्वृत्ति करी 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥

जंबूए णं सुदंसणाए चउद्दिसिं चत्तारि साला पण्णत्ता, तंजहा—पुरत्थिमेणं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं, तत्थणं जे से पुरत्थिमिल्ले साले एत्थ णं एगे महं भवणे पण्णत्ते एगं कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभ० वण्णओ जाव भवणस्स दारं तं चेव पमाणं पंचधणुसतातिं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं विक्खंभेणं जाव वणमालाओ भूमिभागा उल्लोया मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवसयणिज्जं भाणियव्वं ॥ तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले साले एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए पण्णत्ते, कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय० अंतो बहुसम० उल्लोता। तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं । तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले साले एत्थ णं पासायवडेंसए पण्णत्ते तं चेव पमाणं सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले साले एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए पण्णत्ते तं चेव पमाणं सीहासणं सपरिवारं । तत्थ णं जे से उवरिमविडिमे एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठे वण्णओ तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अड्ढाइज्जधणुसयवि-

क्खंभा मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवच्छंदओ पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगपंचधणुसउच्चत्ते। तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेधप्पमाणाणं, एवं सव्वा सिद्धायतणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव धूवकडुच्छुया उत्तिमागारा सोलसविधेहिं रयणेहिं उवेए चेव जंबू णं सुदंसणा मूले बारसहिं पउमवरवेदियाहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ताओ णं पउमवरवेतियाओ अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसताइं विक्खंभेणं वण्णओ॥ जंबू सुदंसणा अण्णेणं अट्ठसतेणं जंबूणं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता॥ ताओ णं जंबूओ चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं कोसं चोव्वेधेणं जोयणं खंधो कोसं विक्खंभेणं तिण्णि जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं चत्तारि जोयणाइं सव्वग्गेणं वइरामयमूला सो चेव चेतियरुक्खवण्णओ॥ जंबूए णं सुदंसणाए अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं अणाढियस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि जंबूसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, जंबूए सुदंसणाए पुरत्थिमेणं एत्थ णं अणाढियस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं चत्तारि जंबूओ पण्णत्ताओ, एवं परिवारो सव्वो णायव्वो जंबूए जाव आयरक्खाणं॥ जंबू णं सुदंसणा तिहिं जोयणसतेहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, तंजहा—पढमेणं दोच्चेणं तच्चेणं। जंबूए सुदंसणाए पुरत्थिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं एगे महं

भवणे पण्णत्ते, पुरत्थिमिल्ले भवणसरिसे भाणियव्वे जाव सयणिज्जं, एवं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं ॥ जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरत्थिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ता, तंजहा—पउमा पउमप्पभा चेव कुमुदा कुमुयप्पभा । ताओ णं णंदाओ पुक्खरिणीओ कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णिप्पंकाओ णीरयाओ जाव पडिरूवाओ वण्णओ भाणियव्वो जाव तोरणत्ति ॥ तासि णं णंदापुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं पासायवडेंसए पण्णत्ते कोसप्पमाणे अद्धकोसं विक्खंभो सो चेव सो वण्णओ जाव सीहासणं सपरिवारं । एवं दक्खिणपुरत्थिमेणवि पण्णासं जोयणा० चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ उप्पलगुम्मा नलिणा उप्पला उप्पलुज्जला तं चेव पमाणं तहेव पासायवडेंसगो तप्पमाणो । एवं दक्खिणपच्चत्थिमेणवि पण्णासं जोयणाणं परं—भिंगा भिंगणिभा चेव अंजणा कज्जलप्पभा, सेसं तं चेव । जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरत्थिमे पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तं०—सिरिकंता सिरिमहिया सिरिचंदा चेव तह य सिरिणिलया । तं चेव पमाणं तहेव पासायवडिंसओ ॥ जंबूए णं सुदंसणाए पुरत्थिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं पासायवडेंसगस्स दाहिणेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं

मूले बारस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं मूले सातिरेगाइं सत्ततीसं जोयणाइं परिक्खेवेणं मज्झे सातिरेगाइं पणुवीसं जोयणाइं परिक्खेवेणं उवरिं सातिरेगाइं बारस जोयणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अच्छे जाव पडिरूवे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते द्रोण्हवि वण्णओ ॥ तस्स णं कूडस्स उवरि बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव आसयंति० ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एगं सिद्धायतणं कोसप्पमाणं सव्वा सिद्धायतणवत्तव्वया । जंबूए णं सुदंसणाए पुरत्थिमस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपुरत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च । जंबूए णं सुदंसणाए दाहिणिल्लस्स भवण० पुरत्थिमेणं दाहिणपुरत्थिमस्स पासायवडेंसगस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते, दाहिणस्स भवणस्स परतो दाहिणपच्चत्थिमिल्लस्स पासायवडिंसगस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे जंबूतो पच्चत्थिमिल्लस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपच्चत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं एत्थ णं एगे महं कूडे प० तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च, जंबूए पच्चत्थिमभवणउत्तरेणं उत्तरपच्चत्थिमस्स पासायवडेंसगस्स दाहिणेणं एत्थ णं एगे महं

कूडे पण्णत्ते तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च । जंबूए उत्तरस्स भवणस्स पचत्थिमेणं उत्तरपचत्थिमस्स पासायवडेंगस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे कूडे पण्णत्ते, तं चेव, जंबूए उत्तरभवणस्स पुरत्थिमेणं उत्तरपुरत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पचत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते, तं चेव पमाणं तहेव सिद्धायतणं । जंबू णं सुदंसणा अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं लउएहिं जाव रायरुक्खेहिं हिंगुरुक्खेहिं जाव सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता । जंबूते णं सुदंसणाए उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थियसिरिवच्छ० किण्हा चामरज्झया जाव छत्तातिच्छत्ता ॥ जंबूए णं सुदंसणाए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता, तंजहा—सुदंसणा अमोहा य, सुप्पबुद्धा जसोधरा । विदेहजंबू सोमणसा, णियया णिच्चमंडिया ॥ १ ॥ सुभद्दा य विसाला य, सुजाया सुमणीतिया । सुदंसणाए जंबूए, नामधेज्जा दुवालस ॥ २ ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जंबूसुदंसणा?, गोयमा! जंबूते णं सुदंसणाते जंबूदीवाहिवती अणाढिते णामं देवे महिड्ढीए जाव पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जंबूदीवस्स जंबूए सुदंसणाए अणाढियाते य रायधाणीए जाव विहरंति । कहि णं भंते! अणाढियस्स जाव समत्ता वत्तव्वया रायधाणीए महिड्ढीए । अदुत्तरं च णं गोयमा! जंबुद्दीवे २ तत्थ तत्थ देसे तहिं २ बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जंबूवणसंडा णिच्चं कुसुमिया जाव सिरीए अतीव उवसोभे-

माणा २ चिट्ठंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—जंबुद्दीवे २, अदुत्तरं च णं गोयमा! जंबुद्दीवस्स सासते णामधेज्जे पण्णत्ते, जन्न कयावि णासि जाव णिच्चे ॥ (सू० १५२)

'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनायाश्चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि एकैकशाखाभावतश्चतस्रः शाखाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—एका पूर्वस्यामेका दक्षिणस्यामेका पश्चिमायामेकोत्तरस्यां, तत्र या सा पूर्वशाला, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देश. प्राकृतत्वात्, 'तस्स ण'मित्यादि, तस्या बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, तस्य वर्णको द्वारादिवक्तव्यता च प्रागुक्तमहापद्मवत्, तथा चाह—'पमाणाइया महापउमवत्तव्वया भाणियव्वा अहीणमइरित्ता जाव उप्पलहत्थगा' इति ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र या सा दक्षिणात्या शाखा तस्या बहुमध्यदेशभागे अत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, क्रोशमेकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया इवे'त्यादि तद्वर्णनमुपर्युल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं च प्राग्वत्, नवरमत्र मणिपीठिका पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन सिंहासनं च सपरिवारं वाच्यमिति, तस्य च प्रासादावतंसकस्योपरि बहून्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानीत्यादि तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति, यथा च दक्षिणस्यां शाखायां प्रासादावतंसक उक्तस्तथा पश्चिमायामुत्तरस्यामपि च प्रत्येकं वक्तव्यः, जम्ब्वाः सुदर्शनाया उपरि विडिमाया बहुमध्यदेशभागे सिद्धायतनं, तच्च पूर्वस्यां भवनमिव तावद्वक्तव्यं यावन्मणिपीठिकावर्णनं, तत ऊर्द्धमेवं वक्तव्यं—'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः, एवं पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां पञ्चधनुःशतानि सातिरेकाणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन सर्वात्मना रत्नमयः, अच्छ इत्यादि पूर्ववद् यावत्प्रतिरूप इति । 'तत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं

जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं सन्निक्खित्ताणं चिट्ठइ' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाणं सन्निक्खित्ताणं चिट्ठइ' इति पदं, 'सिद्धायतणस्स उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'सहस्सपत्तहत्थगा' इति, सर्वत्रापि च व्याख्याऽपि पूर्ववत् ॥ 'जंबू णं सुदंसणा' इत्यादि, जम्बूः सुदर्शना द्वादशभिः पद्मवरवेदिकाभिः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता । वेदिकावर्णनं प्राग्वत् । 'जंबू ण'मित्यादि, जम्बूः सुदर्शना अन्येन जम्बूनामष्टशतेन तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रेण 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता । तदर्द्धोच्चप्रमाणमेव भावयति—'ताओ ण'मित्यादि, 'ताः' अष्टोत्तरशतसङ्ख्या जम्ब्वाः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन क्रोशमुद्वेधेन योजनमेकं स्कन्धः क्रोशं वाहल्येन स्कन्धः, त्रीणि योजनानि विडिमा—ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा बहुमध्यदेशभागे चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्, ऊर्द्धाधोरूपेण सातिरेकाणि चत्वारि योजनानि सर्वाग्रेण उद्वेधपरिमाणमीलनेनेति भावः । 'वइरामयमूलरययसुपइट्ठिया विडिमा' इत्यादिवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावदधिकं नयनमनोनिर्वृत्तिकार्यः, प्रासादीया यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'जंबूए ण'मित्यादि, 'जंबूए णं सुदंसणाए' इत्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया अवरोत्तरस्यामुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां, अत एवासु तिसृषु दिक्ष्वनादृतस्य देवस्य जम्बूद्वीपाधिपतेश्चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, पूर्वस्यां चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चतस्रो, महाजम्ब्वा दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ जम्बूसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश जम्बूसहस्राणि, दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादश देवसहस्राणां योग्यानि द्वादश जम्बूसहस्राणि, अपरस्यां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त महाजम्ब्वः, ततः सर्वासु दिक्षु षोडशानामारक्षदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'जंबू णं सुदंसणा' इत्यादि, सा जम्बूः सुद-

शेना त्रिभिः शतकैः—योजनशतप्रमाणैर्वनषण्डैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता, तद्यथा—अभ्यन्तरकेन मध्येन बाह्येन च । जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्यां दिशि प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, तच्च पूर्वदिग्वर्त्तिभवनवद् वक्तव्यं यावत् शयनीयम् । जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिणतः प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, एतदपि तथैव यावत् शयनीयं, एवं पश्चिमायामुत्तरस्यां च प्रत्येकं च प्रत्येकं च प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्य भवनं वक्तव्यं यावत् शयनीयम् ॥ 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया उत्तरपूर्वस्यां—ईशानकोण इत्यर्थः प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महत्यश्चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां पद्मा—पद्माभिधाना, दक्षिणस्यां पद्मप्रभा, पश्चिमायां कुमुदा, उत्तरस्यां कुमुदप्रभा, ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं क्रोशमायामेन अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन पञ्चधनुःशतान्युद्वेधेन, 'अच्छाओ सण्हाओ' इत्यादि पुष्करिणीवर्णनं प्राग्वत्समस्तं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनषण्डपरिक्षिप्ताः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां पुष्करिणीनां प्रत्येकं चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां वर्णकः प्राग्वत्, तोरणान्यपि तथैव, तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च जम्बूवृक्षदक्षिणपश्चिमशाखाभाविप्रासादवत् प्रमाणादिना वक्तव्यो यावत् 'सहस्सपत्तहत्थगा' इति पदं, सर्वत्रापि च सिंहासनमनादृतदेवस्य सपरिवारम् । एवं दक्षिणपूर्वस्यां दक्षिणापरस्यामुत्तरापरस्यां च प्रत्येकं वक्तव्यं, नवरं नन्दापुष्करिणीनामनानात्वं, तच्चेदं—दक्षिणपूर्वस्यां पूर्वादिक्रमेण उत्पलगुल्मा नलिना उत्पला उत्पलोज्ज्वला, दक्षिणपूर्वस्यां भृङ्गा भृङ्गनिभा अञ्जना कज्जलप्रभा, अपरोत्तरस्यां श्रीकान्ता श्रीचन्द्रा श्रीनिलया श्रीमहिता, उक्तञ्च—"पउमा पउमप्पभा चेव, कुमुया कुमुयप्पभा । उप्पलगुम्मा न-

लिणा, उप्पला उप्पलुज्जला ॥ १ ॥ भिंगा भिंगनिभा चेव, अंजणा कज्जलप्पभा । सिरिकंता सिरिचंदा, सिरिनिलया चेव सिरिमहिया ॥ २ ॥" 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वदिग्भाविनो भवनस्योत्तरतः उत्तरपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतोऽत्र महानेकः कूटः प्रज्ञप्तः, अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, मूलेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेन मध्ये षड् योजनानि उपरि चत्वारि योजनानि, मूले सातिरेकाणि पञ्चविंशतिर्योजनानि परिक्षेपतः मध्ये सातिरेकाण्यष्टादश योजनानि उपरि सातिरेकाणि द्वादश योजनानि परिक्षेपतः, तथा सति मूले विस्तीर्णो मध्ये सङ्क्षिप्त उपरि तनुकोऽत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः सर्वात्मना जम्बूनदमयः, 'अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत्, स च कूट एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात् परिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णनं प्राग्वत् । 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य कूटस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, स च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनम् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूसुदर्शनोपरिविडिमासिद्धायतनसदृशं वक्तव्यं यावदष्टोत्तरं शतं धूपकडुच्छुकानामिति । एवं जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्य भवनस्य दक्षिणतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्योत्तरतः, तथा दाक्षिणात्यस्य भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपूर्वस्य प्रासादावतंसकस्य पश्चिमदिशि, तथा दाक्षिणात्यस्य भवनस्य परतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य पूर्वतः, तथा पाश्चात्यस्य भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्योत्तरतः, तथा पश्चिमस्य भवनस्योत्तरत उत्तरपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतः, तथोत्तरस्य भवनस्य पश्चिमायामुत्तरपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य पूर्वतः, तथोत्तरस्य भवनस्य पूर्वत उत्तरपूर्वस्य प्रासादावतंसकस्यापरतः प्रत्येकमेकैकः कूटः पूर्वोक्तप्रमाणो वक्तव्यः, तेषां च कूटानामुपरि प्रत्येकमेकैकं सिद्धायतनं, तानि च

सिद्धायतनानि पूर्ववद्वाच्यानि, उक्तञ्च—"अट्ठुसहकूडसरिसा सव्वे जंबूनयामया भणिया। तेसुवरिं जिणभवणा कोसपमाणा परमरम्मा ॥ १ ॥" 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—'सुदंसणे'त्यादि, शोभनं दर्शनं—दृश्यमानता यस्या नयनमनोहारित्वात् सा सुदर्शना १, यथा च तस्याः शोभनदर्शनं तथाऽग्रे स्वयमेव सूत्रकृद् भावयिष्यति, 'अमोहा य' इति मोघं—निष्फलं न मोघा अमोघा अनिष्फला इत्यर्थः, तथाहि—सा स्वस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजनयति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिभावस्यैवायोगात्, ततोऽनिष्फलेति २, 'सुप्पबुद्धा' इति सुष्ठु—अतिशयेन प्रबुद्धेव प्रबुद्धा मणिकनकरत्नानां निरन्तरं सर्वतश्चाकचिक्येन सर्वकालमुन्निद्रेति भावः ३, 'जसोहरा' इति यशः सकलभुवनव्यापि धरतीति यशोधरा लिहादित्वादच्, जम्बूद्वीपो हि विदितमहिमा भुवनत्रयेऽप्यनया जम्ब्वोपलक्षितस्ततो भवति यथोक्तं यशोधारित्वमस्याः ४, 'सुभद्दा य' इति शोभनं भद्रं—कल्याणं यस्याः सा सुभद्रा, सकलकालं कल्याणभागिनीत्यर्थः, न हि तस्याः कदाचिदप्युपद्रवाः संभवन्ति, महर्द्धिकेनाधिष्ठितत्वात् ५, 'विसाला य' इति विशाला—विस्तीर्णा आयामविष्कम्भाभ्यामुच्चैस्त्वेन चाष्टयोजनप्रमाणत्वात् ६, 'सुजाया' इति शोभनं जातं—जन्म यस्याः सा सुजाता, विशुद्धमणिकनकरत्नमूलद्रव्यतया जन्मदोषरहितेति भावः ७, 'सुमणा इय' इति शोभनं मनो यस्याः सकाशाद् भवति सा सुमनाः, भवति हि तां पश्यतां महर्द्धिकानां मनः शोभनमतिरमणीयत्वात् ८, 'विदेहजंबू' इति, विदेहेषु जम्बूर्विदेहजम्बूर्विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् ९, 'सोमणसा' इति सौमनस्यहेतुत्वात् सौमनस्या, नहि तां पश्यतः कस्यापि मनो दुष्टं भवति, केवलं तां दृष्ट्वा प्रीतमनास्तां तदधिष्ठातारं च प्रशंसतीति १०, 'नियता' इति नियता

१ अष्टौ ऋषभकूटसदृशाः सर्वे जम्बूनदमया भणिता। तेषामुपरि जिनभवनानि क्रोशप्रमाणानि परमरम्याणि ॥ १ ॥

सर्वकालमवस्थिता शाश्वतत्वात् ११, 'नित्यमंडिता' सदा भूषणभूषितत्वात् १२ । 'सुदंसणाए' इत्यादि तान्येतानि सुदर्शनाया जम्ब्वा द्वादश नामधेयानि ॥ सम्प्रति सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि प्रतीतं, निर्वचनमाह—'गोयमे'त्यादि सुगमं, नवरम् 'अणाढिए नामं देवे' इति, अनादृता:—अनादरक्रियाविषयीकृता: शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येनात्मनोऽत्यद्भुतं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृत:, सकलनिर्वचनभावार्थश्चायं—यस्मादेवं महर्द्धिकोऽनादृतनामा देवस्तत्र परिवसति ततस्तस्य समस्ताऽपि स्फाति: तत्र कृतावासेति सा सुदर्शनाऽनादृता, राजधानीवक्तव्यताऽपि प्राग्वद्वक्तव्या, तदेवं यस्मादेवंरूपया जम्ब्वोपलक्षित एष द्वीपस्तस्माज्जम्बूद्वीप इत्युच्यते, अथवेदं जम्बूद्वीपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति दर्शयति—'अदुत्तरं च ण'-मित्यादि, अथान्यत् जम्बूद्वीपशब्दप्रवृत्तिकारणमिति गम्यते, गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो जम्बूवृक्षा जम्बूवनानि जम्बूषण्डा:, इहैकजातीयवृक्षसमुदायो वनं, अनेकजातीयवृक्षसमूहो वनषण्ड:, केवलं प्रधानेन व्यपदेश इति जम्बूवनं जम्बूषण्ड इति भेदेनोपात्तं, 'निच्चंकुसुमिया' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, तत एष द्वीपो जम्बूद्वीप:, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपगतचन्द्रादिसङ्ख्यापरिज्ञानार्थमाह—

जंबूद्दीवे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु वा पभासेंति वा पभासिस्संति वा? कति सूरिया तविंसु वा तवंति वा तविस्संति वा? कति नक्खत्ता जोयं जोयंसु वा जोयंति वा जोएस्संति वा? कति महग्गहा चारं चरिंसु वा चरिंति वा चरिस्संति वा? केवतिताओ तारागणकोडाकोडीओ सोहंसु वा सोहंति वा सोहेस्संतिवा?, गोयमा! जंबूद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासिंसु

वा ३ दो सूरिया तविंसु वा ३ छप्पन्नं नक्खत्ता जोगं जोएंसु वा ३ छावत्तरं गहसतं चारं चारिंसु वा ३—एगं च सतसहस्सं तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं। णव य सया पन्नासा तारागण-कोडकोडीणं ॥ १ ॥ सोभिंसु वा सोभंति वा सोभिस्संति वा ॥ (सू० १५३)

'जंबूद्दीवे णं भंते! दीवे' इत्यादि सुगमं, नवरं षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणां भावात्, षट्सप्ततं ग्रहशतमेकैकं शशिनं प्रत्यष्टाशीतेर्ग्रहाणां भावात्, तथैकस्य शशिनः परिवारे तारागणपरिमाणं षट्षष्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि कोटीकोटीनां, वक्ष्यति च—"छावट्ठिसहस्साइं नव चेव सयाइं पंचसयराइं। एगससीपरिवारो तारागण-कोडिकोडीणं ॥ १ ॥" (६६९७५) जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ तदेतद् द्वाभ्यां गुण्यते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति—एकं शतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चाशदधिकानि कोटीकोटीनामिति ॥ तदेवमुक्तो जम्बूद्वीपः, सम्प्रति लवणसमुद्रं विवक्षुरिदमाह—

जंबूदीवं णाम दीवं लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिते?, गोयमा! समचक्कवालसंठिए नो विसमचक्कवालसंठिए ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नरस जोयणसयसहस्साइं एगासीइसहस्साइं सयमेगोणचत्तालीसे किंचिविसेसाहिए लवणोदधिणो चक्कवालपरिक्खेवेणं। से णं एक्काए पउमवरवेदियाए एगेण य

वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते चिट्ठइ, दोण्हवि वण्णओ । सा णं पउमवर० अद्धजोयणं उड्ढं० पंचधणुसयविक्खंभेणं लवणसमुद्दसमियपरिक्खेवेणं, सेसं तहेव । से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं जाव विहरइ ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजये वेजयंते जयंते अपराजिते ॥ कहि णं भंते! लवणसमुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणसमुद्दस्स पुरत्थिमपेरंते धायइखंडस्स दीवस्स पुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीओदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं लवणस्स समुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, एवं तं चेव सव्वं जहा जंबुद्दीवस्स विजयस्ससरिसेवि (दारसरिसमेयंपि) रायहाणी पुरत्थिमेणं अण्णंमि[1] लवणसमुद्दे ॥ कहि णं भंते! लवणसमुद्दे वेजयंते नामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणसमुद्दे दाहिणपेरंते धातइसंडदीवस्स दाहिणद्धस्स उत्तरेणं सेसं तं चेव सव्वं । एवं जयंतेवि, णवरि सीयाए महाणदीए उप्पिं भाणियव्वे । एवं अपराजितेवि, णवरं दिसीभागो भाणियव्वो ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—'तिण्णेव सतसहस्सा पंचाणउतिं भवे सहस्साइं । दो जोयणसत असिता कोसं दारंतरे लवणे ॥ १ ॥' जाव

१ यथा अनेकेषु स्थानेष्वत्र मूलटीकापाठयोर्वैषम्यं तथाऽत्र क्वचित् आदर्शे चतुर्णामपि द्वाराणा सामग्र्येण वर्णनं दृश्यते मूले, न च टीकानुसारी प्रागुक्तं च तदित्युपेक्षितं.

अबाधाए अंतरे पण्णत्ते। लवणस्स णं पएसा धायइसंडं दीवं पुट्ठा, तहेव जहा जंबूदीवे धायइसंडेवि सो चेव गमो। लवणे णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता सो चेव विही, एवं धायइसंडेवि ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—लवणसमुद्दे २?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे उदगे आविले रइले लोणे लिंदे खारए कडुए अप्पेज्जे बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसवाणं नण्णत्थ तज्जोणियाणं सत्ताणं, सोत्थिए एत्थ लवणाहिवई देवे महिड्ढीए पलिओवमट्ठिईए, से णं तत्थ सामाणिय जाव लवणसमुद्दस्स सुत्थियाए रायहाणीए अण्णेसिं जाव विहरइ, से एएणट्ठेणं गो०! एवं वुच्चइ लवणे णं समुद्दे २, अदुत्तरं च णं गो०! लवणसमुद्दे सासए जाव णिच्चे ॥ (सू० १५४)

'जंबूदीवं दीव'मित्यादि जम्बूद्वीपं द्वीपं लवणो नाम समुद्रो 'वृत्तः' वर्त्तुलः, स च चन्द्रमण्डलवन्मध्यपरिपूर्णोऽपि शङ्क्येत तत आह—'वलयाकारसंस्थानसंस्थितः' वलयाकारं—मध्यशुपिरं यत्संस्थानं तेन संस्थितो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन 'परिक्षिप्य' वेष्टयित्वा तिष्ठति ॥ 'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किं समचक्रवालसंस्थितो यद्वा विषमचक्रवालसंस्थितः?, चक्रवालसंस्थानस्योभयथाऽपि दर्शनात्, भगवानाह—गौतम! समचक्रवालसंस्थितः सर्वत्र द्विलक्षयोजनप्रमाणतया चक्रवालस्य भावात्, नो विषमचक्रवालसंस्थितः ॥ सम्प्रति चक्रवालविष्कम्भादिपरिमाणमेव पृच्छति—'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन, जम्बूद्वीपविष्कम्भादे-

तद्विष्कम्भस्य द्विगुणत्वात्, पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतमेकोनचत्वारिंशं च किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण, परिक्षेपप्रमाणं चैतत् परिधिगणितभावनया स्वयं भावनीयं क्षेत्रसमासटीकातो वा परिभावनीयम् ॥ 'से ण'मित्यादि, 'सः' लवणनामा समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, सा च पद्मवरवेदिकाऽर्द्धयोजनमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भतः परिक्षेपतो लवणसमुद्रपरिक्षेपप्रमाणा, वनखण्डो देशोने द्वे योजने, अभ्यन्तरोऽपि पद्मवरवेदिकाया वनषण्ड एवंप्रमाण एव, उभयोरपि वर्णनं जम्बूद्वीपपद्मवरवेदिकावनषण्डवत् ॥ सम्प्रति द्वारवक्तव्यतामभिधित्सुरिदमाह—'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयवैजयन्तजयन्तापराजिताख्यानि ॥ 'कहि ण'मित्यादि, क भदन्त! लवणसमुद्रस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम!, लवणसमुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपपूर्वार्द्धस्य 'पच्चत्थिमेण'न्ति पश्चिमभागे शीतोदाया महानद्या उपर्यत्रान्तरे लवणसमुद्रस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं, अष्टौ योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन । एवं जम्बूद्वीपगतविजयद्वारसदृशमेतदपि वक्तव्यं यावद्बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति ॥ सम्प्रति विजयद्वारनामनिबन्धनं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—विजयद्वारं विजयद्वारम्? इति, भगवानाह—गौतम! विजये द्वारे विजयो नाम देवो महर्द्धिको यावद् विजयाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां विजयाराजधानीवास्तव्यानां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावत्परिवसति, ततो विजयदेवस्वामिकत्वाद् विजयमिति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि सुगमं ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! विजयद्वारस्य

पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयाराजधानीवद्वक्तव्या ॥ सम्प्रति वैजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थ-माह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणस्य समुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र लवणसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एतद्वक्तव्यता सर्वाऽपि विजयद्वारवद-वसेया, नवरं राजधानी वैजयन्तद्वारस्य दक्षिणतो वेदितव्या ॥ जयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणसमुद्रस्य जयन्तं द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महा-नद्या उपरि लवणस्य समुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद् वक्तव्या, नवरं राजधानी जयन्तद्वारस्य पश्चि-मभागे वक्तव्या ॥ अपराजितद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्योत्तरपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं। एतद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवन्निरवशेषा वक्तव्या, नवरं राजधानी अपराजितद्वारस्योत्तरतोऽवसातव्या ॥ सम्प्रति द्वारस्य द्वारस्यान्तरं प्रतिपादयितुकाम आह—'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य द्वारस्य २ 'एस ण'मिति एतद् अन्तरं कियत्या 'अबाधया' अन्तरालत्वाव्याघातरूपया प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवतिः सह-स्राणि अशीते द्वे योजनशते क्रोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्याबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं चत्वारि योजनानि, एकैकस्मिंश्च द्वारे एकैका द्वारशाखा क्रोशबाहल्या, द्वारे च द्वे द्वे शाखे, तत एकैकस्मिन् द्वारे पृथुत्वं सामस्त्येन चिन्त्यमानं सार्द्धयो-

जनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते, चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तानि लवणसमुद्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदश शतसहस्राणि एकाशीतिःसहस्राणि एकोनचत्वारिंशं योजनशतं इत्येवंपरिमाणादपनीयन्ते, अपनीय च यच्छेषं तस्य चतुर्भिर्भागेऽपहृते यदागच्छति तत् द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं, तच्च यथोक्तमेव, उक्तं च—"आसीया दोन्नि सया पणनउइसहस्स तिन्नि लक्खा य। कोसो य अंतरं सागरस्स दाराण विन्नेयं ॥१॥" 'लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वद्भावनीयम् ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रनामान्वर्थं पृच्छति—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—लवणः समुद्रो लवणः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्य उदकः 'आविलम्' अविमलमस्वच्छं प्रकृत्या 'रइलं' रजोवत्, जलवृद्धिहानिभ्यां पङ्कबहुलमिति भावः, लवणं सान्निपातिकरसोपेतत्वाल्लिन्द्रं गोवराक्ष(ल्य)रसविशेषकलितत्वात्, 'क्षारं' तीक्ष्णं लवणरसविशेषवत्त्वात्, 'कटुकं' कटुकरसोपेतत्वात्, अत एवोपद्रवव्राताद्पेयं, केषामपेयम्?—चतुष्पदमृगपक्षिसरीसृपाणां, नान्यत्र 'तद्योनिकेभ्यः' लवणसमुद्रयोनिकेभ्यः सत्त्वेभ्यस्तेषां पेयमिति भावः, तद्योनिकतया तेषां तदाहारकत्वात्, तदेवं यस्मात्तस्योदकं लवणमतोऽसौ लवणः समुद्र इति, अन्यच्च 'सुट्ठिए लवणाहिवई' इत्यादि सुगमं, नवरमेष भावार्थः—यस्मात् सुस्थितनामा तदधिपतिः—लवणाधिपतिरिति स्वकल्पपुस्तके प्रसिद्धम्, आधिपत्यं च तस्याधिकृतसमुद्रस्य विषये नान्यस्य ततोऽप्यसौ लवणसमुद्र इति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादिसङ्ख्यापरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

लवणे णं भंते! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा?, एवं पंचण्हवि पुच्छा, गोयमा! लवणसमुद्दे चत्तारि चंदा पभासिंसु वा ३ चत्तारि सूरिया तविंसु वा ३ बार-

सुत्तरं नक्खत्तसयं जोगं जोएंसु वा ३ तिण्णि बावण्णा महग्गहसया चारं चरिंसु वा ३ दुण्णि सयसहस्सा सत्तट्ठिं च सहस्सा नव य सया तारागणकोडाकोडीणं सोभं सोभिंसु वा ३ ॥ (सू० १५५)

'**लवणे णं भंते! समुद्दे**' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! चत्वारश्चन्द्राः प्रभासितवन्तः प्रभासन्ते प्रभासिष्यन्ते, चत्वारः सूर्यास्तापितवन्तस्तापयन्ति तापयिष्यन्ति, ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धा वेदितव्याः, तद्यथा—द्वौ सूर्यौ एकस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ सूर्यौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य, तथा द्वौ चन्द्रमसावेकस्य जम्बूद्वीपगतस्य चन्द्रस्य समश्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ द्वितीयचन्द्रस्य, तौ चैवम्—यदा जम्बूद्वीपगत एकः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतश्चारं चरति तदा लवणसमुद्रेऽपि तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्ध एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति द्वितीयस्तेनैव सह श्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, तदैव च यो जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरतश्चारं चरति तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्धो लवणसमुद्रे उत्तरत एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति, द्वितीयस्तु तेनैव सह समश्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, एवं चन्द्रमसोऽपि जम्बूद्वीपगतचन्द्राभ्यां सह समश्रेणिप्रतिबद्धा भावनीयाः, अत एव जम्बूद्वीप इव लवणसमुद्रेऽपि यदा मेरोर्दक्षिणतो दिवसः संभवति तदा मेरोरुत्तरतोऽपि लवणसमुद्रे दिवसः, यदा च मेरोरुत्तरतो लवणसमुद्रे दिवसस्तथा दक्षिणतोऽपि दिवसस्तदा च पूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रे रात्रिः, यदा च मेरोः पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रे दिवसस्तदा पश्चिमायामपि दिवसः, यदा च पश्चिमायां दिवसस्तदा पूर्वदिश्यपि, तदा च मेरोर्दक्षिणत उत्तरतश्च नियमतो रात्रिः, एवं धातकीखण्डादिष्वपि भावनीयं, तद्गतानामपि चन्द्रसूर्याणां जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या

व्यवस्थितत्वात्, उक्तं च **सूर्यप्रज्ञप्तौ**—"जया णं लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढेवि दिवसे हवइ, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं लवणसमुद्दे पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई भवइ, एवं जहा जंबूद्दीवे दीवे तहेव" तथा "जया णं धायईसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढेवि, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ, एवं जहा जंबूद्दीवे दीवे तहेव, कालोए जहा लवणे तहेव" तथा "जया णं अब्भिंतरपुक्खरद्धे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं अब्भिंतरड्ढे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ, सेसं जहा जंबूद्दीवे तहेव" आह—लवणसमुद्रे षोडश योजनसहस्रप्रमाणा शिखा ततः कथं चन्द्रसूर्याणां तत्र तत्र देशे चारं चरतां न गतिव्याघातः?, उच्यते, इह लवणसमुद्रवर्जेषु शेषेषु द्वीपसमुद्रेषु यानि ज्योतिष्कविमानानि तानि सर्वाण्यपि सामान्यरूपस्फटिकमयानि, यानि पुनर्लवणसमुद्रे ज्योतिष्कविमानानि तानि तथाजगत्स्वाभाव्यादुदकस्फाटनस्वभावस्फटिकमयानि, तथा चोक्तं **सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्तौ**—"जोइसियविमाणाइं सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा ॥१॥" ततो न तेषामुदकमध्ये चारं चरतामुदकेन व्याघातः, अन्यच्च शेषद्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यविमानान्यधोलेश्याकानि यानि पुनर्लवणसमुद्रे तानि तथाजगत्स्वाभाव्यादूर्ध्वलेश्याकानि तेन शिखायामपि सर्वत्र लवणसमुद्रे प्रकाशो भवति, अयं चार्थः प्रायो बहूनामप्रतीत इति संवादार्थमेतदर्थप्रतिपादको जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचितो **विशेषणवतीग्रन्थ** उपदर्श्यते—"सोलससाहसियाए सिहाए कहं जोइसियविघातो न भवति?, तत्थ भन्नइ—जेण सूरपन्नत्तीए भणियं—"जोइसियविमाणाइं सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा ॥ २ ॥" जं सव्वदीवसमुद्देसु फालियामयाइं लवणसमुद्दे चेव केवलं दगफालियामयाइं तत्थ इद-

मेव कारणं मा उद्गेण विघातो भवउ इति, जंबूसूरपन्नत्तीए चेव भणियं—"लवणंमि उ जोइसिया उड्ढलेसा हवंति नायव्वा। तेण परं जोइसिया अहलेसागा मुणेयव्वा ॥ १ ॥" तंपि उदगमालावभासणत्थमेव लोगठिई एसा" इति। तथा द्वादशं नक्षत्रशतं एवं-चत्वारो हि लवणसमुद्रे शशिनः, एकैकस्य च शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, ततोऽष्टाविंशतेश्चतुर्भिर्गुणने भवति द्वादशोत्तरं शतमिति। त्रीणि द्विपञ्चाशदधिकानि महाग्रहशतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्ग्रहाणां भावात्, द्वे शतसहस्रे सप्तषष्टिः सहस्राणि नव शतानि तारागणकोटीकोटीनाम् २६७९०००००००००००००००, उक्तञ्च—"चत्तारि चेव चंदा चत्तारि य सूरिया लवणतोए। बारं नक्खत्तसयं गहाण तिन्नेव बावन्ना ॥ १ ॥ दो चेव सयसहस्सा सत्तट्ठी खलु भवे सहस्सा य। नव य सया लवणजले तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥" इह लवणसमुद्रे चतुर्दश्यादिषु तिथिषु नदीमुखानामापूरणतो जलमतिरेकेण प्रवर्द्धमानमुपलक्ष्यते तत्र कारणं पिपृच्छिषुरिदमाह—

कम्हा णं भंते! लवणसमुद्दे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु अतिरेगं २ वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा! जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स चउद्दिसिं बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ लवणसमुद्दं पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि महालिंजरसंठाणसंठिया महइमहालया महापायाला पण्णत्ता, तंजहा—वलयामुहे केतूए जूवे ईसरे, ते णं महापाताला एगमेगं जोयणसयसहस्सं उव्वेहेणं मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढीए एगमेगं जोयणसतसहस्सं विक्खंभेणं उवरिं मुहमूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं॥ तेसि णं

महापायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दससजोयणसतबाहल्ला पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य अवक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति सासया णं ते कुड्डा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं० असासया ॥ तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—काले महाकाले वेलंबे पभंजणे ॥ तेसि णं महापायालाणं तओ तिभागा पण्णत्ता, तंजहा—हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिमे तिभागे ॥ ते णं तिभागा तेत्तीसं जोयणसहस्सा तिण्णि य तेत्तीसं जोयणसतं जोयणतिभागं च बाहल्लेणं । तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ संचिट्ठति, तत्थ णं जे से मज्झिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाए य आउकाए य संचिट्ठति, तत्थ णं जे से उवरिल्ले तिभागे एत्थ णं आउकाए संचिट्ठति, अदुत्तरं च णं गोयमा! लवणसमुद्दे तत्थ २ देसे बहवे खुड्डालिंजरसंठाणसंठिया खुड्डपायालकलसा पण्णत्ता, ते णं खुड्डा पाताला एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढिए एगमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं उप्पिं मुहमूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं ॥ तेसि णं खुड्डागपायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दस जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा । तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य जाव असासयावि, पत्तेयं २ अद्धपलिओवमट्ठितीताहिं देवताहिं परिग्गहिया ॥ तेसि णं खुड्डगपाता-

लाणं ततो तिभागा प०, तंजहा—हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिल्ले तिभागे, ते णं तिभागा तिण्णि तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभागं च बाहल्लेणं पण्णत्ते। तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ मज्झिल्ले तिभागे वाउआए आउयाते य उवरिल्ले आउकाए, एवामेव सपुव्वावरेणं लवणसमुद्दे सत्त पायालसहस्सा अट्ठ य चुलसीता पातालसता भवंतीति मक्खाया॥ तेसि णं महापायालाणं खुड्डगपायालाण य हेट्ठिममज्झिमिल्लेसु तिभागेसु बहवे ओराला वाया संसेयंति संमुच्छिमंति एयंति चलंति कंपंति खुब्भंति घट्टंति फंदंति तं तं भावं परिणमंति तया णं से उदए उण्णामिज्जति, जया णं तेसिं महापायालाणं खुड्डागपायालाण य हेट्ठिलमज्झिल्लेसु तिभागेसु नो बहवे ओराला जाव तं तं भावं न परिणमंति तया णं से उदए नो उन्नामिज्जइ अंतरावि य णं ते वायं उदीरेंति अंतरावि य णं से उदगे उण्णामिज्जइ अंतरावि य ते वाया नो उदीरंति अंतरावि य णं से उदगे णो उण्णामिज्जइ, एवं खलु गोयमा! लवणसमुद्दे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु अइरेगं २ वड्ढति वा हायति वा॥ (सू० १५६)

'कम्हा णं भंते!' इत्यादि, कस्माद्भदन्त! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु तिथिषु, अत्रोद्दिष्टा—अमावास्या पौर्णमासी प्रतीता, पूर्णो मासो यस्यां सा पौर्णमासी, 'प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्' अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्णो माः—चन्द्रमा अस्यामिति पौर्णमासी, अण् तथैव, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'पुण्णमासिणी'ति पाठः, 'अइरेगं अइरेगं' अतिशयेन अतिशयेन वर्द्धते हीयते वा?, भगवानाह—गौतम!

जम्बूद्वीपे द्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य चतसृषु पूर्वादिषु दिक्षु लवणसमुद्रं पञ्चनवतिं पञ्चनवतिं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे चत्वारो 'महइमहालया' अतिशयेन महान्तो महालिञ्जरं—महापिडहं तत्संस्थानसंस्थिताः, कचित् 'महारंजरसंठाणसंठिया' इति पाठस्तत्रा-रञ्जरः—अलिञ्जर इति, महापातालकलशाः प्रज्ञप्ताः, उक्तं च—"पणनउइसहस्साइं ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं । चउरोऽलिंजरसं-ठाणसंठिया होंति पायाला ॥ १ ॥" तानेव नामतः कथयति, तद्यथा—मेरोः पूर्वस्यां दिशि वडवामुखः दक्षिणस्यां केयूपः अपरस्यां यूपः उत्तरस्यामीश्वरः, ते चत्वारोऽपि महापातालकलशा एकैकं योजनशतसहस्रं—लक्षं उद्वेधेन मूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन तत ऊर्द्ध्वं एकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतः प्रवर्द्धमाना २ मध्ये एकैकं योजनशतसहस्रं विष्कम्भेन तत ऊर्द्ध्वं भूयोऽप्येकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतो हीयमाना हीयमाना उपरि मुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भतः, उक्तञ्च—"जोयणसहस्सदसगं मूले उवरिं च होंति विच्छिण्णा । मज्झे य सयसहस्सं तेत्तियमेत्तं च ओगाढा ॥ १ ॥" 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दश योजनशतवाहल्या योजनसहस्रवाहल्या इत्यर्थः, सर्वात्मना वज्रमयाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तेषु वज्रमयेषु कुड्येषु बहवो जीवाः पृथिवीकायिकाः पुद्गलाश्च 'अपक्रामन्ति' गच्छन्ति 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते जीवा इति सामर्थ्याद्गम्यं, जीवानामेवोत्पत्तिधर्मकतया प्रसिद्धत्वात्, 'चीयन्ते' चयमुपगच्छन्ति 'उपचीयन्ते' उपचयमायान्ति, एतच्च पदद्वयं पुद्गलापेक्षं, पुद्गलानामेव चयापचयधर्मकतया व्यवहारात्, तत एवं सकलकालं तदाकारस्य सदाऽवस्थानात् शाश्वतास्ते कुड्या द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्ताः, वर्णपर्यायैः रसपर्यायैः गन्धपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वताः, वर्णादीनां प्रतिक्षणं कियत्कालादूर्द्ध्वं वाऽन्यथाऽन्यथा भवनात् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषु चतुर्षु पातालकलशेषु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादि

परिग्रहः, पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—'काले' इत्यादि, वडवामुखे कालः केयूपे महाकालः यूपे वेलम्बः ईश्वरे प्रभञ्जनः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः ॥ 'ते णं'मित्यादि, ते त्रयोऽपि त्रिभागास्त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः । तत्र चतुर्ष्वपि पातालकलशेषु अधस्तनेषु त्रिभागेषु वातकायः संतिष्ठति, मध्यमेषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च, उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्काय एव । 'अदुत्तरं च णं'मित्यादि, अथान्यद् गौतम ! लवणसमुद्रे 'तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं' इति तेषां पातालकलशानामन्तरेषु तत्र २ देशे तस्य २ देशस्य तत्र २ प्रदेशे क्षुल्लारञ्जरसंस्थानसंस्थिताः क्षुल्लाः पातालकलशाः प्रज्ञप्ताः, ते क्षुल्लाः पातालकलशा एकमेकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये एकैकं योजनसहस्रं विष्कम्भेन उपरि मुखमूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेन ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां क्षुल्लकपातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दश दश योजनानि बाहल्यतः, उक्तञ्च—"जोयणसयविच्छिण्णा मूले उवरिं दस सयाणि मज्झंमि । ओगाढा य सहस्सं दसजोयणिया य से कुड्डा ॥ १ ॥" 'सव्ववइरामया' इत्यादि प्राग्वद् यावत् 'फासपज्जवेहिं असासया' इति, प्रत्येकं २ तेऽर्द्धपल्योपमस्थितिकाभिर्देवताभिः परिगृहीताः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां क्षुल्लकपातालकलशानां प्रत्येकं २ त्रयस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः । 'ते णं'मित्यादि, ते त्रिभागाः प्रत्येकं त्रीणि योजनशतानि 'त्रयस्त्रिंशानि' त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः, तत्र सर्वेषामपि क्षुल्लकपातालकलशानामधस्तनेषु त्रिभागेषु वायुकायः संतिष्ठति, मध्येषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च, उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्कायः संतिष्ठति, एवमेव 'सपूर्वापरेण' पूर्वापरसमुदायसङ्ख्यया सप्त पातालकलशसहस्राणि

क्षुल्लकपातालकलशसहस्राणि, अष्टौ च पातालकलशशतानि—क्षुल्लकपातालकलशशतानि **'चतुरशीतानि'** चतुरशीत्यधिकानि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, उक्तञ्च—"अन्नेवि य पायाला खुड्डालंजरगसंठिया लवणे । अट्ठसया चुलसीया सत्त सहस्सा य सव्वेवि ॥ १ ॥ पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि विन्नेया । हेट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदगं च ॥ २ ॥ उवरिं उदगं भणियं पढमगबीएसु वाउ संखुभिओ । उड्ढं वामइ उदगं परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥ ३ ॥" **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां **'क्षुल्लकपातालानां'** क्षुल्लकपातालकलशानां महापातालानां चाधस्तनमध्येषु त्रिभागेषु तथाजगत्स्थितिस्वाभाव्यात् प्रतिदिवसं द्विकृत्वस्त्रापि चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण **'बहवः'** अतिप्रभूताः **'उदाराः'** ऊर्द्धगमनस्वभावाः प्रबलशक्तयश्च, उत्—प्राबल्येन आरो येषां ते उदारा इति व्युत्पत्तेः, **'वाताः'** वायवः **'संस्विद्यन्ते'** उत्पत्त्यभिमुखीभवन्ति ततः क्षणानन्तरं **'संमूर्च्छन्ति'** संमूर्च्छजन्मना लब्धात्मलाभा भवन्ति ततः **'चलन्ति'** कम्पन्ते वातानां चलनस्वभावत्वात्, ततः **'घट्टन्ते'** परस्परं सङ्घट्टमाप्नुवन्ति, तदनन्तरं **'क्षुभ्यन्ते'** जातमहाद्भुतशक्तिकाः सन्त ऊर्द्धमितस्ततो विप्रसरन्ति, ततः **'उदीरयन्ति'** अन्यान् वातान् जलमपि चोत्—प्राबल्येन प्रेरयन्ति, तं तं देशकालोचितं मन्दं तीव्रं मध्यमं वा भावं परिणामं **'परिणमन्ति'** धातूनामनेकार्थत्वात् प्रपद्यन्ते । **'जया णं तेसिं खुड्डापायालाण'**मित्यादि सुगमं भावितत्वात् । **'तया ण'**मित्यादि, तदा णमिति वाक्यालङ्कारे **'तद्'** उदकम् **'उन्नामिज्जंते'** उन्नाम्यते

---

१ अन्येऽपि च पातालकलशाः क्षुद्रारञ्जरसंस्थिता लवणे । अष्ट शतानि चतुरशीतीनि सप्त सहस्राणि च सर्वेऽपि ॥ १ ॥ पातालाना विभागाः सर्वेषामपि त्रयस्त्रयो विज्ञेया. । अधस्तनभागे वायु , मध्ये वायुश्च उदकं च ॥ २ ॥ उपरितनभागे उदकं भणितं, प्रथमद्वितीययोः वायुः संक्षुभित । ऊर्द्धं । वामयति (निष्काशयति) उदकं परिवर्द्धते जलनिधिः क्षुभित. ॥ ३ ॥

ऊर्द्धमुत्क्षिप्यत इति भावः । 'जया ण'मित्यादि, यदा पुनः 'ण'मिति पुनरर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्, तेषां क्षुल्लकपातालानां महापातालानां चाधस्तनमध्यमेषु त्रिभागेषु नो बहव उदारा वाताः संस्विद्यन्ते इत्यादि प्राग्वत् 'तया ण'मित्यादि तदा तदुदकं 'नोन्नाम्यते' नोर्द्धमुत्क्षिप्यते उत्क्षेपकाभावात्, एतदेव स्पष्टतरमाह—'अंतरावि य ण'मित्यादि, 'अन्तरा' अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिपु तिथिष्वतिरेकेण ते वाताः तथाजगत्स्वाभाव्यादुदीर्यन्ते धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यन्ते, ततोऽन्तरा—अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिपु तिथिपु अतिरेकेण तत उदकमुन्नाम्यते । 'अंतरावि य ण'मित्यादि, 'अन्तरा' प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र ते वाताः 'नोदीर्यन्ते' नोत्पद्यन्ते, तदभावात् 'अन्तरा' प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र कालविभागे उदकं नोन्नाम्यते उन्नामकाभावात्, तत एवं खलु गौतम! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णमासीपु तिथिपु 'अतिरेकमतिरेकम्' अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते वेति ॥ तदेवं चतुर्दश्यादिपु तिथिष्वतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमुक्तमिदानीमहोरात्रमध्ये द्विकृत्वोऽतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमभिधित्सुराह—

लवणे णं भंते! समुद्दाए तीसाए मुहुत्ताणं कतिखुत्तो अतिरेगं २ वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अतिरेगं २ वड्ढति वा हायति वा ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं २ वड्ढइ वा हायइ वा?, गोयमा! उड्ढमंतेसु पायालेसु वड्ढइ आपूरितेसु पायालेसु हायइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं अइरेगं वड्ढइ वा हायइ वा ॥ (सू० १५७)

'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रस्त्रिंशतो मुहूर्त्तानां मध्येऽहोरात्रमध्ये इति भावः 'कतिकृत्वः' कतिवारान् अतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा? इति, तदेवं (प्रश्ने) भगवानाह—गौतम! द्विकृत्वोऽतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा ॥ 'से केणट्ठेण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! 'उद्धमत्सु' अधस्तनमध्यमत्रिभागगतवातसङ्क्षोभवशाज्जलमूर्द्ध्वमुत्क्षिपत्सु 'पातालेषु' पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च वर्द्धते 'आपूर्यमाणेषु' परिसंस्थिते पवने भूयो जलेन ध्रियमाणेषु 'पातालेषु' पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च हीयते 'से एएणट्ठे ण'मित्यादि उपसंहारवाक्यम् ॥ अधुना लवणशिखावक्तव्यतामाह—

लवणसिहा णं भंते! केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं अइरेगं २ वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा! लवणसीहाए णं दस जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं देसूणं अद्धजोयणं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स कति णागसाहस्सीओ अब्भिंतरियं वेलं धारेंति?, कइ नागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धरंति?, कइ नागसाहस्सीओ अग्गोदयं धरेंति?, गोयमा! लवणसमुद्दस्स बायालीसं णागसाहस्सीओ अब्भिंतरियं वेलं धारेंति, बावत्तरिं णागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धारेंति, सट्ठिं णागसाहस्सीओ अग्गोदयं धारेंति, एवमेव सपुव्वावरेणं एगा णागसतसाहस्सी चोवत्तरिं च णागसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ (सू० १५८)

'लवणसिहा णं भंते!' इत्यादि, लवणशिखा भदन्त! कियच्चक्रवालविष्कम्भेन? कियच्च 'अतिरेकमतिरेकम्' अतिशयेन २ वर्द्धते हीयते वा?, भगवानाह—गौतम! लवणशिखा सर्वतश्चक्रवालविष्कम्भतया 'समा'समप्रमाणा दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन चक्रवा-

लरूपतया विस्तारेण 'देशोनमर्द्धयोजनं' गव्यूतद्वयप्रमाणम् 'अतिरेकमतिरेकम्' अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते वा, इयमत्र भावना—लवणसमुद्रे जम्बूद्वीपाद् धातकीखण्डद्वीपाच्च प्रत्येकं पञ्चनवतिपञ्चनवतियोजनसहस्राणि गोतीर्थं, गोतीर्थं नाम तडागादिष्विव प्रवेशमार्गरूपो नीचो नीचतरो भूदेशो, गोतीर्थमिव गोतीर्थमिति व्युत्पत्तेः, मध्यभागावगाहस्तु दश योजनसहस्रप्रमाणविस्तारः, गोतीर्थं च जम्बूद्वीपवेदिकान्तसमीपे धातकीखण्डवेदिकान्तसमीपे चाङ्गुलासङ्ख्येयभागः, ततः परं समतलाद् भूभागादारभ्य क्रमेण प्रदेशहान्या तावन्नीचत्वं नीचतरत्वं परिभावनीयं यावत्पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेषु समतलं भूभागमपेक्ष्योण्डत्वं योजनसहस्रमेकं, तथा जम्बूद्वीपवेदिकातो धातकीखण्डद्वीपवेदिकातश्च ? तत्र समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसङ्ख्येयभागः, ततः समतलभूभागमेवाधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावत्परिभावनीया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते चोभयतोऽपि समतलभूभागमपेक्ष्य जलवृद्धिः सप्तयोजनशतानि, किमुक्तं भवति ?—तत्र प्रदेशे समतलभूभागमपेक्ष्यावगाहो योजनसहस्रं, तदुपरि जलवृद्धिः सप्त योजनशतानीति, ततः परं मध्ये भागे दशयोजनसहस्रविस्तारेऽवगाहो योजनसहस्रं जलवृद्धिः षोडश योजनसहस्राणि, पातालकलशगतवायुक्षोभे च तेषामुपर्यहोरात्रमध्ये द्वौ वारौ किञ्चिन्न्यूने द्वे गव्यूते उदकमतिरेकेण वर्द्धते पातालकलशगतवायूपशान्तौ च हीयते, उक्तञ्च—"पंचाणउयसहस्से गोतित्थं उभयतोवि लवणस्स । जोयणसयाणि सत्त उ दगपरिवुड्ढीवि उभयोवि ॥ १ ॥ दस जोयणसाहस्सा लवणसिहा चक्कवालतो रुंदा ।

१ लवणस्य उभयतोऽपि पञ्चनवतिं सहस्राणि गोतीर्थं तु । उदकपरिवृद्धिरपि उभयतोऽपि सप्त योजनशतानि ॥ १ ॥ लवणशिखा चक्रवालतो दश योजनसहस्राणि रुन्दा ।

सोलससहस्स उच्चा सहस्समेगं च ओगाढा ॥ २ ॥ देसूणमद्धजोयणलवणसिहोवरि दुगं दुवे कालो । अइरेगं २ परिवड्ढइ हायए वावि ॥ ३ ॥" सम्प्रति वेलन्धरवक्तव्यतामाह—'**लवणस्स णं भंते !**' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य कियन्तो नागसहस्रा नागकुमाराणां भवनपतिनिकायान्तर्वर्त्तिनां सहस्रा आभ्यन्तरिकीं—जम्बूद्वीपाभिमुखां वेलां—शिखोपरिजलं शिखां च—अर्वाक् पतन्तीं 'धरन्ति' धारयन्ति? कियन्तो नागसहस्रा बाह्यां—धातकीखण्डाभिमुखां वेलां धातकीखण्डद्वीपमध्ये प्रविशन्तीं वारयन्ति?, कियन्तो वा नागसहस्राः '**अग्रोदकं**' देशोनयोजनार्द्धजलादुपरि वर्द्धमानं जलं '**धरन्ति**' वारयन्ति?, भगवानाह—गौतम! द्विचत्वारिंशन्नागसहस्राण्याभ्यन्तरिकीं वेलां धरन्ति द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि बाह्यां वेलां धरन्ति, षष्टिर्नागसहस्राण्यग्रोदकं धरन्ति, उक्तञ्च—"अंर्डिभतरियं वेलं धरंति लवणोदहिस्स नागाणं । बायालीससहस्सा दुसत्तरिसहस्सा बाहिरियं ॥ १ ॥ सर्ट्ठि नागसहस्सा धरंति अग्गोदयं समुद्दस्स" इति । एवमेव '**सपूर्वापरेण**' पूर्वापरसमुदायेन एकं नागशतसहस्रं चतुःसप्ततिश्च नागशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातानि मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः ॥

कति णं भंते! वेलंधरा णागराया पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि वेलंधरा णागराया पण्णत्ता, तंजहा—गोथूभे सिवए संखे मणोसिलए ॥ एतेसि णं भंते! चउण्हं वेलंधरणागरायाणं कति

---

१ षोडश योजनसहस्राणि उच्चा सहस्रमेकं चावगाढा ॥ २ ॥ देशोनमर्द्धयोजनं लवणशिखोपरि द्विवारं द्वयोः कालयोः । अतिरेकमतिरेकं परिवर्द्धते हीयते वाऽपि ॥ ३ ॥ २ आभ्यन्तरिकीं वेलां धारयन्ति लवणोदधेर्नागानां । द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विसप्ततिसहस्राणि बाह्या ॥ १ ॥ षष्टिर्नागसहस्राणि धारयन्ति अग्रोदकं समुद्रस्य ।

आवासपव्वता पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि आवासपव्वता पण्णत्ता, तंजहा—गोथूभे उदगभासे संखे दगसीमाए ॥ कहि णं भंते! गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिमेणं लवणं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसताइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसते कोसं च उव्वेधेणं मूले दसबावीसे जोयणसते आयामविक्खंभेणं मज्झे सत्ततेवीसे जोयणसते उवरिं चत्तारि चउवीसे जोयणसए आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे दो जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं उवरिं एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य ईयाले जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, दोण्हवि वण्णओ ॥ गोथूभस्स णं आवासपव्वतस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव आसयंति ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए बावट्ठं जोयणद्धं च उड्ढं उच्चत्तेणं तं चेव पमाणं अद्धं आयाम-

विक्खंभेणं वण्णओ जाव सीहासणं सपरिवारं ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ गोथूभे आवासपव्वए २?, गोयमा! गोथूभे णं आवासपव्वते तत्थ २ देसे तहिं २ बहुओ खुड्डाखुड्डियाओ जाव गोथूभवण्णाइं बहूइं उप्पलाइं तहेव जाव गोथूभे तत्थ देवे महिड्ढीए जाव पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव गोथूभयस्स आवासपव्वतस्स गोथूभाए रायहाणीए जाव विहरति, से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे॥ रायहाणि पुच्छा गोयमा! गोथूभस्स आवासपव्वतस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवइत्ता अण्णंमि लवणसमुद्दे तं चेव पमाणं तहेव सव्वं ॥ कहि णं भंते! सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासणामे आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते, तं चेव पमाणं जं गोथुभस्स, णवरि सव्वअंकामए अच्छे जाव पडिरूवे जाव अट्ठो भाणियव्वो, गोयमा! दओभासे णं आवासपव्वते लवणसमुद्दे अट्ठजोयणियखेत्ते दगं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोवेति तवति पभासेति सिवए इत्थ देवे महिड्ढीए जाव रायहाणी से दक्खिणेणं सिविगा दओभासस्स सेसं तं चेव ॥ कहि णं भंते! संखस्स वेलंधरणागरायस्स संखे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं बाया-

लीसं जोयणसहस्साइं एत्थ णं संखस्स० वेलंधर० संखे णामं आयासपव्वते तं चेव पमाणं णवरं सव्वरयणामए अच्छे। से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं जाव अट्ठो यहूओ खुड्डाखुड्डिआओ जाव यहूइं उप्पलाइं संखाभाइं संखयण्णाइं संखवण्णाभाइं संखे एत्थ देवे महिड्ढीए जाव रायहाणीए पच्चत्थिमेणं संखस्स आवासपव्वयस्स संखा नाम रायहाणी तं चेव पमाणं॥ कहि णं भंते! मणोसिलकस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स उत्तरेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते तं चेव पमाणं णवरि सव्वफलिहामए अच्छे जाव अट्ठो, गोयमा! दगसीमंते णं आवासपव्वते सीतासीतोदगाणं महाणदीणं तत्थ गतो सोए पडिहम्मति से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे मणोसिलए एत्थ देवे महिड्ढीए जाव से णं तत्थ चउण्हं सामाणिय० जाव विहरति॥ कहि णं भंते! मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स मणोसिला णाम रायहाणी?, गोयमा! दगसीमस्स आवासपव्वयस्स उत्तरेणं तिरि० अण्णंमि लवणे एत्थ णं मणोसिलिया णाम रायहाणी पण्णत्ता तं चेव पमाणं जाव मणोसिलाए देवे—कणगंकरययफालियमया य वेलंधराणमावासा। अणुवेलंधरराईण पव्वया होंति रयणमया॥ १॥ (सू० १६९)

३ प्रतिपत्तौ वेलन्धरावासादिः उद्देशः २ सू० १५९

'कति णं भंते!' इत्यादि, कति भदन्त! वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—चत्वारो वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गोस्तूपः शिवकः शङ्खो मनःशिलाकः ॥ 'एएसि णं'मित्यादि, एतेषां भदन्त! चतुर्णां वेलन्धरनागराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वार आवासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गोस्तूप उदकभासः शङ्खो दकसीमः ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अस्मिन् जम्बूद्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपो नाम आवासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सप्तदश योजनशतानि एकविंशान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, चत्वारि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि क्रोशं चैकमुद्वेधेन, उच्छ्रयापेक्षयाऽवगाहस्य चतुर्भागभावात्, मूले दश योजनशतानि द्वाविंशत्युत्तराणि विष्कम्भतः, मध्ये सप्त योजनशतानि त्रयोविंशत्युत्तराणि, उपरि चत्वारि योजनशतानि चतुर्विंशत्युत्तराणि, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्वात्रिंशदुत्तरे किञ्चिद्विशेषोने परिक्षेपेण, मध्ये द्वे योजनसहस्रे द्वे च योजनशते चतुरशीते किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण, उपर्येकं योजनसहस्रं त्रीणि योजनशतानि एकचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, ततो मूले विस्तीर्णो मध्ये सङ्क्षिप्त उपरि तनुकः, अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितो गोपुच्छस्याप्येवमाकारत्वात्, सर्वात्मना जाम्बूनदमयः, 'अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत् ॥ 'से णं'मित्यादि, 'सः' गोस्तूपनामा आवासपर्वत एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनषण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि चानयोर्वेदिकावनषण्डयोर्वर्णकः प्राग्वत् ॥ 'गोथूभस्स णं'मित्यादि, गोस्तूपस्य णमिति पूर्ववद् आवासपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि प्राग्वद् यावत्तत्र बहवो नागकुमारा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य बहुसमर-

मणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च विजयदेवस्य प्रासादावतंसकसदृशो वक्तव्यः, स चैवं—साद्धानि द्वाषष्टियोजनानि उच्चैस्त्वेन, सक्रोशान्येकत्रिंशद् योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, प्रासादवर्णनमुल्लोचवर्णनं च प्राग्वत्। तस्य च प्रासादावतंसकस्यान्तर्बहुमध्यदेशभागे महत्येका सर्वरत्नमयी मणिपीठिका, सा च योजनायामविष्कम्भप्रमाणा गव्यूतद्वयबाहल्या, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महदेकं सिंहासनं, तच्चेन्द्रसामानिकादिदेवयोग्यैर्भद्रासनैः परिवृतमिति ॥ 'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते गोस्तूप आवासपर्वतो गोस्तूप आवासपर्वतः? इति, भगवानाह—गौतम! गोस्तूपे आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि गोस्तूपप्रभाणि गोस्तूपाकाराणि गोस्तूपवर्णानि गोस्तूपवर्णस्येवाभा—प्रतिभासो येषां तानि गोस्तूपवर्णाभानि, ततस्तानि तदाकारत्वात् तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च गोस्तूपानीति प्रसिद्धानि, तद्योगादावासपर्वतोऽपि गोस्तूपः, अनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति तेन नेतरेतराश्रयदोषः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयं, तथा गोस्तूपश्चात्र भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्करणात् महाद्युतिक इत्यादि परिग्रहः, स च चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षदेवसहस्राणां गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य गोस्तूपायाश्च राजधान्या अन्येषां च बहूनां गोस्तूपराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, ततो गोस्तूपदेवस्वामिकत्वाच्च गोस्तूपः, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतम्॥ सम्प्रति गोस्तूपां राजधानीं पृच्छति—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य पूर्वया दिशा तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे गोस्तूपस्य भुज-

गेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च विजयराजधानीसदृशी वक्तव्या ॥ तदेवमुक्तो गोस्तूपोऽधुना दकाभासवक्तव्यतामाह—'कहिं णं भंते ! सिवगस्से'त्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे शिवकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकाभासो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेषेण वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ अधुना नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! दकाभास आवासपर्वतो लवणसमुद्रे सर्वासु दिक्षु स्वसीमातोऽष्टयोजनिके—अष्टयोजनप्रमाणे क्षेत्रे यदुदकं तत् 'समन्ततः' सामस्त्येनातिविशुद्धाङ्कनामरत्नमयत्वेन स्वप्रभयाऽवभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति चन्द्र इव तापयति सूर्य इव प्रभासयति ग्रहादिरिव ततो दकं पानीयमाभासयति—समन्ततः सर्वासु दिक्षु अवभासयतीति दकाभासः, अन्यच्च शिवको नामात्र पर्वतेषु भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । 'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीण'मित्यादि प्राग्वत् नवरमत्र शिवका राजधानी वक्तव्या, तस्मिंश्च परिवसति स आवासपर्वतो दकमध्येऽतीवाऽऽभासते—शोभते इति दकाभासः, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थं, शिवकाराजधानी दकाभासस्यावासपर्वतस्य दक्षिणतोऽन्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीव भावनीया ॥ अधुना शङ्खनामकावासपर्वतवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते !' इत्यादि, क भदन्त ! शङ्खस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शङ्खो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे शङ्खस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शङ्खो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेषेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ इदानीं नामनिबन्धनमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मि-

त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—शङ्खे आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु वहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रप-
त्राणि शङ्खाभानि—शङ्खाकाराणि शङ्खवर्णानि—श्वेतानीति भावः शङ्खवर्णाभानि—प्रायः शङ्खवर्णसदृशवर्णानि, शङ्खश्चात्र भुजगेन्द्रो भुज-
गराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । 'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सी ण'मित्यादि प्राग्वत्, नवरमत्र शङ्खा
राजधानी वक्तव्या, तदेवं यतस्तद्गतान्युत्पलादीनि शङ्खाकाराणि शङ्खदेवस्वामिकश्चायमतः शङ्ख इति, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहार-
वाक्यं गतार्थं, शङ्खा राजधानी शङ्खस्यावासपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे
विजयाराजधानीसदृशी वक्तव्या ॥ सम्प्रति दकसीमापर्वतवक्तव्यतामाह—**'कहि णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतं, भगवानाह—
गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य **'अत्र'** एतस्मिन्नवकाशे मनःशिल-
कस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकसीमो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सोऽपि गोस्तूपपर्वतवदविशेषेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहा-
सनम् ॥ इदानीं नामनिमित्तं विभणिषुराह—**'से केणट्ठेण'**मित्यादि प्रतीतं, भगवानाह—गौतम! दकसीमे आवासपर्वते शीताशीतो-
दयोर्महानद्योः श्रोतांसि—जलप्रवाहास्तत्र गतानि तस्माच्च तेन प्रतिहतानि प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो दकसीमाकारित्वाद् दकसीमः, दकस्य
सीमा—शीताशीतोदापानीयस्य सीमा यत्रासौ दकसीम इति व्युत्पत्तेः, अन्यच्च मनःशिलको भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको याव-
त्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । **'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीण'**मित्यादि प्राग्वत् नवरं मनःशिलाऽत्र राजधानी वक्तव्या,
ततो मनःशिलस्य देवस्य दके—लवणजलमध्ये सीमा, आवासचिन्तायां मर्यादा, 'अत्रे'ति दकसीमे, मनःशिला च राजधानी दकसी-
मस्यावासपर्वतस्योत्तरतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीव वक्तव्या । तदेवमुक्ताश्चत्वा-

रोऽपि वेलन्धराणामावासपर्वताः, सर्वत्र च गोस्तूपेनातिदेशः कृतः, अत्र च मूलदले विशेषस्ततस्तमभिधित्सुराह—"कणगंकरययफालियमया य वेलंधराणमावासा । अणुवेलंधरराईण पव्वया होंति रयणमया ॥ १ ॥" वेलन्धराणां—गोस्तूपादीनामावासा गोस्तूपादयश्चत्वारः पर्वता यथाक्रमं कनकाङ्करजतस्फटिकमयाः, गोस्तूपः कनकमयो दकाभासोऽङ्करत्नमयः शङ्खो रजतमयो दकसीमः स्फटिकमय इति, तथा महतां वेलन्धराणामादेशप्रतीच्छकतयाऽनुयायिनो वेलन्धराश्चानुवेलन्धराः ते च ते राजानश्च अनुवेलन्धरराजास्तेषामावासपर्वता रत्नमया भवन्ति ॥

कइ णं भंते! अणुवेलंधररायाणो पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि अणुवेलंधरणागरायाणो पण्णत्ता, तंजहा—कक्कोडए कद्दमए केलासे अरुणप्पभे ॥ एतेसि णं भंते! चउण्हं अणुवेलंधरणागरायाणं कति आवासपव्वया पन्नत्ता?, गोयमा! चत्तारि आवासपव्वया पण्णत्ता, तंजहा—कक्कोडए १ कद्दमए २ कइलासे ३ अरुणप्पभे ४ ॥ कहि णं भंते! कक्कोडगस्स अणुवेलंधरणागरायस्स कक्कोडए णाम आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कक्कोडगस्स नागरायस्स कक्कोडए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसताइं तं चेव पमाणं जं गोथूभस्स णवरि सव्वरयणामए अच्छे जाव निरवसेसं जाव सपरिवारं अट्ठो से बहूइं उप्पलाइं कक्कोडप्पभाइं सेसं तं चेव णवरि कक्कोडगपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं तं चेव सव्वं, कद्दमस्सवि सो

चेव गमओ अपरिसेसिओ, णवरि दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो विज्जुप्पभा रायहाणी दाहिणपुरत्थिमेणं, कइलासेवि एवं चेव, णवरि दाहिणपच्चत्थिमेणं कयलासावि रायहाणी ताए चेव दिसाए, अरुणप्पभेवि उत्तरपच्चत्थिमेणं रायहाणीवि ताए चेव दिसाए, चत्तारि विगप्पमाणा सव्वरयणामया य ॥ (सू० १६०)

'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त ! अनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम ! चत्वारोऽनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कोटकः १ कर्दमः २ कैलासः ३ अरुणप्रभश्च ॥ 'एएसि ण'मित्यादि, एतेषां भदन्त ! चतुर्णामनुवेलन्धरराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वारोऽनुवेलन्धरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कोटको विद्युत्प्रभः कैलासः अरुणप्रभश्च, कर्कोटकस्य कर्कोटकः कर्दमस्य विद्युत्प्रभः कैलाशस्य कैलाशः अरुणप्रभस्यारुणप्रभ इत्यर्थः ॥ 'कहि णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे कर्कोटकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य कर्कोटको नामावासपर्वतकः प्रज्ञप्तः, 'सत्तरसएकवीसाइं जोयणसयाइं' इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतोक्ता सैवेहापि अहीनानतिरिक्ता भणितव्या, नवरं सर्वरत्नमय इति वक्तव्यं, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्माच्च क्षुल्लाक्षुल्लिकासु वापीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि कर्कोटकप्रभाणि कर्कोटकाकाराणि ततस्तानि कर्कोटकादीनि व्यवह्रियन्ते तद्योगात्पर्वतोऽपि कर्कोटकः, तथा कर्कोटकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति ततः कर्कोटकस्वामित्वात्कर्कोटकः, राजधान्यपि कर्कोटस्यावासपर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान्

३ प्रतिपत्तौ अनुवेलन्धरराजावासादिः उद्देशः २ सू० १६०

द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य कर्कोटकाभिधाना विजयाराजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं कर्दमकैलाशारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवरं जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमको दक्षिणापरस्यां कैलाशः अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात्कर्दमके आवासपर्वते उत्पलादीनि कर्दमकप्रभाणि ततः कर्दमकभावना प्रागिव, अन्यच्च कर्दमके विद्युत्प्रभो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्वभावाद् यक्षकर्दमप्रियः, यक्षकर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तुरिकाचन्दनमेलापकः, उक्तञ्च—"कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरीचन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्तं, नामतो यक्षकर्दमम् ॥ १ ॥" ततः प्राचुर्येण यक्षकर्दमसम्भवाद्वासौ पूर्वपदलोपे सत्यभामा भामेतिवत् कर्दम इत्युच्यते, कैलाशे कैलाशप्रभाण्युत्पलादीनि कैलाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति ततः कैलाशः, एवमरुणप्रभेऽपि वक्तव्यं, कर्दमकाराजधानी कर्दमस्यावासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वया कैलाशा कैलाशस्यावासपर्वतस्य दक्षिणापरयाऽरुणप्रभा अरुणप्रभस्यावासपर्वतस्यापरोत्तरया तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रेऽरुणप्रभाराजधानी विजयाराजधानीव वाच्या ॥

कहि णं भंते! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे णामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे २ पण्णत्ते, बारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसं जोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसोणे परिक्खेवेणं, जंबूदीवंतेणं अद्धेकोणणउते जोयणाइं चत्तालीसं पंचणउतिभागे जोयणस्स ऊसिए जलंताओ लवणसमुद्दं-

तेणं दो कोसे ऊसिते जलंताओ ॥ से णं एगाए य पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता तहेव वण्णओ दोण्हवि । गोयमदीवस्स णं दीवस्स अंतो जाव बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहानामए—आलिंग० जाव आसयंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स एगे महं अइक्कीलावासे नामं भोमेज्जविहारे पण्णत्ते बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठे भवणवण्णओ भाणियव्वो । अइक्कीलावासस्स णं भोमेज्जविहारस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीणं भासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ एगा मणिपेढिया पण्णत्ता । सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणबाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं देवसयणिज्जे पण्णत्ते वण्णओ ॥ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—गोयमदीवे णं दीवे ?, तत्थ २ तहिं २ बहूइं उप्पलाइं जाव गोयमप्पभाइं से एएणट्ठेणं गोयमा ! जाव णिच्चे । कहि णं भंते ! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स सुट्ठिया णामं रायहाणी पण्णत्ता ?, गोयमदीवस्स पच्चत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे जाव अण्णंमि लवणसमुद्दे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एवं तहेव सव्वं णेयव्वं जाव सुत्थिए देवे ॥ (सू० १६१)

'कहिं णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, द्वादश योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां, सप्तत्रिंशद् योजनसहस्राणि नव चाष्टाचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, 'जंबूदीवंतेणं'मिति जम्बूद्वीपदिशि 'अर्द्धैकोननवतीनि' अर्द्धमेकोननवतेर्येषां तानि अर्द्धैकोननवतीनि साद्धाष्टाशीतिसङ्ख्यानीति भावः, योजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्य 'जलान्तात्' जलपर्यन्तादूर्द्धमुच्छ्रितः, एतावान् जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः, 'लवणसमुद्रान्ते' लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ जलान्तादुच्छ्रितौ, द्वावेव क्रोशौ जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः ॥ 'से णं'मित्यादि, स एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णनं प्राग्वत् । तस्य च गौतमद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं प्राग्वद् यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनं वाप्यादिवर्णनं यावद्बहवो वानमन्तरा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति । तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र सुस्थितस्य लवणाधिपस्य योग्यो महानेकः 'अतिक्रीडावासः' अत्यर्थं क्रीडावासो नाम भौमेयविहारः प्रज्ञप्तः, सार्द्धानि द्वाषष्टियोजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं च योजनानि क्रोशमेकं च विष्कम्भेन 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठे' इत्यादि भवनवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत् । तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा योजनमायामविष्कम्भाभ्यां अर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा ॥ 'तीसे णं'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि देवशयनीयं, तस्य वर्णक उपर्यष्टाष्टमङ्गलकादिकं च प्राग्वत् ॥ नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेणं'मित्यादि, अथ 'केनार्थेन' केन कारणेन एवमुच्यते—गौतमद्वीपो नाम द्वीपः?, भगवा-

नाह—गौतमद्वीपस्य शाश्वतमिदं नामधेयं न कदाचिन्नासीदित्यादि प्राग्वत् । पुस्तकान्तरेषु पुनरेवं पाठः—'गोयमदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहूइं उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं गोयमप्पभाइं गोयमवण्णाइं गोयमवण्णाभाइं' इति, एवं प्राग्वद् भावनीयः । सुस्थितश्चात्र लवणाधिपो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावत्षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां गौतमद्वीपस्य सुस्थितायाश्च राजधान्या अन्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, तत एवमेव शाश्वतनामत्वात्, पाठान्तरे तद्गतानि उत्पलादीनि गौतमप्रभाणीति गौतमानीति प्रसिद्धानि ततस्तद्योगात्तथा, तदधिपतिगौतमाधिपतिरिति प्रसिद्धं इति सामर्थ्यादेष गौतमद्वीप इति । उपसंहारमाह—'से तेणट्ठेण'मित्यादि गतार्थम् ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कद्वीपप्रतिपादनार्थमाह—

कहि णं भंते! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जंबूदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, जंबुद्दीवंतेणं अद्धेकोणणउइं जोयणाइं चत्तालीसं पंचाणउतिं भागे जोयणस्स ऊसिया जलंतातो लवणसमुद्दंतेणं दो कोसे ऊसिता जलंताओ, बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, सेसं तं चेव जहा गोतमदीवस्स परिक्खेवो पउमवरवेइया पत्तेयं २ वणसंडपरि० दोण्हवि वण्णओ बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव जोइसिया देवा आसयंति। तेसि णं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पासायवडेंसगा बावट्ठि जोयणाइं बहुम-

ज्ज० मणिपेढियाओ दो जोयणाइं जाव सीहासणा सपरिवारा भाणियव्वा तहेव अट्ठो, गोयमा! बहुसु खुड्डासु खुड्डियासु बहूइं उप्पलाइं चंदवण्णाभाइं चंदा एत्थ देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव चंददीवाणं चंदाण य रायहाणीणं अन्नेसिं च बहूणं जोतिसियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! चंददीवा जाव णिच्चा । कहि णं भंते! जंबुदीवगाणं चंदाणं चंदाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! चंददीवाणं पुरत्थिमेणं तिरियं जाव अण्णंमि जंबूदीवे २ बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव पमाणं जाव एमहिड्ढीया चंदा देवा २ ॥ कहि णं भंते! जंबुदीवगाणं सूराणं सूरदीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव उच्चत्तं आयामविक्खंभेणं परिक्खेवो वेदिया वणसंडा भूमिभागा जाव आसयंति पासायवडेंसगाणं तं चेव पमाणं मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो उप्पलाइं सूरप्पभाइं सूरा एत्थ देवा जाव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि जंबूदीवे दीवे सेसं तं चेव जाव सूरा देवा ॥ (सू० १६२) कहि णं भंते! अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयण-

सहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, जहा जंबुद्दीवगा चंदा तहा भाणियव्वा णवरि रायहाणीओ अण्णंमि लवणे सेसं तं चेव। एवं अब्भिंतरलावणगाणं सूराणवि लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ॥ कहि णं भंते! बाहिरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता?, गोयमा! लवणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ लवणसमुद्दं पच्चत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं बाहिरलावणगाणं चंददीवा नामं दीवा पण्णत्ता धायतिसंडदीवंतेणं अद्धेकोणणवतिजोयणाइं चत्तालीसं च पंचणउतिभागे जोयणस्स ऊसिता जलंतातो लवणसमुद्दंतेणं दो कोसे ऊसिता बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पउमवरवेइया वणसंडा बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा सो चेव अट्ठो रायहाणीओ सगाण दीवाणं पुरत्थिमेणं तिरियमसं० अण्णंमि लवणसमुद्दे तहेव सव्वं। कहि णं भंते! बाहिरलावणगाणं सूराणं सूरदीवा णामं दीवा पण्णत्ता? गोयमा! लवणसमुद्दपच्चत्थिमिल्लातो वेदियंताओ लवणसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं धायतिसंडदीवंतेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाइं चत्तालीसं च पंचनउतिभागे जोयणस्स दो कोसे ऊसिया सेसं तहेव जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे लवणे चेव बारस जोयणा तहेव सव्वं भाणियव्वं॥

(सू० १६३) कहि णं भंते! धायतिसंडदीवगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ?, गोयमा! धायतिसंडस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ कालोयं णं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं धायतिसंडदीवाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, सव्वतो समंता दो कोसा ऊसिता जलंताओ बारस जोयणसहस्साइं तहेव विक्खंभपरिक्खेवो भूमिभागो पासायवडिंसया मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो तहेव रायहाणीओ, सकाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं अण्णंमि धायतिसंडे दीवे सेसं तं चेव, एवं सूरदीवावि, नवरं धायइसंडस्स दीवस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेदियंताओ कालोयं णं समुद्दं बारस जोयण० तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ सूराणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि धायइसंडे दीवे सव्वं तहेव ॥ (सू० १६४) कहि णं भंते! कालोयगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता?, गोयमा! कालोयसमुद्दस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेदियंताओ कालोयण्णं समुद्दं पच्चत्थिमेण बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कालोयगचंदाणं चंददीवा सव्वतो समंता दो कोसा ऊसिता जलंतातो सेसं तहेव जाव रायहाणीओ सगाणं दीव० पुरच्छिमेणं अण्णंमि कालोयगसमुद्दे बारस जोयणा तं चेव सव्वं जाव चंदा देवा २। एवं सूराणवि, णवरं कालोयगपच्चत्थिमिल्लातो वेदियंतातो कालोयसमुद्दपुरच्छिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि कालोयगसमुद्दे त-

हेव सव्वं। एवं पुक्खरवरगाणं चंदाणं पुक्खरवरस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पुक्खरसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता चंददीवा अण्णंमि पुक्खरवरे दीवे रायहाणीओ तहेव। एवं सूराणवि दीवा पुक्खरवरदीवस्स पच्चत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पुक्खरोदं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवे समुद्दगाणं समुद्दे चेव एगाण अब्भिंतरपासे एगाणं बाहिरपासे रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवेसु समुद्दगाणं समुद्देसु सरिणामतेसु (सू० १६५) इमे णामा अणुगंतव्वा, जंबुद्दीवे लवणे धायइ कालोद पुक्खरे वरुणे। खीर घय इक्खु[वरो य]णंदी अरुणवरे कुंडले रुयगे ॥ १ ॥ आभरणवत्थगंधे उप्पलतिलते य पुढवि णिहिरयणे। वासहरदहनईओ विजया वक्खारकप्पिंदा ॥ २ ॥ पुरमंदरमावासा कूडा णक्खत्तचंदसूरा य। एवं भाणियव्वं ॥ (सू० १६६)

'कहि णं भंते!' इत्यादि ॥ क भदन्त! जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ?, भगवानाह—'गोयमे'त्यादि सर्वं गौतमद्वीपवत्परिभावनीयं, नवरमत्र जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशीति वक्तव्यं, तथा प्रासादावतंसको वक्तव्यः, तस्य चायामादिप्रमाणं तथैव, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात्क्षुल्लिकावाप्यादिषु बहूनि उत्पलादीनि यावत्सहस्रपत्राणि चन्द्रप्रभाणि—चन्द्रवर्णानि, चन्द्रौ च ज्योतिषेन्द्रौ ज्योतिषराजौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ चन्द्रौ प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां स्वस्य

स्वस्य चन्द्रद्वीपस्य स्वस्याश्चन्द्राभिधानाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां ज्योतिषाणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरतः । तत-
स्तद्व्रतोत्पलादीनां चन्द्राकारत्वाच्चन्द्रवर्णत्वाच्चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च तौ चन्द्रद्वीपौ इति, चन्द्राभिधे च राजधान्यौ तयोश्चन्द्रद्वीपयोः पू-
र्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीसदृश्यौ
वक्तव्ये । एवं जम्बूद्वीपगतसूरसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एनमेव लवणसमुद्रमवगाह्य वक्तव्यं,
राजधान्यावपि स्वकद्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे वक्तव्ये, शेषं सर्वं चन्द्रद्वीपवद्भावनीयं नवरं चन्द्रस्थाने सूर्यग्रह-
णमिति ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, लवणे भवौ लावणिकौ अभ्यन्तरौ च तौ
लावणिकौ च अभ्यन्तरलावणिकौ शिखाया अर्वाक्चारिणावित्यर्थः तयोः, सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्, शेषं सुगमं, भगवा-
नाह—गौतम! जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि एनमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे अभ्यन्तरलावणि-
कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ वक्तव्यौ, इत्यादि जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवन्निरवशेषं वक्तव्यं, नवरमत्र राजधान्यौ स्वकी-
ययोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वेदितव्ये । एवमभ्यन्तरलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा-
वपि वक्तव्यौ, नवरं तौ जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एनमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्यौ, राजधान्यावपि
स्वकीययोः द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशः योजनसहस्राण्यवगाह्येति ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त!
बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ?, बाह्यलावणिकौ नाम लवणसमुद्रे शिखाया बहिश्चारिणौ चन्द्रौ, भगवानाह—
गौतम! लवणसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तादर्वाग् लवणसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्च-

न्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ, तौ च धातकीषण्डद्वीपान्तेन—धातकीषण्डद्वीपदिशि अर्द्धैकोननवतियोजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवति-भागान् योजनस्योदकादूर्द्ध्वमुच्छ्रितौ लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ, शेषवक्तव्यताऽभ्यन्तरलावणिकचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्या, अत्रापि च राजधान्यौ स्वकीययोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे वक्तव्ये, एवं बाह्यलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरमत्र लवणसमुद्रस्य पश्चिमाद् वेदिकान्ताल्लवणसमुद्रं पूर्वस्यां दिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यं, राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे इति ॥ सम्प्रति धातकीषण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामभिधित्सुराह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! धातकीषण्डद्वीपगतानां चन्द्राणां, तत्र द्वादश चन्द्रा इति बहुवचनं, चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि कालोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र धातकीषण्डगतानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः, ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्याः, नवरं ते सर्वासु दिक्षु जलादूर्द्ध्वं द्वौ क्रोशौ उच्छ्रितौ इति वक्तव्यं, तत्र पानीयस्य सर्वत्रापि समत्वाद्, राजधान्योऽपि तेषां स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः, एवं धातकीषण्डगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः, नवरं धातकीषण्डस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्कालोदसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः, राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूरद्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे शेषं तथैव ॥ सम्प्रति कालोदसमुद्रगतचन्द्रादित्यसत्कद्वीपवक्तव्यतां प्रतिपिपादयिषुराह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, 'कालोयगाणं'मित्यादि, क भदन्त! 'कालोदगानां' कालोदसमुद्रसत्कानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रस्य पूर्वस्माद् वेदिकान्ता-

त्कालोदसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र कालोदसमुद्रगतचन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः, ते च सर्वासु दिक्षु जलादूर्द्ध्वं द्वौ द्वौ क्रोशावुच्छ्रितौ, शेषं तथैव । राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् कालोदसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः । एवं कालोदगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः, नवरं कालोदसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्कालोदसमुद्रं पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यं, राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे, शेषं तथैव । एवं पुष्करवरद्वीपगतानां चन्द्राणां पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पुष्करोदसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य द्वीपा वक्तव्याः, राजधान्यः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, पुष्करवरद्वीपगतसूर्याणां द्वीपाः पुष्करवरद्वीपस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पुष्करवरसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः, राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, पुष्करवरसमुद्रगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः, राजधान्यः स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरसमुद्रे द्वादश योजनसहस्रेभ्यः परतः, पुष्करवरसमुद्रगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पूर्वतो द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः । एवं शेषद्वीपगतानामपि चन्द्राणां चन्द्रद्वीपगतात्पूर्वस्माद्वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः, सूर्याणां सूर्यद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात्प-

श्चिमान्ताद्वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे, राजधान्यश्चन्द्राणामासीयचन्द्रद्वीपेभ्यः पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके २ द्वीपे, सूर्याणामप्यासीयसूर्यद्वीपेभ्यः पश्चिमदिशि तस्मिन्नेव सदृशनामकेऽन्यस्मिन् द्वीपे द्वादश योजनसहस्रेभ्यः परतः, शेषसमुद्रगतानां तु चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, सूर्याणां तु स्वस्वसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, चन्द्राणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके समुद्रे, सूर्याणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पश्चिमदिशि, केवलमग्रेतनशेषद्वीपसमुद्रगतानां चन्द्रसूर्याणां राजधान्योऽन्यस्मिन् सदृशनामके द्वीपे समुद्रे वाऽग्रेतने वा पश्चात्तने वा प्रतिपत्तव्या नाग्रेतन एवान्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेः ॥ एतच्च देवद्वीपादर्वाक् सूर्यवराभासं यावद्, देवद्वीपादिषु तु राजधानीः प्रति विशेषस्तमभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! देवदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! देवदीवस्स देवोदं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तेणेव कमेण पुरत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं देवदीवं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं देवदीवयाणं चंदाणं चंदाओ णामं रायहाणीओ पण्णत्ताओ, सेसं तं चेव, देवदीवचंदा दीवा, एवं सूराणवि, णवरं पच्चत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पच्चत्थिमेणं च भाणितव्वा, तंमि चेव समुद्दे ॥ कहि णं भंते! देवसमुद्दगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! देवोदगस्स समुद्दगस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ देवोदगं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं तेणेव

कमेणं जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं देवोदगाणं चंदाणं चंदाओ णामं रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं चेव सव्वं, एवं सूराणवि, णवरि देवोदगस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता रायहाणीओ सगाणं २ दीवाणं पुरत्थिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं। एवं णागे जक्खे भूतेवि चउण्हं दीवसमुद्दाणं। कहि णं भंते! सयंभूरमणदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, सयंभुरमणस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो सयंभुरमणोदगं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं तहेव रायहाणीओ सगाणं २ दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दं पुरत्थिमेणं असंखेज्जाइं जोयण० तं चेव, एवं सूराणवि, सयंभूरमणस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेदियंताओ रायहाणीओ सकाणं २ दीवाणं पच्चत्थिमिल्लाणं सयंभुरमणोदं समुद्दं असंखेज्जा० सेसं तं चेव। कहि णं भंते! सयंभूरमणसमुद्दकाणं चंदाणं०, सयंभुरमणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो सयंभुरमणं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, सेसं तं चेव। एवं सूराणवि, सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लाओ सयंभुरमणोदं समुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं सयंभुरमण जाव सूरादेवा

॥(सूत्रं १६७) अत्थि णं भंते! लवणसमुद्दे वेलंधराति वा णागराया खन्नाति वा अग्घाति वा सिंहाति वा विजाती वा ह्रासवट्टीति?, हंता अत्थि। जहा णं भंते! लवणसमुद्दे अत्थि वेलंधराति वा णागराया अग्घा सिंहा विजाती वा ह्रासवट्टीति वा तहा णं बाहिरतेसुवि समुद्देसु अत्थि वेलंधराइ वा णागरायाति वा अग्घाति वा सीहाति वा विजातीति वा ह्रासवट्टीति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे॥ (सूत्रं १६८) लवणे णं भंते! समुद्दे किं ऊसितोदगे किं पत्थडोदगे किं खुभियजले किं अखुभियजले?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे ऊसिओदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले। जहा णं भंते! लवणे समुद्दे ओसितोदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले तहा णं बाहिरगा समुद्दा किं ऊसिओदगा पत्थडोदगा खुभियजला अक्खुभियजला?, गोयमा! बाहिरगा समुद्दा नो उस्सितोदगा पत्थडोदगा नो खुभियजला अक्खुभियजला पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठंति॥ अत्थि णं भंते! लवणसमुद्दे बहवो ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वा वासं वासंति वा?, हंता अत्थि। जहा णं भंते! लवणसमुद्दे बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति वा तहा णं बाहिरएसुवि समुद्देसु बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चति बाहिरगा णं समुद्दा पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडियाए

चिट्ठंति?, गोयमा! बाहिरएसु णं समुद्देसु बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति–बाहिरगा समुद्दा पुण्णा पुण्ण० जाव समभरघडत्ताए चिट्ठंति ॥(सू० १६९)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! देवद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्ताद् देवोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ता इत्यादि प्राग्वत्, राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रा नाम राजधान्यः प्रज्ञप्ताः, ता अपि विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः ॥ **'कहि णं भंते!'** इत्यादि, क्व भदन्त! देवद्वीपगानां सूर्याणां सूर्यद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! देवद्वीपस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्ताद् देवोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि। राजधान्यः स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि ॥ **'कहि णं भंते!'** इत्यादि, क्व भदन्त! देवसमुद्राणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, गौतम! देवोदस्य समुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्ताद्देवोदकं समुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवोदसमुद्रगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्तास्ते च प्राग्वत्। राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि देवोदकं समुद्रमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः, देवोदकसमुद्रगानां सूर्याणां सूर्यद्वीपा देवोदकस्य समुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्ताद् देवोदकं समुद्रं पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः, राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वदिशि देवोदकं समुद्रमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य, एवं नागयक्षभूतस्वयम्भूरमण-

द्वीपसमुद्रचन्द्रादित्यानामपि वक्तव्यं, द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां चन्द्रादित्यद्वीपा अनन्तरसमुद्रे, समुद्रगतानां तु स्वस्वसमुद्र एव, राजधान्यो द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां स्वस्वद्वीपे, समुद्रगतानां स्वस्वसमुद्रे, आह च मूलटीकाकारोऽपि—"एवं शेषद्वीपगतचन्द्रादित्यानामपि द्वीपा अनन्तरसमुद्रेष्ववगन्तव्याः, राजधान्यश्च तेषां पूर्वापरतोऽसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा ततोऽन्यस्मिन् सदृशनाम्नि द्वीपे भवन्ति, अन्त्यानिमान् पञ्च द्वीपान् मुक्त्वा देवनागयक्षभूतस्वयम्भूरमणाख्यान्, न तेषु चन्द्रादित्यानां राजधान्योऽन्यस्मिन् द्वीपे, अपि तु स्वस्मिन्नेव पूर्वापरतो वेदिकान्तादसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य भवन्तीति," इह बहुधा सूत्रेषु पाठभेदाः परमेतावानेव सर्वत्राप्यर्थोऽनर्थभेदान्तरमित्येतद्व्याख्यानुसारेण सर्वेऽप्यनुगन्तव्या न मोग्धव्यमिति ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! लवणसमुद्रे वेलन्धरा इति वा नागराजाः, अग्घा इति वा खन्ना इति वा सीहा इति वा जाइ इति वा ?, अग्घादयो मत्स्यकच्छपविशेषाः, आह च चूर्णिकृत्—"अग्घा खन्ना सीहा विजाइं इति मच्छकच्छभा" इति, ह्रस्ववृद्धी जलस्येति गम्यते इति, भगवानाह—गौतम सन्ति । 'जहा णं भंते! लवणसमुद्दे वेलंधरा इति वा' इत्यादि पाठसिद्धम् ॥ 'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किमुच्छ्रितोदकः प्रस्तटोदकः—प्रस्तटाकारतया स्थितमुदकं यस्य स तथा, सर्वतः समोदक इति भावः, क्षुभितं जलं यस्य स क्षुभितजलस्तत्प्रतिषेधादक्षुभितजलः ?, भगवानाह—गौतम! उच्छ्रितोदको न प्रस्तटोदकः क्षुभितजलो नाक्षुभितजलः ॥ 'जहा णं भंते!' इत्यादि, यथा भदन्त! लवणसमुद्र उच्छ्रितोदक इत्यादि तथा बाह्या अपि समुद्राः किमुच्छ्रितोदकाः प्रस्तटोदकाः क्षुभितजला अक्षुभितजलाः ?, भगवानाह—गौतम! बाह्याः समुद्रा न उच्छ्रितोदकाः किन्तु प्रस्तटोदकाः सर्वत्र समोदकत्वात्, तथा न क्षुभितजलाः किन्त्वक्षुभितजलाः क्षोभहेतुपातालकलशाद्यभावात्, किन्तु ते पूर्णाः, तत्र किञ्चिद्धीनमपि व्यवहारतः पूर्णं भवति तत आह—

पूर्णप्रमाणाः स्वप्रमाणं यावज्जलेन पूर्णा इति भावः, **'वोसट्टमाणा'** परिपूर्णभृततया उल्लुठन्त इवेति भावः, **'वोलट्टमाणा'** इति विशेषण उल्लुट्टन्त इवेत्यर्थः **'समभरघडत्ताए चिट्ठंति'** इति समं–परिपूर्णो भरो–भरणं यस्य स समभरः परिपूर्णभृत इत्यर्थः स चासौ घटश्च समभरघटस्तद्भावस्तत्ता तया समभृतघट इव तिष्ठन्तीति भावः ॥ **'अत्थि णं भंते!'** इत्यादि, अस्त्येतद् भदन्त! लवणसमुद्रे **'ओराला वलाहका'** उदारा मेघाः **'संस्विद्यन्ते'** संमूर्च्छनाभिमुखीभवन्ति, तदनन्तरं संमूर्छन्ति, ततो **'वर्षं'** पानीयं वर्षन्ति?, भगवानाह— हन्त! अस्ति ॥ 'जहा णं भंते! लवणसमुद्दे' इत्यादि प्रतीतम् ॥ **'से केणट्ठेण'**मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते बाह्याः समुद्राः पूर्णाः पूर्णप्रमाणाः? इत्यादि प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! बाह्येषु समुद्रेषु बहव उदकयोनिका जीवाः पुद्गलाश्चोदकतया **'अपक्रामन्ति'** गच्छन्ति **'व्युत्क्रामन्ति'** उत्पद्यन्ते, एके गच्छन्त्यन्ये उत्पद्यन्त इति भावः, तथा **'चीयन्ते'** चयमुपगच्छन्ति **'उपचीयन्ते'** उपचयमायान्ति, एतच्च पुद्गलान् प्रति द्रष्टव्यं, पुद्गलानामेव चयोपचयार्थप्रसिद्धेः, **'से एएणट्ठेण'**मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतं ॥ सम्प्रत्युद्वेधपरिवृद्धिं चिचिन्तयिषुरिदमाह—

लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं उव्वेहपरिवुड्ढीते पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं २ पदेसे गंता पदेसं उव्वेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, पंचाणउतिं २ वालग्गाइं गंता वालग्गं उव्वेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, प० लिक्खाओ गंता लिक्खा उव्वेहपरि० पंचाणउइ जवाओ जवमज्झे अंगुलविहत्थिरयणीकुच्छी धणु [उव्वेहपरिवुड्ढीए] गाउयजोयणजोयणसतजोयणसहस्साइं गंता जोयणसहस्सं उव्वेहपरिवुड्ढीए ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं उस्सेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते?,

गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं पदेसे गंता सोलसपएसे उस्सेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स एएणेव कमेणं जाव पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं गंता सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेधपरिवुड्ढिए पण्णत्ते ॥ (सू० १७०)

'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः **'कियत्'** कियन्ति योजनानि यावद् उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः?, किमुक्तं भवति?—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियन्ति योजनानि यावत् मात्रया मात्रया उद्वेधपरिवृद्धिरिति, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रे उभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिप्रदेशान् गत्वा प्रदेश उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः, इह प्रदेशस्त्रसरेण्वादिरूपो द्रष्टव्यः, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वैकं वालाग्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तं, एवं लिक्षायवमध्याङ्गुलवितस्तिरत्निकुक्षिधनुर्गव्यूतयोजनयोजनशतसूत्राण्यपि भावनीयानि, पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि गत्वा योजनसहस्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तं, त्रैराशिकभावना चैवं योजनादिषु द्रष्टव्या, इहोभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहेन दृष्टं ततस्त्रैराशिककर्मावतारः, यदि पञ्चनवतिसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहस्ततः पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते कोऽवगाहः?, राशित्रयस्थापना—९५०००।१०००।९५। अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रयस्यापवर्त्तना ९५।१।९५, ततो मध्यस्य राशेरेकरूपस्य अन्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन राशिना गुणनात् जाता पञ्चनवतिः, तत्राद्येन राशिना पञ्चनवतिलक्षणेन विभज्यते लब्धमेकं योजनं, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गंतूणं जोयणाणि उभओवि। जोयणसहस्समेगं लवणे ओगाहओ होइ ॥ १ ॥ पंचाणउईण वगे (लवणे) गंतूणं जोयणाणि उभओवि। जोयणमेगं लवणे ओगाहेणं मुणेयव्वा ॥ १ ॥" पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते च यद्येकं यो-

जनमवगाहस्ततोऽर्थात्पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते एकं गव्यूतं पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते एकं धनुरित्यादि लब्धम् ॥ सम्प्रत्युत्सेधमधिकृत्याह—'**लवणे णं भंते! समुद्दे**' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः '**कियत्**' कियन्ति योजनानि उत्सेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः?, एतदुक्तं भवति—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियत्या कियत्या मात्रया कियन्ति योजनानि यावदुत्सेधपरिवृद्धिः?, भगवानाह—गौतम! '**लवणस्स णं समुद्दस्से**'त्यादि, इह निश्चयतो लवणसमुद्रस्य जम्बूद्वीपवेदिकातो लवणसमुद्रवेदिकातश्च समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसङ्ख्येयभागः, समतलमेव भूभागमधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावद्वसेया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते सप्त शतानि, ततः परं मध्यदेशभागे दशयोजनसहस्रविस्तारे षोडश योजनसहस्राणि, इह तु षोडशयोजनसहस्रप्रमाणायाः शिखायाः शिरसि उभयोश्च वेदिकान्तयोर्मूले दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले किमपि जलरहितमाकाशं तदपि करणगत्या तदाभाव्यमिति स जलं विवक्षित्वाऽधिकृतमुच्यते—लवणस्य समुद्रस्योभयतो जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्च पञ्चनवतिं प्रदेशान् गत्वा षोडश प्रदेशा उत्सेधपरिवृद्धिः प्रज्ञप्ता, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वा षोडश वालाग्राणि, एवं यावत् पञ्चनवति योजनसहस्राणि गत्वा षोडश योजनसहस्राणि, अत्रेयं त्रैराशिकभावना—पञ्चनवतियोजनसहस्रातिक्रमे षोडश योजनसहस्राणि जलोत्सेधस्ततः पञ्चनवतियोजनातिक्रमे क उत्सेधः?, राशित्रयस्थापना—९५०००।१६०००।९५। अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रिकस्यापवर्त्तना ९५।१६।९५, ततो मध्यमराशेः षोडशलक्षणस्यान्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन गुणने जातानि पञ्चदश शतानि विंशत्यधिकानि १५२०, एषामादिराशिना पञ्चनवतिलक्षणेन भागे हृते लब्धानि षोडश योजनानि, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गंतूणं जोयणाणि उभओवि । उस्सेहेणं लवणो सोलससाहस्सिओ

भणिओ ॥ १ ॥ पंचाणउई लवणे गंतूणं जोयणाणि उभओवि । उस्सेहेणं लवणो सोलस किल जोयणे होइ ॥ २ ॥" तत्र यदि पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते षोडशयोजनावगाहस्ततोऽर्थाल्लभ्यते पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते षोडश गव्यूतानि पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते षोडश धनूंषीत्यादि ॥ सम्प्रति गोतीर्थप्रतिपादनार्थमाह—

लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए गोतित्थे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं गोतित्थं पण्णत्तं ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स दस जोयणसहस्साइं गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए उदगमाले पण्णत्ते?, गोयमा! दस जोयणसहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते ॥ (सू० १७१)

'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य 'किंमहत्' किंप्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थं प्रज्ञप्तं?, गोतीर्थमिव गोतीर्थ—क्रमेण नीचो नीचतरः प्रवेशमार्गः, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्योभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि यावद् गोतीर्थं प्रज्ञप्तम्, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गोतित्थं उभयतोवि लवणस्स" इति ॥ 'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य 'किंमहत्' किंप्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्य दश योजनसहस्राणि गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तम् ॥ 'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त!

समुद्रस्य 'किंमहती' विस्तारमधिकृत्य किंप्रमाणमहत्त्वा उदकमाला—समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! दश योजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता ॥

लवणे णं भंते! समुद्दे किंसंठिए पण्णत्ते?, गोयमा! गोतित्थसंठिते नावासंठाणसंठिते सिप्पिसंपुडसंठिए आसखंधसंठिते वलभिसंठिते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते पण्णत्ते ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवतियं परिक्खेवेणं? केवतियं उव्वेहेणं? केवतियं उस्सेहेणं? केवतियं सव्वग्गेणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं च इगुयालं किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेधेणं सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेहेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्तं ॥ (सूत्रं १७२) जइ णं भंते! लवणसमुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं इगुयालं किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेधेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। कम्हा णं भंते! लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं २ नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एक्कोदगं करेंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे भरहेरवएसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टिबलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाधरा समणा समणीओ सावया सावियाओ मणुया एगध-

च्चा पगतिभद्दया पगतिविणीया पगतिउवसंता पगतिपयणुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दगा विणीता, तेसि णं पणिहाते लवणे समुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एगोदगं करेंति, गंगासिंधुरत्तारत्तवईसु सलिलासु देवया महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तेसिणं पणिहाए लवणसमुद्दे जाव नो चेव णं एगोदगं करेंति, चुल्लहिमवंतसिहरेसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्ढिया तेसि णं पणिहाए०, हेमवतेरण्णवतेसु वासेसु मणुया पगतिभद्दगा०, रोहितंससुवण्णकूलरूप्पकूलासु सलिलासु देवयाओ महिड्ढियाओ तासिं पणि०, सद्दावतिवियडावति वट्टवेयड्ढपव्वतेसु देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिव०, महाहिमवंतरुप्पिसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया, हरिवासरम्मयवासेसु मणुया पगतिभद्दगा गंधावतिमालवंतपरिताएसु वट्टवेयड्ढपव्वतेसु देवा महिड्ढीया, णिसढनीलवंतेसु वासधरपव्वतेसु देवा महिड्ढीया०, सव्वाओ दहदेवयाओ भाणियव्वा, पउमद्दहतिगिच्छिकेसरिदहावसाणेसु देवा महिड्ढीयाओ तासिं पणिहाए०, पुव्वविदेहावरविदेहेसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टिबलदेववासुदेवा चारणा विज्जाहरा समणा समणीओ सावगा सावियाओ मणुया पगति० तेसिं पणिहाए लवण०, सीयासीतोदगासु सलिलासु देवता महिड्ढीया०, देवकुरुउत्तरकुरुसु मणुया पगतिभद्दगा०, मंदरे पव्वते देवता महिड्ढीया०, जंबूए य सुदंसणाए

जंबूदीवाहिवती अणाढिए णामं देवे महिड्ढीए जाव पलिओवमठितीए परिवसति तस्स पणिहाए लवणसमुद्दे नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एकोदगं करेति, अदुत्तरं च णं गोयमा! लोगट्ठिती लोगाणुभावे जण्णं लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णमेगोदगं करेति ॥ (सू० १७३)

'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! गोतीर्थसंस्थानसंस्थितः क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरामुद्वेधस्य भावात्, नावासंस्थितः बुध्नादूर्ध्वं नाव इव उभयोरपि पार्श्वयोः समतलं भूभागमपेक्ष्य क्रमेण जलवृद्धिसम्भवेन उन्नताकारत्वात्, 'सिप्पसंपुडसंठिते' इति शुक्तिकासंपुटसंस्थानसंस्थितः, उद्वेधजलस्य जलवृद्धिजलस्य चैकत्रमीलनचिन्तायां शुक्तिकासंपुटाकारसादृश्यसम्भवात्, 'अश्वस्कन्धसंस्थितः' उभयोरपि पार्श्वयोः पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेऽश्वस्कन्धस्येवोन्नततया षोडशयोजनसहस्रप्रमाणोच्चैस्त्वयोः शिखाया भावात्, 'वलभीसंस्थितः' वलभीगृहसंस्थानसंस्थितः दशयोजनसहस्रप्रमाणविस्तारायाः शिखाया वलभीगृहाकाररूपतया प्रतिभासनात्, तथा वृत्तो लवणसमुद्रो वलयाकारसंस्थितः, चक्रवालतया तस्यावस्थानात् ॥ सम्प्रति विष्कम्भादिपरिमाणमेककालं पिपृच्छिषुराह—'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः कियच्चक्रवालविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण कियदुद्वेधेन—उण्डत्वेन कियदुत्सेधेन कियत्सर्वाग्रेण—उत्सेधोद्वेधपरिमाणसामस्त्येन प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन प्रज्ञप्तः, पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन, षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन, सप्तदश योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण—उत्सेधो-

द्वेधमीलनचिन्तायां । इह लवणसमुद्रस्य पूर्वाचार्यैर्घनप्रतरगणितभावनाऽपि कृता सा विनेयजनानुग्रहाय दर्श्यते, तत्र प्रतरभावना क्रि-
यते, प्रतरानयनार्थं चेदं करणं—लवणसमुद्रसत्कविस्तारपरिमाणाद् द्विलक्षयोजनरूपाद् दश योजनसहस्राणि शोध्यन्ते, तेषु च शोधि-
तेषु यच्छेषं तस्यार्द्धं क्रियते, जातानि पञ्चनवतिः सहस्राणि, यानि च प्राक् शोधितानि दश सहस्राणि तानि च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं
पञ्चोत्तरं लक्षं १०५०००, एतच्च कोटीति व्यवह्रियते, अनया च कोट्या लवणसमुद्रस्य मध्यभागवर्त्ती परिरयो नव लक्षा अष्टचत्वा-
रिंशत्सहस्राणि षट् शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९४८६८३ इत्येवंपरिमाणो गुण्यते, ततः प्रतरपरिमाणं भवति, तच्चेदं—नवनवतिः को-
टिशतानि एकषष्टिः कोटयः सप्तदश लक्षाः पञ्चदश सहस्राणि ९९६११७१५०००, उक्तञ्च—“वित्थाराओ सोहिय दससहस्साइं
सेसअद्धंमि । तं चेव पक्खिवित्ता लवणसमुद्दस्स सा कोडी ॥ १ ॥ लक्खं पंचसहस्सा कोडीए तीएँ संगुणेऊणं । लवणस्स मज्झप-
रिही ताहे पयरं इमं होइ ॥ २ ॥ नवनउई कोडिसया एगट्ठी कोडि लक्ख सत्तरसा । पन्नरस सहस्साणि य पयरं लवणस्स निद्दिट्ठं
॥ ३ ॥” घनगणितभावना त्वेवं—इह लवणसमुद्रस्य शिखा षोडश सहस्राणि योजनसहस्रमुद्वेधः सर्वसङ्ख्यया सप्तदश सहस्राणि, तैः
प्राक्तनं प्रतरपरिमाणं गुण्यते, ततो घनगुणितं भवति, तच्चेदं—षोडश कोटीकोटयस्त्रिनवतिः कोटिशतसहस्राणि एकोनचत्वारिंशत् को-
टिसहस्राणि नव कोटिशतानि पञ्चदशकोट्यधिकानि पञ्चाशल्लक्षाणि योजनानामिति १६९३३९९१५५००००००, उक्तञ्च—“जो-
यणसहस्ससोलस लवणसिहा अहोगया सहस्सेगं । पयरं सत्तरसहस्ससंगुणं लवणघणगणियं ॥ १ ॥ सोलस कोडाकोडी तेणउई कोडि-
सयसहस्साओ । उणयालीससहस्सा नवकोडिसया य पन्नरसा ॥ २ ॥ पन्नास सयसहस्सा जोयणाणं भवे अणूणाइं । लवणसमुद्द-
स्सेयं जोयणसंखाएँ घणगणियं ॥ ३ ॥” आह—कथमेतावत्प्रमाणं लवणसमुद्रस्य घनगणितं भवति?, न हि सर्वत्र तस्य सप्तदशयो-

जनसहस्रप्रमाण उच्छ्रयः, किन्तु मध्यभाग एव दशसहस्रप्रमाणविस्तारस्ततः कथं यथोक्तं घनगणितमुपपद्यते? इति, सत्यमेतत्, केवलं लवणशिखायाः शिरसि उभयोश्च वेदिकान्तयोरुपरि दवरिकायामेकान्तऋजुरूपायां दीयमानायां २ यदपान्तराले जलशून्यं क्षेत्रं तदपि करणगत्या तदाभाव्यमिति सजलं विवक्ष्यते, अत्रार्थे च दृष्टान्तो मन्दरपर्वतः, तथाहि—मन्दरपर्वतस्य सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिरुपवर्ण्यते, अथ च न सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिः, किन्तु क्वापि कियती, केवलं मूलादारभ्य शिखरं यावद्दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले क्वापि कियदाकाशं तत्सर्वं करणगत्या मेरोराभाव्यमिति मेरुतया परिकल्प्य गणितज्ञाः सर्वत्रैकादशपरिभागहानिं परिवर्णयन्ति, तद्वदिदमपि यथोक्तं घनपरिमाणमिति, न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत आह **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो विशेषणवत्यामेतद्विचारप्रक्रमे**—"एवं उभयवेइयंताओ सोलसहस्सुस्सेहस्स कन्नगईए जं लवणसमुद्दाभव्वं जलसुन्नंपि खेत्तं तस्स गणियं, जहा मंदरपव्वयस्स एक्कारसभागपरिहाणी कन्नगईए आगासस्सवि तदाभव्वंतिकाउं भणिया तहा लवणसमुद्दस्सवि ॥" इति ॥ **'जइ णं भंते!'** इत्यादि, यदि भदन्त! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन सप्तदश योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः॥ तर्हि **'कम्हा णं भंते!'** इत्यादि, कस्माद् भदन्त! लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं न **'अवपीडयति'** जलेन प्लावयति, न **'उत्पीडयति'** प्राबल्येन बाधते, नापि णमिति वाक्यालङ्कृतौ **'एकोदकं'** सर्वात्मनोदकप्लावितं करोति?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे भरतैरावतयोः क्षेत्रयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो वलदेवा वासुदेवाः **'चारणाः'** जङ्घाचारणमुनयो विद्याधराः **'श्रमणाः'** साधवः **'श्रमण्यः'** संयत्यः श्रावकाः श्राविकाः, एतत् सुषमदुष्षमादिकमरकत्रयमपेक्ष्योक्तं वेदितव्यं, तत्रैवार्हदादीनां यथायोगं सम्भ-

वात्, सुषमसुषमादिकमधिकृत्याह—मनुष्याः प्रकृतिभद्रकाः प्रकृतिप्रतनुक्रोधमानमायालोभाः मृदुमार्दवसंपन्ना आलीना भद्रका विनीताः, एतेषां व्याख्यानं प्रागवत्, तेषां 'प्रणिधया' प्रणिधानं प्रणिधा, 'उपसर्गादात' इत्यङ्प्रत्ययः, तान् 'प्रणिधाय' अपेक्ष्य तेषां प्रभावत इत्यर्थः, लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि, दुष्षमदुष्षमादावपि नावपीडयति, भरतवैताढ्याद्यधिपतिदेवताप्रभावात्, तथा क्षुल्लहिमवच्छिखरिणोर्वर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादिपरिग्रहः परिवसन्ति तेषां 'प्रणिधया' प्रभावेन लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि। तथा हैमवतहैरण्यवतोर्वर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्, तथा तयोरेव वर्षयोर्यौ यथाक्रमं शब्दापातिविकटापाती वृत्तवैताढ्यौ पर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका इत्यादि तथैव। तथा हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका इत्यादि सर्वं हैमवतवत्, तथा तयोः क्षेत्रयोर्यथाक्रमं गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायौ यौ वृत्तवैताढ्यपर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकावित्यादि पूर्ववत्। तथा पूर्वविदेहापरविदेहवर्षयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो यावन्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा देवकुरूत्तरकुरुषु मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद्विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्। तथा उत्तरकुरुषु जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम देवो जम्बूद्वीपाधिपतिः परिवसति तस्य 'प्रणिधया' प्रभावेनेत्यादि तथैव। अथान्यद् गौतम! कारणं, तदेवाह—लोकस्थितिरेषा—लोकानुभाव एष यल्लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं जलेन नाप्लावयतीत्यादि ॥ तृतीयप्रतिपत्तावेष मन्दरोद्देशकः समाप्तः ॥ तदेवमुक्ता लवणसमुद्रवक्तव्यता, सम्प्रति धातकीषण्डवक्तव्यतामाह—

लवणसमुद्दं धायइसंडे नाम दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता

णं चिट्ठंति, धायतिसंडे णं भंते! दीवे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिते?, गोयमा! समचक्कवालसंठिते नो विसमचक्कवालसंठिते ॥ धायइसंडे णं भंते! दीवे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! चत्तारि जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एगयालीसं जोयणसतसहस्साइं दसजोयणसहस्साइं णवएगट्ठे जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ दीवसमिया परिक्खेवेणं ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, विजए वेजयंते जयंते अपराजिए ॥ कहि णं भंते! धायइसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! धायइसंडपुरत्थिमपेरंते कालोयसमुद्दपुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीयाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं धायइ० विजए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव पमाणं, रायहाणीओ अण्णंमि धायइसंडे दीवे, दीवस्स वत्तव्वया भाणियव्वा, एवं चत्तारिवि दारा भाणियव्वा ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य २ एस णं केवइयं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! दस जोयणसयसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्तपणतीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे दारस्स य २ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पदेसा कालोयगं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा ॥ ते णं भंते! किं धायइसंडे दीवे कालोए स-

मुद्दे?, ते धायइसंडे नो खलु ते कालोयसमुद्दे। एवं कालोयस्सवि। धायइसंडदीवे जीवा उद्दाइत्ता
२ कालोए समुद्दे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति। एवं का-
लोएवि अत्थे० प० अत्थेगतिया णो पच्चायंति॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—धायइसंडे दीवे
२?, गोयमा! धायइसंडे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं २ पएसे धायइरुक्खा धायइवण्णा धाय-
इसंडा णिच्चं कुसुमिया जाव उवसोभेमाणा २ चिट्ठंति, धायइमहाधायइरुक्खेसु सुदंसणपियदं-
सणा दुवे देवा महिड्डिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति से एएणट्ठेणं०, अदुत्तरं च णं गो-
यमा! जाव णिच्चे॥ धायइसंडे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु वा ३? कति सूरिया तविंसु
वा ३? कइ महग्गहा चारं चरिंसु वा ३? कइ णक्खत्ता जोगं जोइंसु ३? कइ तारागणकोडाको-
डीओ सोभेंसु वा ३?, गोयमा! बारस चंदा पभासिंसु वा ३, एवं—चउवीसं ससिरविणो ण-
क्खत्त सता य तिन्नि छत्तीसा। एगं च गहसहस्सं छप्पन्नं धायईसंडे॥ १॥ अट्ठेव सयसहस्सा
तिण्णि सहस्साइं सत्त य सयाइं। धायइसंडे दीवे तारागण कोडिकोडीणं॥ २॥ सोभेंसु वा
३॥ (सू० १७४)

'लवणसमुद्द'मित्यादि, लवणसमुद्रं धातकीषण्डो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्य तिष्ठति॥ 'धायइसंडे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए' इति सूत्रं लवणसमुद्रवद्भावनीयम्॥ 'धायइसंडे

ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन, एकचत्वारिंशत् योजनशतसहस्राणि दश सहस्राणि नव च एकषष्टानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, उक्तञ्च—"एयालीसं लक्खा दस य सहस्साणि जोयणाणं तु । नव य सया एगट्ठा किंचूणा परिरओ तस्स ॥ ३ ॥" 'से ण'मित्यादि, स धातकीखण्डो द्वीप एकया पद्मवरवेदिकया अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति सामर्थ्याद्गम्यते, एकेन वनषण्डेन पद्मवरवेदिकाबहिर्भूतेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः । द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत् ॥ 'धायइसंडस्स ण'मित्यादि, धातकीषण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ 'कहि णं भंते !' इत्यादि, क्व भदन्त ! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य पूर्वपर्यन्ते कालोदसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीताया महानद्या उपरि 'अत्र' एतस्मिन्नन्तरे धातकीषण्डस्य द्वीपस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वेदितव्यं, नवरमत्र राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे वक्तव्या । 'कहि णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपदक्षिणपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरमत्रापि राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डद्वीपे ॥ 'कहि णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं गतार्थं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपपश्चिमपर्यन्ते कालोदसमुद्रपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उपर्यत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपजयन्तद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे ॥ 'कहि णं भंते !' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपोत्तरार्द्धपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्यापरा-

जितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे ॥ **'धायइसंडस्स णं भंते!'** इत्यादि, धातकीषण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य द्वारस्य २ च परस्परमेतदन्तरं **'कियत्'** किंप्रमाणम् **'अबाधया'** अन्तरित्वा व्याघातेन प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! दश योजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिर्योजनसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशानि द्वारस्य २ परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—एकैकस्य द्वारस्य सद्वारशाखस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि, ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तान्यनन्तरोक्तात्परिरयमानात् ४११०९६१ शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदम्—एकचत्वारिंशल्लक्षा दश सहस्राणि नव शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४११०९४३, एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम्, उक्तञ्च—"पणतीसा सत्त सया सत्तावीसा सहस्स दस लक्खा। धायइसंडे दारंतरं तु अवरं च कोसतियं ॥ १ ॥" **'धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पएसा'** इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्राग्वद्भावनीयानि ॥ **'से केणट्ठेणं भंते!'** इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—धातकीषण्डो द्वीपो धातकीखण्डो द्वीपः? इति, भगवानाह—धातकीषण्डे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो धातकीवृक्षा बहवो धातकीवनषण्डा बहूनि धातकीवनानि, वनषण्डयोः प्रतिविशेषः प्रागेवोक्तः, 'निच्चंकुसुमिया' इत्यादि प्राग्वत्, **'धायइमहाधायइरुक्खेसु एत्थ'**मित्यादि पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीनामवृक्षोऽवतिष्ठते, पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे महाधातकीनामवृक्षोऽवतिष्ठते, तौ च प्रमाणादिना जम्बूवृक्षवद्वेदितव्यौ, तयोरत्र धातकीषण्डे द्वीपे यथाक्रमं सुदर्शनप्रियदर्शनौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततो धातकीषण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीषण्डद्वीपः, तथा चाह—**'से एएणट्ठेण'**मित्यादि गतार्थं ॥ सम्प्रति चन्द्रादिवक्तव्यतामाह—**'धायइसंडे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु'** इत्यादि

प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डे द्वादश चन्द्राः प्रभासितवन्तः प्रभासन्ते प्रभासिष्यन्ते, द्वादश सूर्यास्तापितवन्तस्तापयन्ति तापयिष्यन्ति, त्रीणि नक्षत्रशतानि षट्त्रिंशानि योगं चन्द्रमसा सूर्येण च सार्द्धं युक्तवन्तो युञ्जन्ति योक्ष्यन्ति, तत्र त्रीणि षट्त्रिंशानि नक्षत्राणां शतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां भावात्, तथा एकं षट्पञ्चाशदधिकं महाग्रहसहस्रं चारं चरितवन्तश्चरन्ति चरिष्यन्ति, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाग्रहाणां भावात्, अष्टौ शतसहस्राणि त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि तारागणकोटीकोटीनां शोभितवन्तः शोभन्ते शोभयिष्यन्ते, एतदपि एकशशिनः तारापरिमाणं द्वादशभिर्गुणयित्वा भावनीयं, उक्तं च—"बारस चंदा सूरा नक्खत्तसया य तिन्नि छत्तीसा । एगं च गहसहस्सं छप्पन्नं धायईसंडे ॥ १ ॥ अट्ठेव सयसहस्सा तिन्नि सहस्सा य सत्त य सया उ । धायइसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीओ ॥ २ ॥" सम्प्रति कालोदसमुद्रवक्तव्यतामाह—

धायइसंडं णं दीवं कालोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ताणं चिट्ठइ, कालोदे णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठाणसंठिते विसम०?, गोयमा! समचक्कवाल० णो विसमचक्कवालसंठिते॥ कालोदे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एकाणउतिं जोयणसयसहस्साइं सत्तरि सहस्साइं छच्च पंचुत्तरे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं दोण्हवि वण्णओ॥ कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजए वेजयंते जयंते अपराजिए॥

कहि णं भंते! कालोदस्स समुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! कालोदे समुद्दे पुरत्थिमपेरंते पुक्खरवरदीवपुरत्थिमद्धस्स पचत्थिमेणं सीतोदाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं कालोदस्स समुद्दस्स विजये णामं दारे पण्णत्ते, अट्ठेव जोयणाइं तं चेव पमाणं जाव रायहाणीओ। कहि णं भंते! कालोयस्स समुद्दस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! कालोयसमुद्दस्स दक्खिणपेरंते पुक्खरवरदीवस्स दक्खिणद्धस्स उत्तरेणं एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स वेजयंते नामं दारे पन्नत्ते। कहि णं भंते! कालोयसमुद्दस्स जयंते नामं दारे पन्नत्ते?, गोयमा! कालोयसमुद्दस्स पचत्थिमपेरंते पुक्खरवरदीवस्स पचत्थिमद्धस्स पुरत्थिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं जयंते नामं दारे पण्णत्ते। कहि णं भंते! अपराजिए नामं दारे पण्णत्ते? गोयमा! कालोयसमुद्दस्स उत्तरद्धपेरंते पुक्खरवरदीवोत्तरद्धस्स दाहिणओ एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स अपराजिए णामं दारे०, सेसं तं चेव॥ कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं २ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—बावीस सयसहस्सा बाणउति खलु भवे सहस्साइं। छच सया बायाला दारंतर तिन्नि कोसा य॥ १॥ दारस्स य २ आबाहाए अंतरे पण्णत्ते। कालोदस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा पुक्खरवरदीव० तहेव, एवं पुक्खरवरदीवस्सवि जीवा उद्दाइत्ता २ तहेव भाणियव्वं॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति कालोए समुद्दे २?, गोयमा! कालोयस्स णं समुद्दस्स उदके आसले मासले पेसले कालए मासरा-

सिवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते, कालमहाकाला एत्थ दुवे देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव णिचे ॥ कालोए णं भंते! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा ३? पुच्छा, गोयमा! कालोए णं समुद्दे बायालीसं चंदा पभासेंसु वा ३— बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता। कालोदधिम्मि एते चरंति संबद्धलेसागा ॥ १ ॥ णक्खत्ताण सहस्सं एगं बावत्तरं च सतमण्णं। छच्च सता छण्णउया महागहा तिण्णि य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठावीसं कालोदहिम्मि बारस य सयसहस्साइं। नव य सया पन्नासा तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ (सू० १७५)

'धायइसंडे णं दीव'मित्यादि, धातकीषण्डं णमिति पूर्ववत् द्वीपं कालोदसमुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थितः सर्वतः समन्तात् 'संपरिक्षिप्य' वेष्टयित्वा तिष्ठति ॥ 'कालोए णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'कालोए णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकनवतिः योजनशतसहस्राणि सप्ततिः सहस्राणि षट् शतानि पञ्चोत्तराणि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, एकं च योजनसहस्रमुद्वेधेनेति गम्यते, उक्तञ्च—"अट्ठेव सयसहस्सा कालोओ चक्कवालओ रुंदो। जोयणसहस्समेगं ओगाहेणं मुणेयव्वो ॥ १ ॥ इगनउइ सयसहस्सा हवंति तह सत्तरी सहस्सा य। छच्च सया पंचहिया कालोयहिपरिरओ एसो ॥ २ ॥" 'से णं एगाए' इत्यादि, स कालोदसमुद्र एकया पद्मवरवेदिकयाऽष्टयोजनोच्छ्रयया जगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णकः प्रा-

ग्वत् ॥ 'कालोयस्स णं भंते!' इत्यादि, कालोदस्य समुद्रस्य भदन्त! कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ क भदन्त! कालोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, गौतम! कालोदसमुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीतोदाया महानद्या उपर्यत्र कालोदस्य समुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एवं विजयद्वारवक्तव्यता पूर्वानुसारेण वक्तव्या, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। वैजयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रदक्षिणपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र कालोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एवं जम्बूद्वीपगतवैजयन्तद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। जयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रपश्चिमपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महानद्या उपर्यत्र कालोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एतदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। अपराजितद्वारप्रश्नसूत्रमपि सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रोत्तरार्द्धपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र कालोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवत् नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे ॥ सम्प्रति द्वाराणा परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—'कालोयस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! द्वाविंशतिर्योजनशतसहस्राणि द्विनवतिः सहस्राणि षड् योजनशतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि त्रयश्च क्रोशा द्वारस्य द्वारस्य परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलनेऽष्टादश योजनानि कालोदसमुद्रपरिरयपरिमाणाद् ९१७०६०५ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्—एकनवतिर्लक्षाः सप्ततिः सहस्राणि पञ्च शतानि सप्ताशीत्यधिकानि ९१७०५८७ च, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं २२९२६४६ क्रोशः

३, उक्तञ्च—"छायाला छच्च सया बाणउय सहस्स लक्ख बावीसं। कोसा य तिन्नि दारंतरं तु कालोयहिस्स भवे ॥ १ ॥" 'कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं पूर्ववद्भावनीयम् ॥ नामान्वर्थमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते कालोदः समुद्रः कालोदः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! कालोदस्य समुद्रस्योदकं 'आसलम्' आस्वाद्यम् उदकरसत्वात् मांसलं गुरुधर्मकत्वात् पेशलं आस्वादमनोज्ञत्वात् 'कालं' कृष्णम्, एतदेवोपमया प्रतिपादयति—माषराशिवर्णाभं, उक्तञ्च—"पगईए उदगरसं कालोए उदग मासरासिनिभं" इति, ततः कालमुदकं यस्यासौ कालोदः, तथा कालमहाकालौ च तत्र द्वौ देवौ पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तत्र कालयोरुदकं यस्मिन् स कालोदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि सूत्रं पाठसिद्धं। एवंरूपं च चन्द्रादीनां परिमाणमन्यत्राप्युक्तम्—"बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता। कालोयहिम्मि एए चरंति संबद्धलेसागा ॥ १ ॥ नक्खत्ताण सहस्सा सयं च बावत्तरं मुणेयव्वं। छच्च सया छन्नउया महाण तिन्नेव य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठावीसं कालोयहिम्मि बारस य सयसहस्साइं। नव य सया पन्नासा तारागणकोडीकोडीणं ॥[1] ३ ॥" सम्प्रति पुष्करवरद्वीपवक्तव्यतामाह—

कालोयं णं समुद्दं पुक्खरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरि० तहेव जाव समचक्कवालसंठाणसंठिते नो विसमचक्कवालसंठाणसंठिए। पुक्खरवरे णं भंते! दीवे

---

१ अत्र यद्यपि सूत्रादर्शेषु गाथात्रिकं दृश्यते इदमेव, परं वृत्तिकारावाप्तादर्शेषु न संभाव्यते सूत्ररूपतया सत्ताऽस्य परिमाणस्येत्युदितं 'अन्यत्राप्युक्त'मिति, अगोऽस्यानेकत्रैतं

केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! सोलस जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं—'एगा जोयणकोडी बाणउतिं खलु भवे सयसहस्सा। अउणाणउतिं अट्ठ सया चउणउया य [परिरओ] पुक्खरवरस्स ॥ १ ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेण संपरि० दोण्हवि वण्णओ ॥ पुक्खरवरस्स णं भंते! कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजए वेजयंते जयंते अपराजिते ॥ कहि णं भंते! पुक्खरवरस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! पुक्खरवरदीवपुरच्छिमपेरंते पुक्खरोदसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं पुक्खरवरदीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव सव्वं, एवं चत्तारिवि दारा, सीयासीओदा णत्थि भाणितव्वाओ ॥ पुक्खरवरस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—'अडयाल सयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं। अगुणुत्तरा य चउरो दारंतर पुक्खरवरस्स ॥ १ ॥ पदेसा दोण्हवि पुट्ठा, जीवा दोसु भाणियव्वा ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति पुक्खरवरदीवे २?, गो०! पुक्खरवरे णं दीवे तत्थ २ देसे तहिं २ बहवे पउमरुक्खा पउमवणसंडा णिच्चं कुसुमिता जाव चिट्ठंति, पउममहापउमरुक्खे एत्थ णं पउमपुंडरीया णामं दुवे देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति पुक्खरवरदीवे २ जाव निच्चे ॥ पुक्खरवरे णं

भंते! दीवे केवइया चंदा पभासिंसु वा ३?, एवं पुच्छा,—चोयालं चंदसयं चउयालं चेव सूरियाण सयं। पुक्खरवरदीवंमि चरंति एते पभासेंता ॥ १ ॥ चत्तारि सहस्साइं बत्तीसं चेव होंति णक्खत्ता। छच्च सया बावत्तर महग्गहा बारह सहस्सा ॥ २ ॥ छण्णउइ सयसहस्सा चत्तालीसं भवे सहस्साइं। चत्तारि सया पुक्खर [वर] तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ पुक्खरवरदीवस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं माणुसुत्तरे नामं पव्वते पण्णत्ते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जे णं पुक्खरवरं दीवं दुहा विभयमाणे २ चिट्ठंति, तंजहा—अब्भिंतरपुक्खरद्धं च बाहिरपुक्खरद्धं च ॥ अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! केवतियं चक्कवालेणं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं—कोडी बायालीसा तीसं दोण्णि य सया अगुणवण्णा। पुक्खरअद्धपरिरओ एवं च मणुस्सखेत्तस्स ॥ १ ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति अब्भिंतरपुक्खरद्धे य २?, गोयमा! अब्भिंतरपुक्खरद्धेणं माणुसुत्तरेणं पव्वतेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, से एएणट्ठेणं गोयमा! अब्भिंतरपुक्खरद्धे य २, अदुत्तरं च णं जाव णिच्चे ॥ अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! केवतिया चंदा पभासिंसु वा ३ साचेव पुच्छा जाव तारागणकोडकोडीओ?, गोयमा!—बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणकरा दित्ता। पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एते पभासेंता ॥ १ ॥ तिन्नि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु। णक्खत्ताणं तु भवे सोलाइ दुवे सह-

रसाइं ॥ २ ॥ अडयाल सयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं । दोन्नि सया पुक्खरद्धे तारागण-कोडिकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ (सू० १७६)

'कालोयं णं समुद्द'मित्यादि, कालोदं णमिति वाक्यालङ्कारे समुद्रं पुष्करवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । 'पुक्खरवरे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ विष्कम्भादिप्रतिपादनार्थमाह—'पुक्खरवरे णं भंते! दीवे' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! षोडश योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एका योजनकोटी द्विनवतिः शतसहस्राणि एकोननवतिः सहस्राणि अष्टौ शतानि चतुर्नवतानि ९४ योजनानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ॥ 'से ण'मित्यादि, स पुष्करवरद्वीप एकया पद्मवरवेदिकयाऽष्टयोजनोच्छ्रयया जगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णकः पूर्ववत् ॥ अधुना द्वारवक्तव्यतामाह—'पुक्खरवरस्स ण'मित्यादि, पुष्करवरद्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! पुष्करवरद्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह—गौतम! पुष्करवरद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते पुष्करोदस्य समुद्रस्य पश्चिमदिशि अत्र पुष्करवरद्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तत्र जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे वक्तव्या । एवं वैजयन्तादिसूत्राण्यपि भावनीयानि, सर्वत्र राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे ॥ सम्प्रति द्वाराणां परस्परमन्तरमाह—'पुक्खरवरदीवस्स ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अष्टचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राणि द्वाविंशतिर्योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि एकोनसप्ततानि द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणं, चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र

पृथुत्वमीलनेऽष्टादश योजनानि, तानि पुष्करवरद्वीपपरिमाणाद् १९२८९८९४ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्—एका योजनकोटी द्विनवतिः शतसहस्राणि एकोननवतिः सहस्राणि अष्टौ शतानि षट्सप्तत्यधिकानि १९२८९८७६, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं ४८२२४६९ ॥ 'पुक्खरवरदीवस्स णं भंते! दीवस्स पएसा पुक्खरवरसमुद्दं पुट्ठा?' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तप्रतिपादनार्थमाह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते पुष्करवरद्वीपः २? इति, भगवानाह—गौतम! पुष्करवरद्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र २ प्रदेशे बहवः पद्मवृक्षाः, पद्मानि अतिविशालतया वृक्षा इव पद्मवृक्षाः, पद्मखण्डाः—पद्मवनानि, खण्डवनयोर्विशेषः प्राग्वत्, 'निच्चं कुसुमिया' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्। तथा पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु यः पद्मवृक्षः पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु यो महापद्मवृक्षस्तयोरत्र पुष्करवरद्वीपे यथाक्रमं पद्मपुण्डरीकौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती परिवसतः, तथा चोक्तम्—"पउमे य महापउमे रुक्खा उत्तरकुरूसु जंबुसमा। एएसु वसंति सुरा पउमे तह पुंडरीए य ॥ १ ॥" पद्मं च पुष्करमिति पुष्करवरोपलक्षितो द्वीपः पुष्करवरो द्वीपः 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यम् ॥ सम्प्रति चन्द्रादित्यादिपरिमाणमाह—'पुक्खरवरे'त्यादि पाठसिद्धं, नवरं नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादिसङ्ख्यानि नक्षत्रादीनि चतुश्चत्वारिंशेन शतेन गुणयित्वा स्वयं परिभावनीयं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"चोयालं चंदसयं चोयालं चेव सूरियाण सयं। पुक्खरवरंमि दीवे चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ चत्तारि सहस्साइं

१ पद्मश्च महापद्मो वृक्षौ उत्तरकुरुषु जम्बूसमौ। एतयोर्वसतः सुरौ पद्मस्तथा पुण्डरीकश्च ॥ १ ॥ २ चतुश्चत्वारिंशं चन्द्रशतं चतुश्चत्वारिंशं चैव सूर्याणां शतं। पुष्करवरे द्वीपे चरन्ति एते प्रकाशयन्त ॥ १ ॥ चत्वारि सहस्राणि.

बत्तीसं चेव होंति नक्खत्ता । छच्च सया बावत्तर महागहा बारससहस्सा ॥ २ ॥ छन्नउइ सयसहस्सा चोयालीसं भवे सहस्साइं । चत्तारिं च सयाइं तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥" इति ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्रसीमाकारिमानुषोत्तरपर्वतवक्तव्यतामाह—'**पुक्खरवरदीवस्स ण**'मित्यादि, पुष्करवरस्य णमिति वाक्यालङ्कृतौ द्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे मानुषोत्तरो नाम पर्वतः प्रज्ञप्तः, स च वृत्तः, वृत्तं च मध्यपूर्णमपि भवति यथा कौमुदीशशाङ्कमण्डलं ततस्तद्रूपताव्यवच्छेदार्थमाह—वलयाकारसंस्थानसंस्थितो, यः पुष्करवरं द्वीपं द्विधा सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च विभजमानो विभजमानस्तिष्ठति, केनोल्लेखेन द्विधा विभजमानस्तिष्ठति ? इत्यत आह—तद्यथा—अभ्यन्तरपुष्कराद्धं च बाह्यपुष्करार्द्धं च, चशब्दौ समुच्चये, किमुक्तं भवति ?—मानुषोत्तरात्पर्वतादर्वाग् यत्पुष्करार्द्धं तदभ्यन्तरपुष्करार्द्धं, यत्पुनस्तस्मान्मानुषोत्तरपर्वतात्परतः पुष्करार्द्धं तद् बाह्यपुष्करार्द्धमिति ॥ '**अब्भिंतरपुक्खरद्धे ण**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एका योजनकोटी द्विचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च योजनशते एकोनपञ्चाशे किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ॥ '**से केणट्ठेण**'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अभ्यन्तरपुष्करार्द्धमभ्यन्तरपुष्करार्द्धम् ? इति, भगवानाह—गौतम ! अभ्यन्तरपुष्करार्द्धं मानुषोत्तरोत्तरेण पर्वतेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तं, ततो मानुषोत्तरपर्वताभ्यन्तरे वर्त्तमानत्वादभ्यन्तरपुष्करार्द्धं, तथा चाह—'**से एएणट्ठेण**'मित्यादि गतार्थं ॥ '**अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते ! कइ चंदा पभासिंसु ?**' इत्यादि चन्द्रादिपरिमाणसूत्रं पाठसिद्धं, नवरं नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादीनि नक्षत्राणि द्वासप्तत्या गुण-

१ द्वात्रिंशच्चैव भवन्ति नक्षत्राणि । महाग्रहा द्वादश सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्ततानि ॥ २ ॥ षण्णवति शतसहस्राणि चतुश्चत्वारिंशत् सहस्राणि । चत्वारि च शतानि तारागणा' कोटीकोटीना भवेयुः ॥ ३ ॥

यित्वा परिभावनीयं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणयरा दित्ता । पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ तिण्णि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु । नक्खत्ताणं तु भवे सोलाणि दुवे सहस्साणि ॥ २ ॥ अडयाल सयसहस्सा बावीसं चेव तह सहस्साइं । दो य सय पुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥" इह सर्वत्र तारापरिमाणचिन्तायां कोटीकोट्यः कोट्य एव द्रष्टव्याः, तथा पूर्वसूरिव्याख्यानाद्, अपरे उच्छ्रयाङ्गुलप्रमाणमनुसृत्य कोटीकोटीरेव समर्थयन्ति, उक्तञ्च—"कोडाकोडी सन्नंतरं तु मन्नंति केइ थोवतया । अन्ने उस्सेहंगुलमाणं काऊण ताराणं ॥ १ ॥"

समयखेत्ते णं भंते! केवतियं आयामविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?, गोयमा! पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगा जोयणकोडी जावब्भिंतरपुक्खरद्धपरिरओ से भाणियव्वो जाव अउणपण्णे ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति–माणुसखेत्ते २?, गोयमा! माणुसखेत्ते णं तिविधा मणुस्सा परिवसंति, तंजहा—कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवगा, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति–माणुसखेत्ते माणुसखेत्ते ॥ माणुसखेत्ते णं भंते! कति चंदा पभासेंसु वा ३?, कइ सूरा तवइंसु वा ३?, गोयमा!—बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं । सयलं मणुस्सलोयं चरेंति एते पभासेंता ॥ १ ॥ एक्कारस य सहस्सा छप्पि य सोला महग्गहाणं तु । छच्च सया छण्णउया णक्खत्ता तिण्णि य सहस्सा ॥ २ ॥ अडसीइ सयसहस्सा चत्तालीस सहस्स

१ कोटीकोटीति संज्ञान्तर (कोटीरूपं) मन्यन्ते केचित् क्षेत्रस्य स्तोकत्वात् । अन्ये उत्सेधाङ्गुलमानं ताराणा कृत्वा (कोटीकोटीमित्येव) ॥ १ ॥

मणुयलोगंमि । सत्त य संता अणूणा तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभं सोभेंसु वा ३ ॥ एसो तारापिंडो सव्वसमासेण मणुयलोगंमि । बहिया पुण ताराओ जिणेहिं भणिया असंखेज्जा ॥ १ ॥ एवइयं तारग्गं जं भणियं माणुसंमि लोगंमि । चारं कलंबुयापुप्फसंठियं जोइसं चरइ ॥२॥ रविससिगहनक्खत्ता एवइया आहिया मणुयलोए । जेसिं नामागोयं न पागया पन्नवेहिंति ॥ ३ ॥ छावट्ठी पिडगाइं चंदाइच्चा मणुयलोगंमि । दो चंदा दो सूरा य होंति एक्केक्कए पिडए ॥ ४ ॥ छावट्ठीपिडगाइं नक्खत्ताणं तु मणुयलोगंमि । छप्पन्नं नक्खत्ता य होंति एक्केक्कए पिडए ॥ ५ ॥ छावट्ठी पिडगाइं महागहाणं तु मणुयलोगंमि । छावत्तरं गहसयं च होइ एक्केक्कए पिडए ॥ ६ ॥ चत्तारि य पंतीओ चंदाइच्चाण मणुयलोगंमि । छावट्ठिय छावट्ठिय होइ य एक्केक्कया पंती ॥ ७ ॥ छप्पन्नं पंतीओ नक्खत्ताणं तु मणुयलोगंमि । छावट्ठी छावट्ठी हवइ य एक्केक्कया पंती ॥ ८ ॥ छावत्तरं गहाणं पंतिसयं होइ मणुयलोगंमि । छावट्ठी छावट्ठी य होंति एक्केकिया पंती ॥ ९ ॥ ते मेरु परियडन्ता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे । अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥ १० ॥ नक्खत्ततारगाणं अवट्ठिया मंडला मुणेयव्वा । तेऽविय पयाहिणावत्तमेव मेरुं अणुचरंति ॥ ११ ॥ रयणियरदिणयराणं उड्ढे व अहे व संकमो नत्थि । मंडलसंकमणं पुण अब्भितरबाहिरं तिरिए ॥ १२ ॥ रयणियरदिणयराणं नक्खत्ताणं महग्गहाणं च । चारविसेसेण भवे सुहदुक्खविही

मणुस्साणं ॥ १३ ॥ तेसिं पविसंताणं तावक्खेत्तं तु वड्ढए नियमा । तेणेव कमेण पुणो परिहायइ निक्खमंताणं ॥ १४ ॥ तेसिं कलंबुयापुप्फसंठिया होइ तावखेत्तपहा । अंतो य संकुया बाहिं वित्थडा चंदसूरगणा ॥ १५ ॥ केणं वड्ढति चंदो परिहाणी केण होइ चंदस्स । कालो वा जोण्हो वा केणऽणुभावेण चंदस्स ?॥ १६ ॥ किण्हं राहुविमाणं निच्चं चंदेण होइ अविरहियं । चउरंगुलमप्पत्तं हिट्ठा चंदस्स तं चरइ ॥ १७ ॥ बावट्ठिं बावट्ठिं दिवसे दिवसे उ सुक्कपक्खस्स । जं परिवड्ढइ चंदो खवेइ तं चेव कालेणं ॥ १८ ॥ पन्नरसइभागेण य चंदं पन्नरसमेव तं वरइ । पन्नरसइभागेण य पुणोवि तं चेव तिक्कमइ ॥ १९ ॥ एवं वड्ढइ चंदो परिहाणी एव होइ चंदस्स । कालो वा जोण्हा वा तेणणुभावेण चंदस्स ॥ २० ॥ अंतो मणुस्सखेत्ते हवंति चारोवगा य उववण्णा । पञ्चविहा जोइसिया चंदा सूरा गहगणा य ॥ २१ ॥ तेण परं जे सेसा चंदाइच्चगहतारनक्खत्ता । नत्थि गई नवि चारो अवट्ठिया ते मुणेयव्वा ॥ २२ ॥ दो चंदा इह दीवे चत्तारि य सागरे लवणतोए । धायइसंडे दीवे बारस चंदा य सूरा य ॥ २३ ॥ दो दो जंबूदीवे ससिसूरा दुगुणिया भवे लवणे । लावणिगा य तिगुणिया ससिसूरा धायईसंडे ॥ २४ ॥ धायइसंडप्पभिई उद्दिट्ठतिगुणिया भवे चंदा । आइल्लचंदसहिया अणंतराणंतरे खेत्ते ॥ २५ ॥ रिक्खग्गहतारग्गं दीवसमुद्दे जहिच्छसे नाउं । तस्स ससीहिं गुणियं रिक्खग्गहतारगाणं तु ॥ २६ ॥ चंदातो सूरस्स य सूरा

चंदस्स अंतरं होइ । पन्नास सहस्साइं तु जोयणाणं अणूणाइं ॥ २७ ॥ सूरस्स य सूरस्स य ससिणो ससिणो य अंतरं होइ । बहियाओ मणुस्सनगस्स जोयणाणं सयसहस्सं ॥ २८ ॥ सूरंतरिया चंदा चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता । चित्तंतरलेसागा सुहलेसा मंदलेसा य ॥ २९ ॥ अट्ठासीइं च गहा अट्ठावीसं च होंति नक्खत्ता । एगससीपरिवारो एत्तो ताराण वोच्छामि ॥ ३० ॥ छावट्ठिसहस्साइं नव चेव सयाइं पंचसयराइं । एगससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३१ ॥ बहियाओ माणुसनगस्स चंदसूराणऽवट्ठिया जोगा । चंदा अभीइजुत्ता सूरा पुण होंति पुस्सेहिं ॥ ३२ ॥ (सू० १७७)

'माणुसखेत्ते ण'मित्यादि, मनुष्यक्षेत्रं भदन्त! कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! पञ्चचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेन, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे योजनशते एकोनपञ्चाशे किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तं ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—मनुष्यक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रं? इति, भगवानाह—गौतम! मनुष्यक्षेत्रे त्रिविधा मनुष्याः परिवसन्ति, तद्यथा—कर्म्मभूमका अकर्म्मभूमका अन्तरद्वीपकाश्च, अन्यच्च मनुष्याणां जन्म मरणं चात्रैव क्षेत्रे न तद्बहिः, तथाहि—मनुष्या मनुष्यक्षेत्रस्य बहिर्जन्मतो न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च, तथा यदि नाम केनचिद्देवेन दानवेन विद्याधरेण वा पूर्वानुबद्धवैरनिर्यातनार्थमेवंरूपा बुद्धिः क्रियते यथाऽयं मनुष्योऽस्मात् स्थानाद् उत्पाट्य मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः प्रक्षिप्यतां येनोर्द्धशोषं शुष्यति म्रियते वेति तथाऽपि लोकानुभावा-

देव सा काचनाऽपि बुद्धिर्भूयः परावर्त्तते यथा संहरणमेव न भवति संहृत्य वा भूयः समानयति तेन संहरणतोऽपि मनुष्यक्षेत्राद्बहि-र्मनुष्या मरणमधिकृत्य न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च, येऽपि जङ्घाचारिणो विद्याचारिणो वा नन्दीश्वरादीनपि यावद्गच्छन्ति तेऽपि तत्र गता न मरणमश्नुवते किन्तु मनुष्यक्षेत्रसमागता एव, तेन मानुषोत्तरपर्वतसीमाकं मनुष्याणां सम्बन्धि क्षेत्रं मनुष्यक्षेत्र-मिति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि गतार्थम् ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्रगतसमस्तचन्द्रादिसङ्ख्यापरिमाणमाह—'**मणुस्सखेत्ते णं भंते! कइ चंदा पभासिंसु**' इत्यादि पाठसिद्धं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं । सयलं मणुस्सलोयं चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ एकारस य सहस्सा छप्पि य सोला महागहाणं तु । छच्च सया छन्नउया नक्खत्ता तिन्नि य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठासीयं लक्खा चत्तालीसं च तह सहस्साइं । सत्त सया य अणूणा तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥" तत्र द्वात्रिंशं चन्द्रशतमेवं—द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणोदे द्वादश धातकीषण्डे द्वाचत्वारिंशत्कालोदे द्वासप्ततिरभ्यन्तरपुष्करार्द्धे सर्व-सङ्ख्यया द्वात्रिंशं शतं, एवं सूर्याणामपि द्वात्रिंशं शतं परिभावनीयं, नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादिनक्षत्रादीनि द्वात्रिंशेन शतेन गुण-यित्वा परिभावनीयं ॥ सम्प्रति सकलमनुष्यलोकगततारागणस्योपसंहारमाह—'**एषः**' अनन्तरोक्तसङ्ख्याकस्तारापिण्डः सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके आख्यात इति गम्यते, बहिः पुनर्मनुष्यलोकाद् यास्तारास्ताः '**जिनैः**' सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिर्भणिता असङ्ख्याता द्वीपसमुद्रा-णामसङ्ख्यातत्वात्, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च यथायोगं सङ्ख्यातानामसङ्ख्यातानां च ताराणां सद्भावात् '**एतावत्**' एतावत्सङ्ख्याकं '**ताराग्रं**' तारापरिमाणं यत् अनन्तरं भणितं मानुषे लोके तत् '**ज्योतिषं**' ज्योतिषदेवविमानरूपं '**कदम्बपुष्पसंस्थितं**' कदम्बपुष्प-वद् अधःसङ्कुचितमुपरि विस्तीर्णं उत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितमिति भावः '**चारं चरति**' चारं प्रतिपद्यते, तथा जगत्स्वाभा-

ठ्यात्, ताराग्रहणं चोपलक्षणं, ततः सूर्यादयोऽपि यथोक्तसङ्ख्याका मनुष्यलोके तथाजगत्स्वाभाव्याच्चारं प्रतिपद्यन्त इति द्रष्टव्यं ॥ सम्प्रत्येतद्गतमेवोपसंहारमाह—रविशशिग्रहनक्षत्राणि, उपलक्षणमेतत् तारकाणि च, 'एतावन्ति' एतावत्सङ्ख्याकानि सपूर्वार्द्धे मनुष्यलोके, येषां किम्? इत्याह—येषां सूर्यादीनां यथोक्तसङ्ख्याकानां सकलमनुष्यलोकभाविनां प्रत्येकं नामगोत्राणि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नाम गोत्रमित्युच्यते, ततोऽयमर्थः—नामगोत्राणि—अन्वर्थयुक्तानि नामानि, यदिवा नामानि च गोत्राणि च नामगोत्राणि 'प्राकृताः' अनतिशायिनः पुरुषाः कदाचनापि न प्रज्ञापयिष्यन्ति, केवलं यदा त्वाह सर्वज्ञ एवं, तत इदं सूर्यादिसंस्थानं प्राकृतपुरुषाप्रमेयं सर्वज्ञोपदिष्टमिति सम्यक् श्रद्धेयं ॥ इह द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावेकं पिटकमुच्यते, इत्थम्भूतानि च चन्द्रादित्यानां पिटकानि सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके षट्षष्टिसङ्ख्यानि । अथ किंप्रमाणं पिटकमिति पिटकप्रमाणमाह—एकैकस्मिन् पिटके द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यौ भवत इति, किमुक्तं भवति?—द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावित्येतावत्प्रमाणमेकैकचन्द्रादित्यानां पिटकमिति, एवंप्रमाणं च पिटकं जम्बूद्वीपे एकं, द्वयोरेव चन्द्रमसोर्द्वयोरेव सूर्ययोस्तत्र भावतः, द्वे पिटके लवणसमुद्रे चतुर्णां चन्द्रमसां चतुर्णां सूर्याणां च तत्र भावात्, एवं षट् पिटकानि धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति भवन्ति सर्वमीलने चन्द्रादित्यानां षट्षष्टिः पिटकानि ॥ सर्वस्मिन्नपि मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया नक्षत्राणां पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः, नक्षत्रपिटकपरिमाणं च शशिद्वयसम्बन्धिनक्षत्रसङ्ख्यापरिमाणं, तथा चाह—एकैकस्मिन् पिटके नक्षत्राणि भवन्ति षट्पञ्चाशत्, किमुक्तं भवति?—षट्पञ्चाशन्नक्षत्रसङ्ख्याकमेकैकं नक्षत्रपिटकमिति, अत्रापि षट्षष्टिसङ्ख्याभावनैवम्—एकं नक्षत्रपिटकं जम्बूद्वीपे द्वे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति ॥ महाग्रहाणामप्यङ्गारकप्रभृतीनां सर्वस्मिन् मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः, ग्रहपिट-

कपरिमाणं च शशिद्वयसम्बन्धिग्रहसङ्ख्यापरिमाणं, तथा चाह—एकैकस्मिन् पिटके भवति षट्सप्ततं—षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं, षट्सप्तत्यधिकग्रहशतपरिमाणमेकैकं ग्रहपिटकपरिमाणमिति भावः, षट्षष्टिसङ्ख्याभावना प्राग्वत् ॥ इह मनुष्यलोके चन्द्रादित्यानां चतस्रः पङ्क्तयो भवन्ति, तद्यथा—द्वे पङ्क्ती चन्द्राणां द्वे सूर्याणां, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः षट्षष्टिः—षट्षष्टिषट्षष्टिसूर्यादिसङ्ख्या, तद्भावना चैवम्—एकः किल सूर्यो जम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणभागे चारं चरन् वर्त्तते एक उत्तरभागे, एकश्चन्द्रमा मेरोः पूर्वभागे एकोऽपरभागे, तत्र यो मेरोर्दक्षिणभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्त्तते ततः समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ दक्षिणभागे एव सूर्यौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इत्यस्यामपि सूर्यपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिः सूर्याः, तथा योऽपि च मेरोरुत्तरभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्त्तते तस्यापि समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्वौ उत्तरभागे सूर्यौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इत्यस्यामपि सूर्यपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिः सूर्याः, तथा यो मेरोः किल पूर्वभागे चारं चरन् वर्त्तते चन्द्रमास्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ पूर्वभागे एव चन्द्रमसौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इत्यस्यां चन्द्रपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिश्चन्द्रमसः, एवं यो मेरोरपरभागे चन्द्रमास्तन्मूलायामपि पङ्क्तौ षट्षष्टिश्चन्द्रमसो वेदितव्याः ॥ नक्षत्राणां मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया पङ्क्तयो भवन्ति षट्पंचाशत्, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः षट्षष्टिस्तद्भवपरिमाणा इत्यर्थः, तथाहि—किलास्मिन् जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूतान्यभिजिदादीन्यष्टाविंशतिसङ्ख्यानि नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि चारं चरन्ति, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूतान्यष्टाविंशतिसङ्ख्याकान्यभिजिदादीन्येव नक्षत्राणि क्रमेण २ व्यवस्थितानि, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे यत्राभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविं-

शतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति, सर्वसङ्ख्यया पट्पष्टिरभिजिन्नक्षत्राणि पङ्क्त्या व्यवस्थितानि, एवं श्रवणादीन्यपि
दक्षिणतोऽर्द्धभागे पङ्क्त्या व्यवस्थितानि पट्षष्टिसङ्ख्याकानि भावनीयानि, उत्तरतोऽप्यर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थितेऽपि
उत्तरभाग एव द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे पट्त्रिंशत्पुष्करार्द्धे, एवं श्रवणादिपङ्क्त्योऽपि
प्रत्येकं षट्पष्टिसङ्ख्याका २ वेदितव्या इति भवंति सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशत्सङ्ख्या नक्षत्राणां पङ्क्तयः, एकैका च पङ्क्तिः पट्-
षष्टिसङ्ख्येति ॥ 'ग्रहाणां' अङ्गारकप्रभृतीनां सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके पट्सप्तत्यधिकं पङ्क्तिशतं भवति, एकैका च पङ्क्तिर्भवति पट्पष्टिः,
अत्रापीयं भावना—जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयोऽष्टाशीतिर्ग्रहा उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य
शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतय एवान्येऽष्टाशीतिग्रहाः, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे योऽङ्गारकनामा ग्रहस्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ दक्षि-
णभाग एव द्वावङ्गारकौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे पट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति, एवं शेषा अपि सप्ताशी-
तिर्ग्रहाः पङ्क्त्या व्यवस्थिताः प्रत्येकं पट्षष्टिः २ वेदितव्याः, एवमुत्तरतोऽप्यर्द्धभागेऽङ्गारकप्रभृतीनामष्टाशीतेर्ग्रहाणां पङ्क्तयः प्रत्येकं
षट्पष्टिसङ्ख्याका २ भावनीया इति भवति सर्वसङ्ख्यया ग्रहाणां पट्सप्ततं पङ्क्तिशतं, एकैका च पङ्क्तिः पट्षष्टिसङ्ख्याकेति ॥ 'ते' मनुष्य-
लोकवर्त्तिनः सर्वे चंद्राः सर्वे सूर्याः सर्वे ग्रहगणा अनवस्थितैर्यथायोगमन्यैरन्यैर्नक्षत्रैः सह योगमुपलक्षिताः '**पयाहिणावत्तमंडला**' इति
प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां चन्द्रादीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्ते—मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः २ आवर्त्तो
येषां मण्डलानां तानि प्रदक्षिणावर्त्तानि तानि मण्डलानि मेरुं (प्रति) येषां ते प्रदक्षिणावर्त्तमण्डला मेरुमनुलक्षीकृत्य चरन्ति, एतेनैतदुक्तं
भवति—सूर्यादयः समस्ता अपि मनुष्यलोकवर्त्तिनः प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलगत्या परिभ्रमन्तीति, इह चन्द्रादित्यग्रहाणां मण्डलान्यनवस्थि-

तानि, यथायोगमन्यस्मिन्नन्यस्मिन्मण्डले तेषां संचरिष्णुत्वात्, नक्षत्रतारकाणां तु मण्डलान्यनवस्थितान्येव, तथा चाह—नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलान्यवस्थितानि ज्ञातव्यानि, किमुक्तं भवति?—आकालं प्रतिनियतमेकैकं नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलमिति, न चैवं व्यवस्थितमण्डलत्वोक्तावेवमाशङ्कनीयं यथा तेषां गतिरेव न भवतीति, यत आह—'तेऽवि य' इत्यादि, तान्यपि नक्षत्राणि तारकाणि च, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्रदक्षिणावर्त्तमेव, इदं क्रियाविशेषणं, मेरुमनुलक्ष्यीकृत्य चरन्ति, एतच्च मेरुं लक्ष्यीकृत्य तेषां प्रदक्षिणावर्त्तचरणं प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यत इति संवादि ॥ **'रजनिकरदिनकराणां'** चन्द्रादित्यानामूर्द्ध्वं वाऽधो वा सङ्क्रमो न भवति तथा जगत्स्वाभाव्यात्, तिर्यक् पुनर्मण्डलेषु सङ्क्रमणं भवति, किंविशिष्टमित्याह—**'साभ्यन्तरबाह्यम्'** अभ्यन्तरं च बाह्यं च अभ्यन्तरबाह्यं सह अभ्यन्तरबाह्यं यस्य येन वा तत् साभ्यन्तरबाह्यं, एतदुक्तं भवति?—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्तावन्मण्डलेषु सङ्क्रमणं यावत्सर्वबाह्यमण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाग् मण्डलेषु तावत्सङ्क्रमणं यावत्सर्वाभ्यन्तरमिति ॥ **'रजनिकरदिनकराणां'** चन्द्रादित्यानां नक्षत्राणां महाग्रहाणां च **'चारविशेषेण'** तेन तेन चारेण सुखदुःखविधयो मनुष्याणां संभवन्ति, तथाहि—द्विविधानि सन्ति सदा मनुष्याणां कर्माणि, तद्यथा—शुभवेद्यानि अशुभवेद्यानि च, कर्मणां च सामान्यतो विपाकहेतवः पञ्च, तद्यथा—द्रव्यं क्षेत्रं कालो भावो भवश्च, उक्तञ्च—"उदयक्खयखओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भावं भवं च संपप्प ॥ १ ॥" शुभवेद्यानां च कर्मणां प्रायः शुभद्रव्यक्षेत्रादिसामग्री विपाकहेतुः, अशुभवेद्यानामशुभद्रव्यक्षेत्रादि सामग्री, ततो यदा येषां जन्मनक्षत्राद्यनुकूलश्चन्द्रादीनां चारस्तदा तेषां प्रायो यानि शुभवेद्यानि कर्म्माणि तानि तथाविधां विपाकसामग्रीमधिगम्य

१ उदय· क्षय· क्षयोपशम उपशमो यच्च कर्मणो भणिताः । द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं भवं च सम्प्राप्य ॥ १ ॥

विपाकं प्रपद्यन्ते, प्रपन्नविपाकानि शरीरनीरोगतासंपादनतो धनवृद्धिकरणेन च वैरोपशमनतः प्रियसंप्रयोगसंपादनतो वा यदिवा
प्रारब्धाभीष्टप्रयोजननिष्पत्तिकरणतः सुखमुपजनयन्ति, अत एव महीयांसः परमविवेकिनः स्वल्पमपि प्रयोजनं शुभतिथिनक्ष-
त्रादावारभंते न तु यथा कथञ्चन, अत एव जिनानामपि भगवतामाज्ञा प्रव्राजनादिकमधिकृत्यैवमवर्त्तिष्ट—यथा शुभक्षेत्रे शुभदिश-
मभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्तादौ प्रव्राजनव्रतारोपणादि कर्त्तव्यं नान्यथा, तथा चोक्तं पञ्चवस्तुके—"एसा जिणाण आणा
खेत्ताईया य कम्मुणो भणिया। उदयाइकारणं जं तम्हा सव्वत्थ जइयव्वं ॥ १ ॥" अस्या अक्षरगमनिका—एषा जिनानामाज्ञा यथा
शुभक्षेत्रे शुभां दिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्तादौ प्रव्राजनव्रतारोपणादि कर्त्तव्यं नान्यथा, अपिच—क्षेत्रादयोऽपि कर्म्मणा-
मुदयादिकारणं भगवद्भिरुक्तास्ततोऽशुभद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीमवाप्य कदाचिदशुभवेद्यानि कर्म्माणि विपाकं गत्वोदयमासादयेयुः, तदुदये
च गृहीतव्रतभङ्गादिदोषप्रसङ्गः, शुभक्षेत्रादिसामग्रीं तु प्राप्य जनानां शुभकर्म्मविपाकसम्भव इति संभवति निर्विघ्नं सामायिकपरिपा-
लनादि, तस्मादवश्यं छद्मस्थेन सर्वत्र शुभक्षेत्रादौ यतितव्यं, ये तु भगवन्तोऽतिशयमन्तस्ते अतिशयबलादेव निर्विघ्नं सविघ्नं वा स-
म्यगवगच्छन्ति ततो न शुभतिथिमुहूर्त्तादिकमपेक्षन्त इति तन्मार्गानुसरणं छद्मस्थानां न न्याय्यं, तेन ये च परममुनिपर्युपासितप्रवच-
नविडम्बका अपरिमलितजिनशासनोपनिषद्भूतशास्त्रगुरुपरम्परायातनिरवद्यविशदकालोचितसामाचारीप्रतिपन्थिनः स्वमतिकल्पितसा-
माचारीका अभिदधति—यथा न प्रव्राजनादिषु शुभतिथिनक्षत्रादिनिरीक्षणे यतितव्यं, न खलु भगवान् जगत्स्वामी प्रव्राजनायोपस्थि-
तेषु शुभतिथ्यादिनिरीक्षणं कृतवानिति तेऽपास्ता द्रष्टव्या इति ॥ तेषां—सूर्याचन्द्रमसां सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतां तापक्षेत्रं
प्रतिदिवसं क्रमेण नियमादायामतो वर्द्धते, येनैव च क्रमेण परिवर्द्धते तेनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामतां परिहीयते,

तथाहि—सर्वबाह्यमण्डले चारं चरतां सूर्याणां चन्द्रमसां च प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशधा प्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रं, ततः सूर्यस्याभ्यन्तरं प्रविशतः प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रस्य वर्द्धेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसम्भवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः सप्तविंशतितमस्य च भागस्यैकः सप्तभागः, एवं च प्रतिमण्डलमभिवृद्धौ यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डले चारं चरतस्तदा प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य त्रयः परिपूर्णा दशभागास्तापक्षेत्रं, ततः पुनरपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलाद्बहिर्निष्क्रमेण सूर्यस्य प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य जम्बूद्वीपचक्रवालस्य द्वौ द्वौ भागौ परिहीयेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसम्भवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः सप्तविंशतितमस्य च भागस्य चैकः सप्तभाग इति ॥ 'तेषां' चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रपन्थाः कलम्बुयापुष्पं—नालिकापुष्पं तद्वत्संस्थिताः कलम्बुयापुष्पसंस्थिताः, एतदेव व्याचष्टे—अन्तः—मेरुदिशि सङ्कुचिता बहिः—लवणदिशि विस्तृताः, एतच्चन्द्रप्रज्ञप्तौ सूर्यप्रज्ञप्तौ चतुर्थे प्राभृते सविस्तरं भावितमिति ततोऽवधार्यम् ॥ सम्प्रति चन्द्रमसमधिकृत्य गौतमः प्रश्नयति—केन कारणेन शुक्लपक्षे वर्द्धते? केन वा कारणेन चन्द्रस्य कृष्णपक्षे परिहानिर्भवति? केन वा 'अनुभावेन' प्रभावेण चन्द्रस्यैकः पक्षः कृष्णो भवति एकः 'ज्योत्स्नः' शुक्लः? इति, एवमुक्ते भगवानाह—इह द्विविधो राहुस्तद्यथा—पर्वराहुर्नित्यराहुश्च, तत्र पर्वराहुः स उच्यते यः कदाचिदकस्मात्समागत्य निजविमानेन चन्द्रविमानं सूर्यविमानं वाऽन्तरितं करोति, अन्तरिते च कृते लोके ग्रहणमिति प्रसिद्धिः, स इह न गृह्यते, यस्तु नित्यराहुस्तस्य विमानं कृष्णं तथाजगत्स्वाभाव्याच्चन्द्रेण सह 'नित्यं' सर्वकालमविरहितं तथा 'चउरंगुलेन' चतुरङ्गुलैरप्राप्तं सत् 'चन्द्रस्य' चन्द्रविमानस्याधस्ताच्चरति, तच्चैवं चरत् शुक्लपक्षे शनैः शनैः प्रकटीकरोति चन्द्रमसं कृष्णपक्षे च शनैः शनैरावृणोति, तथा चाह—इह द्वाषष्टिभागीकृतस्य चन्द्रविमानस्य द्वौ भागावुपरितनौ सदाऽनावार्यस्वभा-

बलाद् अपाकृत्य शेषस्य पञ्चदशभिर्भागे हृते ये चत्वारो भागा लभ्यन्ते ते द्वाषष्टिशब्देनोच्यन्ते, अवयवे समुदायोपचारात्, एतच्च
व्याख्यानमेतस्यैव चूर्णिमुपजीव्य कृतं न स्वमनीषिकया, तथा च तद्ग्रन्थः—"चन्द्रविमानं द्वाषष्टिभागीक्रियते, ततः पञ्चदशभिर्भा-
गोऽपह्रियते, तत्र चत्वारो भागा द्वाषष्टिभागानां पञ्चदशभागेन लभ्यन्ते शेषौ द्वौ, एतावद् दिने दिने शुक्लपक्षस्य राहुणा मुच्यते"
इति, एवं च सति यत्समवायाङ्गसूत्रम्—"सुक्कपक्खस्स दिवसे दिवसे बावट्ठिं बावट्ठिं भागे परिवड्ढइ" इति, तदप्येवमेव व्याख्येयं,
संप्रदायवशाद्धि सूत्रं व्याख्येयं, न स्वमनीषिकया, अन्यथा महदाशातनाप्रसक्तेः, संप्रदायश्च यथोक्तस्वरूप इति, तत्र शुक्लपक्षस्य
दिवसे यद्—यस्मात्कारणाच्चन्द्रो द्वाषष्टिद्वाषष्टिभागान्—द्वाषष्टिभागसत्कान् चतुरश्चतुरो भागान् यावत्परिवर्द्धते, कालेन—कृष्णपक्षेण
पुनर्दिवसे २ तानेव द्वाषष्टिभागसत्कान् चतुरश्चतुरो भागान् 'प्रक्षपयति' परिहापयति, एतदेव व्याचष्टे—कृष्णपक्षे प्रतिदिवसं राहुवि-
मानं स्वकीयेन पञ्चदशेन भागेन तं 'चन्द्रं' चन्द्रविमानं पञ्चदशमेव भागं 'वृणोति' आच्छादयति, शुक्लपक्षे पुनस्तमेव प्रतिदिवसं
पञ्चदशभागमात्मीयेन पञ्चदशेन भागेन 'व्यतिक्रामति' मुञ्चति, किमुक्तं भवति?—कृष्णपक्षे प्रतिपद आरभ्यात्मीयेन पञ्चदशेन
पञ्चदशेन भागेन प्रतिदिवसमेकैकं पञ्चदशभागमुपरितनभागादारभ्यावृणोति, शुक्लपक्षे तु प्रतिपद आरभ्य तेनैव क्रमेण प्रतिदिवस-
मेकैकं पञ्चदशभागं प्रकटीकरोति, तेन जगति चन्द्रमण्डलस्य वृद्धिहानी प्रतिभासेते, स्वरूपतः पुनश्चन्द्रमण्डलमवस्थितमेव, तथा
चाह—एवं राहुविमानेन प्रतिदिवसं क्रमेणानावरणकरणतो 'वर्द्धते' वर्द्धमानः प्रतिभासते चन्द्रः, एवं राहुविमानेन प्रतिदिवसं क्रमे-
णावरणकरणतः परिहानिप्रतिभासो भवति चन्द्रस्य विषये, एतेनैव 'अनुभावेन' कारणेनैकः पक्षः 'कालः' कृष्णो भवति यत्र च-
न्द्रस्य परिहानिः प्रतिभासते, एकस्तु 'ज्योत्स्नः' शुक्लो यत्र चन्द्रविषयो वृद्धिप्रतिभासः ॥ 'अन्तः' मध्ये 'मनुष्यक्षेत्रे' मनुष्यक्षेत्रस्य

पञ्चविधा ज्योतिष्कास्तद्यथा—चन्द्राः सूर्या ग्रहगणाः चशब्दान्नक्षत्राणि तारकाश्च भवन्ति 'चारोपगाः' चारयुक्ताः, 'तेने'ति प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया ततो मनुष्यक्षेत्रात्परं यानि शेषाणि 'चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्राणि' चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्रविमानानि; सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तेषां नास्ति गतिः—न स्वस्मात्स्थानाच्चलनं नापि 'चारः' मण्डलगत्या परिभ्रमणं किन्त्ववस्थितान्येव तानि ज्ञातव्यानि ॥ सम्प्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रादिसङ्कलनामाह—'एगे जंबुद्दीवे दुगुणा लवणे चउग्गुणा होंति । लावणगा य तिगुणिया ससिसूरा धायइसंडे' ॥ १ ॥ द्वौ चन्द्रौ उपलक्षणमेतत् द्वौ सूर्यौ च 'इह' अस्मिन् जम्बूद्वीपे, चत्वारः 'सागरे' समुद्रे 'लवणतोये' लवणजले, धातकीषण्डे द्वीपे द्वादश चन्द्राश्च द्वादश सूर्याश्च ॥ एतदेव भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति—शशिनौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे द्वौ द्वौ, तावेव द्विगुणितौ 'लवणे' लवणसमुद्रे भवतः, चत्वारो लवणसमुद्रे शशिनश्चत्वारश्च सूर्या भवन्तीत्यर्थः, द्वयोर्द्वाभ्यां गुणने चतुर्भावात्, पाठान्तरम्—"एवं जंबूद्दीवे दुगुणा लवणे चउग्गुणा होंति "त्ति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण एकैकौ चन्द्रसूर्यौ जम्बूद्वीपे द्विगुणौ भवतः, किमुक्तं भवति ?—द्वौ चन्द्रमसौ द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीप इति, 'लवणे' लवणसमुद्रे तावेवैकैकौ सूर्याचन्द्रमसौ चतुर्गुणौ भवतः, चत्वारश्चन्द्राश्चत्वारः सूर्या लवणसमुद्रे भवन्तीति भावः, 'लावणिकाः' लवणसमुद्रभवाः शशिसूर्यास्त्रिगुणिता धातकीषण्डे भवन्ति, द्वादश चन्द्रा द्वादश सूर्या धातकीषण्डे द्वीपे भवन्तीत्यर्थः ॥ सम्प्रति शेषद्वीपसमुद्रगतचन्द्रादित्यसङ्ख्यापरिज्ञानाय करणमाह—धातकीषण्डः प्रभृतिः—आदिर्येषां ते धातकीषण्डप्रभृतयस्तेषु धातकीषण्डप्रभृतिषु द्वीपेषु समुद्रेषु च ये उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादशादयः उपलक्षणमेतत् सूर्या वा ते 'त्रिगुणिताः' त्रिगुणीकृताः सन्तः 'आइल्लचंदसहिय'त्ति उद्दिष्टचन्द्रयुक्ताद्द्वीपात्समुद्राद्वा प्राग् जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा ये प्राक्तनाश्चन्द्रास्तैरादिमचन्द्रैः, उपलक्षणमेतत् आदिमसूर्यैश्च सहिता यावन्तो भवन्ति एतावत्प्रमाणा अनन्तरे-

ऽनन्तरे कालोदादौ भवन्ति, तत्र धातकीषण्डे द्वीपे उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादश ते त्रिगुणाः क्रियन्ते जाताः षट्त्रिंशत्, आदिमचन्द्राः षट्,
तद्यथा—द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणसमुद्रे, एतैरादिमचन्द्रैः सहिता द्वाचत्वारिंशद्भवन्ति, एतावन्तः कालोदसमुद्रे चन्द्राः, एष
एव विधिः सूर्याणामपि, तेन सूर्या अपि तत्रैतावन्तो वेदितव्याः, तथा कालोदे समुद्रे द्वाचत्वारिंशच्चन्द्रमस उद्दिष्टास्ते त्रिगुणाः क्रि-
यन्ते जाताः षड्विंशं शतं, आदिमचन्द्रा अष्टादश, तद्यथा—द्वौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणसमुद्रे द्वादश धातकीषण्डे, एतैरादिमचन्द्रैः
सहितं षड्विंशं शतं चतुश्चत्वारिंशं शतं जातं, एतावन्तः पुष्करवरद्वीपे चन्द्रा एतावन्त एव च सूर्याः, एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेष्वेत-
त्करणवशाच्चन्द्रसङ्ख्या प्रतिपत्तव्या, सूर्यसङ्ख्याऽपि ॥ सम्प्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाणज्ञानोपायमाह—अत्राग्रशब्दः
परिमाणवाची, यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं वा ज्ञातुमिच्छसि तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा सम्बन्धिभिः
शशिभिरेकस्य शशिनः परिवारभूतं नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं च गुणितं सद् यावद् भवति तावत्प्रमाणं तत्र द्वीपे
समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणमिति, यथा लवणसमुद्रे किल नक्षत्रादिपरिमाणं ज्ञातुमिष्टं, लवणसमुद्रे च शशि-
नश्चत्वारस्तत एकस्य शशिनः परिवारभूतानि यान्यष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते जातं द्वादशोत्तरं शतं, एतावन्ति लवण-
समुद्रे नक्षत्राणि, तथाऽष्टाशीतिर्ग्रहा एकस्य शशिनः परिवारभूतास्ते चतुर्भिर्गुण्यन्ते जातानि त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि
३५२, एतावन्तो लवणसमुद्रे ग्रहाः, तथैकस्य शशिनः परिवारभूतानि तारागणकोटीकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चस-
प्तत्यधिकानि, तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि कोटीकोटीनां द्वे लक्षे सप्तषष्टिः सहस्राणि नव शतानि २६७९००|००|००|०००|००|०००
एतावत्यो लवणसमुद्रे तारागणकोटीकोटयः, एवंरूपा च नक्षत्रादीनां लवणसमुद्रे सङ्ख्या प्रागेवोक्ता, एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु नक्ष-

त्रादिसङ्ख्यापरिमाणं भावनीयम् ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिनां चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'**मनुष्यनगस्य**' मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिश्चन्द्रात्सूर्यस्य सूर्याच्चन्द्रस्यान्तरं भवति '**अन्यूनानि**' परिपूर्णानि योजनानां पञ्चाशत् सहस्राणि, एतावता चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरमुक्तम् ॥ इदानीं चन्द्रस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरमाह—'**सूरस्स य सूरस्स य**' इत्यादि, सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं—लक्षं, तथाहि—चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा बहिर्व्यवस्थिताः, चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि ५००००, ततश्चन्द्रस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं भवति योजनानां लक्षं, एतच्चैवमन्तरपरिमाणं सूचीश्रेण्या प्रतिपत्तव्यं न वलयाकारश्रेण्येति ॥ सम्प्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्याऽवस्थानमाह—नृलोकाद्बहिः पङ्क्त्याऽवस्थिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकराः '**दीप्ताः**' दीप्यन्ते स्म भास्करा इत्यर्थः; कथम्भूतास्ते चन्द्रसूर्याः ? इत्याह—'**चित्रान्तरलेश्याकाः**' चित्रमन्तरं लेश्या च प्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वात् सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रा लेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्, लेश्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह—'**सुहलेसा मंदलेसा य**' सुखलेश्याश्चन्द्रमसो, न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः, मन्दलेश्याः सूर्या न तु मनुष्यलोके निदाघसमय इव एकान्तोष्णरश्मय इत्यर्थः, आह च तत्त्वार्थटीकाकारो **हरिभद्रसूरिः**—"नात्यन्तं शीताश्चन्द्रमसः नात्यन्तोष्णाः सूर्याः किन्तु साधारणा द्वयोरपी"ति, इहेदमुक्तं भवति—यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रादिपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्रैकशशिपरिवारभूतं नक्षत्रादिपरिमाणं तावद्भिः शशिभिर्गुणयितव्यमिति । तत्रैकशशिपरिवारभूतानां ग्रहादीनां परिमाणमाह—'अट्ठासीई-' त्यादि गाथाद्वयमपि पाठसिद्धम् ॥ बहिः '**मनुष्यनगस्य**' मनुष्यपर्वतस्य चन्द्रसूर्याणां योगा अवस्थिता न मनुष्यलोक इवान्यान्यन-

क्षत्रसञ्चारिणश्चाराभावात्, क्वचित् 'अवट्ठिया तेया' इति पाठस्तत्रावस्थितानि तेजांसीति व्याख्येयं, किमुक्तं भवति?—सूर्याः सदैवानत्युष्णतेजसो न तु जातुचिदपि मनुष्यलोके ग्रीष्मकाल इवात्युष्णतेजसः, चन्द्रमसोऽपि सदैवानतिशीतलेश्याका न पुनः कदाचनाप्यन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य शिशिरकाल इवातिशीततेजस इति, तत्र प्रथमपाठपक्षे तानेवावस्थितान् योगानाह—'चंदा अभिई' इत्यादि, द्वितीयपाठपक्षे तथेति पठयितव्यं, चन्द्राः सर्वेऽपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिरभिजिता नक्षत्रेण युक्ताः, सूर्याः पुनर्भवन्ति पुष्यैर्युक्ता इति ॥ सम्प्रति मानुषोत्तरपर्वतोच्चैस्त्वादिप्रतिपादनार्थमाह—

माणुसुत्तरे णं भंते! पव्वते केवतियं उड्ढं उच्चत्तेणं? केवतियं उव्वेहेणं? केवतियं मूले विक्खम्भेणं? केवतियं मज्झे विक्खंभेणं? केवतियं सिहरे विक्खंभेणं? केवतियं अंतो गिरिपरिरएणं? केवतियं बाहिं गिरिपरिरएणं? केवतियं मज्झे गिरिपरिरएणं? केवतियं उवरि गिरिपरिरएणं?, गोयमा! माणुसुत्तरे णं पव्वते सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं उड्ढंउच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसए कोसं च उव्वेहेणं मूले दसबावीसे जोयणसते विक्खंभेणं मज्झे सत्ततेवीसे जोयणसते विक्खंभेणं उवरि चत्तारिचउवीसे जोयणसते विक्खंभेणं अंतो गिरिपरिरएणं—एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं। तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं, बाहिरगिरिपरिरएणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सतसहस्साइं छत्तीसं च सहस्साइं सत्तचोद्दसोत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं, मज्झे गिरिपरिरएणं एगा जोयण-

कोडी बायालीसं च सतसहस्साइं चोत्तीसं च सहस्सा अट्ठतेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, उवरि गिरिपरिरएणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं बत्तीसं च सहस्साइं नव य बत्तीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, मूले विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए अंतो सण्हे मज्झे उदग्गे बाहिं दरिसणिज्जे ईसिं सण्णिसण्णे सीहणिसाई अवड्ढजवरासिसंठाणसंठिते सव्वजंबूणयामए अच्छे सण्हे जाव पडिरूवे, उभओपासिं दोहिं पउमवरवेदियाहिं दोहि य वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ दोण्हवि ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—माणुसुत्तरे पव्वते २?, गोयमा! माणुसुत्तरस्स णं पव्वतस्स अंतो मणुया उप्पिं सुवण्णा बाहिं देवा अदुत्तरं च णं गोयमा! माणुसुत्तरपव्वतं मणुया ण कयाइ वितिवइंसु वा वीतिवयंति वा वीतिवइस्संति वा णण्णत्थ चारणेहिं वा विज्जाहरेहिं वा देवकम्मुणा वावि, से तेणट्ठेणं गोयमा!० अदुत्तरं च णं जाव णिच्चेत्ति ॥ जावं च णं माणुसुत्तरे पव्वते तावं च णं अस्सिंलोए त्ति पवुच्चति, जावं च णं वासातिं वा वासधरातिं वा तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं गेहाइ वा गेहावयणाति वा तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं गामाति वा जाव रायहाणीति वा तावं च णं अस्सिंलोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं अरहंता चक्कवट्टि बलदेवा वासुदेवा पडिवासुदेवा चारणा विज्जाहरा समणा समणीओ सावया सावियाओ मणुया पगतिभद्दगा विणीता तावं च णं अस्सिं

लोएत्ति पवुचति, जावं च णं समयाति वा आवलियाति वा आणापाणूइति वा थोवाइ वा लवाइ वा मुहुत्ताइ वा दिवसाति वा अहोरत्ताति वा पक्खाति वा मासाति वा उदूति वा अयणाति वा संवच्छराति वा जुगाति वा वाससताति वा वाससहस्साति वा वाससयसहस्साइ वा पुव्वंगाति वा पुव्वाति वा तुडियंगाति वा, एवं पुव्वे तुडिए अडडे अववे हूहुकए उप्पले पउमे णलिणे अच्छिणिउरे अउते णउते मउते चूलिया सीसपहेलिया जाव य सीसपहेलियंगेति वा सीसपहेलियाति वा पलिओवमेति वा सागरोवमेति वा उवसप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा तावं च णं अस्सिं लोगे वुचति, जावं च णं वादरे विज्जुकारे वायरे थणियसद्दे तावं च णं अस्सिं० जावं च णं बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति तावं च णं अस्सिं लोए, जावं च णं बायरे तेउकाए तावं च णं अस्सिं लोए, जावं च णं आगराति वा नदीउइ वा णिहीति वा तावं च णं अस्सिंलोगित्ति पवुचति, जावं च णं अगडाति वा णदीति वा तावं च णं अस्सिं लोए जावं च णं चंदोवरागाति वा सूरोवरागाति वा चंदपरिएसाति वा सूरपरिएसाति वा पडिचंदाति वा पडिसूराति वा इंदधणूइ वा उदगमच्छेइ वा कपिहसिताणि वा तावं च णं अस्सिंलोगेति प० ॥ जावं च णं चंदिमसूरियगहणक्खत्तताराख्वाणं अभिगमणनिग्गमणवुड्ढिणिवुड्ढिअणवट्टियसंठाणसंठिती आघविज्जति तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुचति ॥ (सू० १७८)

'माणुसुत्तरे ण'मित्यादि, मानुषोत्तरो णमिति वाक्यालङ्कारे पर्वतः 'कियत्' किंप्रमाणमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन? कियदुद्वेधेन? कियन्मूलविष्कम्भेन? कियदुपरिविष्कम्भेन? कियद् 'अन्तर्गिरिपरिरयेण' गिरेरन्तः परिक्षेपेण? कियद् 'बहिर्गिरिपरिरयेण' गिरेर्बहिः-परिच्छेदेन? कियत् 'मूलगिरिपरिरयेण?' गिरेर्मूले परिरयेण, एवं कियन्मध्यगिरिपरिरयेण?, एवं कियदुपरिगिरिपरिरयेण प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! सप्तदश योजनशतानि एकविंशानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन १७२१, चत्वारि त्रिंशानि योजनशतानि क्रोशमेकं च 'उद्वेधेन' उण्डत्वेन ४३०, मूले दश द्वाविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन १०२२, मध्ये सप्त त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भतः ७२३, उपरि चत्वारि चतुर्विंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन ४२४, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे एकोनपञ्चाशदधिके योजनशते किञ्चिद्विशेषाधिके अन्तर्गिरिपरिरयेण १४२३०२४९, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि सप्त चतुर्दशोत्तराणि योजनशतानि बहिर्गिरिपरिरयेण १४२३६७१४, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि अष्टौ त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि मध्यगिरिपरिरयेण १४२३४८२३, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि नव च द्वात्रिंशदुत्तराणि योजनशतानि उपरिगिरिपरिरयेण १४२३-२९३२, इदं च मध्ये उपरि च गिरिपरिरयपरिमाणं बहिर्भागापेक्षमवसातव्यं, अभ्यन्तरं छिन्नटङ्कतया मूले मध्ये उपरि च सर्वत्र तुल्यपरिरयपरिमाणत्वात्, मूले विस्तीर्णोऽतिपृथुलत्वात्, मध्ये संक्षिप्तो मध्यविस्तारत्वात्, उपरि तनुकः स्तोकबाहल्यभावात्, अन्तः श्लक्ष्णो मृष्ट इत्यर्थः मध्ये 'उदग्रः' प्रधानः बहिः 'दर्शनीयः' नयनमनोहारी 'ईषत्' मनाक् सन्निषण्णः सिंहनिषीदनेन निषीदनात्, तथा चाह—'सिंहनिषादी' सिंहवन्निषीदतीत्येवंशीलः सिंहनिषादी, यथा सिंहोऽग्रेतनं पादयुगलमुत्तम्य पश्चात्तनं तु पादयुग्मं स-

क्रौञ्च पुताभ्यां मनागल्पो निषीदति तथा निषण्णश्च शिरःप्रदेशे उन्नतः पश्चाद्भागे तु निम्नो निम्नतरः एवं मानुषोत्तरोऽपि जम्बूद्वीपदिशि छिन्नटङ्कः स चोन्नतः पाश्चात्यभागे तूपरितनभागादारभ्य पृथुलप्रदेशवृद्ध्या निम्नोनिम्नतर इति, एतदेवातिव्यक्तमाह—'अवद्धजवरासिसंठाणसंठिए' इति अपगतमर्द्धं यस्य सोऽपार्द्धः स चासौ यवश्च राशिश्च अपार्द्धयवराशी तयोरिव यत्संस्थानं यस्य तेन संस्थितः, यथा यवो राशिश्च धान्यानामपान्तराले ऊर्द्धाधोभागेन छिन्नो मध्यभागे छिन्नटङ्क इव भवति वहिर्भागे तु शनैः शनैः पृथुलवृद्ध्या निम्नो निम्नतरस्तद्वद्देषोऽपि, यवग्रहणं पृथग्व्याख्यातमन्यत्र केवलापार्द्धयवसंस्थानतयाऽपि प्रतिपादनात्, उक्तञ्च—"जंवूणयामओ सो रम्मो अद्धजवसंठिओ भणिओ। सिंहनिसादीएणं दुहाकओ पुक्खरद्दीवो ॥ १ ॥" 'सव्वजंवूणयामए' इति सर्वात्मना जाम्बूनदमयः 'अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत्। 'उभओ पासि'मित्यादि उभयोः पार्श्वयोरन्तर्भागे मध्यभागे चेत्यर्थः प्रत्येकमेकैकभावेन द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां च 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च प्राग्वत्॥ साम्प्रतं नामनिमित्तमभिधित्सुराह— 'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—मानुषोत्तरः पर्वतः मानुषोत्तरः पर्व्वतः ? इति, भगवानाह—गौतम ! मानुषोत्तरपर्वतस्य 'अन्तः' मध्ये मनुष्याः उपरि 'सुवर्णाः' सुवर्णकुमारा देवाः वहिः सामान्यतो देवाः, ततो मनुष्याणामुत्तरः—पर इति मानुषोत्तरः। अथान्यद् गौतम ! मानुषोत्तरं पर्वतं मनुष्या न कदाचिदपि व्यतिव्रजितवन्तः व्यतिव्रजन्ति व्यतिव्रजिष्यन्ति वा, किं सर्वथा न ? इत्याह—नान्यत्र, चारणेन पञ्चम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् 'चारणात्' जङ्घाचारणलब्धिसंपन्नात् विद्याधराद् देवकर्मण एव क्रियया देवोत्पादनादित्यर्थः, चारणादयो व्यतिव्रजन्त्यपि मानुषोत्तरं पर्वतमिति तद्वर्जनं, ततो मानुषाणामुत्तरः—उच्चैस्तरोऽलङ्घनीयत्वान्मानुषोत्तरः,

तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थं ॥ सम्प्रत्येतावानेव मनुष्यलोकोऽत्रैव च वर्षवर्षधरादय इत्येतत्सूत्रं प्रतिपादयितुकाम आह—'जावं च ण'मित्यादि, यावदयं मानुषोत्तरपर्वतस्तावत् 'अस्सिंलोए' इति अयं मानुषलोक इति प्रोच्यते न परतः, तथा यावद्वर्षाणि—भरतादीनि क्षेत्राणीति वा वर्षधरपर्वता—हिमवदादय इति वा तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते न परतः, एतावता किमुक्तं भवति ?—वर्षाणि वर्षधरपर्वताश्च मनुष्यलोक एव नान्यत्रेति, एवमुत्तरत्रापि भावनीयं, तथा यावद्गृहाणीति वा गृहापतनानीति वा तत्र गृहाणि प्रतीतानि गृहापतनानीति—गृहेष्वागमनानि तावदयं मनुष्यलोकः प्रोच्यते, गृहाणि गृहापतनानि वाऽस्मिन्नेव मनुष्यलोके नान्यत्रेति भावः, तथा ग्रामा इति वा नकराणीति वा यावत्सन्निवेशा इति वा, यावत्करणात् खेटकर्बटादिपरिग्रहस्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अत्रापि भावार्थः प्राग्वत्, तथा यावदर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो बलदेवा वासुदेवाश्चारणा—जङ्घाचारणविद्याधराः 'श्रमणाः' साधवः 'श्रमण्यः' संयत्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, तथा मनुष्याः प्रकृतिभद्रका इत्यादि यावद्विनीतास्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अर्हदादीनामत्रैव भावो नान्यत्रेति भावार्थः । तथा यावदुदारा बलाहका—मेघाः संस्विद्यन्ते संमूर्च्छन्ति—वर्षा वर्षन्ति, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, मेघानामपि वर्षुकाणामत्रैव भावो नान्यत्रेति भावार्थः, तथा यावत् 'बादरः' गुरुतरः 'स्तनितशब्दः' गर्जितशब्द इति, 'बादरो विद्युत्कार इति वा' बादरा—अतिबहलतरा विद्युत् तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, तथा यावदयं बादरोऽग्निकायिकस्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, बादराग्निकायिकस्यापि मनुष्यलोकात्परतोऽसम्भवात्, तथा यावदाकरा इति वा, आकरा—हिरण्याकरादयः, नद्य इति वा निधय इति वा तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, तेषामपि मनुष्यक्षेत्रादन्यत्रासम्भवात्, तथा यावत्समया इति वा, समयः—परमनिरुद्धः कालविशेषो यस्याधो विभागः कर्त्तुं न शक्यते, स च सूचिकदारकस्तरुणो

बलवानित्यादिपूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो यावन्निपुणशिल्पोपगत एकां महतीं पटशाटिकां पट्टशाटिकां वा गृहीत्वा शीघ्रं हस्तमात्रमपसारयन् यावता कालेनोपरितनतन्तुगतमुपरितनं पक्ष्म छिनत्ति ततोऽपि मनाक् सूक्ष्मतरो, जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकसमयानां समुदायः एकावलिका, सङ्ख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः सङ्ख्येयाऽऽवलिका निःश्वासः उच्छ्वासनिःश्वासौ समुदितावेक आनप्राणकालः, किमुक्तं भवति ?—हृष्टस्य नीरोगस्य श्रमबुभुक्षादिना निरुपकृष्टस्य यावता कालेनैतावुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः तावान् काल आनप्राणः, उक्तञ्च—"हट्ठस्स अणवकल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासनीसासे, एस पाणुत्ति वुच्चए ॥१॥" सप्त प्राणा एकः स्तोकः सप्त स्तोका एको लवः सप्तसप्ततिसङ्ख्या लवा एको मुहूर्त्तः, उक्तञ्च—"सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे। लवाण सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ १ ॥" अस्मिंश्च मुहूर्त्ते यद्यावलिकाश्चिन्त्यन्ते तदा तासामेका कोटी सप्तषष्टिर्लक्षाः सप्तसप्ततिः सहस्राणि द्वे शते षोडशाधिके, उक्तञ्च—"एगा कोडी सत्तट्ठि लक्खा सत्तत्तरी सहस्सा य। दो य सया सोलहिया आवलियाणं मुहुत्तंमि ॥१॥" उच्छ्वासाश्च मुहूर्त्ते त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, उक्तञ्च—"तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा। एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १ ॥" त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणोऽहोरात्रः, पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः, द्वौ पक्षौ मासः, द्वौ मासौ ऋतुः, ते च षट्, तद्यथा—प्रावृड् वर्षारात्रः शरद् हेमन्तः वसन्तः ग्रीष्मश्च, तत्र—'आषाढाद्या ऋतव' इति वचनाद् आषाढश्रावणौ प्रावृट् भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षारात्रः कार्त्तिकमार्गशीर्षौ शरद् पौषमाघौ हेमन्तः फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, ये त्वभिदधति—वसन्ताद्या ऋतवः (इति वसन्तः) ग्रीष्मः प्रावृट्शरदौ हेमन्तः शिशिर इति षडिति तदप्रमाणमवसातव्यं, जैनमतोत्तीर्णत्वात्, त्रय ऋतवोऽयनं, द्वे अयने संवत्सरः, पञ्चसंवत्सरं युगं, विंशतिर्युगानि वर्षशतं, इहाहोरात्रे मासे वर्षे वर्षशते चोच्छ्वासपरिमाणमेवं पू-

र्वैसूरिभिः संकलितम्—"एगं च सयसहस्सं ऊसासाणं तु तेरस सहस्सा। नउयसएणं अहिया दिवसनिसिं होंति विन्नेया ॥ १ ॥ (११३९०)। मासेऽवि य ऊसासा लक्खा तित्तीस सहस पणनउई। सत्त सयाइं जाणसु कहियाइं पुव्वसूरीहिं ॥२॥ (३३९५७००)। चत्तारि य कोडीओ लक्खा सत्तेव होंति नायव्वा। अडयालीससहस्सा चारसया होंति वरिसेणं ॥ ३ ॥" (४०७४८४००)। दश वर्षशतानि वर्षसहस्रं शतं वर्षसहस्राणां वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिः वर्षशतसहस्राणि एकं पूर्वाङ्गं, चतुरशीतिः पूर्वाङ्गशतसहस्राणि एकं पूर्वं, चतुरशीतिः पूर्ववर्षशतसहस्राणि एकं त्रुटिताङ्गं, चतुरशीतिः त्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितं, चतुरशीतिस्त्रुटितशतसहस्राणि एकमडडाङ्गं, चतुरशीतिरडडाङ्गशतसहस्राणि एकमडडं, चतुरशीतिरडडशतसहस्राणि एकमववाङ्गं, चतुरशीतिरववाङ्गशतसहस्राणि एकमववं, चतुरशीतिरववशतसहस्राणि एकं हूहुकाङ्गं, चतुरशीतिर्हूहुकाङ्गशतसहस्राणि एकं हूहुकं, चतुरशीतिर्हूहुकशतसहस्राणि एकमुत्पलाङ्गं, चतुरशीतिरुत्पलाङ्गशतसहस्राणि एकमुत्पलं, चतुरशीतिरुत्पलशतसहस्राणि एकं पद्माङ्गं, चतुरशीतिः पद्माङ्गशतसहस्राणि एकं पद्मं, चतुरशीतिः पद्मशतसहस्राणि एकं नलिनाङ्गं, चतुरशीतिर्नलिनाङ्गशतसहस्राणि एकं नलिनं, चतुरशीतिर्नलिनशतसहस्राणि एकमर्थनिकुराङ्गं, चतुरशीतिरर्थनिकुराङ्गशतसहस्राणि एकमर्थनिकुरं, चतुरशीतिरर्थनिकुरशतसहस्राणि एकमयुताङ्गं, चतुरशीतिरयुताङ्गशतसहस्राणि एकमयुतं, चतुरशीतिरयुतशतसहस्राणि एकं प्रयुताङ्गं, चतुरशीतिः प्रयुताङ्गशतसहस्राणि एकं प्रयुतं, चतुरशीतिः प्रयुतशतसहस्राणि एकं नयुताङ्गं, चतुरशीतिर्नयुताङ्गशतसहस्राणि एकं नयुतं, चतुरशीतिर्नयुतशतसहस्राणि एकं चूलिकाङ्गं, चतुरशीतिश्चूलिकाङ्गशतसहस्राणि एका चूलिका, चतुरशीतिश्चूलिकाशतसहस्राणि एकं शीर्षप्रहेलिकाङ्गं, चतुरशीतिः शीर्षप्रहेलिकाङ्गशतसहस्राणि एका शीर्षप्रहेलिका, एतावानेव गणितस्य विषयोऽतः परमौपमिकं कालपरिमाणं, एतदेवाह—पल्योपममिति वा,

पल्योपमस्वरूपं सङ्ग्रहणिटीकातोऽवसातव्यं, तत्र सविस्तरमभिहितत्वात्, पल्योपमानां दश कोटीकोट्य एकं सागरोपमं, दश कोटीकोट्यः सागरोपमाणां सुषमसुषमाद्यरकक्रमेण एकाऽवसर्पिणी, सागरोपमाणां दश कोटीकोट्य एव दुष्षमदुष्षमाद्यरकक्रमेणैकोत्सर्पिणी, तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्रैवंरूपकालपरिमाणासम्भवात्, कालद्रव्यस्य मनुष्यक्षेत्र एव भावात् ॥ 'जावं च ण'मित्यादि, यावच्चन्द्रोपरागा इति वा सूर्योपरागा इति वा चन्द्रपरिवेषा इति वा सूर्यपरिवेषा इति वा प्रतिचन्द्रा इति वा प्रतिसूर्या इति वा इन्द्रधनुरिति वा उदकमत्स्या इति वा कपिहसितमिति वा, एतेषामर्थः प्राग्वत्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्रैषामभाव इति भावः ॥ 'जावं च ण'मित्यादि, यावच्चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपाणि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, णमिति वाक्यालङ्कारे अभिगमनं—सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरप्रवेशनं निर्गमनं—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्गमनं वृद्धिः—शुक्लपक्षे चन्द्रमसो वृद्धिप्रतिभासः निर्वृद्धिः—वृद्धेरभावः, कृष्णपक्षे चन्द्रमस एव हानिप्रतिभास इति भावः, अनवस्थितं—सन्ततं चारप्रवृत्त्या यत्संस्थानं—सम्यगवस्थानमनवस्थितसंस्थानं, एतेषां द्वन्द्वस्तैः संस्थितानि—यथायोगं व्यवस्थितानि अभिगमननिर्गमनवृद्धिनिर्वृद्ध्यनवस्थितसंस्थानसंस्थितानीति व्याख्यायन्ते तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्र चन्द्रादीनामभिगमनाद्यसम्भवात् ॥

अंतो णं भंते! मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवा ते णं भदन्त! देवा किं उड्ढोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा?, गोयमा! ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा णो कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा नो चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा उड्ढमुहकलंबुयपुप्फसंठाणसंठि-

तेहिं जोयणसाहस्सितेहिं तावखेत्तेहिं साहस्सियाहिं बाहिरियाहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महयाहयनट्टगीतवादिततंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवादितरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा महया उक्कट्ठिसीहणायबोलकलकलसद्देण विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा अच्छयपव्वयरायं पदाहिणावत्तमंडलयारं मेरुं अणुपरियडंति ॥ तेसि णं भंते! देवाणं इंदे चवति से कहमिदाणिं पकरेंति?, गोयमा! ताहे चत्तारि पंच सामाणिया तं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अन्ने इंदे उववण्णे भवति ॥ इंदट्ठाणे णं भंते! केवतियं कालं विरहिते उववातेणं?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा ॥ बहिया णं भंते! मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगहणक्खत्ततारारूवा ते णं भंते! देवा किं उड्ढोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा?, गोयमा! ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा नो कप्पोववण्णगा विमाणोववन्नगा नो चारोववण्णगा चारट्ठितीया नो गतिरतिया नो गतिसमावण्णगा पक्किट्टगसंठाणसंठितेहिं जोयणसतसाहस्सिएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सियाहि य बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताहतणट्टगीयवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा सुहलेस्सा सीयलेस्सा मंदलेस्सा मंदायवलेस्सा चित्तंतरलेसागा कूडा इव ठाणट्ठिता अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासेंति उज्जोवेंति तवंति पभासेंति ॥

जया णं भंते! तेसिं देवाणं इंदे चयति से कहमिदाणिं पकरेंति?, गोयमा! जाव चत्तारि पंच सामाणिया तं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अण्णे उववण्णे भवति। इंदट्ठाणे णं भंते! केवतियं कालं विरहओ उववातेणं?, गोयमा! जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं छम्मासा ॥ (सू० १७९)

'अंतो ण'मित्यादि, 'अन्तः' मध्ये णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपास्ते भदन्त! देवाः किमूर्द्धोपपन्नाः?—सौधर्मादिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य ऊर्द्धमुपपन्ना ऊर्द्धोपपन्नाः कल्पेषु—सौधर्मादिषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः विमानेषु—सामान्यरूपेषु उपपन्ना विमानोपपन्नाः चारो—मण्डलगत्या परिभ्रमणं तमुपपन्ना—आश्रितवन्तश्चारोपपन्नाः चारस्य—यथोक्तरूपस्य स्थितिः—अभावो येषां ते चारस्थितिका अपगतचारा इत्यर्थः गतौ रतिः—आसक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः, एतेन गतौ रतिमात्रमुक्तं, सम्प्रति साक्षाद्गतिं प्रश्नयति—'गतिसमापन्नाः?' गतिसमापन्नाः—गतियुक्ताः, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—गौतम! ते देवा नोर्द्धोपपन्नास्तथा चारोपपन्नाश्चारसहिता नो चारस्थितिकाः, तथा स्वभावतोऽपि गतिरतिकाः साक्षाद्गतियुक्ताश्च, नालिकापुष्पसंस्थानसंस्थितैः 'योजनसाहस्रिकैः' अनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रैः 'साहस्रिकाभिः' अनेकसहस्रसङ्ख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्र बहुवचनं व्यत्ययपेक्षया, 'वैकुर्विकाभिः' विकुर्वितनानारूपधारिणीभिः 'महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेण'मिति पूर्ववत् 'दिव्यान्' प्रधानात् भोगार्हा भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जानास्तथा स्वभावतो गतिरतिकैर्बाह्यपर्षदन्तर्गतैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषु 'उत्कृष्टतः' उत्कर्षवशेन ये मुच्यन्ते सिंहनादादयश्च क्रियन्ते बोलाः, बोलो नाम

मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन पूत्करणं, यश्च कलकलो—व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण महता समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणा मेरुमिति योगः, किंविशिष्टम्? इत्याह—'अच्छम्' अतीवनिर्मलजाम्बूनदमयत्वात् रत्नबहुलत्वाच्च 'पर्वतराजं' पर्वतेन्द्रं प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलं चारं यथा भवति तथा मेरुमनुलक्षीकृत्य 'परिअडंति' पर्यटन्ति । पुनः प्रश्नयति—'तेसि णं भंते!' इत्यादि, तेषां भदन्त! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा 'इदानीम्' इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति?, भगवानाह—गौतम! यावच्चत्वारः पञ्च वा सामानिका देवाः समुदितीभूय 'तत्स्थानम्' इन्द्रस्थानमुपसंपद्य 'विहरन्ति' तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति, संजातौ शुल्कस्थानादिकपञ्चकुलवत्, कियन्तं कालं यावत्तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति? इति चेदत आह—यावदन्यस्तत्रेन्द्र उपपन्नो भवति ॥ 'इंदट्ठाणे ण'मित्यादि, इन्द्रस्थानं भदन्त! कियन्तं कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनैकं समयं यावदुत्कर्षतः षण्मासान् ॥ 'वहिया ण'मित्यादि, वहिर्भदन्त! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपास्ते भदन्त! देवाः किमूर्द्ध्वोपपन्नाः? इत्यादि प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! नोर्द्ध्वोपपन्नका नापि कल्पोपपन्नाः किन्तु विमानोपपन्नास्तथा नो चारोपपन्नाः किन्तु चारस्थितिकाः अत एव नो गतिरतयो नापि गतिसमापन्नकाः 'पक्किट्टगसंठाणसंठिएहिं'ति पक्वेष्टकसंस्थानसंस्थितैर्योजनशतसाहस्रिकैरातपक्षेत्रैः, यथा इष्टका आयामतो दीर्घा भवति विस्तरतस्तु स्तोका चतुरस्रा च तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्व्यवस्थितानां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राण्यायामतोऽनेकयोजनशतसहस्रप्रमाणानि विस्तरत एकयोजनशतसहस्राणि चतुरस्राणि चेति, तैरित्थम्भूतैरातपक्षेत्रैः साहस्रिकाभिः—अनेकसहस्रसङ्ख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्रापि बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया, 'महयाहये'त्यादि यावत्समुद्ररवभूतमिव कुर्वन्त इति प्राग्वत्, कथम्भूताः? इत्याह—शुभलेश्याः, एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः किन्तु सुखोत्पादहेतुपरमलेश्याका

इत्यर्थः, मन्दलेश्या, एतच्च विशेषणं सूर्यान् प्रति, तथा च एतदेव व्याचष्टे—'मन्दातपलेश्याः' मन्दा नात्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या—रश्मिसङ्घातो येषां ते तथा, पुनः कथम्भूताश्चन्द्रादित्याः ? इत्याह—'चित्रान्तरलेश्याः' चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा, भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः, त इत्थम्भूताश्चन्द्रादित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः, तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणविस्तारा, चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि, ततश्चन्द्रप्रभासम्मिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभासम्मिश्राश्च चन्द्रप्रभाः इतीत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः कूटानीव—पर्वतोपरिव्यवस्थितशिखराणीव 'स्थानस्थिताः' सदैवैकत्र स्थाने स्थितास्तान् तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् उद्द्योतयन्ति अवभासयन्ति तापयन्ति प्रकाशयन्ति ॥ 'तेसि णं भंते! देवाणं जाहे इंदे चयई'त्यादि प्राग्वत् ॥

पुक्खरवरण्णं दीवं पुक्खरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाव संपरिक्खित्ताणं चिट्ठति ॥ पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ पुक्खरोदस्स णं समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता तहेव सव्वं पुक्खरोदसमुद्दपुरत्थिमपेरंते वरुणवरदीवपुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं पुक्खरोदस्स विजए नामं दारे पण्णत्ते, एवं सेसाणवि । दारंतरंमि संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । पदेसा जीवा य तहेव । से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति?—पुक्ख-

रोदे समुद्दे २?, गोयमा! पुक्खरोदस्स णं समुद्दस्स उदगे अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं सिरिधरसिरिप्पभा य दो देवा जाव महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से एतेणट्ठेणं जाव णिच्चे। पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे केवतिया चंदा पभासिंसु वा ३?, संखेज्जा चंदा पभासेंसु वा ३ जाव तारागण कोडीकोडीउ सोभेंसु वा ३॥ पुक्खरोदे णं समुद्दे वरुणवरेणं दीवेणं संपरि० वट्टे वलयागारे जाव चिट्ठति, तहेव समचक्कवालसंठिते केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवइयं परिक्खेवेणं? पण्णत्ता, गोयमा! संखिज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, पउमवरवेदियावणसंडवण्णओ दारंतरं पदेसा जीवा तहेव सव्वं॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ वरुणवरे दीवे २?, गोयमा! वरुणवरे णं दीवे तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहुओ खुड्डा खुड्डियाओ जाव विलपंतियाओ अच्छाओ पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरि० वण० वारुणिवरोदगपडिहत्थाओ पासातीताओ ४, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वता जाव खडहडगा सव्वफलिहामया अच्छा तहेव वरुणवरुणप्पभा य एत्थ दो देवा महिड्ढीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे। जोतिसं सव्वं संखेज्जगेणं जाव तारागणकोडिकोडीओ। वरुणवरण्णं दीवं वरुणोदे णामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव चिट्ठति, समचक्क० विसमचक्कवि० तहेव सव्वं भाणियव्वं, विक्खंभपरिक्खेवो संखिज्जाइं

जोयणसहस्साइं दारंतरं च पउमवर० वणसंडे पएसा जीवा अट्ठो गोयमा! वारुणोदस्स णं समुद्दस्स उदए से जहा नामए चंदप्पभाइ वा मणिसिलागाइ वा वरसीधुवरवारुणीइ वा पत्तासवेइ वा पुप्फासवेइ वा चोयासवेइ वा फलासवेइ वा महुमेरएइ वा जातिप्पसन्नाइ वा खज्जूरसारेइ वा मुद्दियासारेइ वा कापिसायणाइ वा सुपक्कखोयरसेइ वा पभूतसंभारसंचिता पोसमासतभिसयजोगवत्तिता निरुवहतविसिट्ठदिन्नकालोवयारा सुधोता उक्कोसग (मयपत्ता) अट्ठपिट्ठपुट्ठा (पिट्ठ निट्ठिजा) [मुखइंतवरकिमदिण्णकद्दमा कोपसन्ना अच्छा वरवारुणी अतिरसा जंबूफलपुट्ठवन्ना सुजाता ईसिउट्ठावलंबिणी अहियमधुरपेज्जा ईसासिरत्तणेत्ता कोमलकवोलकरणी जाव आसादिता विसदिता अणिहुयसंलावकरणहरिसपीतिजणणी संतोसततबिब्बोक्कहावविब्भमविलासवेल्लहलगमणकरणी विरणमधियसत्तजणणी य होति संगामदेसकालेकयरणसमरपसरकरणी कढियाणविज्जुपयतिहियाण मउयकरणी य होति उववेसिता समाणा गतिं खलावेति य सयलंमिवि सुभासवुप्पालिया समरभग्गवणोसहयारसुरभिरसदीविया सुगंधा आसायणिज्जा विस्सायणिज्जा पीणणिज्जा दप्पणिज्जा मयणिज्जा सव्विंदियगातपल्हायणिज्जा] आसला मांसला पेसला (ईसी ओट्ठावलंबिणी ईसी तंबच्छिकरणी ईसी वोच्छेया कडुआ) वण्णेणं उववेया गंधेणं उववेया रसेणं उववेया फासेणं उववेया, भवे एयारूवे सिया ?, गोयमा!

नो इणट्ठे समट्ठे, वारुणस्स णं समुद्दस्स उदए एत्तो इट्ठतरे जाव उदए। से एएणट्ठेणं एवं वुच्चति०, तत्थ णं वारुणिवारुणकंता देवा महिड्ढीया० जाव परिवसंति, से एएणट्ठेणं जाव णिच्चे, सव्वं जोइससंखिज्जे केण नायव्वं वारुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसुवा ३? ॥ (सू० १८०)

'**पुक्खरवरण्ण**'मित्यादि, पुष्करवरं णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीपं पुष्करोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति ॥ 'पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ सम्प्रति विष्कम्भादिप्रतिपादनार्थमाह—'**पुक्खरोदे ण**'मित्यादि, पुष्करोदो भदन्त! समुद्रः कियच्चक्रवालविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः। '**से ण**'मित्यादि, स पुष्करोदः समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया सामर्थ्यादष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्या एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः ॥ '**पुक्खरोदस्स णं भंते!**' इत्यादि, पुष्करोदस्य भदन्त! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं, क भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य पूर्वार्द्धपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि, अत्र पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदे समुद्रे ॥ '**कहि ण**'मित्यादि, क भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ॥ क भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य

पूर्वतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे ॥ 'कहि ण'मित्यादि, क भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्योत्तरपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपस्य दक्षिणतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, एतदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे ॥ 'पुक्खरोदस्स ण'मित्यादि, पुष्करोदस्य भदन्त! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमन्तरमेतत् कियत् 'अबाधया' अन्तरित्वा व्याघातरूपया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् ॥ 'पएसे'त्यादि प्रदेशजीवोपपातसूत्रचतुष्टयं तथैव पूर्ववत्, तच्चैवम्—"पुक्खरोयस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा अरुणवरं दीवं पुट्ठा?, हंता! पुट्ठा, ते णं भंते! पुक्खरोदे समुद्दे अरुणवरे दीवे?, गोयमा! पुक्खरोए णं समुद्दे नो अरुणवरे दीवे। अरुणवरस्स णं भंते! दीवस्स पएसा पुक्खरोदण्णं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा, ते णं भंते! किं अरुणवरे दीवे पुक्खरोदे समुद्दे?, गोयमा! अरुणवरे णं दीवे नो खलु ते पुक्खरोए समुद्दे। पुक्खरोए णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता अरुणवरे दीवे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगइया पच्चायंति अत्थेगइया नो पच्चायंति। अरुणवरे णं भंते! दीवे जीवा उद्दाइत्ता पुक्खरोदे समुद्दे०?" इति, (पुष्करोदान्वर्थे) भगवानाह—गौतम! पुष्करोदस्य णमिति पूर्ववत् समुद्रस्योदकम् 'अच्छम्' अनाविलं 'पथ्यं' न रोगहेतुः 'जात्यं' न विजातिमत् 'तनु' लघुपरिणामं 'स्फटिकवर्णाभं' स्फटिकरत्नच्छायं प्रकृत्योदकरसं प्रज्ञप्तं, श्रीधरश्रीप्रभौ चात्र—पुष्करोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततस्ताभ्यां सपरिवाराभ्यां गगनमिव चन्द्रादित्याभ्यां ग्रहनक्षत्रादिपरिवारोपेताभ्यां तदुदकमवभासत इति, पुष्करमिवोदकं यस्यासौ पुष्करोदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यम्। 'पुक्खरोए णं भंते! समुद्दे कइ चंदा पभा-

सिंसु ?' इत्यादि पाठसिद्धं, सर्वत्र सङ्ख्येयस्य निर्वचनभावात् ॥ '**पुक्खरोदण्णं समुद्द**'मित्यादि, पुष्करोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं वरुणवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि पुष्करोदसमुद्रवच्चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपवेदिकावनखण्डद्वारतदन्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तव्यता वक्तव्या ॥ सम्प्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—'**से केणट्ठेण**'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते वरुणवरो द्वीपो वरुणवरो द्वीपः ? इति, भगवानाह—गौतम! वरुणवरस्य द्वीपस्य तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवः 'खुड्डा खुड्डियाओ जाव बिलपंतियाओ यावत्करणात् पुक्खरणीओ गुंजालियाओ दीहियाओ सराओ सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतीओ अच्छाओ जाव महुररसणिचताती' इति यावत्करणात् 'सण्हाओ रयणमयकूलाओ समतीराओ वइरामयपासाणाओ तवणिज्जतलाओ सुवण्णसुज्झरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सुहोयाराओ सुहुत्ताराओ नाणामणितित्थसुबद्धाओ चाउक्कोणाओ अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछन्नपत्तभिसमुणालाओ बहुलुप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियाओ पुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपडिपुण्णाओ पडिहत्थगभमन्तमच्छकच्छभअणेगसउणगणमिहुणविचरियसद्दुण्णइयमहुरसरनाइयाओ" अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । '**वारुणीवरोदगपडिहत्थाओ**' इत्यादि, वारुणिवरे च वरवारुणीव यद् उदकं तेन '**पडिहत्थाओ**' प्रतिपूर्णाः 'पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ' इति पाठसिद्धम् । '**तिसोवानतोरणा**' इति तासां त्रिसोपानानि तोरणानि च प्रत्येकं वक्तव्यानि, तानि चैवम्—"तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणीणं दीहियाणं गुंजालियाणं सरसियाणं सरपंतियाणं सरसरपंतियाणं बिलपंतियाणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पन्नत्ता, तेसि णं तिसोपाणपडिरूवगाणं इमे एयारूवे

वण्णावासे पन्नत्ते, तंजहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहियक्खमइओ सूईओ नाणामणिमया अवलंवणा अवलंवणवाहाओ पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं २ तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा नाणामणिमया नाणामणिमएसु खंभेसु उवनिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवचिया विविहतारारूवोववेया ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं तोरणाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा पन्नत्ता, तंजहा—सोत्थियसिरिवच्छनंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं उवरिं वहवे किण्हचामरज्झया नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हालिद्दचामरज्झया सुक्किलचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरामयदंडा जलयामलगंधिया सुरम्मा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं उवरिं वहवे छत्ताइच्छत्ता पडागाइपडागा घंटाजुयला उप्पलहत्थया कुमुयहत्थया नलिणहत्थगा सुभगहत्थगा सोगंधियहत्थगा पोंडरियहत्थगा महापोंडरीयहत्थगा सतपत्तहत्थगा सहस्सपत्तहत्थगा सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।" अस्य व्याख्या पूर्ववत्। 'तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणीणं जाव विलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वहवे उप्पायपव्वगा निययपव्वयगा जगतीपव्वयगा दारुपव्वयगा मंडवगा दगमंडवगा दकमालगा दगपासाया उसडगा खडखडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।' इति प्रा-

ग्वत्। 'तेसु णं पव्वयगेसु जाव पक्खंदोलगेसु बहवे हंसासणाइं उन्नयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं पउमासणाइं सीहासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालियामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं। वरुणवरस्स णं दीवस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे आलीघरगा मालीघरगा केयइघरगा अच्छणघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा चित्तहरगा मालघरगा जालघरगा कुसुमघरगा सव्वफालियामया अच्छा जाव पडिरूवा। तेसु णं आलीघरएसु जाव कुसुमघरएसु बहवे हंसासणाइं जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालियामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं। वरुणवरे णं दीवे णं तत्थ २ देसे तहिं २ बहवे जातिमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा नवमालियामंडवगा वासंतियमंडवगा दहिवासइमंडवगा सूरुल्लियामंडवगा तंबोलमंडवगा अप्फायामंडवगा अइमुत्तमंडवगा मुद्दियामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामंडवगा सव्वफालिहामया अच्छा जाव पडिरूवा। तेसु णं जाइमंडवेसु जाव सामलयामंडवेसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पन्नत्ता, अप्पेगइया हंसासणसंठिया अप्पेगइया कोंचासणसंठिया जाव अप्पेगइया दिसासोवत्थियासणसंठिया अप्पेगइया वरसयणविसिट्ठसंठाणसंठिया सव्वफालियामया अच्छा जाव पडिरूवा, तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति निसीयंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीडंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुप्परक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणाणं फलवित्तिविसेसे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति' एतत्सर्वं प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं पुस्तकेष्वन्यथाऽन्यथा पाठ इति यथाऽवस्थितपाठप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमपि लिखितमस्ति, तदेवं यस्माद्वरवारुणीवात्र वाप्यादिषूदकं तस्मादेष द्वीपो वरुणवरः, अन्यच्च वरुण वरुणप्रभौ चात्र वरुणवरे द्वीपे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तस्माद्वरुणवरो—वरुणदेवप्रधानः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि। चन्द्रादिसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—'वरुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसु' इत्यादि

पाठसिद्धं सर्वत्र सङ्ख्येयतयाऽभिधानात् ॥ 'वरुणवरण्णं दीव'मित्यादि, वरुणवरमिति पूर्ववत्, वरुणोदः समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति, यथैव पुष्करोदसमुद्रस्य वक्तव्यता तथैवास्यापि यावज्जीवोपपातसूत्रद्वयम् ॥ सम्प्रति नामनिबन्धनमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते वरुणोदः समुद्रो वरुणोदः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! वरुणोदस्य समुद्रस्योदकं, सा लोकप्रसिद्धा यथा नाम—'चन्द्रप्रभेति वा' चन्द्रस्येव प्रभा—आकारो यस्याः सा चन्द्रप्रभा—सुराविशेषः, इतिशब्द उपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दः समुच्चये, एवमन्यत्रापि, मणिशलाकेव मणिशलाका वरं च तत्सीधु च २ वरा चासौ वारुणी च वरवारुणी, धातकीपत्ररससार आसवः पत्रासवः, एवं पुष्पासवः फलासवश्च परिभावनीयः, चोयो—गन्धद्रव्यं तत्सारः आसवश्चोयासवः, मधुमेरकौ लोकादवसातव्यौ (मद्य) विशेषौ, जातिपुष्पवासिता प्रसन्ना जातिप्रसन्ना, मूलदलखर्जूरसार आसवः खर्जूरसारः, मृद्वीका—द्राक्षा तत्सारनिष्पन्न आसवो मृद्वीकासारः 'कापिशयनं' मद्यविशेषः सुपक्वः—सुपरिपाकागतो यः क्षोदरस—इक्षुरसस्तन्निष्पन्न आसवः सुपक्वेक्षुरसः, अष्टवारपिष्टप्रदाननिष्पन्ना अष्टपिष्टनिष्ठिता जम्बूफलकालिवरप्रसन्ना सुराविशेषः; उत्कर्षेण मदं प्राप्ता उत्कर्षमदप्राप्ता 'आसला' आस्वादनीया 'मांसला' बहला 'पेसला' मनोज्ञा ईषद् ओष्ठमवलम्बते—ततः परमतिप्रकृष्टास्वादगुणरसोपेतत्वात् झटिति परतः प्रयाति ईषदोष्ठावलम्बिनी, तथा ईषत्ताम्राक्षिकरणी, तथा ईषत्—मनाग् व्यवच्छेदे—पानोत्तरकालं कटुका तीक्ष्णेति भावः एलाद्युपबृंहकद्रव्यसमायोगात्, तथा वर्णेनातिशायिना एवं गन्धेन स्पर्शेनोपपेता 'आस्वादनीया' महतामप्यास्वादयितुं योग्या 'विस्वादनीया' विशेषत आस्वादयितुं योग्या अतिपरमास्वादनीयरसोपेतत्वात्, दीपयति जाठराग्निमिति दीपनीया 'कृद्बहुल'मिति वचनात्कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः, एवं मदयतीति मदनीया—मन्मथजननी बृंहतीति बृंह-

णीया धातूपचयकारित्वात् सर्वेन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीया । एवमुक्ते गौतम आह—भगवन्! भवेदेतद्रूपं वरुणोदकसमुद्रस्योदकम्?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, वरुणोदस्य णमिति यस्मादर्थे निपातानामनेकार्थत्वात् समुद्रस्योदकम् 'इतः' पूर्वस्मात्सुरादिविशेषसमूहादिष्टतरमेव कान्ततरमेव प्रियतरमेव मनोज्ञतरमेव मनआपतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं, ततो वारुणीवोदकं यस्यासौ वारुणोदः, तथा वारुणिवारुणकान्तौ चात्र वारुणोदे समुद्रे यथाक्रमं पूर्वापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ देवौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततो वारुणेर्वारुणकान्तस्य च सम्बन्धि उदकं यस्यासौ वारुणोदः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं, चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् ॥

वारुणवरण्णं समुद्दं खीरवरे णामं दीवे वट्टे जाव चिट्ठति सव्वं संखेज्जगं विक्खंभे य परिक्खेवो य जाव अट्ठो, बहूओ खुड्डा० वावीओ जाव सरसरपंतियाओ खीरोदगपडिहत्थाओ पासातीयाओ ४, तासु णं खुड्डियासु जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वयगा० सव्वरयणामया जाव पडिरूवा; पुंडरीगपुक्खरदंता एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति, से एतेणट्ठेणं जाव निच्चे जोतिसं सव्वं संखेज्जं ॥ खीरवरण्णं दीवं खीरोए नामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाव परिक्खिवित्ता णं चिट्ठति, समचक्कवालसंठिते नो विसमचक्कवालसंठिते, संखेज्जाइं जोयणस० विक्खंभपरिक्खेवो तहेव सव्वं जाव अट्ठो, गोयमा! खीरोयस्स णं समुद्दस्स उदगं [से जहाणामए—सुउसुहीमारुपण्णअज्जुणतरुणसरसपत्तकोमलअत्थिग्गत्तणग्गपोंडगवरुच्छुचारिणीणं लवं-

गपत्तपुप्फपल्लवकक्कोलगसफलरुक्खबहुगुच्छगुम्मकलितमलट्ठिमधुपयुरपिप्पलीफलितवल्लिवरविव-
रचारिणीणं अप्पोदगपीतसइरससमभूमिभागणिभयसुहोसियाणं सुप्पेसितसुहातरोगपरिवज्जि-
ताण णिरुवहतसरीरिणं कालप्पसविणीणं बितियततियसामप्पसूताणं अंजणघरगवलवलयज-
लधरजच्चंजणरिट्ठभमरपभूयसमप्पभाणं कुंडदोहणाणं वद्धत्थीपत्थुताण रूढाणं मधुमासकाले
संगहनेहो अज्जचातुरक्केव होज्ज तासिं खीरे मधुररसविवगच्छयहुदव्वसंपउत्ते पत्तेयं मंद-
ग्गिसुकढिते आउत्ते] खंडगुडमच्छंडितोववेते रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स उवट्ठविते आसायणिज्जे
विस्सायणिज्जे पीणणिज्जे जाव सव्विंदियगातपल्हातणिज्जे जाव वण्णेणं उवचिते जाव फासेणं,
भवे एयारूवे सिया?, णो इणट्ठे समट्ठे, खीरोदस्स णं से उदए एत्तो इट्ठयराए चेव जाव आसा-
एणं पण्णत्ते, विमलविमलप्पभा एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति, से तेणट्ठेणं संखेज्ज
चंदा जाव तारा ॥ (सू० १८१)

'वरुणोदण्ण'मित्यादि, वरुणोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं क्षीरवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्सं-
परिक्षिप्य तिष्ठति, एवं यैव वरुणवरद्वीपस्य वक्तव्यता सैवेहापि द्रष्टव्या यावज्जीवोपपातसूत्रम् । सम्प्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—
'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते क्षीरवरो द्वीपः क्षीरवरो द्वीपः?, प्रभूतजनोक्तिसङ्ग्रहार्थं वीप्सायां द्विर्वचनं,
भगवानाह–गौतम! क्षीरवरे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे 'बहवो खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ' इत्यादि वरुणवरद्वी-

पवत्सर्वं वक्तव्यं यावत् 'वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' नवरमत्र वाप्यादयः क्षीरोदपरिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वताः पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वरत्नमया वाच्याः शेषं तथैव, पुण्डरीकपुष्पदन्तौ चात्र क्षीरवरे द्वीपे यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्ततो यस्मात्तत्र वाप्यादिषूदकं क्षीरतुल्यं क्षीरक्षीरप्रभौ च तदधिपती देवाविति स द्वीपः क्षीरवरः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं, चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् ॥ 'खीरवरण्ण'मित्यादि, क्षीरवरं णमिति पूर्ववत् द्वीपं क्षीरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति, शेषा वक्तव्यता क्षीरवरद्वीपस्येव वक्तव्या यावज्जीवोपपातसूत्रम् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते क्षीरोदः समुद्रः क्षीरोदः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! क्षीरोदस्य समुद्रस्योदकं यथा राज्ञश्चक्रवर्त्तिनश्चातुरक्यं —चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तं गोक्षीरं, चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तता च प्रागेव व्याख्याता, 'खण्डगुडमत्स्यण्डिकोपनीतं' खण्डगुडमत्स्यण्डिकाभिरतिशयेन प्रापितरसं प्रयत्नेन मन्दाग्निना क्कथितम्, अत्यग्निपरितापे वैरस्यापत्तेः, अत एवाह—वर्णेनोपपेतं गन्धेनोपपेतं रसेनोपपेतं स्पर्शेनोपपेतम्, आस्वादनीयं विस्वादनीयं दीपनीयं दर्प्पणीयं मदनीयं बृंहणीयं सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयमिति पूर्ववत्, एवमुक्ते गौतम आह—'भवे एयारूवे' भवेत्क्षीरसमुद्रस्योदकमेतद्रूपम्? भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थः, क्षीरोदस्य यस्मात्समुद्रस्योदकम् 'इतः' यथोक्तरूपात्क्षीरादिष्टतरमेव यावन्मनआपतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं, विमलविमलप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततः क्षीरमि-

वोदकं यस्य क्षीरवन्निर्मलस्वभावयोः सुरयोः सम्बन्धि उदकं यत्रेति वा क्षीरोदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि गतार्थम् ॥ सम्प्रति चन्द्रादित्यसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—'खीरोए णं भंते! समुद्दे' इत्यादि सुगमम् ॥

खीरोदण्णं समुद्दं घयवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाव परिचिट्ठति समचक्कवाल० नो विसम० संखेज्जविक्खंभपरि० पदेसा जाव अट्ठो, गोयमा! घयवरे णं दीवे तत्थ २ बहवे खुड्डाखुड्डीओ वावीओ जाव घयोदगपडिहत्थाओ उप्पायपव्वगा जाव खडहड० सव्वकंचणमया अच्छा जाव पडिरूवा, कणयकणयप्पभा एत्थ दो देवा महिड्ढीया चंदा संखेज्जा ॥ घयवरण्णं दीवं घतोदे णाम समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाय चिट्ठति, समचक्क० तहेव दारपदेसा जीवा य अट्ठो, गोयमा! घयोदस्स णं समुद्दस्स उदए से जहा० [1]पप्फुल्लसल्लइविमुक्कलकण्णियारसरसवसुविबुद्धकोरेंटदामपिंडिततरस्स निद्धगुणतेयदीवियनिरुवहयविसिट्ठसुंदरतरस्स सुजायदहिमहियतद्दिवसगहियनवणीयपडुवणावियमुक्कड्ढियउद्दावसज्जवीसंदियस्स अहियं पीवरसुरहिगंधमणहरमहुरपरिणामदरिसणिज्जस्स पत्थनिम्मलसुहोवभोगस्स सरयकालंमि होज्ज गोघतव-

१ टीकामूलपाठयोर्महद्वैषम्यमत्र । प्रफुल्लशल्लकीविमुक्तकलकर्णिकारसर्षपसुविबुद्धकोरण्टकदामपिण्डिततरस्य स्निग्धगुणतेजोदीप्तस्य निरुपहतविशिष्टसुन्दरतरस्य सुजातदधिमथने तद्दिवसगृहीतनवनीतपड्डसगृहीतोत्क्वथितउद्दामसद्योविस्यन्दितस्य अधिकपीवरसुरभिगन्धमनोहरमधुरपरिणामदर्शनीयस्य पथ्यनिर्मलसुखोपभोग्यस्य शरत्काले भवेत् गोघृतवरस्य मण्ड इति छाया । प्राक् अग्रेऽप्येव पाठवैषम्यो ज्ञेयः,

३ प्रतिपत्तौ घृतवरघृतोदक्षोदवरक्षोदोदाः उद्देशः २ सू० १८२

रस्स मंडए, भवे एतारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा! घतोदस्स णं समुद्दस्स एत्तो इट्ठ-तर जाव अस्साएणं प० कंतसुकंता एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति सेसं तं चेव जाव तारागणकोडीकोडीओ ॥ घतोदण्णं समुद्दं खोदवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारे जाव चिट्ठति तहेव जाव अट्ठो, खोतवरे णं दीवे तत्थ २ देसे २ तहिं २ खुड्डावावीओ जाव खोदोदगपडिहत्थाओ उप्पातपव्वयता सव्ववेरुलियामया जाव पडिरूवा, सुप्पभमहप्पभा य दो देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति, से एतेणं० सव्वं जोतिसं तं चेव जाव तारा० ॥ खोयवरण्णं दीवं खोदोदे नाम समुद्दे वट्टे वलया० जाव संखेज्जाइं जोयणसतपरिक्खेवेणं जाव अट्ठे, गोयमा! खोदोदस्स णं समुद्दस्स उदए जहा से० आसलमांसलपसत्थवीसंतनिद्धसुकुमालभूमिभागे सुच्छिन्ने सुकट्ठलट्ठविसिट्ठनिरुवहयाजीयवावीतसुकासजपयत्तनिउणपरिकम्मअणुपालियसुवुड्ढिवुड्ढाणं सुजाताणं लवणतणदोसवज्जियाणं णयायपरिवड्ढियाणं निम्मातसुंदराणं रसेणं परिणयमउपीणपोरभंगुरसुजायमधुररसपुप्फविरिइयाणं उवद्दवविवज्जियाणं सीयपरिफासियाणं अभिणवतवग्गाणं अपालिताणं तिभायणिच्छोडियवाडिगाणं अवणितमूलाणं गंठिपरिसोहिताणं कुसलणरकप्पियाणं उव्वणं जाव पोंडियाणं बलवगणरजत्तजन्तपरिगालितमेत्ताणं खोयरसे होज्जा वत्थपरिपूएचाउज्जातगसुवासिते अहियपत्थलहुके वण्णोववेते तहेव, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे,

खीयरसस्स णं समुद्दस्स उदए एत्तो इट्ठतरए चेव जाव आसाएणं प० पुण्णभद्दमाणिभद्दा य (पुण्णपुण्णभद्दा) इत्थ दुवे देवा जाव परिवसंति, सेसं तहेव, जोइसं संखेज्जं चंदा० ॥ (सू० १८२)

'**खीरोदण्णं समुद्द**'मित्यादि, क्षीरोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं घृतवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति, अत्रापि चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपपद्मवरवेदिकावनपण्डद्वारान्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तव्यता पूर्ववत् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'**से केणट्ठेण**'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—घृतवरो द्वीपो घृतवरो द्वीपः ?, भगवानाह—गौतम! घृतवरे द्वीपे 'तत्थ तत्थ देसे तहिं' इत्यादि, अरुणवरद्वीपवत्सर्वं तावद्वक्तव्यं यावत् 'वानमंतरा देवाय देवीओ य आसयंति सयंति यावद् विहरंति' इति, नवरं वाप्यादयो घृतोदकपरिपूर्णा इति वक्तव्याः, तथा पर्वताः पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथ्वीशिलापट्टकाः सर्वात्मना कनकमया इति वक्तव्यं, कनककनकप्रभौ चात्र देवौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः ततो घृतोदकवाप्यादियोगाद् घृतवर्णदेवस्वामिकत्वाच्च घृतवरो दीप इति, तथा चाह—'**से एएणट्ठेण**'मित्यादि चन्द्रादित्यादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत् ॥ '**घयवरण्णं दीव**'मित्यादि, घृतवरं द्वीपं घृतोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति, शेषं यथा घृतवरस्य द्वीपस्य यावज्जीवोपपातसूत्रम् ॥ इदानीं नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'**से केणट्ठेण**'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—घृतोदः समुद्रो घृतोदः समुद्रः ? इति, भगवानाह—गौतम! घृतोदस्य समुद्रस्योदकं स यथा नाम सकललोकप्रसिद्धः '**शारदिकः**' शरत्कालभावी गोघृतवरस्य मण्डः—घृतसङ्घातस्य यदुपरिभागस्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते सार इत्यर्थः, तथा चाह मूलटीकाकारः—"घृतमण्डो घृतसार" इति, सुकथितो—यथाऽग्निपरिता-

पतापित:, तदानामद्वार: (उद्दाव:)—स्थानान्तरेष्वव्याप्यसङ्क्रामित: सद्योविस्यन्दित:—तत्कालनिष्पादितो विश्रान्त:—उपशान्तकचवर: सङ्ख-
कीकर्णिकारपुष्पवर्णाभो वर्णेनोपपेतो गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत आस्वादनीयो विस्वादनीयो दीपनीयो मदनीयो बृंहणीय: सर्वेन्द्रियगा-
त्रप्रह्लादनीय:, एवमुक्ते गौतम आह—'भवे एयारूवे' भवेद् घृतोदस्य समुद्रस्योदकमेतद्रूपं ?, भगवानाह—नायमर्थ: समर्थ:, घृतोदस्य
यस्मात्समुद्रस्योदकम् 'इतः' यथोक्तस्वरूपाद् घृतादिष्टतरमेव यावन्मनआपतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं, कान्तसुकान्तौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्ध-
पश्चिमार्द्धाधिपती अत्र घृतोदे समुद्रे महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत:, ततो घृतमिवोदकं यस्यासौ घृतोद:, तथा चाह—
'से एएणट्ठेण'मित्यादि सुगमं, चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रमपि सुगमम् ॥ 'घतोदण्ण'मित्यादि, घृतोदं णमिति वाक्यालङ्कारे समुद्रं क्षोदवरो
नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थित: सर्वत: समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति, चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपद्वारादिवक्तव्यता तथैव याव-
ज्जीवोपपातसूत्रम् ॥ सम्प्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते क्षोदवरो द्वीप: २ ?
इति, भगवानाह—गौतम ! क्षोदवरे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे 'वहवे खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ' इत्यादि
पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावद् 'वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' नवरं वाप्यादय: क्षोदोदकपरिपूर्णा इति
वक्तव्यं, तथा पर्वतका: पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टका: सर्वात्मना वैडूर्यमया: प्रज्ञप्ता:,
सुप्रभमहाप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवावत्र क्षोदवरे द्वीपे महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत:, तत: क्षोदो-
दकवाप्यादियोगात्क्षोदवर: स द्वीप:, एतदेवाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि, चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् ॥ 'खोयवरण्णं दीव'मित्यादि,
क्षोदवरं णमिति पूर्ववद् द्वीपं क्षोदोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थित: सर्वत: समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवाल-

विष्कम्भादिवक्तव्यता पूर्ववद् यावज्जीवोपपातसूत्रम् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते क्षोदोदः समुद्रः २? इति, भगवानाह—क्षोदोदस्य समुद्रस्योदकं यथा नाम इक्षूणां जातानां जात्यत्वमेवाह—'वरपुंडगाणं' विशिष्टानां पुण्ड्रदेशोद्भवानां हरितानां शाड्वलानां 'भेरण्डेक्षूणां वा' भेरण्डदेशोद्भवानां वा इक्षूणां 'कालपोराणं'ति कृष्णपर्वणाम् उपरितनपत्रसमूहापेक्षया हरितालवत्पिञ्जराणाम् 'अपनीतमूलानाम्' अपनीतमूलत्रिभागानां त्रिभागनिर्वाटितवाटानां ऊर्द्ध्वभागादपि त्रिभागहीनानामिति भावः मध्यत्रिभागावशेषाणामिति समुदायार्थः 'गंठिपरिसोहियाणं'ति ग्रन्थिः—पर्वग्रन्थिः शोधितः—अपनीतो येभ्यस्ते तथा, तेषां मूलत्रिभागे उपरितनत्रिभागे पर्वग्रन्थौ च नातिसमीचीनो रस इति तद्वर्जनं क्षोदरसो भवेद् 'वस्त्रपरिपूतः' श्लक्ष्णवस्त्रपरिपूतः चतुर्जातकेन सुष्ठु—अतिशयेन वासितश्चतुर्जातकवासितः, चतुर्जातकं त्वगेलाकेसराख्यगन्धद्रव्यसरिचालकं, उक्तञ्च—"त्वगेलाकेसरैस्तुल्यं, त्रिसुगन्धं त्रिजातकम्। मरिचेन समायुक्तं, चतुर्जातकमुच्यते ॥ १ ॥" अधिकं—अतिशयेन पथ्यं न रोगहेतुः लघुः—परिणामलघुः वर्णेन—सामर्थ्यादतिशायिना उपपेतः एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत आस्वादनीयो दर्प्पणीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयः, एवमुक्ते गौतम आह—'भवे एयारूवे' भवेद् भगवन्! क्षोदोदसमुद्रस्योदकमेतद्रूपं?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थः, क्षोदोदस्य यस्मात्समुद्रस्योदकम् 'असात्' यथोक्तरूपात्क्षोदरसादिष्टतरमेव यावन्मनआपतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तम्, इह प्रविरलपुस्तकेऽन्यथाऽपि पाठो दृश्यते सोऽप्येतदनुसारेण व्याख्येयो, बहुषु तु पुस्तकेषु न दृष्ट इति न लिखितः, पूर्णपूर्णप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती 'अत्र' क्षोदोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततः क्षोद इव—क्षोदरस इवोदकं यस्य स क्षोदोदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि। चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत् ॥

खोदोदण्णं समुद्दं णंदीसरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठिते तहेव जाव परिक्खेवो । पउमवर० वणसंडपरि० दारा दारंतरप्पदेसे जीवा तहेव ॥ से केणट्ठेणं भंते !, गोयमा ! देसे २ बहुओ खुड्डा० वावीओ जाव बिलपंतियाओ खोदोदगपडिहत्थाओ उप्पायपव्वगा सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ अदुत्तरं च णं गोयमा ! णंदिसरदीवचक्कवालविक्खंभबहुमज्झदेसभागे एत्थ णं चउद्दिसिं चत्तारि अंजणपव्वता पण्णत्ता, ते णं अंजणपव्वयगा चतुरसीतिजोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले साइरेगाइं दस जोयणसहस्साइं धरणियले दस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं ततोऽणंतरं च णं माताए २ पदेसपरिहाणीए परिहायमाणा २ उवरिं एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मूले एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं धरणियले एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते देसूणे परिक्खेवेणं सिहरतले तिण्णि जोयणसहस्साइं एकं च बावट्ठं जोयणसतं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वंजणामया अच्छा जाव पत्तेयं २ पउमवरवेदियापरि० पत्तेयं २ वणसंडपरिखित्ता वण्णओ ॥ तेसि णं अंजणपव्वयाणं उवरि पत्तेयं २ बहुसमरमणिज्जो भूमिभागो पण्णत्तो, से जहाणामए—आलिंगपुक्खरेति वा जाव सयंति ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं

भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ सिद्धायतणा एकमेकं जोयणसतं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसंनिविट्ठा वण्णओ ॥ तेसि णं सिद्धायतणाणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता—देवद्दारे असुरद्दारे णागद्दारे सुवण्णद्दारे, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओपमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—देवे असुरे णागे सुवण्णे, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेता वरकणग० वन्नओ जाव वणमाला। तेसि णं दाराणं चउद्दिसिं चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा एगमेगं जोयणसतं आयामेण पंचास जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाणं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वण्णओ ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं चउद्दि(तिदि)सिं चत्तारि (तिण्णि) दारा पण्णत्ता, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेसं तं चेव जाव वणमालाओ। एवं पेच्छाघरमंडवावि, तं चेव पमाणं जं मुहमंडवाणं, दाराावि तहेव, णवरि बहुमज्झदेसे पेच्छाघरमंडवाणं अक्खाडगा मणिपेढियाओ अद्धजोयणप्पमाणाओ सीहासणा अपरिवारा जाव दामा थूभाइं चउद्दिसिं तहेव णवरि सोलसजोयणप्पमाणा सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उच्चा सेसं तहेव जाव जिणपडिमा। चेइयरुक्खा तहेव चउद्दिसिं तं चेव पमाणं जहा विजयाए रायहाणीए णवरि मणिपेढियाए सो-

लसजोयणप्पमाणाओ, तेसि णं चेइयरुक्खाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ अट्ठजोयण-
विक्खंभाओ चउजोयणबाहल्लाओ महिंदज्झया चउसट्ठिजोयणुच्चा जोयणोव्वेधा जोयणवि-
क्खंभा सेसं तं चेव। एवं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ, णवरि खोयरसपडिपुण्णाओ
जोयणसतं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णासं जोयणाइं उव्वेधेणं सेसं तं चेव, म-
णुगुलियाणं गोमाणसीण य अडयालीसं २ सहस्साइं पुरच्छिमेणवि सोलस पच्चत्थिमेणवि सो-
लस दाहिणेणवि अट्ठ उत्तरेणवि अट्ठ साहस्सीओ तहेव सेसं उल्लोया भूमिभागा जाव बहुम-
ज्झदेसभागे, मणिपेढिया सोलस जोयणा आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं तारिसं
मणिपीढियाणं उप्पिं देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं सोलस
जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयण० अट्ठसयं जिणपडिमाणं सव्वो सो चेव गमो जहेव वेमाणि-
यसिद्धायतणस्स ॥ तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउदिसिं चत्तारि णंदाओ
पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—णंदुत्तरा य णंदा आणंदा णंदिवद्धणा। (नंदिसेणा अ-
मोघाय गोथूभा य सुदंसणा) ताओ णंदापुक्खरिणीओ एगमेगं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खं-
भेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेदिया० पत्तेयं पत्तेयं
वणसंडपरिक्खित्ता तत्थ तत्थ जाव सोवाणपडिरूवगा तोरणा ॥ तासि णं पुक्खरिणीणं

भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ सिद्धायतणा एकमेकं जोयणसतं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसंनिविट्ठा वण्णओ ॥ तेसि णं सिद्धायतणाणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता—देवद्दारे असुरद्दारे णागद्दारे सुवण्णद्दारे, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओपमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—देवे असुरे णागे सुवण्णे, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेता वरकणग० वन्नओ जाव वणमाला। तेसि णं दाराणं चउद्दिसिं चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा एगमेगं जोयणसतं आयामेण पंचास जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाणं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वण्णओ ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं चउद्दि(तिदि)सिं चत्तारि (तिण्णि) दारा पण्णत्ता, ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेसं तं चेव जाव वणमालाओ। एवं पेच्छाघरमंडवावि, तं चेव पमाणं जं मुहमंडवाणं, दारावि तहेव, णवरि बहुमज्झदेसे पेच्छाघरमंडवाणं अक्खाडगा मणिपेढियाओ अद्धजोयणप्पमाणाओ सीहासणा अपरिवारा जाव दामा थूभाइं चउद्दिसिं तहेव णवरि सोलसजोयणप्पमाणा सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उच्चा सेसं तहेव जाव जिणपडिमा। चेइयरुक्खा तहेव चउद्दिसिं तं चेव पमाणं जहा विजयाए रायहाणीए णवरि मणिपेढियाए सो-

लसजोयणप्पमाणाओ, तेसि णं चेइयरुक्खाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ अट्ठजोयणविक्खंभाओ चउजोयणबाहल्लाओ महिंदज्झया चउसट्ठिजोयणुच्चा जोयणोव्वेधा जोयणविक्खंभा सेसं तं चेव। एवं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ, णवरि खोयरसपडिपुण्णाओ जोयणसतं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णासं जोयणाइं उव्वेधेणं सेसं तं चेव, मणुगुलियाणं गोमाणसीण य अडयालीसं २ सहस्साइं पुरच्छिमेणवि सोलस पच्चत्थिमेणवि सोलस दाहिणेणवि अट्ठ उत्तरेणवि अट्ठ साहस्सीओ तहेव सेसं उल्लोया भूमिभागा जाव बहुमज्झदेसभागे, मणिपेढिया सोलस जोयणा आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं तारिसं मणिपीढियाणं उप्पिं देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयण० अट्ठसयं जिणपडिमाणं सव्वो सो चेव गमो जहेव वेमाणियसिद्धायतणस्स ॥ तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—णंदुत्तरा य णंदा आणंदा णंदिवद्धणा। (नंदिसेणा अमोघाय गोथूभा य सुदंसणा) ताओ णंदापुक्खरिणीओ एगमेगं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेदिया० पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता तत्थ तत्थ जाव सोवाणपडिरूवगा तोरणा ॥ तासि णं पुक्खरिणीणं

बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं दहिमुहपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सव्वत्थसमा पल्लगसंठाणसंठिता दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसए परिक्खेवेणं पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा, तहा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइया० वणसंडवण्णओ बहुसम० जाव आसयंति सयंति। सिद्धायतणं तं चेव पमाणं अंजणपव्वएसु सच्चेव वत्तव्वया णिरवसेसं भाणियव्वं जाव उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा ॥ तत्थ णं जे से दक्खिणिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—भद्दा य विसाला य कुमुया पुंडरिगिणी, (नन्दुत्तरा य नंदा आनन्दा नन्दिवद्धणा) तं चेव पमाणं तं चेव दहिमुहा पव्वया तं चेव पमाणं जाव सिद्धायतणा ॥ तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए तस्स णं चउदिसिं चत्तारि णंदा पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—णंदिसेणा अमोहा य, गोत्थूभा य सुदंसणा, (भद्दा विसाला कुमुदा पुंडरिकिणी) तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव सिद्धायतणा ॥ तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ, तंजहा—विजया वेजयंती जयंती अपराजिया, सेसं तहेव जाव सिद्धायतणा सव्वा ते चिय वण्णणा णातव्वा ॥ तत्थ णं बहवे भवणवइवाणमंतरजोतिसियवेमाणिया देवा चाउमासियापडिवएसु संवच्छरिएसु वा अण्णेसु बहूसु जिण-

जम्मणणिक्खमणणाणुप्पत्तिपरिणिव्वाणमादिएसु य देवकज्जेसु य देवसमुदएसु य देवसमितीसु य देवसमवाएसु य देवपओयणेसु य एगंतओ सहिता समुवागता समाणा पमुदितपक्कीलिया अट्ठाहिताख्वाओ महामहिमाओ करेमाणा पालेमाणा सुहंसुहेणं विहरंति। कइलासहरिवाहणा य तत्थ दुवे देवा महिड्डीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से एतेणट्ठेणं गोयमा! जाव णिच्चा जोतिसं संखेज्जं ॥ (सू० १८३)

'खोदोदण्णं समुद्द'मित्यादि, क्षोदोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं नन्दीश्वरवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति। चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपादिवक्तव्यता प्राग्वद् यावज्जीवोपपातसूत्रम् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन—केन कारणेन भदन्त! एवमुच्यते—नन्दीश्वरवरो द्वीपो नन्दीश्वरवरो द्वीपः? इति, भगवानाह—गौतम! नन्दीश्वरवरे द्वीपे बहवः 'खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं तावद्वक्तव्यं यावत् 'वाणमन्तरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' नवरमत्र वाप्यादयः क्षोदोदकप्रतिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वतकाः पर्वतकेष्वासनानि गृहाणि गृहकेष्वासनानि मंडपका मंडपकेषु शिलापट्टकाः सर्वात्मना वज्रमयाः; शेषं तथैव ॥ 'अदुत्तरं च णं गोयमा!' इत्यादि, अथान्यद् गौतम! नन्दीश्वरवरे चत्वारो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चक्रवालविष्कम्भेन मध्यदेशभागे एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारोऽञ्जनपर्वताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पूर्वेण—पूर्वस्यां दिशि, एवं पश्चिमायां दक्षिणस्यामुत्तरस्याम् ॥ 'ते णं'मित्यादि, ते अञ्जनपर्वताश्चतुरशीतिर्योजनसहस्राण्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मूले सातिरेकाणि दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन धरणितले दश

योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन तदनन्तरं च मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपर्येकैकं योजनसहस्रमायामविष्कम्भेन मूले
एकत्रिंशद् योजनसहस्राणि षट्त्रयोविंशानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि ३१६२३ परिक्षेपेण धरणितले एकत्रिंशद् योजन-
सहस्राणि षट्त्रयोविंशानि योजनशतानि देशोनानि परिक्षेपेण ३१६२३ उपरि त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टं योजनशतं
किञ्चिद्विशेषाधिकं ३१६२ परिक्षेपेण, ततो मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ता उपरि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना
अञ्जनमयाः' अञ्जनरत्नात्मकाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनपण्ड-
रिक्षिप्ताः पद्मवरवेदिकावनपण्डवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषामञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो भूमि-
ागः प्रज्ञप्तः, तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादिवर्णनं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनभागस्येव तावद्वक्तव्यं यावत्
तथ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभा-
नां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं, तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकमेकं योजनशतमायामेन पञ्चाशद्यो-
नानि विष्कम्भेन द्विसप्ततिर्योजनानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्वर्णनं विजयदेवसुधर्मसभावद्वक्तव्यम् ॥
सि णं'मित्यादि, तेषां सिद्धायतनानां प्रत्येकं 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु, एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन, चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञ-
नि, तद्यथा—पूर्वेण—पूर्वस्याम्, एवं दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्यां, तत्र पूर्वस्यां दिशि द्वारं देवद्वारं, देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र
ात्, एवं दक्षिणस्यामसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारमुत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् ॥ 'तत्थे'त्यादि, तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो
महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितयः परिवसन्ति, तद्यथा—देव इत्यादि पूर्ववत्, पूर्वद्वारे देवनामा दक्षिणद्वारेऽसुरनामा पश्चिमद्वारे

नागनामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा ॥ 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि षोडश योजनानि प्रत्येकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेनाष्टौ योजनानि विष्कम्भतः, 'तावइयं चेव'त्ति तावदेव—अष्टावेव योजनानीति भावः प्रवेशेन 'सेया वरकणगथूभियागा ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुगलजन्तजुत्ता इव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुलोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा, वन्नओ तेसिं दाराणं इमो होइ, तंजहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियरुइलखंभा जायरूवोवचियपवरपंचवन्नमणिरयणकुट्टिमतला हंसगब्भमया एलुगा गोमेज्जमया इंदकीला जोईरसमया उत्तरंगा लोहियक्खमईओ दारचेडाओ (पिंडीओ) वेरुलियामया कवाडा लोहियक्खमईओ सूईओ वइरामया संधी नाणामणिमया समुग्गया वइरामईओ अग्गलाओ अग्गलापासाया रययामईओ आवत्तणपेढियाओ अंकोत्तरपासा निरंतरघणकवाडा भित्तीसु चेव भित्तिगुलिया छप्पन्ना तिन्नि होंति गोमाणसीओवि तत्तिया नाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोम्मा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोईरसमया वंसकवेल्लुगा य रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरि पुंछणीओ सव्वसेयरययामए अच्छायणे अंकामयकणगकूडतवणिज्जथूभियागा सेया संखदलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासद्धचंदचित्ता नाणामणिमयदामालंकिया अंतो बहिं च सण्हतवणिज्जरुइलवालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा' एतच्च यद्यपि विजयद्वारवर्णनायामपि व्याख्यातं तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं किञ्चिद्व्याख्यायते—श्वेतानि अङ्करत्नबाहुल्याद्वरकनकस्तूपिकानि ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालककिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राणि प्रतीतं, तथा स्तम्भोद्गताभिः—स्तम्भोपरिवर्त्तिनीभिर्वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः

परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि स्तम्भोद्गतवरवज्रवेदिकाभिः परिगताभिरामाणि, विद्याधरयोर्यद् यमलं—समश्रेणीकं युगलं तेषां यन्त्राणि—प्रपश्चास्तैर्युक्तानीव, अर्चिषां सहस्रैर्मालनीयानि अर्चिःसहस्रमालनीयानि—परिवारणीयानि, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम प्रभासमुदयोपेतानि येनैवं संभावनोपजायते यथा नूनमेतानि न स्वाभाविकप्रभासमुदयोपेतानि किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषविशेषप्रपश्चयुक्तानीति रूपकसहस्रकलितानि 'भिसमाणा' इति दीप्यमानानि 'भिब्भिसमाणा' इति अतिशयेन दीप्यमानानि 'चक्खुलोयणलेसा' इति चक्षुः कर्तृ लोकने—अवलोकने लिशतीव—दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतीव यत्र तानि चक्षुर्लोकनलेशानि शुभस्पर्शानि सश्रीकाणि रूपकाणि यत्र तानि सश्रीकरूपाणि वर्णो—वर्णकनिवेशस्तेषां द्वाराणामयं भवति, तद्यथा—वज्रमया नेमा—भूमिभागादूर्द्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशा रिष्टमयानि प्रतिष्ठानानि—मूलपादाः 'वैडूर्यरुचिरस्तम्भानि' जातरूपोपचितप्रवरपश्चवर्णमणिरत्नकुट्टिमतलानि हंसगर्भमयाः 'एलुकाः' देहल्यः गोमेयकरत्नमया इन्द्रकीला ज्योतीरसमयानि उत्तराङ्गानि लोहिताक्षमयाः 'द्वारपिण्डयः' 'सन्धयः' सद्वारशाखाः वैडूर्यमयौ कपाटौ लोहिताक्षमय्यः सूचयः—फलकद्वयसन्धिविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीया वज्रमयाः निश्चेलाः फलकानां नानामणिमयाः 'समुद्गकाः' चूति(सूची)गृहाणि वज्रमया अर्गलाः (अर्गलाप्रासादाः—) प्रासादे यत्रार्गलाः प्रविशन्ति रजतमय्य आवर्त्तनपीठिकाः, आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको निवेशितः, 'अंकोत्तरपासा' इति अङ्का—अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वा येषां द्वाराणां तानि तथा, निरन्तरको—लघुच्छिद्रैरपि रहितौ घनौ कपाटौ येषां तानि निरन्तरघनकपाटानि, 'भित्तीसु चेवे'त्यादि, तेषां द्वाराणामुभयोः पार्श्वयोर्भित्तिषु—भित्तिसमीपे भित्तिगता—भित्तिसंबद्धा गुलिकाः—पीठिका भित्तिगुलिकास्तिस्रः षट्पश्चाशद्भवन्ति षट्पञ्चाशत्त्रिकप्रमाणा भवन्ति 'गोमाणसिया तत्तिया' इति 'तावत्य एव' षट्पञ्चाशत्त्रिकप्रमाणा एव 'गोमानस्यः' शय्याः, तथा 'ना-

नामणिरत्नानि' नानामणिरत्नमयानि व्यालकरूपाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च येषां तानि तथा, रजतमयाः कूटाः, कूटो—माडभागः, वज्रमयाः 'उत्सेधाः' शिखराणि तपनीयमयाः 'उल्लोकाः' उपरितनभागाः, मणयो—मणिमया वंशा येषां तानि मणिवंशकानि, लोहिताक्षाः—लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषां तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि, रजता—रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि, प्राकृतत्वात्समासान्तो मकारस्य च द्वित्वं, मणिवंशकानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि गवाक्षापरपर्यायाणि येषु द्वारेषु तानि तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात्, अङ्कमयाः पक्षाः पक्षबाहवश्च, पक्षाः (प्रतीताः) पक्षबाहवोऽपि तदेकदेशभूताः, ज्योतीरसामया वंशा महान्तः पूज्यवंशाः 'वंसकवेल्लुया य' महतां पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक्स्थाप्यमाना वंशाः वंशकवेल्लुकानि प्रतीतानि रजतमयपट्टिकाः कवेल्लुकानामुपरिकम्बास्थानीयाः जातरूपमय्योऽवघाटिन्यः आच्छादनहेतुकम्बोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिञ्चस्थानीया वज्रमय्योऽवघाटिनीनामुपरिपुञ्छन्यो—निबिडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः सर्वश्वेतं रजतमयं पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादनम्, 'अंकामयकणगकूडतवणिज्जथूभियागा' इति अङ्कमयानि—बाहुल्येनाङ्करत्नमयानि पक्षपक्षबाह्वादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकं—कनकमयं कूटं—शिखरं येषां तानि कनककूटानि, तपनीयाः—तपनीयमय्यः स्तूपिका—लघुशिखररूपा येषां तानि तथा, ततः पदत्रयस्य पदद्वय २ मीलनेन कर्मधारयः, एतेन यत् प्राक् सामान्यत उत्क्षिप्तं 'सेया वरकणगथूभियागा' इति तदेव प्रपञ्चतो भावितं, सम्प्रति तदेव श्वेतत्वं भूय उपसंहारव्याजेन दर्शयति—'सेया' श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति—'सङ्खदलविमलनिम्मलदहिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासद्धचंदचित्ता' विमलं यत् शङ्खदलं—शङ्खशकलं क्वचित् शङ्खतलेति-पाठस्तत्र शङ्खतलं—शङ्खस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनो—घनीभूतं दधि यश्च गोक्षीरफेनो यश्च रजतनिकरस्तद्वत्प्रकाशः—प्र-

तिमता येषां तानि तथाऽर्द्धचन्द्रैश्चित्राणि—नानारूपाणि आश्चर्यभूतानि वा अर्द्धचन्द्रचित्राणि, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, नानामणिमयीभिर्दामभिरलङ्कृतानि नानामणिमयदामालङ्कृतानि अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णतपनीयरुचिरवालुकानां प्रस्तटः—प्रस्तारो येषु तानि तथा, शुभस्पर्शानि सश्रीकरूपाणि प्रासादीयानि दर्शनीयानि अभिरूपाणि प्रतिरूपाणि व्यक्तम् ॥ 'तेसि णं दाराण'मित्यादि, तेषां द्वाराणामुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो—द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां नैषेधिकी—निषीदनस्थानं द्वारकुड्यसमीपे नितम्ब इत्यर्थः षोडश षोडश वन्दनकलशाः प्रज्ञप्ताः, वर्णकस्तेषां वाच्यः, स चैवम्—'ते णं वंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा चंदणकयचच्चागा आविद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महया महया इंदकुंभसमाणा पन्नत्ता समणाउसो!' व्यक्तं नवरं 'महया महया' इति अतिशयेन महान्तः 'इन्द्रकुम्भसमानाः' महाकुम्भप्रमाणकुम्भसदृशाः, 'एवं नेयव्वं जाव सोलस वणमालाओ पन्नत्ताओ' 'एवम्' अनेन प्रकारेण तावन्नेतव्यं यावत्षोडश वनमालाः प्रज्ञप्ताः, तच्चैवम्—'तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहतो निसीहियाए सोलस सोलस नागदंतया पन्नत्ता, ते णं नागदंतगा मुत्ताजालंतरूसिया हेमजालगवक्खजालखिंखिणीजालपरिक्खित्ता अब्भुग्गया निसढा तिरियं सुसंपग्गहिया अहे पन्नगद्धरूवा पन्नगसंठाणसंठिया सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो!, तेसु णं नागदंतकेसु बहवे किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा नीलसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा०, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिया अण्णमण्णसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायमेइज्जमाणा एइज्जमाणा पलंबमाणा पलंबमाणा पझंझमाणा पझंझमाणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति, तेसि णं

नागदंताणं उवरिं अन्ने सोलस सोलस नागदंतया मुत्ताजालंतरोसिया हेमजाल जाव महया महया गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !, तेसु णं नागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कगेसु बहवे वेरुलियमयाओ धूवघडियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामातो सुगंधवरगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुन्नेणं घाणमणनिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पएसे आपूरेमाणीओ आपूरेमाणीओ चिट्ठंति । तेसि णं दाराणं उभओ पासि दुहतो निसीहियाए सोलस सोलस सालभंजियाओ पन्नत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ सुयलंकियाओ णाणाविहरागवसणाओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ नाणामल्लपिणद्धाओ मुट्ठिगेज्झसुमज्झाओ आमेलजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपओहराओ ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहत्थगहियग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीओ विव चक्खुलोयणलेसाओ अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ इव पुढविपरिमाणाओ सासयभावमुवगयाओ चंदाणणातो चंदविलासिणीतो चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोवेमाणीओ विज्जुघणमरीइसूरदिप्पंततेयअहिगतरसन्निकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ । तेसि णं दाराणं उभओ पासि दुहओ निसीहिआए सोलस २ जालकडगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा, तेसि णं दाराणं उभओ पासि दुहतो निसीहियाए सोलस सोलस घंटाओ पण्णत्ताओ । तासि णं घंटाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते—जंबूणयामईओ घंटाओ वइरामईओ लालाओ नाणामणिमया घंटापासाओ तवणिज्जमयाओ संकलाओ रययामया रज्जूओ । ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ हंसस्सराओ कोंचस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुभिस्सराओ नंदिसराओ नंदिघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सु-

स्सरनिग्घोसाओ ओरालेणं मणुन्नेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सरेणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ सिरीए अतीव उवसोहेमाणीओ उवसोभेमाणीतो चिट्ठंति । तेसि णं दाराणं उभओ पासि दुहतो निसीहियाए सोलस सोलस वणमालाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ नाणादुमलयकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणसोभंतसस्सिरीयातो सव्वरयणामईओ पासाईयाओ जाव पडिरूवाओ' इति, पाठसिद्धमेतत् नवरं नागदन्तसूत्रे नागदन्ता—अङ्कुटकाः, 'मुत्ताजालंतरूसिए' इत्यादि, मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उच्छ्रितानि—लम्बमानानि हेमजालानि—हेममयदामसमूहा यानि गवाक्षजालानि—गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहाः यानि च किङ्किणीघण्टाजालानि—क्षुद्रघण्टासमूहास्तैः परिक्षिप्ताः—सर्वतो व्याप्ताः, 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गता अभ्युद्गताः अग्रिमभागे मनाग् उन्नता इति भावः 'अभिनिसिट्ठा' इति अभिमुखं—बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टा अभिनिसृष्टाः 'तिरियं सुसंपरिग्गहिया' इति तिर्यग् भित्तिप्रदेशैः सुष्ठु—अतिशयेन सम्यग्—मनागप्यचलनेन परिगृहीताः 'अहेपन्नगद्धरूवा' अधः—अधस्तनं यत् पन्नगस्यार्द्धं तस्येव रूपं—आकारो येषां ते तथा, अधःपन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भावः, एतदेव व्याचष्टे—पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः, 'किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा' इति, कृष्णसूत्रबद्धा वग्घारिया—अवलंबिता माल्यदामकलापाः—पुष्पमालासमूहाः, एवं नीललोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्याः, 'तवणिज्जलंबूसगा' इति दाम्नामग्रिमभागे गोलकाकृतिमण्डनविशेषो लम्बूसगः 'सुवण्णपयरगमंडिया' इति सुवर्णप्रतरेण—सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि, सालभञ्जिकासूत्रे 'आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयपीणरइयसंठियपओहराओ' इति पीनं—पीवरं रचितं तथाजगत्स्थितिस्वाभाव्याद् रतिदं वा संस्थितं—संस्थानं यकाभ्यां तौ पीनरचितसंस्थितौ पीनरतिदसंस्थितौ वा आमेलक—आपीडः शेखरक इत्यर्थः तस्य यमलं—समश्रेणीकं यद् युगलं—द्वन्द्वं तद्वद् वर्त्तितौ—व-

ह्रस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थितौ च पयोधरौ यासां ताः तथा 'लूसेमाणीओ इवे'ति मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसीति गम्यते, शेषं प्रायः प्रतीतं, प्रागेवानेकशो भावितत्वात् । 'तेसि णं दाराणमुप्पि'मित्यादि तेषां द्वाराणामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टावष्टौ मङ्गलकानि स्वस्तिकादीनि प्रज्ञप्तानि सर्वरत्नमयानि अच्छानि यावत्प्रतिरूपकाणि ॥ 'तेसि णं दाराण'मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मुखमण्डपाः प्रज्ञप्ताः, 'ते ण'मित्यादि, ते मुखमण्डपा एकं योजनशतमायामेन पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन सातिरेकाणि षोडश योजनानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा इत्यादि विजयदेवसुधर्मासभाया इव वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावत्प्रतिरूपा ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानां प्रत्येकं प्रत्येकं 'चतुर्दिंत्रिदिशि' चत [ति] सृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि [त्रीणि] द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि षोडश योजनानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि विष्कम्भेन 'तावइयं चेव' अष्टावेव योजनानि प्रवेशेन 'सेया वरकणगथूभियागा' इति द्वारवर्णनं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावदुपर्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि—स्वस्तिकादीनि, तेषामुल्लोचवर्णनं प्राग्वत्, तेषां च मुखमण्डपानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि सर्वरत्नमयानि अच्छानि यावत्प्रतिरूपकाणि, बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्वद् यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं प्रेक्षागृहमण्डपाः प्रज्ञप्ताः तेऽपि मुखमण्डपवत्प्रमाणतो वक्तव्याः, तेषामप्युल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत् । तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकमक्षपाटकाः प्रज्ञप्ताः ॥ 'ते ण'मित्यादि, ते अक्षपाटका वज्रमयाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषामक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योज-

नानि वाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्योऽच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णनं दामवर्णनं च प्राग्वत् ॥ तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि यावद् वहवः सहस्रपत्रहस्तका इति । 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः प्रत्येकं प्रत्येकं पोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां अष्टौ योजनानि वाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्योऽच्छा इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ चैत्यस्तूपाः प्रज्ञप्ताः ॥ 'ते णं चेइयथूभा' इत्यादि, ते चैत्यस्तूपाः पोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि पोडश योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, ते च शङ्खाङ्ककुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसंनिकाशा 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि वहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्वद् यावद् वहवः सहस्रपत्रहस्तकाः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं प्रत्येकं 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि वाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यो यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि एकैकस्या मणिपीठिकाया उपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमा जिनोत्सेधप्रमाणमात्राः पञ्चधनुःशतप्रमाणा इत्यर्थः सर्वात्मना रत्नमय्यः संपर्य्यङ्कासननिषण्णाः स्तूपाभिमुख्यस्तिष्ठन्ति, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि ऋषभा दक्षिणस्यां वर्द्धमानाः अपरस्यां चन्द्राननाः उत्तरस्यां वारिषेणाः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः पोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि वाहल्येन सर्वात्मना

मणिमय्योऽच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं चैत्यवृक्षः प्रज्ञप्तः, ते च चैत्यवृक्षा अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धयोजनमुद्वेधेन द्वे योजने उच्चैस्त्वेन स्कन्धः स एवार्द्धयोजनं विष्कम्भेन यावद्द्रुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा—विडिमा सा षड् योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, साऽपि चार्द्धयोजनं विष्कम्भेन, सर्वाग्रेण सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि प्रज्ञप्ता । 'तेसि णमयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते' इत्यादि चैत्यवृक्षवर्णनं विजयराजधानीगतचैत्यवृक्षवद्भावनीयं यावल्लतावर्णनमिति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि तावद् यावत्सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्योऽच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं २ महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, ते च महेन्द्रध्वजाः षष्टिर्योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन योजनमुद्वेधेन योजनं विष्कम्भेन वज्रमया इत्यादि वर्णनं विजयदेवराजधानीगतमहेन्द्रध्वजवद्वेदितव्यं यावत्तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, 'ताओ नंदाओ पुक्खरिणीओ' इत्यादि, ताश्च नन्दापुष्करिण्य एकैकं योजनशतमायामविष्कम्भाभ्यां पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन दश योजनान्युद्वेधेन 'अच्छाओ सण्हाओ रययमयकूलाओ' इत्यादि पुष्करिणीवर्णनं जगत्युपरिपुष्करिणीवद्वक्तव्यं नवरं 'खोदरसपडिपुण्णाओ' इति वक्तव्यं, ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डेन च परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दापुष्करिणीनां त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि तेषां वर्णनं

तोरणवर्णनं च प्राग्वत् । इदमन्यदधिकं पुस्तकान्तरे दृश्यते—'तासि णं पुक्खरिणीणं चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तंजहा—पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं—"पुव्वेण असोगवणं दाहिणतो होइ चंपगवणं तु (सत्तपण्णवणं) । अवरेण चंपगवणं चूयवणं उत्तरे पासे ॥ १ ॥" 'तेसु णं'मित्यादि, तेषु सिद्धायतनेषु प्रत्येकं प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत् गुलिकासहस्राणि, गुलिकाः—पीठिका अभिधीयन्ते, ताश्च मनोगुलिकापेक्षया प्रमाणतः क्षुल्लास्तासां सहस्राणि गुलिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि षोडश सहस्राणि पश्चिमायां षोडश सहस्राणि दक्षिणस्यामष्टौ सहस्राणि उत्तरस्यामष्टौ सहस्राणि । 'तासु णं गुलियासु बहवे सुवण्णरूप्पामया फलगा पन्नत्ता' इत्यादि विजयदेवराजधानीगतसुधर्म्मासभायामिव वक्तव्यं यावद्दामवर्णनं ॥ 'तेसु णं'मित्यादि, तेषु सिद्धायतनेषु प्रत्येकं प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत् मनोगुलिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, गुलिकापेक्षया प्रमाणतो महत्तीतराः, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि षोडश सहस्राणि पश्चिमायां षोडश सहस्राणि दक्षिणस्यामष्टौ सहस्राणि उत्तरस्यामष्टौ सहस्राणि, एतास्वपि फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसु णं सिद्धायतणेसु' इत्यादि, तेषु सिद्धायतनेषु प्रत्येकं प्रत्येकमष्टचत्वारिंशद्गोमानुष्यः—शय्यारूपाः स्थानविशेषास्तासां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि षोडश सहस्राणि पश्चिमायां षोडश सहस्राणि दक्षिणस्यामष्टौ उत्तरस्यामष्टौ सहस्राणि, तास्वपि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्ककवर्णनं धूपघटिकावर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं सिद्धायतणाणं'मित्यादि उल्लोकवर्णनमन्तर्बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं शब्दवर्जं प्राग्वत् ॥ 'तेसिं णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं'मित्यादि, तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामष्टौ योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यो यावत्प्रतिरूपकाः ॥ 'तासि णं'मित्यादि, तासां च मणिपीठिकानामुपरि

प्रत्येकं २ देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः, ते च देवच्छन्दकाः षोडश योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि षोडश योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः 'तेसु ण'मित्यादि, तेषु देवच्छन्दकेषु प्रत्येक २ मष्टशतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां पञ्चधनुःशतप्रमाणानामित्यर्थः सन्निक्षिप्तं तिष्ठति, प्रतिमावर्णनादि विजयदेवराजधानीगतसिद्धायतनवत्तावद्वक्तव्यं यावदष्टशतं धूपकडुच्छुकानाम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां सिद्धायतनानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषु चतुर्ष्वञ्जनपर्वतेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्भावी अञ्जनकपर्वतस्तस्य 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकनन्दापुष्करिणीभावेन चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा दक्षिणस्याममोघा अपरस्यां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना, ताश्च पुष्करिण्य एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके त्रीणि गव्यूतानि अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः, दश योजनान्युद्वेधेन, 'अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ' इत्यादि जगत्युपरिपुष्करिणीवन्निरवशेषं वक्तव्यं नवरं 'वट्टाओ समतीराओ खोदोदगपडिपुण्णाओ' इति विशेषः, ताश्च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च परिक्षिप्ताः, अत्रापीदमन्यदधिकं पुस्तकान्तरे दृश्यते—'तासि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसि चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता तंजहा—पुरच्छिमेणं दाहिणेणं अवरेणं उत्तरेणं, पुव्वेण असोगवणं जाव चूयवणं उत्तरे पासे' एवं शेषाञ्जनपर्वतसम्बन्धिनीनामपि नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ दधिमुखनामा पर्वतः प्रज्ञप्तः, 'ते ण'मित्यादि, ते दधिमुखपर्वताश्चतुःषष्टिर्योजनसहस्राणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्र

समाः पल्यङ्कसंस्थानसंस्थिता दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद् योजनसहस्राणि षट् 'त्रयोविंशानि' त्रयोविंशत्यधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः सर्वात्मना स्फटिकमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनखण्डेन परिक्षिप्ताः । 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येकं २ बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य शब्द-वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावद्बहवो 'वानमन्तरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं, सिद्धायतनवक्तव्यता प्रमाणादिका अञ्जनपर्वतोपरिसिद्धायतनवद्वक्तव्या यावदष्टशतं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकडुच्छुकानामिति ॥ 'तत्थ णं जे से दाहिणे अंजणगपव्वए' इत्यादि, दक्षिणाञ्जनकपर्वतस्यापि पूर्वदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतस्येव निरवशेषं वक्तव्यं, नवरं नन्दापुष्करिणीना नामनानात्वं तद्यथा—पूर्वस्यां नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दिवर्द्धना, शेषं तथैव ॥ 'तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि' इत्यादि, पूर्वदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानां, नवरं नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि भद्रा दक्षिणस्यां विशाला अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी, शेषं तथैव ॥ एवमुत्तरदिग्भाव्यञ्जनकपर्वते वक्तव्यं, नवरमत्रापि नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि विजया दक्षिणस्यां वैजयन्ता अपरस्यां जयन्ता उत्तरस्यामपराजिता, शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानामिति । षोडशानामपि चामीषां वापीनामपान्तराले प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकरपर्वतौ जिनभवनमण्डितशिखरौ शाखान्तरेऽभिहिताविति सर्वसङ्ख्यया नन्दीश्वरद्वीपे द्वापञ्चाशत् सिद्धायतनानि ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, 'तत्र' तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् बहवो भवनपतिवानमन्तरज्योतिष्कवैमानिका

देवाश्चातुर्मासिकेषु पर्युषणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्क्रमणज्ञानोत्पादपरिनिर्वाणादिषु देवकार्येषु देवसमितिषु, एतदेव पर्याय-द्वयेन व्याचष्टे—देवसमवायेषु देवसमुदायेषु आगताः प्रमुदितप्रक्रीडिता अष्टाह्निकारूपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखंसुखेन 'विहरन्ति' आसते । अदुत्तरं च णं गोयमा !' इत्यादि, अथान्यद् गौतम ! नन्दीश्वरवरे द्वीपे चक्रवालविष्कम्भेन बहुमध्यदेशभागे चतसृषु विदिक्षु एकैकस्यां विदिशि एकैकभावेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् ॥ 'ते ण'मित्यादि, ते रतिकरपर्वता दश योजनसहस्राण्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्रसमा झल्लरीसंस्थानसंस्थिता दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद् योजनसहस्राणि षट्त्रयोविंशानि योजनशतानि परिक्षेपेण सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः, तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य 'चतुर्दिशि' चतुर्दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा, तत्र कृष्णायाः—कृष्णनामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया उत्तरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा, तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्यामर्चिर्माली उत्तरस्यां मनोरमा, तत्र 'पद्मायाः' पद्मनामिकाया अग्रमहिष्या सुमनाः शिवायाः सौमनसा शच्याश्चार्चिर्माली अञ्जुकाया मनोरमा, तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि भूता दक्षिणस्यां भूतावतंसा अपरस्यां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना, तत्र 'अम-

लायाः' अमलनामिकाया अग्रमहिष्या भूता राजधानी अप्सरसो भूतावतंसिका नवमिकाया गोस्तूपा रोहिण्याः सुदर्शना, तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्वरत्ना उत्तरस्यां रत्नसञ्चया, तत्र वसुनामिकाया अग्रमहिष्या रत्ना वसुप्राप्ताया रत्नोच्चया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुंधराया रत्नसञ्चया । रतिकरपर्वतचतुष्टयवक्तव्यता केषुचित्पुस्तकेषु सर्वथा न दृश्यते । कैलासहरिवाहननामानौ च द्वौ देवौ तत्र यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तत एवं नन्द्या—समृद्ध्या 'टुनदु समृद्धौ' इति वचनात् ईश्वरः—स्फातिमान् न तु नाम्नेति नन्दीश्वरः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतं, चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत् ॥

णंदिस्सरवरण्णं दीवं णंदीसरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाव सव्वं तहेव अट्ठो जो खोदोदगस्स जाव सुमणसोमणसभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति सेसं तहेव जाव तारग्गं ॥ (सू० १८४)

'नंदीसरण्ण'मित्यादि, नन्दीश्वरं णमिति पूर्ववत् नन्दीश्वरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति यथैव क्षोदोदकसमुद्रस्य वक्तव्यता तथैवास्याप्यर्थसहिता वक्तव्या, नवरमत्र सुमनसुमनसौ च द्वौ देवौ वक्तव्यौ, तावतिशयेन स्फीताविति नन्दीश्वरयोरुदकं यत्रासौ नन्दीश्वरोदः, अथवा नन्दीश्वरवरं द्वीपं परिवेष्ट्य स्थित इति नन्दीश्वरं प्रति लग-

मुदकं यस्यासौ नन्दीश्वरोदः, एवं सर्वत्रापि समुद्रेषु द्वीपेषु च व्युत्पत्तिर्यथायोगं भावनीया ॥ एवमेते जम्बूद्वीपादयो नन्दीश्वरसमुद्रपर्यवसाना एकप्रत्यवतारा उक्ताः, अत ऊर्द्ध्वमरुणादीन् द्वीपान् समुद्रांश्च प्रत्येकं त्रिप्रत्यवतारान् विवक्षुराह—

णंदीसरोदं समुद्दं अरुणे णामं दीवे वट्टे वलयागार जाव संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति । अरुणे णं भंते! दीवे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिए?, गोयमा! समचक्कवालसंठिते नो विसमचक्कवालसंठिते, केवतियं चक्कवालवि० संठिते?, संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, पउमवरवणसंडदारा दारंतरा य तहेव संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं दारंतरं जाव अट्ठो, वावीओ खोतोदगपडिहत्थाओ उप्पातपव्वयका सव्ववइरामया अच्छा, असोग वीतसोगा य एत्थ दुवे देवा महिड्ढीया जाव परिवसंति, से तेण० जाव संखेज्जं सव्वं ॥ अरुणण्णं दीवं अरुणोदे णामं समुद्दे तस्सवि तहेव परिक्खेवो अट्ठो खोतोदगे णवरिं सुभद्द सुमणभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया सेसं तहेव ॥ अरुणोदगं समुद्दं अरुणवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाण० तहेव संखेज्जगं सव्वं जाव अट्ठो खोयोदगपडिहत्थाओ उप्पायपव्वतया सव्ववइरामया अच्छा, अरुणवरभद्दअरुणवरमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । एवं अरुणवरोदेवि समुद्दे जाव देवा अरुणवरअरुणमहावरा य एत्थ दो देवा सेसं तहेव ॥ अरुणवरोदण्णं समुद्दं अरुणवरावभासे णामं दीवे वट्टे जाव देवा अरुणवरावभासभद्दा-

रुणवरावभासमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । एवं अरुणवरावभासे समुद्दे णवरि देवा अरुणवरावभासवरारुणवरावभासमहावरा एत्थ दो देवा महिड्ढीया ॥ कुंडले दीवे कुंडलभद्दकुंडलमहाभद्दा दो देवा महिड्ढीया, कुंडलोदे समुद्दे चक्खुसुभचक्खुकंता एत्थ दो देवा म० । कुंडलवरे दीवे कुंडलवरभद्दकुंडलवरमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया, कुंडलवरोदे समुद्दे कुंडलवर [वर] कुंडलवरमहावरा एत्थ दो देवा म० ॥ कुंडलवरावभासे दीवे कुंडलवरावभासभद्दकुंडलवरावभासमहाभद्दा एत्थ दो देवा० ॥ कुंडलवरोभासोदे समुद्दे कुंडलवरोभासवरकुंडलवरोभासमहावरा एत्थ दो देवा म० जावपलिओवमट्ठितीया परिवसंति ॥ कुंडलवरोभासं णं समुद्दं रुचगे णामं दीवे वट्टे वलया० जाव चिट्ठति, किं समचक्क० विसमचक्कवाल०?, गोयमा ! समचक्कवाल० नो विसमचक्कवालसंठिते, केवतियं चक्कवाल० पण्णत्ते?, सव्वट्ठ मणोरमा एत्थ दो देवा सेसं तहेव । रुयगोदे नामं समुद्दे जहा खोदोदे समुद्दे संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं चक्कवालवि० संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं दारा दारंतरंपि संखेज्जाइं जोतिसंपि सव्वं संखेज्जं भाणियव्वं, अट्ठोवि जहेव खोदोदस्स नवरि सुमणसोमणसा एत्थ दो देवा महिड्ढीया तहेव रुयगाओ आढत्तं असंखेज्जं विक्खंभा परिक्खेवो दारा दारंतरं च जोइसं च सव्वं असंखेज्जं भाणियव्वं । रुयगोदण्णं समुद्दं रुयगवरं णं दीवे वट्टे रुयगवरभद्दरुयगवरमहाभद्दा एत्थ दो

देवा रुयगवरोदे रुयगवररुयगवरमहावरा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । रुयगवरावभासे दीवे रुयगवरावभासभद्दरुयगवरावभासमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । रुयगवरावभासे समुद्दे रुयगवरावभासवररुयगवरावभासमहावरा एत्थ० ॥ हारदीवे हारभद्दहारमहाभद्दा एत्थ० । हारसमुद्दे हारवरहारवरमहावरा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । हारवरोदे हारवरभद्दहारवरमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । हारवरोए समुद्दे हारवरहारवरमहावरा एत्थ० । हारवरावभासे दीवे हारवरावभासभद्दहारवरावभासमहाभद्दा एत्थ० । हारवरावभासोए समुद्दे हारवरावभासवरहारवरावभासमहावरा एत्थ० । एवं सव्वेवि तिपडोयारा णेतव्वा जाव सूरवरोभासोए समुद्दे, दीवेसु भद्दनामा वरनामा होंति उदहीसु, जाव पच्छिमभावं च खोतवरादीसु सयंभूरमणपज्जंतेसु वावीओ खोओदगपडिहत्थाओ पव्वयका य सव्ववइरामया । देवदीवे दीवे २ दो देवा महिड्ढीया देवभद्ददेवमहाभद्दा एत्थ० देवोदे समुद्दे देववरदेवमहावरा एत्थ० जाव सयंभूरमणे दीवे सयंभूरमणभद्दसयंभूरमणमहाभद्दा एत्थ दो देवा महिड्ढीया । सयंभुरमणण्णं दीवं सयंभुरमणोदे नामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव असंखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं जाव अट्ठो, गोयमा! सयंभुरमणोदए उदए अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते,

सयंभुरमणवरसयंभुरमणमहावरा इत्थ दो देवा महि द्धीया, सेसं तहेव जाव असंखेज्जाओ तारा-गणकोडिकोडीओ सोभेंसु वा ३ ॥ (सू० १८५)

'नंदीसरवरोदण्णं समुद्द'मित्यादि, नन्दीश्वरोदं समुद्रमरुणो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति । यैव क्षोदवरद्वीपवक्तव्यता सैवात्राप्यर्थसहिता वक्तव्या, नवरमत्र वाप्यादयः क्षीरो(क्षोदो)दकपरिपूर्णाः, पर्वतादयस्तु सर्वात्मना वज्रमया वक्तव्याः, अशोकवीतशोकौ च द्वौ देवौ, स च देवप्रभया पर्वतादिगतवज्ररत्नप्रभया चारुण इति अरुणनामा ॥ 'अरुणण्ण'मित्यादि, अरुणं णमिति पूर्ववत् द्वीपमरुणोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । यैव क्षोदोदकसमुद्रवक्तव्यता सैवेहापि वक्तव्या, नवरमत्र सुभद्रसुमनोभद्रनामानौ द्वौ देवौ वक्तव्यौ, ततोऽरुणद्वीपपरिक्षेपी यदिवा सुभद्रसुमनोभद्रदेवाभरणद्युत्याऽरुणं—आरक्तमुदकं यस्यासावरुणोदयः ॥ 'अरुणोदण्ण'मित्यादि, अरुणोदं समुद्रमरुणवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थितो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि वक्तव्यता सैव नवरमत्रारुणवरभद्रारुणवरमहाभद्रौ देवौ वाच्यौ, नामव्युत्पत्तिभावनाऽपि स्वधिया भावनीया ॥ अरुणवरद्वीपमरुणवरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि वक्तव्यता सैव नवरमरुणवरारुणमहावरावत्र देवौ ॥ अरुणवरोदं समुद्रमरुणवरावभासो नाम द्वीपो वृत्तो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति, वक्तव्यता अत्रापि क्षोदवरद्वीपवत् नवरमत्रारुणवरावभासभद्रारुणवरावभासमहाभद्रौ देवौ । अरुणावभासं द्वीपमरुणावभासो नाम समुद्रो वृत्तो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति, वक्तव्यताऽत्रापि क्षोदोदसमुद्रवत् नवरमत्रारुणवरावभासवरारुणवरावभासमहावरौ देवौ । तदेवमरुणो द्वीपः समुद्रश्च त्रिप्रत्यवतार उक्तस्तद्यथा—अरुणो द्वीपोऽरुणः समुद्रः अरुणवरो द्वीपः अरुणवरः समुद्रः

अरुणवरावभासो द्वीपोऽरुणवरावभासः समुद्रः ॥ एवं कुण्डलो द्वीपः कुण्डलः समुद्रश्च त्रिप्रत्यवतारो वक्तव्यस्तद्यथा—अरुणवरावभाससमुद्रपरिक्षेपी कुण्डलो द्वीपः तत्परिक्षेपी कुण्डलः समुद्रः तत्परिक्षेपी कुण्डलवरो द्वीपः तत्परिक्षेपी कुण्डलवरः समुद्रः तत्परिक्षेपी कुण्डलवरावभासो द्वीपः तत्परिक्षेपी कुण्डलवरावभासः समुद्रः, वक्तव्यता सर्वत्रापि क्षोदवरद्वीपक्षोदोदसमुद्रवद्द्रष्टव्या, नवरं देवतानामिदं नामनानात्वं—कुण्डले द्वीपे कुण्डलभद्रकुण्डलमहाभद्रौ द्वौ देवौ, कुण्डलसमुद्रे चक्षुःशुभचक्षुःकान्तौ, कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलवरभद्रकुण्डलवरमहाभद्रौ, कुण्डलवरे समुद्रे कुण्डलवरकुण्डलवरमहावरौ कुण्डलवरावभासे द्वीपे कुण्डलवरावभासभद्रकुण्डलवरावभासमहाभद्रौ, कुण्डलवरावभासे समुद्रे कुण्डलवरावभासवरकुण्डलवरावभासमहावरौ । कुण्डलवरावभाससमुद्रपरिक्षेपी रुचको द्वीपो रुचकद्वीपपरिक्षेपी रुचकः समुद्रः तत्परिक्षेपी रुचकवरो द्वीपस्तत्परिक्षेपी रुचकवरः समुद्रः तत्परिक्षेपी रुचकवरावभासो द्वीपः तत्परिक्षेपी रुचकवरावभासः समुद्रः, वक्तव्यता सर्वत्रापि प्राग्वत् नवरं देवनामनानात्वं, रुचके द्वीपे सर्वार्थमनोरमौ देवौ, रुचकसमुद्रे सुमनःसौमनसौ, रुचकवरे द्वीपे रुचकवरभद्ररुचकवरमहाभद्रौ, रुचकवरे समुद्रे रुचकवररुचकवरमहावरौ, रुचकवरावभासे द्वीपे रुचकवरावभासभद्ररुचकवरावभासमहाभद्रौ, रुचकवरावभासे समुद्रे रुचकवरावभासवररुचकवरावभासमहावरौ, एतावता ग्रन्थेन यदन्यत्र पठ्यते—"जंबूद्दीवे लवणे धायइ कालोय पुक्खरे वरुणे । खीरघयखोयनंदी अरुणवरे कुंडले रुयगे ॥ १ ॥" इति तद्भावितम् । अत ऊर्ध्वं तु यानि लोके शङ्खध्वजकलशश्रीवत्सादीनि शुभानि नामानि तन्नामानो द्वीपसमुद्राः प्रत्येतव्याः, सर्वेऽपि च त्रिप्रत्यवताराः, अपान्तराले च भुजगवरः कुशवरः क्रौञ्चवर इति । तथा यानि कानिचिदाभरणनामानि हारार्द्धहारप्रभृतीनि यानि वस्तुनामानि आजिनादीनि यानि गन्धनामानि कोष्ठादीनि यान्युत्पलनामानि जलरुहचन्द्रोद्द्योतप्रमुखाणि यानि च तिलकप्रभृतीनि

वृक्षनामानि यानि च पृथिव्याः "पुढवीसक्करावालुया उ उवले सिला य लोणूसे" इत्यादि षट्त्रिंशद्भेदभिन्नाया निधीनां नवानां रत्नानां चतुर्दशानां चक्रवर्त्तिसम्बन्धिनां वर्षधरपर्वतानां—क्षुल्लहिमवदादीनां ह्रदानां—पद्ममहापद्मानां नदीनां—गङ्गासिन्धुप्रभृतीनां महानदीनां अन्तरनदीनां च विजयानां—कच्छादीनां द्वात्रिंशतो वक्षस्कारपर्वतानां—माल्यवदादीनां कल्पानां—सौधर्मादीनां द्वादशानाम् इन्द्राणां—शक्रादीनां दशानां कुरूणां—देवकुरूत्तरकुरूणां मन्दरस्य—मेरोः आवासानां—शक्रादिसम्बन्धिनां मेरुप्रत्यासन्नादीनां भवनपत्यादिसम्बन्धिनां च कूटानां—क्षुल्लहिमवदादिसम्बन्धिनां नक्षत्राणां—कृत्तिकादीनामष्टाविंशतेः चन्द्राणां सूर्याणां च नामानि तानि सर्वाण्यपि द्वीपसमुद्रेषु त्रिप्रत्यवताराणि वक्तव्यानीति दिदर्शयिषुराह—'एवं हारदीवे' इत्यादि, एवं च हारो द्वीपो हारोदः समुद्रः, हारवरो द्वीपो हारवरः समुद्रः, हारवरावभासो द्वीपो हारवरावभासः समुद्रः, द्वीपसमुद्रवक्तव्यता पूर्ववत्, नवरं हारे द्वीपे हारभद्रहारमहाभद्रौ देवौ हारे समुद्रे हारवरहारमहावरौ, हारवरे द्वीपे हारवरभद्रहारवरमहाभद्रौ, हारवरे समुद्रे हारवरहारवरमहावरौ, हारवरावभासे द्वीपे हारवरावभासभद्रहारवरावभासमहाभद्रौ, हारवरावभासे समुद्रे हारवरावभासवरहारवरावभासमहावरौ । एवं शेषाणामप्याभरणनाम्नां त्रिप्रत्यवतारो वक्तव्यः—अर्द्धहारो द्वीपः अर्द्धहारः समुद्रः, अर्द्धहारवरो द्वीपः अर्द्धहारवरः समुद्रः, अर्द्धहारवरावभासो द्वीपः अर्द्धहारवरावभासः समुद्रः, कनकावलिद्वीपः कनकावलिसमुद्रः, कनकावलिवरो द्वीपः कन० व० समुद्रः, कनकावलिवरावभासो द्वीपः कनकावलिवरावभासः समुद्रः, रत्नावलिर्द्वीपः रत्नावलिः समुद्रः, रत्नावलिवरो द्वीपः रत्नावलिवरः समुद्रः, रत्नावलीवरावभासो द्वीपः रत्नावलीवरावभासः समुद्रः मुक्तावली द्वीपः मुक्तावली समुद्रः मुक्तावलीवरो द्वीपः मुक्तावलीवरः समुद्रः मुक्तावलिवरावभासो द्वीपो मुक्तावलिवरावभासः समुद्रः । वस्तुनामचिन्तायामपि आजिनो द्वीपः आजिनः समुद्रः, आजिनवरो द्वीपः आजिनवरः समुद्रः, आ-

जिनवरावभासो द्वीपः आजिनवरावभासः समुद्र इत्यादि । देवचिन्तायामपि अर्द्धहारे द्वीपेऽर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाभद्रौ देवौ, अर्द्धहारे समुद्रेऽर्द्धहारवरार्द्धहारमहावरौ, अर्द्धहारवरे द्वीपेऽर्द्धहारवरभद्रार्द्धहारवरमहाभद्रौ, अर्द्धहारवरे समुद्रेऽर्द्धहारवरार्द्धहारवरमहावरौ, अर्द्धहारावभासे द्वीपेऽर्द्धहारवरावभासभद्रार्द्धहारवरावभासमहाभद्रौ, अर्द्धहारवरावभासे समुद्रेऽर्द्धहारवरावभासवरार्द्धहारवरावभासमहावरौ, कनकावलिद्वीपे कनकावलिभद्रकनकावलिमहाभद्रौ, कनकावलौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ, कनकावलिवरे द्वीपे कनकावलिवरभद्रकनकावलिवरमहाभद्रौ, कनकावलिवरे समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिवरमहावरौ, कनकावलिवरावभासे द्वीपे कनकावलिवरावभासभद्रकनकावलिवरावभासमहाभद्रौ, कनकावलिवरावभासे समुद्रे कनकावलिवरावभासवरकनकावलिवरावभासमहावरौ, रत्नावलौ द्वीपे रत्नावलिभद्ररत्नावलिमहाभद्रौ, रत्नावलौ समुद्रे रत्नावलिवररत्नावलिमहावरौ, रत्नावलिवरे द्वीपे रत्नावलिवरभद्ररत्नावलिवरमहाभद्रौ, रत्नावलिवरे समुद्रे रत्नावलिवररत्नावलीवरमहावरौ, रत्नावलिवरावभासे द्वीपे रत्नावलिवरावभासभद्ररत्नावलिवरावभासमहाभद्रौ, रत्नावलिवरावभासे समुद्रे रत्नावलिवरावभासवररत्नावलित्ररावभासमहावरौ, मुक्तावलौ द्वीपे मुक्तावलिभद्रमुक्तावलिमहाभद्रौ, मुक्तावलौ समुद्रे मुक्तावलिवरमुक्तावलिमहावरौ, मुक्तावलिवरे द्वीपे मुक्तावलित्ररभद्रमुक्तावलिवरमहाभद्रौ, मुक्तावलिवरे समुद्रे मुक्तावलिवरमुक्तावलिमहावरौ, मुक्तावलिवरावभासे द्वीपे मुक्तावलिवरावभासभद्रमुक्तावलिवरावभासमहाभद्रौ, मुक्तावलिवरावभासे समुद्रे मुक्तावलिवरावभासवरमुक्तावलिवरावभासमहावरौ, आजिने द्वीपे आजिनभद्राजिनमहाभद्रौ, आजिने समुद्रे आजिनवराजिनवरमहावरौ, आजिनवरे द्वीपे आजिनवरभद्राजिनवरमहाभद्रौ, आजिनवरे समुद्रे आजिनवराजिनवरमहावरौ, आजिनवरावभासे द्वीपे आजिनवरावभासभद्राजिनवरावभासमहाभद्रौ, आजिनवरावभासे समुद्रे आजिनवरावभासवराजिनवरावभासमहा-

वरौ । एवं सर्वत्रापि त्रिः प्रत्यवतारो देवानां नामानि च भावनीयानि यावत् सूर्यो द्वीपः सूर्यः समुद्रः, सूर्यवरो द्वीपः सूर्यवरः समुद्रः, सूर्यवरावभासो द्वीपः सूर्यवरावभासः समुद्रः, आह च मूलचूर्णिकृत्—'अरुणाई द्वीपसमुद्रा तिपडोयारा यावत् सूर्यावभासः समुद्रः" तत्र सूर्ये द्वीपे सूर्यभद्रसूर्यमहाभद्रौ देवौ, सूर्ये समुद्रे सूर्यवरसूर्यमहावरौ, सूर्यवरे द्वीपे सूर्यवरभद्रसूर्यवरमहाभद्रौ, सूर्यवरे समुद्रे सूर्यवरसूर्यमहावरौ, सूर्यवरावभासे द्वीपे सूर्यवरावभासभद्रसूर्यवरावभासमहाभद्रौ, सूर्यवरावभासे समुद्रे सूर्यवरावभासवरसूर्यवरावभासमहावरौ । सूर्यवरावभाससमुद्रात्परं यदस्ति तदाह—'सूरवरावभासण्णं समुद्दं देवे नामं दीवे वट्टे' इत्यादि, सूर्यवरावभासं णमिति पूर्ववत् समुद्रं देवो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । 'देवे णं भंते! दीवे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिए?, गोयमा! समचक्कवालसंठिए नो विसमचक्कवालसंठिए, देवे णं भंते! दीवे केवइयं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पन्नत्ते?, गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं, [ग्रन्थाग्रम् ११०००] असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पन्नत्ते, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं परिक्खित्ते' सुगमं, नवरम् एकया पद्मवरवेदिकयाऽष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति द्रष्टव्यं, एवमेकेन वनषण्डेन च, इदं तु सूत्रं बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते केषुचित् 'तहेवे'त्यतिदेश इति लिखितं ॥ 'कइ णं भंते!' इत्यादि, कति भदन्त! देवस्य द्वीपस्य द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं ॥ 'कहि णं भंते! देवस्स दीवस्से'त्यादि, क भदन्त! देवस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! देवद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते देवसमुद्रस्य पूर्वा(पश्चा)र्द्धस्य पश्चिमदिशि 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, प्रमाणं वर्णकश्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवत्, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव ॥ 'कहि णं भंते' इत्यादि, क

भदन्त! विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! विजयस्य द्वारस्य पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयदेवस्येव वक्तव्या। एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, ज्योतिषवक्तव्यता सर्वोऽप्यसङ्ख्येयतया वक्तव्या, नामान्वर्थचिन्तायामपि देवभद्रदेवमहाभद्रौ वक्तव्यौ, शेषं सर्वमरुणद्वीपवत्॥ 'देवण्णं दीव'मित्यादि, देवं णमिति पूर्ववत् द्वीपं देवः समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितो यावत्परिक्षिप्य तिष्ठति, अत्रापि समचक्रवालादिसूत्राणि तथैव नवरं देवोदकस्य समुद्रस्य विजयद्वारं देवोदसमुद्रपूर्वार्द्धपर्यन्ते नागद्वीपपूर्वा(पश्चा)र्द्धपश्चिमदिशि अत्रेति वक्तव्यं, राजधानी विजयद्वारस्य पश्चिमदिशि अत्रेति वक्तव्यं, राजधानी विजयद्वारस्य पश्चिमदिशि देवसमुद्रं तिर्यगसङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या। एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, नामान्वर्थचिन्तायामपि देववरदेवमहावरौ देवौ, शेषं तथैव यथा देवो द्वीपो, नवरं नागे द्वीपे नागभद्रनागमहाभद्रौ, यथा देवः समुद्रः तथा नागः समुद्रः, नवरं नागसमुद्रे नागवरनागमहावरौ, एवं यक्षादयोऽपि द्वीपसमुद्रा वक्तव्याः, नवरं यक्षे द्वीपे यक्षभद्रयक्षमहाभद्रौ देवौ, यक्षे समुद्रे यक्षवरयक्षमहावरौ, भूते द्वीपे भूतभद्रभूतमहाभद्रौ, भूते समुद्रे भूतवरभूतमहावरौ, स्वयम्भूरमणे द्वीपे स्वयम्भूरमणभद्रस्वयम्भूरमणमहाभद्रौ, स्वयम्भूरमणे समुद्रे स्वयम्भूवरस्वयम्भूमहावरौ, इह देवादिषु पञ्चसु पञ्चसु द्वीपेषु पञ्चसु २ समुद्रेषु त्रिप्रत्यवतारता नास्ति, तत एकैकतयैते वक्तव्याः तथा चाह—"देवे नागे जक्खे भूए य सयम्भूरमणे अ एक्केक्के भाणियव्वो।" मूलटीकाकारोऽप्याह—"देवादयोऽन्त्या एकाकारा" इति, चूर्णिकारोऽप्याह—"देवे नागे जक्खे भूए य सयंभूरमणे एतेऽन्तिमाः पञ्च एकैकाः प्रतिपत्तव्याः" नन्दीश्वरादिद्वीपानां स्वयम्भूरमणद्वीपपर्यवसानानामन्वर्थचिन्तायां वाप्यः पुष्करिण्यः च-

शब्दाद् दीर्घिकादयश्च क्षीरो(क्षोदो)दकपरिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वतादयश्च सर्वात्मना वज्रमयाः, नन्दीश्वरसमुद्रादीनां भूतसमुद्रपर्यवसानानाम न्वर्थचिन्तायामुदकमिक्षुरससदृशं वक्तव्यं, स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पुष्करोदसदृशं, 'रुयगाईण'मित्यादि प्रथमोऽसङ्ख्येयप्रमाणतया रुचक- नामा यो द्वीपस्तदादीनां द्वीपसमुद्राणां विष्कम्भपरिक्षेपद्वारान्तराणि ज्योतिष्कं चाविशेषेणासङ्ख्येयं वेदितव्यं ॥ साम्प्रतमेकैकेन जम्बू- द्वीपादिनाम्ना कियन्तो द्वीपाः समुद्राश्च ? इति निर्णेतुकाम आह—

केवइया णं भंते! जंबुदीवा दीवा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता?, गोयमा! असंखेज्जा जंबुदीवा २ नामधेज्जेहिं पण्णत्ता, केवतिया णं भंते! लवणसमुद्दा २ पण्णत्ता?, गोयमा! असंखेज्जा लवणसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता, एवं धायतिसंडावि, एवं जाव असंखेज्जा सूरदीवा नामधेज्जेहि य। एगे देवे दीवे पण्णत्ते एगे देवोदे समुद्दे पण्णत्ते, एवं णागे जक्खे भूते जाव एगे सयंभूरमणे दीवे एगे सयंभूरमणसमुद्दे णामधेज्जेणं पण्णत्ते ॥ (सू० १८६) लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स उदए केरिसए अस्साएणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स उदए आइले रइले लिंदे लवणे कडुए अपेज्जे बहूणं दुपयचउप्पयमिगपसुपक्खिसरिसवाणं णण्णत्थ तज्जोणियाणं सत्ताणं ॥ कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स उदए केरिसए अस्साएणं पण्णत्ते?, गोयमा! आसले पेसले मांसले कालए मासरासिवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते ॥ पुक्खरोदगस्स णं भंते! समुद्दस्स उदए केरिसए पण्णत्ते?, गोयमा! अच्छे जच्चे तणुए फालियवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते ॥

वरुणोदस्स णं भंते०!, गोयमा! से जहा णामए—पत्तासवेति वा चोयासवेति वा खज्जूरसारेति वा सुपिक्कखोतरसेति वा मेरएति वा काविसायणेति वा चंद्प्पभाति वा मणसिलाति वा वरसीधूति वा पवरवारुणी वा अट्ठपिट्ठपरिणिट्ठिताति वा जंबुफलकालिया वरप्पसण्णा उक्कोसमद्प्पत्ता ईसिउट्ठावलंबिणी ईसितंबच्छिकरणी ईसिवोच्छेयकरणी आसला मांसला पेसला वण्णेणं उववेता जाव णो तिणट्ठे समट्ठे, वारुणोदए इत्तो इट्ठतरए चेव जाव अस्साएणं प०। खीरोदस्स णं भंते! उदए केरिसए अस्साएणं पण्णत्ते?, गोयमा! से जहा णामए—रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चाउरक्के गोखीरे पज्जत्तिमंद्ग्गिसुकढ्ढिते आउत्तरखंडमच्छंडितोववेते वण्णेणं उववेते जाव फासेण उववेए, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा! खीरोयस्स० एत्तो इट्ठ जाव अस्साएणं पण्णत्ते। घतोदस्स णं से जहा णामए सारतिकस्स गोघयवरस्स मंडे सल्लइकण्णियारपुप्फवण्णाभे सुकढ्ढितउदारसज्झवीसंदिते वण्णेणं उववेते जाव फासेण य उववेए, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, इत्तो इट्ठयरो० खोदोदस्स से जहा णामए उच्छूण जचपुंडकाण हरियालपिंडराणं भेरुंडछणाण वा कालपोराणं तिभागनिव्वाडियवाडगाणं बलवगणरजंतपरिगालियमित्ताणं जे य रसे होज्जा वत्थपरिपूए चाउज्जातगसुवासिते अहियपत्थे लहुए वण्णेणं उववेए जाव भवेयारूवे सिया?, नो तिणट्ठे समट्ठे, एत्तो इट्ठयरा०, एवं सेस-

गाणवि समुद्दाणं भेदो जाव सयंभुरमणस्स, णवरि अच्छे जच्चे पत्थे जहा पुक्खरोदस्स ॥ कति णं भंते! समुद्दा पत्तेगरसा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि समुद्दा पत्तेगरसा पण्णत्ता, तंजहा—लवणे वरुणोदे खीरोदे घयोदे ॥ कति णं भंते! समुद्दा पगतीए उदगरसे णं पण्णत्ता?, गोयमा! तओ समुद्दा पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ता, तंजहा—कालोए पुक्खरोए सयंभुरमणे, अवसेसा समुद्दा उस्सण्णं खोतरसा पं० समणाउसो! ॥ (सू० १८७)

'केवइया ण'मित्यादि, कियन्तो भदन्त! जम्बूद्वीपा द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, जम्बूद्वीपादिनाम्ना कियन्तो द्वीपाः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम! असङ्ख्येया जम्बूद्वीपा द्वीपाः प्रज्ञप्ताः, जम्बूद्वीपा इति नाम्नाऽसङ्ख्येया द्वीपा इति भावः, एवं लवण इति नाम्नाऽसङ्ख्येयाः समुद्राः, धातकीषण्ड इति नाम्नाऽसङ्ख्येया द्वीपाः, कालोद इति नाम्नाऽसङ्ख्येयाः समुद्राः, एवं यावत्सूर्यवरावभास इति नाम्नाऽसङ्ख्येयाः समुद्राः, तथा चाह—'एवं जाव' इत्यादि, 'एवं' उक्तेन प्रकारेण तावद्वाच्यं यावदसङ्ख्येयाः सूर्याः सूर्य इति नाम्ना त्रिप्रत्यवतारपतितेनेति गम्यते, अरुणादारभ्य देवद्वीपादर्वाक् सर्वेषामेव त्रिप्रत्यवतारतयाऽनन्तरमेवाभिधानात् समुद्राः प्रज्ञप्ताः ॥ सम्प्रति देवादीनधिकृत्य प्रश्ननिर्वचनसूत्राण्याह—'कइ णं भंते' इत्यादि, कति भदन्त! देवद्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! एको देवद्वीपः प्रज्ञप्तः, एवं दशाप्येते एकाकारा वक्तव्याः, तथा चाह—'एवं जाव एगे सयंभूरमणे समुद्दे पन्नत्ते' इति । '**लवणे णं समुद्दे केरिसए आसाएणं पन्नत्ते?**' इत्यादीनि तु लवणकालोदपुष्करोदवरुणोदक्षीरोदघृतोदक्षोदोदविषयाणि सप्त सूत्राणि स्वयं भावनीयानि, भावार्थस्य प्रागेवाभिहितत्वात्, शेषाः समुद्रा यथा क्षोदोदः समुद्रस्तथा प्रतिपत्तव्याः, नवरं स्वयम्भूरमणसमुद्रो यथा

पुष्करोदः ॥ सम्प्रति ये प्रत्येकरसा ये च प्रकृत्युदकरसास्तान् वैविक्त्येनाह—'कइ णं भंते!' इत्यादि, कति भदन्त! समुद्राः 'प्रत्येकरसाः' समुद्रान्तरैः सहासाधारणरसाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! चत्वारः प्रत्येकरसाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लवणोदः वरुणोदः क्षीरोदः घृतोदः, न हि लवणो वरुणोदः क्षीरोदो घृतोदो वाऽन्यः समुद्रो यथोक्तरसः समस्ति तत एते चत्वारोऽपि प्रत्येकरसाः ॥ 'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! समुद्राः प्रकृत्या उदकरसाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! त्रयः समुद्राः प्रकृत्या उदकरसेन प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कालोदः पुष्करोदः स्वयम्भूरमणः, अवशेषाः समुद्राः 'उस्सन्नं' बाहुल्येन क्षोदरसाः प्रज्ञप्ताः ॥

कति णं भंते! समुद्दा बहुमच्छकच्छभाइण्णा पण्णत्ता?, गोयमा! तओ समुद्दा बहुमच्छकच्छभाइण्णा पण्णत्ता, तंजहा—लवणे कालोए सयंभुरमणे, अवसेसा समुद्दा अप्पमच्छकच्छभाइण्णा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे कति मच्छजातिकुलकोडिजोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! सत्त मच्छजातिकुलकोडीजोणीपमुहसतसहस्सा पण्णत्ता ॥ कालोए णं भंते! समुद्दे कति मच्छजाति० पण्णत्ता?, गोयमा! नव मच्छजातिकुलकोडीजोणी० ॥ सयंभुरमणे णं भंते! समुद्दे०, अद्धतेरस मच्छजातिकुलकोडीजोणीपमुहसतसहस्सा पण्णत्ता ॥ लवणे णं भंते समुद्दे मच्छाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता गो०?, जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं पंचजोयणसयाइं ॥ एवं कालोए उ० सत्त जोयणसताइं ॥ सयंभूरमणे जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जति० उक्कोसेणं दस जोयणसताइं ॥ (सू० १८८)

'कइ णं भंते!' इत्यादि, कति भदन्त! समुद्रा बहुमत्स्यकच्छपाकीर्णाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! त्रयः समुद्राः बहुमत्स्यकच्छपाकीर्णाः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—लवणः कालोदः स्वयम्भूरमणः, अवशेषाः समुद्रा अल्पमत्स्यकच्छपाकीर्णाः प्रज्ञप्ताः न पुनर्निर्मत्स्यकच्छपाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ सम्प्रति लवणादिषु मत्स्यकुलकोडिपरिज्ञानार्थमाह—'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणे भदन्त! समुद्रे 'कति' किंप्रमाणानि जातिप्रधानानि कुलानि २ जातिकुलानां कोटयो जातिकुलकोटयः मत्स्यानां जातिकुलकोटयो मत्स्यजातिकुलकोटयस्तासां योनिप्रमुखाणि—योनिप्रवाहाणि शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, इहैकस्यामपि योनौ अनेकानि जातिकुलानि भवन्ति, यथा एकस्यामेव छगणयोनौ कृमिकोटिकुलमिलिकाकुलं वृश्चिककुलमित्यादि तत उक्तं योनिप्रमुखशतसहस्राणीति, भगवानाह—गौतम! सप्त जलमत्स्यजातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि, एवं कालोदसूत्रं स्वयम्भूरमणसूत्रमपि भावनीयं, नवरं कालोदे नव मत्स्यजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि, स्वयम्भूरमणसमुद्रेऽर्द्धत्रयोदश ॥ अधुना लवणादिषु मत्स्यप्रमाणमभिधित्सुराह—'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणे भदन्त! समुद्रे मत्स्यानां 'केमहालिका' किंमहती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षेण पञ्च योजनशतानि ॥ एवं कालोदस्वयम्भूरमणसमुद्रविषये अपि सूत्रे भावनीये, नवरं कालोदे उत्कर्षतः सप्त योजनशतानि स्वयम्भूरमणे योजनसहस्रम् ॥

केवतिया णं भंते! दीवसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता?, गोयमा! जावतिया लोगे सुभा णामा सुभा वण्णा जाव सुभा फासा एवतिया दीवसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ॥ केवतिया णं भंते! दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता?, गोयमा! जावतिया अड्ढाइज्जाणं सागरोवमाणं उद्धारसमया

एवतिया दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पन्नत्ता ॥ (सू० १८९) दीवसमुद्दा णं भंते! किं पुढविपरिणामा आउपरिणामा जीवपरिणामा पुग्गलपरिणामा?, गोयमा! पुढविपरिणामावि आउपरिणामावि जीवपरिणामावि पुग्गलपरिणामावि ॥ दीवसमुद्देसु णं भंते! सव्वपाणा सव्वभूया सव्वजीवा सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा?, हंता! गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो (सू० १९०) इति दीवसमुद्दा समत्ता ॥

'केवइया णं भंते!' इत्यादि, कियन्तो भदन्त! द्वीपसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः?, यदि नाम सङ्ख्यातुमिष्यन्ते तदा कियन्तस्ते प्रज्ञप्ता इत्यर्थः, इयमत्र भावना—इहैकैकेन नाम्नाऽसङ्ख्येया द्वीपा असङ्ख्येयाः समुद्राः प्रोच्यन्ते अन्तिमान् देवादीन् पञ्च द्वीपान् पञ्च समुद्रान् मुक्त्वा, ततः सर्वसङ्ख्यया कियन्ति द्वीपसमुद्राणां नामानि? इति, भगवानाह—गौतम! यावन्ति लोके सामान्यतः 'शुभानि नामानि' शङ्खचक्रस्वस्तिककलशश्रीवत्सादीनि 'शुभा वर्णाः शुभा गन्धाः शुभा रसाः शुभाः स्पर्शाः' शुभवर्णनामानि शुभगन्धनामानि शुभरसनामानि शुभस्पर्शनामानि, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः, एतावन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भावः ॥ सम्प्रत्युद्धारसागरोपमप्रमाणतो द्वीपसमुद्रपरिमाणमाह—'केवइया णं भंते!' इत्यादि, कियन्तो भदन्त! द्वीपसमुद्राः 'उद्धारेण' उद्धारपल्योपमसागरोपमप्रमाणेन प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—हे गौतम! यावन्तोऽर्द्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणां उद्धारसमयाः—एकैकेन(क) सूक्ष्मवालाग्रापहारसमया एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः, उक्तञ्च—"उद्धारसागराणं अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया। दुगुणादुगुणपवित्थर दीवोदहि रज्जु एवइया ॥ १ ॥" 'दीवसमुद्दा णं भंते!' इत्यादि, । द्वीपसमुद्रा णमिति पूर्ववत् भदन्त! किं पृथिवीपरि-

णामा अप्परिणामा जीवपरिणामाः पुद्गलपरिणामाः ?, भगवानाह—गौतम ! पृथिवीपरिणामा अपि अप्परिणामा अपि जीवपरिणामा अपि पुद्गल परिणामा अपि, पृथ्व्यब्जीवपुद्गलपरिणामात्मकत्वात्सर्वद्वीपसमुद्राणाम् ॥ 'दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया' इत्यादि, द्वीपसमुद्रेषु णमिति पूर्ववत् सर्वेष्वपि गम्यते भदन्त ! सर्वे 'प्राणाः' द्वीन्द्रियादयः सर्वे 'भूताः' तरवः सर्वे 'जीवाः' पञ्चेन्द्रियाः सर्वे 'सत्त्वाः' पृथिव्यादयः उत्पन्नपूर्वाः?, भगवानाह—गौतम ! असकृदुत्पन्नपूर्वा अथवाऽनन्तकृत्वः, सर्वेषामपि सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतानां जीवानां सर्वेषु स्थानेषु प्रायोऽनन्तश उत्पादात् ॥ तदेवं द्वीपसमुद्रवक्तव्यता गता ॥ सम्प्रति द्वीपसमुद्राणां पुद्गलपरिणामत्वात् तेषां च पुद्गलानां विशिष्टपरिणामपरिणतानामिन्द्रियग्राह्यत्वादिन्द्रियविषयपुद्गलपरिणाममाह—

कतिविहे णं भंते इंदियविसए पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते ?, गोयमा ! पंचविहे इंदियविसए पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तंजहा—सोतिंदियविसए जाव फासिंदियविसए । सोतेंदियविसए णं भंते ! पोग्गलपरिणामे कतिविहे पण्णत्ते?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुब्भिसद्दपरिणामे य दुब्भिसद्दपरिणामे य, एवं चक्खिंदियविसयादिएहिवि सुरूवपरिणामे य दुरूवपरिणामे य । एवं सुरभिगंधपरिणामे य दुरभिगंधपरिणामे य, एवं सुरसपरिणामे य दूरसपरिणामे य, एवं

१ यद्यपि नात्र तृतीयप्रतिपत्तिसमाप्तिसूचकं किञ्चित् तथापि अग्रे ज्योतिष्कवक्तव्यतापूर्तौ चतुर्थप्रतिपत्तौ ज्योतिष्क उद्देशक इति वैमानिकाधिकारसपूर्तौ च चतुर्थप्रतिपत्तौ वैमानिकाख्य उद्देशक इति च सूचनात् गम्यते यदुत अत्र तृतीयप्रतिपत्ति समाप्ता, यद्वा तत्र चतुर्विधानां प्रतिपत्तिर्या सा चतुर्थप्रतिपत्तिरिति व्याख्येयं, यत प्रतिपादयिष्यति तदनन्तरं पञ्चविधजीवप्रतिपादनमस्याश्चतुर्थ्या प्रतिपत्तेरारम्भं, अन्यद्वोक्तमविरोधि कारण सुधीभिः ।

सुफासपरिणामे य दुफासपरिणामे य ॥ से नूणं भंते! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु उच्चावएसु रूवपरिणामेसु एवं गंधपरिणामेसु रसपरिणामेसु फासपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमंतीति वत्तव्वं सिया?, हंता गोयमा! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमंतित्ति वत्तव्वं सिया, से णूणं भंते! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति दुब्भिसद्दा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति?, हंता गोयमा! सुब्भिसद्दा दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति दुब्भिसद्दा सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, से णूणं भंते! सुरूवा पुग्गला दूरूवत्ताए परिणमंति दुरूवा पुग्गला सुरूवत्ताए० ?, हंता गोयमा० !, एवं सुब्भिगंधा पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति दुब्भिगंधा पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति?, हंता गोयमा०! एवं सुफासा दुफासत्ताए?, सुरसा दूरसत्ताए० ?, हंता गोयमा !० ॥ (सू० १९१)

'कइविहे णं भंते!' इत्यादि, कतिविधो भदन्त! इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! पञ्चविध इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियविषय इत्यादि सुगमं, 'सुब्भिसद्दपरिणामे' इति शुभः शब्दपरिणामः 'दुब्भिसद्दपरिणामे' इति अशुभः शब्दपरिणामः ॥ 'से णूणं भंते!' इत्यादि, अथ 'नूनं' निश्चितमेतद् भदन्त! 'उच्चावचैः' उत्तमाधमैः शब्दपरिणामैर्यावत्स्पर्शपरिणामैः परिणमन्तः पुद्गलाः परिणमन्तीति वक्तव्यं स्यात्?, परिणमन्तीति ते वक्तव्या भवेयुरित्यर्थः, भगवानाह—'हन्ता गोयमा!' इत्यादि, हन्तेति प्रत्यवधारणे स्यादेव वक्तव्यमिति भावः, परिणामस्य यथावस्थितस्य भावात्, तथा तथा

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीवशतस्तत्तद्रूपास्कन्दनं हि परिणामः, स च तत्रास्तीति न कश्चित्तथाऽभिधाने दोषः ॥ 'से णूणं भंते!' इत्यादि, अथ 'नूनं' निश्चितमेतद् भदन्त! 'शुभशब्दाः' शुभशब्दरूपाः पुद्गला अशुभशब्दतया परिणमन्ति अशुभशब्दा वा पुद्गलाः शुभशब्दतया?, भगवानाह—हन्त गौतम! इत्यादि सुप्रतीतं, एतेन सान्वयं परिणाममाह, अन्यथा तयो(द्वयो) र्गादसतः सत्ताऽनुपपत्ते रतिप्रसङ्गात् ॥ एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वप्यालीयालीयाभिलापेन द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ ॥

देवे णं भंते! महिड्ढीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ताणं गिण्हित्तए?, हंता पभू, से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चति—देवे णं महिड्ढीए जाव गिण्हित्तए?, गोयमा! पोग्गले खित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगती भवित्ता तओ पच्छा मंदगती भवति, देवे णं महिड्ढीए जाव महाणुभागे पुव्वंपि पच्छावि सीहे सीहगती (तुरिए तुरियगती) चेव से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति जाव एवं अणुपरियट्टित्ताणं गेण्हित्तए ॥ देवे णं भंते! महिड्ढीए बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पुव्वामेव बालं अच्छित्ता अभेत्ता पभुं गंठित्तए?, नो इणट्ठे समट्ठे १, देवे णं भंते! महिड्ढिए बाहिरए पुग्गले अपरियाइत्ता पुव्वामेव बालं छित्ता भित्ता पभू गंठित्तए?, नो इणट्ठे समट्ठे २, देवे णं भंते! महिड्ढीए बाहिरए पुग्गले परियाइत्ता पुव्वामेव बालं अच्छित्ता अभित्ता पभू गंठित्तए?, नो इणट्ठे समट्ठे ३, देवे णं भंते! महिड्ढीए जाव महाणुभागे बाहिरे पोग्गले परियाइत्ता पुव्वामेव बालं छेत्ता भेत्ता पभू गंठित्तए?, हंता पभू ४, तं चेव णं गंठिं छउमत्थे ण जाणति

ण पासति एवंसुहुमं च णं गढिया ३, देवे णं भंते! महिड्ढीए पुव्वामेव बालं अच्छेत्ता अभेत्ता पभू दीहिकरित्तए वा हस्सीकरित्तए वा?, नो तिणट्ठे समट्ठे ४, एवं चत्तारिवि गमा, पढमबिइय-भंगेसु अपरियाइत्ता एगंतरियगा अच्छेत्ता अभेत्ता, सेसं तहेव, तं चेव सिद्धिं छउमत्थे ण जाणति ण पासति एसुहुमं च णं दीहिकरेज्ज वा हस्सीकरेज्ज वा ॥ (सू० १९२)

'देवे णं भंते!' इत्यादि, देवो भदन्त! महर्द्धिकः यावत्करणात् महाद्युतिको महाबलो महायशा महानुभाग इति परिग्रहः एषां व्याख्यानं पूर्ववत्, पूर्वमेव 'पुद्गलं' लेष्ट्वादिकं प्रयत्नेनेति गम्यते क्षिप्त्वा 'प्रभुः' समर्थस्तमेव पुद्गलं क्षिप्तं भूमावपतितं सन्तम् 'अनुपरिवर्त्त्य' प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्य ग्रहीतुम्?, भगवानाह—हन्त! प्रभुः, देवस्य प्रभूतशक्तिकत्वात् ॥ एतदेव जिज्ञासिषुः पृच्छति —'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, (प्रश्नसूत्रं सुगमं) भगवानाह—गौतम! पुद्गलः क्षिप्तः सन् पूर्वमेव शीघ्रगतिर्भवति प्रयत्नजनितसंस्कारस्यातितीव्रत्वात्, पश्चान्मन्दगतिः संस्कारस्य मन्दमन्दतया भवनात्, देवः पुनः पूर्वमपि पश्चादपि च शीघ्र उत्साहविशेषेण शीघ्रगतिः साक्षाच्छीघ्रगमनेन, एतदेव व्याचष्टे—त्वरितत्वरितगतिर्भवतीति, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थम् ॥ 'देवे णं भंते!' इत्यादि, देवो भदन्त! महर्द्धिको यावन्महानुभागो बाह्यान् पुद्गलान् 'अपर्यादाय' अगृहीत्वा बालं अच्छित्त्वा अभित्त्वा तदवस्थमेव सन्तमिति भावः तच्छरीरस्य मनागपि विक्रियामनापाद्येति तात्पर्यार्थः प्रभुः 'ग्रन्थयितुं' दृढबन्धनबद्धीकर्त्तुम्?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, बाह्यपुद्गलानादानेन तच्छरीरस्य मनागपि विक्रियानापादने बन्धनस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्, एतेन देवोऽप्यनिबन्धनां क्रियां न करोति, विशिष्टसामर्थ्यस्यापि निबन्धनविषयत्वादित्यावेदितं। द्वितीयसूत्रे बालं छित्त्वा भित्त्वेति विशेषः, शेषं तथैव,

अत्रापि ग्रथयितुमशक्तिः उभयकारणजन्यस्य कार्यस्यैकतरस्यापि कारणस्याभावेऽभावात् । तृतीयसूत्रे बाह्यान् पुद्गलान् पर्यादाय बालमच्छित्त्वाऽभित्त्वेति विशेषः । चतुर्थे बाह्यान् पुद्गलानादाय वालं छित्त्वा भित्त्वेति विशेषः, अत्र ग्रथयितुं प्रभुरिति वक्तव्यं, कारणसामग्र्यस्य सम्भवात्, तं च ग्रन्थिं छद्मस्थो मनुष्यो न जानाति न पश्यति, किमुक्तं भवति?—स वालोऽन्यो वा तटस्थः पुरुषोऽनतिशयी न जानाति ज्ञानेन न पश्यति चक्षुषा 'एवं खलु सुहुमं च णं गढेज्जा' एवं खलु सूक्ष्मं देवो ग्रथयेत् ॥ एवं वालदीर्घह्रस्वीकरणविषयाण्यपि चत्वारि सूत्राणि भावनीयानि नवरं 'तं च णं सिद्धिं'मिति, तां—ह्रस्वीकरणसिद्धिं दीर्घीकरणसिद्धिं वा, शेषं प्रतीतम् ॥ देवसामर्थ्यप्रत्यासत्त्यैव ज्योतिष्कावधिकृत्याह—

अत्थि णं भंते! चंदिमसूरियाणं हिट्ठिंपि तारारूवा अणुंपि तुल्लावि समंपि तारारूवा अणुंपि तुल्लावि उप्पिंपि तारारूवा अणुंपि तुल्लावि?, हंता अत्थि, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—अत्थि णं चंदिमसूरियाणं जाव उप्पिंपि तारारूवा अणुंपि तुल्लावि?, गोयमा! जहा जहा णं तेसिं देवाणं तवनियमबंभचेरवासाइं [उक्कडाइं] उस्सियाइं भवंति तहा तहा णं तेसिं देवाणं एयं पण्णायति अणुत्ते वा तुल्लत्ते वा, से एएणट्ठेणं गोयमा! अत्थि णं चंदिमसूरियाणं उप्पिंपि तारारूवा अणुंपि तुल्लावि० ॥ (सू० १९३) एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स—अट्ठासीतिं च गहा अट्ठावीसं च होइ नक्खत्ता । एगससीपरिवारो एत्तो ताराण वोच्छामि ॥ १ ॥ छावट्ठिसहस्साइं णव चेव सयाइं पंचसयराइं । एगससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥ (सू० १९४)

'अत्थि णं भंते! चंदिमसूरियाण'मित्यादि, अस्ति भदन्त! चन्द्रसूर्याणां सामान्यतो बहुवचनं, हिट्ठिंपि—क्षेत्रापेक्षयाऽधस्तना अपि **'तारारूपाः'** ताराारूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवलेश्यादिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि हीना अपीत्यर्थः, केचित्तुल्या अपि, तथा समपि चन्द्रविमानैः सूर्यविमानैश्च क्षेत्रापेक्षया समश्रेण्यपि व्यवस्थितास्ताराारूपाः देवाः ताश्चन्द्रसूर्याणां देवानां द्युतिविभवादिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि केचित्तुल्या अपि तथा चन्द्रविमानानां सूर्यविमानानां चोपर्यपि ये व्यवस्थितास्ताराारूपा देवास्तेऽपि चन्द्रसूर्याणां देवानां द्युतिविभवादिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि केचित्तुल्या अपि?, भगवानाह—**'हन्ता अत्थि'** यदेतत्त्वया पृष्टं तत्सर्वं तथैवास्ति ॥ एवमुक्ते पुनः प्रश्नयति—**'से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति अत्थि णं चंदिमसूरियाण'**मित्यादि, भगवानाह—गौतम! **'जहा जहा ण'**मित्यादि, यथा यथा णमिति वाक्यालङ्कारे तेषां देवानां—ताराारूपविमानाधिष्ठातॄणां प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि **'उत्सृतानि'** उत्कृष्टानि भवन्ति, तत्र तपो—नमस्कारसहितादि नियमस्तु—अहिंसादि ब्रह्मचर्यं—बस्तिनिरोधादि उत्सृतानीत्युपलक्षणं तेन यथा यथाऽनुत्सृतान्यपि द्रष्टव्यं, अन्यथाऽणुत्वायोगात्, तथा तथा तेषां देवानां तस्मिन् ताराारूपविमानाधिष्ठातृभवे एवं प्रज्ञायते, तद्यथा—अणुत्वं तुल्यत्वं चेति, **'से एएणट्ठेण'**मित्यादि, किमुक्तं भवति?—यैः प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि मन्दानि कृतानि ते ताराारूपविमानाधिष्ठातृदेवभवमनुप्राप्ताश्चन्द्रसूर्येभ्यो देवेभ्यो द्युतिविभवादिकमपेक्ष्य हीना भवन्ति, यैस्तु भवान्तरे तपोनियमब्रह्मचर्याणि अत्युत्कटान्यासेवितानि ते ताराारूपविमानाधिष्ठातृरूपं देवभवमनुप्राप्ता द्युतिविभवादिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्यदेवैः सह समाना भवन्ति, न चैतदनुपपन्नं, दृश्यन्ते हि मनुष्यलोके केचित् जन्मान्तरोपचिततथाविधपुण्यप्राग्भारा राजत्वमप्राप्ता अपि राज्ञा सह तुल्यविभवा इति ॥ **'एगमेगस्स णं भंते! चंदिमसूरियस्से'**त्यादि, एकैकस्य भदन्त! चन्द्रसूर्यस्य, अनेन च पदेन यथा नक्षत्रादीनां चन्द्रः स्वामी तथा सूर्योऽपि, तस्यापी-

न्द्रत्वाद् (ते) श्रुतिं ख्यापयन्ति, कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः ?, कियन्तो महाग्रहा—अङ्गारकादयः परिवारः प्रज्ञप्तः ?, कियत्यस्ता-
रागणकोटीकोट्यः परिवारः प्रज्ञप्तः ?, इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु ततो यथाऽवस्थितवा-
चनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते, भगवानाह—गौतम! एकैकस्य चन्द्रसूर्यस्याष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि
परिवारः प्रज्ञप्तः, अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः प्रज्ञप्तः । 'छावट्ठिसहस्साइं' इति गाथा, षट्षष्टिः सहस्राणि नव चैव शतानि पञ्च-
सप्ततानि एकशशिपरिवारस्तारागणकोटीकोटीनां, कोटीकोटीति कोट्या एव सञ्ज्ञा, ततस्तारागणकोटीनामिति द्रष्टव्यम् ॥

जंबूदीवे णं भंते! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतियं अबाधाए जो-
तिसं चारं चरति?, गोयमा! एक्कारसहिं एक्कवीसेहिं जोयणसएहिं अबाधाए जोतिसं चारं च-
रति, एवं दक्खिणिल्लाओ पचत्थिमिल्लाओ उत्तरिल्लाओ एक्कारसहिं एक्कवीसेहिं जोयण० जाव
चारं चरति ॥ लोगंताओ भंते! केवतियं अबाधाए जोतिसे पण्णत्ते?, गोयमा! एक्कारसहिं ए-
क्कारेहिं जोयणसतेहिं अबाधाए जोतिसे पण्णत्ते ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए बहु-
समरमणिज्जाओ भूमिभागाओ केवतियं अबाहाए सव्वहेट्ठिल्ले तारारूवे चारं चरति? केवतियं
अबाधाए सूरविमाणे चारं चरति? केवतियं अबाधाए चंदविमाणे चारं चरति? केवतियं अबा-
धाए सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरति?, गोयमा! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरम-
णि० सत्तहिं णउएहिं जोयणसतेहिं अबाहाए जोतिसं (सव्व) हेट्ठिल्ले तारारूवे चारं चरति, अट्ठहिं

जोयणसतेहिं अबाधाए सूरविमाणे चारं चरति, अट्ठहिं असीएहिं जोयणसतेहिं अबाधाए चंदविमाणे चारं चरति, नवहिं जोयणसएहिं अबाहाए सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरति ॥ सव्वहेट्ठिमिल्लाओ णं भंते! तारारूवाओ केवतियं अबाहाए सूरविमाणे चारं चरइ? केवइयं अबाहाए चंदविमाणे चारं चरइ? केवतियं अबाहाए सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ?, गोयमा! सव्वहेट्ठिल्लाओ णं दसहिं जोयणेहिं सूरविमाणे चारं चरति णउतीए जोयणेहिं अबाधाए चंदविमाणे चारं चरति दसुत्तरे जोयणसते अबाधाए सव्वोपरिल्ले तारारूवे चारं चरइ ॥ सूरविमाणाओ णं भंते! केवतियं अबाधाए चंदविमाणे चारं चरति? केवतियं सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरति?, गोयमा! सूरविमाणाओ णं असीए जोयणेहिं चंदविमाणे चारं चरति, जोयणसय अबाधाए सव्वोवरिल्ले तारारूवे चारं चरति ॥ चंदविमाणाओ णं भंते! केवतियं अबाधाए सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरति?, गोयमा! चंदविमाणाओ णं वीसाए जोयणेहिं अबाधाए सव्वउवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ, एवामेव सपुव्वावरेणं दसुत्तरसतजोयणबाहल्ले तिरियमसंखेज्जे जोतिसविसए पण्णत्ते ॥ (सू० १९९) जंबूदीवे णं भंते! कयरे णक्खत्ते सव्वब्भिंतरिल्लं चारं चरंति? कयरे नक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरइ? कयरे नक्खत्ते सव्वउवरिल्लं चारं चरति? कयरे नक्खत्ते सव्वहिट्ठिल्लं चारं चरति?, गोयमा! जंबूदीवे णं दीवे अभी-

इनक्खत्ते सव्वब्भिंतरिल्लं चारं चरति मूले णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरइ साती णक्खत्ते सव्वोवरिल्लं चारं चरति भरणीणक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चारं चरति ॥ (सू० १९६)

'जंबूदीवे ण'मित्यादि' जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्त्तिनं कियत्क्षेत्रमबाधया सर्वतः कृत्वा 'ज्योतिषं' ज्योतिश्चक्रं 'चारं चरति' मण्डलगत्या परिभ्रमति?, भगवानाह—गौतम! एकादश योजनशतानि 'एकविंशानि' एकविंशत्यधिकानि अबाधया ज्योतिषं चारं चरति, किमुक्तं भवति?—मेरोः सर्वत एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि मुक्त्वा तदनन्तरं चक्रवाल-तया ज्योतिश्चक्रं चारं चरति ॥ 'लोगंताओ णं भंते!' इत्यादि, लोकान्तादर्वाग् णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! कियत्क्षेत्रमबाधया अपान्तराले कृत्वा ज्योतिषं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकादश योजनशतानि 'एकादशानि' एकादशोत्तराण्यबाधया कृत्वा ज्योतिषं प्रज्ञप्तम् ॥ 'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, 'अस्यां' यत्र वयं व्यवस्थिता रत्नप्रभायां पृथिव्यां बहुसमरमणीयात् भूमिभागात् आरभ्य कियदबाधया कृत्वाऽधस्तनं तारारूपं ज्योतिषं चारं चरति?, कियदबाधया कृत्वा सूर्यविमानं चारं चरति?, कियदबाधया कृत्वा चन्द्रविमानं, कियदबाधया कृत्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिषं चारं चरति?, भगवानाह—गौतम! सप्त योजनशतानि नवत्यधिकान्यबाधया कृत्वाऽधस्तनं तारारूपं चारं चरति, अष्ट योजनशतान्यबाधया कृत्वा सूर्यविमानं, अष्टौ योजनशतान्यशीतान्यबाधया कृत्वा चन्द्रविमानं, नव योजनशतानि पूर्णान्यबाधया कृत्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिषं चारं चरति ॥ '(सव्व) हेट्ठिल्लाओ णं भंते!' इत्यादि, अधस्तनाद् भदन्त! तारारूपात् कियदबाधया कृत्वा सूर्यविमानं चारं चरति? कियदबाधया कृत्वा चन्द्रविमानं चारं चरति? [illegible] तारारूपम्?, भगवानाह—गौतम! दश योजनान्यबाधया कृत्वा सूर्यविमानं चारं चरति, तत एवाधस्तनात्तारा-

रूपान्नवर्ति योजनान्यबाधया कृत्वा चन्द्रविमानं तत एवाधस्तनात्तारारूपाद्दशोत्तरं योजनशतमबाधया कृत्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिषं चारं चरति ॥ 'सूरविमाणाओ णं भंते!' इत्यादि, सूर्यविमानाद् भदन्त! कियद्बाधया कृत्वा चन्द्रविमानं चारं चरति?, किय-द्बाधयोपरितनं तारारूपम्?, भगवानाह—गौतम! अशीतिं योजनान्यबाधया कृत्वा चन्द्रविमानं चारं चरति, तत एव सूर्यविमाना-द्योजनशतमबाधया कृत्वोपरितनं तारारूपम् ॥ 'चंदविमाणाओ णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रविमानाद्भदन्त! कियद्बाधया कृत्वोपरि-तनं तारारूपं चारं चरति?, भगवानाह—गौतम! विंशतिर्योजनान्यबाधया कृत्वोपरितनं तारारूपं चारं चरति ॥ 'जंबूदीवे णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे कतरत्, 'बहूनां प्रश्ने डतमश्चे'ति बहूनामपि निर्द्धार्ये डतरः, नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं—सर्वेषाम-न्येषां नक्षत्राणामभ्यन्तरं 'चारं' मण्डलगत्या परिभ्रमणं चरति?, कतरत् नक्षत्रं 'सर्वबाह्यं' सर्वेषां नक्षत्राणां बहिर्वर्त्तिनं चारं 'च-रति' प्रतिपद्यते?, कतरत् नक्षत्रं 'सर्वोपरितनं' सर्वेषां नक्षत्राणामुपरितनं चारं चरति?, कतरत् नक्षत्रं सर्वाधस्तनं चारं चरति?, भगवानाह—गौतम! अभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं चारं चरति, मूलः पुनर्नक्षत्रं सर्वबाह्यं चारं चरति, स्वातिर्नक्षत्रं सर्वोपरितनं चारं चरति, भरणीनक्षत्रं सर्वाधस्तनं चारं चरति, उक्तञ्च—"सव्वब्भिंतरऽभीई मूलो पुण सव्वबाहिरो होइ। सव्वोवरिं तु साई भरणी पुण सव्वहेट्ठिलिया ॥ १ ॥"

चंदविमाणे णं भंते! किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिते सव्वफालितामए अब्भुगतमूसितपहसिते वण्णओ, एवं सूरविमाणेवि नक्खत्तविमाणेवि ताराविमाणेवि अद्ध-कविट्ठसंठाणसंठिते ॥ चंदविमाणे णं भंते! केवतियं आयामविक्खंभेणं? केवतियं परिक्खेवेणं?

केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते?, गोयमा! छप्पन्ने एगसट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अट्ठावीसं एगसट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥ सूरविमाणस्सवि सच्चेव पुच्छा, गोयमा! अडयालीसं एगसट्ठिभागे जोयणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं चउवीस एगसट्ठिभागे जोयणस्स बाहल्लेणं पन्नत्ते ॥ एवं गहविमाणेवि अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं सविसेसं परि० कोसं बाहल्लेणं ॥ णक्खत्तविमाणेणं कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परि० अद्धकोसं बाहल्लेणं प० ताराविमाणे अद्धकोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परि० पंचधणुसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥ (सू० १९७)

'चंदविमाणे णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रविमानं भदन्त! 'किंसंस्थितं' किमिव संस्थितं २ प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! 'अर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम्' उत्तानीकृतमर्द्धकपित्थं तस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितं, आह—यदि चन्द्रविमानमुत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितं तत उदयकालेऽस्तमयकाले वा यदिवा तिर्यक् परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्मात्तदर्द्धकपित्थफलाकारं नोपलभ्यते?, कामं शिरस उपरि वर्त्तमानं वर्त्तुलमुपलभ्यते, अर्द्धकपित्थस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परभागादर्शनतो वर्त्तुलतया दृश्यमानत्वात्, उच्यते, इहार्द्धकपित्थफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्त्येन प्रतिपत्तव्यं, किन्तु तस्य विमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य—ज्योतिश्चक्रराजस्य प्रासादः, स च प्रासादस्तथा कथञ्चनापि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयान् वर्त्तुल आकारो भवति, स च दूरभावादेकान्ततः समवृत्ततया जनाना प्रतिभासते ततो न कश्चिद्दोषः, न चैतत् स्वमनीषिकाया विजृम्भितं,

यत एतदेव जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन विशेषणवत्यामाक्षेपपुरस्सरमुक्तम्—"अद्धकविट्ठागारा उदयत्थमणंमि कह न दीसंति । ससिसूराण विमाणा तिरियक्खेत्ते ठियाणं च ? ॥ १ ॥ उत्ताणद्धकविट्ठागारं पीढं तदुवरिं च पासाओ । वट्टालेखेण ततो समवट्टं दूरभावातो ॥ २ ॥" तथा सर्व—निरवशेषं स्फटिकविशेषमणिमयं सर्वस्फटिकमयं तथाऽभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृताः—प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सितं अभ्युद्गतोत्सृतप्रभासितं, यावत्करणात् 'विविहमणिरयणभत्तिचित्ते वाउद्धुयविजयवेजयन्तीपडागछत्तातिछत्तकलिए तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे जालंतररयणपंजलोम्मीलियमणिकणगथूभियागे वियसियसयवत्तपुंडरीयतिलगरयणद्धचंदचित्ते अंतो बहिं च सण्हे तवणिज्जवालुयापत्थडे सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे' इति, तत्र विविधा—अनेकप्रकारा मणयः—चन्द्रकान्तादयो रत्नानि च—कर्केतनादीनि तेषां भक्तयो—विच्छित्तिविशेषास्ताभिश्चित्रं—अनेकरूपवद् आश्चर्यवद्वा विविधमणिरत्नभक्तिचित्रं, तथा वातोद्धूता—वायुकम्पिता विजयः—अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्त्यभिधानाः पताका विजयवैजयन्त्यः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः—पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राणि—उपर्युपरिस्थितातपत्राणि तैः कलितं वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाकलितं तुङ्गं—उच्चम् अत एव 'गगणतलमणुलिहंतसिहरं' गगनतलमनुलिखद्—अभिलङ्घयद् गगनतलानुलिखच्छिखरं, तथा जालानि—जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्र तज्जालान्तररत्नं, सूत्रे चात्र प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः, तथा पञ्जराद् उन्मीलितमिव—बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव, यथा हि किल किमपि वस्तु पञ्जराद्—वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते तथा तदपि विमानमिति भावः, तथा मणिकनकानां सम्बन्धिनी स्तूपिका—

शिखरं यस्य तत् मणिकनकस्तूपिकाकं, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकाश्च—भित्त्यादिषु पुण्ड्राणि रत्नमयाश्चार्द्धचन्द्रा द्वारादिषु तैश्चित्रं विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्रम्, 'अंतो वहिं च सण्हे' इत्यादि अञ्जनपर्वतोपरिसिद्धायतनद्वारवत्, **'एवं सूरविमाणेवी'**त्यादि, एवं—चन्द्रविमानमिव सूर्यविमानमपि वक्तव्यं ग्रहविमानमपि नक्षत्रविमानमपि ताराविमानमपि, ज्योतिर्विमानानां प्राय एकरूपत्वात्॥ **'चंदविमाणे णं भंते!'** इत्यादि, चन्द्रविमानं भदन्त! कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येन प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! षट्पञ्चाशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भेन, तदेवायामविष्कम्भमानं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, अष्टाविंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य वाहल्येन प्रज्ञप्तम्॥ **'सूरविमाणे णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! अष्टचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भेन, तदेवायामविष्कम्भमानं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, चतुर्विंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य वाहल्येन॥ **'गहविमाणे णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह—गौतम! अर्द्धयोजनमायामविष्कम्भेन तदेवार्द्धयोजनं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण क्रोशं वाहल्येन॥ **'नक्खत्तविमाणे णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह—गौतम! क्रोशमेकमायामविष्कम्भेन तदेवायामविष्कम्भपरिमाणं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण अर्द्धक्रोशं च वाहल्येन प्रज्ञप्तम्॥ **'ताराविमाणे णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव, भगवानाह—गौतम! अर्द्धक्रोशमायामविष्कम्भेन तदेवायामविष्कम्भायामपरिमाणं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण, पञ्चधनुःशतानि वाहल्येन प्रज्ञप्तम्, एवंपरिमाणं च ताराविमानमुत्कृष्टस्थितिकस्य तारादेवस्य सम्बन्धि द्रष्टव्यं, जघन्यस्थितिकस्य तु पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि वाहल्येन, उक्तञ्च तत्त्वार्थभाष्ये—"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः, चन्द्रमसः षट्पञ्चाशत्, महा-

णामर्द्धयोजनं, गव्यूतं नक्षत्राणां, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्द्धक्रोशः, जघन्यायाः पञ्चधनुःशतानि, विष्कम्भार्द्धबाहल्याश्च भवन्ति सर्वे सूर्यादयो नृलोके" इति ॥

चंदविमाणे णं भंते! कति देवसाहस्सीओ परिवहंति?, गोयमा! चंदविमाणस्स णं पुरच्छिमेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासाणं (महुगुलियपिंगलक्खाणं) थिरलट्ठ [पउट्ठ] वट्टपीवरसुसिलिट्ठसुविसिट्ठतिक्खदाढाविडंबितमुहाणं रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजीहाणं [पसत्थसत्थवेरुलियभिसंतकक्कडनहाणं] विसालपीवरोरुपडिपुण्णविउलखंधाणं मिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणविच्छिण्णकेसरसडोवसोभिताणं चंकमितललियपुलितधवलगव्वितगतीणं उस्सियसुणिम्मियसुजायअप्फोडियणंगूलाणं वइरामयणक्खाणं वइरामयदन्ताणं वयरामयदाढाणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतिताणं कामगमाणं पीतिगमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमियगतीणं अमियबलवीरियपुरिसकारपरक्कमाणं महता अप्फोडियसीहनातीयबोलकलयलरवेणं महुरेण मणहरेण य पूरिंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ सीहरूवधारिणं देवाणं पुरच्छिमिल्लं बाहं परिवहंति। चंदविमाणस्स णं दक्खिणेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणियरप्पगासाणं वइरामयकुंभजुयलसुट्ठितपीवरवरवइरसोंडवट्टियदि-

त्तसुरत्तपउमप्पकासाणं अब्भुण्णयगुणा (मुहा) णं तवणिज्जविसालचंचलचलंतचवलकण्णविमलु-
ज्जलाणं मधुवण्णभिसंतणिद्धपिंगलपत्तलतिवण्णमणिरयणलोयणाणं अब्भुग्गतमउलमल्लियाणं
धवलसरिससंठितणिव्वणदढकसिणफालियामयसुजायदंतमुसलोवसोभिताणं कंचणकोसीपवि-
ट्ठदंतग्गविमलमणिरयणरुइरपेरंतचित्तरूवगविरायिताणं तवणिज्जविसालतिलगपमुहपरिमंडिताणं
णाणामणिरयणमुद्धगेवेज्जबद्धगलयवरभूसणाणं वेरुलियविचित्तदंडणिम्मलवइरामयतिक्खलट्ठ-
अंकुसकुंभजुयलंतरोदियाणं तवणिज्जसुबद्धकच्छदप्पियबलुद्धराणं जंबूणयविमलघणमंडलवइरा-
मयलालालियतालणाणामणिरयणघण्टपासगरयतामयरज्जूबद्धलंबितघंटाजुयलमहुरसरमणह-
राणं अल्लीणपमाणजुत्तवट्टियसुजातलक्खणपसत्थतवणिज्जवालगत्तपरिपुच्छणाणं उवचियपडिपु-
ण्णकुम्मचलणलहुविक्कमाणं अंकामयणक्खाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जजो-
त्तगसुजोतियाणं कामकमाणं पीतिकमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमियगतीणं अमि-
यबलवीरियपुरिसकारपरक्कमाणं महया गंभीरगुलगुलाइयरवेणं महुरेणं मणहरेणं पूरेन्ता अंबरं दि-
साओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ गयरूवधारीणं देवाणं दक्खिणिल्लं बाहं परिवहंति ।
चंदविमाणस्स णं पच्चत्थिमेणं सेताणं सुभगाणं सुप्पभाणं चंकमियललियपुलितचलचवलककुदसा-
लीणं सण्णयपासाणं संगयपासाणं सुजायपासाणं मियमाइतपीणरइतपासाणं झसविहगसुजात-

कुच्छीणं पसत्थणिद्धमधुगुलितभिसंतपिंगलक्खाणं विसालपीवरोरुपडिपुण्णविपुलखंधाणं वट्टपडिपुण्णविपुलकवोलकलिताणं घणणिचितसुबद्धलक्खणुण्णतईसिआणयवसभोट्ठाणं चंकमितललितपुलियचक्कवालचवलगव्वितगतीणं पीवरोरुवट्टियसुसंठितकडीणं ओलंबपलंबलक्खणपमाणजुत्तपसत्थरमणिज्जवालगंडाणं समखुरवालधाणीणं समलिहिततिक्खग्गसिंगाणं तणुसुहुमसुजातणिद्धलोमच्छविधराणं उवचितमंसलविसालपडिपुण्णखुद्दपमुहपुंडराणं (खंधपएससुंदराणं) वेरुलियभिसंतकडक्खसुणिरिक्खणाणं जुत्तप्पमाणप्पधाणलक्खणपसत्थरमणिज्जगग्गरगलसोभिताणं घग्घरगसुबद्धकण्ठपरिमंडियाणं नाणामणिकणगरयणघण्टवेयच्छगसुकयरतियमालियाणं वरघंटागलगलियसोभंतसस्सिरीयाणं पउमुप्पलभसलसुरभिमालाविभूसिताणं वइरखुराणं विविधविखुराणं फालियामयदंताणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोत्तियाणं कामकमाणं पीतिकमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमितगतीणं अमियबलवीरियपुरिसयारपरक्कमाणं महया गंभीरगज्जियरवेणं मधुरेण मणहरेण य पूरेंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ वसभरूवधारिणं देवाणं पच्चत्थिमिल्लं बाहं परिवहंति।

चंदविमाणस्स णं उत्तरेणं सेयाणं सुभगाणं सुप्पभाणं जच्चाणंतरमल्लिहायणाणं हरिमेलामदुलमल्लियच्छाणं घणणिचितसुबद्धलक्खणुण्णताचंकमि (चंचुच्चि) यललियपुलियचलचवलचंचलगतीणं

लंघणवग्गणधावणधारणतिवइजईणसिक्खितगईणं सण्णतपासाणं ललंतलामगलायवरभूसणाणं संणयपासाणं संगतपासाणं सुजायपासाणं मितमायितपीणरइयपासाणं झसविहगसुजातकुच्छीणं पीणपीवरवट्टितसुसंठितकडीणं ओलंबपलंबलक्खणपमाणजुत्तपसत्थरमणिज्जवालगंडाणं तणुसुहुमसुजायणिद्धलोमच्छविधराणं मिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणविकिण्णकेसरवालिधराणं ललियसविलासगति(ललंतथासगल)लाडवरभूसणाणं मुहमंडगोचूलचमरथासगपरिमंडियकडीणं तवणिज्जखुराणं तवणिज्जजीहाणं तवणिज्जतालुयाणं तवणिज्जजोत्तगसुजोतियाणं कामगमाणं पीतिगमाणं मणोगमाणं मणोरमाणं मणोहराणं अमितगतीणं अमियबलवीरियपुरिसयारपरक्कमाणं महया हयहेसियकिलकिलाइयरवेण महुरेणं मणहरेण य पूरेंता अंबरं दिसाओ य सोभयंता चत्तारि देवसाहस्सीओ हयरूवधारीणं उत्तरिल्लं बाहं परिवहंति ॥ एवं सूरविमाणस्सवि पुच्छा, गोयमा! सोलस देवसाहस्सीओ परिवहंति पुव्वकमेणं ॥ एवं गहविमाणस्सवि पुच्छा, गोयमा! अट्ठ देवसाहस्सीओ परिवहंति पुव्वकमेणं, दो देवाणं साहस्सीओ पुरत्थिमिल्लं बाहं परिवहंति दो देवाणं साहस्सीओ दक्खिणिल्लं दो देवाणं साहस्सीओ पच्चत्थिमं दो देवसाहस्सी हयरूवधारीणं उत्तरिल्लं बाहं परिवहंति ॥ एवं णक्खत्तविमाणस्सवि पुच्छा, गोयमा! चत्तारि

देवसाहस्सीओ परिवहंति, सीहरूवधारीणं देवाणं पंचदेवसता पुरत्थिमिल्लं बाहं परिवहंति एवं चउद्दिसिंपि ॥ (सू० १९८)

'चंदविमाणे णं भंते !' इत्यादि, चन्द्रविमानं णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! कति देवसहस्राणि परिवहन्ति ?, भगवानाह–गौतम ! षोडश देवसहस्राणि परिवहन्ति, तद्यथा–पूर्वेण–पूर्वतः, एवं दक्षिणेन पश्चिमेन उत्तरेण, तत्र पूर्वेण सिंहरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि परिवहन्ति, दक्षिणेन गजरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि, पश्चिमेन वृषभरूपधारिणां देवानां चत्वारि सहस्राणि, उत्तरेणाश्वरूपधारिणां देवानां चत्वारि देवसहस्राणि, इयमत्र भावना–चन्द्रादिविमानानि तथाजगत्स्वाभाव्यान्निरालम्बनान्येव वहन्त्यवतिष्ठन्ते, केवलमाभियोगिका देवास्ते तथाविधनामकर्मोदयवशात्समानजातीयानां हीनजातीयानां वा निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थमालानं बहु मन्यमानाः प्रमोदभृतः सततवहनशीलेषु विमानेष्वधः स्थित्वा केचित्सिंहरूपाणि केचिद्गजरूपाणि केचिद्वृषभरूपाणि केचिदश्वरूपाणि कृत्वा तानि विमानानि वहन्ति, न चैतदनुपपन्नं, यथा हि कोऽपि तथाविधाभियोग्यनामकर्मोपभोगभागी दासोऽन्येषां समानजातीयानां हीनजातीयानां वा पूर्वपरिचितानामेवमहं नायकस्यास्य सुप्रसिद्धस्य संमत इति निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थं सर्वमपि स्वोचितं कर्म्म नायकसमक्षं प्रमुदितः करोति, तथाऽऽभियोगिका देवास्तथाविधाभियोग्यनामकर्मोपभोगभाजः समानजातीयानां हीनजातीयानां वा देवानामन्येषामेवं वयं समृद्धा यत्सकललोकप्रसिद्धानां चन्द्रादीनां विमानानि वहाम इति निजस्फातिविशेषप्रदर्शनार्थमालानं बहु मन्यमाना उक्तप्रकारेण चन्द्रादिविमानानि वहन्ति ॥ एवं सूर्यादिविमानविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि, अत्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्के सङ्ग्रहणिगाथे—"सोलस देवसहस्सा वहंति चंदेसु चेव सूरेसु । अट्ठेव सहस्साइं एक्केक्कंमि गहविमाणे ॥ १ ॥ चत्तारि सहस्साइं

नक्खत्तंमि य हवंति एक्केक्के । दो चेव सहस्साइं तारारूवेक्कमेक्कंमि ॥ २ ॥" कचित्सिंहादीनां वर्णनं दृश्यते तद्बहुषु पुस्तकेषु न दृष्टमित्युपेक्षितं, अवश्यं चेत्तद्व्याख्यानेन प्रयोजनं तर्हि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका परिभावनीया, तत्र सविस्तरं तद्व्याख्यानस्य कृतत्वात् ॥

एतेसि णं भंते चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं कयरे कयरेहिंतो सिग्घगती वा मंदगती वा?, गोयमा! चंदेहिंतो सूरा सिग्घगती सूरेहिंतो गहा सिग्घगती गहेहिंतो णक्खत्ता सिग्घगती णक्खत्तेहिंतो तारा सिग्घगती, सव्वप्पगती चंदा सव्वसिग्घगतीओ तारारूवे ॥ (सू० १९९) एएसि णं भंते! चंदिमजावतारारूवाणं कयरे २ हिंतो अप्पिड्ढिया वा महिड्ढिया वा?, गोयमा! तारारूवेहिंतो णक्खत्ता महिड्ढीया णक्खत्तेहिंतो गहा महिड्ढीया गहेहिंतो सूरा महिड्ढीया सूरेहिंतो चंदा महिड्ढीया, सव्वप्पड्ढिया तारारूवा सव्वमहिड्ढीया चंदा ॥ (सू० २००)

'एएसि णं'मित्यादि, एतेषां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां मध्ये कतरे कतरेभ्योऽल्पगतयः? कतरे कतरेभ्यः शीघ्रगतयः?, भगवानाह—गौतम! चन्द्रेभ्यः सूर्याः शीघ्रगतयः सूर्येभ्यो ग्रहाः शीघ्रगतयः ग्रहेभ्यो नक्षत्राणि शीघ्रगतीनि नक्षत्रेभ्यस्तारारूपाः शीघ्रगतयः, चन्द्रेणाहोरात्राक्रमणीयस्य क्षेत्रस्य सूर्यादिभिर्हीनहीनतरेणाहोरात्रेणाक्रम्यमाणत्वात्, एतच्च सविस्तरं चन्द्रप्रज्ञप्तौ सूर्यप्रज्ञप्तौ भावितमिति ततोऽवधार्य, एवं च सर्वमन्दगतयश्चन्द्राः सर्वशीघ्रगतयस्ताराः ॥ 'एएसि णं'मित्यादि, एतेषां भदन्त! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां मध्ये कतरे कतरेभ्योऽल्पर्द्धिकाः कतरे कतरेभ्यो महर्द्धिकाः?, भगवानाह—गौतम! तारकेभ्यो नक्षत्राणि महर्द्धिकानि

बृहत्स्थितिकत्वात्, एवं नक्षत्रेभ्यो ग्रहा महर्द्धिकाः, ग्रहेभ्यः सूर्या महार्द्धिकाः, सूर्येभ्यश्चन्द्रा महर्द्धिकाः, एवं सर्वाल्पर्द्धयस्ताराः सर्वमहर्द्धयश्चन्द्राः ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपे ताराणां परस्परमन्तरप्रतिपादनार्थमाह—

जंबूदीवे णं भंते! दीवे तारारूवस्स २ एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! दुविहे अंतरे पण्णत्ते, तंजहा—वाघातिमे य निव्वाघाइमे य, तत्थ णं जे से वाघातिमे से जहण्णेणं दोण्णि य छावट्ठे जोयणसए उक्कोसेणं बारस जोयणसहस्साइं दोण्णि य बायाले जोयणसए तारारूवस्स २ य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते। तत्थ णं जे से णिव्वाघातिमे से जहण्णेणं पंचधणुसयाइं उक्कोसेणं दो गाउयाइं तारारूव जाव अंतरे पण्णत्ते ॥ (सू०२०१) चंदस्स णं भंते! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कति अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—चंदप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा, एत्थ णं एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवसाहस्सीओ परिवारे य, पभू णं ततो एगमेगा देवी अण्णाइं चत्तारि २ देविसहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं सोलस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, से तं तुडिए ॥ (सू०२०२) पभू णं भंते! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुडिएण सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए?, णो तिणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति नो पभू चंदे जोतिसराया चंडवडेंसए विमाणे सभाए सुधम्माए

चंदंसि सीहासणंसि तुडिएणं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए?, गोयमा! चंदस्स जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो चंदवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए माणवगंसि चेतियखंभंसि वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुयाओ जिणसकहाओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चंदस्स जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो अन्नेसिं च बहूणं जोतिसियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ, तासिं पणिहाए नो पभू चंदे जोतिसराया चंदवडिं० जाव चंदंसि सीहासणंसि जाव भुंजमाणे विहरित्तए, से एएणट्ठेणं गोयमा! नो पभू चंदे जोतिसराया चंदवडेंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुडिएण सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए, अदुत्तरं च णं गोयमा! पभू चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव सोलसहिं आयरक्खदेवाणं साहस्सीहिं अन्नेहिं बहूहिं जोतिसिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपुरिवुडे महयाहयणट्टगीइयाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए, केवलं परियारतुडिएण सद्धिं भोगभोगाइं बुद्धीए नो चेव णं मेहुणवत्तियं ॥ (सू० २०३) सूरस्स णं भंते! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—सूरप्पभा आयवाभा अच्चिमाली पभंकरा, एवं अवसेसं

जहा चंदस्स णवरिं सूरवडिंसए विमाणे सूरंसि सीहासणंसि, तहेव सव्वेसिंपि गहाईणं चत्तारि अग्गमहिसीओ० तंजहा—विजया वेजयंती जयंती अपराजिया, तेसिंपि तहेव। (सू० २०४)

'जंबूदीवे णं भंते! दीवे'इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे तारायास्ताराया एतदन्तरं कियदबाधया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! द्विविधमन्तरं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—व्याघातिमं निर्व्याघातिमं च, व्याहननं व्याघातः—पर्वतादिस्खलनं तेन निर्वृत्तं व्याघातिमं 'भावादिम' इति इमप्रत्ययः, निर्व्याघातिमं—व्याघातिमान्निर्गतं स्वाभाविकमित्यर्थः, तत्र यन्निर्व्याघातिमं तज्जघन्येन पञ्च धनुःशतानि उत्कर्षतो द्वे गव्यूते, तत्र यद् व्याघातिमं तज्जघन्येन द्वे योजनशते 'षट्षष्टे' षट्षष्ट्यधिके, एतच्च निषधकूटादिकमपेक्ष्य वेदितव्यं, तथाहि—निषधपर्वतः स्वभावादप्युच्चैश्चत्वारि योजनशतानि तस्योपरि पञ्च योजनशतोच्चानि कूटानि, तानि च मूले पञ्च योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां मध्ये त्रीणि योजनशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि उपर्यर्द्धतृतीयानि योजनशतानि, तेषां चोपरितनभागसमश्रेणिप्रदेशे तथाजगत्स्वाभाव्यादष्टावष्टौ योजनान्युभयतोऽबाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति, ततो जघन्यतो व्याघातिममन्तरं द्वे योजनशते षट्षष्ट्यधिके भवति, उत्कर्षतो द्वादश योजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्वाचत्वारिंशदधिके, एतच्च मेरुमपेक्ष्य द्रष्टव्यं, तथाहि—मेरुर्दश योजनसहस्राणि मेरोश्चोभयतोऽबाधया एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि, ततः सर्वसङ्ख्यामीलने द्वादश योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्वाचत्वारिंशदधिके, क्वचित्सर्वत्र 'वाघाइए निव्वाघाइए' इति पाठस्तत्र व्याघातो—यथोक्तरूपोऽस्यास्तीति व्याघातिकम्, 'अतोऽनेकस्वरा'दिति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः, व्याघातिकान्निर्गतं निर्व्याघातिकमिति ॥ 'चंदस्स णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रस्य भदन्त! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य 'कति' कियत्सङ्ख्याका अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः,

तद्यथा—चन्द्रप्रभा १ 'दोसिणाभा' इति ज्योत्स्नाभा २ अर्चिर्माली ३ प्रभङ्करा ४ ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, 'तत्र' तासु चतसृषु अग्रमहिषीषु मध्ये एकैकस्या देव्याश्चत्वारि २ देवीसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः, किमुक्तं भवति ?—एकैकाऽग्रमहिषी चतुर्णां २ देवीसहस्राणां पट्टराज्ञी, एकैव सा इत्थम्भूताऽग्रमहिषी परिवारावसरे तथाविधां ज्योतिष्कराजचन्द्रदेवेच्छामुपलभ्य प्रभुरन्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं, स्वाभाविकानि पुनः 'एवमेव' उक्तप्रकारेणैव 'सपूर्वापरेण' पूर्वापरमीलनेन षोडश [ग्रन्थाग्रम् ११५००] देवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य भवन्ति, 'सेत्तं तुडिए' तदेतावत् 'तुटिकम्' अन्तःपुरम्, आह चूर्णिकृत्—'तुटिकमन्तःपुरमुपदिश्यते' इति ॥ 'पभू णं भंते !' इत्यादि, प्रभुर्भदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने 'तुटिकेन' अन्तःपुरेण सार्द्धं दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जमानः 'विहर्तुम्' आसितुम् ?, भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ॥ अत्रैव कारणं पृच्छति—'से केणट्ठेण'मित्यादि तदेव, भगवानाह—गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां माणवकचैत्यस्तम्भे वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु तेषु च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधानीगतसुधर्मासभायामिव द्रष्टव्यं, बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति यानि, सूत्रे क्लीबनिर्देशः प्राकृतत्वात्, चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य अर्चनीयानि पुष्पादिभिर्वन्दनीयानि विशिष्टैः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पूजनीयानि वस्त्रादिभिः सत्कारणीयानि आदरप्रतिपत्त्या सन्माननीयानि जिनोचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति पर्युपासनीयानि, 'तासिं पणिहाए' इति तेषां प्रणिधया तान्याश्रित्य नो प्रभुश्चन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने यावद्विहर्तुमिति । 'पभू णं गोयमा' इत्यादि, प्रभुर्गौतम ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां चन्द्रसिंहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृ-

भिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्ज्योतिषैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः 'महयाहये'त्यादि पूर्ववत् यावद्दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहर्त्तुमिति, न पुनः 'मैथुनप्रत्ययं' मैथुननिमित्तं दिव्यान् स्पर्शादीन् भुञ्जानो विहर्त्तुं प्रभुरिति ॥ 'सूरस्स णं भंते!' इत्यादि, सूरस्य भदन्त! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूर्यप्रभा आतपाभा अर्चिर्माली प्रभङ्करा। 'तत्थ णं एगमेगाए देवीए' इत्यादि चन्द्रवत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'नो चेव णं मेहुणवत्तियं' नवरं सूर्यावतंसके विमाने सूर्ये सिंहासने इति वक्तव्यं, शेषं तथैव ॥

चंदविमाणे णं भंते! देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, एवं जहा ठितीपए तहा भाणियव्वा जाव ताराणं ॥ (सू० २०५)

'चंदविमाणे णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रविमाने भदन्त! देवानां कियन्तं कालं स्थितिः?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन चतुर्भागपल्योपमं—चतुर्भागः पल्योपमस्य चतुर्भागपल्योपममर्द्धपिप्पलीवत्, अत्रापि चिरन्तनव्याकरणेऽयं समासः, यदिवा चतुर्भागमात्रं पल्योपमं चतुर्भागपल्योपममिति विशेषणसमासः पल्योपमस्य चतुर्भाग इत्यर्थः, उत्कर्षतः पल्योपमं वर्षशतसहस्राभ्यधिकं, चन्द्रविमाने हि चन्द्रदेव उत्पद्यते अन्ये च तत्सामानिकात्मरक्षादयः, तत्रात्मरक्षादीनां यथोक्ता जघन्या स्थितिः उत्कृष्टा चन्द्रमसां तत्सामानिकानां वा। 'चंदविमाणे णं भंते!' इत्यादि, चन्द्रविमाने भदन्त! देवीनां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन चतुर्भागपल्योपममुत्कर्षतः पल्योपमार्द्धं पञ्चाशता वर्षसहस्रैरभ्यधिकं। एवं सूर्यादिविमानविषयाण्यपि स्थितिसूत्राणि वा-

च्यानि, नवरं सूर्यविमाने देवानां जघन्यतश्चतुर्भागपल्योपममुत्कर्षतः पल्योपमं वर्षसहस्राभ्यधिकं, देवीनां जघन्यतश्चतुर्भागपल्योपममुत्कर्षतोऽर्द्धपल्योपमं पञ्चभिर्वर्षशतैरभ्यधिकं, ग्रहविमानदेवानां जघन्यतश्चतुर्भागपल्योपममुत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं, देवीनां उत्कृष्टमर्धपल्योपमं जघन्येन चतुर्भागपल्योपमं, नक्षत्रविमाने देवानां जघन्यतश्चतुर्भागपल्योपममुत्कर्षतोऽर्द्धपल्योपमं, देवीनां उत्कृष्टतोऽधिकचतुर्भागपल्योपमं जघन्येन चतुर्भागपल्योपमं, ताराविमाने जघन्येनाष्टभागपल्योपममुत्कर्षतश्चतुर्भागपल्योपमं, देवीनां जघन्यतोऽष्टभागपल्योपममुत्कर्षतः सातिरेकमष्टभागपल्योपममिति ॥

एतेसि णं भंते! चंदिमसूरियगहणक्खत्ततारारूवाणं कयरे२हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! चंदिमसूरिया एते णं दोण्णिवि तुल्ला सव्वत्थोवा संखेज्जगुणा णक्खत्ता संखेज्जगुणा गहा संखेज्जगुणाओ तारगाओ ॥ (सू० २०६) जोइसुद्देसओ समत्तो ॥

'एतेसि णं भंते!' इत्यादि, एतेषां भदन्त! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां कतरे कतरेभ्योऽल्पाः कतरे कतरेभ्यो बहुका वा? कतरे कतरैस्तुल्याः?, अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया, कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिकाः?, भगवानाह—गौतम! चन्द्रसूर्या एते द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रसूर्याणां समसङ्ख्याकत्वात्, शेषेभ्यो ग्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः, तेभ्यो नक्षत्राणि सङ्ख्येयगुणानि अष्टाविंशतिगुणत्वात्, तेभ्योऽपि ग्रहाः सङ्ख्येयगुणाः सातिरेकत्रिगुणत्वात्, तेभ्योऽपि ताराः सङ्ख्येयगुणाः प्रभूतकोटीकोटीगुणत्वात् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां चतुर्थप्रतिपत्तौ ज्योतिषोद्देशकः समाप्तः ॥

उक्ता ज्योतिषवक्तव्यता, सम्प्रति वैमानिकवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! वेमाणियाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता?, कहि णं भंते! वेमाणिया देवा परिवसंति?, जहा ठाणपदे तहा सव्वं भाणियव्वं णवरं परिसाओ भाणितव्वाओ जाव सुक्के, अन्नेसिं च बहूणं सोधम्मकप्पवासीणं देवाण य देवीण य जाव विहरंति ॥ (सू० २०७)

'कहि णं भंते! वेमाणियाण'मित्यादि, क भदन्त! वैमानिकानां देवानां विमानानि प्रज्ञप्तानि?, तथा क भदन्त! वैमानिका देवाः परिवसन्ति?, भगवानाह—गौतम! अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् रुचकोपलक्षितादिति भावः ऊर्द्ध्वं चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणामप्युपरि बहूनि योजनानि बहूनि योजनशतानि बहूनि योजनसहस्राणि बहूनि योजनशतसहस्राणि बह्वीर्योजनकोटीकोटीः ऊर्द्ध्वं दूरमुत्प्लुत्य—बुद्ध्या गत्वा, एतच्च सार्द्धरज्जूपलक्षणं, तथा चोक्तम्—"सोहम्मंमि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे। बंभंमि अद्धपंचम छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥ १ ॥ [सौधर्मे सार्धे सार्धे द्वे रज्जू माहेन्द्रे । ब्रह्मदेवलोके अर्धपञ्चमाः षड् अच्युते सप्त लोकान्ते ॥ १ ॥] 'एत्थ ण'मित्यादि, 'अत्र' एतस्मिन् सार्द्धरज्जूपलक्षिते क्षेत्रे ईषत्प्राग्भारादर्वाक् सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतग्रैवेयकानुत्तरेषु स्थानेषु 'अत्र' एतस्मिन् वैमानिकानां चतुरशीतिर्विमानावासशतसहस्राणि सप्तनवतिः सहस्राणि त्रयोविंशतिर्विमानानि ८४९७०२३ भवन्तीत्याख्यातानि, इयं च सङ्ख्या—"बत्तीसअट्ठवीसा बारसअट्ठ चउरो सयसहस्सा" इत्यादिसङ्ख्यापरिमीलनेन भावनीया ॥ 'ते णं विमाणा' इत्यादि, तानि विमानानि सर्वरत्नमयानि 'अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।"

‘एत्थ ण’मित्यादि, एतेषु विमानेषु बहवो वैमानिका देवाः परिवसन्ति, तद्यथा—सौधर्मा ईशाना यावद् ग्रैवेयका अनुत्तराः, एते च व्यपदेशास्तात्स्थ्यादवगन्तव्याः, यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पञ्चालाः, एते च कथम्भूताः ? इत्याह—‘ते ण’मित्यादि, ते सौधर्मादयोऽच्युतपर्यवसाना यथाक्रमं मृगमहिषवराहसिंहच्छगलदर्दुरहयगजपतिभुजगखड्गवृषभाङ्कविडिमप्रकटितचिह्नमुकुटाः, मृगादिरूपाणि प्रकटितानि चिह्नानि मुकुटे येषां ते तथेति भावः, तद्यथा—सौधर्मदेवा मृगरूपप्रकटितचिह्नमुकुटाः ईशानदेवा महिषरूपप्रकटितचिह्नमुकुटाः सनत्कुमारदेवा वराहरूपप्रकटितचिह्नमुकुटाः माहेन्द्रदेवाः सिंहरूपप्रकटितमुकुटचिह्नाः ब्रह्मलोकदेवाश्छगलरूपप्रकटितमुकुटचिह्नाः लान्तकदेवा दर्दुररूपप्रकटितमुकुटचिह्नाः शुक्रकल्पदेवा हयमुकुटचिह्नाः सहस्रारकल्पदेवा गजपतिमुकुटचिह्नाः आनतकल्पदेवा भुजगमुकुटचिह्नाः, प्राणतकल्पदेवाः खड्गमुकुटचिह्नाः, खड्गः चतुष्पदविशेष आटव्यः, आरणकल्पदेवा वृषभमुकुटचिह्नाः अच्युतकल्पदेवा विडिममुकुटचिह्नाः तथा प्रशिथिलवरमुकुटकिरीटधारिणः, ‘वरकुंडलुज्जोवियाणणा’ इति वराभ्यां कुण्डलाभ्यामुद्द्योतितं—भास्वरीकृतमाननं येषां ते वरकुण्डलोद्द्योतिताननाः, ‘मउडदित्तसिरया’ मुकुटेन दीप्तं शिरो येषां ते मुकुटदीप्तशिरसः रक्ताभा—रक्तवर्णाः, एतदेव सविशेषमाह—‘पउमपम्हगोरा’ पद्मपक्ष्मवत्—पद्मपत्रवद् गौराः पद्मपक्ष्मगौराः श्रेयांसः—परमप्रशस्याः शुभवर्णगन्धस्पर्शाः ‘उत्तमविकुर्विणः’ उत्तमं विकुर्वन्तीत्येवंशीला उत्तमविकुर्विणः, ‘विविहवत्थमल्लधारी’ विविधानि शुभात् शुभतराणि वस्त्राणि माल्यानि च धारयन्तीत्येवंशीला विविधवस्त्रमाल्यधारिणः महर्द्धिका महाद्युतयो महायशसो महाबला महानुभागा महासौख्याः तथा ‘हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया संगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउली कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं

दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा' इति प्रागुक्तासुरकुमारवन्नेतव्यम् ॥ 'ते णं तत्थ साणं साण'मित्यादि, ते वैमानिका देवाः शक्रादयोऽच्युतपर्यवसानास्तत्र स्वस्वकल्पे स्वेषां स्वेषां विमानावासशतसहस्राणां स्वेषां स्वेषां सामानिकसहस्राणां स्वेषां स्वेषां त्रायस्त्रिंशकानां स्वेषां स्वेषां लोकपालानां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां २ पर्षदां स्वेषां स्वेषामनीकानां स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनां स्वेषां स्वेषामात्मरक्षदेवसहस्राणां, अन्येषां च बहूनां देवानां देवीनां च 'आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महयरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंती'ति ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! सौधर्मकदेवानां विमानानि प्रज्ञप्तानि?, तथा क भदन्त! सौधर्मकल्पदेवाः परिवसन्ति?, भगवानाह—गौतम! 'जम्बुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरिमगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूणि जोयणाइं बहूणि जोयणसयाइं बहूणि जोयणसहस्साइं बहूणि जोयणसयसहस्साइं उड्ढं दूरं उप्पइत्ता' इति प्राग्वत्, 'एत्थ णं' 'अत्र' एतस्मिन् सार्द्धरज्जूपलक्षिते क्षेत्रे सौधर्मो नाम कल्पः प्रज्ञप्तः, स च प्राचीनापाचीनायत उदग्दक्षिणविस्तीर्णः अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितः मेरोर्दक्षिणतस्तस्य भावात्, 'अर्चिमाली' अर्चींषि—किरणास्तेषां माला अर्चिर्माला सा अस्यास्तीति अर्चिर्माली सर्वतः किरणमालापरिवृत इत्यर्थः, एतदेवोपमया द्रढयति—इङ्गालराशिवर्णाभिः प्रभाभिः पद्मरागादिसम्बन्धिनीभिर्जाज्वल्यमानतया देदीप्यमानाङ्गारराशिवर्णाभप्रभाणां अत्यन्तोत्कटतया साक्षादङ्गारराशिरिव ज्वलन्नवभासत इति भावः, असङ्ख्येया योजनकोटाकोटयः परिक्षेपेण सर्वात्मना रत्नमयोऽच्छः, यावत्करणात् 'सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे' इत्या-

दिपरिग्रहः ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, 'तत्थ ण'मिति पूर्ववत्, सौधर्मकल्पे द्वात्रिंशद् विमानावासशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः ॥ 'ते णं विमाणा' इत्यादि, तानि विमानानि सर्वात्मना रत्नमयानि अच्छानि यावत्प्रतिरूपाणि, अत्रापि यावत्करणात् 'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा' इत्यादिपरिग्रहः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां विमानानां बहुमध्ये पञ्चावतंसका—विमानावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'असोगवडिंसए' इति, पूर्वस्यां दिशि अशोकावतंसकः दक्षिणस्यां सप्तपर्णावतंसकः अपरस्यां चम्पकावतंसकः उत्तरस्यां चूतावतंसकः मध्ये तेषां सौधर्मावतंसकः ॥ 'ते णं वडेंसया' इत्यादि, ते पञ्चाप्यवतंसकाः सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः, अत्रापि यावत्करणात् 'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा' इत्यादिपरिग्रहः । 'एत्थ ण'मित्यादि, 'अत्र' एतेषु द्वात्रिंशच्छतसहस्रसंख्येषु विमानेषु बहवः सौधर्मकाः—सौधर्मा एव सौधर्मका देवाः परिवसन्ति 'महिड्ढिया जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणा' अत्र यावत्करणात् 'महायसा महाबला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा' इत्यादिप्रागुक्तपरिग्रहः, 'ते णं तत्थ साणं साणं विमाणाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं २ अणियाणं साणं २ अणियाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं जाव विहरंति' सुगमं ॥ 'सक्के य एत्थ' इत्यादि, अत्र—एतस्मिन् सौधर्मे कल्पे शक्रः—शकनात् शक्रो देवेन्द्रो देवराजः परिवसति, स च कथम्भूतः? इत्याह—'वज्जपाणिः' वज्रं पाणावस्य वज्रपाणिः, असुरपुरदारणात् पुरन्दरः, 'सयक्कऊ' इति शतं क्रतूनां—प्रतिमानां—अभिग्रहविशेषाणां श्रमणोपासकपञ्चमप्रतिमारूपाणां कार्त्तिकश्रेष्ठिभवापेक्षया यस्य स शतक्रतुः, 'सहस्सक्खे' इति सहस्रमक्ष्णां यस्यासौ सहस्राक्षः, इन्द्रस्य हि किल मन्त्रिणां पञ्च शतान्यात्मना सह परिपूर्णानि सन्ति तदीयानामक्ष्णामिन्द्रप्रयोजनव्यापृतत्वाद् इन्द्रसम्बन्धीनि विवक्षितानीति सहस्राक्षत्वं, 'मघवं' इति मघा—म-

हामेघास्ते यस्य वशे सन्ति स मघवान्, पाको नाम वलवान् रिपुः स शिष्यते—निराक्रियते येन स पाकशासनः, दक्षिणार्द्धलोकाधिपतिः मेरोर्दक्षिणतः सर्वस्यापि तदाभाव्यत्वात्, द्वात्रिंशद्विमानावासशतसहस्राधिपतिः, सौधर्मे कल्पे एतावतां विमानावासशतसहस्राणां भावात्, ऐरावणवाहनः, ऐरावणनाम्नो गजपतेस्तद्वाहनस्य भावात्, सुरेन्द्रः सौधर्मवासिनां सुराणां सर्वेषामपि तदाज्ञावर्त्तित्वात्, 'अरयंबरवत्थधरे' इति अरजांसि—रजोरहितानि स्वच्छतया अम्बरवद् अम्बराणि वस्त्राणि धारयतीति अरजोऽम्बरवस्त्रधरः, 'आलइयमालमउडे' इति माला च मुकुटश्च मालामुकुटं आलिङ्गितं—आविद्धं मालामुकुटं येन स आलिङ्गितमालामुकुटः, कृतकण्ठेमाल आविद्धशिरसिमुकुट इति भावः, **'नवहेमचारुचित्तचंचलकुण्डलविलिहिज्जमाणगंडे'** नवमिव—प्रत्यग्रमिव हेम यत्र ते नवहेमनी नवहेमभ्यां चारुचित्राभ्यां चञ्चलाभ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा, 'महिड्ढिए जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे' अत्र यावत्करणात् 'महज्जुईए महावले महायसे' इत्यादि पूर्वोक्तपरिग्रहः, सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां शक्रे सिंहासने **'से णं तत्थ बत्तीसाए'** इत्यादि स तत्र द्वात्रिंशतो विमानावासशतसहस्राणां चतुरशीतेः सामानिकसहस्राणां त्रयस्त्रिंशतस्त्रायस्त्रिंशकानां चतुर्णां लोकपालानामष्टानामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां चतसृणां चतुरशीतीनामात्मरक्षदेवसहस्राणां अन्येषां च बहूनां सौधर्मकल्पवासिनां वैमानिकानां देवानां देवीनां च 'आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ' अत्र यावत्करणात् 'पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्त'मित्यादि परिग्रहः ॥

सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरन्नो कति परिसाओ पन्नत्ताओ?, गोयमा! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—समिता चंडा जाता, अब्भिंतरिया समिया मज्झिमिया चंडा बाहिरिया जाता

॥ सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ?, मज्झिमियाए परि० तहेव बाहिरियाए पुच्छा, गोयमा! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ मज्झिमियाए परिसाए चउदस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरियाए परिसाए सोलस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तहा अब्भिंतरियाए परिसाए सत्त देवीसयाणि मज्झिमियाए छच्च देवीसयाणि बाहिरियाए पंच देवीसयाणि पन्नत्ताइं ॥ सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? एवं मज्झिमियाए बाहिरियाएवि, गोयमा! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि पलिओवमाइं ठिती, पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए देवाणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, देवीणं ठिती, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता मज्झिमियाए दुन्नि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो सो चेव जहा भवणवासीणं ॥ कहि णं भंते! ईसाणकाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता? तहेव सव्वं जाव ईसाणे एत्थ देविंदे देव० जाव विहरति। ईसाणस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—समिता चंडा जाता, तहेव सव्वं णवरं अब्भिंतरियाए परिसाए दस देवसा-

हस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ, बाहिरियाए चउद्दस देवसाहस्सीओ, देवीणं पुच्छा, अब्भितरियाए णव देवीसता पण्णत्ता मज्झिमियाए परिसाए अट्ठ देवीसता पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए सत्त देविसता पण्णत्ता, देवाणं० ठिती पं० ?, अब्भितरियाए परिसाए देवाणं सत्त पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता मज्झिमियाए छ पलिओवमाइं बाहिरियाए पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। देवीणं पुच्छा, अब्भितरियाए साइरेगाइं पंच पलिओवमाइं मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए तिण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो तहेव भाणियव्वो ॥ सणंकुमाराणं पुच्छा तहेव ठाणपदगमेणं जाव सणंकुमारस्स तओ परिसाओ समिताई तहेव, णवरिं अब्भितरियाए परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं ठिती अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता मज्झिमियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो सो चेव ॥ एवं माहिंदस्सवि तहेव तओ परिसाओ णवरिं अब्भितरियाए परिसाए छद्देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए

परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, ठिती देवाणं अब्भितरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं सत्त य पलिओ० ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए पंच सागरोवमाइं छच्च पलिओवमाइं, बाहिरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं पंच य पलिओवमाइं ठिती पं० तहेव सव्वेसिं इंदाण ठाणपयगमेणं विमाणाणि वुच्चा ततो पच्छा परिसाओ पत्तेयं २ वुच्चति ॥ बंभस्सवि तओ परिसाओ पण्णत्ताओ अब्भितरियाए चत्तारि देवसाहस्सीओ मज्झिमियाए छ देवसाहस्सीओ बाहिरियाए अट्ठ देवसाहस्सीओ, देवाणं ठिती अब्भितरियाए परिसाए अद्धणवमाइं सागरोवमाइं पंच य पलिओवमाइं मज्झिमियाए परिसाए अद्धनवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं बाहिरियाए अद्धनवमाइं सागरोवमाइं तिण्णि य पलिओवमाइं अट्ठो सो चेव ॥ लंतगस्सवि जाव तओ परिसाओ जाव अब्भितरियाए परिसाए दो चेव साहस्सीओ मज्झिमियाए चत्तारि देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरियाए छद्देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, ठिती भाणियव्वा—अब्भितरियाए परिसाए बारस सागरोवमाइं सत्त पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए बारस सागरोवमाइं छच्च पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए बारस सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता ॥ महासुक्कस्सवि जाव तओ परिसाओ जाव अब्भितरियाए एगं देवसहस्सं मज्झिमियाए दो देवसा-

हस्सीओ पन्नत्ताओ बाहिरियाए चत्तारि देवसाहस्सीओ, अब्भिंतरियाए परिसाए अद्धसोलस सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं मज्झिमियाए अद्धसोलस सागरोवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं बाहिरियाए अद्धसोलस सागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं अट्ठो सो चेव ॥ सहस्सारे पुच्छा जाव अब्भिंतरियाए परिसाए पंच देवसया मज्झिमियाए परि० एगा देवसाहस्सी बाहिरियाए दो देवसाहस्सीओ पन्नत्ता ठिती अब्भिंतरियाए अद्धट्ठारस सागरोवमाइं सत्त पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता एवं मज्झिमियाए अद्धट्ठारस छप्पलिओवमाइं बाहिरियाए अद्धट्ठारस सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं अट्ठो सो चेव ॥ आणयपाणयस्सवि पुच्छा जाव तओ परिसाओ णवरि अब्भिंतरियाए अड्ढाइज्जा देवसया मज्झिमियाए पंच देवसया बाहिरियाए एगा देवसाहस्सी ठिती अब्भिंतरियाए एगूणवीस सागरोवमाइं पंच य पलिओवमाइं एवं मज्झि० एगोणवीस सागरोवमाइं चत्तारि य पलिओवमाइं बाहिरियाए परिसाए एगूणवीसं सागरोवमाइं तिण्णि य पलिओवमाइं ठिती अट्ठो सो चेव ॥ कहि णं भंते! आरणअच्चुयाणं देवाणं तहेव अच्चुए सपरिवारे जाव विहरति, अच्चुयस्स णं देविंदस्स तओ परिसाओ पण्णत्ताओ अब्भिंतरपरि० देवाणं पणवीसं सयं मज्झिम० अड्ढाइज्जा सया बाहिरय० पंचसया अब्भिंतरियाए एक्कवीसं सागरोवमा सत्त य पलिओवमाइं मज्झि० एक्कवीससागर० छप्पलि० बाहिर० एकवीसं सागरो०

पंच य पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता ॥ कहि णं भंते! हेट्ठिमगेवेज्जगाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा परिवसंति? जहेव ठाणपए तहेव, एवं मज्झिमगेवेज्जा उवरिमगेविज्जगा अणुत्तरा य जाव अहमिंदा नामं ते देवा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ (सू० २०८) ॥ पढमो वेमाणियउद्देसओ ॥

'सक्कस्स णं भंते!' इत्यादि, शक्रस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कति पर्षदः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! तिस्रः पर्षदः प्र-
ज्ञप्ताः, तद्यथा— शमिका चण्डा जाता, अभ्यन्तरिका शमिका मध्यमिका चण्डा बाह्या जाता ॥ 'सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स
देवरण्णो अब्भितरियाए' इत्यादि प्रश्नषट्कं सुप्रतीतं, भगवानाह—गौतम! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि द्वादश
देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि मध्यमिकायां चतुर्दश देवसहस्राणि बाह्यायां षोडश देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि सप्त देवीशतानि
मध्यमिकायां षड् देवीशतानि बाह्यायां पञ्च देवीशतानि ॥ 'सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरन्नो अब्भितरियाए परिसाए दे-
वाणं केवइ कालं' मित्यादि प्रश्नषट्कं सुप्रतीतं, भगवानाह—गौतम! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्च पल्योप-
मानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, मध्यमिकायां चत्वारि पल्योपमानि, बाह्यायां पर्षदि त्रीणि पल्योपमानि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां
त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, मध्यमिकायां द्वे पल्योपमे, बाह्यायामेकं पल्योपमं ॥ 'से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति सक्कस्स णं
देविंदस्स देवरन्नो तओ परिसाओ' इत्यादि सकलमपि सूत्रं चमरवक्तव्यतायामिव भावनीयम् ॥ 'कहि णं भंते! ईसाणगदेवाणं
विमाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! ईसाणगदेवा परिवसंति' इत्यादि सर्वं सौधर्मवद्वक्तव्यं नवरं 'मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं'—

तथा 'अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं' तथा पञ्चावतंसकाः—पूर्वस्यामङ्कावतंसको दक्षिणस्यां स्फटिकावतंसकः
अपरस्यां रजतावतंसकः उत्तरस्यां जातरूपावतंसकः मध्ये ईशानावतंसकः, तथा शूलपाणिर्वृषभवाहनः, तथाऽशीतेः सामानिकस-
हस्राणां चतसृणामशीतीनामात्मरक्षदेवसहस्राणां, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि दश देवसहस्राणि मध्यमिकायां द्वादश बाह्यायां चतुर्दश,
तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि नव देवीशतानि मध्यमिकायामष्टौ देवीशतानि बाह्यायां सप्त देवीशतानि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि दे-
वानां सप्त पल्योपमानि मध्यमिकायां षट् बाह्यायां पञ्च, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां पञ्च पल्योपमानि मध्यमिकायां चत्वारि
बाह्यायां त्रीणि, शेषं सर्वं शक्रवत् ॥ 'कहि णं भंते! सणंकुमाराणं देवाणं विमाणा पन्नत्ता?, कहि णं भंते! सणंकुमारा देवा परि-
वसंति?' इति पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! 'सोहम्मस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खि सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं
बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूईओ जोयणकोडीओ बहूईओ जोयणकोडाकोडिओ उड्ढं दूरं वीइवइत्ता एत्थ णं
सणंकुमारे नामं कप्पे पन्नत्ते' इति पाठसिद्धं, नवरं 'सपक्खं सपडिदिसि' समानाः पक्षाः—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपाः पार्श्वा यस्मिन्
दूरमुत्पतने तत् सपक्षं 'समानस्य धर्मादिषु चे'ति समानस्य सभावः, तथा समानाः प्रतिदिशो—विदिशो यत्र तत् सप्रतिदिक् ।
'पाईणपडीणायते उईणदाहिणविच्छिण्णे' इत्यादि सौधर्मकल्पवन्निरवशेषं वक्तव्यं, नवरं 'बारस विमाणावाससयसहस्सा भवंतीति म-
क्खाय'मिति वक्तव्यं, तथा पञ्चानामवतंसकानां मध्ये चत्वारस्त एवाशोकावतंसकादयो मध्ये सनत्कुमारावतंसकः, अग्रमहिष्यो न व-
क्तव्यास्तत्र परिगृहीतदेवीनामसम्भवात्, तथा 'सणंकुमारे कप्पे सणंकुमारवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सणंकुमारंसि सीहास-
णंसि से णं तत्थ बारसण्हं विमाणावाससयसहस्साणं बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं' तथा 'चउण्हं बावत्तराणं आयरक्खदेवसा-

हस्सीणं' तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षद्यष्टौ देवसहस्राणि मध्यमिकायां दश बाह्यायां द्वादश, देवीपर्षदो न वक्तव्याः, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः मध्यमिकायामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमानि बाह्यायामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि त्रीणि पल्योपमानि, शेषं शक्रवत् ॥ "कहि णं भंते! माहिंदगदेवाणं विमाणा पन्नत्ता?, कहि णं भंते! माहिंदगदेवा परिवसंति?, गोयमा! ईसाणस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं माहिंदे कप्पे पण्णत्ते' इति पूर्ववत्, 'पाईणपडीणायए उईणदाहिणविच्छिन्ने' इत्यादि सर्वं शेषं सनत्कुमारवन्निरवशेषं वक्तव्यं, नवरमत्राष्टौ विमानावासशतसहस्राणि, अवतंसकाश्चत्वार ईशानवत्, तद्यथा—अङ्कावतंसकः स्फटिकावतंसको रजतावतंसको जातरूपावतंसको मध्ये माहेन्द्रावतंसकः। तथाऽऽधिपत्यचिन्तायाम् 'अट्ठण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं सत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं' इति, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि षड् देवसहस्राणि मध्यमिकायामष्टौ देवसहस्राणि बाह्यायां दश अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि, शेषं सर्वं यथा सनत्कुमारस्य ॥ 'कहि णं भंते! बंभलोगदेवाणं विमाणा पन्नत्ता? कहि णं भंते! बंभलोगदेवा परिवसंति?, गोयमा! सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पा उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं बंभलोगे नामं कप्पे पन्नत्ते पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिन्ने पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए अच्चिमाली इंगालरासिवण्णाभे' इति पूर्ववद्भावनीयं शेषं यथा सनत्कुमारस्य तथा वक्तव्यं, नवरमत्र चत्वारि विमानावासशतसहस्राणि, अवतंसका अपि चत्वारस्तथैव, तद्यथा—अशोकावतंसकः सप्तपर्णावतंसकः चम्पकावतंसकः चूतावतंसकः मध्ये ब्रह्मलोकावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायामपि 'चउण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य सट्ठीणमायर-

क्खदेवसाहस्सीण'मिति, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि चत्वारि देवसहस्राणि मध्यमिकायां षड् देवसहस्राणि बाह्यायामष्टौ देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धनवमानि सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः मध्यमिकायां पर्षदि अर्द्धनवमानि सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमानि बाह्यायामर्द्धनवमानि सागरोपमाणि त्रीणि च पल्योपमानि, शेषं यथा सनत्कुमारस्य ॥ 'कहि णं भंते! लंतगलोगदेवाणं विमाणा पन्नत्ता? कहि णं भंते! लंतगदेवा परिवसंति?, गो०! बंभलोयस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं लंतए नामं कप्पे पन्नत्ते पाईणपडिणायते उदीणदाहिणविच्छिण्णे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए अच्चिमाली' इत्यादि ब्रह्मलोकवत् नवरमत्र पञ्चाशद्विमानावाससहस्राणि वक्तव्यानि, अवतंसकाश्चत्वार ईशानवत्, तद्यथा—अङ्कावतंसकः स्फटिकावतंसकः रजतावतंसकः जातरूपावतंसकः मध्ये लन्तकावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायां 'पण्णासाए विमाणावाससयसहस्साणं पण्णासाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य पण्णासाणमायरक्खदेवसाहस्सीणं' तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि द्वे देवसहस्रे मध्यमिकायां चत्वारि बाह्यायां षट्, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां द्वादश सागरोपमाणि सप्त च पल्योपमानि स्थितिः मध्यमिकायां द्वादश सागरोपमाणि षट् च पल्योपमानि बाह्यायां द्वादश सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि ॥ 'कहि णं भंते! महासुक्कगदेवाणं विमाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! महासुक्कगदेवा परिवसन्ति?, गोयमा! लंतगकप्पस्स उवरिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं महासुक्कनामे कप्पे पन्नत्ते पाईणपडिणायते उदीणदाहिणविच्छिण्णे पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिते' इत्यादि सर्वं ब्रह्मलोकवत्, नवरमत्र चत्वारिंशद् विमानावाससहस्राणि वक्तव्यानि, अवतंसकाश्चत्वारस्तथैव, तद्यथा—अशोकावतंसकः सप्तपर्णावतंसकः चम्पकावतंसकः चूतावतंसकः मध्ये शुक्रावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायां 'चत्तालीसाए विमाणावाससहस्साणं चत्तालीसाए सामाणियसाहस्सीणं

चउण्हं चत्तालीसाणमायरक्खदेवसाहस्सीण'मिति, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि एकं देवसहस्रं मध्यमिकायां द्वे देवसहस्रे बाह्यायां चत्वारि देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धषोडश सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः मध्यमिकायां षोडश सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमानि बाह्यायामर्द्धषोडश सागरोपमाणि त्रीणि पल्योपमानि शेषं पूर्ववत् ॥ 'कहि णं भंते! सहस्सारदेवाणं विमाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! सहस्सारदेवा परिवसंति?, गोयमा! महासुक्कस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं सहस्सारे नामं कप्पे पन्नत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिन्ने पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए' इत्यादि ब्रह्मलोकवत् नवरमत्र षड् विमानावाससहस्राणि वक्तव्यानि, अवतंसका एवम्—अङ्कावतंसकः स्फटिकावतंसकः रजतावतंसकः जातरूपावतंसकः मध्ये सहस्रारावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायां 'छण्हं विमाणावाससहस्साणं तीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं तीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं' तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्च देवशतानि मध्यमिकायामेकं देवसहस्रं बाह्यायां द्वे देवसहस्रे, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां सार्द्धाष्टादशसागरोपमाणि सप्त च पल्योपमानि मध्यमिकायां पर्षदि अष्टादश सागरोपमाणि षट् च पल्योपमानि बाह्यायामर्द्धाष्टादशसागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि शेषं पूर्ववत् ॥ 'कहि णं भंते! आणयपाणयनामे दुवे कप्पा पण्णत्ता? कहि णं भंते! आणयपाणयगा देवा परिवसंति?, गोयमा! सहस्सारकप्पस्स उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं आणयपाणयनाम दुवे कप्पा पन्नत्ता पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली इंगालरासिप्पभा' इत्यादि सनत्कुमारवत्, नवरं 'तत्थ णं आणयपाणयदेवाणं चत्तारि विमाणावाससया भवंतीति मक्खाय'मिति वक्तव्यं, अवतंसकाः अशोकावतंसकः सप्तपर्णावतंसकः चम्पकावतंसकः चूतावतंसकः मध्ये प्राणतावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायां 'च-

उण्हं विमाणावाससयाणं वीसाए सामाणियसाहस्सीणं असीए आयरक्खदेवसाहस्सीणं' तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धतृतीयानि देवशतानि मध्यमिकायां पञ्च देवशतानि बाह्यायामेकं देवसहस्रं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धैकोनविंशतिः सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः मध्यमिकायामर्द्धैकोनविंशतिः सागरोपमाणि चत्वारि च पल्योपमानि बाह्यायामर्द्धैकोनविंशतिः सागरोपमाणि त्रीणि च पल्योपमानि शेषं पूर्ववत् ॥ 'कहि णं भंते! आरणअच्चुयानामं दुवे कप्पा पण्णत्ता? कहि णं भंते! आरणअच्चुयगा देवा परिवसंति?, गोयमा! आणयपाणयाणं कप्पाणं उवरिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं आरण-अच्चुयानामं दुवे कप्पा पन्नत्ता पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली इंगालरासिवण्णाभा' इत्यादि पूर्ववत्, नवरमर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वं प्रत्येकापेक्षया मेरोर्दक्षिणोत्तरप्रविभागेनावस्थानात्, समुदितौ तु परिपूर्णचन्द्रसंस्थानौ द्रष्टव्यौ, तथा त्रीणि विमानावासशतानि वक्तव्यानि, अवतंसका इमे—अशोकावतंसकः स्फटिकावतंसकः रजतावतंसकः जातरूपावतंसकः मध्येऽच्युतावतंसकः, आधिपत्यचिन्तायां 'तिण्हं विमाणावाससयाणं दसण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तालीसाए आयरक्खदेव-साहस्सीणं' तथा चात्र विमानावाससङ्ग्रहणिगाथे—"बत्तीस १ ट्ठावीसा २ बारस ३ अट्ठ ४ चउरो सयसहस्सा ५ । पन्ना ६ चत्तालीसा ७ छच्च सहस्सा सहस्सारे ८ ॥ १ ॥ आणयपाणयकप्पे चत्तारि सयाऽऽरणच्चुए तिन्नि । सत्त विमाणसयाइं चउसुवि एएसु कप्पेसु ॥ २ ॥" सामानिकसङ्ग्रहणिंगाथा—"चउरासीई असीई बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य । पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्सा ॥ १ ॥" तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्चविंशं देवशतं मध्यमिकायामर्द्धतृतीयानि देवशतानि बाह्यायां पञ्च देवशतानि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामेकविंशतिः सागरोपमाणि सप्त च पल्योपमानि मध्यमिकायां पर्षदि एकविंशतिः सागरोपमाणि

षट् च पल्योपमानि वाह्यायामेकविंशतिः सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि, शेषं पूर्ववत् ॥ 'कहि णं भंते! हेट्ठिमगेवेज्जगाणं देवाणं विमाणा पन्नत्ता? कहि णं भंते! हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा परिवसंति?, गोयमा! आरणअच्चुयाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं जाव उड्ढं दूरं उप्पइत्ता एत्थ णं हेट्ठिमगेवेज्जगाणं देवाणं तओ हेट्ठिमगेवेज्जविमाणा पण्णत्ता पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिता अच्चिमाली भासरासिवण्णाभा असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेण सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा, तत्थ णं हेट्ठिमगेवेज्जगाणं देवाणं एक्कारसुत्तरे गेविज्जविमाणावाससए पन्नत्ते, ते णं विमाणा अच्छा जाव पडिरूवा, तत्थ णं हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा परिवसंति' पाठसिद्धं, 'सव्वे समिड्ढिया' इत्यादि सर्वे–निरवशेषाः समा ऋद्धिर्येषां ते समर्द्धिकाः, एवं सर्वे समद्युतिकाः सर्वे समबलाः सर्वे समयशसः सर्वे समानुभागाः सर्वे समसौख्याः, अनिन्द्रा–न विद्यते इन्द्रः–अधिपतिर्येषां ते अनिन्द्राः, अप्रेषा–न विद्यते प्रेषा–प्रेष्यत्वं येषां ते अप्रेषाः, न विद्यते पुरोहितः–शान्तिकर्मकारी येषामशान्तेरभावात्ते अपुरोहिताः, किंरूपाः पुनस्ते? इत्याह–अहमिन्द्रा नाम ते देवगणाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ एवं मध्यमग्रैवेयकसूत्रमुपरितनग्रैवेयकसूत्रमपि भावनीयं, नवरमियं विमानसङ्ख्यासङ्ग्रहणिः—

"एक्कारसुत्तरं हिट्ठिमेसु १११ सत्तुत्तरं च मज्झिमए १०७। सयमेगं उवरिमए १०० पंचेव अणुत्तरविमाणा ५ ॥ १ ॥" 'कहि णं भंते! अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं विमाणा पन्नत्ता? कहि णं भंते! अणुत्तरोववाइया देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूणि जोयणाइं बहूणि जोयणसयाणि जाव बहूईओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगसुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयकप्पे तिन्नि

य अट्ठारसुत्तरे गेवेज्जगविमाणावाससए वीइवइत्ता तेण परं दूरं गया नीरया निम्मला वितिमिरा विसुद्धा पंचदिसि पंच अणुत्तरा महइ-महालया विमाणा पन्नत्ता, तंजहा—विजये वैजयंते जयंते अपराजिते सव्वट्ठसिद्धे' इदं पाठसिद्धं, नवरं 'तिन्नि अट्ठारसुत्तरे' इति त्रीणि अष्टादशोत्तराणि विमानावासशतानि, तत्रैकादशोत्तरं शतमधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटेषु सप्तोत्तरं शतं मध्यमग्रैवेयकेषु परिपूर्णं शत-मुपरितनग्रैवेयकप्रस्तटेषु, सर्वसङ्ख्यया भवन्ति त्रीणि अष्टादशोत्तराणि, 'नीरजांसि' आगन्तुकरजोविरहात् 'निर्मलानि' स्वाभाविक-मलाभावात् 'वितिमिराणि' रत्नप्रभावितानप्रभावेन सर्वासु दिक्षु विदिक्षु चापहततमस्काण्डत्वात् 'विशुद्धानि' कचिदपि कलङ्कलेश-स्याप्यसम्भवात्, 'पंचदिसि' इति पञ्च पूर्वदक्षिणापरोत्तरमध्यमरूपा दिशः समाहृताः पञ्चदिक् तस्मिन्, तत्र पूर्वस्यां दिशि विजयं दक्षिणस्यां वैजयन्तं पश्चिमायां जयन्तं उत्तरस्यामपराजितं मध्ये सर्वार्थसिद्धम्, 'ते णं विमाणा' इत्यादि पूर्ववत् यावत् 'अहमिंदा नामं ते देवगणा पन्नत्ता समणाउसो!' ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां चतुर्थप्रतिपत्तौ वैमानिकाधिकारे प्रथमो वैमानिकोद्देशकः समाप्तः ॥

सम्प्रति द्वितीयो वक्तव्यस्तत्रेदं सूत्रम्—

सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु विमाणपुढवी किंपइट्ठिया पण्णत्ता?, गोयमा! घणोदहिपइट्ठिया। सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु विमाणपुढवी किंपइट्ठिया पण्णत्ता?, गोयमा! घणवायपइट्ठिया पण्णत्ता। बंभलोए णं भंते! कप्पे विमाणपुढवीणं पुच्छा, घणवायपइट्ठिया पण्णत्ता। लंतए णं भंते! पुच्छा, गोयमा! तदुभयपइट्ठिया। महासुक्कसहस्सारेसुवि तदुभयपइट्ठिया। आणय जाव

अच्चुएसु णं भंते! कप्पेसु पुच्छा, ओवासंतरपइट्ठिया । गेविज्जविमाणपुढवीणं पुच्छा, गोयमा! ओवासंतरपइट्ठिया । अणुत्तरोववाइयपुच्छा ओवासंतरपइट्ठिया ॥ (सू० २०९)

'सोहम्मीसाणेसु णं भंते' इत्यादि, सौधर्मेशानयोः, सूत्रे द्विवचनेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्, उक्तञ्च—"बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीएँ भन्नइ चउत्थी । जह हत्था तह पाया नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं ॥ १ ॥" [बहुवचनेन द्विवचनं षष्ठीविभक्त्या भण्यते चतुर्थी । यथा हस्तौ तथा पादौ नमोऽस्तु देवाधिदेवेभ्यः ॥ १ ॥] भदन्त! कल्पयोर्विमानपृथिवी 'किंप्रतिष्ठिता' कस्मिन् प्रतिष्ठिता—किमाश्रया किमाधारेत्यर्थः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! घनोदधिप्रतिष्ठिता प्रज्ञप्ता, एवं सनत्कुमारमाहेन्द्रेषु घनवातप्रतिष्ठिता, ब्रह्मलोकेऽपि घनवातप्रतिष्ठिता, लान्तके 'तदुभयप्रतिष्ठिता' घनोदधिघनवातप्रतिष्ठिता, महाशुक्रसहस्रारयोरपि तदुभयप्रतिष्ठिता, आनतप्राणतारणाच्युतेष्ववकाशान्तरप्रतिष्ठिता—आकाशप्रतिष्ठिता, एवं ग्रैवेयकविमानपृथिवी अनुत्तरविमानपृथिवी च, उक्तञ्च—"घणोदहिपइट्ठाणा सुरभवणा दोसु होंति कप्पेसु । तिसु वायपइट्ठाणा तदुभयपइट्ठिया तीसु ॥ १ ॥ तेण परं उवरिमगा आगासंतरपइट्ठिया सव्वे । एस पइट्ठाणविही उड्ढं लोए विमाणाणं ॥ २ ॥" अधुना पृथिवीबाहल्यप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणकप्पेसु विमाणपुढवी केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ता?, गोयमा! सत्तावीसं जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता, एवं पुच्छा, सणंकुमारमाहिंदेसु छव्वीसं जोयणसयाइं । बंभलंतए पंचवीसं । महासुक्कसहस्सारेसु चउवीसं । आणयपाणयारणाच्चुएसु तेवीसं सयाइं । गेविज्जविमाणपुढवी बावीसं । अणुत्तरविमाणपुढवी एक्कवीसं जोयणसयाइं बाहल्लेणं ॥ (सू० २१०)

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केवइयं उड्ढं उच्चत्तेणं?, गोयमा! पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। सणंकुमारमाहिंदेसु छजोयणसयाइं, बंभलंतएसु सत्त, महासुक्कसहस्सारेसु अट्ठ, आणयपाणएसु ४ नव गेवेज्जविमाणाणं भंते! केवइयं उड्ढं उ०, दस जोयणसयाइं, अणुत्तरविमाणाणं एक्कारस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ॥ (सू० २११) सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा किंसंठिया पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—आवलियापविट्ठा बाहिरा य, तत्थ णं जे ते आवलियापविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टा तंसा चउरंसा, तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा ते णं णाणासंठिया पण्णत्ता, एवं जाव गेविज्जविमाणा, अणुत्तरोववाइयविमाणा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टे य तंसा य ॥ (सू० २१२) सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केवतियं आयामविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य, जहा णरगा तहा जाव अणुत्तरोववातिया संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य, तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे से जंबुद्दीवप्पमाणे असंखेज्जवित्थडा असंखेज्जाइं जोयणसयाइं जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! विमाणा कतिवण्णा पन्नत्ता?, गोयमा! पंचवण्णा पण्णत्ता, तंजहा—किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला, सणंकुमारमाहिंदेसु चउवण्णा नीला जाव सुक्किल्ला, बंभलोगलंतएसुवि तिवण्णा

लोहिया जाव सुक्किल्ला, महासुक्कसहस्सारेसु दुवण्णा—हालिद्दा य सुक्किल्ला य, आणयपाणता-
रणच्चुएसु सुक्किल्ला, गेविज्जविमाणा सुक्किल्ला, अणुत्तरोववातियविमाणा परमसुक्किल्ला वण्णेणं
पण्णत्ता ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केरिसया पभाए पण्णत्ता?, गोयमा! णि-
च्चालोआ णिच्चुज्जोया सयं पभाए पण्णत्ता जाव अणुत्तरोववातियविमाणा णिच्चालोआ णिच्चु-
ज्जोता सयं पभाए पण्णत्ता॥ सोधम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणा केरिसया गंधेणं पण्णत्ता?,
गोयमा! से जहा नामए—कोट्ठपुडाण वा जाव गंधेणं पण्णत्ता, एवं जाव एत्तो इट्ठयरागा चेव
जाव अणुत्तरविमाणा ॥ सोहम्मीसाणेसु विमाणा केरिसया फासेणं पण्णत्ता?, से जहा णा-
मए—आइणेति वा रूतेति वा सव्वो फासो भाणियव्वो जाव अणुत्तरोववातियविमाणा ॥
सोहम्मीसाणेसु णं भंते! (कप्पेसु) विमाणा केमहालिया पण्णत्ता?, गोयमा! अयण्णं जंबु-
दीवे २ सव्वदीवसमुद्दाणं सो चेव गमो जाव छम्मासे वीइवएज्जा जाव अत्थेगतिया विमाणा-
वासा नो वीइवएज्जा जाव अणुत्तरोववातियविमाणा अत्थेगतियं विमाणं वीतिवएज्जा अत्थे-
गतिए नो वीइवएज्जा ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! विमाणा किंमया पण्णत्ता?, गोयमा! सव्व-
रयणामया पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति,
सासया णं ते विमाणा दव्वट्ठयाए जाव फासपज्जवेहिं असासता जाव अणुत्तरोववातिया वि-

माणा ॥ सोहम्मीसाणेसु णं देवा कओहिंतो उववज्जंति?, उववातो नेयव्वो जहा वक्कंतीए तिरियमणुएसु पंचेंदिएसु संमुच्छिमवज्जिएसु, उववाओ वक्कंतीगमेणं जाव अणुत्तरो० ॥ सोहम्मीसाणेसु देवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति?, गोयमा! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, एवं जाव सहस्सारे, आणतादी गेवेज्जा अणुत्तरा य एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! देवा समए २ अवहीरमाणा २ केवतिएणं कालेणं अवहिया सिया?, गोयमा! तेणं असंखेज्जा समए २ अवहीरमाणा २ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया जाव सहस्सारो, आणतादिगेसु चउसुवि, गेवेज्जेसु अणुत्तरेसु य समए समए जाव केवतिकालेणं अवहिया सिया?, गोयमा! ते णं असंखेज्जा समए २ अवहीरमाणा पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागमेत्तेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिया ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवाणं केमहालया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा सरीरा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो उक्कोसेणं सत्त रयणीओ, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से जहण्णेणं अंगुलस संखेज्जतिभागो उक्कोसेणं जोयणसतसहस्सं, एवं एक्केक्का ओसारेत्ताणं जाव अणुत्तराणं एक्का रयणी,

गेविज्जणुत्तराणं एगे भवधारणिज्जे सरीरे उत्तरवेउव्विया नत्थि ॥ (सू० २१३) सोहम्मीसाणेसु णं देवाणं सरीरगा किंसंघयणी पण्णत्ता?, गोयमा! छण्हं संघयणाणं असंघयणी पण्णत्ता?, नेवट्ठि नेव छिरा नवि ण्हारू णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव ते तेसिं संघातत्ताए परिणमंति जाव अणुत्तरोववातिया ॥ सोहम्मीसाणेसु देवाणं सरीरगा किंसंठिता पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा सरीरा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठाणसंठिता पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता जाव अच्चुओ, अवेउव्विया गेविज्जणुत्तरा, भवधारणिज्जा समचउरंससंठाणसंठिता उत्तरवेउव्विया णत्थि ॥ (सू० २१४) सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसया वण्णेणं पन्नत्ता?, गोयमा! कणगत्तयरत्ताभा वण्णेणं पण्णत्ता । सणंकुमारमाहिंदेसु णं पउमपम्हगोरा वण्णेणं पण्णत्ता । बंभलोगे णं भंते! गोयमा! अल्लमधुगवण्णाभा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं जाव गेवेज्जा, अणुत्तरोववातिया परमसुक्किल्ला वण्णेणं पन्नत्ता ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवाणं सरीरगा केरिसया गंधेणं पण्णत्ता?, गोयमा! से जहा णामए—कोट्ठपुडाण वा तदेव सव्वं जाव मणामतरता चेव गंधेणं पण्णत्ता जाव अणुत्तरोववाइया ॥ सोहम्मीसाणेसु देवाणं सरीरगा केरिसया फासेणं पण्णत्ता?, गोयमा! थिरमउयणिद्धसुकुमालच्छविफासेणं पण्णत्ता, एवं जाव अ-

णुत्तरोववातिया ॥ सोहम्मीसाणदेवाणं केरिसगा पुग्गला उस्सासत्ताए परिणमंति?, गोयमा! जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव ते तेसिं उस्सासत्ताए परिणमंति जाव अणुत्तरोववातिया, एवं आहारत्ताएवि जाव अणुत्तरोववातिया ॥ सोहम्मीसाणदेवाणं कति लेस्साओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! एगा तेउलेस्सा पण्णत्ता । सणंकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा, एवं बंभलोगेवि पम्हा, सेसेसु एक्का सुक्कलेस्सा, अणुत्तरोववातियाणं एक्का परमसुक्कलेस्सा ॥ सोहम्मीसाणदेवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी?, तिण्णिवि, जाव अंतिमगेवेज्जा देवा सम्मदिट्ठीवि मिच्छादिट्ठीवि सम्मामिच्छादिट्ठीवि, अणुत्तरोववातिया सम्मदिट्ठी णो मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी ॥ सोहम्मीसाणा किं णाणी अण्णाणी?, गोयमा! दोवि, तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणा णियमा जाव गेवेज्जा, अणुत्तरोववातिया नाणी नो अण्णाणी तिण्णि णाणा णियमा। तिविधे जोगे दुविहे उवयोगे सव्वेसिं जाव अणुत्तरा ॥ (सू० २१९)

'सोहम्मीसाणेसु ण'मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानपृथ्वी 'कियत्' किंप्रमाणा बाहल्येन प्रज्ञप्ता?, गौतम! सप्तविंशतिर्योजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्ता, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षड्विंशतिर्योजनशतानि वक्तव्यानि, ब्रह्मलोकलान्तकयोः पञ्चविंशतिः, महाशुक्रसहस्रारयोश्चतुर्विंशतिः, आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु त्रयोविंशतिः, ग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिः, अनुत्तरविमानेष्वेकविंशतिर्योजनशतानि ॥ सम्प्रति विमानानामुच्चैस्त्वपरिमाणं प्रतिपिपादयिषुराह—'सोहम्मीसाणेसु

'एवं भंते!' इत्यादि, इह विमानं महानगरकल्पं तस्य चोपरि वनखण्डप्राकाराः प्रासादादयः, तत्र पूर्वेण सूत्रकदम्बकेन विमानपृथिवीबाहल्यमुक्तं, अनेन प्रासादापेक्षया उच्चत्वमुच्यत इति गर्भः, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कियद् ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! पञ्च योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तानि, मूलप्रासादादीनां तत्र पञ्चयोजनशतोच्छ्रयप्रमाणत्वात्, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षड् योजनशतानि वक्तव्यानि, ब्रह्मलोकलान्तकयोः सप्त योजनशतानि, महाशुक्रसहस्रारयोरष्टौ योजनशतानि, आनतप्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु नव योजनशतानि, ग्रैवेयकेषु दश योजनशतानि, अनुत्तरेष्वेकादश योजनशतानि, सर्वत्रापि विमानानि बाहल्योच्चत्वमीलनेन द्वात्रिंशद्योजनशतानि, उपर्युपरि बाहल्य(ल्यहानिबद्ध)मुच्चैस्त्वस्य वृद्धिभावात्, उक्तञ्च—"सत्तावीससयाइं आदिमकप्पेसु पुढविबाहल्लं । एक्केक्कहाणि सेसे दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥ १ ॥ पंचसउच्चत्तेणं आदिमकप्पेसु होंति य विमाणा । एक्केक्कवुड्ढि सेसे दु दुगे य दुगे चउक्के य ॥२॥ गेवेज्जणुत्तरेसु एसेव कमो उ हाणिवुड्ढीए । एक्केक्कंमि विमाणा दोन्निवि मिलिया उ बत्तीसं ॥ ३ ॥" [सप्तविंशतिः शतानि आद्यकल्पयोः पृथ्वीबाहल्यं । एकैकहानिः शेषेषु द्वयोर्द्वयोश्च द्विके चतुष्के च ॥ १ ॥ ऊर्ध्वोच्चत्वेन पञ्च शतानि आद्यकल्पयोर्भवन्ति विमानानि । एकैकवृद्धिः शेषेषु द्वयोर्द्वयोर्द्वयोश्चतुष्के च ॥ २ ॥ ग्रैवेयकानुत्तरयोरेष एव क्रमो हानिवृद्ध्योः । एकैकस्मिन् विमानानि द्वावपि मीलयित्वा द्वात्रिंशच्छतानि ॥ ३ ॥] सम्प्रति संस्थाननिरूपणार्थमाह—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि किंसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आवलिकाप्रविष्टानि आवलिकाबाह्यानि च, तत्रावलिकाप्रविष्टानि नाम यानि पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु श्रेण्या व्यवस्थितानि, यानि पुनरावलिकाप्रविष्टानां प्राङ्गणप्रदेशे कुसुमप्रकर इव यतस्ततो विप्रकीर्णानि तान्यावलिकाबाह्यानि,

तानि पुष्पावकीर्णानीत्युच्यन्ते, पुष्पाणीव इतस्ततोऽवकीर्णानि—विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तिः, तानि च मध्यवर्त्तिनो विमानेन्द्रस्य दक्षिणतोऽपरत उत्तरतश्च विद्यन्ते न तु पूर्वस्यां दिशि, उक्तञ्च—"पुप्फावकिण्णगा पुण दाहिणतो पच्छिमेण उत्तरतो । पुव्वेण विमाणेंदस्स नत्थि पुप्फावकिण्णा उ ॥ १ ॥" 'तत्थ णं'मित्यादि, तत्रावलिकाप्रविष्टाऽऽवलिकाबाह्येषु मध्ये यानि तानि आवलिकाप्रविष्टानि तानि त्रिविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वृत्तानि त्र्यस्राणि चतुरस्राणि, इहावलिकाप्रविष्टानि प्रतिप्रस्तटं विमानेन्द्रकस्य पूर्वदक्षिणापरोत्तररूपासु चतसृषु दिक्षु श्रेण्या व्यवस्थितानि, विमानेन्द्रकश्च सर्वोऽपि वृत्तः, ततः पार्श्ववृत्तीनि चतसृष्वपि दिक्षु त्र्यस्राणि, तेषां पृष्ठतश्चतसृष्वपि दिक्षु चतुरस्राणि, तेषां पृष्ठतो वृत्तानि, ततोऽपि भूयोऽपि त्र्यस्राणि ततोऽपि चतुरस्राणीत्येवमावलिकापर्यन्तः, तत्र त्रिविधान्येवावलिकाप्रविष्टानि ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, तत्र यानि आवलिकाबाह्यानि तानि नानासंस्थानसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि, तथाहि—कानिचिन्नन्द्यावर्ताकाराणि कानिचित्स्वस्तिकाकाराणि कानिचित् खड्गाकाराणीत्यादि, उक्तञ्च—"आवलियासु विमाणा वट्टा तंसा तहेव चउरंसा । पुप्फावकिण्णगा पुण अणेगविहरूवसंठाणा ॥ १ ॥" एवं तावद्वाच्यं यावद् ग्रैवेयकविमानानि, तान्येव यावदावलिकाप्रविष्टानामावलिकाबाह्यानां च भावात्, परत आवलिकाप्रविष्टान्येव, तथा चाह—'अणुत्तरविमाणा णं भंते! विमाणा किंसंठिया पन्नत्ता?' इत्यादि प्रश्नसूत्रं, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—'वट्टे य तंसा य,' मध्यवर्त्तिसर्वार्थसिद्धाख्यं विमानं वृत्तं, शेषाणि विजयादीनि चत्वार्यपि त्र्यस्राणि, उक्तञ्च—"एगं वट्टं तंसा चउरो य अणुत्तरविमाणा ।" ॥ अधुनाऽऽयामविष्कम्भादिपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कियद् आयामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सङ्ख्येयविस्तृतान्यसङ्ख्येयविस्तृतानि च,

तत्र यानि तानि सङ्ख्येयविस्तृतानि सङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण, तत्र यानि तान्यसङ्ख्येयविस्तृतानि असङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण, एवं तावद्वाच्यं यावद् ग्रैवेयकविमानानि, तानि यावत् सङ्ख्येयविस्तृतानामसङ्ख्येयविस्तृतानां च बाहल्येन भावात् न तु परतः, तथा चाह—'**अणुत्तरविमाणे णं भंते! केवइयं आयामविक्खंभेण**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सङ्ख्येयविस्तृतानि असङ्ख्येयविस्तृतानि च, सर्वार्थसिद्धं सङ्ख्येयविस्तृतं शेषाण्यसङ्ख्येयविस्तृतानीति भावः, तत्र यत्तत्सङ्ख्येयविस्तृतं तद् एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेन त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां क्रोशत्रिकमष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि एकमर्द्धाङ्गुलमिति परिक्षेपेण, तत्र यानि तान्यसङ्ख्येयविस्तृतानि तान्यसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कंभेन असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि ॥ सम्प्रति वर्णप्रतिपादनार्थमाह—'**सोहम्मीसाणेसु णं भंते!**' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कतिवर्णानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! पञ्चवर्णानि, तद्यथा—कृष्णानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि शुक्लानि, एवं शेपसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि कृष्णवर्णाभावात्, ब्रह्मलोकलान्तकयोस्त्रिवर्णानि कृष्णनीलवर्णाभावात्, महाशुक्रसहस्रारयोर्द्विवर्णानि कृष्णनीलहारिद्रवर्णाभावात्, आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु एकवर्णानि, शुक्लवर्णस्यैकस्य भावात्, ग्रैवेयकविमानानि अनुत्तरविमानानि च परमशुक्लानि, उक्तञ्च—"सोहम्मि पंचवण्णा एक्कगहीणा उ जा सहस्सारे । दो दो तुल्ला कप्पा तेण परं पुंडरीयाइं ॥ १ ॥" सम्प्रति प्रभाप्रतिपादनार्थमाह—'**सोहम्मीसाणेसु णं**'मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि प्रभया प्रज्ञप्तानि?, कीदृशी तेषां प्रभा प्रज्ञप्तेति भावः, भगवानाह—गौतम! प्रभया प्रज्ञप्तानि '**नित्यालोकानि**'

नित्यमालोको—दर्शनं दृश्यमानता येषां तानि नित्यालोकानि न तु जातुचिदपि तमसाऽऽश्रीयन्त इति भावः, कथं नित्यालोकानि? इति हेतुद्वारेण विशेषणमाह—नित्योद्द्योतानि, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति हेतौ प्रथमा, ततोऽयमर्थः—यस्मान्नित्यं—सततमप्रतिघमुद्द्योतो—दीप्यमानता येषां तानि(तथा)ततो नित्यालोकानि, सततमुद्द्योतमानता च परसापेक्षाऽपि संभाव्येत यथा मेरोः स्फटिककाण्डस्य सूर्यरश्मिसम्पर्कतः, तत आह—स्वयंप्रभाणि स्वयं सूर्यादिप्रभावत् देदीप्यमानता येषां तानि तथा, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि ॥ सम्प्रति गन्धप्रतिपादनार्थमाह—**'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!'** इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि गन्धेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! 'से जहानामए कोट्ठपुडाण वा चंपकपुडाण वा दमणगपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा चंदणपुडाण वा उसीरपुडाण वा मरुयापुडाण वा जाईपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियापुडाण वा ण्हाणमल्लियापुडाण वा केयइपुडाण वा पाडलिपुडाण वा नोमालियापुडाण वा वासपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा कुट्टिज्जमाणाण वा रुविज्जमाणाण वा उक्कीरिज्जमाणाण वा विक्खरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा परिभाइज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाण वा ओराला मणुण्णा मणहरा घाणमणनिव्वुइकरा सव्वतो समंता गंधा अभिनिस्सरंति, भवे एयारूवे सिया?,' नो इणट्ठे समट्ठे, ते णं विमाणा एत्तो इट्ठतरा चेव कंततरा चेव मणुन्नतरा चेव मणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता' अस्य व्याख्या पूर्ववत्, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि ॥ सम्प्रति स्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—**'सोहम्मीसाणेसु ण'**मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि कीदृशानि स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! 'से जहानामए अइणेइ वा रूतेइ वा बूरेइ वा नवणीएइ वा हंसगब्भतूलीइ वा सिरीसकुसुमनिचए वा पवालकुसुमपत्तरासीइ वा, भवे एयारूवे?, नो इणट्ठे समट्ठे, ते णं

विमाणा इत्तो इट्ठतरा चेव कंततरा चेव मणुन्नतरा चेव मणामतरा चेव फासेणं पण्णत्ता' इति पूर्ववत्, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि ॥ सम्प्रति महत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि 'किंमहान्ति' किंप्रमाणमहत्त्वानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! 'अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे' इत्यादि जम्बूद्वीपवाक्यं परिपूर्णमेवं द्रष्टव्यं 'सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूपसंठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि य जोयणसयसहस्सा सोलस सहस्सा दो य सया सत्तावीसा तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते' इदं च पूर्ववद् भावनीयं, देवो नाम महर्द्धिको यावन्महाभागः यावत्करणात् महाद्युतिक इत्यादिपरिग्रहः, 'जाव इणामेव' 'इणामेवे'ति यावदिदानीमेव, अनेन चप्पुटिकात्रयानुकरणपुरस्सरमत्यन्तं कालस्तोकत्वं इतिकृत्वा केवलकल्पं—परिपूर्णं जम्बूद्वीपं द्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातैः—तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरित्यर्थः त्रिसप्तकृत्वः—एकविंशतिवारान् 'अनुपरिवर्त्त्य' प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्य 'हव्वं' शीघ्रमागच्छेत् 'से णं देवे' इत्यादि, स देवस्तया सकलदेवजनप्रसिद्धया पूर्वदृष्टान्तभावितया 'उत्कृष्टया' अतिशायिन्या 'तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए उद्धुयाए जवणाए छेयाए' अमीषां पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्, 'दिव्यया' देवगत्या व्यतिव्रजन् यावदेकाहं वा द्व्यहं वा उत्कर्षतः षण्मासान् व्यतिव्रजन् तत्रास्त्येककं विमानं यद् व्यतिव्रजेत् अस्त्येककं विमानं यन्न व्यतिव्रजेत्, 'एवंमहालिया णं' एतावंति महान्ति गौतम! विमानानि प्रज्ञप्तानि, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि ॥ 'सोहम्मीसाणेसु णं'मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्विमानानि किम्मयानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! सर्वात्मना रत्नमयानि अच्छानि यावत्प्रतिरूपाणि । 'तत्थ णं'-

मित्यादि, तत्र—तेषु विमानेषु बहवो जीवाः—पृथ्वीकायरूपाः पुद्गलाश्च 'अपक्रामन्ति' गच्छन्ति 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते, तथा 'चीयन्ते' चयमुपगच्छन्ति 'उपचीयन्ते' उपचयमुपगच्छन्ति, एतत् पुद्गलापेक्षं विशेषणं, पुद्गलानामेव चयोपचयधर्मकत्वात्, शाश्वतानि भदन्त! विमानानि द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्तानि?, वर्णपर्यायै रसपर्यायैर्गन्धपर्यायैः स्पर्शपर्यायैरशाश्वतानि प्रज्ञप्तानि, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरविमानानि ॥ 'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कुतो योनेरुद्धृत्योत्पद्यन्ते? किं नैरयिकेभ्यः? इत्यादि यथा 'व्युत्क्रान्तौ' व्युत्क्रान्त्याख्ये षष्ठे पदे प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते भूयान् हि स ग्रन्थः ॥ सम्प्रति कियन्त एकस्मिन् समये उत्पद्यन्ते? इति निरूपणार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवा एकस्मिन् समये, सूत्रे तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्, कियन्त उत्पद्यन्ते?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन एको द्वौ वा त्रयो वा, उत्कर्षतः सङ्ख्येया वाऽसङ्ख्येया वा तिरश्चामपि गर्भजपञ्चेन्द्रियाणां तत्रोत्पादात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पः, 'आणयदेवा णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनैको द्वौ त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्ख्येयाः, मनुष्याणामेव तत्रोत्पादात्, तेषां कोटीकोटीप्रमाणत्वात्, एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः ॥ सम्प्रति कालतोऽपहारतः परिमाणमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः समये समये एकैकदेवापहारेणापह्रियमाणा अपह्रियमाणाः कियता कालेनापह्रियन्ते?, भगवानाह—गौतम! असङ्ख्येयास्ते देवाः समये समये एकैकदेवापहारेणापह्रियमाणाः २ असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, एतावता किमुक्तं भवति?—असङ्ख्येयासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणाः सौधर्मेशानदेवा इति, एवमुत्तरत्रापि भावना भावनीया, एतच्च कल्पनामात्रं परिमाणावधारणार्थमुक्तं न पुनस्ते कदाच-

नापि केनाप्यपहृताः स्युः, तथा चाह—'नो चेव णं अवहिया सिया' एवं निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवाः, 'आण-
यपाणयआरणअच्चुएसु' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! आनतप्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु देवा असङ्ख्येयाः, ते च
समये समये एकैकापहारेणापह्रियमाणाः पल्योपमस्य—क्षेत्रपल्योपमस्य सूक्ष्मस्यासङ्ख्येयभागमात्रेण कालेनापह्रियन्ते, किमुक्तं भवति?
—सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणास्ते भवन्तीति, एवं ग्रैवेयकदेवा अनुत्तरोपपातिनोऽपि वाच्याः॥ स-
म्प्रति शरीरावगाहनामानप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मीसाणेसु णं भंते!' इत्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां 'किंम-
हालया' इति किं महती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—भवधारणीया उत्तरवैक्रिया च, तत्र
या सा भवधारणीया सा जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा उत्कर्षतः सप्त रत्नयः, तत्र या सा उत्तरवैक्रिया सा जघन्यतोऽङ्गुलस्य स-
ङ्ख्येयं भागं यावत् न त्वसङ्ख्येयं तथाविधप्रयत्नाभावात्, उत्कर्षत एकं योजनशतसहस्रं, एवं तावद्वाच्यं यावदच्युतकल्पो, नवरं स-
नत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कर्षतो भवधारणीया षड् रत्नयः, ब्रह्मलोकलान्तकेषु पञ्च, महाशुक्रसहस्रारयोश्चत्वारः, आनतप्राणतारणाच्युतेषु
त्रयः, 'गेवेज्जगदेवा णं भंते!' इत्यादि, ग्रैवेयकदेवानां भदन्त! किंमहती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! ग्रैवेयकदे-
वानामेकं भवधारणीयं शरीरं प्रज्ञप्तं न तूत्तरवैक्रियं, शक्तौ सत्यामपि प्रयोजनाभावात्तदकरणात्, तदपि च भवधारणीयं जघन्यतो-
ऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रमुत्कर्षतो द्वौ रत्नी, एवमनुत्तरोपपातसूत्रमपि वक्तव्यं, नवरमुत्कर्षत एका रत्निरिति वाच्यम्॥ सम्प्रति संहन-
नमधिकृत्याह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां शरीराणि 'किंसंहननानि' किं संहननं येषां तानि तथा
प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! षण्णां संहननानामन्यतमेनापि संहननेनासंहननानीति, संहननस्यास्थिरचनात्मकत्वात् तेषां चास्थ्या-

दीनामसम्भवात्, तथा चाह—'नेवट्ठी' इत्यादि, नैवास्थि तेषां शरीरेषु नापि शिरा—ग्रीवाधमनिर्नापि स्नायूंषि—शेषं- शिराजालं, किन्तु ये पुद्गला इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञा मनआपतरा एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत् ते तेषां सङ्घाततया परिणमन्ति ततः संहननाभावः, एवं तावद्वाच्यं यावदनुत्तरोपपातिकानां देवानां ॥ सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मीसाणेसु' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! तेषां शरीरकाणि द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भवधारणीयानि उत्तरवैक्रियाणि च, तत्र यद् भवधारणीयं तत्समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तं, देवानां भवप्रत्ययतः प्रायः शुभनामकर्मोदयभावात्, तत्र यदुत्तरवैक्रियं तत् नानासंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तं, तस्येच्छया निर्वर्त्यमानत्वात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावदच्युतः कल्पः, 'गेविज्जगदेवाण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! ग्रैवेयकदेवानामेकं भवधारणीयं शरीरं तच्च समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तं, एवमनुत्तरोपपातिसूत्रमपि । अधुना वर्णप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि वर्णेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! कनकत्वग्युक्तानि कनकत्वगिव रक्ता आभा—छाया येषां तानि तथा वर्णेन प्रज्ञप्तानि, उत्तप्तकनकवर्णानीति भावः, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकेऽपि च पद्मपक्ष्मगौराणि, पद्मकेसरतुल्यावदातवर्णानीति भावः, ततः परं लान्तकादिषु यथोत्तरं शुक्लशुक्लतरशुक्लतमानि, अनुत्तरोपपातिनां परमशुक्लानि, उक्तञ्च—"कणगत्तयरत्ताभा सुरवसभा दोसु होंति कप्पेसु । तिसु होंति पम्हगोरा तेण परं सुक्किला देवा ॥ १ ॥" सम्प्रति गन्धप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! 'से जहानामए—कोट्ठपुडाण वा' इत्यादि विमानवद्भावनीयं, एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिनाम् । सम्प्रति स्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि?,

भगवानाह—गौतम! 'थिरमउयणिद्धसुकुमाला फासेणं पण्णत्ता' इति स्थिराणि नतु मनुष्याणामिव विशरारुभावं बिभ्राणानि मृदूनि—अकठिनानि स्निग्धानि—स्निग्धच्छायानि नतु रूक्षाणि सुकुमाराणि नतु कर्कशानि ततो विशेषणसमासः, स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि, एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिनां देवानां शरीरकाणि ॥ साम्प्रतमुच्छ्वासप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां कीदृशाः पुद्गला उच्छ्वासतया परिणमन्ति?, भगवानाह—गौतम! ये पुद्गला इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञा मनआपा एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत् ते तेषामुच्छ्वासतया परिणमन्ति, एवं तावद्वाच्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः । एवमाहारसूत्राण्यपि ॥ सम्प्रति लेश्याप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! एका तेजोलेश्या, इदं प्राचुर्यमङ्गीकृत्य प्रोच्यते, यावता पुनः कथञ्चित्तथाविधद्रव्यसम्पर्कतोऽन्याऽपि लेश्या यथासम्भवं प्रतिपत्तव्या, सनत्कुमारमाहेन्द्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! एका पद्मलेश्या प्रज्ञप्ता, एवं ब्रह्मलोकेऽपि, लान्तके प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं—गौतम! एका शुक्ललेश्या प्रज्ञप्ता, एवं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः, उक्तञ्च—"किण्हानीलाकाउतेऊलेसा य भवणवंतरिया । जोइससोहम्मीसाण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य । एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ २ ॥" सम्प्रति दर्शनं चिचिन्तयिषुराह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवा णमिति वाक्यालङ्कारे किं सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः?, भगवानाह—गौतम! सम्यग्दृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टयोऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽपि, एवं यावद् ग्रैवेयकदेवाः, अनुत्तरोपपातिनः सम्यग्दृष्टय एव वक्तव्याः न मिथ्यादृष्टयो नापि सम्यग्मिथ्यादृष्टयः तेषां तथास्वभावत्वात् ॥ सम्प्रति ज्ञानाज्ञानचिन्तां चिकीर्षुराह—'सोहम्मी'त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनो-

ऽपि, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्त्रिज्ञानिनस्तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः, ये अज्ञानिनस्ते नियमात् त्र्यज्ञानिनस्तद्यथा—मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च, एवं तावद्वाच्यं यावद् ग्रैवेयकाः, अनुत्तरोपपातिनो ज्ञानिन एव वक्तव्याः, योगसूत्राणि पाठसिद्धानि ॥ सम्प्रत्यवधिक्षेत्रपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणदेवा ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति?, गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं अवही जाव रयणप्पभा पुढवी उड्ढं जाव साइं विमाणाइं तिरियं जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा [एवं—सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा। तच्चं च बंभ-लंतग सुक्कसहस्सारग चउत्थी ॥ १ ॥ आणयपाणयकप्पे देवा पासंति पंचमिं पुढवीं। तं चेव आरणच्चुय ओहीनाणेण पासंति ॥ २ ॥ छट्ठीं हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला। संभिण्णलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा ॥ ३ ॥] (सू० २१६)

'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कियत्क्षेत्रमवधिना जानन्ति ज्ञानेन पश्यन्ति दर्शनेन?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागं, अत्र पर आह—नन्वङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रक्षेत्रपरिमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति, सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यग्मनुष्येष्वेव न शेषेषु, यत आह भाष्यकारः स्वकृतभाष्यटीकायाम्—"उत्कृष्टो मनुष्येष्वेव नान्येषु, मनुष्यतिर्यग्योनिष्वेव जघन्यो नान्येषु, शेषाणां मध्यम एवे"ति तत्कथमिह सर्वजघन्य उक्तः?, उच्यते, सौधर्मादिदेवानां पारभविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः संभवति स एव कदाचित्सर्वजघन्योऽपि उपपातानन्तरं तु तद्भवजः ततो न कश्चिद्दोषः, आह च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—"वेमा-

णियाणमंगुलभागमसंखं जहन्नओ होइ (ओही) । उववाए परभविओ तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥ १ ॥" 'उक्कोसेणं एवं' यथाऽवधिपदे प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यं, तच्चैवम्—'उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरमंते' अधस्तनाच्चरमपर्यन्तादू यावदित्यर्थः 'तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं' स्वकीयानि विमानानि स्वकीयविमानस्तूपध्वजादिकं यावदित्यर्थः 'जाणंति पासंति, एवं सणंकुमारमाहिंदावि, नवरं अहे जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, एवं बंभलोगलंतगदेवावि, नवरं अहे जाव तच्चाए पुढवीए, महासुक्कसहस्सारगदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, आणयपाणयआरणच्चुयदेवा अहे जाव पंचमीए पुढवीए धूमप्पभाए हेट्ठिल्ले चरिमंते, हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा छट्ठीए तमप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, उवरिमगेवेज्जगा देवा अहे जाव सत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, अणुत्तरोववाइयदेवा णं भंते! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?, गोयमा! संभिन्नं लोगनालिं' परिपूर्णं चतुर्दशरज्ज्वात्मिकां लोकनाडीमित्यर्थः 'ओहिणा जाणंति पासंति' इति, उक्तञ्च—"सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा । तच्चं च बंभलंतग सुक्कसहस्सारग चउत्थिं ॥ १ ॥ आणयपाणयकप्पे देवा पासंति पंचमिं पुढविं । तं चेव आरणच्चुय ओहीनाणेण पासंति ॥ २ ॥ छट्ठिं हिट्ठिममज्झिमगेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला । संभिन्नलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा ॥ ३ ॥ सम्प्रति समुद्घातप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! देवाणं कति समुग्घाता पण्णत्ता ?, गोयमा! पंच समुग्घाता पण्णत्ता, तंजहा—वेदणासमुग्घाते कसाय० मारणंतिय० वेउव्विय० तेजससमुग्घाते एवं जाव अच्चुए । गेवेज्जाणं आदिल्ला तिण्णि समुग्घाता पण्णत्ता ॥ सोहम्मीसाणदेवा केरिसयं खुधपिवासं पच्च-

णुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! णत्थि खुधापिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति जाव अणुत्तरोववातिया ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवा एगत्तं प्रभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पभू विउव्वित्तए?, हंता पभू, एगत्तं विउव्वेमाणा एगिंदियरूवं वा जाव पंचिंदियरूवं वा पुहुत्तं विउव्वेमाणा एगिंदियरूवाणि वा जाव पंचिंदियरूवाणि वा, ताइं संखेज्जाइंपि असंखेज्जाइंपि सरिसाइं पिअसरिसाइंपि संबद्धाइंपि असंबद्धाइंपि रूवाइं विउव्वंति विउव्वित्ता अप्पणा जहिच्छियाइं कज्जाइं करेंति जाव अच्चुओ, गेवेज्जणुत्तरोववातिया देवा किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पभू विउव्वित्तए?, गोयमा! एगत्तंपि पुहुत्तंपि, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा विउव्वंति वा विउव्विस्संति वा ॥ सोहम्मीसाणदेवा केरिसयं सायासोक्खं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! मणुण्णा सद्दा जाव मणुण्णा फासा जाव गेविज्जा, अणुत्तरोववाइया अणुत्तरा सद्दा जाव फासा ॥ सोहम्मीसाणेसु देवाणं केरिसगा इड्ढी पण्णत्ता?, गोयमा! महिड्ढीया महज्जुइया जाव महाणुभागा इड्ढीए पं० जाव अच्चुओ, गेवेज्जणुत्तरा य सव्वे महिड्ढीया जाव सव्वे महाणुभागा अणिंदा जाव अहमिंदा णामं ते देवगणा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ (सू० २१७)

'सोहम्मी'त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! पञ्च समुद्घाताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो मरणसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातस्तैजससमुद्घातः, एतेषां स्वरूपं प्रागेव द्विविधप्रतिपत्तावभिहितं, उत्तरौ द्वौ समुद्घातौ न भवतः, आ-

हारकलब्धिकेवलित्वाभावात्, एवं तावद्वाच्यं यावदच्युतः कल्पः, 'गेवेज्जगदेवाणंभंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! पञ्च समुद्घाताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वेदनासमुद्घात इत्यादि, एते च पञ्चापि तेषां शक्तितः प्रतिपत्तव्याः, कर्त्तव्यतया तु तत्र त्रय एव, तथा चाह—'नो चेव ण' मित्यादि, नैव कदाचनापि वैक्रियतैजससमुद्घाताभ्यां समवहताः समवहन्यन्ते समवहनिष्यन्ते प्रयोजनाभावतः प्रकृत्युपशान्ततया च वैक्रियसमुद्घातारम्भासम्भवात्, एवमनुत्तरोपपातिकानामपि वक्तव्यम् ॥ 'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कीदृशं क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो 'विहरन्ति' आसते?, गौतम! नास्त्येतद् यत्ते क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति, एवं यावदनुत्तरोपपातिकाः ॥ 'सोहम्मीसाणेसु ण'मित्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः 'एकत्वम्' एकरूपं विकुर्वितुं प्रभव. पृथक्त्वं?—बहूनीत्यर्थः, भगवानाह—गौतम! एकत्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं, एकत्वं विकुर्वन्त एकेन्द्रियरूपं वा द्वीन्द्रियरूपं वा त्रीन्द्रियरूपं वा चतुरिन्द्रियरूपं वा पञ्चेन्द्रियरूपं वा विकुर्वितुं, पृथक्त्वं विकुर्वन्त एकेन्द्रियरूपाणि यावत्पञ्चेन्द्रियरूपाणि वा, तान्यपि सङ्ख्येयानि विकुर्वन्ति असङ्ख्येयानि वा, तान्यपि 'सदृशानि' सजातीयानि वा 'असदृशानि' विजातीयानि 'संबद्धानि' आत्मनि समवेतानि 'असंबद्धानि' आत्मप्रदेशेभ्यः पृथग्भूतानि प्रासादघटपटादीनि, यथा चतुर्दशपूर्वधरा घटाद् घटसहस्रं पटात्पटसहस्रं कुर्वन्ति, विकुर्वित्वा पश्चाद् यादृच्छिकानि कार्याणि कुर्वन्ति, एवं तावद्यावदच्युतकल्पदेवाः, 'गेवेज्जगदेवाणं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतं, भगवानाह—गौतम! एकत्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि, 'नो चेव ण'मित्यादि, नैव पुनः 'सम्पत्त्या' साक्षाद्वैक्रियरूपसम्पादनेन विकुर्वितवन्तो विकुर्वन्ति विकुर्विष्यन्ति एवमनुत्तरोपपातिका अपि वक्तव्याः ॥ 'सोहम्मी'-त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कीदृशं 'सातसौख्यं' सातं—आह्लादरूपं सौख्यं सातसौख्यं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति?,

भगवानाह—गौतम! मनोज्ञाः शब्दा मनोज्ञानि रूपाणि मनोज्ञा गन्धा मनोज्ञा रसाः मनोज्ञाः स्पर्शाः एवंरूपं सातसौख्यं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, एवं तावद्वाच्यं यावद्ग्रैवेयकदेवाः, 'अणुत्तरोववाइयाण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अनुत्तराः शब्दा यावदनुत्तराः स्पर्शाः इत्येवंरूपं सातसौख्यं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ॥ साम्प्रतमृद्धिप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवाः कीदृशा ऋद्ध्या प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! महर्द्धिका यावन्महानुभागाः, अमीषां पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्, एवं तावद्वक्तव्यं यावदनुत्तरोपपातिका देवाः ॥ सम्प्रति विभूषाप्रतिपादनार्थमाह—

सोहम्मीसाणा देवा केरिसया विभूसाए पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—वेउव्वियसरीरा य अवेउव्वियसरीरा य, तत्थ णं जे ते वेउव्वियसरीरा ते हारविराइयवच्छा जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा जाव पडिरूवा, तत्थ णं जे ते अवेउव्वियसरीरा ते णं आभरणवसणरहिता पगतित्था विभूसाए पण्णत्ता ॥ सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु देवीओ केरिसियाओ विभूसाए पण्णत्ताओ?, गोयमा! दुविधाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—वेउव्वियसरीराओ य अवेउव्वियसरीराओ य, तत्थ णं जाओ वेउव्वियसरीराओ ताओ सुवण्णसद्दालाओ सुवण्णसद्दालाइं वत्थाइं पवर परिहिताओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमणिडालाओ सिंगारागारचारुवेसाओ संगय जाव पासातीयाओ जाव पडिरूवा, तत्थ णं जाओ अवेउव्वियसरीराओ ताओ णं आभरणवसणरहियाओ पगतित्थाओ विभूसाए पण्णत्ताओ,

सेसेसु देवा देवीओ णत्थि जाव अच्चुओ, गेवेज्जगदेवा केरिसया विभूसाए०?, गोयमा! आभरणवसणरहिया, एवं देवी णत्थि भाणियव्वं, पगतित्था विभूसाए पण्णत्ता, एवं अणुत्तराचि॥ (सू०२१८) सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! इट्ठा सद्दा इट्ठा रूवा जाव फासा, एवं जाव गेवेज्जा, अणुत्तरोववातियाणं अणुत्तरा सद्दा जाव अणुत्तरा फासा॥ (सू० २१९) ठिती सव्वेसिं भाणियव्वा, देवित्ताएवि, अणंतरं चयंति, चइत्ता जे जहिं गच्छंति तं भाणियव्वं॥ (सू० २२०)

'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोर्देवानां शरीरकाणि कीदृशानि विभूषया प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भवधारणीयानि उत्तरवैक्रियाणि च, तत्र यानि तानि भवधारणीयानि तानि आभरणवसनरहितानि प्रकृतिस्थानि विभूषया प्रज्ञप्तानि, स्वाभाविक्येव तेषां विभूषा नौपाधिकीति भावः, तत्र यानि तानि उत्तरवैक्रियरूपाणि शरीराणि तानि 'हारविराइयवच्छा' इत्यादि पूर्वोक्तं तावद्वक्तव्यं यावत् 'दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा विभूसाए पन्नत्ता' अस्य व्याख्या पूर्ववत्, एवं देवीष्वपि नवरं 'ताओ णं अच्छराओ सुवण्णसद्दालाओ' इति नूपुरादिनिर्घोषयुक्ताः 'सुवण्णसद्दालाइं वत्थाइं पवरपरिहिताओ' सकिङ्किणीकानि वस्त्राणि प्रवरं—अत्युद्भटं यथा भवत्येवं परिहितवन्त्य इति भावः, 'चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोवेमाणीओ विज्जुघणमरीइसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ' इति प्राग्वत्, एवं देवानां शरीर-

विभूषा तावद्वाच्या यावदच्युतः कल्पः, देऽयस्तु सनत्कुमारादिषु न सन्तीति न तत्सूत्रं तत्र वाच्यं, 'गेवेज्जगदेवा णं भंते! सरीरा केरिसगा विभूसाए पन्नत्ता?, गोयमा! गेवेज्जगदेवाणं एगे भवधारणिज्जे सरीरे ते णं आभरणवसणरहिया पगइत्था विभूसाए पण्णत्ता' इति पाठः, एवमनुत्तरोपपातिका अपि वाच्याः ॥ सम्प्रति कामभोगप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मी'त्यादि, सौधर्मेशानयोर्भदन्त! कल्पयोः कीदृशान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति?, भगवानाह—गौतम! इष्टान् शब्दान् इष्टानि रूपाणि इष्टान् गन्धान् इष्टान् रसान् इष्टान् स्पर्शान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, एवं यावद् ग्रैवेयकदेवाः, अनुत्तरोपपातिकसूत्रेषु अनुत्तरानिति वक्तव्यम् ॥ अधुना स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—'सोहम्मगदेवाण'मित्यादि, सौधर्म्मकदेवानां भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्यत एकं पल्योपममुत्कर्षतो द्वे सागरोपमे, एवमीशाने जघन्यत एकं सातिरेकं पल्योपममुत्कर्षतो द्वे सातिरेके सागरोपमे, सनत्कुमारे जघन्यतो द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सप्त सागरोपमाणि, माहेन्द्रे जघन्यतः सातिरेके द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि, ब्रह्मलोके जघन्यतः सप्त सागरोपमाणि उत्कर्षतो दश सागरोपमाणि, लान्तके जघन्यतो दशसागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्दश सागरोपमाणि, महाशुक्रे जघन्यतश्चतुर्दश सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तदश, सहस्रारे जघन्यतः सप्तदश सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टादश, आनतकल्पे जघन्यतोऽष्टादश सागरोपमाणि उत्कर्षत एकोनविंशतिः, प्राणते जघन्यत एकोनविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो विंशतिः, आरणे जघन्यतो विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षत एकविंशतिः, अच्युते जघन्यत एकविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो द्वाविंशतिः, अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतो द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयोविंशतिः, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतस्त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिः, अधस्तनोपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतश्चतुर्विंशतिः सा-

गरोपमाणि उत्कर्षतः पञ्चविंशतिः, मध्यमाधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतः पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः षड्विंशतिः, मध्यममध्यमग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतः षड्विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तविंशतिः, मध्यमोपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतः सप्तविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टविंशतिः, उपरितनाधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतोऽष्टाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षत एकोनत्रिंशत्, उपरितनमध्यमग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यत एकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रिंशत्, उपरितनोपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे जघन्यतस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षत एकत्रिंशत्, विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु जघन्यत एकत्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्, सर्वार्थसिद्धे महाविमानेऽजघन्योत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥ सम्प्रत्युद्वर्त्तनामाह—'**सोहम्मगदेवाण**'मित्यादि, सौधर्मकदेवा भदन्त! अनन्तरं—अव्यवधानेन च्यवित्वा क्व गच्छन्ति?, एतदेव व्याचष्टे—कोत्पद्यन्ते?, किं नैरयिकेषु गच्छन्ति यावद्देवेषु गच्छन्ति?, भगवानाह—गौतम! 'नो नेरइएसु उववज्जंति' इत्यादि यथा प्रज्ञापनायां षष्ठे व्युत्क्रान्त्याख्यपदे तथा वक्तव्यं, एष च सङ्क्षेपार्थः—बादरपर्याप्तेषु पृथिव्यब्वनस्पतिषु पर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु च सङ्ख्यातवर्षायुष्केषु, एवमीशानदेवा अपि, सनत्कुमारादयः सहस्रारपर्यन्ताः पर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येष्वेव सङ्ख्यातवर्षायुष्केषु नैकेन्द्रियेष्वपि, आनतादयो यावदनुत्तरोपपातिका न तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वपि किन्तु यथोक्तरूपेषु मनुष्येषु ॥

सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु सव्वपाणा सव्वभूया जाव सत्ता पुढविकाइयत्ताए जाव वणस्सतिकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसणसयण जाव भंडोवगरणत्ताए उववण्णपुव्वा?, हंता

गोयमा! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, सेसेसु कप्पेसु एवं चेव, णवरि नो चेव णं देवित्ताए जाव गेवेज्जगा, अणुत्तरोववातिएसुवि एवं, णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए। सेत्तं देवा ॥ (सू० २२१)

'सोहम्मे ण'मित्यादि, सौधर्मे भदन्त! कल्पे द्वात्रिंशद् विमानावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् विमाने सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः, अमीषां व्याख्यानमिदम्—"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूताश्च तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥" पृथ्वीकायतया देवतया देवीतया, इह च बहुषु पुस्तकेष्वेतावदेव सूत्रं दृश्यते, क्वचित्पुनरेतदपि—'आउकाइयत्ताए तेउकाइयत्ताए' इत्यादि तन्न सम्यगवगच्छामस्तेजस्कायस्य तत्रासम्भवात्, **'आसणे'**त्यादि, आसनं—सिंहासनादि शयनं—पल्यङ्कः स्तम्भाः—प्रासादाद्यवष्टम्भहेतवः भाण्डमात्रोपकरणं—हारार्द्धहारकुण्डलादि तत्तयोत्पन्नपूर्वाः?, भगवानाह—गौतम! **'असकृत्'** अनेकवारमुत्पन्नपूर्वा इति सम्बन्धः, अथवा **'अनन्तकृत्वः'** अनन्तान् वारान्, सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतैर्जीवैः सर्वस्थानानां प्रायोऽनन्तशः प्राप्तत्वात्, एवमीशानेऽपि वक्तव्यं, सनत्कुमारेऽप्येवमेव, नवरं **'नो चेव णं देवित्ताए'** इति विशेषः तत्र देवीनामुत्पादाभावात्, एवं यावद् ग्रैवेयकाणि, 'पंचसु णं भंते! अणुत्तरे' इत्यादि पाठसिद्धं नवरं 'नो चेव णं देवित्ताए' इति, अनन्तकृत्वो देवत्वस्य प्रतिषेधो विजयादिषु चतुर्षूत्कर्षतोऽपि वारद्वयं सर्वार्थसिद्धे महाविमाने एकवारं गमनसम्भवात्, तत ऊर्द्ध्वमवश्यं मनुष्यभवासादनेन मुक्तिप्राप्तेः, देवीत्वस्य च प्रतिषेधस्तत्रोत्पादासम्भवात् ॥ सम्प्रति चतुर्विधानामपि जीवानां सामान्यतो भवस्थितिं कायस्थितिं च प्रतिपिपादयिषुराह—

नेरइयाणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं उक्को-

सेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, एवं सव्वेसिं पुच्छा, तिरिक्खजोणियाणं जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं, एवं मणुस्साणवि, देवाणं जहा णेरतियाणं ॥ देवणेरइयाणं जा चेव ठिती सच्चेव संचिट्ठणा, तिरिक्खजोणियस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तो उक्कोसेणं वणस्सतिकालो, मणुस्से णं भंते! मणुस्सेति कालतो केवचिरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ॥ णेइरयमणुस्सदेवाणं अंतरं जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणं वणस्सतिकालो। तिरिक्खजोणियस्स अंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोपमसयपुहुत्तसाइरेगं ॥ (सू० २२२) एतेसि णं भंते! णेरइयाणं जाव देवाण य कयरे०?, गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सा णेरइया असं० देवा असं० तिरिया अणंतगुणा, से तं चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ॥ (सू० २२३)

'नेरइयाणं भंते! केवइयं काल' मित्यादि, नैरयिकाणां जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि, एतद् रत्नप्रभाप्रथमप्रस्तटमपेक्ष्योक्तं, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एतत्सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया, तिर्यग्योनिकानां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, एतद्देवकुर्वादिकमपेक्ष्य द्रष्टव्यं, एवं मनुष्याणामपि, देवानां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि, एतद्भवनपतिव्यन्तरानधिकृत्यावबोद्धव्यं, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तानि विजयाद्यपेक्ष्य ॥ 'नेरइयाणं भंते!' इत्यादि, नैरयिको भदन्त! नैरयिकत्वेन कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! 'जा चेव भवट्ठिई सा चेव संचिट्ठणावि' यैव भवस्थितिः सैव 'संचिट्ठणावि' कायस्थितिरपि, नैर-

३ प्रतिपत्तौ
विमानेषु
देवादितयोत्पादः
गतिचतुष्कस्थित्यन्तरेअल्पबहुत्वं
उद्देशः २
सू० २२१-२२३

यिकस्याव्यवधानेन भूयो नैरयिकेपूत्पादाभावात्, 'नो नेरइए नेरइएसु उववज्जइ' इति वचनात्, 'तिरिक्खजोणिए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, गौतम! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं मृत्वा मनुष्यादावुत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, वनस्पतिकायिकेष्वनन्तकालमवस्थानात्, तमेवानन्तकालं निरूपयति—वनस्पतिकालः, यावान् शास्त्रान्तरे वनस्पतिकाल उक्तस्तावन्तं कालमित्यर्थः, स चैवम्—'अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो' सुगमम्, मनुष्यविषयं प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, निर्वचनं—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं मृत्वा तिर्यगादिषूत्पादभावादिति, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि च महाविदेहादिषु सप्तसु मनुष्यभवेषु पूर्वकोट्यायुष्केषु अष्टमे च देवकुर्वादिषूत्पद्यमानस्य वेदितव्यानि। देवानां तु नैरयिकवद् यैव भवस्थितिः सैव कायस्थितिरपि, देवानामपि मृत्वा भूयोऽनन्तरं देवत्वेनोत्पादाभावात्' "नो देवे देवेसु उववज्जइ" इति वचनात्। साम्प्रतमन्तरं चिचिन्तयिषुराह—'नेरइयस्स णं भंते'! इत्यादि, नैरयिकस्य भदन्त! अन्तरं—नैरयिकत्वात्परिभ्रष्टस्य भूयो नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तरालं कालतः कियच्चिरं भवति?, कियन्तं कालं यावद्भवतीत्यर्थः, भगवानाह—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कथमिति चेत्, उच्यते, नरकादुद्धृत्य मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वाऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो नरकेषूत्पादात्, तत्र मनुष्यभवभावनेयम्—कश्चिन्नरकादुद्धृत्य गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैक्रियलब्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी परचक्राद्युपद्रवमाकर्ण्य स्वशक्तिप्रभावतश्चतुरङ्गं सैन्यं विकुर्वित्वा सङ्ग्रामयित्वा च महारौद्रध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति कृत्वा च कालं भूयो नरकेपूत्पद्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं, तिर्यग्भवे नरकादुद्धृतो गर्भव्युत्क्रान्तिकतन्दुलमत्स्यत्वेनोत्पद्य महारौद्रध्यानोपगतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरकेषु जात इति, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालः

परम्परया वनस्पतिषूत्पादादवसातव्यः, तथा चाह—वनस्पतिकालः, स च प्रागेवोक्तः । तिर्यग्योनिविषयं प्रश्नसूत्रं पूर्ववत्, निर्वचनं—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तच्च कस्यापि तिर्यक्त्वेन मृत्वा मनुष्यभवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयस्तिर्यक्त्वेनोत्पद्यमानस्य द्रष्टव्यं, उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वं, तच्च नैरन्तर्येण देवनारकमनुष्यभवभ्रमणेनावसातव्यं । मनुष्यविषयमपि प्रश्नसूत्रं तथैव, निर्वचनं—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तच्च मनुष्यभवादुद्धृत्य तिर्यग्भवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो मनुष्यत्वेनोत्पद्यमानस्यावसातव्यं, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालः प्रागुक्तो वनस्पतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कश्चिद्देवभवाच्च्युत्वा गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसञ्ज्ञानोपेतस्तथाविधस्य श्रमणस्य श्रमणोपासकस्य वाऽन्ते धर्म्यमार्यं वचः श्रुत्वा धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति कालं च कृत्वा देवेषूत्पद्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालो यथोक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः ॥ साम्प्रतमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका मनुष्याः, श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यो नैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत्प्रथमं वर्गमूलं तद्द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यो देवा असङ्ख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च नैरयिकेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात्, तेभ्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्ताः, वनस्पतिजीवानामनन्तानन्तत्वात् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां चतुर्विधप्रतिपत्तौ विमानाधिकारे द्वितीयो वैमानिकोद्देशकः समाप्तः, तत्समाप्तौ च समाप्ता चतुर्विधा प्रतिपत्तिः ॥

अथ पञ्चविधजीवाख्या चतुर्थी प्रतिपत्तिः ।

तदेवमुक्ता चतुर्विधा प्रतिपत्तिः, सम्प्रति क्रमप्राप्तां पञ्चविधप्रतिपत्तिमाह—

तत्थ जे ते एवमाहंसु—पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तं०—एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया । से किं तं एगिंदिया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, एवं जाव पंचिंदिया दुविहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । एगिंदियस्स णं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं, बेइंदिय० जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणं बारस संवच्छराणि, एवं तेइंदियस्स एगूणपण्णं राइंदियाणं, चउरिंदियस्स छम्मासा, पंचेंदियस्स जह० अंतोमु० उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, अपज्जत्तएगिंदियस्स णं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणवि अंतो० एवं सव्वेसिं, पज्जत्तेगिंदियाणं णं जाव पंचिन्दियाणं पुच्छा, जहन्नेणं अंतो० उक्को० बावीसं वाससहस्साइं अंतमुहुत्तोणाइं, एवं उक्कोसियावि ठिती अंतोमुहुत्तोणा सव्वेसिं पज्जत्ताणं कायव्वा ॥ एगिंदिए णं भंते! एगिंदिएत्ति कालओ केवचिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमु० उक्को० वणस्सतिकालो । बेइंदियस्स णं भंते! बेइंदियत्ति कालओ केवचिरं होइ?, जह० अंतो-

मु० उक्कोसेणं संखेज्जं कालं जाव चउरिंदिए संखेज्जं कालं, पंचेंदिए णं भंते! पंचिंदिएत्ति कालओ केवचिरं होइ?, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० सागरोवमसहस्सं सातिरेगं ॥ एगिंदिए णं अपज्जत्तए णं भंते! कालओ केवचिरं होंति?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं जाव पंचिंदियअपज्जत्तए। पज्जत्तगएगिंदिए णं भंते! कालओ केवचिरं होंति?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं। एवं बेइंदिएवि, णवरिं संखेज्जाइं वासाइं। तेइंदिए णं भंते!० संखेज्जा राइंदिया। चउरिंदिए णं० संखेज्जा मासा। पज्जत्तपंचिंदिए सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ॥ एगिंदियस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं। बेंदियस्स णं अंतरं कालओ केवचिरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। एवं तेइंदियस्स चउरिंदियस्स पंचेंदियस्स, अपज्जत्तगाणं एवं चेव, पज्जत्तगाणवि एवं चेव ॥ (सू० २२४)

'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तः—पञ्चविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्तास्ते 'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवन्तः, तमेव प्रकारमाह—तद्यथा—एकेन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः, अमीषां पदानां व्याख्यानं प्राग्वत् ॥ 'से किं त'मित्यादीनि पञ्च पर्याप्तापर्याप्तसूत्राणि, 'एगिंदियस्स णं भंते! केवइयं कालं ठिई?' इत्यादीनि पञ्च स्थितिसूत्राणि पाठसिद्धानि, अपर्याप्तकविशेषणविशिष्टान्यपि पञ्च स्थितिसूत्राणि पाठसिद्धानि, नवरं जघन्यादन्तर्मुहूर्त्तादुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तं बृहत्तरमवसातव्यं, पर्याप्तविशेषण-

विशिष्टान्यपि पञ्च स्थितिसूत्राणि सुप्रतीतानि, नवरमुत्कर्षतो द्वाविंशतिर्वर्षसहस्रादीन्यन्तर्मुहूर्त्तोनानि, अपर्याप्तककालेनान्तर्मुहूर्त्तेन हीनत्वात् ॥ सम्प्रति कायस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—'एगिंदिए णं भंते! एगिंदिए'त्ति इत्यादि, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं मृत्वा द्वीन्द्रियादिषूत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, अनन्तकालमेव निरूपयति—वनस्पतिकालः, वनस्पतिकालस्यैकेन्द्रियत्वात् एकेन्द्रियपदे तस्यापि परिग्रहात्, वनस्पतिकालश्च प्रागेवोक्तः। द्वित्रिचतुरिन्द्रियसूत्रे सङ्ख्येयं कालं—सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि "विगलिंदियाण वाससहस्सा संखेज्जा" इति वचनात्, पञ्चेन्द्रियसूत्रे सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तच्च नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवभवभ्रमणेन वेदितव्यं ॥ 'एगिंदियअपज्जत्तए णं भंते' इत्यादि, जघन्यत उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमपर्याप्तलब्धेरेतावत्कालप्रमाणत्वात्, एवं शेषाण्यपि चत्वार्यपर्याप्तकसूत्राणि भावनीयानि, एकेन्द्रियपर्याप्तकसूत्रे सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, एकेन्द्रियस्य हि पृथिवीकायस्योत्कर्षतो द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि भवस्थितिः अप्कायस्य सप्त वर्षसहस्राणि तेजस्कायस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि वायुकायस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि वनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि, ततो निरन्तरकतिपयपर्याप्तभवसङ्कलनया सङ्ख्येयान्येव वर्षसहस्राणि घटन्त इति। द्वीन्द्रियपर्याप्तसूत्रे उत्कर्षतः सङ्ख्येयानि वर्षाणि, द्वीन्द्रियस्य हि उत्कर्षतो भवस्थितिपरिमाणं द्वादश वर्षाणि न च सर्वेष्वपि भवेषूत्कृष्टा स्थितिस्ततः कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनयापि सङ्ख्येयानि वर्षाण्येव लभ्यन्ते न तु वर्षशतानि वर्षसहस्राणि वा। त्रीन्द्रियपर्याप्तसूत्रे सङ्ख्येयानि रात्रिन्दिवानि, तेषां भवस्थितेरुत्कर्षतोऽप्येकोनपञ्चाशद्दिनमानतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनायामपि सङ्ख्येयानां रात्रिन्दिवानामेव लभ्यमानत्वात्। चतुरिन्द्रियपर्याप्तसूत्रे सङ्ख्येया मासास्तेषां भवस्थितेरुत्कर्षतः षण्मासप्रमाणतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवकालसङ्कलनया सङ्ख्येयानां मासानां प्राप्यमानत्वात्। पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रे सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं, तच्च पूर्ववत् ॥ 'एगिंदियस्स णं भंते! अंतरं कालतो केवचिरं होइ?' इति

प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तच्चैकेन्द्रियादुद्धृत्य द्वीन्द्रियादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यं, उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे सङ्ख्येयवर्षाभ्यधिके, यावानेव हि त्रसकायस्य कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं, त्रसकायस्थितिकालश्च यथोक्तप्रमाणः, तथा च वक्ष्यति—'तसकाइए णं भंते! तसकायत्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं'। द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च पूर्वप्रकारेण भावनीयं, उत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः, द्वीन्द्रियादिभ्य उद्धृत्य वनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमनन्तमपि कालमवस्थानात्। यथैवामूनि पञ्च सूत्राण्यन्तरविषयाण्यौघिकान्युक्तानि तथैव पर्याप्तविषयाण्यपर्याप्तविषयाण्यपि भणनीयानि, तानि चैवम्—'एगिंदियअपज्जत्तस्स णं भंते! अंतरं कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तमुक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, बेइंदियअपज्जत्तस्स णं भंते! अंतरं कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो, एवं जाव पंचेंदियअपज्जत्तस्स।' एवं पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्यानि ॥ साम्प्रतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते! एगिंदि बेइं० तेइं० चउ० पंचिंदियाणं कयरे२हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा पंचेंदिया चउरिंदिया विसेसाहिया तेइंदिया विसेसाहिया बेइंदिया विसेसाहिया एगिंदिया अणंतगुणा। एवं अपज्जत्तगाणं सव्वत्थोवा पंचेंदिया अपज्जत्तगा चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा सइंदियाप० वि० ॥ सव्वत्थोवा चतुरिं-

दिया पज्जत्तगा पंचेंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया बेंदियपज्जत्तगा विसेसाहिया तेइंदियपज्जत्तगा विसेसाहिया एगिंदियपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ एतेसि णं भंते! सइंदियाणं पज्जत्तगअपज्जत्तगाणं कयरे २?, गोयमा! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्तगा सइंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा। एवं एगिंदियावि ॥ एतेसि णं भंते! बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं अप्पाबहुं?, गोयमा! सव्वत्थोवा बेइंदिया पज्जत्तगा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, एवं तेंदियचउरिंदियपंचेंदियावि ॥ एएसि णं भंते! एगिंदियाणं बेइंदि० तेइंदि० चउरिंदि० पंचेंदियाण य पज्जत्तगाण य अपज्जत्तगाण य कयरे २?, गोयमा! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा पंचेंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया पंचेंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा चउरिंदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया तेइंदियअपज्जत्ता विसेसाहिया बेइंदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया एगिंदियअपज्जत्ता अणंतगुणा सइंदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया एगिंदियपज्जत्ता संखेज्जगुणा सइंदियपज्जत्ता विसेसाहिया सइंदिया विसेसाहिया। सेत्तं पंचविधा संसारसमावण्णगा जीवा ॥ (सू० २२५)

'एएसि ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, सङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूत-

सङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकास्तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकास्तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीमानत्वात्, तेभ्य एकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तानन्तत्वात् ॥ सम्प्रत्येतेषामेवापर्याप्तविशेषणविशिष्टानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्तकाः, एकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यश्चतुरिन्द्रियापर्याप्ता विशेषाधिकाः प्रभूततराङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्त्रीन्द्रियापर्याप्ता विशेषाधिकाः प्रभूततरप्रतराङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्, तेभ्यो द्वीन्द्रियापर्याप्ता विशेषाधिकाः प्रभूततमप्रतराङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डमानत्वात्, तेभ्य एकेन्द्रियापर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्तानन्ततया सदा प्राप्यमाणत्वात् ॥ अधुनैतेषामेव पर्याप्तविशेषणविशिष्टानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रियाःपर्याप्ता यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियास्ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात् पृच्छासमये स्तोका अवाप्यन्ते, ते च स्तोका अपि प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणा वेदितव्याः, तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततराङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डमानत्वात्, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः प्रभूततरप्रतराङ्गुलसङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि त्रीन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः, स्वभावत एव तेषां प्रभूततराङ्गुलसङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्, तेभ्य एकेन्द्रियाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्तानामनन्तत्वात् ॥ साम्प्रतमेतेषामेव प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां समुदितानामल्पबहुत्वमभिधित्सुः प्रथमत एकेन्द्रियाणामाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं गतं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका एकेन्द्रिया अपर्याप्ताः, पर्याप्तकाः सङ्ख्येयगुणाः, एकेन्द्रियेषु हि बहवः सूक्ष्माः सर्वलो-

कापन्नत्वात्, सूक्ष्माश्चापर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियसूत्रे सर्वस्तोका द्वीन्द्रियापर्याप्ता यावन्ति प्रतरेऽङ्गुलस्य सङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषां, तेभ्योऽपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः प्रतरगताङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्, एवं त्रिचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाल्पबहुत्वान्यपि वक्तव्यानि ॥ साम्प्रतमेकेन्द्रियाणां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, इदं प्रागुक्ततृतीयद्वितीयाल्पबहुत्वभावनानुसारेण स्वयं भावनीयं, तत्त्वतो भावितत्वात्, उपसंहारमाह—'सेत्तं पंचविहा' इत्यादि ॥ इतिश्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां पञ्चविधा प्रविपत्तिः चतुर्थी समाप्ता ॥

उक्ता पञ्चविधा प्रतिपत्तिरधुना क्रमप्राप्तां षड्विधप्रतिपत्तिमभिधित्सुराह—

तत्थ णं जे ते एवमाहंसु छव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा ते एवमाहंसु, तंजहा—पुढविकाइया आउक्काइया तेउ० वाउ० वणस्सतिकाइया तसकाइया ॥ से किं तं पुढवि०?, पुढवी० दुविहा पण्णत्ता तं०—सुहुमपुढविकाइया बादरपुढविकाइया, सुहुमपुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। एवं बायरपुढविकाइयावि, एवं चउक्कएणं भेएणं आउतेउवाउवणस्सतिकाइयाणं चतु० णेयव्वा। से किं तं तसकाइया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य॥ (सू० २२६) पुढविकाइयस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं, एवं सव्वेसिं ठिती णेयव्वा, तसकाइयस्स जहन्नेणं

अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, अपज्जत्तगाणं सव्वेसिं जहन्नेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं, पज्जत्तगाणं सव्वेसिं उक्कोसिया ठिती अंतोमुहुत्तऊणा कायव्वा ॥ (सू० २२७) पुढविकाइए णं भंते! पुढविकाइयत्तिकालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोया। एवं जाव आउ० तेउ० वाउक्काइयाणं वणस्सइकाइयाणं अणंतं कालं जाव आवलियाए असंखेज्जतिभागो॥ तसकाइए णं भंते!० जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोस्सेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं । अपज्जत्तगाणं छण्हवि जहण्णेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं, पज्जत्तगाणं—'वाससहस्सा संखा पुढविदगाणिलतरूण पज्जत्ता। तेऊ राइंदिसंखा तससागरसतपुहुत्ताइं ॥ १ ॥' पज्जत्तगाणवि सव्वेसिं एवं ॥ पुढविकाइयस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो । एवं आउतेउवाउकाइयाणं वणस्सइकालो, तसकाइयाणवि, वणस्सइकाइयस्स पुढविकाइयकालो । एवं अपज्जत्तगाणवि वणस्सइकालो, वणस्सईणं पुढविकालो, पज्जत्तगाणवि एवं चेव वणस्सइकालो, पज्जत्तवणस्सईणं पुढविकालो ॥ (सू० २२८)

'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तः षड्विधाः संसारसमापन्नका जीवास्ते 'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवन्तः, तमेव प्रकारमाह, तद्यथा—पृथ्वीकायिका इत्यादि प्राग् व्याख्यातं॥ 'से किं तं पुढविकाइया' इत्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिविषयाणि त्रीणि

त्रीणि त्रसकायविषयमेकमिति सर्वसङ्ख्यया षोडश सूत्राणि पाठसिद्धानि ॥ **'पुढविकाइयस्स णं भंते !'** इत्यादि स्थितिविषयं सूत्रषट्कं सुप्रतीतं, तत्र जघन्यं सर्वत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पृथिवीकायिकस्य द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि अप्कायिकस्य सप्त तेजस्कायिकस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि वातकायस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि वनस्पतिकायस्य दशवर्षसहस्राणि त्रसकायस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । अपर्याप्तविषयाण्यपि षट् सूत्राणि पाठसिद्धानि, सर्वत्र जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्ताभिधानात्, नवरमुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तं बृहत्तरं वेदितव्यं । पर्याप्तविषया षट्सूत्री पाठसिद्धा, नवरमन्तर्मुहूर्त्तोनत्वं अपर्याप्तकालभाविनाऽन्तर्मुहूर्त्तेन हीनत्वात् ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—**'पुढविकाइए णं भंते! पुढविकाइय'**त्ति इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, पृथ्वीकायादुद्धृत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायत्वेन कस्याप्युत्पादात्, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, एषा कालतो मार्गणा, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, किमुक्तं भवति?—असङ्ख्येयेषु लोकप्रमाणेष्वाकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावता कालेन तान्यसङ्ख्येयान्यपि लोकाकाशखण्डानि निर्लेपितानि भवन्ति तावन्तमसङ्ख्येयं कालं यावदिति । एवमप्तेजोवायुसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । वनस्पतिसूत्रे जघन्यं तथैव, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, कालत एषा मार्गणा, क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः—अनन्तानन्तेषु लोकालोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावता कालेन तान्यपि लोकालोकाकाशखण्डानि निर्लेपानि भवन्ति तावन्तमनन्तकालमित्यर्थः, तमेव पुद्गलपरावर्त्तेन निरूपयति—असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, पुद्गलपरावर्त्तस्वरूपं पञ्चसङ्ग्रहटीकातो भावनीयं, पुद्गलपरावर्त्तगतमेवासङ्ख्येयत्वं निर्द्धारयति—**'ते णं'**मित्यादि, ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, आवलिकाया असङ्ख्येये भागे यावन्तः समयास्तावन्त इत्यर्थः, अयं चार्थोऽन्यत्रापि

सङ्क्षेपेणोक्तः—"अस्संखोसप्पिणीसप्पिणीउ एगिंदियाण य चउण्हं । ता चेव ऊ अणंता वणस्सईए उ बोद्धव्वा ॥ १॥" त्रसकायसूत्रे द्वे सागरोपमसहस्रे सङ्ख्येयवर्षाभ्यधिके, एतावत एवाव्यवधानेन त्रसकायत्वकालस्य केवलवेदसोपलब्धत्वात् । अपर्याप्तविषयायां षट्सूत्र्यां सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम्, अपर्याप्तलब्धेरुत्कर्षतोऽप्येतावत्कालप्रमाणत्वात् । पृथिवीकायिकपर्याप्तसूत्रे उत्कर्षतः सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, पृथिवीकायिकस्य हि भवस्थितिरुत्कर्षतोऽपि द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि ततः कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवमीलने सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि लभ्यन्ते नाधिकं । एवमप्कायिकसूत्रेऽपि वक्तव्यं, तेजस्कायिकसूत्रे सङ्ख्येयानि रात्रिन्दिवानि, तेजस्कायिकस्य हि भवस्थितिरुत्कर्षतोऽपि त्रीणि रात्रिन्दिवानि, ततो निरन्तरकतिपयपर्याप्तभवसङ्कलनायामपि सङ्ख्येयानि रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते न तु मासा वर्षाणि वर्षसहस्राणि वा। वायुकायिकसूत्रं वनस्पतिकायिकसूत्रं पृथिवीकायिकसूत्रवत् । त्रसकायसूत्रे सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् ॥ सम्प्रत्यन्तरनिरूपणार्थमाह—'पुढविकाइयस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं पृथिवीकायादुद्धृत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन कस्यचिदुत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः, पृथिवीकायादुद्धृत्य तावन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् । एवमप्तेजोवायुत्रससूत्राण्यपि भावनीयानि । वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालम् 'असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा' इति वक्तव्यं, वनस्पतिकायादुद्धृत्य पृथिव्यादिष्ववस्थानात् तेषु च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्कालभावात् ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वमाह—

अप्पाबहुयं-सव्वत्थोवा तसकाइया तेउक्काइया असंखेज्जगुणा पुढविकाइया विसेसाहिया आउकाइया विसेसाहिया वाउक्काइया विसेसाहिया वणस्सतिकाइया अणंतगुणा एवं अपज्जत्तगावि

पज्जत्तगावि ॥ एतेसि णं भंते! पुढविकाइयाणं पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण य कयरे२हिंतो अप्पा वा एवं जाव विसेसाहिया?, गोयमा! सव्वत्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तगा पुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, एतेसि णं० सव्वत्थोवा आउक्काइया अपज्जत्तगा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा जाव वणस्सतिकाइयावि, सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥ एएसि णं भंते! पुढविकाइयाणं जाव तसकाइयाणं पज्जत्तगअपज्जत्तगाण य कयरे२हिंतो अप्पा वा ४?, सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा तेउक्काइया अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा पुढविक्काइया आउक्काइया वाउक्काइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया तेउक्काइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा पुढविआउवाउपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सतिकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सतिकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ (सूत्रं २२९) सुहुमस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं एवं जाव सुहुमणिओयस्स, एवं अपज्जत्तगाणवि पज्जत्तगाणवि जहण्णेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं ॥ (सू० २३०)

'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसकायत्वात् तेषां च शेषकायापेक्षयाऽल्पत्वात्, तेभ्यस्तेजस्का-

यिका असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् तेषां च शेषकायापेक्षयाऽल्पत्वात्, तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयभागलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात्, तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् ॥ साम्प्रतमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, एतदपि तथैव । अधुनैतेषामेव पर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, एतदपि तथैव ॥ साम्प्रतमेतेषामेव पृथिवीकायादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तगताल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोकाः पृथिवीकायिका अपर्याप्ताः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, पृथिवीकायिका हि बहवः सूक्ष्माः सकललोकगतत्वात्, तेषु च पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, एवमप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राणि भावनीयानि, त्रसकायसूत्रे सर्वस्तोकाः पर्याप्तत्रसकायिका अपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः, त्रसकायानां पर्याप्तानां यथाक्रमं प्रतरगताङ्गुलसङ्ख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् ॥ साम्प्रतमेतेषां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः पर्याप्तास्तेभ्यस्त्रसकायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, अत्र कारणं प्रागेवोक्तं, ततस्तेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, ततः पृथिव्यब्वायवोऽपर्याप्तकाः क्रमेण विशेषाधिकाः प्रभूतप्रभूततरप्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात्, तदनन्तरं तेजस्कायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात्, ततः पृथिव्यब्वायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः, ततो वनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात्, तेभ्यो वनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात् सूक्ष्माश्च सर्वबहव इति तदपेक्षमिदमल्पबहुत्वम् ॥ सम्प्रत्यमीषामेव कायानां सूक्ष्माणां

स्थित्यादि चिचिन्तयिषुराह–'सुहुमस्स णं भंते' इत्यादि, सूक्ष्मस्य सामान्यतो निगोदरूपस्यानिगोदरूपस्य वा भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह–गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तं, नवरमुत्कर्षतो विशेषाधिकमवसातव्यम्, अन्यथोत्कर्षायोगात्। एवं सूक्ष्मपृथिवीकायाप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकवनस्पतिकायसूक्ष्मनिगोदविषयाण्यपि षट् सूत्राणि वक्तव्यानि, अथ सूक्ष्मवनस्पतिर्निगोदा एव ततस्तत्सूत्रेणैव गतमिति किमर्थं पृथग् निगोदसूत्रं?, तदयुक्तं सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, सूक्ष्मवनस्पतयो हि जीवा विवक्षिताः, सूक्ष्मनिगोदास्तु प्रत्येकमनन्तानां जीवानामाधारभूताः शरीररूपास्ततो न कश्चिद्दोषः, उक्तञ्च—"गोला य असंखेज्जा असंखनिगोदो य गोलओ भणिओ। एक्किक्कंमि निगोए अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ एगो असंखभागो वट्टइ उव्वट्टणोववायंमि.। एगनिगोदे निच्चं एवं सेसेसुवि स एव ॥ २ ॥ अंतोमुहुत्तमेत्तं ठिई निगोयाण जंति निद्दिट्ठा। पल्लट्टंति निगोया तम्हा अंतोमुहुत्तेणं ॥ ३ ॥" आसामक्षरगमनिका–सूक्ष्मनिगोदैः सकल एव लोकः सर्वतो व्याप्तोऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गवत्, तस्मिन्नित्थं निगोदैर्व्याप्ते लोके निगोदमात्रावगाहना असङ्ख्येया निगोदा वृत्ताकारा बृहत्प्रमाणा गोलका इति व्यपदिश्यन्ते, निगोद इति च नाम अनन्तानां जीवानामेकं शरीरं, तत उक्तम्–असङ्ख्येया गोलाः, एकैकस्मिंश्च गोलकेऽसङ्ख्येया निगोदा एकैकश्च निगोदः अनन्तजीव इति, एकस्मिंश्च निगोदे येऽनन्ता जीवास्तेषामेकोऽसङ्ख्येयतमो भागः प्रतिसमयमुद्वर्त्ततेऽन्यश्चोत्पद्यते, तथा हि विवक्षिते समये विवक्षितस्य निगोदस्यैकोऽसङ्ख्येयतमो भाग उद्वर्त्ततेऽन्यश्चासङ्ख्येयतमो भागस्तस्मिन्नपूर्व उत्पद्यते, द्वितीयेऽपि समयेऽन्योऽसङ्ख्येयभाग उद्वर्त्तते अन्यश्चापूर्व उत्पद्यते, एवं सकलकालमनुसमयमुद्वर्त्तनोपपातौ, अत एव 'एगनिगोदे निच्च'मिति नित्यग्रहणं, यथा चैकस्मिन्निगोदे तथा सर्वेष्वप्यसङ्ख्येयेषु सर्वलोकव्यापिषु निगोदेषु प्रतिपत्तव्यं, सर्वेषामपि च निगोदानां निगोदजीवानां स्थितिर्विनिर्दिष्टाऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं

तस्मात्सर्वेऽपि निगोदा अनुसमयमुद्वर्त्तनोत्पाताभ्यामन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण परावर्त्तन्ते न च शून्या भवन्तीति । एवं सप्तसूत्री अपर्याप्तविषया सप्तसूत्री पर्याप्तविषया वक्तव्या, सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम् ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—

सुहुमे णं भंते! सुहुमेत्ति कालतो केवचिरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं जाव असंखेज्जा लोया, सव्वेसिं पुढविकालो जाव सुहुमणिओयस्स पुढविकालो, अपज्जत्तगाणं सव्वेसिं जहण्णेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं, एवं पज्जत्तगाणवि सव्वेसिं जहण्णेणवि उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं ॥ (सू० २३१) सुहुमस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमु० उक्को० असंखेज्जं कालं कालओ असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो, सुहुमवणस्सतिकाइयस्स सुहुमणिओयस्सवि जाव असंखेज्जइभागो। पुढविकाइयादीणं वणस्सतिकालो। एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाणवि ॥ (सू०२३२)

'सुहुमे णं भंते! सुहुमेत्तिकालओ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं बादरपृथिव्यादावुत्पादात्, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालं, तमेवासङ्ख्येयकालं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, एषा कालतो मार्गणा क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, असङ्ख्येयानां लोकाकाशानां प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावता कालेन निर्लेपता भवति तावान् असङ्ख्येयः काल इति भावः । एवं सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिनिगोदसूत्राण्यपि भावनीयानि । सम्प्रति सूक्ष्मादीनामेवापर्याप्तानां कायस्थितिमभिधित्सुराह—'सुहुमअपज्जत्तए णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्यतोऽ-

५ प्रतिपत्तौ सूक्ष्मस्य कायस्थितिरन्तरं च उद्देशः २ सू० २३१-२३२

न्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम्, अपर्याप्तस्थावरस्यैतावत्कालप्रमाणत्वात्, एवं सूक्ष्मापर्याप्तपृथिव्यादिविषयाऽपि षट्सूत्री वक्तव्या। एवं पर्याप्तविषयाऽपि सप्तसूत्री ॥ साम्प्रतमन्तरं चिचिन्तयिषुराह—'सुहुमस्स णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, सूक्ष्मादुद्धृत्य बादरपृथिव्यादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः सूक्ष्मपृथिव्यादौ कस्याप्युत्पादात्, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, तमेवासङ्ख्येयं कालं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, कालत एषा मार्गणा, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, किमुक्तं भवति?—अङ्गुलमात्रक्षेत्रस्यासङ्ख्येयतमे भागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावतीभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्लेपा भवन्ति तावत्य इति ॥ 'सुहुमपुढविक्काइयस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तद्भावना प्रागिव, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, 'जाव आवलियाए असंखिज्जइभागो' इति यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठः—'अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो' अस्य व्याख्या पूर्ववत्, भावना त्वेवम्—सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सूक्ष्मपृथिवीकायिकभवादुद्धृत्यानन्तर्येण पारम्पर्येण वा वनस्पतिष्वपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षत एतावन्तं कालं तिष्ठतीति भवति यथोक्तप्रमाणमन्तरं, एवं सूक्ष्माप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि। सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, स चासङ्ख्येयः कालः पृथिवीकालो वक्तव्यः, स चैवम्—'असंखेज्जा उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा' इति, सूक्ष्मवनस्पतिकायभवादुद्धृतो हि बादरवनस्पतिषु सूक्ष्मबादरपृथिव्यादिषु चोत्पद्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालमवस्थानमिति यथोक्तप्रमाणमेवान्तरं, एवं सूक्ष्मनिगोदस्या-

प्यन्तरं वक्तव्यं, यथा चेयमौघिकी सप्तसूत्री उक्ता तथाऽपर्याप्तविषया सप्तसूत्री पर्याप्तविषया च सप्तसूत्री वक्तव्या, नानात्वाभावात्॥ साम्प्रतमेतेषामल्पबहुत्वमाह—

एवं अप्पाबहुगं, सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया सुहुमआउवाऊ विसेसाहिया सुहुमणिओया असंखेज्जगुणा सुहुमवणस्सतिकाइया अणंतगुणा सुहुमा विसेसाहिया, एवं अपज्जत्तगाणं, पज्जत्तगाणवि एवं चेव ॥ एतेसि णं भंते! सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे० ?, सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्तगा संखेज्जगुणा पज्जत्तगा एवं जाव सुहुमणिगोया ॥ एएसि णं भंते! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं जाव सुहुमणिओयाण य पज्जत्तापज्जत्ता० कयरे २?, सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया सुहुमआउअपज्जत्ता विसेसाहिया सुहुमवाउअपज्जत्ता विसेसाहिया सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा सुहुमपुढविआउवाउपज्जत्तगा विसेसाहिया सुहुमणिओया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा सुहुमणिओया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा सुहुमवणस्सतिकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा सुहुमअपज्जत्ता विसेसाहिया सुहुमवणस्सइपज्जत्तगा संखेज्जगुणा सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ॥ (सू० २३३)

'एएसि णं'मित्यादि, सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात्,

तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असङ्ख्येयगुणाः, तेषां प्रतिगोलकमसङ्ख्येयत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां सद्भावात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेषामौघिकानामिदमल्पबहुत्वम् । इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानामाह—'एएसि णं भंते! सुहुमअपज्जत्ताण'मित्यादि सर्वं प्राग्वद् भावनीयं । साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते! सुहुमपज्जत्तगाण'मित्यादि, इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयं ॥ अधुनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वान्याह—'एएसि णं भंते! सुहुमाणं पज्जत्तगाण'मित्यादि, इह बादरेषु पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तनिश्रया असङ्ख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात्, तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायां** प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे—"पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, सूक्ष्मेषु पुनर्नायं क्रमः, पर्याप्ताश्चापर्याप्तापेक्षया चिरकालावस्थायिन इति सदैव ते बहवो लभ्यन्ते तत उक्तं सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा अपर्याप्ताः तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः सङ्ख्येयगुणाः, एवं पृथ्वीकायादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयम् ॥ गतं चतुर्थमल्पबहुत्वमिदानीं सर्वेषां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ताः, कारणं प्रागेवोक्तं, तेभ्यः सूक्ष्मपृथिव्यब्वायवोऽपर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः, अत्रापि कारणं प्रागेवोक्तं, तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, अपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणानामेव भावितत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मपृथिव्यब्वायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः, कारणं प्रागेवोक्तं, ततः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणास्तेषामतिप्राचुर्यात्, तेभ्यः सूक्ष्मा निगोदाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघतः सङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अन-

न्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां तेषां भावात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेषु हि अपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, यद्यपान्तराले विशेषाधिकत्वं तदल्पमिति न सङ्ख्येयगुणत्वव्याघातः, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ सम्प्रति वादरादीनां स्थित्यादि निरूपयति—

वायरस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमु० उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, एवं वायरतसकाइयस्सवि वायरपुढवीकाइयस्स बावीसवाससहस्साइं वायरआउस्स सत्तवाससहस्सं वायरतेउस्स तिण्णि राइंदिया वायरवाउस्स तिण्णि वाससहस्साइं वायरवण० दसवाससहस्साइं, एवं पत्तेयसरीरवादरस्सवि, णिओयस्स जहन्नेणवि उक्कोसेणवि अंतोमु०, एवं वायरणिओयस्सवि, अपज्जत्तगाणं सव्वेसिं अंतोमुहुत्तं, पज्जत्तगाणं उक्कोसिया ठिई अंतोमुहुत्तूणा कायव्वा सव्वेसिं ॥ (सू० २३४)

'वायरस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्द्ध्वं मरणात्, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एवं वादरपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिप्रत्येकवादरवनस्पतिनिगोदवादरनिगोदवादरत्रसकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि, सर्वत्र हि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षचिन्तायामयं विशेषः—वादरपृथिवीकायिकस्योत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि वादराप्कायिकस्य सप्त वर्षसहस्राणि वादरतेजस्कायिकस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि वादरवायुकायिकस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि सामान्यतो वादरवनस्पतिकायिकस्य

दश वर्षसहस्राणि प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि सामान्यतो निगोदस्य जघन्येनाप्युत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं बादरनिगोदस्य जघन्यत उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं बादरत्रसकायस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥ सम्प्रत्येतेषामेव सामान्यतो बादरादीनां दशानामपर्याप्तानां स्थितिं चिचिन्तयिषुः सूत्रदशकमाह—'बायरअपज्जत्तगस्स णं भंते!' इत्यादि पाठसिद्धं, सर्वत्र जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्ताभिधानात् ॥ साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां स्थितिं चिन्तयति—'बादरपज्जत्तगस्स णं भंते!' इत्यादि, जघन्यतः सर्वत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सामान्यतो बादरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्त्तोनानि, अपर्याप्तकावस्थाभाविनाऽन्तर्मुहूर्त्तेनोनत्वात्, एवं बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तकस्य द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि, बादराप्कायिकस्य पर्याप्तकस्य सप्त वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि बादरतेजस्कायिकपर्याप्तकस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि, बादरवायुकायिकपर्याप्तकस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि, बादरवनस्पतिकायपर्याप्तकस्य दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि, प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकपर्याप्तकस्यापि दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि, सामान्यतो निगोदपर्याप्तकस्य बादरनिगोदपर्याप्तकस्य च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, बादरत्रसकायिकपर्याप्तस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्तोनानि ॥ साम्प्रतं कायस्थितिमाह—

बायरे णं भंते! बायरेत्ति कालओ केवचिरं होति?, जह० अंतो० उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो, बायरपुढविकाइयआउतेउवाउ० पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयस्स बायरनिओयस्स० [बायरवणस्सइस्स जह०

अंतो० उक्को० असं० असं० उस्स० कालओ खेत्तओ अंगु० असं० पत्तेगसरीरबादरवणस्सतिकाइयस्स बायरनिगोअस्स पुढवीव, बायरणिओयस्स णं जह० अन्तो० उक्को० अणंतं कालं अणंता उस्स० कालओ खेत्तओ अड्डाइज्जा पोग्गल०] एतेसिं जहण्णेणं अंतोमु० उक्कोसेणं सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ संखातीयाओ समाओ अंगुलअसंखभागो तहा—असंखेज्जा उ० ओहे य बायरतरुअणुबंधो सेसओ वोच्छं। उस्सप्पिणि २ अड्डाइयपोग्गलाण परियट्टा ॥ बेउदधिसहस्सा खलु साधिया होंति तसकाए ॥१॥ अंतोमुहुत्तकालो होइ अपज्जत्तगाण सव्वेसिं ॥ पज्जत्तबायरस्स य बायरतसकाइयस्सावि ॥ २ ॥ एतेसिं ठिई सागरोवमसतपुहत्तं साइरेगं। तेउस्स संख राइं[दिया] दुविहणिओए मुहुत्तमद्धं तु। सेसाणं संखेज्जा वाससहस्सा य सव्वेसिं ॥ ३ ॥ (सू० २३५)

'बायरे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, तमेवासङ्ख्येयं कालं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—'असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अंगुलस्स असंखेज्जइभागो' अस्य व्याख्या प्राग्वत्। बादरपृथ्वीकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटयः, एवं बादराप्कायिकबादरतेजस्कायिकबादरवायुकायिकानामपि, सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागः। प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथ्वीकायिकवत्, सामान्यतो निगोदसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपणं करोति—अनन्ता उत्सर्पिण्यव-

सर्पिण्यः, एषा कालतः प्ररूपणा, क्षेत्रतोऽर्द्धतृतीयाः पुद्गलपरावर्त्ताः । बादरनिगोदसूत्रं बादरपृथ्वीकायिकवत् । बादरत्रसकायसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे सङ्ख्येयवर्षाभ्यधिके । साम्प्रतमेतेषामेवापर्याप्तानां कायस्थितिं निरूपयन् सूत्रदशकमाह—'बायरअपज्जत्तए णं भंते! बायरअपज्जत्तएत्ति कालतो' इत्यादि सर्वत्र जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तम् । अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां कायस्थितिमाह—'बायरपज्जत्तए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तद्भावना प्राग्वत्, उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं, तत ऊर्द्धमवश्यं बादरस्य सतः पर्याप्तलब्धिविच्युतेः । बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि, तत ऊर्द्धं तथास्वाभाव्याद् बादरपृथिवीकायस्य सतः पर्याप्तिलब्धिभ्रंशात् । एवमप्कायसूत्रमपि वक्तव्यं, तेजस्कायसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सङ्ख्येयानि रात्रिन्दिवानि, तेजस्कायिकस्य हि उत्कृष्टा भवस्थितिः त्रीणि रात्रिन्दिवानि, उत्कृष्टस्थितिकस्य पर्याप्तभवा निरन्तरं कतिपया एवेति सङ्ख्येयान्येव रात्रिन्दिवानि । वायुकायिकसामान्यबादरवनस्पतिकायप्रत्येकबादरवनस्पतिकायसूत्राण्यपि बादरपर्याप्तपृथिवीकायसूत्रवत् । सामान्यतो निगोदपर्याप्तसूत्रे च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं, बादरत्रसकायपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं, तच्च नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवभवभ्रमणेन पूरयितव्यम् ॥ साम्प्रतमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—

अंतरं बायरस्स बायरवणस्सतिस्स णिओयस्स बायरणिओयस्स एतेसिं चउण्हवि पुढविकालो जाव असंखेज्जा लोया, सेसाणं वणस्सतिकालो। एवं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणवि अंतरं, ओहे य बायरतरु ओघनिओए बायरणिओए य कालमसंखेज्जं अंतरं सेसाण वणस्सतिकालो ॥ (सू०२३६)

'वादरस्स णं भंते! अंतरं कालतो' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, यदेव हि सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव वादरस्यान्तरपरिमाणं सूक्ष्मस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतदेवेति। वादरपृथिवीकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपो वेदितव्यः। एवं वादराप्कायिकवादरतेजस्कायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि। सामान्यतो वादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, स चासङ्ख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः, स चैवम्—असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः। प्रत्येकवादरवनस्पतिकायिकसूत्रं वादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्, सामान्यतो निगोदसूत्रं च सामान्यतो वादरवनस्पतिकायिकसूत्रवत्, वादरत्रसकायिकसूत्रं वादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्। एवमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथोक्तक्रमेण वक्तव्या, नानात्वाभावात्॥ साम्प्रतमल्पबहुत्वमाह—

अप्पा० सव्वत्थोवा बायरतसकाइया बायरतेउकाइया असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीरबादरवणस्सति० असंखेज्जगुणा बायरणिओया असंखे० बायरपुढवि असंखे० आउवाउ असंखेज्जगुणा बायरवणस्सतिकाइया अणंतगुणा बायरा विसेसाहिया १। एवं अपज्जत्तगाणवि २। पज्जत्तगाणं सव्वत्थोवा बायरतेउक्काइया बायरतसकाइया असंखेज्जगुणा पत्तेगसरीरबायरा असंखेज्जगुणा सेसा तहेव जाव बादरा विसेसाहिया ३। एतेसि णं भंते! बायराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे २?, सव्वत्थोवा बायरा पज्जत्ता बायरा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, एवं सव्वे जहा बायरतसकाइया ४।

एएसि णं भंते! बायराणं बायरपुढविकाइयाणं जाव बायरतसकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे २?, सव्वत्थोवा बायरतेउक्काइया पज्जत्तगा बायरतसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीरबायरवणस्सतिकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा बायरणिओया पज्जत्तगा असंखेज्ज० पुढविआउवाउपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा बायरतेउअपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीरबायरवणस्सतिअप० असंखे० बायरा णिओया अपज्जत्तगा असंखे० बायरपुढविआउवाउ अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा बायरवणस्सइ पज्जत्तगा अणंतगुणा बायरपज्जत्तगा विसेसाहिया बायरवणस्सति अपज्जत्ता असंखगुणा बायरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया बायरा प० विसेसाहिया ५। एएसि णं भंते! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं जाव सुहुमनिगोदाणं बायराणं बायरपुढविकाइयाणं जाव बायरतसकाइयाण य कयरे२हिंतो०?, गोयमा! सव्वत्थोवा बायरतसकाइया बायरतेउकाइया असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीरबायरवणा असंखे० तहेव जाव बायरवाउकाइया असंखेज्जगुणा सुहुमतेउक्काइया असंखे० सुहुमपुढवि० विसेसाहिया सुहुमआउ० सुहुमवाउ० विसेसा० सुहुमनिओया असंखेज्जगुणा बायरवणस्सतिकाइया अणंतगुणा बायराविसेसाहिया सुहुमवणस्सइकाइया असंखे० सुहुमा विसेसा०। एवं अपज्जत्तगावि पज्जत्तगावि, णवरि सव्वत्थोवा बायरतेउक्काइया पज्जत्ता बायरतसकाइया पज्जत्ता असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीर० सेसं तहेव जाव सुहुमपज्जत्ता वि-

सेसाहिया। एएसि णं भंते! सुहुमाणं बादराण य पज्जत्ताणं अपज्जत्ताण य कयरे २?०, सव्वत्थोवा बायरा पज्जत्ता बायरा अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा सव्वथोवा सुहुमा अपज्जत्ता सुहुमपज्जत्ता संखेज्जगुणा, एवं सुहुमपुढविबायरपुढवि जाव सुहुमनिओया बायरनिओया नवरं पत्तेयसरीरबायरवण० सव्वत्थोवा पज्जत्ता अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा, एवं बादरतसकाइयावि ॥ सव्वेसिं पज्जत्तअपज्जत्तगाणं कयरे२हिंतो अप्पा वा बहुया वा?, सव्वत्थोवा बायरतेउक्काइया पज्जत्ता बायरतसकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ते चेव अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा पत्तेयसरीरबायरवणस्सइअपज्जत्तगा असंखे० बायरणिओया पज्जत्ता असंखेज्ज० बायरपुढवि० असं० आउवाउपज्जत्ता असंखे० बायरतेउकाइयअपज्जत्ता असंखे० पत्तेय० असंखे० बायरनिओयपज्जत्ता असं० बायरपुढवि० आउवाउकाइ० अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असं० सुहुमपुढविआउवाउअपज्जत्ता विसेसा० सुहुमतेउकाइयपज्जत्तगा संखेज्जगुणा सुहुमपुढविआउवाउपज्जत्तगा विसेसाहिया सुहुमणिगोया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा सुहुमणिगोया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा बायरवणस्सतिकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा बायरा पज्जत्तगा विसेसाहिया बायरवणस्सइ अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा बायरा अपज्जत्ता विसे० बायरा विसेसाहिया सुहुमवणस्स-

तिकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा सुहुमा अपज्जत्ता विसेसाहिया सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया सुहुमा विसेसाहिया ॥ (सू० २३७)

'**एएसि णं**'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरत्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरत्रसत्वात्, तेषां च शेषकायापेक्षयाऽल्पत्वात्, तेभ्यो बादरतेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका असङ्ख्येयगुणाः, स्थानस्यासङ्ख्येयगुणत्वात्, बादरतेजस्कायिका हि मनुष्यक्षेत्र एव भवन्ति, तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायां** द्वितीये स्थानाख्ये पदे—'कहि णं भंते! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता?, गोयमा! अंतो मणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाएणं पन्नरससु कम्मभूमीसु वाघाएणं पंचसु महाविदेहेसु एत्थ णं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पज्जत्ता, तथा—जत्थेव बायरतेउकाइयाणं पज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता तत्थेव अपज्जत्ताणं बायरतेउकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता' इति। बादरवनस्पतिकायिकास्तु त्रिष्वपि लोकेषु, तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायां** तस्मिन्नेव स्थानाख्ये द्वितीये पदे—'कहि णं भंते! बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता?, गोयमा! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलएसु अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु उड्ढलोए कप्पेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु उज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु, एत्थ णं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, तथा जत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता तत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता' इति। ततः क्षेत्रस्यासङ्ख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसङ्ख्येयगुणाः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, तेभ्यो बादरनिगोदा असङ्ख्येयगुणास्तेषा-

मत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात् जलेषु च सर्वत्रापि प्रायोभावात्, पनकसेवालादयो हि जलेष्ववश्यंभाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति, तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिका असङ्ख्येयगुणाः, अष्टासु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभवनपर्वतादिषु च भावात्, तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा बादराप्कायिकाः, समुद्रेषु जलप्राभूत्यात्, तेभ्यो बादरवायुकायिका असङ्ख्येयगुणाः, शुषिरे सर्वत्र वायुसम्भवात्, तेभ्योऽपि बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतमेकमौघिकमल्पबहुत्वमिदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्ताः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव, तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात्, इत्येवं प्रागुक्तक्रमेणेदमप्यल्पबहुत्वं परिभावनीयम् ॥ गतं द्वितीयमल्पबहुत्वं, साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुलमाह—'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयवर्गस्य कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणितस्य यावान् समयराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्, उक्तञ्च—"आवलिवग्गो कमेणावलीए गुणिओ हि बायरो तेऊ" इति, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्, उक्तञ्च—"पत्तेयपज्जत्तवणकाइया उ पयरं हरंति लोगस्स अंगुलअसंखभागेण भाइय"मिति, तेभ्यो बादरनिगोदपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात् जलाशयेषु च सर्वत्र प्रायोभावात्, तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसङ्ख्येयप्रतराङ्गुलासङ्ख्येयभागखण्डमानत्वात्, तेभ्योऽपि बादराप्कायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरासङ्ख्येयप्रतराङ्गुलासङ्ख्ये-

यभागखण्डमानत्वात्, तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यासङ्ख्येयेषु प्रतरेषु सङ्ख्याततमभागवर्त्तिषु
यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां
भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमल्पव-
हुत्वमिदानीमेतेषामेव प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि, इह बादरैकैकपर्याप्तनिश्रयाऽसङ्ख्येया बादरा अप-
र्याप्ता उत्पद्यन्ते, "पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति वचनात्, ततः सर्वत्र पर्याप्तेभ्यो
ऽपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणा वक्तव्याः । बादरत्रसकायिकसूत्रं तु प्रागुक्तयुक्त्या भावनीयम् ॥ गतं चतुर्थमप्यल्पबहुत्वं, सम्प्रत्येतेषामेव स-
मुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरत्रस-
कायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ता अस-
ङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादराप्कायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरवायु-
कायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, एतेषु पदेषु युक्तिः प्रागुक्ताऽनुसरणीया, तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, यतो
बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयेषु लोकाकाशप्रदेशेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः बादरतेजस्कायिकाश्चापर्याप्ता असङ्ख्ये-
यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततो भवन्त्यसङ्ख्येयगुणाः, ततः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिक-
बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणा वक्तव्याः, यद्यपि चैते प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तथाऽप्यसङ्ख्यातस्या-
सङ्ख्यातभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, तेभ्यो बादरवायुकायिकापर्याप्तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः प-

र्याप्ता अनन्तगुणाः प्रतिवादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणा एकैकपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदनिश्रयाऽसङ्ख्येयानामपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदानामुत्पादात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिका बादरतेजस्कायिकादीनामपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः बादरपर्याप्तजस्कायिकादीनामपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ तदेवं गतानि बादराश्रितानि पञ्चाल्पबहुत्वानि, सम्प्रति सूक्ष्मबादरसमुदायगतानि पञ्चाल्पबहुत्वान्यभिधित्सुराह—'एएसि ण'मित्यादि, इह प्रथमं बादरगतमल्पबहुत्वं तत्सूक्ष्मगताल्पबहुत्वपञ्चके यत्प्रथममल्पबहुत्वं तद्वद् भावनीयं यावत् सूक्ष्मनिगोदचिन्ता, तदनन्तरं बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरा विशेषाधिका बादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्य. सूक्ष्मवनस्पतिकायिका असङ्ख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतमेकमल्पबहुत्वमिदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्ता, ततो बादरतेजस्कायिकबादरवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुकायिकाः पर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, अत्र भावना बादरगताल्पबहुत्वपञ्चके यद्वद् द्वितीयमपर्याप्तविषयमल्पबहुत्वं तद्वद् भावनीया, ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, अतिप्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकसूक्ष्माप्कायिकसूक्ष्मवायुकायिकसूक्ष्मनिगोदा यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, अत्र भावना सूक्ष्माल्पबहुत्ववद्भावनीया, पञ्चके यद्द्वितीयाल्पबहुत्वं त-

द्वत्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकापर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, बादरनिगोदापर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तानामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं द्वितीयमल्पबहुत्वमिदानीं तेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरत्रसकायिकबादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, अत्र भावना बादरगताल्पबहुत्वपञ्चके यत्तृतीयं पर्याप्तविषयमल्पबहुत्वं तद्वत्कर्त्तव्या, बादरपर्याप्तवायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, बादरवायुकायिका हि असङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकास्तु पर्याप्ता असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततोऽसङ्ख्येयगुणाः, ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिकसूक्ष्माप्कायिकसूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततः सूक्ष्मवायुकायिकेभ्यः पर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः, तेषामतिप्रभूततया प्रतिगोलकं भावात्, तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्तका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमल्पबहुत्वमिदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां पृथक् पृथगल्पबहुत्वमाह—**'एएसि णं भंते ! सुहुमाणं बायराण य पज्जत्तापज्जत्ताण'-**

मित्यादि, सर्वत्रेयं भावना—सर्वस्तोका बादराः पर्याप्ताः परिमितक्षेत्रवर्त्तित्वात्, तेभ्यो बादरा अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिश्रयाऽसङ्ख्येयानां बादरापर्याप्तानामुत्पादात्, तेभ्यः सूक्ष्मापर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, सर्वलोकापन्नतया तेषां क्षेत्रस्यासङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मपर्याप्तकाः सङ्ख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायितया तेषां सदैव सङ्ख्येयगुणतया प्राप्यमानत्वात्, सर्वसङ्ख्यया चात्र सप्त सूत्राणि, तद्यथा—प्रथमं सामान्यतः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तविषयं द्वितीयं सूक्ष्मबादरपृथिवीकायिकपर्याप्तापर्याप्तविषयं, तृतीयं सूक्ष्मबादराप्कायिकपर्याप्तापर्याप्तविषयं, चतुर्थं सूक्ष्मबादरतेजस्कायिकपर्याप्तापर्याप्तविषयं, पञ्चमं सूक्ष्मबादरवायुकायिकपर्याप्तापर्याप्तविषयं, षष्ठं सूक्ष्मबादरवनस्पतिकायिकपर्याप्तापर्याप्तविषयं, सप्तमं सूक्ष्मबादरनिगोदपर्याप्तापर्याप्तविषयमिति ॥ गतं चतुर्थमल्पबहुत्वमिदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां समुदायेन पञ्चममल्पबहुत्वमाह—**'एएसि णं भंते! सुहुमाणं सुहुमपुढविक्काइयाण'**मित्यादि, सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयवर्गे कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणिते यावान् समयराशिस्तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यो बादरत्रसकायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, यद्यप्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणास्तथाऽप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागस्यासङ्ख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणत्वमभिधीयमानं न विरुध्यते, तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुका-

यिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिकसूक्ष्माप्कायिकसूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघतः सङ्ख्येयगुणत्वात्, ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिकसूक्ष्माप्कायिकसूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः, तेषामतिप्राभूत्येन सर्वलोकेषु भावात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तानां सदैवोघतः सङ्ख्येयगुणत्वात्, एते च बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तनिगोदपर्यवसानाः षोडश पदार्था यद्यप्यन्यत्राविशेषेणासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया संगीयन्ते तथाऽप्यसङ्ख्यातस्यासङ्ख्यातभेदभिन्नत्वादित्थमसङ्ख्येयगुणत्वं विशेषाधिकत्वं सङ्ख्येयगुणत्वं च प्रतिपाद्यमानं न विरोधभागिति, तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तनिगोदनिश्रयाऽसङ्ख्येयानां बादरनिगोदापर्याप्तानामुत्पादात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामपर्याप्तानामप्यसङ्ख्येयगुणत्वात्, ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्, तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मवनस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वप्योघतोऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात्, ततः सामान्यतः सूक्ष्मपर्याप्तेभ्योऽपि सङ्ख्ये-

यगुणाः, विशेषाधिकत्वस्य सङ्ख्येयगुणत्वबाधनायोगात्, तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्तका विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्, ततः सामान्यतः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ इह पूर्वं निगोदाः स्थित्यादिभिश्चिन्तितास्ततो निगोदवक्तव्यतामाह—

कतिविहा णं भंते! णिओया पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा णिओया पण्णत्ता, तंजहा—णिओया य णिओदजीवा य ॥ णिओया णं भंते! कतिविहा पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा, पं०, तंजहा—सुहुमणिओया य बायरणिओया य ॥ सुहुमणिओया णं भंते! कतिविहा पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ॥ बायरणिओयावि दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ॥ णिओयजीवा णं भंते! कतिविहा पण्णत्ता?, दुविहा पण्णत्ता—सुहुमणिओदजीवा य बायरणिओयजीवा य । सुहुमणिगोदजीवा दुविहा पं० तं०—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । बादरणिगोदजीवा दुविहा पन्नत्ता तं०—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ॥ (सू० २३८)

'कतिविहा ण'मित्यादि, कतिभेदाः भदन्त! निगोदाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! द्विविधा निगोदाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निगोदाश्च निगोदजीवाश्च, उभयेषामपि निगोदशब्दवाच्यतया प्रसिद्धत्वात्, तत्र निगोदा—जीवाश्रयविशेषाः निगोदजीवा—विभिन्नतैजसकार्मणा जीवा एव ॥ अधुना निगोदभेदान् पृच्छति—'निगोया णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूक्ष्मनिगोदाश्च बादरनिगोदाश्च, तत्र सूक्ष्मनिगोदाः सर्वलोकापन्नाः बादरनिगोदा मूलकन्दादयः ॥ 'सुहुमनिगोया

ण'मित्यादि, सूक्ष्मनिगोदा भदन्त! कतिविधाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, एवं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रं वक्तव्यं। तदेवमुक्ता निगोदाः, अधुना निगोदजीवानधिकृत्य भेदप्रश्नसूत्रमाह—'निगोयजीवा णं भंते!' इत्यादि सुगमं, भगवानाह—गौतम! निगोदजीवा द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूक्ष्मनिगोदजीवा बादरनिगोदजीवाश्च, चशब्दौ निगोद-जीवतया तुल्यतासूचकौ, एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयौ। 'सुहुमनिगोयजीवा णं भंते' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तविषयं पाठसिद्धम्। साम्प्रति सामान्यतो निगोदसङ्ख्यां जिज्ञासिषुः पृच्छति—

निगोदा णं भंते! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता?, गोयमा! नो संखेज्जा असंखेज्जा नो अणंता, एवं पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि ॥ सुहुमनिगोदा णं भंते! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता?, गो०! णो संखेज्जा असंखेज्जा णो अणंता, एवं पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि, एवं बायरावि पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि णो संखेज्जा असंखेज्जा णो अणंता ॥ णिओदजीवा णं भंते! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता?, गोयमा! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता, एवं पज्जत्तावि अपज्जत्तावि, एवं सुहुमणिओयजीवावि पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि, बादरणिओदजी-वावि पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि ॥ णिओदा णं भंते! पदेसट्ठयाए किं संखेज्जा०? पुच्छा, गो-यमा! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता, एवं पज्जत्तगावि अपजत्तगावि। एवं सुहुमणिओयावि पज्जत्तगावि अपज्जत्तगावि य, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता, एवं बायरनिगोयावि पज्जत्तयावि

अप्पज्जत्तयावि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता, एवं णिओदजीवा नवविहावि पएसट्ठयाए सव्वे अणंता ॥ एएसि णं भंते! णिओयाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तयाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे२हिंतो अप्पा वा बहुया वा०?, गोयमा! सव्वत्थोवा बादरणिओयपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए बादरनिगोदा अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिओदा अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिओदा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, एवं पदेसट्ठयाएवि ॥ दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा बादरणिओया य पज्जत्ता दव्वट्ठयाए जाव सुहुमणिओदा पज्जत्ता य दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमणिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरणिगोदा पज्जत्ता पएसट्ठया अणंतगुणा बायरणिओदा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंख० जाव सुहुमणिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा। एवं णिओयजीवावि, णवरि संकमए जाव सुहुमणिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरणिओयजीवा पज्ज० पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव जाव सुहुमणिओयजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ॥ एतेसि णं भंते! णिगोदाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं णिओयजीवाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए कयरे२हिंतो?०, सव्वत्थोवा बायरणिओदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए बायरणिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिगोदा अप० दव्वट्ठयाए

असंखेज्जगुणा सुहुमणिओदा पज्ज० दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा सुहुमणिओएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरणिओदजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए अणंतगुणा बायरणिओदजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिओदजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिओयजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा बायरणिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए बायरणिओदा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखे० सुहुमणिओयजीवा अपज्जत्तया पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा सुहुमणिगोदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा सुहुमणिओदजीवेहिंतो पएसट्ठयाए बायरणिगोदा पज्जत्ता पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरणिओया अपज्जत्ता पएस० असंखेज्जगुणा जाव सुहुमणिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा बायरणिओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए बायरणिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जाव सुहुमणिगोदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा सुहुमणिओदाहिंतो दव्वट्ठयाए बायरणिओदजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए अणंतगुणा सेसा तहेव जाव सुहुमणिओदजीवा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा सुहुमणिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरणिओयजीवा पज्जत्ता पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा सेसा तहेव जाव सुहुमणिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ॥ सेत्तं छव्विहा संसारसमावण्णगा ॥ (सू० २३९)

'निगोदा ण'मित्यादि, 'निगोदाः' जीवाश्रयविशेषा भदन्त! 'द्रव्यार्थतया' द्रव्यरूपतया किं सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ताः?, भगवानाह—गौतम! नो सङ्ख्येयाः, अङ्गुलासङ्ख्येयभागावगाहनानां तेषां सर्वलोकापन्नत्वात्, किन्त्वसङ्ख्येयाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, नाप्यनन्तास्तथा केवलवेदसाऽनुपलम्भात्। एवमपर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्रं पर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्रं च भावनीयम्। यथा च सामान्यनिगोदविषयं सूत्रत्रयमुक्तम् एवं सूक्ष्मनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं पृथग् वक्तव्यं, भावना च पूर्वानुसारेण स्वयं विधेया॥ सम्प्रति द्रव्यार्थतया (निगोदजीव) सङ्ख्यां पिपृच्छिषुराह—'निगोयजीवा णं भंते! दव्वट्ठयाए' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! नो सङ्ख्येया नाप्यसङ्ख्येयाः किन्त्वनन्ताः प्रतिनिगोदमनन्तानां निगोदद्रव्यजीवानां भावात्। एवमपर्याप्तसूत्रं पर्याप्तसूत्रं च वक्तव्यं, तदेवं सामान्यतो निगोदद्रव्यविषयं सूत्रत्रिकमुक्तम्, एवं सूक्ष्मनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं बादरनिगोदजीवविषयं च सूत्रत्रिकं च वक्तव्यं सर्वसङ्ख्यया नव सूत्राणि। [एवमेव प्रदेशार्थताविषयाण्यपि नव सूत्राणि नानात्वाभावात्, भावना च सर्वत्रापि सुप्रतीता, ये किल द्रव्यार्थतयाऽनन्तास्ते प्रदेशार्थतया सुतरामनन्ताः प्रतिद्रव्यमसङ्ख्यातानां प्रदेशानां भावात्, सर्वसङ्ख्यया चामून्यष्टादश सूत्राणि]॥ तदेवं द्रव्यार्थविषयाणि नव सूत्राण्युक्तानि सम्प्रति प्रदेशार्थताविषयाणि नव सूत्राणि विवक्षुः प्रथमतः सामान्यतो निगोदविषयं सूत्रत्रयमाह—'निगोया णं भंते! पएसट्ठयाए' इत्यादि, 'निगोदाः' उक्तस्वरूपा णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! 'प्रदेशार्थतया' प्रदेशरूपतया चिन्त्यमानाः किं सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ताः?, भगवानाह—गौतम! नो सङ्ख्येया नो असङ्ख्येयाः किन्त्वनन्ताः, एकैकस्मिन् निगोदे प्रदेशानामनन्तत्वात्, एवं शेषाण्यष्टौ सूत्राणि पूर्वक्रमेण भावनीयानि॥ सम्प्रत्येतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते! णिगोदाण'मि-

त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका बादरनिगोदा मूलकन्दादिगताः पर्याप्तका द्रव्यार्थतया, प्रतिनियतक्षेत्रवर्त्तित्वात्,
तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्रयाऽसङ्ख्येयानामपर्याप्तानां बादरनिगोदानामु-
त्पादात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, सकललोकापन्नतया क्षेत्रस्यासङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वोघतोऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात्, 'पएसट्ठयाए' इति अत ऊर्द्धं प्रदे-
शार्थतया चिन्ता क्रियते, तामेव करोति—सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया द्रव्याणां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा
अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणा द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः
सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः द्रव्याणां सङ्ख्येयगुणत्वात्। 'दव्वट्ठपएसट्ठयाए'त्ति अधुना द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया
चिन्ता क्रियते—सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनि-
गोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, युक्तिः प्राक्तन्येव, तेभ्यो बादर-
निगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैकस्य निगोदस्य अनन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पन्नत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः
प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्योः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, युक्तिः प्राक्तन्येव,
तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, द्रव्याणां सङ्ख्येयगुणत्वात्, साम्प्रतमेतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्या-
र्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि, सर्वस्तोका बादरजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात्,
तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणा, निगोदानामसङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः अपर्याप्तका

द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, कारणं पूर्ववद् ऊह्यं, प्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया, द्रव्याणां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात्, एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसङ्ख्येयानां लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानां प्रदेशानां भावात्, तेभ्यः बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः बादरनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदपर्याप्तानामसङ्ख्यातगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तकाः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, भावना प्रागिव ॥ सम्प्रति सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, अत्र सर्वत्रापि युक्तिः प्रागुक्तैव, सूक्ष्मनिगोदेभ्यः पर्याप्तेभ्यो द्रव्यार्थतया बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, एकैकस्मिन् निगोदेऽनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः निगोदानामसङ्ख्यातत्वात्, एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया स-

ङ्ख्येयगुणाः, प्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया निगोदानां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः निगोदानामसङ्ख्येयगुणत्वात्, एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणाः, एकैकस्य निगोदस्यानन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पन्नत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः एकैकबादरपर्याप्तनिगोदनिश्रया सङ्ख्याऽतीतानां बादरपर्याप्तनिगोदानामुत्पादात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्यातगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, अत्र युक्तिर्निगोदानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणाः प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, अत्र युक्तिर्निगोदजीवानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो द्रव्यार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसङ्ख्येयानां लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानां प्रदेशानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, युक्तिरत्र निगोदजीवानां प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणचिन्तायामिव, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यः प्रदेशार्थतया चिन्ति-

तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणाः, एकैकस्मिन् निगोदेऽनन्तानामणूनां सद्भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, अत्र युक्तिर्निगोदानां प्रदेशार्थतया चिन्तायामिव, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि, एते षड्विधसंसारसमापन्नका जीवाः ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां पञ्चम्यां प्रतिपत्तौ षड्विधप्रतिपत्तिः ॥

अथ षष्ठी प्रतिपत्तिः

तदेवमुक्ता षड्विधप्रतिपत्तिः, अधुना क्रमप्राप्तां सप्तविधप्रतिपत्तिमाह—

तत्थ जे ते एवमाहंसु सत्तविहा संसारसमावण्णगा ते एवमाहंसु, तंजहा—नेरइया तिरिक्खा तिरिक्खजोणिणीओ मणुस्सा मणुस्सीओ देवा देवीओ ॥ णेरतियस्स ठिती जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, तिरिक्खजोणियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं, एवं तिरिक्खजोणिणीएवि, मणुस्साणवि मणुस्सीणवि, देवाणं ठिती जहा णेरइयाणं, देवीणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपण्णपलिओवमाणि ॥ नेरइयदेवदेवीणं जच्चेव ठिती सच्चेव संचिट्ठणा । तिरिक्खजोणिणीणं जहन्नेणं अंतोमु० उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं । एवं मणुस्सस्स मणुस्सीएवि ॥ णेरइयस्स अंतरं जह० अंतो-

मु० उक्कोसेणं वणस्सतिकालो। एवं सव्वाणं तिरिक्खजोणियवज्जाणं, तिरिक्खजोणियाणं जहण्णेणं अंतोमु० उक्को० सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ॥ अप्पाबहुयं—सव्वत्थोवाओ मणुस्सीओ मणुस्सा असंखेज्जगुणा नेरइया असंखेज्जगुणा तिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ देवा असंखेज्जगुणा देवीओ संखेज्जगुणाओ तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। सेत्तं सत्तविहा संसारसमावण्णगा जीवा ॥ (सू० २४०)

'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तः सप्तविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—नैरयिकास्तिर्यग्योनिकास्तिर्यग्योनिक्यः मनुष्या मानुष्यः देवा देव्यः ॥ तत्रामीषां सप्तानामपि क्रमेण स्थितिमाह—'नेरइयस्स णं भंते!' इत्यादि सप्तसूत्री, नैरयिकस्य जघन्येन दशवर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तिर्यग्योनिकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि। एवं तिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीसूत्राण्यपि वक्तव्यानि। देवसूत्रं नैरयिकवत्। देवीसूत्रे जघन्येन दश वर्षसहस्राणि, उत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, ईशानदेवीनामपरिगृहीतानामुत्कर्षत एतावत्स्थितिकत्वात् ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—'नेरइया णं भंते!' इत्यादि, नैरयिकाणां यदेव भवस्थितिपरिमाणं तदेव कायस्थितिपरिमाणमपि, नैरयिकस्य मृत्वा भूयोऽनन्तरं नैरयिकेपूत्पादाभावात्। तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरमन्यत्रोत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, अस्य भावार्थव्याख्या प्रागिव। तिर्यग्योनिकीसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तत ऊर्द्ध्वं मृत्वाऽन्यत्रोत्पादात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि

निरन्तरं सप्तसु पूर्वकोट्यायुष्केषु भवेष्वष्टमे च भवे देवकुर्वादिपूत्पन्नाया द्रष्टव्यानि । एवमेव मनुष्यसूत्रं मानुषीसूत्रं च, देवस्य देव्याश्च यैव भवस्थितिः सैव कायस्थितिः, देवस्य देव्याश्च मृत्वाऽनन्तरं तद्भावेनोत्पादाभावात् ॥ साम्प्रतमेषामन्तरं चिचिन्तयिषुराह— 'नेरइयस्स णं भंते!' इत्यादि, नैरयिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च नरकादुद्धृतस्य तिर्यग्मनुष्यगर्भे एवाशुभाध्यवसायेन मरणतः परिभावनीयं, सानुबन्धकर्म्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः, नरकादुद्धृत्तस्य पारम्पर्येणानन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानात्, तिर्यग्योनिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च तिर्यग्योनिकभवादुद्धृत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयस्तिर्यग्योनित्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यम्, उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । तिर्यग्योनिकीसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषीसूत्रे देवीसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः ॥ सम्प्रत्येतेषामेव सप्तानां पदानामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—सर्वस्तोका मानुष्यः, कतिपयकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, ताभ्यो मनुष्या असङ्ख्येयगुणाः, संमूर्च्छिममनुष्याणां श्रेण्यसङ्ख्येयप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्तिश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, ताभ्यो देवाः सङ्ख्येयगुणाः, वानमन्तरज्योतिष्काणामपि जलचरतिर्यग्योनिकीभ्यः सङ्ख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात्, तेभ्यो देव्यः सङ्ख्येयगुणा द्वात्रिंशद्गुणत्वात्, "वत्तीसगुणा वत्तीसरूवअहियाओ होंति देवाणं देवीओ" इति वचनात्, ताभ्यस्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तानन्तत्वात्, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि सुगमम् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां षष्ठयां प्रतिपत्तौ सप्तविधप्रतिपत्तिः ॥

अथ सप्तमी प्रतिपत्तिः

तदेवमुक्ता सप्तविधप्रतिपत्तिरधुना क्रमप्राप्तामष्टविधप्रतिपत्तिमाह—

तत्थ जे ते एवमाहंसु—अट्ठविहा संसारसमावण्णगा जीवा ते एवमाहंसु—पढमसमयनेरतिया अपढमसमयनेरइया पढमसमयतिरिक्खजोणिया अपढमसमयतिरिक्खजोणिया पढमसमयमणुस्सा अपढमसमयमणुस्सा पढमसमयदेवा अपढमसमयदेवा ॥ पढमसमयनेरइयस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा! पढमसमयनेरइयस्स जह० एक्कं समयं उक्को० एक्कं समयं । अपढमसमयनेरइयस्स जह० दसवाससहस्साइं समऊणाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समऊणाइं । पढमसमयतिरिक्खजोणियस्स जह० एक्कं समयं उक्को० एक्कं समयं, अपढमसमयतिरिक्खजोणियस्स जह० खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं समऊणाइं, एवं मणुस्साणवि जहा तिरिक्खजोणियाणं, देवाणं जहा णेरतियाणं ठिती ॥ णेरइयदेवाणं जच्चेव ठिती सच्चेव संचिट्ठणा दुविहाणवि । पढमसमयतिरिक्खजोणिए णं भंते! पढ० कालओ केवच्चिरं होति ?, गोयमा! जह० एक्कं समयं उक्को० एक्कं समयं, अपढमतिरिक्खजोणियस्स जह० खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं उक्कस्सेणं वणस्सतिकालो । पढमसमयमणुस्साणं जह० उ० एक्कं समयं,

अपढममणुस्स० जह० खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं उक्क० तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्त-
मब्भहियाइं ॥ अंतरं पढमसमयणेरातियस्स जह० दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं
उक्को० वणस्सतिकालो, अपढमसमय० जह० अंतोमु० उक्क० वणस्सतिकालो। पढमसमयतिरि-
क्खजोणिए जह० दो खुड्डागभवग्गहणाइं समऊणाइं उक्को० वणस्सतिकालो, अपढमसमयतिरि-
क्खजोणियस्स जह० खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं उक्को० सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं।
पढमसमयमणुस्सस्स जह० दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समऊणाइं उक्को० वणस्सतिकालो, अपढम-
समयमणुस्सस्स जह० खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं उक्को० वणस्सतिकालो। देवाणं जहा नेरइ-
याणं जह० दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्को० वणस्सइकालो, अपढमसमय० जह०
अंतो० उक्को० वणस्सइकालो ॥ अप्पाबहु० एतेसि णं भंते! पढमसमयनेरइयाणं जाव पढमसम-
यदेवाण य कतरे २ हिंतो०?, गोयमा! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा पढमसमयणेरइया असंखेज्ज-
गुणा पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा ॥ अपढमसमय-
नेरइयाणं जाव अपढमदेवाणं एवं चेव अप्पबहु० णवरि अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंत-
गुणा ॥ एतेसिं पढमसमयनेरइयाणं अपढम० णेरतियाणं कयरे २?, सव्वत्थोवा पढमसमयणेर-
तिया अपढमसमयनेरइया असंखेज्जगुणा, एवं सव्वे ॥ पढमसमयणेरइयाणं जाव अपढमसमय-

७ प्रतिपत्तौ
प्रथमसम-
यनैरयि-
कादिस्थि-
त्यादि
उद्देशः २
सू० २४१

देवाण य कयरे २?, सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा अपढमसमयमणुस्सा असंखेज्जगुणा पढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा अपढमसमयनेरइया असंखेज्जगुणा अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। सेत्तं अट्ठविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ॥ (सू० २४१)

अट्ठविहपडिवत्ती समत्ता ॥

'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तः—अष्टविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—प्रथमसमयनैरयिका अप्रथमसमयनैरयिकाः, प्रथमसमयतिर्यग्योनिका अप्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः, प्रथमसमयमनुष्या अप्रथमसमयमनुष्याः, प्रथमसमयदेवा अप्रथमसमयदेवाः, तत्र प्रथमसमयनारका नारकायुःप्रथमसमयसंवेदिनः अप्रथमसमयनारका नारकायुर्द्व्यादिसमयवर्त्तिनः, एवं तिर्यग्योनिकादयो भावनीयाः ॥ साम्प्रतमेतेषामष्टानां क्रमेण स्थितिमाह—'पढमसमयनेरइयस्स ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! एकं समयं, द्व्यादिषु समयेषु प्रथमसमयत्वविशेषणायोगात्, अप्रथमसमयप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येन दशवर्षसहस्राणि समयोनानि, समयातिक्रान्तावेवाप्रथमसमयविशेषणत्वभावात्, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयोनानि। तिर्यग्योनिकादीनां प्रथमसमयानां सर्वेषामेकं समयं, अप्रथमसमयतिर्यग्योनिकानां जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं समयोनं, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि समयोनानि। एवं अप्रथमसमयमनुष्याणामपि। अप्रथमसमयदेवानां जघन्येन दश वर्षसहस्राणि समयोनानि, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि समयोनानि ॥ अधुनैषामेव कायस्थितिमाह—'पढमसमयनेरइया णं भंते! पढमसमयनेरइयत्ति

कालतो केवचिरं होइ ?' इति प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! एकं समयं, तदनन्तरं प्रथमसमयत्वविशेषणायोगात् । अप्रथमसमयसूत्रे यदेव स्थितिपरिमाणं तदेव कायस्थितिपरिमाणमपि, देवनैरयिकाणां भूयो भूयस्तद्भावभावितया नैरन्तर्येणोत्पादायोगात् । प्रथमसमयतिर्यग्योनिकसूत्रं प्रथमसमयनैरयिकसूत्रवत्, अप्रथमतिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं समयोनं, समयोनता प्रथमसमयहीनत्वात्, उत्कर्षतोऽनन्तकालं, स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपः । प्रथमसमयमनुष्यसूत्रं पूर्ववत्, अप्रथमसमयमनुष्यसूत्रे जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं समयोनं, तदनन्तरं मृत्वाऽन्यत्रोत्पादात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि समयोनानि, तानि सप्तसु भवेषु पूर्वकोट्यायुष्केष्वष्टमे भवे देवकुर्वादिषूत्पद्यमानस्य वेदितव्यानि, देवा यथा नैरयिकाः ॥ साम्प्रतमेतेषामेवाष्टानामन्तरं क्रमेण चिन्तयन्नाह—'पढमसमयनेरइयस्स णं भंते !' इत्यादि, प्रथमसमयनैरयिकस्य भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि, तानि दशवर्षसहस्रस्थितिकस्य नैरयिकस्य नरकादुद्वृत्त्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो नैरयिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यानि, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः, नरकादुद्धृत्य पारम्पर्येण वनस्पतिषु गत्वाऽनन्तमपि कालमवस्थानात्, अप्रथमसमयनैरयिकसूत्रे जघन्यमन्तरं समयाधिकमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च नरकादुद्धृत्य तिर्यग्गर्भे मनुष्यगर्भे वाऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो नरकेषूत्पद्यमानस्य भावनीयं, समयाधिकता च प्रथमसमयस्याधिकत्वात्, कचिदन्तर्मुहूर्त्तमित्येव दृश्यते, तत्र प्रथमसमयोऽन्तर्मुहूर्त्त एवान्तर्भावित इति पृथमोक्तः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः। प्रथमसमयतिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्येनान्तरं द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे समयोने, ते च क्षुल्लकमनुष्यभवग्रहणव्यवधानतः पुनस्तिर्यक्ष्वेवोत्पद्यमानस्यावसातव्ये, तथाहि—एकं प्रथमसमयोनं तिर्यक्क्षुल्लकभवग्रहणं द्वितीयं संपूर्णमेव मनुष्यक्षुल्लकभवग्रहणमिति,

उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, तदतिक्रमे मनुष्यभवव्यवधानेन भूयः प्रथमसमयतिर्यक्त्वोपपत्तेः, अप्रथमसमयतिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्येनान्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं, तत्तु तिर्यग्योनिकक्षुल्लकभवग्रहणचरमसमयस्याधिकृताप्रथमसमयत्वात्तत्र मृतस्य मनुष्यक्षुल्लकभवग्रहणेन व्यवधाने सति तिर्यक्त्वेनोत्पद्यमानस्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यं, अप्रथमसमयान्तरस्यैतावन्मात्रत्वात्, उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं, देवादिभवानामेतावन्मात्रकालत्वात् । मनुष्यवक्तव्यता तिर्यग्वक्तव्यतेव, नवरं तत्र तिर्यक्क्षुल्लकभवग्रहणेन व्यवधानं भावनीयम् । देवसूत्रद्वयं नैरयिकसूत्रद्वयवत् ॥ सम्प्रत्येषामेव चतुर्णां प्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसङ्ख्येयभागमात्रत्वात्, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसम्भवात्, तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असङ्ख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसम्भवात्, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसङ्ख्येयगुणाः, इह ये नारकादिगतित्रयादागत्य तिर्यक्त्वप्रथमसमये ये वर्त्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यञ्चो, न शेषाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदमसङ्ख्येयो भागः सदा विग्रहगतिप्रथमसमयवर्त्ती लभ्यते तथाऽपि निगोदानामपि तिर्यक्त्वान्न ते प्रथमसमयतिर्यञ्चः ते एभ्यः सङ्ख्येयगुणा एव ॥ साम्प्रतमेतेषामेव चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसङ्ख्येयभागत्वात्, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असङ्ख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामपि प्रभूतत्वात्, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् ॥ साम्प्रतमेतेषामेव नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः

प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन् समये सङ्ख्यातीताना [ग्रन्थाग्रम् १३०००] मपि स्तोकानामेवोत्पादात्, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायिनां तेषामन्याऽन्योत्पादेनातिप्रभूतभावात्। एवं तिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसूत्राण्यपि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्योनिकसूत्रेऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका 'अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात्॥' साम्प्रतमेषामेव नैरयिकादीनां प्रथमाप्रथमसमयानां समुदायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, एकस्मिन् समये सङ्ख्यातीतानामपि स्तोकानामेवोत्पादात्, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असङ्ख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायितयाऽतिप्राभूत्येन लभ्यमानत्वात्, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसम्भवात्, तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असङ्ख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन्नपि समये प्राचुर्येण कदाचिदुत्पादात्, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असङ्ख्येयगुणाः, नारकवर्जगतित्रयादप्युत्पादसम्भवात्, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात्, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां सप्तम्यां प्रतिपत्तौ अष्टविधप्रतिपत्तिः॥

अथाष्टमी प्रतिपत्तिः

तदेवमुक्ताऽष्टविधप्रतिपत्तिरधुना क्रमप्राप्तां नवविधप्रतिपत्तिमाह—

तत्थ णं जे ते एवमाहंसु णवविधा संसारसमावण्णगा ते एवमाहंसु—पुढविकाइया आउक्काइया

तेउक्काइया वाउक्काइया वणस्सइकाइया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया ॥ ठिती सव्वेसिं भाणियव्वा ॥ पुढविक्काइयाणं संचिट्ठणा पुढविकालो जाव वाउक्काइयाणं, वणस्सईणं वणस्सतिकालो, बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया संखेज्जं कालं, पंचेंदियाणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं ॥ अंतरं सव्वेसिं अणंतं कालं, वणस्सतिकाइयाणं असंखेज्जं कालं ॥ अप्पाबहुगं, सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसेसाहिया तेइंदिया विसेसाहिया बेइंदिया विसेसाहिया तेउक्काइया असंखे० पुढविका० आउ० वाउ० विसेसाहिया वणस्सतिकाइया अणंतगुणा । सेत्तं णवविधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ॥ (सू० २४२) णवविहपडिवत्ती समत्ता ॥

'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तो नवविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः, अमीषां शब्दार्थभावना प्राग्वत् ॥ साम्प्रतमेतेषां स्थितिनिरूपणार्थं सूत्रनवकमाह—'पुढविक्काइयस्स णं भंते!' इत्यादि, एष सङ्क्षेपार्थः—सर्वत्रापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पृथिवीकायिकस्य द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, अप्कायिकस्य सप्तवर्षसहस्राणि, तेजस्कायिकस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि, वायुकायिकस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि, वनस्पतिकायिकस्य दशवर्षसहस्राणि, द्वीन्द्रियस्य द्वादश संवत्सराणि, त्रीन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशद् रात्रिंदिवानि, चतुरिन्द्रियस्य षण्मासाः, पञ्चेन्द्रियस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥ सम्प्रति कायस्थितिप्रतिपादनार्थं सूत्रनवकमाह—'पुढविक्काइए णं भंते!' इत्यादि, सर्वत्र जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पृथिवीकायस्यासङ्ख्येयं कालमसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽ-

सङ्ख्येया लोकाः, एवमप्तेजोवायुकायिकानामपि द्रष्टव्यं, वनस्पतिकायिकस्यानन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, द्वीन्द्रियस्य सङ्ख्येयं कालं, एवं त्रीन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियस्य पञ्चेन्द्रियस्य च सागरोपमसहस्रं सातिरेकम् ॥ साम्प्रतमन्तरप्रतिपादनार्थमाह—'**पुढविक्काइयस्स णं**'मित्यादि, पृथिवीकायिकस्य भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, अन्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन कस्याप्युत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, पृथिवीकायादुद्धृत्य वनस्पतिष्वेतावन्तं कालं कस्याप्यवस्थानसम्भवात्, एवमप्तेजोवायुद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाणामपि वक्तव्यं, वनस्पतिकायिकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तद्भावना प्रागिव, उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, शेषकायेपूत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात् ॥ साम्प्रतमेतेषामल्पबहुत्वमाह—'**एएसि णं**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः सङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्यो द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्तेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलो-

काकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि सुगमम् ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां अष्टम्यां प्रतिपत्तौ नवविधप्रतिपत्तिः समाप्ता ॥

अथ नवमी प्रतिपत्तिः

उक्ता नवविधप्रतिपत्तिः, सम्प्रति क्रमप्राप्तां दशविधप्रतिपत्तिं प्रतिपादयति—

तत्थ णं जे ते एवमाहंसु दसविधा संसारसमावण्णगा जीवा ते एवमाहंसु तंजहा—पढमसमयएगिंदिया अपढमसमयएगिंदिया पढमसमयबेइंदिया अपढमसमयबेइंदिया जाव पढमसमयपंचिंदिया अपढमसमयपंचिंदिया, पढमसमयएगिंदियस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्को० एक्कं, अपढमसमयएगिंदियस्स जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं उक्को० बावीसं वाससहस्साइं समऊणाइं, एवं सव्वेसिं पढमसमयिकाणं जहण्णेणं एक्को समओ उक्कोसेणं एक्को समओ, अपढम० जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं उक्कोसेणं जा जस्स ठिती सा समऊणा जाव पंचिंदियाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समऊणाइं ॥ संचिट्ठणा पढमसमइयस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं एक्कं समयं, अपढमसमयकाणं जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं समऊणं

उक्कोसेणं एगिंदियाणं वणस्सतिकालो, बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं संखेज्जं कालं पंचेंदियाणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं ॥ पढमसमयएगिंदियाणं केवतियं अंतरं होति ?, गोयमा ! जहन्नेणं दो खुड्डागभवग्गहणाइं समऊणाइं, उक्को० वणस्सतिकालो, अपढमएगिंदिय० अंतरं जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं उक्को० दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, सेसाणं सव्वेसिं पढमसमयिकाणं अंतरं जह० दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समऊणाइं उक्को० वणस्सतिकालो, अपढमसमयिकाणं सेसाणं जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं उक्को० वणस्सतिकालो ॥ पढमसमइयाणं सव्वेसिं सव्वत्थोवा पढमसमयपंचेंदिया पढम० चउरिंदिया विसेसाहिया पढम० तेइंदिया विसेसाहिया प० बेइंदिया विसेसाहिया प० एगिंदिया विसेसाहिया ॥ एवं अपढमसमयिकावि णवरि अपढमसमयएगिंदिया अणंतगुणा । दोण्हं अप्पबहु, सव्वत्थोवा पढमसमयएगिंदिया अपढमसमयएगिंदिया अणंतगुणा सेसाणं सव्वत्थोवा पढमसमयिगा अपढम० असंखेज्जगुणा ॥ एतेसि णं भंते ! पढमसमयएगिंदियाणं अपढमसमयएगिंदियाणं जाव अपढमसमयपंचिंदियाण य कयरे २ ?, सव्वत्थोवा पढमसमयपंचेंदिया पढमसमयचउरिंदिया विसेसाहिया पढमसमयतेइंदिया विसेसाहिया एवं हेट्ठामुहा जाव पढमसमयएगिंदिया विसेसाहिया अपढमसमयपंचेंदिया असंखेज्जगुणा अपढमसमयचउरिंदिया विसेसाहिया जाव

अपढमसमयएगिंदिया अणंतगुणा ॥ (सू० २४३) ॥ सेत्तं दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, सेत्तं संसारसमावण्णगजीवाभिगमे ॥

'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तो दशविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—प्रथमसमयैकेन्द्रिया अप्रथमसमयैकेन्द्रियाः प्रथमसमयद्वीन्द्रिया अप्रथमसमयद्वीन्द्रियाः प्रथमसमयत्रीन्द्रिया अप्रथमसमयत्रीन्द्रियाः प्रथमसमयचतुरिन्द्रिया अप्रथमसमयचतुरिन्द्रियाः प्रथमसमयपञ्चेन्द्रिया अप्रथमसमयपञ्चेन्द्रियाः प्रथमसमयाप्रथमसमयव्याख्यानं पूर्ववत्॥ साम्प्रतमेतेषामेव दशानां क्रमेण स्थितिं निरूपयति—**'पढमसमये'**त्यादि, प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! एकं समयं, द्वितीयादिषु समयेषु प्रथमसमयत्वविशेषणस्यायोगात्, एवं प्रथमसमयद्वीन्द्रियादिसूत्रेष्वपि वक्तव्यं, अप्रथमसमयैकेन्द्रियसूत्रे जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं—षट्पञ्चाशदधिकावलिकाशतद्वयप्रमाणं समयोनं, समयोनता प्रथमसमयेऽप्रथमसमयत्वायोगात्, उत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि समयोनानि, प्रथमसमयेन हीनत्वात्, अप्रथमसमयद्वीन्द्रियसूत्रे जघन्यं पूर्ववत्, उत्कर्षतो द्वादश संवत्सराः समयोनाः, अप्रथमसमयत्रीन्द्रियसूत्रेऽपि जघन्यं तथैव, उत्कर्षत एकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि समयोनानि, अप्रथमसमयचतुरिन्द्रियसूत्रेऽपि जघन्यं तथैव, उत्कर्षतः षण्मासाः समयोनाः, अप्रथमसमयपञ्चेन्द्रियसूत्रे जघन्यं प्राग्वत्, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयोनानि, समयोनता सर्वत्रापि प्रथमसमयेन हीना प्रतिपत्तव्या ॥ साम्प्रतमेतेषां क्रमेण कायस्थितिमाह—**'पढमसमये'** इत्यादि, प्रथमसमयैकेन्द्रियो भदन्त! प्रथमसमयैकेन्द्रिय इति—प्रथमसमयैकेन्द्रियत्वेन कालतः **'कियच्चिरं'** कियन्तं कालं यावद्भवति?, भगवानाह

—गौतम! एकं समयं तत ऊर्ध्वं प्रथमसमयत्वायोगात्, एवं प्रथमसमयद्वीन्द्रियादिष्वपि वाच्यं। अप्रथमसमयैकेन्द्रियसूत्रे जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं समयोनं, तत ऊर्ध्वमन्यत्र कस्याप्युत्पादात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, एतावन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानसंभवात्। अप्रथमसमयद्वीन्द्रियसूत्रे जघन्यं तथैव, उत्कर्षतः सङ्ख्येयं कालं, तत ऊर्ध्वमवश्यमुद्वर्त्तनाद्, एवमप्रथमसमयत्रिचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि वक्तव्ये, अप्रथमसमयपञ्चेन्द्रियसूत्रे जघन्यं तथैव, उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, देवादिभवभ्रमणस्य सातत्येनोत्कर्षतोऽप्येतावत्कालप्रमाणत्वात्॥ साम्प्रतमन्तरं चिचिन्तयिपुराह—'पढमसमये'त्यादि, प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! जघन्यतो द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे समयोने, ते च क्षुल्लकभवग्रहणे द्वीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेकेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यमानस्यावसातव्ये, तथाहि—एकं प्रथमसमयोनमेकेन्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव, द्वितीयं संपूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्यतमक्षुल्लकभवग्रहणमिति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स चानन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भाग इत्येवंस्वरूपः, तथाहि—एतावन्तं हि कालं सोऽप्रथमसमयो न तु प्रथमसमयः, ततो द्वीन्द्रियादिषु क्षुल्लकभवग्रहणमवस्थायैकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय इति भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं, अप्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं, तथैकेन्द्रियभवगतचरमसमयस्याप्यप्रथमसमयत्वात्तत्र मृतस्य द्वीन्द्रियादिक्षुल्लकभवग्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यं, एतावन्तं कालमप्रथमसमयान्तरभावात्, उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे सङ्ख्येयवर्षाभ्यधिके, द्वीन्द्रियादिभवभ्रमणस्योत्कर्षतोऽपि सातत्येनैतावन्तं कालं सम्भवात्, प्र-

थमसमयद्वीन्द्रियस्य जघन्येनान्तरं द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे समयोने, तद्यथा—एकं द्वीन्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव प्रथमसमयोनं, द्वितीयं सम्पूर्णमेवैकेन्द्रियत्रीन्द्रियाद्यन्यतमक्षुल्लकभवग्रहणं, (मिति, एवं प्रथमसमयत्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाणामप्यन्तरं वेदितव्यं, अप्रथमसमयद्वीन्द्रियस्य जघन्येनान्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्चैकेन्द्रियादिषु) [एवं प्रथमसमयत्रीन्द्रिय]क्षुल्लकभवं स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यं, उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, एतावांश्च द्वीन्द्रियभवादुद्धृत्यैतावन्तं कालं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे भावनीयः, एवमप्रथमसमयत्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाणामपि जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं, भावनाप्येतदनुसारेण स्वयं भावनीया ॥ साम्प्रतमेतेषामेकेन्द्रियादिप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयपञ्चेन्द्रियाः, अल्पानामेवैकस्मिन् समये तेषामुत्पादात्, तेभ्यः प्रथमसमयचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तेषामेकस्मिन् समये उत्पादसम्भवात्, तेभ्यः प्रथमसमयत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां तेषामेकस्मिन् समये उत्पादात्, तेभ्यः प्रथमसमयद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तेषामेकस्मिन् समये उत्पादात्, तेभ्यः प्रथमसमयैकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, इह ये द्वीन्द्रियादिभ्य उद्धृत्य एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यन्ते त एव प्रथमे समये वर्त्तमानाः प्रथमसमयैकेन्द्रिया नान्ये, ते च प्रथमसमयद्वीन्द्रियेभ्यो विशेषाधिका एव नासङ्ख्येया नानन्तगुणा इति ॥ साम्प्रतमप्रथमसमयानामेतेषामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका अप्रथमसमयपञ्चेन्द्रियाः, तेभ्योऽप्रथमसमयचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्रथमसमयत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्रथमसमयद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, अत्र युक्तिर्नवविधप्रतिपत्तौ सामान्यतो द्वित्रिच-

तुष्पञ्चेन्द्रियाणां बहुत्वचिन्तायामिव भावनीया, तेभ्योऽप्रथमसमयैकेन्द्रिया अनन्तगुणा वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् ॥ साम्प्रतमेकेन्द्रियादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुः प्रथमत एकेन्द्रियाणां तावदाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयैकेन्द्रियाः, अल्पानामेवैकस्मिन् समये द्वीन्द्रियादिभ्य आगतानामुत्पादात्, तेभ्योऽप्रथमसमयैकेन्द्रिया अनन्तगुणा वनस्पतीनामनन्तत्वात् । द्वीन्द्रियसूत्रे सर्वस्तोकाः प्रथमसमयद्वीन्द्रिया अप्रथमसमयद्वीन्द्रिया असङ्ख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्ययाऽप्यसङ्ख्यातत्वात्, एवं त्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियसूत्राण्यपि वक्तव्यानि ॥ साम्प्रतमेतेषां दशानामपि परस्परमल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयपञ्चेन्द्रियाः, तेभ्यः प्रथमसमयचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्यः प्रथमसमयत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्यः प्रथमसमयद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्यः प्रथमसमयैकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, अत्र युक्तिः प्रथमाल्पबहुत्ववत्, तेभ्योऽप्रथमसमयपञ्चेन्द्रिया असङ्ख्येयगुणाः, अप्रथमसमयैकेन्द्रिया हि द्वीन्द्रियादिभ्य उद्धृत्यैकेन्द्रियभवप्रथमसमये वर्त्तमानास्ते च स्तोका एव, पञ्चेन्द्रियास्त्वप्रथमसमयवर्त्तिनश्चिरकालावस्थितया गतिचतुष्टयेऽप्यतिप्रभूतास्ततोऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयचतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्रथमसमयत्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्रथमसमयद्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्रथमसमयैकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, अत्र युक्तिर्द्वितीयाल्पबहुत्ववत्, उपसंहारमाह—'सेत्तं दसविहा संसारसमापन्ना जीवा'। मूलोपसंहारमाह—'सेत्तं संसारसमापन्नजीवाभिगमे' ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाभिगमटीकायां दशविधप्रतिपत्तिः समाप्ता ॥ तत्समाप्तौ च समाप्तः संसारसमापन्नजीवाभिगमः ॥

तदेवमुक्तः संसारसमापन्नजीवाभिगमः, साम्प्रतं संसारासंसारसमापन्नजीवाभिगममभिधित्सुराह—

से किं तं सव्वजीवाभिगमे?, सव्वजीवेसु णं इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति एगे एवमाहंसु—दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता जाव दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता ॥ तत्थ जे ते एवमाहंसु दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—सिद्धा य असिद्धा य इति ॥ सिद्धे णं भंते! सिद्धेत्ति कालतो केवचिरं होति?, गोयमा! सातीअपज्जवसिए ॥ असिद्धे णं भंते! असिद्धेत्ति०?, गोयमा! असिद्धे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए अणातीए वा सपज्जवसिए ॥ सिद्धस्स णं भंते! केवतिकालं अंतरं होति?, गोयमा! सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ॥ असिद्धस्स णं भंते! केवइयं अंतरं होइ?, गोयमा! अणातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, अणातियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ॥ एएसि णं भंते! सिद्धाणं असिद्धाण य कयरे २?, गोयमा! सव्वत्थोवा सिद्धा असिद्धा अणंतगुणा (सू० २४४)

'से किं त'मित्यादि, अथ कोऽसौ सर्वजीवाभिगमः?, सर्वजीवाः संसारिमुक्तभेदाः, गुरुराह—'सव्वजीवेसु ण'मित्यादि, सर्वजीवेषु सामान्येन 'एताः' अनन्तरं वक्ष्यमाणा नव प्रतिपत्तयः 'एवम्' अनन्तरमुपदर्श्यमानेन प्रकारेणाख्यायन्ते, ता एवाह—एके एवमुक्तवन्तो—द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः, एक एवमुक्तवन्तस्त्रिविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः, एवं यावदेके एवमुक्तवन्तो दशविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः ॥ 'तत्थे'त्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तो द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—सिद्धाश्चासिद्धाश्च, सितं—

वद्धमष्टप्रकारं कर्म्म ध्मातं—भस्मीकृतं यैस्ते सिद्धाः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः, निर्दग्धकर्म्मेन्धना मुक्ता इत्यर्थः, 'असिद्धाः' संसारिणः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसंदर्शनार्थौ ॥ सम्प्रति सिद्धस्य कायस्थितिमाह—'सिद्धे णं'मित्यादि, सिद्धो भदन्त! सिद्ध इति—सिद्धत्वेन कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! सिद्धः सादिकोऽपर्यवसितः, तत्र सादिता संसारविप्रमुक्तिसमये सिद्धत्वभावात्, अपर्यवसितता सिद्धत्वच्युतेरसम्भवात् ॥ असिद्धविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! असिद्धो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिकोऽपर्यवसितः अनादिकः सपर्यवसितः, तत्र यो न जातुचिदपि सेत्स्यति अभव्यत्वात्तथाविधसामग्र्यभावाद्वा सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु सिद्धिं गतः सोऽनादिसपर्यवसितः ॥ साम्प्रतमन्तरं चिचिन्तयिषुराह—'सिद्धस्स णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्, अत्र 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति न्यायात् हेतौ षष्ठी, ततोऽयमर्थः—यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मान्नास्त्यन्तरम्, अन्यथाऽपर्यवसितत्वायोगात् ॥ असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युतेः, अनादिकसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं, भूयोऽसिद्धत्वायोगात् ॥ साम्प्रतमेतेषामेवाल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकाः सिद्धाः असिद्धा अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामतिप्रभूतत्वात् ॥

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—सइंदिया चेव अणिंदिया चेव। सइंदिए णं भंते! कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते—अणातीए वा अपज्जवसिए अणाईए वा सपज्जवसिए, अणिंदिए सातीए वा अपज्जवसिए, दोण्हवि अंतरं नत्थि। सव्वत्थोवा अणिं-

दिया सइंदिया अणंतगुणा। अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा—सकाइया चेव अकाइया चेव एवं चेव, एवं सजोगी चेव अजोगी चेव तहेव, [एवं सलेस्सा चेव अलेस्सा चेव, ससरीरा चेव असरीरा चेव] संचिट्ठणं अंतरं अप्पाबहुयं जहा सइन्दियाणं॥ अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—सवेदगा चेव अवेदगा चेव॥ सवेदए णं भंते! सवे०? गोयमा! सवेयए तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—अणादीए अपज्जवसिते अणादीए सपज्जवसिए साइए सपज्जवसिए, तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अंतोमु० उक्को० अणंतं कालं जाव खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं॥ अवेदए णं भंते! अवेयएत्ति कालओ केवचिरं होइ?, गोयमा! अवेदए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सातीए वा अपज्जवसिते साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिते से जहण्णेणं एक्कं समयं उक्को० अंतोमुहुत्तं॥ सवेयगस्स णं भंते! केवतिकालं अंतरं होइ?, अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, अणादियस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, सादीयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं॥ अवेदगस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, सातीयस्स सपज्जवसियस्स जह० अंतोमु० उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। अप्पाबहुगं, सव्वत्थोवा अवेयगा सवेयगा अणंतगुणा। एवं सकसाई चेव अकसाई चेव २ जहा सवे-

यके तहेव भाणियव्वे ॥ अहवा दुविहा सव्वजीवा—सलेसा य अलेसा य जहा असिद्धा सिद्धा, सव्वत्थोवा अलेसा सलेसा अणंतगुणा (सू० २४८)

अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सेन्द्रियाश्च अनिन्द्रियाश्च, तत्र सेन्द्रियाः—संसारिणः अनिन्द्रियाः—सिद्धाः, उपाधिभेदात्पृथगुपन्यासः । एवं सकायिकादिष्वपि भावनीयं, तत्र सेन्द्रियस्य कायस्थितिरन्तरं चासिद्धवद्वक्तव्यं, अनिन्द्रियस्य सिद्धवत्, तच्चैवम्—'सइंदिए णं भंते! सइंदियत्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! सइंदिए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए, अणिंदिए णं भंते! अणिंदिएत्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! साइए अपज्जवसिए, सइंदियस्स णं भंते! कालओ केवचिरं अंतरं होइ?, गोयमा! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणिंदियस्स णं भंते! अंतरं कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! साइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं' इति, अल्पबहुत्वसूत्रं पूर्ववद्भावनीयं। एवं कायस्थित्यन्तराल्पबहुत्वसूत्राणि सकायिकाकायिकविषयाणि सयोग्ययोगिविषयाण्यपि भावयितव्यानि, तच्चैवम्—'अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—सकाइया चेव अकाइया चेव, एवं सजोगी चेव अजोगी चेव तहेव, एवं सलेस्सा चेव अलेस्सा चेव ससरीरा चेव असरीरा चेव संचिट्ठणं अंतरं अप्पाबहुयं जहा सकाइयाणं ।' भूयः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सवेदकाश्च अवेदकाश्च । तत्र सवेदकस्य कायस्थितिमाह—'सवेदए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम!-सवेदकस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनाद्यपर्यवसितः अनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितश्च, तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यो भव्यो वा तथाविधसामग्र्यभावान्मुक्तिमगन्ता, उक्तञ्च—"भव्वावि न सिज्झंति केइ" इत्यादि, अनादिसपर्यवसितो

भव्यो मुक्तिगामी पूर्वमप्रतिपन्नोपशमश्रेणिः, सादिसपर्यवसितः पूर्वं प्रतिपन्नोपशमश्रेणिः, उपशमश्रेणिं प्रतिपद्य वेदोपशमोत्तरकालावे-
दकत्वमनुभूय श्रेणिसमाप्तौ भवक्षयादपान्तराले मरणतो वा प्रतिपततो वेदोदये पुनः सवेदकत्वोपपत्तेः, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितो
जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेन श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वभावात्, आह—किमेकस्मिन् जन्मनि वेलाद्वय-
मुपशमश्रेणिलाभो भवति? यदेवमुच्यते, सत्यमेतद्भवति, तथा चाह मूलटीकाकारः—"नैकस्मिन् जन्मनि उपशमश्रेणिः क्षपकश्रेणिश्च
जायते, उपशमश्रेणिद्वयं तु भवत्येवे"ति, तत एवमुपपद्यते—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—
अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः एषा कालतो मार्गणा, क्षेत्रतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं देशोनम्, एतावतः कालादूर्द्ध्वं पूर्वप्रतिपन्नोपशमश्रेणेर-
वश्यं मुक्त्यासन्नतया श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वभावात् ॥ 'अवेदए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! अवेदको
द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वाऽपर्यवसितः [समयानन्तरं] क्षीणवेदः, सादिको वा सपर्यवसित—उपशान्तवेदः, तत्र योऽसौ सादि-
सपर्यवसितोऽवेदकः स च जघन्येनैकं समयं, उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरेऽपि मरणे पुनः सवेदकत्वोपपत्तेः, उत्क-
र्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुपशान्तवेदश्रेणिकालं, तत ऊर्द्ध्वं श्रेणेः प्रतिपतने नियमतः सवेदकत्वभावात् ॥ अन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—'सवेद-
गस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अनादिकस्यापर्यवसितस्य सवेदकस्य नास्त्यन्तरं, अपर्यवसिततया सदा
तद्भावापरित्यागात्, अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं, अनादिसपर्यवसितो ह्यपान्तराले उपशमश्रेणिमप्रतिपद्य भावी क्षीण-
वेदो न च क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपाताभावात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं, द्वितीयवा-
रमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरं कस्यापि मरणसम्भवात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं द्वितीयं वारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्योपशा-

न्तवेदस्य श्रेणिसमाप्तेरूर्द्ध्वं पुनः सवेदकत्वभावात् ॥ अवेदकसूत्रे सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तरं, क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वाभावात्, वेदानां निर्मूलकापंकपितत्वात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, उपशमश्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमश्रेणिलाभतोऽवेदकत्वोपपत्तेः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं देशोनं, एकवारमुपश्रेणिं प्रतिपद्य तत्रावेदको भूत्वा श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता कालेन श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वोपपत्तेः ॥ अल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते! जीवा' इत्यादि पूर्ववत् ॥ प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वे जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सकषायिकाश्च अकषायिकाश्च, सह कषाया येषां यैर्वा ते सकषायाः त एव सकषायिकाः, प्राकृतत्वात् स्वार्थे इकप्रत्ययः, एवं न विद्यन्ते कषाया येषां ते अकषायाः २ एवाकषायिकाः ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—'सकसाइयस्से'त्यादि, सकषायिकस्य त्रिविधस्यापि संचिट्ठणा कायस्थितिरन्तरं च यथा सवेदकस्य, अकषायिकस्य द्विविधभेदस्यापि कायस्थितिरन्तरं च यथाऽवेदकस्य, तच्चैवम्—'सकसाइए णं भंते! सकसाइयत्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! सकसाइए तिविहे पन्नत्ते, तंजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ जे से साइए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंता ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, अकसाइए णं भंते! अकसाइयत्ति कालओ केवचिरं होइ?, गोयमा! अकसाइए दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—साइए वा अपज्जवसिए साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ णं जे साइए सपज्जवसिए से जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। सकसाइयस्स णं भंते! अंतरं कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं

उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं, अकसाइयस्स णं भंते! केवइयं कालं अंतरं होइ?, साइयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अनंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूण'मिति, अस्य व्याख्या पूर्ववत् । अल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते! जीवाणं सकसाइयाण'मित्यादि प्राग्वत् ॥ प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—

णाणी चेव अण्णाणी चेव ॥ णाणी णं भंते! कालओ०?, २ दुविहे पन्नत्ते—सातीए वा अपज्जवसिए सादीए वा सपज्जवसिए, तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिते से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं, अण्णाणी जहा सवेदया ॥ णाणिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । अण्णाणियस्स दोण्हवि आदिल्लाणं णत्थि अंतरं, सादीयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं अंतोमु० उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं । अप्पाबहु सव्वत्थोवा णाणी अण्णाणी अणंतगुणा ॥ अहवा दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता—सागारोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य, संचिट्ठणा अन्तरं च जहण्णेणं उक्कोसेणवि अन्तोमुहुत्तं, अप्पाबहु सागारो० संखे० (सू० २४६)

'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सलेश्याश्च अलेश्याश्च, तत्र सलेश्यस्य कायस्थितिरन्तरं चासिद्धस्येव, अलेश्यस्य कायस्थितिरन्तरं च यथा सिद्धस्य । अल्पबहुत्वं प्राग्वत् । भूयः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ज्ञानिनश्च अज्ञानिनश्च, ज्ञानमेषामस्तीति ज्ञानिनः न ज्ञानिनोऽज्ञानिनः मिथ्याज्ञाना इत्यर्थः ॥ सम्प्रति

कायस्थितिमाह—'णाणी णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! ज्ञानी द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वाऽपर्यवसितः, स च केवली केवलज्ञानस्य साद्यपर्यवसितत्वात्, सादिको वा सपर्यवसितो मतिज्ञानादिमान्, मतिज्ञानादीनां छाद्मस्थिकतया सादिसपर्यवसितत्वात्; 'तत्थ णं'मित्यादि, तत्र योऽसौ सादिकः सपर्यवसितः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, सम्यक्त्वस्य जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात् सम्यक्त्ववतश्च ज्ञानित्वात्, यथोक्तम्—"सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः" इति, उत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि, सम्यग्दर्शनकालस्याप्युत्कर्षत एतावन्मात्रत्वात्, अप्रतिपतितसम्यक्त्वस्य विजयादिगमनश्रवणात्, तथा च भाष्यम्—"दो वारे विजयाइसु गयस्स तिण्णिऽच्चुए अहव ताइं। अइरेगं नरभवियं नाणाजीवाण सव्वद्धा ॥ १ ॥" [द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य अथवा त्रीनच्युते तानि। अतिरेको नरभविकं नानाजीवानां सर्वाद्धा ॥ १ ॥] 'अण्णाणी णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अज्ञानी त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसितः अनादिको वा सपर्यवसितः सादिको वा सपर्यवसितः, तत्रानाद्यपर्यवसितो यो न जातुचिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिसपर्यवसितो योऽनादिमिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वमासाद्याप्रतिपतितसम्यक्त्व एव क्षपकश्रेणिं प्रतिपत्स्यते, सादिसपर्यवसितः सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा जातमिथ्यादृष्टिः, स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य पुनरन्तर्मुहूर्त्तेन कस्यापि सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिसम्भवात्, उत्कर्षेणानन्तं कालं, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं ॥ साम्प्रतमन्तरं प्रतिपादयति—'णाणिस्स णं भंते!' इत्यादि, ज्ञानिनो भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं, अपर्यवसितत्वेन सदा तद्भावापरित्यागात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतावता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन भूयोऽपि ज्ञानभावात्, उत्कर्षेण अनन्तं कालं, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः

कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं, सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्यैतावन्तं कालं मिथ्यात्वमनुभूय तदनन्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् । 'अण्णाणिस्स णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं, अपर्यवसितत्वादेव, अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं अवाप्तकेवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात्, सादिसपर्यवसानस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्यैतावन्मात्रत्वात्, उत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि, एतावतोऽपि कालादूर्द्ध्वं सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् । अल्पबहुत्वसूत्रं प्राग्वत् । प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—साकारोपयुक्ताश्च अनाकारोपयुक्ताश्च, सम्प्रति कायस्थितिमाह—'सागारोवउत्ता णं भंते !' इह छद्मस्था एव सर्वजीवा विवक्षिता न केवलिनोऽपि 'विचित्रत्वात् सूत्रगते'रिति द्वयानामपि कायस्थितावन्तरे च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं, अन्यथा केवलिनामुपयोगस्य साकारस्यानाकारस्य चैकसामयिकत्वात् कायस्थितावन्तरे चैकसामयिकोऽप्युच्येत । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगस्य स्तोककालतया पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात्, साकारोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणाः, अनाकारोपयोगाद्धातः साकारोपयोगाद्धायाः सङ्ख्येयगुणत्वात् ॥

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—आहारगा चेव अणाहारगा चेव ॥ आहारए णं भंते ! जाव केवचिरं होति ?, गोयमा ! आहारए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—छउमत्थआहारए य केवलिआहारए य, छउमत्थआहारए णं जाव केवचिरं होति ?, गोयमा ! जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गहणं दुसमऊणं उक्को० असंखेज्जं कालं जाव काल० खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं ।

केवलिआहारए णं जाव केवचिरं होइ?, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी ॥ अणाहारए णं भंते! केवचिरं०?, गोयमा! अणाहारए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—छउमत्थअणाहारए य केवलिअणाहारए य, छउमत्थअणाहारए णं जाव केवचिरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कस्सेणं दो समया। केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सिद्धकेवलिअणाहारए य भवत्थकेवलिअणाहारए य ॥ सिद्धकेवलियणाहारए णं भंते! कालओ केवचिरं होति?, सातिए अपज्जवसिए ॥ भवत्थकेवलियणाहारए णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?, भवत्थकेवलिय० दुविहे पण्णत्ते—सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य। सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते! कालओ केवचिरं?, अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया। अजोगिभवत्थकेवलि० जह० अंतो० उक्को० अंतोमुहुत्तं ॥ छउमत्थआहारगस्स केवतियं कालं अंतरं?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्को० दो समया। केवलिआहारगस्स अंतरं अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया ॥ छउमत्थअणाहारगस्स अंतरं जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणं उक्क० असंखेज्जं कालं जाव अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं। सिद्धकेवलिअणाहारगस्स सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ॥ सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स जह० अंतो० उक्कोसेणवि, अ-

जोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स णत्थि अंतरं ॥ एएसि णं भंते! आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे २ हिंतो अप्पा बहु० ?, गोयमा! सव्वत्थोवा अणाहारगा आहारगा असंखेज्जा ॥ (सू० २४७)

'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारकाश्च अनाहारकाश्च ॥ अधुना कायस्थितिमाह—'आहारगे णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! आहारको द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—छद्मस्थाहारकः केवल्याहारकः, तत्र छद्मस्थाहारको जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं द्विसमयोनं, एतच्च जघन्याधिकाराद्विग्रहेणागत्य क्षुल्लकभवग्रहणवत्सूत्पादे परिभावनीयं, तत्र यद्यपि नाम लोकान्तनिष्कुटप्रदावुत्पादे चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी च विग्रहगतिर्भवति तथाऽपि बाहुल्येन त्रिसामयिक्येवेति तामेवाधिकृत्य सूत्रमिदमुक्तं, इत्थमेवान्येषामपि पूर्वाचार्याणां प्रवृत्तिदर्शनात्, उक्तञ्च—"एकं द्वौ वाऽनाहारकः" (तत्त्वा० अ० २ सू० ३१) इति, त्रिसामयिक्यां च विग्रहगतावाद्यौ द्वौ समयावनाहारक इति ताभ्यां हीनमुक्तं, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालम्, असङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, किमुक्तं भवति?—अङ्गुलमात्रक्षेत्राङ्गुलासङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तः प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावता कालेन निर्लेपा भवन्ति तावत्य उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्य इति, तावन्तं हि कालमविग्रहेणोत्पाद्यते, अविग्रहोत्पत्तौ च सततमाहारकः। केवल्याहारकप्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, स चान्तकृत् केवली प्रतिपत्तव्यः, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, सा च पूर्वकोट्यायुषो नववर्षादारभ्योत्पन्नकेवलज्ञानस्य परिभावनीया ॥ अनाहारकविषयं सूत्रमाह—'अनाहारए णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अनाहारको द्विविधः प्रज्ञप्तः—छद्मस्थोऽनाहारकः केवल्यनाहारकश्च, छद्मस्थानाहारकप्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह—गौतम! जघन्यत एकं समयं, जघन्याधिकाराद्विसामयिकीं विग्रहगतिमपेक्ष्यैतदवसातव्यं,

उत्कर्षतो द्वौ समयौ त्रिसामयिक्या एव विग्रहगतेर्बाहुल्येनाश्रयणात्, आह च चूर्णिकृत्—“यद्यपि भगवत्यां चतुःसामयिकोऽनाहारक उक्तस्तथाऽप्यत्र नाङ्गीक्रियते, कदाचित्कोऽसौ भावो येन, बाहुल्यमेवाङ्गीक्रियते, बाहुल्याच्च समयद्वयमेवे”ति । केवल्यनाहारकसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! केवल्यनाहारको द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—भवस्थकेवल्यनाहारकः सिद्धकेवल्यनाहारकः ॥ 'सिद्धकेवलिअणाहारए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सादिकापर्यवसितः, सिद्धस्य साद्यपर्यवसिततयाऽनाहारकत्वस्यापि तद्विशिष्टस्य तथाभावात् ॥ 'भवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! भवस्थकेवल्यनाहारको द्विविधः प्रज्ञप्तः—सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकोऽयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकश्च, तत्रायोगिभवस्थकेवल्यनाहारकप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, अयोगित्वं नाम हि शैलेश्यवस्था तस्यां नियमादनाहारक औदारिकादिकाययोगाभावात्, शैलेश्यवस्था च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टमधिकमवसेयं, अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् ॥ 'सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अजघन्योत्कर्षेण त्रयः समयाः, ते चाष्टसामयिककेवलिसमुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपाः तेषु केवलकार्म्मणकाययोगभावात्, उक्तञ्च—“कार्म्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्माद्भवत्यनाहारको नियमात् ॥ १ ॥” साम्प्रतमन्तरं चिन्तयन्नाह—'छउमत्थाहारयस्स णं भंते!' इत्यादि, छद्मस्थाहारकस्य भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतो द्वौ समयौ, यावानेव हि कालो जघन्यत उत्कर्षतश्च छद्मस्थानाहारकस्य तावानाहारकस्यान्तरकालः, स च कालो जघन्येनैकः समयः उत्कर्षतो बाहुल्यमङ्गीकृत्य व्यवह्रियमाणायां त्रिसामयिक्यां विग्रहगतौ द्वौ समयावित्याहारकस्या-

प्यन्तरं तावदिति । केवल्याहारकप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अजघन्योत्कर्षेण त्रयः समयाः, केवल्याहारको हि सयोगिभवस्थकेवली, तस्य चानाहारकत्वं त्रीनेव समयान् यथोक्तं प्रागित्यन्तरं केवल्याहारकस्य तावदिति ॥ सम्प्रत्यनाहारकस्यान्तरं चिचिन्तयिषुः प्रथमतश्छद्मस्थानाहारकस्याह—'छउमत्थाणाहारयस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं द्विसमयोनं, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं यावदङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, यावानेव हि छद्मस्थाहारकस्य कालस्तावानेव छद्मस्थानाहारकस्यान्तरं, छद्मस्थाहारकस्य च जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, एतावन्तं कालं सततमविग्रहेणोत्पादसम्भवात्, ततश्छद्मस्थानाहारकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावदन्तरमिति । अथ स्थाने २ क्षुल्लकभवग्रहणमित्युक्तं तत्र क्षुल्लकभवग्रहणमिति कः शब्दार्थः?, उच्यते, क्षुल्लं लघु स्तोकमित्येकोऽर्थः क्षुल्लमेव क्षुल्लकं—एकायुष्कसंवेदनकालो भवस्तस्य ग्रहणं—संबन्धनं भवग्रहणं, क्षुल्लकं च तद् भवग्रहणं च क्षुल्लकभवग्रहणं, तच्चावलिकातश्चिन्त्यमानं षट्पञ्चाशदधिकमावलिकाशतद्वयं, अथैकस्मिन् आनप्राणे कियन्ति क्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्ति?, उच्यते, किञ्चित्समधिकानि सप्तदश, कथमिति चेदुच्यते—इह मुहूर्त्तमध्ये सर्वसङ्ख्यया पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लकभवग्रहणानां भवन्ति, यत उक्तं चूर्णौ—"पण्णट्ठिसहस्साइं पंचेव सया हवंति छत्तीसा। खुड्डागभवग्गहणा हवंति अंतोमुहुत्तंमि ॥१॥" आनप्राणाश्च मुहूर्त्ते त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, उक्तञ्च—"तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा । एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १ ॥" ततोऽत्र त्रैराशिककर्म्मावतारः, यदि त्रिसप्तत्यधिकसप्तशतोत्तरैस्त्रिभिः सहस्रैरुच्छ्वासानां पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लकभवग्रहणानां भवन्ति तत एकेनोच्छ्वासेन किं लभामहे?, राशित्रयस्थापना—३७७३।६५५३६।१। अत्रान्त्य-

राशिना एककलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनाज्जातः स तावानेव, 'एकेन गुणितं तदेव भवती'ति न्यायात्, तत आद्येन राशिना भागहरणं, लब्धाः सप्तदश क्षुल्लकभवाः, शेषास्त्वंशास्तिष्ठन्ति तत्र त्रयोदश शतानि पञ्चनवत्यधिकानि, उक्तञ्च—"सत्तरस भवग्गहणा खुड्डाणं भवंति आणुपाणुंमि । तेरस चेव सयाइं पंचाणउइ चेव अंसाणं ॥ १ ॥" अथैतावद्भिरंशैः कियत्य आवलिका लभ्यन्ते?, उच्यते, समधिकचतुर्नवतिः, तथाहि—षट्पञ्चाशदधिकेन शतद्वयेनावलिकानां त्रयोदश शतानि पञ्चनवतानि गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि सप्तपञ्चाशत्सहस्राणि शतमेकं विंशत्यधिकं ३५७१२०, छेदराशिः स एव ३७७३, लब्धा चतुर्नवतिरावलिकाः, शेषास्त्वंशा आवलिकायास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशतिः शतानि अष्टपञ्चाशानि, छेदः स एव $\frac{२४५८}{३७७३}$, एवं यदा एकस्मिन्नानप्राणे आवलिकाः सङ्ख्यातुमिष्यन्ते तदा सप्तदश द्वाभ्यां षट्पञ्चाशदधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनाश्चतुर्नवतिरावलिकाः प्रक्षिप्यन्ते, तत आवलिकानां चतुश्चत्वारिंशत् शतानि षट्चत्वारिंशानि भवन्ति, उक्तञ्च—"एको उ आणुपाणू चोयालीसं सया उ छायाला । आवलियपमाणेणं अणंतनाणीहिं निद्दिट्ठो ॥ १ ॥" यदि पुनर्मुहूर्त्ते आवलिकाः सङ्ख्यातुमिष्यन्ते तत एतान्येव चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि भवन्तीति सप्तत्रिंच्छतैस्त्रिसप्तत्यधिकैर्गुण्यन्ते, जाता एका कोटी सप्तषष्टिः शतसहस्राणि चतुःसप्ततिः सहस्राणि सप्तशतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि १६७७४७५८, येऽपि चावलिकाया अंशाश्चतुर्विंशतिशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि २४५८ तेऽपि मुहूर्त्तगतोच्छ्वासराशिना ३७७३ गुण्यन्ते, अस्यैव छेदस्य ते अंशा इत्यावलिकानयनार्थं तेनैव भागो ह्रियते, लब्धास्तावत्य एवावलिकाश्चतुर्विंशतिशतान्यष्टापञ्चाशानि २४५८, तानि मूलराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता मूलराशिरेका कोटिः सप्तषष्टिर्लक्षाः सप्तसप्ततिः सहस्राणि द्वे शते षोडशोत्तरे, एतावत्य आवलिका मुहूर्त्ते भवन्ति, यद्विवा मुहूर्त्तगतानां क्षुल्लकभवग्रहणानां पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च

शतानि षट्त्रिंशानि एकभवग्रहणप्रमाणेन षट्पञ्चाशेन शतद्वयेनावलिकानां गुण्यन्ते तथाऽपि तावत्य एवावलिका भवन्ति, उक्तञ्च— "एगा कोडी सत्तट्ठि लक्ख सत्तत्तरी सहस्सा य । दो य सया सोलहिया आवलियाओ मुहुत्तंमि ॥ १ ॥" एवं च यदुच्यते 'संखेज्जाओ आवलियाओ एगे ऊसासनीसासे' इत्यादि तदतीव समीचीनमिति कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः । तत्र सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभिधित्सुराह—**'सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारयस्स णं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तं, समुद्घातप्रतिपत्तेरनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीप्रतिपत्तिभावात्, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसातव्यं अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् । अयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे नास्त्यन्तरं, अयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् एवं सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराभावो भावनीयः ॥ साम्प्रतमेतेषामाहारकानाहारकाणामल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका अनाहारकाः, सिद्धविग्रहगत्यापन्नसमुद्घातगतसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनामेवानाहारकत्वात्, तेभ्य आहारका असङ्ख्येयगुणाः, अथ सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिजीवास्ते च प्राय आहारका इत्यनन्तगुणाः कथं न भवन्ति?, उच्यते, इह प्रतिनिगोदमसङ्ख्येयो भागः प्रतिसमयं सदा विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते, विग्रहगत्यापन्ना अनाहारकाः, "विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ १ ॥" [विग्रहगत्यापन्नाः समुद्धताः अयोगिनश्च केवलिनः सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ १ ॥"] इतिवचनात् ततोऽसङ्ख्येयगुणा एवाहारका घटन्ते नानन्तगुणा इति ॥ प्रकारान्तरेण भूयो द्वैविध्यमाह—

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—सभासगा अभासगा य ॥ सभासए णं भंते! स-

भासएत्तिकालओ केवचिरं होति?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्को० अंतोमुहुत्तं ॥ अभासए णं भंते०!, गोयमा! अभासए दुविहे पण्णत्ते—साइए वा अपज्जवसिए सातीए वा सपज्जवसिए, तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं अणंता उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ वणस्सतिकालो ॥ भासगस्स णं भंते! केवतिकालं अंतरं होति?, जह० अंतो० उक्क० अणंतं कालं वणस्सतिकालो। अभासग० सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, सातीयसपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्क० अंतो०। अप्पाबहु० सव्वत्थोवा भासगा अभासगा अणंतगुणा ॥ अहवा दुविहा सव्वजीवा ससरीरी य असरीरी य असरीरी जहा सिद्धा, थोवा असरीरी ससरीरी अणंतगुणा ॥ (सू० २४८)

'अहवे'त्यादि, अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भाषकाश्च अभाषकाश्च, भाषमाणा भाषका इतरेऽभाषकाः ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—'सभासए णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनैकं समयं भाषाद्रव्यग्रहणसमय एव मरणतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणात्तद्व्यापारस्याप्युपरमात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं, तावन्तं कालं निरन्तरं भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गसम्भवात्, तत ऊर्द्ध्वं जीवस्वाभाव्यान्नियमत एवोपरमति ॥ अभाषकप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अभाषको द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वाऽपर्यवसितः सिद्धः, सादिको वा सपर्यवसितः स च पृथिव्यादिः, तत्र योऽसौ सादिः सपर्यवसितः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, भाषणादुपरम्यान्तर्मुहूर्त्तेन कस्यापि भूयोऽपि भाषणप्रवृत्तेः, पृथिव्यादिभवस्य वा जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः,

स चानन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, एतावन्तं कालं वनस्पतिष्वभाषकत्वात् ॥ साम्प्रतमन्तरं चिचिन्तयिषुराह—'भासगस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः, अभाषककालस्य भाषकान्तरत्वात् । अभाषकसूत्रे साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात्, सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, भाषककालस्याभाषकान्तरत्वात्, तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावन्मात्रत्वात्, अल्पबहुत्वसूत्रं प्रतीतम् ॥ 'अहवे'त्यादि, सशरीराः—असिद्धा अशरीराः—सिद्धाः, ततः सर्वाण्यपि सशरीराशरीरसूत्राणि सिद्धासिद्धसूत्राणीव भावनीयानि ॥

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तंजहा—चरिमा चेव अचरिमा चेव ॥ चरिमे णं भंते! चरिमेत्ति कालतो केवचिरं होति?, गोयमा! चरिमे अणादीए सपज्जवसिए, अचरिमे दुविहे—अणातीए वा अपज्जवसिए सातीए अपज्जवसिते, दोण्हंपि णत्थि अंतरं, अप्पाबहुं सव्वत्थोवा अचरिमा चरिमा अणंतगुणा । [अहवा दुविहा सव्वजीवा सागारोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य, दोण्हंपि संचिट्ठणावि अंतरंपि जह० अंतो० उ० अंतो०, अप्पाबहु० सव्वत्थोवा अणागारोवउत्ता सागारोवउत्ता असंखेज्जगुणा] सेत्तं दुविहा सव्वजीवा पन्नत्ता] ॥ (सू० २४९)

'अहवे'त्यादि, चरमाः—चरमभववन्तो भव्यविशेषा ये सेत्स्यन्ति, तद्विपरीता अचरमाः—अभव्याः सिद्धाश्च । कायस्थितिसूत्रे चरमोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा चरमत्वायोगात् । अचरमसूत्रेऽचरमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसितः सादिको वाऽ-

पर्यवसितः, तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः साद्यपर्यवसितः सिद्धः ॥ साम्प्रतमन्तरमाह—'चरिमस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं, चरमत्वापगमे सति पुनश्चरमत्वायोगात्, अचरमस्याप्यनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरं अविद्यमानचरमत्वात्। अल्पबहुत्वे सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सिद्धानामेव चाचरमत्वात्, चरमा अनन्तगुणाः, सामान्यभव्यापेक्षमेतत्, अन्यथाऽनन्तगुणत्वायोगात्, आह च मूलटीकाकारः—"चरमा अनन्तगुणाः, सामान्यभव्यापेक्षमेतदिति भावनीयं, दुर्लक्ष्यः सूत्राणां विषयविभागः" इति। सम्प्रत्युपसंहारमाह—'सेत्तं दुविहा' ते एते द्विविधाः सर्वजीवाः, अत्र क्वचिद्द्विविधवक्तव्यतासङ्ग्रहणिगाथा—"सिद्धसइंदियकाए जोए वेए कसायलेसा य। नाणुवओगाहारा भाससरीरी य चरमो य ॥ १ ॥" सम्प्रति त्रिविधवक्तव्यतामाह—

तत्थ णं जे ते एवमाहंसु तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी ॥ सम्मदिट्ठी णं भंते! कालओ केवचिरं होति?, गोयमा! सम्मदिट्ठी दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सातीए वा अपज्जवसिए साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ जे ते सातीए सपज्जवसिते से जह० अंतो० उक्क० छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं, मिच्छादिट्ठी तिविहे साइए वा सपज्जवसिए अणातीए वा अपज्जवसिते अणातीए वा सपज्जवसिते, तत्थ जे ते सातीए सपज्जपसिए से जह० अंतो० उक्क० अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं सम्मामिच्छादिट्ठी जह० अंतो० उक्क० अंतोमुहुत्तं ॥ सम्मदिट्ठिस्स अंतरं साइयस्स अपज्जव-

सियस्स नत्थि अंतरं, सातीयस्स सपज्जवसियस्स जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं, मिच्छादिट्ठिस्स अणादीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं, अणातीयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, साइयस्स सपज्जवसियस्स जह० अंतो० उक्को० छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं, सम्मामिच्छादिट्ठिस्स जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। अप्पाबहु० सव्वत्थोवा सम्मामिच्छादिट्ठी सम्मदिट्ठी अणंतगुणा मिच्छादिट्ठी अणंतगुणा ॥ (सू० २५०)

'तत्थ णं जे ते' इत्यादि, तत्र ये ते एवमुक्तवन्तस्त्रिविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च, अमीषां शब्दार्थभावना प्राग्वत् ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—'सम्मदिट्ठी णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सम्यग्दृष्टिर्द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वाऽपर्यवसितः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः, सादिको वा सपर्यवसितः क्षायोपशमिकादिसम्यग्दर्शनी, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कर्म्मपरिणामस्य विचित्रत्वेनैतावतः कालादूर्द्ध्वं पुनर्मिथ्यात्वगमनात्, उत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि, तत ऊर्द्ध्वं नियमतः क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनापगमात्। मिथ्यादृष्टिप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! मिथ्यादृष्टिस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनाद्यपर्यवसितः अनादिसपर्यवसितः सादिसपर्यवसितश्च, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तावता कालेन पुनः कस्यापि सम्यग्दर्शनलाभात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, अनन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं, पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वस्यैतावतः कालादूर्द्ध्वं पुनरवश्यं सम्यग्दर्शनलाभात्,

पूर्वसम्यक्त्वप्रभावेन संसारस्य परित्तीकरणात् । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्रे जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, सम्यग्मिथ्यादर्शन-कालस्य स्वभावत एवैतावन्मात्रत्वात्, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमवसातव्यम् ॥ साम्प्रतमन्तरमाह—'सम्मदिट्ठिस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात्, सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, सम्यक्त्वात् प्रतिपत्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तम् । मिथ्यादृष्टिसूत्रे-ऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपरित्यागात्, अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं, अन्यथाऽनादित्वायोगात्, सादिसपर्यवसितस्य ज-घन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि, सम्यग्दर्शनकाल एव हि मिथ्यादर्शनस्य प्रायोऽन्तरं, सम्यग्दर्शन-कालश्च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यग्मिथ्यादर्शनभावात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं, यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपतितस्य भूयः सम्यग्मिथ्यादर्शनलाभस्तत एतावता कालेन नियमेन अन्यथा तु मुक्तिः । अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका. सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, तत्परि-णामस्य स्तोककालतया पृच्छासमये तेषां स्तोकानामवाप्यमानत्वात्, सम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तत्वात्, तेभ्यो मिथ्यादृष्ट-योऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां च मिथ्यादृष्टित्वात् ॥

अहवा तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता—परित्ता अपरित्ता नोपरित्तानोअपरित्ता । परित्ते णं भंते! कालतो केवचिरं होति?, परित्ते दुविहे पण्णत्ते—कायपरित्ते य संसारपरित्ते य । कायप-रित्ते णं भंते०!, जह० अंतोमु० उक्को० असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोगा । संसारपरित्ते णं

भंते! संसारपरित्तेत्ति कालओ केवचिरं होति?, जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। अपरित्ते णं भंते!०, अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते, कायअपरित्ते य संसारअपरित्ते य, कायअपरित्ते णं जह० अंतो० उक्को० अणंतं कालं, वणस्सतिकालो, संसारापरित्ते दुविहे पण्णत्ते—अणादीए वा अपज्जवसिते अणादीए वा सपज्जवसिते, णोपरित्तेणोअपरित्ते सातीए अपज्जवसिते। कायपरित्तस्स जह० अंतरं अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, संसारपरित्तस्स णत्थि अंतरं, कायापरित्तस्स जह० अंतो० उक्को० असंखिज्जं कालं पुढविकालो। संसारापरित्तस्स अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, णोपरीत्तनोअपरित्तस्सवि णत्थि अंतरं। अप्पाबहु० सव्वत्थोवा परित्ता णोपरित्तानोअपरित्ता अनंतगुणा अपरित्ता अनंतगुणा (सू० २५१)

'अहवे'त्यादि, अथवा सर्वजीवास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—परीत्ता अपरीत्ता नोपरित्तानोअपरीत्ताश्च ॥ सम्प्रति कायस्थितिचिन्ता-परीत्तविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! परीत्तो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कायपरीत्तः संसारपरीत्तश्च, कायपरीत्तो नाम प्रत्येकशरीरी, संसारपरीत्तोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तान्तःसंसारः, तत्र कायपरीत्तविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, स च साधारणेभ्यः परीत्तेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः साधारणेपु गच्छतो वेदितव्यः, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं, असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, तथा चाह—पृथिवीकालः, किमुक्तं भवति?—पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरकालः, तत

लाटी-संहिता

भाषा-टीका-सहित

(समाप्त)